विश्व-सभ्यता का विकास

भाग—१

[प्रागैतिहासिक-काल से ५वीं-६ठी सदी तक]

दिल्ली पुस्तक सदन

दिल्ली पटना

यह दोनो ही तथ्य हमे भारतीय सभ्यता के विकास मे स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, भारतीय सभ्यता के सृजक– -आर्य-जन ऋक् काल मे प्रकृति के उपादानो के आराधक थे। प्रकृति के उपादनो को ही दृष्टिगत कर, उन्होने समस्त ज्ञान ध्यान का शोधन किया। उस काल के पश्चात् उनका ज्ञान विकसित होता गया और एक सुदृढ 'आर्य सभ्यता' की स्थापना इस देश मे हुई। पश्चात् उसी सभ्यता का विकास यत्र-यत्र हुआ। इसका प्रमाण हमे १६वी सदी मे प्राप्त मेसोपोटामिया, ईरान तथा मध्यएशिया के उपकरणो से मिला है। इन देशो की सभ्यता के चिन्हो से स्पष्ट हो चुका कि इन देशो की सभ्यता पर भारतीय सभ्यता की गहरी छाप थी।

भारतीय सभ्यता के यह चिन्ह भी हमे दो रूपो मे मिलते हैं। एक चिन्ह वह हैं, जो ठेठ आर्य जाति के हैं और जो ईरानी सभ्यता से मिलते-जुलते हैं तथा मध्य-एशियाई जन-जीवन पर जिनकी गहरी छाया स्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे चिन्ह भारत की उस सभ्यता के है, जिसे आर्यो की बहिष्कार पद्धति ने जाति से पृथक् कर दिया था और बहिष्कृत होकर देश के दक्षिणी भाग मे बसे थे। इन्ही लोगो को इतिहासकारो ने आज 'द्रविड-सभ्यता' के नाम से पुकारा है। भारत की इस द्वितीय काल की सभ्यता की छाप के चिन्ह हमे पूर्वी और पश्चिमी एशिया के अतिरिक्त अफ्रीका तक मिलते हैं। यह भारतीय सभ्यता के विकास का प्रथम काल था। उसके पश्चात् अर्थात् द्वितीय चरण (ई० पू० ७०० वर्षो) मे पुन ईरान, अरब, मिस्र, रोम और यूनान की सभ्यता से भारतीय सभ्यता का सीधा सम्पर्क हुआ और यह सम्पर्क भारत पर इस्लामी आक्रमण तक बराबर बना रहा। इस काल मे भारत के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा दार्शनिक विचारको ने एशिया और यूरोप तक के विचारको को प्रभावित किया। उदाहरणार्थ यूनानी दार्शनिको के विचार, भारतीय समाज-दर्शन और राजदर्शन को थोडी फेर बदल के बाद ज्यो के त्यो हैं। उनकी स्वर्ग-नर्क की कल्पनाएँ आत्मा परमात्मा सम्बन्धी विचार तथा प्रलय और मानव की उत्पत्ति सम्बन्धी कल्पनाएँ भारतीय वाङमय के आधार पर ही आधारित हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारतीय सभ्यता मे वह कोन से विशेष तत्व थे, जिन्होने दूसरे देशो की सभ्यताओ को भी प्रभावित किया और अनेको विध्वसकारी आपदाओ के बावजूद जो आज भी जीवित है। अतः इसके लिए हमे भारतीय सभ्यता के मूलाधारो को स्पष्ट करना होगा।

भारतीय सभ्यता के विकास में सबसे प्रथम स्थान, भारत की भाषा सस्कृत का है, क्योकि इसी के कारण भारतीय सभ्यता का विकास देश देशान्तरो मे हुआ। इस सम्बन्ध मे मोनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक 'हिन्दूज्म' मे लिखा है—"भारत मे धार्मिक भाषा और साहित्य एक है और वह भाषा सस्कृत तथा उसका साहित्य

है। वही वेद या विश्वसजनीन ज्ञान का एकमात्र कोष है । वही एक ऐसा साधन है, जहा से धार्मिक और वैज्ञानिक विचारो के प्रकाशन की सामग्री प्राप्त की जा सकती है।" इनके अतिरिक्त 'मैकडानल्ड' और 'बुनसेन' ने भी यही कहा है—"वैदिक सूक्तो के सबसे प्राचीन अश भी मानव जाति के अर्वाचीन इतिहास के अग हैं । दार्शनिक विचार सम्बन्धी ऊँचे विचारो का इनमे हमे विशेष परिचय मिलता है। भाषा मे हमे कही भी विकास की अपेक्षा का परिमाण नही मिलता। इसका व्याकरण नितान्तपूर्ण है।" अत जिस देश या समाज की भाषा इतनी सौष्ठव हो, उसके साहित्य का विकास होना निश्चित ही है ।

भाषा के पश्चात् धार्मिक विचारो का नम्बर आता है। अपने धार्मिक विचारो मे आर्यों ने प्रारम्भ मे 'एक सत' (ऋक् १/१६४) की कल्पना की। समस्त उपादान उसी की शक्ति से प्रभावित है। अत इस एक सत् की कल्पना ही, विभिन्न देशो के समाजो ने विभिन्न नामो से ग्रहण की । जैसा कि हमे ईरानी, असीरियन और मेसो-पोटामिया के धार्मिक विचारो से पता लगता है। सभवत इसीलिए काउण्ट जोर्जस ने लिखा है—"आर्यवर्त्त केवल आर्य धर्म का ही घर नही है; अपितु वह अखिल विश्व की सभ्यता का एक भण्डार है।' लगभग यही विचार मि० डी० ओ० ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'बाईबिल इन इण्डिया" मे व्यक्त करते हुए लिखा है—"यदि पक्षपात छोडकर विचार करे तो हमे यह मानना पडेगा कि भारतीय लोग ही ससार के धर्म और सभ्यता के जन्मदाता थे।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इन विदेशी इतिहासकारो ने '**वेदोऽखिलो धर्म-मूलम् ।**" अर्थात् वेद ही सब धर्मों का मूल है, मनु के इस कथन का समर्थन किया है।

भाषा के अतिरिक्त भारतीय सभ्यता की दो विशेषताएँ और थी । इनमे प्रथम विशेषता थी—"**नान्य पन्था विद्यते कोऽपि मुक्तये इत्यदिवँ वेद वाक्य मुमुक्षो ।**" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति का अन्य कोई मार्ग नही है। अतः जिस देश के समाज का ध्यान केवल ज्ञान की खोज मे लगा रहा हो, उस समाज से किसी देश विशेष अथवा सभ्यता के प्रति द्वेष की भावना तो की ही नही जा सकती। इसलिये भारतीय सभ्यता के विकास की तीसरी विशेषता मानव-कल्याण था। अत भारतीय ऋषि-मुनियो और समाज शास्त्रियो ने अपने विचारो को विशेषत दो गुणो द्वारा प्रकट किया । इनमे पहला मानव मोक्ष के लिए विचार और दूसरा मानव कल्याण के लिए विचार। अपने पहिले विचारो मे उन्होने मानव को अद्यतन प्रकृति का पुजारी बनाकर निश्च्छल जीवन यापन करते हुए मोक्ष का भागी बनाया और दूसरे विचारो मे मानव को अपने देश, समाज और परिवार के प्रति कर्त्तव्यपालन करने के लिए प्रेरित किया । यही कारण है कि भारतीय आर्यो के प्रारम्भिक काल से लेकर, उनके जैन और बौद्ध काल के धर्म

प्रचार के समय तक हमे कही भी मारकाट के अथवा बलात् धर्म-परिवर्तन के दर्शन नही होते । भारतीय आर्यों के इन्ही विचारो का प्रभाव उनके ऋक्-काल से आज तक भी विदेशी सभ्यताओ को प्रभावित कर रहा है और अब यह मान्यता भी समाप्त हो चुकी है कि आर्य लोग मध्यएशिया अथवा किसी अन्य स्थान से आये थे तथा उनका एक भाग ईरान मे रह गया था । उस समय भारत मे द्रविड लोग बसे हुए थे । हमे किसी भी इतिहास मे कथित द्रविड लोगो का वह नामन ही मिला, जो उन्होने देश का रख रखा था । देश के प्रचलित सभी नाम आर्यो द्वारा ही रखे हुए हैं ।

ईरानी सभ्यता का विकास भारतीय ऋक् सभ्यता के पश्चात् अथर्ववेद काल मे हुआ यह उनके धार्मिक ग्रन्थ 'जन्दावस्था' की भाषा से स्पष्ट है । परन्तु भारतीय आर्यों से पृथक् होकर भी ईरानी आर्य अपनी प्राचीन धार्मिक विचारधारा को अपनाये रहे । वे वायु, अग्नि और सूर्य के उपासक तो थे ही साथ ही अन्य भारतीय देवताओ के भी पुजारी थे । उदाहरणार्थ 'अगरिस्' केवल देवत्व प्राप्त मानुष पितर ही नही हैं, अपितु वे हमारे सामने इस रूप मे भी दिखाये गये हैं कि वे द्युलोक के दृष्टा है । (दिव्य ऋषि), देवताओ के पुत्र हैं और असुर के—बलाधिपति के वीर हैं या शक्तियाँ हैं—यथा— "दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीरा" यह एक ऐसा वर्णन है जो कि अगरिस् के सख्या मे सात होने के कारण ईरानियन गाथा के अहुरमज्द के सात देवदूतो का प्रबलता से स्मरण करा देता है । भारतीय सभ्यता के अतिरिक्त ईरानी सभ्यता मध्यएशिया, असीरिया और यूनानी सभ्यता तथा बाद मे रोम और अरब सभ्यता से भी प्रभावित हुई, परन्तु ईरान के इस्लाम ग्रहण करने तक उस पर भारतीय सभ्यता की छाप पडती रही । इसके पश्चात् असीरिया सभ्यता का नम्बर आता है ।

इस सभ्यता के सृजक भी भारतीय और ईरानियो की भाँति सूर्य के उपासक थे, और उसी के मन्दिर बनाकर पूजा करते थे । ईसी प्रकार 'सुमेर-सभ्यता' की स्थिति है । भारतीय सभ्यता से यह सभ्यता भी अपरिचित नही थी । अन्य सभ्यताओ की भाँति इस सभ्यता के सृजको ने भी आरम्भ मे यूफ्रेसीन' और 'तैग्रास' नामक नदियो के तटो चट्टानो पर अपनी बस्तिया बसाकर जीवन यापन करना प्रारम्भ किया था । बाद मे सेमेटिक जाति के लोगो ने इन्हे जीता । इन लोगो न जिस उत्तरी इलाके को जीता वह 'अक्कद' कहलाया तथा सुमेरियनो का दक्षिणी भाग 'सुमेर' कहलाया । अन्त मे दोनो का सयुक्त नाम बेबीलोन राज्य पडा । ई० से २८०० वर्ष पूर्व 'काशई' जाति ने इसे जीता । यह लोग 'एलाम' के निवासी थे । भारतीय वाङमय मे यह आदित्यो का स्थान लिखा है, जो भारत के मित्र थे । ऋग्वेद मे बेबीलोन 'उर', 'उम्मा' निवासियो के प्रति आदरभाव व्यक्त किया गया है ।* मेसोपोटामिया के उत्खनन से जिन राजाओ

* ऋक् ६।७५।६, ६।२१।१२, ५।५१।१, १०।६।७

के नाम मिले हैं, वह प्राय सभी भारतीय हैं और उनके देवता भी वही है। यहूदी—अरब सभ्यताओ की भी बहुत-सी बातो की तुलना, यूनानियो की भाँति भारत से होती है और क्रीट सभ्यता तो भारतीय मोइन-जो-दडो सभ्यता के बिल्कुल ही समान है।

इसी प्रकार यूरोप की प्राचीन रोम' सभ्यता है। रोम' शब्द लैटिन का नही, यह भस्कराचार्य द्वारा खोजा हुआ सस्कृत का शब्द ही है। वेद मे 'रूपे' 'रुशमे' शब्द आते हैं। यह लोग आरम्भ मे 'आ' का उच्चारण नही कर सकते थे, इसलिये लैटिन-भाषा मे 'शत' सौ को, 'केन्तुम' ग्रीक मे 'कातोन' प्राचीन जर्मनी मे 'हुंड' और अग्रेजी मे 'हड्रेड' बना। किन्तु कुछ दिन बाद, आर्यों की एक अन्य शाखा और यूरोप गयी। वह शत बोलती थी। 'अवस्था' मे इसे शतेम और एशिया मे 'स्तो' बोलते थे। यह शुद्ध उच्चारण जिस आर्य जाति से यूरोप वालो ने सीखा, वह अब तक वहा मौजूद है। अत यह सिद्ध होता है कि सभी प्राचीन सभ्यताए एक दूसरी सभ्यता के सम्पर्क मे आकर ही विकसित होती रही और उनके इस विकास मे भारतीय सभ्यता का विशेष हाथ रहा। अन्त मे मैं उन सभी लेखको को धन्यवाद देता हूँ जिनके ग्रन्थो की सहायता से मैं अपने ग्रन्थ 'विश्व सभ्यता के विकास' के प्रथम भाग को पूरा करने मे समर्थ हो सका। इसके साथ ही मैं उन विद्वानो का अपने को ऋणी मानूगा, जो इस ग्रन्थ की भूलो की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे। मुझे आशा है कि पाठक ज्ञान-वृद्धि के लिये इसका उपयोग करेंगे और शेष भागो को भी पूरा कराने मे मेरे परिश्रम और साहस मे सहयोग देगे।

गाजियाबाद
अगस्त १९६२ ई०

चिरंजीलाल पाराशर

विषय-सूची

विषय-प्रवेश

प्रस्तुत पुस्तक का विषय 'विश्व-सभ्यता का विकास' है। अपने-अपने समय मे, विभिन्न रूपो मे विश्व की सभ्यताए विकसित हुयी। कुछ सभ्यताए एक दूसरी के सम्पर्क मे आकर फली-फूली और कुछ सभ्यताओ का विकास उस देश के मननशील विद्वानो द्वारा ही हुआ। इन मननशील विद्वानो ने अपने देश की सभ्यता के विकासार्थ धर्मों की स्थापना और विवेचना की। प्रकृति के गूढ रहस्यो को खोलने के अतिरिक्त मानव कल्याणार्थ वेद वेदान्तो की रचना के अतिरिक्त खगोल ज्योतिष-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, न्याय शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, ज्यामेति तथा मूर्तिकला और भवन-निर्माण-कला आदि पर गहन विचार किया, जिसका प्रमाण हमे विभिन्न देशो की सभ्यताओ मे मिलता है। इस तरह हम देखते हैं कि मानव ने अपने, अपने समाज के और देश तथा विश्व के कल्याणार्थ भारी चिन्तन किया है और उसी चिन्तन-शीलता का परिणाम 'सभ्यता' है।

भारतीय सभ्यता का विकास—विश्व-सभ्यता की दृष्टि से भारतीय सभ्यता प्राय सभी प्राचीन सभ्यताओ से प्राचीन है। इस कथन का सबसे वडा प्रमाण यही है की विश्व को प्राय. सभी सभ्यताओ पर इसकी छाप स्पष्ट अकित होती है। इसके अतिरिक्त ससार के सभी धर्मो के धार्मिक सिद्धान्तो के अवलोकन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि उन सिद्धान्तो के अधिकांश भाग, भारतोय धर्म-शास्त्रो से ही सग्रहीत किये गये है।

'मोइन-जो-दडो' की खुदाई (१९२२ ई०) से पहिले, यूरोपियन इतिहासकार सबसे प्राचीन सभ्यता मिस्र (इजिप्ट) की मानते थे। उसके पश्चात् यूनानी और ईरानी सभ्यताओ का नम्बर आता था। सबके पश्चात् भारत का स्थान माना था। उन्ही की मान्यताओ को आधार बनाकर, भारतीय इतिहासकारो ने भी अपनी भारतीय सभ्यता को तीसरे-चौथे स्थान पर ही मानकर सन्तोष कर लिया था। स्वय लोकमान्य तिलक तक ने आर्यों को उत्तर-ध्रुव प्रदेश का निवासी मानकर, भारतीय सभ्यता को तीसरी श्रेणी मे ही रखा था, परन्तु मोइन-जो-दडो की खुदाई ने इतिहासकारो को अपनी प्राचीन धारणाए बदलने पर विवश कर दिया। अत अब उन्हे सब देशो की उत्खनन से प्राप्त वस्तुओ पर भारतीय प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है, किन्तु अब भी यह मोइन-जो-दडो सभ्यता और 'आर्य-सभ्यता' को पृथक् मानकर, 'मोइन-जो-दडो सभ्यता को

'द्रविड-सभ्यता' की सज्ञा देते हैं, जबकि भारतीय वाङमय यह सिद्ध कर चुका है कि भारतीय आर्य, भारतवर्ष के ही निवासी हैं और 'मोइन-जो दडो' सभ्यता भी पूर्णतः भारतीय ही है।

मिस्र मे इस वर्ष के प्रारम्भ मे होने वाले 'आस्वान बाध' के उत्खनन से प्राप्त उन वस्तुओ ने, जो भारतीय पुरातत्ववेत्ताओ को मिली हैं, यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय सभ्यता लगभग २५ हजार वर्ष प्राचीन है। पूर्व पाषाण-युग के जो अवशेष हैं भारत मे यत्र-तत्र प्राप्त हुए हैं, वह मिस्र के आस्वान बाध से प्राप्त अवशेषो के समान और एक ही सभ्यता द्वारा निर्मित बताये गए हैं। और इनका काल ई० पू० २३ हजार वर्ष भी पुरातत्व शास्त्रियो ने माना है। अत इस उत्खनन से भारत और मिस्र इतिहास पर एक नया प्रकाश पडा है। उस प्रकाश के अनुसार मिस्र की प्रारम्भिक सभ्यता और भारत की प्राचीन सभ्यताए एक ही स्थान पर उत्पन्न हुई मानी जा सकती हैं।

भारतीय सभ्यता के विकास के इतिहास से पूर्व यह जानना अवश्यम्भावी है कि इस सभ्यता के विकास के सृजक-आर्य लोग कौन थे ? उनका मूल निवास कहा था आदि।

इस प्रश्न के उत्तर के बारे मे इतिहासकारो का मतभेद अभी तक भी ज्यो का त्यो बना हुआ है। अभी तक केवल इतनी विचार समानता अवश्य आ पाई है कि विभिन्न स्थानो को छोडकर मैक्समूलर सहित सभी इतिहासकारो ने भारतीय आर्यों के दो मूल निवास स्थान मान लिये हैं— (१) मध्यएशिया और (२) पजाब का 'सप्तसिन्धु प्रदेश'। भारत के अधिकाश इतिहासकार आर्यों का मूल निवास 'सप्त-सिन्धु' को मानने पर ही बल देते हैं, जबकि यूरोपियन और रूसी इतिहासकार अब 'मध्यएशिया' को मूल निवास मानने पर जोर देते हैं, किन्तु भारतीय वाङमय आर्यों को भारत के ही मूल निवासी मानता है और 'मोइन जो-दडो' सभ्यता को भी भारत के ही वणिको की सभ्यता मानता है।

आर्यो के कठोर 'कर्म-काण्ड' के कारण ही, आर्यजनो से आर्येत्तर जातियो की उत्पत्ति हुई। यह आर्येत्तर जातिया भारत ही नही, विश्व के अन्य भागो मे भी फैली। भारतीय धर्म ग्रन्थो मे इन जातियो की उत्पत्ति और विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला गया है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती, क्योकि भारत से बाहर जाने पर इन जातियो ने भारतीय वेश-भूषा और भाषा तथा अपने प्राचीन आर्य विचारो को नही छोडा। यहा तक कि भारत की राक्षस जाति और ईरान की आर्य जातियो ने आर्य धर्म से खिन्न होकर भी आर्य परम्पराओ का त्याग नही किया, जबकि उन्होने अनेको आर्य देवताओ को 'दुष्ट' और 'दस्यु' तक की सज्ञा दे दी थी, जैसा कि ईरानी आर्यों के धर्म ग्रन्थ—'जन्दावस्था' मे स्पष्ट है कि जिन देवताओ को आर्य लोगो ने मान्यता दी थी और जिन्हे दस्यु की सज्ञा दी थी, उन्होने ठीक उसके विपरीत किया।

अस्तु, आर्यो की उत्पत्ति के पश्चात् उनकी भाषा का प्रश्न आता है। आर्यो की भाषा वेद-भाषा--संस्कृत थी। जो आजकल की संस्कृत-भाषा की जननी है। आर्यो की उसी संस्कृत भाषा से विश्व की अन्य भाषाओ की उत्पत्ति हुई। प्रायः प्रत्येक भाषा मे हमे संस्कृत-भाषा के शब्द दिखाई देते हैं।

इसी भाषा मे विश्व के सर्वप्रथम ग्रन्थ--ऋग्वेद की रचना हुई। इस ग्रन्थ की रचना का काल १० हजार वर्ष के लगभग बैठता है। उस समय भारतवर्ष का नाम, भारतवर्ष न होकर, आर्यावर्त्त था। इसके पश्चात् इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। जिसका अर्थ है—भा ज्ञान + रत प्रेमी वर्ष (देश) अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने मे प्रेम रखने वाला देश।

ऋग्वेद के पश्चात् अथर्ववेद, यजुर्वेद और सामवेद की रचना हुई। भारतीय आर्यो का यह काल सर्वथा चिन्तन-काल था। इस काल मे धर्म सहित सभी ज्ञान-विज्ञानो मे निष्णात ऋषियो ने जन्म लिया और अपने ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान के अन्धकार को तिरोहित किया।

वैदिक काल के पश्चात् भारत मे रामायण—काल आता है। इस काल मे अनेको जातियो की उत्पत्ति हो चुकी थी। प्राय सारा दक्षिण भारत आर्यों से पृथक् हुई जातियो मे भरा हुआ था इन जातियो मे ऋक्ष, राक्षस, वानर, गरुड, नाग आदि सैकडो जातिया थी। पुलस्त्य ऋषि का वंशज रावण इन जातियो को एक झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न कर रहा था। उसका उद्देश्य लका राज्य के अन्तर्गत इन लोगो के राज्यो को लाकर, एक सघ बनाने का था, किन्तु राम रावण युद्ध के कारण उसकी समस्त योजनाए विफल हो गयी। अस्तु, रामराज्य, मे भारतीय जनता कितनी सुखी थी, यह आज भी 'रामराज्य' शब्द की गर्वोक्ति से स्पष्ट है। महाकाव्य 'रामायण' की रचना इसी काल मे हुई। यह ग्रन्थ प्रत्येक दृष्टि से भारत का सर्वोच्च काव्य माना जाता है। अब तक पचासो विदेशी भाषाओ मे इनका अनुवाद हो चुका है।

रामायण-काल के पश्चात् महाभारत-काल का नम्बर आता है। इस काल मे देश के इस छोर से उस छोर तक बडे-बडे राज्य स्थापित थे। शिक्षा के क्षेत्र पर एक-मात्र ब्राह्मणो का अधिकार नही रहा था। ज्ञान-विज्ञान के पठन-पाठन मे क्षत्रियो का हाथ प्रमुख था। नारी-शिक्षा का स्तर गौण होना प्रारम्भ हो गया था। कन्याओ की शिक्षा उस काल मे अधिकाशत घरो पर ही होती थी। विवाह के लिए स्वयवर प्रथा प्रचलित थी।

महाभारत-काल के पश्चात् ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से देश अत्यन्त हीन अवस्था को प्राप्त हो गया। वैदिक-काल से समृद्ध देश की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी थी। उस समय ब्राह्मणो को राज्याश्रय मिलना भी प्राय बन्द हो गया। अत वैदिक ज्ञान-विज्ञान की जटिलता को सरल करके समझने-समझाने के लिये, ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना हुई। इसलिए देश की सभ्यता के इस युग को ब्राह्मण-काल अथवा 'मध्यकाल' कहा जाता है। इस काल मे विद्या का पुन विकास हुआ। ब्राह्मणो के पश्चात्, उपनिषद् ग्रन्थ

रचे गये। इसके अतिरिक्त अनुशासन-विद्या, वाको-वाक्य, गाथा-नाराशंसी आदि का सृजन भी हुआ। इस काल मे ब्राह्मण कालीन यज्ञ-विद्या का अध्ययन-अध्यापन विशेषत- महत्वपूर्ण था। इस काल मे भी मुनियो का आश्रम-जीवन उच्च कोटि का था। देश मे यत्र-तत्र ज्ञान-गोष्ठिया जन्म ले चुकी थीं। चिकित्सा शास्त्र, वास्तुकला और उद्योगो का विस्तार चरमसीमा पर था। शिक्षा के क्षेत्र में तार्किक-पद्धति के दर्शन हमे इसी काल मे होते हैं।

इस युग के पश्चात् उपनिषदो और दर्शनकालीन सभ्यता का प्रारम्भ होता है। इस युग मे प्रकृति के जटिलता सम्बन्धी गूढ रहस्यो को ऋषि मुनियो ने सुलझाना प्रारम्भ किया। उस काल मे वैदिक संहिताओ, वेदागो और याज्ञिक विधायो का अध्ययन तो प्रचलित रहा, किन्तु विशेषता 'ब्रह्मविद्या' को दी जाने लगी। इसी का नाम 'पराविद्या' था। इस काल के ऋषियो ने अपने ज्ञान-ध्यान के विकास मे तथा आत्मिक ज्ञान की उत्पत्ति मे 'समाधि' को भी स्थान दिया। उन्होने प्राचीन वेदमन्त्रो को अपने निजी अन्तर्ज्ञान तथा अनुभवो के लिए प्रमाण रूप से प्रयुक्त किया। इस काल मे वैदिक यज्ञो की परिपाटी का स्थान, पूजा-पाठ ने लिया। शिक्षा के लिये नगरो और नगरो से बाहर आरण्यको मे भी शिक्षा शालायें थी। यहा बडे-बडे मन्त्रो को सूत्र रूप मे सक्षिप्त करके कठस्थ किया जाता था। विद्या और ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भारत का यह काल भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

इस काल के पश्चात् स्मृति और पुराण काल की सभ्यता के दर्शन होते हैं। पुराण ग्रन्थ जहा इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, वहाँ देश की सामाजिक-व्यवस्था के लिये स्मृति-ग्रन्थो को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। भारत के प्राचीन और अर्वाचीन सविधान मे यह स्मृति-ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी रहे। जिस काल मे विदेशो मे कोई लिखित सविधान नही था, उस समय भारत का सविधान मूलत यह स्मृति-ग्रन्थ ही थे, जिनमे समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य निहित है तथा राजा का प्रजा के प्रति और प्रजा का राजा के प्रति कर्तव्य समझाते हुए राज्य की सवैधानिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। अत इन स्मृति-ग्रन्थो मे कर और दण्ड-व्यवस्था से लेकर दायभाग तक का विषद् वर्णन है। नारी अधिकार और नारी के कर्तव्या का वर्णन भी प्राय: सभी स्मृतियो मे विशेष रूप से आया है।

नये धर्मों का उदय—स्मृति-काल और पुराण-काल के पश्चात्, भारत मे नये धर्मो की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। यह धर्म थे—जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म। इन दोनो धर्मो का जन्म लगभग समान समय (ई० पू० ५ वी सदी) मे हुआ। पौराणिक कर्म-काण्ड की जटिलता से ऊबी हुई जनता ने इन दोनो धर्मों का विशेष आदर किया। अत ई० पू० ५ वी सदी से ई० की ५वी सदी तक, इन दोनो धर्मों का—विशेष कर बौद्ध-धर्म का, भारत ही नहीं, विदेशो मे भी बोल बाला रहा। उस काल मे सस्कृत भाषा का स्थान पाली-भाषा ने लिया था। अत अशोक-काल और उसके कुछ बाद तक जितना भी साहित्य लिखा गया, वह पाली-भाषा मे अधिक है—सस्कृत भाषा मे

कम है । प्राप्त बौद्ध-साहित्य के अवलोकन से ज्ञात होता है कि लगभग ७वी सदी मे बौद्धो ने पाली-भाषा को छोडकर, सस्कृत-भाषा को अपना लिया था । बौद्ध दार्शनिको ने यत्र-तत्र बौद्ध साहित्य की उन्नति मे अथक प्रयास किया। यही कारण है कि आक्रान्ताओ द्वारा बौद्ध विहारो और विद्यालयो के साहित्य सहित जलाये जाने के उपरान्त भी तिब्बत और मध्यएशिया के रेगिस्तान मे दवे हुए नगरो से विपुल मात्रा मे साहित्य प्राप्त हुआ है । इस साहित्य मे सभी प्रकार के ग्रन्थ है ।

बौद्ध-काल मे देश सभी दृष्टियो से उन्नति के शिखर पर पहुचा था । बौद्ध थेरी-गाथाओ मे विदेशो मे भारतीय व्यापार के प्रमाण बहुत बडी मात्रा मिलते हैं ।

राजनीतिक दृष्टि से पौराणिक नन्दो के पश्चात् मौर्यों का शासन प्रारम्भ हुआ । चन्द्रगुप्त मौर्य ने, एक ओर भारत-स्थित यूनानी राज्यो को समाप्त किया और दूसरी ओर भारत की सीमाये ईरान-राज्य तक पहुचा दी । अत बौद्ध-धर्म का विकास और मौर्य-राजाओ की निरन्तर विजयो ने भारत को प्रत्येक दृष्टि से समृद्धिशाली और विकसित किया । उसके पश्चात् देश को समृद्धिशाली और भारतीय सभ्यता के विकास मे सहयोग गुप्त राजायो ने दिया । गुप्त-कला-कौशल की विदेशी इतिहासकारो ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है । इस काल मे भारत की राज-भाषा पुन सस्कृत हो चुकी थी और बाह्य आक्रमणकारी 'शक' तथा 'हूण' भारतीय साहित्य और सभ्यता के ही उपासक हो चुके थे । यह वस्तुत भारतीय सभ्यता की सबसे बडी विशेषता थी कि उसने यूनानियो सहित मध्यएशिया से आयी हुई प्रायः सभी आक्रामक जातियो को अपनी सभ्यता के ढाचे मे ढाल लिया ।

मध्यएशिया की सभ्यता—विश्व की प्राचीन सभ्यताओ मे मध्यएशिया की सभ्यता का अपना विशेष स्थान है। यह सत्य है कि आज मध्यएशिया की वह प्राचीन सभ्यता, जो शको, हूणो उइगरो, आदि की थी—वह लुप्त हो चुकी है और उनकी जन्म-भूमि मध्यएशिया भी चीन और रूसी राज्यो के अन्तर्गत है । उनके विशाल नगर गोवी का रेगिस्तान निगल चुका है, परन्तु यह भी सत्य है कि 'विश्व-सभ्यता' के प्रारम्भिक रगमच पर मध्यएशिया की शक-हूण-सभ्यता ने अपना विशेष पार्ट अदा किया है । इस सभ्यता के सृजको के लम्बे बूटो से चीन कराहता था, भारत त्रस्त था, ईरान कापता था और रोम थर्राता था, किन्तु ससार को अपने बल-विक्रम से पदाक्रान्त करने वाली यह मध्यएशियाई सभ्यता यूरोप के हगेरियन, स्लाव, फ्रासिस, जर्मन आदि लोगो को अपना उत्तराधिकारी छोडकर, तुर्कों को अपना वारिस बनाकर और मुगलो को अपने महान् वश की वेलि बनाकर, शेष भारत की जातियो मे विलीन हो गयी । मध्यएशिया की उनकी जन्म-भूमि के नाम पर आज कज्जाक और किर्गीज उनका स्मरण कराने भर के लिए रह गये है ।

मध्यएशिया के उस कठोर-भाग मे, जहाँ हूणो के 'शान यू' खूनी-फाग खेलने के शौकीन रहते थे, भारतीय बौद्ध-धर्म का बोलबाला हुआ और सूर्य देवता के उपासक यह लोग धडा-धड बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये । परिणामस्वरूप ई० पू० द्वितीय शती

से ७वी शती तक, अर्थात् ६०० वर्षों मे सारा मध्यएशिया बौद्ध-धर्म से ओतप्रोत हो गया। स्थान-स्थान पर बौद्ध मठ और बौद्ध विहार बने। इसके साथ ही जब मध्य-एशिया पर भारतीय सम्राट् कनिष्क ने अधिकार कर उसे भारतवर्ष में मिलाया, तब सारा मध्यएशिया विशाल विद्यालयो से पूरित हो गया। कचनगर का विश्वविद्यालय ससार मे प्रसिद्ध था।

भारत से सम्बन्ध—शकों और हूणो का भारत से अनादि काल का सम्बन्ध है। भारतीय वाङ्मय इन जातियो को भारतीय क्षत्री ही मानता है और पुन इनके भारत आने पर भी मनु आदि स्मृतिकारो ने इन्हे क्षत्रिय जाति मे ही सम्मिलित कराया था। भारत से इनका सम्बन्ध महाभारत काल से भी पूर्व से मिलता है। प्राय सभी भारतीय ग्रथो मे शको और हूणो का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त शको की भाषा-'तुखारी' भी सस्कृत भाषा की ही अपभ्रंश भाषा है। पश्चात् वहा पाली भाषा और खरोष्टी लिपि का प्रचलन हुआ। यह काल ई० पू० प्रथम शती से ५ वी तक रहा। उसके बाद पुन सस्कृत भाषा प्रारम्भ हो गयी।

शको और हूणो के रीति-रिवाज, धार्मिक परम्पराए भारतियो के इतना निकट रही कि भारतीय आर्यों और शको को दो जातिया नही माना जा सकता। अधिकाश इतिहासकार भी अब इस मत के अनुयायी हो गये हैं कि मध्यएशियाई सभ्यता और भारतीय सभ्यता—दो नही, अपितु एक ही थी। परन्तु अनेक इतिहासकारो की यह धारणा है कि भारतीयो के वहा बस्तिया बसा लेने के कारण ही भारतीयो का वहाँ के जन-जीवन पर प्रभाव पडा और यह प्रभाव कालान्तर में इतना व्यापक हो गया कि मध्यएशियाई समाज भी भारतीय समाज का एक अग जैसा लगने लगा।

ईरानी सभ्यता—ऐतिहासिक दृष्टि से ईरानी सभ्यता भी अति प्राचीन है। ईरानी सभ्यता का ऐतिहासिक महत्व इसलिए और भी अधिक है कि यह सभ्यता भारतीय सभ्यता का ही एक अग है। ईरानी धर्मग्रन्थ 'जन्दावस्था' की भाषा सस्कृत-भाषा का अपभ्रश रूप है और उसमे वर्णित देवता प्राय वही हैं, जिन्हे भारतीय वाङ-मय मे 'असुर' कहा गया है।

वस्तुत आर्य जाति मे इस विरोधाभास का कारण क्या हुआ, और कब हुआ, इसके लिये भी इतिहासकार एकमत नही हैं। अधिकाश इतिहासकारो की मान्यता यह है कि आर्यजन मध्य एशिया से पहिले ईरान मे आये और यहीं से परस्पर मतभेद होने के कारण उनकी एक शाखा वही आबाद हो गयी और दूसरी भारतवर्ष चली आयी। परन्तु इसके पश्चात् भी ईरानी आर्यों ने अपने को अभिमान-पूर्वक आर्य ही माना, उन्ही रीति-रिवाजो को अन्त तक अपनाये रखा। दारा का बेहिस्तून का शिला-लेख इसका प्रमाण है।

भारतीय वाङमय की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ईरानी आर्य, मतभेद होने पर भारत से ही ईरान गये और वह भी उस समय, जबकि 'अथर्ववेद' की रचना हो चुकी थी; क्योकि ईरानी राजाज्ञा मे

अथर्व-वेद के पाठ के ऊपर ही पाबन्दी लगायी गयी थी। दूसरा प्रमाण यह है कि यदि ईरानी ऋग्वेद-काल मे, या उससे पूर्व ही अलग हुए होते, तब उनके धार्मिक-ग्रन्थ 'जन्दा-वस्था' की भाषा भी ऋग्वेद की ही सस्कृत भाषा होती, न कि अपभ्रंश। इसलिये यह मानना पडेगा कि आर्य समाज मे धर्म का यह विरोधाभास भारत मे ही कभी हुआ और विरोधी विचारधारा के आर्य, भारत छोडकर ईरान चले गये, जहाँ उन्होने अपने ढग से अपनी 'ईरानी-सभ्यता' का विकास किया।

ईरान की प्रारम्भिक सभ्यता मे हमे, केवल देवताओ के विरोधाभास के भारतीय सभ्यता मे कोई अन्तर विशेष दृष्टिगोचर नही होता। वहा नदियो, नगरो और मनुष्यो के वही नाम हैं, जो उस काल मे भारतीय आर्यों के थे। पश्चात् जादू-टोने और मन्त्र-तन्त्र तथा देवताओ की बाहुल्यता मे भी उनकी स्थिति भारतीय समाज की स्थिति के अनुरूप ही चलती रही। इसके अतिरिक्त समाज-सस्कार की पद्धतिया भी वही रही, जो भारतीय थी। इसी सभ्यता ने पहलवी और फारसी-भाषा को जन्म दिया।

इतिहास की दृष्टि से ईरान का व्यवस्थित इतिहास ५५० ई० पू० मे मिलना प्रारम्भ होता है, जबकि मीड-वश का अन्त करके साईरस नामक व्यक्ति ने ईरानी साम्राज्य की नीव डाली। इस महान् सम्राट् का उत्तराधिकारी सम्राट् कम्बुजिया (५२८ ई०) मे हुआ। अग्रेज इतिहासकारो ने इसी का नाम सम्राट् 'कैम्बीसीस' लिखा है। परन्तु यह शासक हिस्टिरिया का रोगी तो था ही, साथ ही क्रोधी भी था। इसके पश्चात् दरयवाश (दारा) अथवा सम्राट् डेरियस प्रथम का नम्बर आता है। जिसके शिलालेख का उपर्युक्त वर्णन किया गया है। यह व्यक्ति ५२२ ई० पू० गद्दी पर बैठा था। इसने अपने लेखो मे बार-बार गर्व के साथ अपने को 'आर्य-दारा' लिखा है। इस शासक ने यूनान के नगर-राज्यो पर भी अधिकार कर लिया था तथा दूसरी ओर ईरानी राज्य की सीमाओ का भारत तक बढा लिया था।

इस शासक के काल मे ईरान और भारत का व्यापार बढा और एक-दूसरे की सभ्यताओ का आदान-प्रदान भी हुआ। दारा की सेना मे जहा भारतीय हाथी थे, वहा भारतीय सिपाही भी थे। दारा का यह शिलालेख, करमशा से हमदान की ओर बिखरी हुई पहाडियो की चोटी पर पाया गया है। दारा तृतीय के सिकन्दर से हारने और यूनानियो द्वारा ईरानी राज्य को समाप्त करने के पश्चात्, कुछ दिन बाद ही ईरानी राज्य पुन उठ खडा हुआ और मुस्लिम-काल तक वह विश्व सभ्यता के कोष मे योग देता रहा, किन्तु मुस्लिम आक्रमण ने ईरान की प्राचीन सभ्यता को समाप्त कर दिया। उसके बाद ईरान का इतिहास इस्लाम की सभ्यता के आधार पर लिखा गया।

प्राचीन ईरान मे अहुरमज्दा के रूप की कल्पना भी अद्भुत् ही थी। इसकी कल्पित प्रतिमा सूर्य के बीच मे पुरुष आकृति थी। यही देवता ईरान से भी पहिले बेबीलोन मे इसी रूप से माना जाता था। ईरानी विश्वास के अनुसार 'अहुरमज्दा' के सात गुण है—सत्य, ज्ञान, ज्योति, सुन्दर अधिपत्य, पवित्र और कल्याणकारी। इसी देवता ने 'जरथुस्त्र' को अपना प्रतिनिधि बनाकर लोक-कल्याण के लिए 'अवस्था'

नामक ग्रन्थ लिखा। उस समय ईरान मे कोई भी मन्दिर आदि नही था। खुले आकाश के नीचे एक ऊँचे चबूतरे पर, जिसे जिगुरात कहते थे, देवताओ का पूजन किया जाता था। उस समय पूजा-विधि भी केवल यज्ञ और प्रार्थना तक ही सीमित थी। इस पूजा विधि का ढग बिल्कुल ऋग्वेद-कालीन आर्यो की भाँति ही था।

मिस्री सभ्यता—नील नदी के किनारे इस विश्वविख्यात सभ्यता का जन्म हुआ। अब तक केवल मात्र इसी सभ्यता को इतिहासकारो ने विश्व की प्राचीन सभ्यता माना है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस सभ्यता का काल ई० पू० ५ हजार वर्ष निश्चित किया गया था, किन्तु वर्तमान काल मे 'आस्वान-बाँध' की खुदाई से प्राप्त प्रागैतिहासिक उपकरणो ने इस सभ्यता का काल बीसो हजार वर्ष प्राचीन सिद्ध कर दिया है। अस्तु मिस्र के 'फराओ-काल' से मिस्री सभ्यता का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। 'फराओ-काल' मे मिस्री सभ्यता प्रत्येक दृष्टि से विकसित हो चुकी थी। इसका प्रमाण मिस्री फराओ द्वारा बनवाये गये वह पिरामिड है, जिनमे मिस्री कला-कौशल, मिस्री चित्रकला, मिस्री शल्य चिकित्सा तथा मिस्र के वैभव की सुन्दर झाँकी के स्पष्ट दर्शन होते है।

मिस्री लोग अमोन-रा (सूर्य) के उपासक थे। वैसे वह अन्य देवी-देवताओ के भी उपासक थे, परन्तु उनका मुख्य देवता 'अमोन रा' ही था। मिस्र की कला का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि जब यूनानी इतिहासकार मिस्र की यात्रा पर गये, तब अपनी कला पर गर्व करते हुए मिस्रियो ने कहा था—"कला की दृष्टि से तुम यूनानी लोग कल के बच्चे हो।" वास्तव मे मिस्र के सामने उस काल के यूनानी कलाकार कल के बच्चे ही थे। शिल्प-कला मे मिस्र ने जितनी उन्नति की थी, उतनी यूनानी किसी काल मे भी नही कर सके।

शिल्पकला के अतिरिक्त चिकित्सा-शास्त्र मे मिस्रियो ने प्रगाढता प्राप्त की और रोमनो के द्वारा उनकी चिकित्सा पद्धति का विकास यूरोप भर मे फैला, परन्तु अभी तक भी कोई देश शल्य-क्रिया मे इतनी प्रवीणता प्राप्त नही कर सका, क्योकि मिस्री शल्य-चिकित्सको का ही यह कार्य था कि वह चार हजार वर्ष पूर्व 'फराओ-सम्राटो' के शवो को सुरक्षित रख सके, जबकि विज्ञान मे निपुण वर्तमान देश—रूस और अमरीका भी इस स्तर तक नही पहुँचे। विज्ञान मे निपुण रूसी वैज्ञानिको को कल के दिवगत महात्मा लेनिन तक का शव सुरक्षित रखना कठिन पड़ रहा है।

भारत से सम्बन्ध—भारतीय वाङमय मे प्रारम्भिक काल से ही एशिया की इस 'नील सभ्यता' का वर्णन आता है। वर्तमान मे भी आस्वान-बाध की खुदाई से जो कुछ उपकरण प्राप्त हुए हैं, वह भारत के दक्षिण भाग से प्राप्त हुए उपकरणो से मिलते-जुलते हैं। इसके अतिरिक्त चार हजार वर्ष पूर्व निर्मित मिस्र के पिरामिडो से जो वस्तुए प्राप्त हुई हैं, उनमे भी कई भारतीय हैं। उदाहरणार्थ छपा हुआ कपडा और पिरामिडो मे लगी हुई सागवान की लकडी भी भारतीय है। इस काल के पश्चात् बौद्ध-काल मे भी भारत और मिस्र का व्यापारिक सम्बन्ध और बढा। यहाँ से मसाले, कपड

और कई प्रकार के जानवर मिस्र जाते थे। यह व्यापारिक सम्बन्ध यहा तक बढ गये थे कि मिस्र मे जहा एक तश्तरी पर धन देवी की मूर्ति मिली है, वहा कन्नड भाषा का एक नाटक भी मिला है । मुस्लिम-काल तक अन्य देशो की भाँति मिस्र भी मूर्ति-पूजक देश था और इसी कारण वहा साहित्य भी अधिकतर धार्मिक ही लिखा गया। मुस्लिम प्रभाव बढने के उपरान्त, मिस्री सभ्यता ने नई दिशा ग्रहण की, जो इस्लामी-सभ्यता थी, जिसका वर्णन हम अगले भाग मे करेंगे ।

असीरिया की सभ्यता—"असुर" के नाम से ही इस सभ्यता का नाम असीरिया पडा। अधिकाश विद्वानो का मत है कि यह सभ्यता मिस्र की सभ्यता से प्राचीन है । परन्तु इस सभ्यता के सस्थापक कौन लोग थे, इस बारे मे अभी तक मतभेद है। उत्खनन से प्राप्त असीरियन राजाओ के सस्कृत भाषा के नाम और असीरियन देवी-देवताओ के नाम तथा उनकी पूजा बिल्कुल भारतीयो जैसी ही हैं। भारतीय वाङमय मे इस देश का नाम भी आता है। विश्व की सभ्यता के विकास के क्षेत्र मे इस सभ्यता ने अपन महत्वपूर्ण भाग अदा किया है और कितनी ही सभ्यताओ को आत्मसात् कर, दूसरी सभ्यताओ को भी अपनी विचारधाराओ से रगा है। इस सभ्यता का सघर्ष अपने पडोसी राज्यो से सदा होता रहा। अत इन युद्धो के कारण सभ्यताए मिश्रित होती गयीं । भारत से इस सभ्यता का कितना सम्बन्ध था, यह हमने इस सभ्यता के प्रकरण मे बतलाया है। सम्राट् असुर वणिपाल के ही पुस्तकालय से इस सभ्यता को समझने मे पर्याप्त सहायता मिली है।

बेबीलोनिया की सभ्यता—इस चाल्डिया-सभ्यता का वर्णन भारतीय धर्मग्रथो के अतिरिक्त बाईबिल मे भी है। जिस समय सुमेर सभ्यता अपना दम तोड रही थी, सेमेटिक लोगो ने उस पर आक्रमण कर दिया। यह ताबे के हथियारो से लडने वाले लोग 'अक्कद' नगर को अपनी राजधानी बना कर रहते थे। अत इनके सुमेर सभ्यता को समाप्त करने के बाद, सुमेरिया की सभ्यता 'सुमेर-अक्कद-सभ्यता' के नाम से विकसित हुई। यही बेबीलोन सभ्यता है। इन लोगो की वर्णव्यवस्था भी तीन भागो मे विभाजित थी। यथा—अमेलू (प्रथम श्रेणी), मुश्किन (दूसरी श्रेणी), अरद् (तीसरी-श्रेणी)—यह लोग निम्न श्रेणी के गुलाम आदि होते थे। 'अक्कद' के समय से ही यह लोग चन्द्रमाके उपासक थे। चाल्डिया के 'उर' नामक स्थान से २६३० वष ई० पू० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, उसी से इनकी धर्मव्यवस्था के बारे मे ज्ञात हो सका कि यह लोग 'सर्प' के उपासक भी थे । सम्भवत सर्प की पूजा इन्होने तूरानी प्रोटो या ईरानी मज्दययून लोगो से सीखी हो। बेबीलोन वालो के वायु-देवता का नाम 'मतु' है। इतिहासकार 'कीथ' की राय मे यह वैदिक 'मरुत' है । इसके अतिरिक्त ह्यगो विकलर द्वारा उत्खनन से यहाँ के राजाओ की जो सूची मिली है, वह भी यह सिद्ध करती है कि इस सभ्यता का सम्बन्ध भारतीय सभ्यता से अधिक निकट का रहा है । चाल्डियन भाषा मे भी जिन शब्दो का प्रयोग किया जाता था, वह शब्द भी सस्कृत भाषा से ही लिये जान पडते हैं। यू बेबीलोनिया वाले ज्ञान का उद्गम 'इलहाम' को

मानते थे और भाग्य मे उनका अटल विश्वास भी था; लेकिन गणित और ज्योतिष विद्या का यहा पर्याप्त प्रचार था। भूमि का क्षेत्रफल निकालने की विधि भी उन्हे ज्ञात थी। नक्षत्रो को देवता मानकर वह मानव-जीवन पर उनके प्रभाव का अन्वेषण करते थे। इन लोगो ने अपनी दीवारें पक्की ईटो की बनवायी और स्थापत्यकला को नई दिशा दी थी।

मैसोपोटामिया की सभ्यता—दजला-फरात की इस सभ्यता की प्रशसा 'बाईबिल' मे भी की गई है। इस देश को बाईबिल मे ईडन गार्डन कहा है। वस्तुत. हरेभरे बाग बगीचो के कारण ही इस सभ्यता को स्वर्ग की उपमा दी गयी है। इस सभ्यता को भी बहुत पुराना माना गया है। प्राचीन लेखनकला के स्रोत यही मे उपलब्ध हुए हैं। यह लोग चौकोर ईटो को खुरचकर लिखते थे। अत इनका उस काल का धार्मिक और सामाजिक साहित्य बहुत बडी मात्रा मे मिला है।

मैसोपोटामिया की वर्ण-व्यवस्था भी उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी के लोगों में बटी हुई थी। इनके यहा पटेसी (पुरोहित) लोगो का उच्च वर्ग था, जिनका मदिरो में ही नही शासन पर भी प्रभाव रहता था। परन्तु बेबीलोनिया वाले क्षात्रधर्म को कभी नही अपना सके। यही कारण इस प्राचीन सभ्यता के पतन का भी हुआ। मैसोपोटामिया की सभ्यता भी कई सभ्यताओ के सम्मिश्रण से प्रगतिशील हुई। इनमे असुर (असीरियन) सभ्यता का विशेष भाग रहा। मध्यएशिया की आक्रामक जातिया भी इस सभ्यता मे घुलती मिलती रही। अतः वर्तमान इस्लामी—तुर्क सभ्यता की स्थापना तक मैसोपोटोमिया की सभ्यता मे कई सभ्यताए सम्मिलित हो चुकी थी।

यूनानी सभ्यता—कला-कौशल की दृष्टि के अतिरिक्त अपने देश के दार्शनिकों के कारण यूनानी सभ्यता ने 'विश्व-सभ्यता' के विकास मे अपना स्थान अक्षुण्य बना लिया है।

यूनान के दार्शनिको ने भारतीय दार्शनिको की भाँति जीव-आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति के रहस्यो के प्रति जिज्ञासाए उत्पन्न की और उनका समाधान भी किया। अपने विचारो की दृढता के कारण सुकरात जैसे तपस्वी को जहर का प्याला पीकर आत्महत्या भी करनी पडी। यूनानी दार्शनिको के पश्चात् यूनानी इतिहासकारो का स्थान है। वस्तुत आज ससार का और विशेषकर यूरोप और एशिया का जो कुछ इतिहास सुलभ है, उसमे यूनान के प्राचीन इतिहासकार हेरोडोट्स आदि का भारी हाथ है और उसी का इतिहास प्रामाणिक भी माना जाता है। यह इतिहासकार यूनान के युद्धो मे सैनिको की भाति भाग लेते थे और अवकाश के समय इतिहास भी लिखते थे। यूनानी इतिहासकारो के बाद यूनान के नाट्यकारो का नम्बर आता है। एक समय यूनान की नाट्यकला अपनी उच्चता के शिखर पर पहुच गयी थी। अत वहा बडे-बडे नाटक लिखे गये। सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारतीय और यूनानी नाट्य-शास्त्रो मे परस्पर मतैक्यता होनी प्रारम्भ हुई। इस कला और साहित्य ने एक दूसरे के भावो

और विचारो को ग्रहण किया । अत यूनान के वह प्राचीन नाटक और प्राचीन इतिहासो के पन्ने आज भी यूनान ही नही, अपितु यूरोप भर के लिये गर्व की वस्तु है ।

इन सबके बाद यूनान की भास्कर्य और स्थपत्य-कला को लिया जा सकता है । यूनानीकला अपने ढग की निराली कला थी । प्राचीन यूनान के स्थापत्य सम्बन्धी गौरव का स्मारक एक्रॉपालिस पर स्थित प्रसिद्ध 'प्रोपाइलिया' अथवा अग्रतोरण है, जो ससार की स्थापत्यकला को आज भी चुनौती देते देखे जाते हैं । यूनानी कलाकारो की सबसे बडी विशेषता उनके भावो की कोमलता थी, जिसे रोमन-कलाकार भी नही छू सके । यूनानी कलाकार मूर्ति की बनावट मे हाथी दात का प्रयोग तो करते ही थे, साथ ही वह उन रगो का प्रयोग भी करते थे, जो मूर्ति के लिये उपयुक्त होते थे । अत यूनानी समाज ने, विश्व को सामाजिक-व्यवस्था के अतिरिक्त वह दार्शनिक तत्व भी दिये, जिनसे मनुष्य को अपनी मनुष्यता की प्राप्ति मे सुलभ मार्ग मिला ।

यूनान के इतिहासकार केवल इतिहासकार ही रहे हो, ऐसी बात नही, अपितु यह ग्रीक इतिहासकार जितने कलम के धनी थे, उतने ही तलवार के धनी भी थे । युद्ध-क्षेत्र मे दिनो मे वे तलवार चलाते और रात को कलम चलाते थे ।

ग्रीस का प्रथम इतिहासकार 'थुसिडाइड्स' था, जिसका समय ईसा से ४७१ वर्ष पहले यूनान मे होना माना जाता है । इसी सेनापति इतिहासकार ने 'पिलोपोनिसस समर' का प्रथम काण्ड अपने मरने से केवल दो वर्ष पूर्व लिखा था । पिलोपोनिसस समर को यूनान की 'हल्दी-घाटी' का युद्ध माना जाता है ।

इस युद्ध मे यूनानी सेना का सेनापति स्वय यह इतिहास लेखक थुसिडाइड्स था जो राजा की आज्ञा से केवल मुट्ठी भर सेना लेकर, शत्रुओ से युद्ध करने गया, परन्तु युद्ध मे हार कर राज्य-दण्ड के भय से युद्ध के मैदान से ही गायब हो गया और २० वर्ष तक अज्ञातवास के बाद अपने देश लौटा । इस अज्ञातवास मे भी इसकी ऐतिहासिक खोज बराबर चलती रही और जब ईसा से ४०३ वर्ष पूर्व यह अपने देश को लौटा तो इतिहास के कई गट्ठर इसके साथ थे । युद्ध के समय भी अपनी थोडी-सी सेना होते हुए भी चिन्ता छोडकर यह दिन मे लडता और रात को कलम चलाता था ।

थुसिडाइड्स के अज्ञातकाल मे अर्थात् ईसा से लगभग ४०१ वर्ष पहले यूनानी सेना का सेनापति प्रसिद्ध इतिहासकार 'जिनोफेन' को बनाया गया था । इस इतिहासकार ने भी अपने जीवन काल मे कई लडाइयाँ लडी और कई ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे । यह साकेटिस का प्रिय शिष्य था और यूनान भर मे उस समय शस्त्र-विद्या का आचार्य माना जाता था ।

जिस समय ईरान (फारस) के बादशाह की अपने भाई के साथ लम्बी लडाई चल रही थी उस समय यूनान के बादशाह की ओर से दस हजार सेना साईरस की सहायता के लिए जिनोफेन की कमान मे लडने के लिए भेजी गई ।

कुनाक्स नामक स्थान पर साईरस का अपने भाई के साथ युद्ध हुआ जिसमे साईरस अपने भाई के हाथ से मारा गया ।

साईरस के हारने के बाद उसके भाई की विजयीवाहिनी ने इस सहायक ग्रीक सेना का तेजी से सफाया करना शुरू किया परन्तु फिर भी जिनोफेन इतनी बहादुरी से लडा कि अपनी सेना का थोडा-सा हिस्सा बचाकर निकाल लेने मे सफल हो गया। फारस की इस लडाई की वीरता की प्रशसा ईरानी इतिहासकारो ने भी मुक्त कठ से की है।

जिनोफेन का जन्म एथेन्स मे हुआ था परन्तु जब एन्थेस और स्पार्टा के बीच युद्ध आरम्भ हुआ तो जिनोफेन ने उल्टी एथेन्स के विरुद्ध तलवार पकडी और उसमे स्पार्टा की विजय हुई। जिनोफेन की दृष्टि मे स्पार्टा न्याय के पथ पर था और एथेन्स का बादशाह जुल्म की ओर झुक रहा था।

ग्रीक इतिहासकारो मे सबसे अधिक पुस्तके इसी इतिहासकार ने लिखी। इसकी लिखी पुस्तको मे कई एक अब तक सुलभ हैं जिनमे—साईरस का जीवन-चरित्र, साई-रस की युद्ध-यात्रा, साक्रेटीज का जीवन-वृत्तान्त तथा 'दस हजार की दुर्दशा' नामक मुख्य पुस्तकें हैं।

यूनान मे आज भी प्रसिद्ध इतिहासकार 'लियोनिटस' का नाम बडी श्रद्धा-भक्ति के साथ लिया जाता है और उसे यूनान का महावीर माना जाता है।

ग्रीस के उस महान् इतिहासकार ने ईसा से ४८० वर्ष पूर्व एथेन्स पर हुए ईरान के विशाल आक्रमण को रोका था और ईरान के बाद जारक्स को बुरी तरह से पराजित किया था।

यूनान के इतिहास मे आज भी मिलटियोड्स का नाम स्वर्ण अक्षरो मे अकित है। इसी इतिहासकार ने ईसा से ४९० वर्ष पूर्व थोडी से यूनानी सेना लेकर मराथान के मैदान मे, जो ग्रीस के अटिका-प्रदेश का एक छोटा-सा गाँव है और जहाँ तक ईरानी सेना धावा मारते हुए चली आई थी, रोक लिया। वह इतना भयकर युद्ध था कि तीन दिन तक बराबर तलवारें चलती रही और अन्त मे मिल टियोड्स की छोटी सी सेना ने तमाम ईरानी सेना को काट डाला।

दडो सभ्यता से विल्कुल मिलते-जुलते है। यह लोग अपने भवनो का निर्माण भी उसी ढग से करते थे, जिस प्रकार हड़प्पा और 'मोइन-जो-दडो' के लोग। मकानो मे प्रकाश और वायु के लिये भी इन्होने, उसी प्रकार की पद्धतियो को अपनाया हुआ था। सवारी के लिए इनके पास वाहन थे और यह वाहन भी वैसे ही पहियदार थे जैसे भारतीय आर्य रखते थे। क्रीट के प्राचीन खण्डहरो से प्राप्त वस्तुओ से स्पष्ट है कि इनके यहा 'धर्म' नाम की वस्तुत कोई पद्धति नही थी। अधिकाशतया यह लोग हाथी दात पर खोदी हुई पुजारिनो की मूर्तियो की पूजा करते थे। यहा से प्राप्त पुजारिनो की मूर्तिया पेरिस और न्यूयार्क के अजायबघरो मे है। इस सभ्यता के चिन्ह, उसके समकालीन यूनानी नगर राज्य-- ग्रीस और ट्राय के भू-भागो से भी उपलब्ध हुए हैं। क्रीट के नौसास नामक नगर के खण्डहरो मे जिस राजप्रसाद का पता चलाया गया है, उसका काल ई० पू० २५०० वर्ष का है। अत इस दृष्टि से यह सम्भवत यूनान से पर्याप्त प्राचीन सिद्ध होती है। परन्तु इस सभ्यता के संस्थापक कौन लोग थे, वह कहा से आये थे, इस बारे मे इतिहासकारो मे अभी मतभेद हैं। कुछ इतिहासकार इन्हे हलनीज' के नाम से पुकारते हैं और इनका मूल निवास 'मसेली' बताते हैं। अनेक इतिहासकारो की धारणा है कि यह लोग भी भारतीय 'मोइन-जो-दडो' लोगो के ही भाई बन्द थे।

रोम सभ्यता--'विश्व-सभ्यता के विकास मे इस सभ्यता का' इतिहास भी अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस सभ्यता के सस्थापको ने रोम की दलदल मे लकडी के लट्ठे गाड-कर, इस सभ्यता की स्थापना की और ई० की ५वी शताब्दी तक रोम सभ्यता को समस्त यूरोप और आधे एशिया तक फैला दिया था। रोम की यह प्राचीन सभ्यता तब तक बढती ही गयी, जब तक कि ५वी सदी मे इस पर हूणो ने आक्रमण करके, इसकी कमर नही तोड दी।

अपनी सभ्यता के काल मे रोम मे जहा विलासी सामन्तो का जन्म हुआ, वहा उच्चकोटि के विचारको ने भी जन्म लिया। श्रेष्ठ मूर्तिकार भी उत्पन्न हुए। रोमन स्थापत्य-कला विकास की चरमसीमा पर पहुँच चुकी थी। रोमन फोरमो के खडहर इस बात के प्रमाण है कि रोम की स्थापत्य-कला कितनी विकसित हो चुकी थी। उसी काल मे रोम की इस मूर्तिपूजक सभ्यता ने अपनी अधिष्ठात्री देवी मिनर्वा के विशाल मन्दिर रोम ही नही, लन्दन तक मे बनवाये। रोमनो की मूर्तिकला भी भद्दी नही थी। अपनी इस कला के विकास मे रोमनो ने यूनानियो की नकल की। परन्तु वह कभी यूनानियो के दर्जे तक नही पहुच सके।

रोमन देवालय बहुकोणीय ढाचो पर निर्मित हुए है। सभवत यह देवालय इरीट्रिया वालो की नकल पर बनाये गये थे। इस प्रकार के रोमन लोगो के मन्दिरो के अवशेष—रोम के वेस्टा और मेटर मेट्रश के मन्दिर, तथा सुप्रसिद्ध पैथियन स्वलाटो तथा जुपिटर का मन्दिर आदि हैं।

हूणो के आक्रमणो के कारण, रोमन साम्राज्य ताश के पत्तो की भाति बिखर

गया, चारो ओर अराजकता छा गयी। परन्तु तभी ईसाई-धर्म की जडें मजबूत होने लगी और उन जडो ने ईसाई-धर्म रूपी वृक्ष को मजबूत करके सारे यूरोप पर फैलाना प्रारम्भ कर दिया। अत रोमनो के इस 'बहुदेवतावाद' ने यहा भी 'एकेश्वरवाद' की स्थापना की। उसी एकेश्वरवाद ने 'समस्त मानव केवल एक ही प्रभु की सन्तान है' का नारा बुलन्द किया और समस्त समाज मे सौहार्द के लक्षण प्रकट होने लगे। अत प्राचीन रोमन सरदारो की जहा उनके समकालीन विचारको ने प्रशसा की थी, सन्त 'आगस्टाइन' जैसे व्यक्ति ने उनके विचारो की धज्जिया भी उडानी शुरू की। सन्त आगास्टाइन ने उस राजसत्ता को 'लुटेरो की सत्ता' की सज्ञा दी। इसका कारण यह भी है कि ईसाई धर्म ने राजसत्ता को कभी भी धर्म से उच्च नही माना। वह सदैव या तो समानता का उपदेश देते थे अथवा धर्मसत्ता के सम्मुख राजसत्ता को हेय मानते थे। उस समय तक भी ईसाई धर्म प्रचारको ने क्रमबद्ध-विचारो का प्रकाशन नही किया था। अत राजनीतिक विचारो मे भी कोई क्रमबद्धता नही आ पाई। इसका एक और मजेदार परिणाम रोमन-सम्राटो को भुगतना पडा। वह यह कि उन्होने (Holy Roman Emperors) ईसाई मठो पर अधिकार करके, विश्व-बन्धुत्व अथवा ईसाई धर्म के नाम पर यूरोप सहित समस्त ससार को रोमन झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न किया। उन्हे अपने इस कार्य मे तो सफलता नही मिली, परन्तु उनकी इस योजना ने पोपतत्र, को जन्म दिया, जिसने उल्टे राजाओ को ही अपने अन्तर्गत कर, होली रोमन सम्राटो की योजना को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपना लिया। इसी पोपवाद ने पहिले रोम मे, पश्चात् यूरोप भर मे एक बार तो तहलका ही मचा दिया था। जगह-जगह 'राजसत्ता' और 'धर्मसत्ता' मे सघर्ष होने लगा। अन्त मे १०वी सदी के उत्तरार्द्ध मे राजसत्ता और धर्मसत्ता का सघर्ष, धर्मसत्ता की विजय के बाद समाप्त हुआ और सघर्ष इस्लाम से शुरू हो गया। लगभग ४००वर्षों तक हल्के भारी रूप मे इस्लाम के अनुयायियो और ईसाई धर्म के अनुयायियो मे 'धर्मयुद्ध' चलता ही रहा, परन्तु उस समय भी ईसाई धर्म ही नही, बल्कि समस्त यूरोपियन सभ्यता का सम्राट् भी रोम ही था।

इजरायल की सभ्यता—विश्व की इस सभ्यता का राजनीतिक दृष्टि से ससार मे इतना महत्व नही रहा, जितना महत्व उसका धार्मिक दृष्टि से रहा है और यही कारण है कि ईसा की इस जन्मभूमि को आज भी यूरोप और अमेरिका 'एक राज्य' बनाने और स्थाई रखने मे प्रयत्नशील रहे हैं। इस सभ्यता के सस्थापक वह यहूदी लोग हैं, जो प्रागैतिहासिक काल मे असीरिया, मैसोपोटामिया आदि देशो मे अपने नगर राज्य बनाकर रहते थे। उस समय फिलिस्तीन मे सेमेटिक जाति की एक शाखा—कैनेनाइट–लोगो की अपने नगरराज्य बनाकर रहती थी। इन्ही कैनेनाइट लोगो के नाम पर इस प्रदेश को 'कैनान' नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान फिलिस्तीन प्राचीन कैनान के स्थान पर ही आबाद है।

यहूदियो का मूलस्थान, मैसोपोटामिया है। जहा इनके आदि गुरु अब्राहम का जन्म हुआ था। यह व्यक्ति जेहोवा नामक देवता का पुजारी था। उसी देवता ने एक

दिन स्वप्न मे अब्राहम को बताया था कि "तेरी सन्ताने सुन्दर नगरियो के देश पर शासन करेगी।" इस जाति मे अब्राहम और ईसामसीह के अतिरिक्त बडे-बडे भविष्य-वक्ता हुए, जिन्हे मिस्र के राजदरबार मे भी राजाश्रय प्राप्त था। इनमे जैकब के पुत्र युसुफ का नाम विशेष रूपसे विख्यात है। पत प्रारम्भ मे यहूदियो की राजनीतिक स्थिति नगण्य थी। फिलिस्तीन मे आने पर ही इन्होने सुदृढ राजनीतिक स्थिति की स्थापना की।

यहूदी लोगो के दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय दार्शनिको की विचारधाराओ के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त यहूदी बाईबिल भी भारतीय दार्शनिक और गौतमबुद्ध के विचारो के सदृश ही है। मनुष्य समाज को महात्मा गौतम ने जो उपदेश दिये थे, लगभग वही उपदेश यहूदी बाईबिल मे वर्णित हैं। इस धार्मिक समानता को देखकर कहा जा सकता है कि यहूदी सभ्यता का भारतीय सभ्यता से प्राचीन सम्बन्ध है।

इन लोगो को कुछ समय बाद ही अकाल पडने के कारण, मिस्र मे भाग जाना पडा। वहाँ इस जाति के भविष्यवक्ताओ ने अपनी विद्वत्ता की धाक मिस्र के 'फराओ सम्राटो' के हृदयो तक पर जमा दी। इनमे भविष्यवक्ता युसुफ का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इस व्यक्ति के कार्यो का वर्णन यहूदियो की धार्मिक पुस्तक 'जेनेसिस' मे दिया हुआ है। १६०० ई० पू० मिस्र मे भी इस जाति पर सकट आया और इन्हे वहा से भी भागकर 'मीडिया' देश आना पडा, किन्तु उस समय प्रसिद्ध यहूदी सन्त—मूसा का जन्म हो चुका था। मूसा की अलौकिक शक्तियो का वर्णन यहूदी ग्रन्थो मे बहुतायत से पाया जाता है। इन्ही मूसा ने १२० वर्ष तक जीवनयापन करके 'जशुआ' नामक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

यहूदी लोग 'जेहोवा' के पुजारी हैं। उन्ही का मन्दिर इन्होने फिलिस्तीन मे बनवाया था। ईश्वर के बारे मे इनकी धारणा थी कि ईश्वर एक जगह न रहकर केवल स्वर्ग मे रहता है। यहूदी बाईबिल के दो खण्ड हैं—एक पुरातन सुसमाचार और दूसरा 'नूतन सुसमाचार'। इनमे प्रथम भाग समग्र ग्रन्थ का तीन चौथाई भाग है और यही यहूदी धर्म का मूल ग्रन्थ है। वर्तमान मे इसके ३८ परिच्छेद है। इसके पश्चात् ईसामसीह के आदेशो पर आधारित बाईबिल है। परन्तु यहूदी लोग अपने पुराने सुसमाचार को ही मानते हैं।

विश्व की अन्य सभ्यताओ की भाँति इस सभ्यता का भी भारतीय सभ्यता से विशेष सम्बन्ध रहता पाया है। 'पीकाक' ने अपने ग्रन्थ 'इडिया-इन-ग्रीस' मे यहूदियो को भारत की यदुवशी जाति का अग बताया है। इनके अतिरिक्त उमेशचन्द्र विद्यारत्न भी 'ज्यू' जिससे 'जुडा' शब्द बना है, सस्कृत-भाषा का ही शब्द मानते हैं और प्रमाण के लिए आर्य 'मेदिनी-कोष' का श्लोक देते है। इसके अतिरिक्त यहूदियो की तूफान की कहानी और उनके दार्शनिक विचार भी लगभग वही है जो भारतीयो के हैं। साथ ही सम्पूर्ण 'बाईबिल' की विचारधारा भी बौद्ध-धर्म और हिन्दू-दर्शन-शास्त्रो से मेल

खाती है। यह विचार इनको प्रारम्भ मे 'ऐसेनीज़' लोगो से मिले। उसके बाद भारत से मिले। लगभग ८३० ई०पू० मे भी इस देश के दो भाग थे। इनमे एक भाग 'इजरायल' कहलाया था और दूसरा भाग 'जूडाह' कहलाता था। ई० पू० प्रथम सदी मे इन पर रोमनो ने आक्रमण किये और रोमन सम्राट् 'टाइटस' ने यहूदी मन्दिरो को जला डाला। इस प्रकार इस देश के निवासी—यहूदी अपने ऐतिहासिक काल मे बहुत कम चैन से बैठ पाये। उन्हे एक न एक पडोसी देश का शिकार होना पडा। यूरोप के 'ईसाई-धर्म' मे दीक्षित होने के बाद, भी यहूदी लोगो को बहुत कम चैन मिल पाया। वह इसलिए कि यह ईसाई न होकर यहूदी थे, परन्तु अपने सगठन तथा अपनी बुद्धि के बल पर यह सभ्यता अनेको सकटो के उपरान्त आज भी ससारमे जीवित है और अपने प्राचीन—यरूशलम से अपनी सभ्यता का विकास कर रही है।

अरब सभ्यता का विकास--इस सभ्यता का महत्व विशेषकर दो बातो के लिए है। इनमे एक है—इस सभ्यता के द्वारा ही इस्लाम धर्म का जन्म हुआ। दूसरे इस सभ्यता ने अपने प्राथमिक ज्ञान-विज्ञान से यूरोप के देशो को प्रकाश दिया। अत इस सभ्यता को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। १ हजरत मुहम्मद से पूर्व-काल की अरब सभ्यता और २ हजरत मुहम्मद के पश्चात् की इस्लामिक अरब सभ्यता। अत ऐतिहासिक आधार पर पूर्व-कालीन 'अरब-सभ्यता को 'मिश्रित सभ्यता' कहा जा सकता है। क्योकि प्रारम्भ से ही अरब सभ्यता भारत, मिस्र, मेसोपोटामिया और ईरान के सम्पर्क मे रही है। उस समय इस सभ्यता का जीवन भी 'कबीलाई' ही था। इनका कोई व्यवस्थित राज्य नही था। इसके देश के अधिकाश भाग पर मेसोपोटामिया ईरान आदि का अधिकार था। इनमे अधिकाशत बद्दू लोग थे, जो भेड-बकरिया पाल कर जीवन यापन करते थे। उस समय लगभग सारा अरब मूर्ति-पूजक था। इनके यहा गुलाम रखने की प्रथा थी। लडकियो को अधिकाशतया यह लोग मार देते थे। हजरत मुहम्मद के समय तक यह प्रथा चलती रही। परन्तु यह लोग भी सूर्य के और चन्द्रमा के उपासक थे। 'शम्स' के नाम से सूर्य की पूजा करते थे। चन्द्रमा के आधार पर इनके उत्सव आदि मनाये जाते थे। यह दोनो मान्यताए किसी न किसी रूप मे अब तक भी 'अरब-सभ्यता' मे विद्यमान हैं। उस समय भी मक्का (बक्का) तीर्थ-स्थान था और वहाँ भारत तक से लोग यात्री के रूप मे जाते थे।

भारत और ईरान की भाँति यहा भी पुजारियो का एक वर्ग था। इस वर्ग के लोग 'कुरश-वश' के थे। यह पुजारी भी जातिगत आधार पर ही भारतीय ब्राह्मणो की भाति होते थे।

साहित्यिक दृष्टि से, इस्लाम के पूर्व अरब का जो कुछ साहित्य पाया गया है वह प्राय झाड फूँक पर ही आधारित है। मुहम्मद साहब के बाद यहा नये धर्म के कारण नई सभ्यता ने जन्म लिया। इस सभ्यता के प्रसारक अरब के खलीफा लोग थे, उन्ही के समय मे यहा प्रत्येक प्रकार के साहित्य की वृद्धि हुई। ७वी सदी मे यहा अब्बासी खलीफाओ ने भारतीय दर्शनो तक का अरबी भाषा मे अनुवाद कराया। उनके समय मे अरब मे भारतीय, ईरानी और यूनानी विद्वानो का जमघट रहता था। अत 'अरब-सभ्यता' का विकास अति प्राचीन न होकर, केवल ७वीं सदी से प्रारम्भ होता है।

भारतीय सभ्यता का आदिकाल और उसका विकास

(ई० पू० २५ हजार से ई० पू० १० हजार वर्षों तक)

प्रागैतिहासिक-युग के अवशेष

पुरातत्ववेत्ताओ का मत है कि वर्तमान काल मे लगभग ८० करोड वर्ष पूर्व पृथ्वी का तापमान कम हो चुका था और उस पर जीवन के चिह्न उत्पन्न होने लगे थे। परन्तु उसके बाद भी प्राणियो का विकास होने मे करोडो वर्ष लग गये। पहिले विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु बने और जीव-जन्तुओ के विकास का क्रम वानर जाति तक आया। उसी वानर जाति से मनुष्य की उत्पत्ति लगभग दस लाख वर्ष पूर्व हुई।

मनुष्य की उत्पत्ति की इस कहानी को खोजने मे पुरातत्ववेत्ताओ को लाखो मनुष्यों, पशुओ और पक्षियो के सम्पूर्ण ढाचो, यत्र यत्र पाई गई हड्डियो, दातो और कपालो को अपने अनुसन्धान का विषय बनाना पडा। उसके पश्चात् उन्होने प्रारम्भिक मनुष्य को कई श्रेणियो मे विभाजित करके, पाषाण-युग से उसके मानवी जीवन का आरम्भ कर मानवी सभ्यता की उत्पत्ति का श्रीगणेश किया है।

मनुष्य की इस प्रारम्भिक विकासशीलता का आरम्भ उसके शरीर से उन्हे आरम्भ करना पडा। पहिले उसके हाथ और हाथ के अगूठे की रचना अन्य पशुओ से निराली सिद्ध की। अत उसे दो पैरो पर चलने मे समर्थ बताया, जबकि यह सर्वविदित है कि मानव का कथित पूर्वज—वानर अथवा गुरिल्ला अपने शरीर की बनावट इस प्रकार की रखता है कि वह दो पैरो पर ज्यादा दूर नही चल सकता। इसके अतिरिक्त यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि हर बच्चा अपने माता-पिता का ही अनुकरण करता है।

विकासवादियो का आगे कथन है कि उसकी मेधा-शक्ति प्रबल थी। वह दूसरे के अनुभवो से लाभ उठा सकता था। उसमे स्मरण, मनन और चिन्तन के सभी गुण विद्यमान थे, इनके द्वारा वह अपनी कृतियो को सुधार सकता था तथा अपनी इच्छापूर्ति के लिये अनेक उपाय कर सकता था। इसके अतिरिक्त वह अपने मन के भावो को सकेतो द्वारा व्यक्त कर सकता था। परन्तु उसकी इन शक्तियो का विकास बहुत धीरे-धीरे लाखो वर्षों मे हुआ।

आज से लगभग १ लाख वर्ष पूर्व वह पशुओ की भाति रहता था। अपने

हाथो के अतिरिक्त उसके पास रक्षा का कोई साधन नही था। न वह झोंपडी बनाना जानता था और न तन ढकने की रीति से परिचित था। उसके पास गाय, भेड़, भैंस, बकरी कुत्ता कुछ नही थे। कन्द-मूल, पशुओ का मास ही उसका आहार मात्र था। वैज्ञानिक दृष्टि से उसने पहिले आग जलाना सीखा। उसके बाद, लकडी के नुकीले और बाद मे चकमक पत्थर के भद्दे औजार बनाये।

मानव की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विकासवादी तर्क के आगे नही टिकते। प्रथम यह कि वह मानव का पूर्वज यदि बन्दर को मानते है, तब उन्हे बन्दरो के रहने के स्थानो की भी तलाश करनी पडेगी। बन्दर वनो मे पेडो पर रहने वाला प्राणी है जो विश्व के हर स्थान मे नही पाया जाता। दूसरे, उन्हे यह भी मानना पडेगा कि सभी बन्दरो के बच्चो ने मानव-जीवन अपनाना शुरू नही किया होगा। यदि बहुत से बन्दरो के बच्चो ने मानव-जीवन की ओर अग्रसर होना शुरू किया होगा, तब वर्तमान काल मे बन्दरो से मानव की उत्पत्ति का क्रम बन्द न हो गया होता, जबकि वर्तमान-युग मे उन्हे मानव द्वारा सभी प्रकार के शिक्षण के साधन सुलभ हैं और हजारो बार इस प्रकार के प्रयत्न किये भी जा चुके हैं कि वनमानुष या बन्दर आदमी बन जाये। साथ ही यह भी प्रयत्न किया गया है कि मानव के बच्चे को पशुओ मे रख कर पाल कर, उसके विशिष्ट ज्ञान का परीक्षण किया गया। इन दोनो परीक्षणो का परिणाम यह निकला कि आदमी का बच्चा उन पशुओ के साथ रह कर, पशु अवश्य बन गया, किन्तु कोई वनमानुष (गुरिल्ला) अथवा बन्दर आदमी नही बन सका।

बन्दरो द्वारा मानव की उत्पत्ति के विकास के क्रम मे विकासवादी प्रकृतिप्रदत्त प्रजनन क्रिया को भी तिरोहित कर देते हैं। अत उन्हे यह भी सिद्ध करना चाहिये था कि बन्दर से आदमी बनने वाले, अधिकाश वानर बालक नर जाति के अधिक थे, अथवा मादा जाति के। यह सिद्ध करने पर उनके विकास क्रम मे एक और नई बाधा यह आ पडती है कि यदि प्रगतिशील वानर दो पैरो पर चलने वाला नर हुआ, तो उसकी मादा भी वैसी ही होनी चाहिये। अन्यथा उसके पूर्व सी बन्दरिया होने पर उनके विकास-क्रम का सारा महल इसलिये गिर जायेगा कि बच्चे को पालने वाली माता होती है, उसके क्रिया-कलापो का प्रभाव बच्चे पर पडता है। अत बच्चाफिर बन्दर का बन्दर ही रह जायेगा। इसके विपरीत यदि बन्दरिया मानवी रूप की ओर अग्रसर हो चुकी है और उसका पति पूर्व-सा बन्दर है, तब भी नये बच्चे के लिये कठिनाई ही है। यदि दोनो ही विकासोन्मुख मानव हैं, तब उनके अन्दर इतने मानवी गुणो का होना आवश्यक है, कि वे अपने बच्चे को अपने परिवारियो के चारो पैरो पर चलने वाले बच्चो से पृथक् रख कर पालपोस सके। अन्यथा अपने साथियो का अनुकरण वह बच्चा भी करेगा।

मानव जाति के विकासशास्त्रियो का कथन है कि मनुष्य की प्रथम जीविका साधनो के अभाव मे मरा हुआ या मारा हुआ मास खाना था। उनका यह कथन वानर से मनुष्य की उत्पत्ति के सारे सिद्धान्त को समाप्त कर देता है। प्रथम यह कि प्रत्येक बच्चा भले ही किसी भी प्रकार के पशु का हो, आरम्भ मे अपनी माता का दूध पीना

है। उसके बाद बड़ा होने पर वह उन खाद्य-पदार्थों को खाता है, जिन्हे उसके माता-पिता स्वयं खाते हैं। अत वानर और गुरिल्ला—दोनो ही पशु मासाहारी न होकर, शाकाहारी प्राणी है। इसीलिये उनकी मेधा अन्य सभी प्रकार के पशुओ से उन्नत है। यदि वह भी मासाहारी होते, तब उनके यह विशिष्ट गुण नष्ट हो गये होते। अत वानर-बालक जो निरन्तर मनुष्य पद की ओर प्रगति कर रहा हो वह मासाहारी होकर कदापि प्रगति नहीं कर सकता। इस तथ्य को प्राचीन मनोवैज्ञानिको ने भी स्वीकार किया है। इसलिये अन्त मे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि मानव की उत्पत्ति मानव से ही हुई है और प्रथम मानव की उत्पत्ति भी प्रकृतिप्रदत्त समस्त रचनाओ मे से एक विशिष्ट रचना है। इसे ही हमने अपनी पुस्तक 'विश्व सभ्यता का विकास' मे मानकर भारतीय सभ्यता के सृजक—आर्यों की उत्पत्ति मानव से, मानसरोवर (हिमालय) पर मानी है और उन्ही द्वारा भारत सहित विश्व सभ्यता का विकास सिद्ध किया है। हमारे इस कथन की पुष्टि, जिन पर हमारे प्रमाण आधारित है सभी धर्मावलम्बियो ने भी अपनाये हुए हैं। वे भी सभी मानव की उत्पत्ति मानव से मानते है। अत 'मानव-विकास' हमारी पुस्तक का विषय न होकर, हम उसे छोड कर अपने मूल विषय पर आते हैं।

प्रागैतिहासिक सभ्यता का विकास—पृथ्वी की बनावट से यह सिद्ध होता है कि हमारे देश सहित प्राचीन कालो मे पृथ्वी पर अनेको बार परिवर्तन—विशाल भूकम्प आदि के कारण उत्पन्न होते रहे है। जहाँ आज पर्वत हैं, कभी वहाँ समुद्र था, जहाँ समुद्र हैं, ऊचे-ऊचे पहाड खडे थे। पहाडो से निकलने वाली नदियाँ, झरने, चश्मे और पहाडो मे पाई जाने वाली झीलें तथा समुद्रो मे विशाल पहाडो के शृग और सिलसिले पृथ्वी की बारम्बार उथल-पुथल के ही परिचायक है। अत मानव की प्रथम उत्पत्ति का निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है।

भारतीय वाड्मय वर्तमान सृष्टि-क्रम का मूल स्थान हिमालय और आदि मानव 'मनु' से मानव की उत्पत्ति मानता है। धर्मग्रन्थो के अनुसार यह चौदहवे वैवस्तमनु हैं। इन्ही मनु से मानव समाज की उत्पत्ति हिमालय पर हुई थी। यह देश सदैव से अपनी प्राकृतिक बनावट, शस्यश्यामला भूमि और भूमि पर उत्पन्न फल-फूलो की हरियाली से आच्छादित रहा है। यहाँ जगह-जगह नदियाँ हैं। पहाडो पर जडी-बूटियो और हरियाली से लदे जगल है। यही सब कारण मानवी जीवन विकास के सर्वोच्च साधन हैं। यह भी यही सिद्ध करते हैं कि मानव की उत्पत्ति प्रथम इसी देश मे हुई, जैसा कि भारतीय धर्मग्रन्थ मानते हैं। वैवस्तमनु के वशज ज्ञानवान होते हुए साधनहीन थे। प्रकृति ने मनुष्य की उत्पत्ति की, परन्तु मनुष्य को अपने जीवन यापन के लिये अनेक वस्तुओ की आवश्यकता होती है। अत शनै-शनै उन वस्तुओ की उत्पत्ति आरम्भ हुई। उत्पत्ति का यह क्रम ही भारत का प्रागैतिहासिक युग है, जिसके अवशेष हमे यत्र-तत्र मिलते है।

आर्यों का प्रारम्भिक समाज—आर्यों का प्रारम्भिक समाज छोटा-सा आर्यसमाज

था। जीविका का साधन फल फूल और तन ढाकने का साधन वल्कल मात्र था। शेष दैनिक दिनचर्या मे प्रकृति और प्रकृतिप्रदत्त उपादानो के लिये चिन्तन करना था। अत आर्यों को हम विश्व के सबसे प्राचीनतम विचारशील मानव मानते है। यदि आर्यों को हिमालय सदृश रमणीक तथा साधन सम्पन्न स्थान प्राप्त न होकर अन्य स्थान प्राप्त हुआ होता, तब आर्य लोग भी मासाहारी होते और इतने उत्कट विचारक कभी भी नही हो सकते थे। इसी हिमालय पर उन्होने अपनी भाषा का पूर्ण विकास किया और छन्दवद्ध ऋग्वेद के मन्त्रो की रचना प्रारम्भ की, जो एक व्यक्ति की रचना न होकर, एक सुसंस्कृत समाज की रचना है।

प्रस्तर-युग

भारत के प्रस्तर-युग को हम ई पू २३ हजार अर्थात् अव से लगभग २५ हजार वर्ष प्राचीन मानते है, क्योकि प्राचीन भारतीय चित्रकला के दर्शन हमे स्पेन और फ्रांस की गुफाओं मे मिलते हैं। इसके अतिरिक्त मिस्र मे होने वाली 'आस्वान-वांध' की खुदाई से जो प्राचीन वस्तुए भारत के पुरातत्व विभाग को मई १९६२ तक मिल चुकी हैं, उन्होने उनका काल ई पू २२ हजार वर्ष तक वताया है और भारत की द्रविड सभ्यता की वस्तुओ से उनकी तुलना कर, यह सिद्ध किया है कि भारतीय और मिस्री वस्तुए इतनी समान हैं कि इनकी निर्माता दो सभ्यताए नही मानी जा सकती। अतः यह सिद्ध हो गया कि भारतीय आर्य सभ्यता के विकास का प्रारम्भ कम से कम २५ हजार वर्ष पूर्व ही नही, उससे भी पहिले हो चुका था, क्योकि कम से कम २-३ हजार वर्ष तो आर्यों के उत्तर से दक्षिण मे पहुचने मे भी लगे थे। भारतीय आर्य दक्षिण मे उस समय जाने प्रारम्भ हुए थे, जिस समय 'आर्यसमाज' एक धार्मिक सगठन का रूप ले चुका था और अकर्मण्य तथा धार्मिक-क्रिया से हीन लोगो को समाज से च्युत कर निकाल दिया जाता था। इन्ही लोगो ने अपने को आर्य समझते हुए भी अपनी विशिष्ट सभ्यता की पृथक् नीव डाली थी। परन्तु उन्होने अपने को आर्यो से हीन कभी नही माना। विदेशो मे उनके विकास-क्रम मे जिन राज्यो की स्थापना हुई, उन राज्यो के राजाओ ने भी अपना धर्म—'वैदिक धर्म' ही रखा और आर्य देवताओ को ही अपना देवता मान कर उपासना की, जैसा कि हम "बोगाज-कुई" के लेखो मे देखते हैं और अमेरिका की मय जाति की सभ्यता द्वारा निर्मित भवनो पर रामायणकालीन चित्रो को देखते हैं। अत दक्षिण भारत की सभ्यता को 'अनार्य' सभ्यता कहना ऐतिहासिक भूल है, जिसे वैदिक इडिस्कारो ने उत्पन्न किया है। हमने आर्येत्तर जातियो के विकास प्रकरण मे अच्छी तरह यह सिद्ध किया है, कि भारत की कोई भी जाति अनार्य नही हैं। यह भारत की विशेषता रही है कि उसकी विचारधारा धर्ममूलक रही, कार्यशैली परहितकारी रही तथा रीति-रिवाज और समाज व्यवस्था देष भर मे समान रही।

पूर्व पाषाण-युग के अवशेष—प्रागैतिहासिक काल को विद्वानो ने तीन भागो मे बाटा है—प्रथम आदि प्रस्तर-युग, द्वितीय मध्य प्रस्तर युग और तृतीय धातु-युग, अर्थात् पूर्व पाषाण-काल, उत्तर पाषाण-काल और धातु-काल। इन कालो मे प्रथम

पाषाण काल मे मनुष्य ने अपनी जीविका का साधन कन्द-मूल-फल ही रखे। इस काल मे वह अपनी रक्षा के निमित्त लकडी और चकमक पत्थर के हथियार और कन्द-मूल-फल खाने के लिए भद्दे किस्म के औजार बनाता था। यह हथियार नुकीले होते थे, जो रक्षा करने तथा खाने वाली मूलो को खोदने के लिये विशेष सहायक थे। इस युग का मनुष्य मासाहारी नही था। अलबत्ता किसी मरे हुए जानवर की हड्डी का प्रयोग वह अपनी रक्षा अथवा अपने आवश्यक उपकरण बनाने मे अवश्य करता था, जैसा आज भी होता है। इस काल का मनुष्य अपनी छाया के लिये पर्वतो की कन्दराओ का प्रयोग करता था। मैदानो मे बडे-बडे वृक्षो का साया धर के रूप मे इस्तेमाल करता था। मनुष्य की इस आरम्भिक अवस्था के चिह्न भारत, एशिया और अफ्रीका, सभी स्थानो पर मिले हैं। आश्चर्य की बात यह है कि विभिन्न देशो मे पाये जाने वाली इन वस्तुओ की बनावट बिल्कुल समान है। इनकी किस्मो और बनावट मे ज़रा भी अन्तर नही है। दक्षिणी इग्लैंड और उत्तरी पश्चिमी फ्रास मे जो औजार मिले हैं, वह भी भारत और अफ्रीका मे पाये गये हथियारो के ही समान है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रागैतिहासिक मानव भी दूर-दूर तक पहुचा था और वह इसी प्रकार के प्रारम्भिक उपकरणो का प्रयोग करता रहा।

उत्तरभारत की अपेक्षा दक्षिण भारत मे इस युग के कुछ विशेष उपकरण मिले है। इससे सिद्ध होता है कि उत्तरी भारत पहिले ही पत्थर-युग को पार कर चुका था। उत्तर भारत के निचले स्तरो पर अवश्य इस युग के उपकरण मिले है। दक्षिण भारत का प्रस्तर युगीन मानव पहाडी मैदानो मे रहता था। नीलगिरी, पाली और अन्यामलय पर्वत प्राचीन मनुष्यो के निवास-स्थान रहे हैं। यह मद्रास के कुरनूल जनपद मे, चेगलपेट जिले मे अधिक मिले है। इन उपकरणो से सिद्ध होता है कि यह 'तस्मानिया' और 'आस्ट्रेलिया' मे पाये गये उपकरणो से अच्छे, सुन्दर और मज़बूत है। इसके अतिरिक्त मद्रास राज्य के 'पल्लावरम्' स्थान से भी पत्थरकालीन औज़ार प्राप्त हुए हैं। इन औज़ारो मे, फरसे, भाले, तीरो के फलक, खुदाई के औज़ार, फेंकने के पत्थर के गोले, छुरियाँ, छीलने वाले औज़ार तथा हथौडे आदि और लकडी के बने उपकरण है। यह मद्रास के कुडप्पा, चिंगलपट मे अधिक मिले हैं।

इनके अतिरिक्त दक्षिण मे मदुरा, तजौर, त्रिचनापल्ली, मैसूर, बिलारी और उत्तर भारत के दक्षिणी भागो मे—धारवार, गुजरात, रीवा, बुन्देलखण्ड, राजपूताना आदि से जो उपकरण मिले हैं, वह भी इसी काल की सभ्यता के हैं। श्री रगाचार्य ने इस सभ्यता के मानव को अन्धकार मे डूबा हुआ मानव बता कर इनके हथियारो को दस प्रकार के बताया है। इनके बारे मे लिखा है कि यह नितान्त जगली थे। वृक्ष की छालो से अपने गुप्तागो को ढकते थे। यह असभ्य लोग अपने मृतको को जानवरो को खिलाते थे, क्योकि इनके मृतको के समाधि-स्थल नही मिले। परन्तु समाधि चिह्नो का न मिलना—मूर्खता का चिह्न नही माना जा सकता। पारसी लोगो के समाधि चिह्न न होने से उन्हे नितान्त जगली नही माना जा सकता। वास्तव मे जो लोग उस समय

को उपलब्ध वस्तुओ—चकमक पत्थर आदि का प्रयोग अपने जीवन-यापन मे करते थे, इन्हे जगली कहना नितान्त अनुचित है, क्योकि जब हम देखते हैं, इन्ही लोगो ने समस्त ससार को सभ्यता का प्रकाश दिया है ।

यह व्यक्ति विशेष लोगो की सभ्यता नही थी, अपितु यह देश-व्यापी थी । उस समय का मनुष्य देश के इस छोर से उस छोर तक अल्पसाधनो का ही प्रयोग कर रहा था । केवल दक्षिण भारत ही नही, इन्ही प्रारम्भिक मानवो के अवशेष रावलपिण्डी के पोठावार प्रान्त, कश्मीर मे पूछ के पास और नर्मदा घाटी तथा उडीसा की मयूरभज-रियासत, बम्बई प्रान्त और उत्तरप्रदेश के फैजाबाद जिले मे मिले हैं ।

रावलपिंडी के पोठावार प्रदेश मे सोआ नदी की घाटी मे जो उपकरण मिले है, वे सबसे प्राचीन हैं और सख्या मे भी अधिक है । उनसे उस काल की सभ्यता पर प्रकाश भी अच्छा पडता है । इन अवशेषो को एशिया भर मे प्राप्त उपकरणो मे सबसे प्राचीन माना गया है । यह उपकरण आकार मे बडे हैं और यह उपकरण एक ओर नुकीले करके बनाये गये हैं । इनका काल भी वर्तमान काल से ४ लाख वर्ष प्राचीन कूता गया है, जबकि हम मनुष्य की सभ्यता का काल केवल २५ हजार वर्ष प्राचीन मान कर चले हैं । इनके अतिरिक्त सोआ घाटी मे कुछ दूसरे प्रकार के उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं, जो पूर्वोक्त उपकरणो की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था के है । इन उपकरणो के आधार पर कहा जा सकता है कि इस स्थान और इसके आसपास एक के बद, एक विकसित सभ्यता रही, अथवा एक ही सभ्यता विकसित होती रही । सोआ घाटी में जो उपकरण बाद के युग के मिले है, इनमे लडकी काटने के औजार और ऐसे पत्थर के कुल्हाडे हैं, जिनमे लकडी का बेंटा पडता था । यह विकसित सभ्यता के उपकरण केवल सोआ और सिन्ध के निकट ही नही मिले हैं—सोआनक मे भी प्राप्त हुए है । उनसे ज्ञात होता है कि जो लोग उस काल मे वहा बसे, वह कोठवार, अडियाला, खसलाकला, कुशलगढ तथा कश्मीर तक फैलते गये । यही कारण है कि आगे चल कर चित्राल, बिलोचिस्तान आदि के उपकरण और उनको भाषा ब्रो-उई की समानता हमारी कथित द्रविड भाषाओ से होती है और समस्त द्रविड भाषाए आर्य भाषा सस्कृत की ही सतति है ।

कश्मीर के पूछ प्रदेश मे और छूवा की नमक की पहाडियो मे जो कुल्हाडे मिले है, वे सोआ और सिन्ध की घाटी से मिले कुल्हाडो से अधिक परिष्कृत है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रथम प्रस्तर-युग का विकास कश्मीर मे हुआ । अर्थात् आरम्भिक आर्यो के वशधर पहले हिमालय से मैदानो मे आने से पूर्व पहाडो मे ही एक समय तक रहे । परन्तु नर्मदा और कृष्णा नदी की घाटियो मे मिले उपकरण यह सिद्ध करते है कि वह किसी स्थान विशेष पर न जाकर अपनी इच्छा या साधनो के अनुसार पहाडो अथवा मैदानो मे फैले, क्योकि इन नदियो की तैलहटियो से प्राप्त उपकरण कश्मीर के उपकरणो से भी अधिक परिष्कृत हैं । इनमे कुछ उपकरण तो आधुनिक उपकरणो के समान हैं । इनके औजारो मे एक तरफ धार है । ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णा और

गोदावरी की घाटियो मे से होकर, विंध्याचल पार और सिंधु मे भी यही लोग विकसित होकर पहुचे थे । इनके अतिरिक्त मद्रास और गुजरात के उपकरण भी अधिक विकसित अवस्था के है । इन विकसित वस्तुओ मे मद्रास का अतरिम पक्कम् का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है । वहा पत्थरो के उपकरणो के साथ-साथ प्राचीन मनुष्यो की हड्डिया भी मिली है, जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे मौजूद है । यूरोप और जावा मे इस काल के मानव के ककालो के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम यह निकला है कि इस काल मे एक ही सभ्यता थी ।

बम्बई की खुदाई मे प्राचीन मध्य पत्थर युगीन मानव उपकरण निचली और ऊपर की सतह से प्राप्त हुए हैं । मैसूर मे इन उपकरणो के साथ मिट्टी के बर्तन भी मिले है । यह वर्तन हाथ के बने हुए है । इस काल के उपकरणो मे केवल फर्से, बाण फलक, भाले, खुदाई के औजार, काटने की छेनिया तथा कुल्हाडे और कुछ इसी प्रकार की चकमक पत्थर की बनी वस्तुए है, क्योकि भारत गर्म देश है । इसलिये प्राचीन काल के शव यहा अधिक काल तक सुरक्षित नही रह सके । इसके विपरीत इन लोगो ने गुफाओ मे जो चित्रकारी छोडी है, उससे उस काल के पशुओ और उनके चित्रकला-प्रेमी होने का प्रमाण मिलता है । इन चित्रो मे हरिणो और बारहसिघो के चित्र अधिक है । यह लोग तेल का कार्य पशु की चर्बी से लेते थे । सम्भवत इसीलिये उन्हे आखेट करना पडता था, क्योकि खाले और हड्डिया तथा चर्बी यह व्यवहार मे बहुत दिनो तक लाते रहे । यूरोप मे हड्डियो की बनी हुई कुछ सीटिया भी मिली है, जिनसे उस काल की वाद्य-कला के प्रारम्भिक रूप पर भी प्रकाश पडता है ।

उत्तर पाषाण काल—यह युग प्रथम युग से अधिक विकसित काल का है । इस काल मे मनुष्य ने पशुओ को पालतू बना लिया था । जमीन पर कृषि करना शुरू कर दिया था । अत कन्द-मूल फल के आहारो के अतिरिक्त उसने जमीन पर अन्न उगा कर भी खाना शुरू कर दिया था । यह ऐसी अवस्था थी, जबकि वह पशु-पालन और कृषक-दोनो बन गया था । वह अपने खेतो के पास मकान बनाकर भी रहने लगा था । उसके कृषि तथा जीवनोपयोगी औजार उन्नत होते जा रहे थे । पत्थर के कुल्हाडे से वह लकडी काटता और हल बनाता था । खाल के स्थान पर वह ऊन के धागो से कपडा बुनने लगा था । परन्तु इस काल मे भी उसे धातुओ जा ज्ञान नही था । उसके हथियार अब भी पत्थर, लकडी और हड्डी के बने होते थे । इन्ही के द्वारा वह अपनी सभ्यता का विकास कर रहा था । मनुष्य के इस विकास के युग के अवशेष भी यूरोप एशिया मे यत्र-तत्र मिले है । भारत मे इस युग के जो उपकरण उपलब्ध हुए हैं, वे यूरोप और एशिया के उपकरणो की अपेक्षा अधिक परिष्कृत हैं । अधिकाशत ये अर्द्ध-चन्द्राकार, त्रिभुजाकार, सुडौल और सुन्दर है । इन उपकरणो मे हाथ के बने हुए वर्तन तक है । यह वर्तन मिस्र के आस्वान-बाध से प्राप्त वर्तन सरीखे है, जिनका काल २२ हजार वर्ष पूर्व का नियत किया गया है । मैसूर रियासत के चित्तल दुर्ग जिले मे, ब्रह्म-गिरी नामक स्थान पर और हैदराबाद जिले मे मास्की नामक स्थान पर भी इस युग के

अवशेष मिले हैं। साथ ही नर्मदा, गोदावरी और साबरमती की घाटियो मे, विन्ध्याचल की पर्वत श्रृखला मे, उत्तर प्रदेश के बादा जिले मे और दक्षिण मे कुरनूल मे भी इस युग के कुछ अवशेष मिले हैं। गोदावरी की घाटी मे इस प्रकार के भी मिट्टी के अवशेष काफी मिले हैं जो सभवत आदिमकालीन कब्रें हैं। इन कब्रो मे मृतक के साथ उसके उपयोग की वस्तुए भी मिली हैं। इन स्थानो की निचली सतहो से उनसे भी प्राचीन काल की सभ्यता के चिन्ह मिलना स्पष्टत यह सकेत करता है कि पूर्व प्राचीन सभ्यता ही विकसित होकर ऊपरले स्तर तक पहुँची थी। इनके अतिरिक्त कश्मीर घाटी और सिन्धु सभ्यता मे उस काल मे भी अच्छे औजार मिले है।

मैसूर प्रान्त के चित्तल दुर्ग जिले मे चन्द्रवल्ली और ब्राह्मगिरी स्थानो की जो खुदाई हुई है, उसमे चन्द्रवल्ली की खुदाई से भारतीय सभ्यता के विकास पर और अच्छा प्रभाव पडता है। चन्द्रवल्ली की खुदाई की ऊपरली सतह पर सातवाहन काल के अवशेष, उसके नीचे मौर्य काल के अवशेष और उसके भी नीचे प्रारम्भिक धातुकाल के अवशेष हैं। लौहकाल के अवशेषो से लगभग १२ फुट नीचे द्वितीय पाषाण-काल के अवशेष हैं। इनमे इस युग के औज़ार और मिट्टी के बर्तनो का रग काला और लाल है। यह बर्तन अन्य स्थानो पर पाये गये बर्तनो की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और सुडौल है।

कश्मीर मे गान्धार वल्क के समीप नूलक और बुर्जहोम मे भी ऐसे ही कुछ परिष्कृत बर्तन मिले है। उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले मे, इस युग के औजार और ऐसे ही वर्तन मिले हैं। मुर्दों की कब्रो के अतिरिक्त ऐसी गुफाए भी हैं, जिनमे प्राचीन चित्र भी हैं। यह दीवारो पर बने है।

सांस्कृतिक-जीवन—इस युग के रहन-सहन से मानव समाज के एक विकसित जीवन का आभास मिलता है। इस युग का मानव—नागरिक जीवन की स्थापना कर चुका था। एशियामाईनर, काकेशिया, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान से भी इस काल के जो अवशेष मिले हैं, उनसे भी ज्ञात होता है कि यहा भी इस काल मे मनुष्य कृषि-कर्म करता था। इस युग का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार 'बू-रग' है, जो एक ऐसा शस्त्र था, जो अपने लक्ष्य पर जाकर पुन फेंकने वाले के पास ही लौटकर वापस आ जाता था। आस्ट्रेलिया के आदिवासी अब भी इस शस्त्र का प्रयोग करते है। सम्भवत शब्दवेधी बाण का यही पूर्वज था। इस काल के अन्य उपकरणो मे बर्तनो के अतिरिक्त मछली पकडने के कांटे, टोकरी बुनना, पाल के स्थान पर मोटे डडो का आविष्कार, नुकीली आकृति के गोल झोंपडे, जिनकी छतें और दीवारे पृथक् भी की जा सकती थी, मनुष्य बना चुका था। घटशिला नामक स्थान पर मिला एक चाकू जो कैस्पियन ढग जैसा है, मनुष्य की भ्रमणशीलता का परिचायक है। घोरम नगर गुफा, पैरगन्नाह, बुरलूर, हरिमहरम मे प्राप्त गैंडे के शिकार के दृश्य तथा विंध्य मे गुफाचित्र जो गेरू के रग के बने हैं उनमे घोडा जैसा पशु, तीर तरकशधारी योद्धाओ के चित्र बने हैं। इनमे कुछ धार्मिक या जादू टोने की भावना प्रतीत होती है। इन गुफाओ मे हड्डियो के भी विभिन्न

प्रकार के औजार तथा विभिन्न प्रकारो के तीर--छोटी-छोटी छेनी, परशु के फलक आदि भी मिले हैं।

यूरोप और एशिया में सामान्य जीवन—यह एक आश्चर्य की बात है कि इस युग मे भारत, आस्ट्रेलिया और यूरोप के स्पेन आदि प्रदेशो मे सामान्य जीवन पाया जाता है । यद्यपि यह सभी देश एक दूसरे से हजारो मील दूर हैं और उस काल मे यातायात के साधन भी सुलभ न थे । इससे यह सिद्ध होता है कि उस काल की विश्व की बनावट मे यह देश एक दूसरे से अति निकट थे । इसलिए एक देश से दूसरे देश मे आदिकाल से ही आवागमन होता था।

उत्तरी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी न्यूगिनी, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका मे 'टाटेम जाति' के लोग बसते है, जिनकी भारत के छोटा नागपुर प्रान्त मे रहने वाले लोगो से समानता होती है । धर्म-विश्वास इस सभ्यता का प्रधान अग है । पशु-पक्षी तथा वृक्षो के वे उपासक हैं । इनके घर राजस्थानी भीलो की भाति नीचे से गोल होकर, ऊपर को नुकीले होते हैं । लकडी की ढाले, बाँसुरी, तुरही का चलन इनमे काल से है । कृषि और लोहे का प्रयोग इन जातियो ने कभी का सीख लिया था । प्राचीन प्राचीन भारत की निषाद जाति से इनका पहिले से ही सम्बन्ध रहा है ।

पैलेस्टाईन प्रदेश से अनाज काटने की और कूटने की मशीने भी मिली है । ऐसे अवशेष भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह लोग हल-बैल से भी खेती करते थे । बैलो से गाड़ी खिचवाते थे । पत्थर और लकडी के मकान बनाते थे । इन अवशेषो से ज्ञात होता है कि ३०-४० मकानो का एक ग्राम होता था । मिट्टी के अनाज भरने के गोदाम भी बनाये जाते थे । ऐसे ग्रामो के चिन्ह भी मिले हैं, जो खाई और दीवारो से सदैव रक्षित होते थे । गाँव का कुम्हार चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाता था और उन पर चित्रकारी करता था । इसका मतलब यह है कि श्रम-समाज की स्थापना हो चुकी थी ।

धातु युग—उत्तर पाषाण-युग के पश्चात् धातु-युग मे मनुष्य समाज ने प्रवेश किया । वैदिक विचारधारा के अनुसार मनुष्य को धातुओ का ज्ञान बहुत पहिले हो चुका था । भारत मे धातु-ज्ञान के बारे मे हमने इसी पुस्तक मे आगे विवेचन किया है । धातु-युग के बारे मे यहाँ हम केवल इतना ही कहेगे कि इतिहासकारो के अनुसार, पत्थर-युग के बाद, यहा कासा-युग के दर्शन न्यून मात्रा मे होते हैं और ताम्र-युग शुरू हो जाता है । अपने सिन्धु घाटी की सभ्यता के प्रकरण मे हमने इस युग पर भी प्रकाश डाला है ।

आदियुग का प्रारम्भिक चिन्तन—मनुष्य सदैव चिन्तनशील प्राणी रहा है । उसने प्रारम्भ मे आकाश की ओर निहारा और तदुपरान्त प्रकृति की रहस्यमयता और सुन्दरता का अवलोकन किया । प्रारम्भिक युग का विचारक सम्भवत प्रकृति के रौद्ररूप से प्रथम बार भयभीत हुआ, क्योकि वह प्रकृति के कार्य और विकार्य को नही समझ पाता था । अत वह जादू-टोनो का विश्वासी बना । उनकी इस विचार-

शीलता के चिन्ह, विल्लासरगम की गुफाओ मे तो अंकित हैं ही, साथ ही वायनाड के एडकल, उत्तर पश्चिम प्रान्त की केमूर श्रेणिया, मिर्जापुर, विलारी, बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, रामगढ तथा तिब्बत और श्रीलंका मे भी इस युग के अवशेष मिले हैं। इन चित्रो मे अधिकाशत आखेट के चित्र हैं। यह चित्र भी मनुष्य की विचारशीलता के द्योतक है। इस युग की जो कब्रे मिली है, उनमे मृतक के साथ उसके उपयोग तथा खाने-पीने की वस्तुए भी मिली है, जो प्राचीन विचारक ममतामयी कल्पना की द्योतक हैं। वर्तमान श्राद्ध-प्रथा तथा पितृ-उपासना-पद्धति के मूल विचारक यही प्रथम आदिम विचारक थे। कालान्तर मे इसी भावना ने स्वर्ग-नर्क, आत्मा-परमात्मा का धर्मपरक रूप ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त वेल्लारी और एडकल तथा वायनाड गुफा मे दो तीन महत्वपूर्ण चीजे प्राप्त हुई हैं, जो उस काल के चिन्तनशील मानव की धार्मिक विचारधारा की स्पष्ट द्योतक है। इनमे एक है सूर्य का चित्र और दूसरा है छै कोने वाले तारे का चित्र। इसका स्पष्ट अर्थ है कि उस काल का कोई विचारक आकाशीय तत्वो को समझने का प्रयास कर रहा था। इसके अतिरिक्त एक चित्र स्वस्तिक का भी है जो वेद काल से अब तक आर्य जगत् मे शुभ चिन्ह माना जाता आ रहा है।

आर्यो के मूल निवास के बारे मे विविध कल्पनाए

आर्यो के मूल-निवास के बारे मे, विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद का विशेष कारण इतिहासकारो द्वारा, पश्चिमी इतिहासकारो की मान्यताओ को आधार बनाना है। वर्तमान मे इतना परिवर्तन तो अवश्य हुआ है कि केवल प० राहुल साकृत्यायन और उनके शोध स्तभ—रूसी ग्रन्थकारो के अतिरिक्त लगभग शेष सभी इतिहासकार इस मत के समर्थक हो गये हैं कि वैदिक आर्य मध्यएशिया आदि किसी भी स्थान से भारत मे नही आये थे, वे यही के मूल निवासी हैं। इस मान्यता से लोकमान्य तिलक की यह मान्यता कि 'आर्य उत्तर ध्रुवप्रदेश से आये थे' और डा० सम्पूर्णानन्द की भी यह मान्यता कि आर्य कही बाहर से आये थे, निर्जीव हो चुकी है। इसके साथ ही साथ 'मोइन-जो-दडो' 'महिष्यमति' और 'हडप्पा' की खुदाइयो से इतिहासकारो द्वारा निर्धारित भारतीय सभ्यता की प्राचीनता के पूर्व आकडे भी हजारो वर्ष पीछे खिसक गये हैं और आशा है कि मिस्र की वर्तमान खुदाई (आस्वान-बाध) उन आकडो को और भी हजारो वर्ष पीछे सरका देगी।

डा० अविनाशचन्द्र ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वैदिक इण्डिया" और "ऋग्वैदिक कल्चर" मे, स्वामी शकरानन्द ने "ऋग्वैदिक कल्चर आँफ दी हिस्टोरिक इण्डस" मे, रायबहादुर रमाप्रसाद चन्दा ने अपनी पुस्तक "इन्डस वैली इन द वैदिक पीरियड" मे जब 'ऋग्वेद-कालीन सभ्यता' की तुलना मोइन-जो-दडो और 'हडप्पा' से प्राप्त वस्तुओ से की, तब वह मान लिया कि "आर्यों का मूल-स्थान सप्त-सिन्धु" था। इसी कथन की पुष्टि जर्मन विद्वान 'जीमर' ने भी करदी। अत मध्य एशिया और उत्तर-ध्रुव के स्थान पर आर्यो का मूल स्थान भारतवर्ष का 'सप्त-सिन्ध' प्रदेश मान लिया गया।

इस नयी मान्यता के आधार पर, आर्यों का 'सप्त-सिन्धु' पजाब से कश्मीर तक

माना गया। अर्थात् पहिले वह लोग कश्मीर मे रहते थे, उसके पश्चात् पजाव मे आये। प्रमाणस्वरूप वताया गया कि कश्मीर मे ही उनकी प्रियवूटी-**सोमलता** उगती थी। इसी आधार पर 'जिमर' का ऋग्वेद के वारे मे भी यह मत वना कि ऋग्वेद का वडा भाग पजाव मे वना है। प्रमाण के लिये उन्होने महाभारत के 'सभापर्व' मे आए पचन्द शब्द को प्रस्तुत किया है। यह शब्द "कृत्सन पचनद" है। इसे ही आधार बनाकर जयचन्द विद्यालकार ने भी आर्यो का आदि स्थान पजाव ही माना है।

आर्यो के विस्तार के लिए वताया गया है कि अपने 'सप्त-सिन्धु-प्रदेश' के केन्द्र **कुरू-पचाल** से ही उनका एक यूथ दूसरे को सरकाता हुआ, **कौशल** और **विदेह** तक पहुच गया। अविनाश वावू ने भी अपनी "ऋग्वैदिक इडिया" मे यही माना है कि 'वेद' उस समय रचे गये, जिस समय सरस्वती नदी हिमालय से बह कर समुद्र मे जाती थी। उस समय राजपूताने के मरुस्थल मे सागर लहरा रहा था।' इसका अर्थ यह हुआ कि जव सरस्वती वहती थी, उस समय वेदो की ऋचाओ को ऋषि रच रहे थे। वैज्ञानिको के अनुसार सरस्वती को लुप्त हुए और राजस्थान के सागर को सूखे २५ हजार वर्ष से अधिक हो गये। अत आर्य २५ हजार वर्ष से पजाव मे रह रहे थे, यही निष्कर्ष निकला।

रही उत्तर ध्रुव की बात, सो सोमलता उत्तर ध्रुव मे नही होती। वह हिमालय मे होने वाली कोई वूटी है। अनेक स्थानो पर उसका मुजवान पर्वत पर होना लिखा है और वह मुजवान पर्वत हिमालय का भाग है। लोकमान्य तिलक ने आर्यो की काल गणना के लिए लिखा है "यह देववर्ष और मनुष्यो की वर्ण सख्या पौराणिक गडबड है। इसको देववर्ष कहना भूल है। हमारी की हुई १२ हजार वर्ष की गिनती ही ठीक है। यह वह वर्ष सख्या है, जो हिमपात प्रारम्भ होने से आज तक होती है।" उनके हिमपात के हिसाव से भी आर्यो का काल वहुत लम्बा पहुचता है। उन्होने अपनी गणना का आधार कोई भी वैज्ञानिक अथवा ज्योतिष नियम न बनाकर, केवलमात्र वेवीलोन लोगो की गणना का अधूरा उदाहरण दिया है। उस पर भी उन्होने ध्यान से विचार नही किया। इसके लिए अन्त मे उन्होने मान भी लिया था कि "हमने मूल वेद नही देखे, हमारे कथन का आधार वैदिक इडिस्कार है।" परन्तु तव तक वे भारतीय विचारधारा को वहुत कुठित कर चुके थे। 'नाना पावगी' आर्यो को पजाब की '**सैंधव-श्रेणी**' मे वतलाते है और कहते हैं—"वेदो मे **सोमलता** का वर्णन है और **सोमलता** हिमालय मे पैदा होती है। अत आर्यो की उत्पत्ति 'सप्त-सिन्धु' प्रदेश मे हुई।" दास बाबू ने भी आर्यो का निवास सप्त-सिन्धु' माना है। उनका कथन है कि सप्त-सिन्धु पजाव के आस-पास ही था। इसकी पुष्टि के लिये कई मत्र दिये जाते हैं। यथा—
सुदेवो असि वरुणयस्य ते सप्त सिन्धव। अनुक्षरन्ति काकुद सूर्म्यं सुषिरामिव।
(ऋ० ८। ६९। १२)। इसी मन्त्र का आश्रय श्री तिलक ने लिया है। उनका अर्थ है कि सातो नदिया वरुण के मुख मे गिरती है। उन्होने **वरुण को मेघ** नही माना है। यदि वरुण को मेघ मानते, तब अर्थ होता, "जब मेघ के मुख मे किरणे समा जाती हैं, तब

अधकार हो जाता है ।" इसके अनन्तर डा० सम्पूर्णानन्द ने "ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परिज्रयासि भरते रजासि । अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता"* का अर्थ करते हुए लिखा है—"सिन्धु सीधे बहने वाली श्वेत वर्ण दीप्यमाला वेगवती अहिंसिता नदियो मे अपस्तमा (श्रेष्ठ नदी) है। वह घोडो की भाति चित्रा और सुन्दर स्त्रियो की भाँति दर्शनीया है । इसके अतिरिक्त अपने इसी अध्याय मे वह ऋग्वेद मन्त्र १।३।११, ६।६१।२ और ७।९५।१२ का शब्दार्थ करते हुए सरस्वती को पजाब का नदी सिद्ध करते हैं और आर्यावर्त को सप्त-सिन्धु स्वीकार करते है । परन्तु ऋक् ६—६१, १२ के मन्त्र का अर्थ करते वह किंचित हिचकते हैं। मत्र है—"त्रिषधस्था सप्तधातु पचजाता वर्धयन्ति । वाजे-वाजे हव्याभूत ।"

'दीर्घतमस' के सूत्रो मे जो कि यज्ञ के घोडे के सम्बन्ध मे है 'अश्व दधिक्रावन्' विषयक भिन्न-भिन्न ऋषियो के सूक्तो मे और फिर 'वृहदारण्यक उपनिषद' के आरम्भ मे जहाँ वह जटिल अलकारिक वर्णन है—जिसका आरम्भ घोडे का सिर है—यथा 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर ' इस वाक्य से होता है । और वशिष्ठ ऋषि ऋचा (७।७७।३) मे भी अश्व का अभिप्राय , 'बल' के रूप मे ही आता है । यथा—
'देवाना चक्षु सुभगा वहन्ती, श्वैत नयन्ती सुदृशीकयश्वम् । उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यकता, चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ।।' देवो की दर्शन रूपी आँखको लाती हुई, पूर्ण दृष्टि वाले, सफेद घोडे का नेतृत्व करती हुई सुखमय उषा रश्मियो द्वारा व्यक्त होकर दिखाई दे रही है। वह अपने चित्र-विचित्र ऐश्वर्यो से परिपूर्ण है । अपने जन्म को सब वस्तुओ मे अभिव्यक्त कर रही है । यहाँ पर्याप्त स्पष्ट है कि 'सफेद घोडा' पूर्णतया प्रतीक रूप ही है। सफेद घोडा यह मुहावरा अग्नि देवता के लिये प्रयुक्त किया गया है जो कि अग्नि-दृष्टा का सकल्प है। कवि ऋत है, दिव्य सकल्प की अपने कार्यो को करने की पूर्ण दृष्टि-शक्ति है । 'चित्र-विचित्र' से भी अभिप्राय भौतिक धन-दौलत ऐश्वर्य से ही है यथा—"अग्निमच्छा देवयता मनासि चक्षूषीव सूर्ये स चरन्ति । यदी सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्नाम् ।। (५।१।४)

इसके अर्थ मे वह कहते हैं—"त्रिलोक मे निवास करने वाली सप्त-धातु या सात-अवयव-सात नदिया गायत्री आदि सात वैदिक छन्द । पच जाति को वृद्धि देने वाली सरस्वती का हर युद्ध मे आव्हान किया जाय । अपने इस अर्थ के फुट नोट पेज ५१ पर वह पचजाति शब्द का भी स्पष्टीकरण करते हैं—"पचजाति—आर्य सभवत पाँच समु-

---

* आर्यों का आदिनिवास, डा० सम्पूर्णानन्द पृष्ठ ५० ।

नोट—डा० सम्पूर्णानन्द ने प्राय 'अश्व' शब्द का अर्थ घोडा किया है । उसे 'बल' का प्रतीक नही माना । इसीलिये यजुर्वेद के एक यन्त्र को उन्होंने आधार बनाकर वाराणसी से प्रकाशित हास्यरस की पत्रिका 'तरग' मे एक व्यगपूर्ण लेख लिखा है—"घोडे के मन्त्र से गणेश की पूजा ।" यदि वह बल मानते तब अर्थ स्वय ठीक हो जाता ।—लेखक

दायो मे विभक्त थे ? वेदो मे 'पचजना' शब्द बहुत आता है।"

अन्त मे अपने सारे प्रमाणो के प्रस्तुत करने पर भी उन्हे शका ही रहती है। आगे उन्होने लिखा है—"सप्त-सिन्धु के चारो ओर की सीमाओ के बारे मे बहुत मत-भेद रहा है और वह अब भी है। यदि सप्त-सिन्धु के तत्कालीन भूगोल का स्वरूप निश्चय हो जाय, तब शायद आर्यो के मूल निवास की समस्या सुलझ जाय" आप कहते है—"मैं ए० सी० दास के "ऋग्वैदिक इडिया" से ही सहमत हू। उनके अनुसार सप्त-सिन्धु के उत्तर मे हिमालय पहाड था और उसके बाद एक समुद्र था, जो वर्तमान तुर्किस्तान के उत्तरी सिरे से प्रारम्भ होता था और पश्चिम मे कृष्णसागर तक जाता था। इस सागर के उत्तर मे फिर भूमि थी जो उत्तरी ध्रुव तक जाती थी। दक्षिण मे भी एक समुद्र था। उस जगह आज राजपूताना बसा हुआ है। यह समुद्र हिमालय की तलहटी के नीचे प्राय सारे युक्त प्रान्त और बिहार को ढँकता हुआ आसाम तक चला गया था। पश्चिम मे सुलेमान पहाड था। इस ओर भी पहाड के नीचे समुद्र की एक पतली गली थी।"

आगे आप कहते हैं—"यह सारा वर्णन विलक्षण सा प्रतीत होता है। सप्त-सिंधव प्राय वह प्रदेश है, जिसका नाम आजकल पजाब-कश्मीर है। उसके आस-पास कही समुद्र का पता नही है। परन्तु इस प्रकार तो वह उत्तर, पूर्व और दक्षिण मे समुद्र से घिर जाता है और पश्चिम मे थोडा-सा समुद्र आ जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि पिछले २५-५० हजार वर्ष मे भारत की भौगोलिक बनावट मे बडा अन्तर आ गया है।"

डा० साहब ने आर्यो के मूल-निवास के बारे मे तो कोई निश्चित विचार स्थिर नही किये, किन्तु श्री दास का समर्थन करके उन्होने यह मान लिया कि भारत मे कही भी आर्यों का मूल-निवास था और वह अबसे २५ हजार वर्ष पहिले तक था, क्योकि श्रीदास के भोगोलिक परिवर्तन से यही समय निकलता है।

अतिम निर्णय—"वैदिक-सम्पत्ति" नामक ग्रन्थ के लेखक प० रघुनन्दन शर्मा ने सप्त और सिन्धु का अर्थ सात इन्द्रियो—दो आँखें, दो कान, दो नाक छिद्र और एक मुख को माना है। जिस प्रकार सात किरणो से द्यो-स्थान सप्त-सिन्धु है। उसी भाति सप्त नदियो से भी सप्त-सिन्धु हो सकता है, किन्तु भारतवर्ष अथवा उसके किसी भी प्रदेश को आर्यों ने सप्त-सिन्धु के नाम से कभी नही पुकारा। पजाब प्रदेश केवल पाच ही नदियो से बना है। "सिन्धु-प्रदेश" सिन्ध के नाम से ही पहिले से आज तक ज्यो का त्यो चला आ रहा है।

सिन्धु का सम्बन्ध अरब देशो तथा बिलोचिस्तान, ईरान आदि से रहा है और यहा 'स' शब्द को 'ह' बोला जाता है। अत उस प्रदेश का नाम सिन्धु से "सिन्ध" और उसके पश्चात् 'हिन्द' हो गया। और इसी कारण भारतवर्ष का नाम भी 'हिन्द' अथवा 'हिन्दुस्तान' हो गया। परन्तु इसको किसी ने 'सप्त-सिन्धु' के नाम से नही पुकारा। अलबत्ता ईरानियो के यहा 'सिन्धु' का वर्णन है, क्योकि उस समय मे

आर्यों की बस्तियां सिन्धु से ईरान तक फैली हुई थी। अत ईरानी ही सिन्धु देश को 'हिन्द' कहते थे। वह लोग सिन्धु के पूर्वी तट पर बसने वालों को पूर्वी हिन्दू और अपने को पश्चिमी हिन्दू कहते थे। उनके "यश्त" नामक ग्रन्थ (१०।१०४) मे लिखा है कि "मिथ् के लम्बे हाथ उनको पकड लेते हैं, जो उसको धोखा देते हैं। जब पूर्वी हिन्दू मे होते हैं तो मिथ् उनको पकड लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू मे होते हैं तो उन्हे मार डालता है।" इसी प्रकार 'सरओश' की प्रशसा करते हुए कहते हैं—"जब पूर्वी हिन्दू मे हो, तब भी वह अपने दुश्मन को पकड लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू मे हो तब भी उसे मार डालता है।" अत यहा भी पूर्वी और पश्चिमी हिन्दुओ का वर्णन है। 'सप्त-सिन्धु' अथवा 'हप्त-हिन्दू' का नही है जैसा कि राहुलजी ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक आर्य' मे कहा है। वेदो के पदपाठो मे सप्त से सम्बन्ध रखने वाले सप्त ऋषय सप्ताश्व आदि शब्द तो हैं, किन्तु 'सप्त-सिन्धु' सयुक्त शब्द कही भी नही है। अत वेदमत्रो मे ७ नदियो की बजाय सात किरणो का वर्णन है। यथा—

"दश स्वधाभिरधि सानो अव्ये मृजन्ति त्वा नद्य सप्त यह्वी। (ऋ० ९।९२।४) अर्थात् दश किरणो से नदियाँ बहती हैं। इसके अनन्तर सरस्वती के वर्णन मे लिखा है—"सप्तस्वसा सरस्वती" (ऋ० ६।६१।१०) अर्थात् सरस्वती के सात बहिनें हैं। इसी अत्र से अगले मत्र (६।६१।११) मे कहा गया है—आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्ष सरस्वती। निदस्पातु।" अर्थात् पृथ्वी का जल खीचने वाली सरस्वती अन्तरिक्ष की रक्षा कर। इस तरह सप्त बहिनो वाली सरस्वती और पृथ्वी का जल खीचने वाली सरस्वती को 'सप्तसिन्धु' की सरस्वती नही माना जाता।

इसके बाद 'किरणो' और 'सरस्वती' की और भी स्पष्ट व्याख्या ऋग्वेद मे की गयी है। यथा—'या सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद्गातुमूर्मिम्। ते सिन्धवो वारिवो धातना नो यूय पात स्वस्तिभि सदान (ऋ ७/४/७४), अर्थात् सूर्य जिनको रश्मियो से फैलाता है। जिनसे इन्द्र तरगावलि (Vileration) पैदा करता है, वे सिन्धु नदिया हमारा कल्याण करें। यहा यह स्पस्ट है कि यह वे नदिया हैं, जिनके द्वारा किरणें फैलती हैं और तरगावलि पैदा होती है। ईथर तत्व के द्वारा ही किरणें आती हैं, यह वैज्ञानिक सिद्धान्त है। इन किरणो को ही अप्सरा कहा गया है—'अप्सु सरति अप्सरा' अर्थात् जो 'अप्'—'ईथर' मे सरके, वही अप्सर है। इसी को 'सप्ताप कहा गया है। नाना पावगी ने अपनी पुस्तक "आर्यावर्तीतील आर्यांची जन्म भूमि" मे **'अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एक। अजयो गा अजय** शूर सोमम-वासृज सर्वते सप्त सिन्धून्।(ऋ० १।३२।१२) का अर्थ किया है—"इन्द्र ने वृत्र(मेघ) को वज्र से मार कर सातो सिन्धुओ को मुक्त किया। अर्थात् सूर्य ने बादलो को छिन्न-भिन्न करके सातो सिन्धुओ को मुक्त किया। इसके पश्चात् दो मत्रो से और भी इस प्रकरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा—"**यो हत्वाहिमरिणात्** सप्त सिन्धून्।" (अथर्व २०।३४।३)और "अहन्नहि मरिणात् सिन्धून्।" (अथर्व २०।९१।१२) अर्थात् जो बादलो को मारकर सातों सिन्धुओ को मुक्त करता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद

के ६।६१ ७ मत्र मे सरस्वती भी **वृत्र** को मारती है। इस मत्र मे इसे 'वृतघ्नी' कहा गया है। अत इन प्रमाणो से स्पष्ट हो जाता है कि वेद मे वर्णित सप्त-सिन्धु पृथ्वी पर बहने वाली नदियाँ नही, प्रत्युत आकाशीय किरणे हैं।

सप्त-सिन्धु के लिए ऋग्वेद मे लिखा है—'य सप्तरश्मिम वृषभ स्तुविष्मानवासृ-जत्सर्तवे सप्त-सिन्धून्।' (ऋ० २।२१।१२) अर्थ हुआ जो सूर्य सात किरणो मे सिन्धुओ को रेगाता है। इसके पश्चात्, निम्न नयन्ति सिन्धव।(ऋ०५/५१/७)का अर्थ है—'अर्थात् नदिया नीचे को आती है। ऊपर से नीचे आने वाली और ईथर पर रेगने वाली 'नदिया नही, किरणें ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त 'सहस्रधार परि पिच्यते हरि।' (ऋ० ९/८६/३३) मे कहा गया है कि बादल हजारो धाराओ मे किरणो को खीचते हैं। अर्थात् किरणें ही पानी लाती हैं। वे आग्नेय है और ईथर के सहारे चलती हैं। इस प्रकार वह 'त्रिवृत' भी कही गयी है। इन्ही के लिये तिलक जी ने सप्त नदिया लिखा है और श्री पावगी का कथन है कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर सप्त नदियो को मुक्त किया। सप्ताप, सप्तरश्मि और सप्त सिन्धु उसी 'त्रिवृत सप्त तन्तुम्', अर्थात् तिहरे सातो तन्तुओ के भेद हैं। अर्थात् सप्ताप, ईथर के लिये सप्तरश्मि किरणो के लिये और सप्तसिन्धु अर्थ उस पानी के लिए है, जो किरणो के द्वारा ऊपर चढता है। अत सप्त-सिन्धु शब्द का वर्णन वेदो मे भू-भाग के लिए नही है।

इसके पश्चात् आर्यों की सोमबूटी का वर्णन आता है। इसके सहारे भी आर्यो के मूल-स्थान का निर्णय इतिहासकारो द्वारा किया गया है। किसी ने इसका स्थान मुँजवान् पर्वत निश्चित किया है और किसी ने कश्मीर। इसके प्रमाण मे पावगी आदि ने "**सोम स्येव मौजवतस्य भक्षो।**" (ऋ० १०।३४।१) मत्र का आश्रय लिया है। निरुक्त मे इसी का पाठ—'**मूजवान् पर्वतो**" है। परन्तु '**मौजवत**' और '**मूजवान्**' एक ही शब्द है। इनके अतिरिक्त वेद मे जो '**सोम**' नाम आता है, वह पृथ्वी के वृक्षो की जान है। वह देवताओ के वृक्षो की तरह रस, छाया, हरियाली आदि वनीय तथा सौम्य पदार्थो से तृप्त करता है। इन्द्र के नन्दन वन का यह देवतर है। इसे वनस्पतियो का स्वामी कहा गया है। यह जिस स्थान मे रहता है, उसे '**मौजवत**' कहते हैं। यह स्थान पृथ्वी पर नही, आकाश मे है। जिस प्रकार कालान्तर मे यज्ञो मे **पशु-बलि** दी जाने लगी थी, उसी प्रकार भाग सरीखे किसी नशीले पदार्थ ने आर्यो के जन-जीवन में बाद स्थान बना लिया था और उसका नाम 'सोम' रख दिया था। उदाहरणार्थ 'सुश्रुत मे इसके कई नाम है, परन्तु गुण सभी का एक है। यथा—'**अशुमान मुजवां-श्चैव चन्द्रमा रजतप्रभ.।**" इसके बाद सुश्रुत मे सोम के कई गुण भी लिखे हैं। इसके पीने वाले को हाथी के समान बलशाली होने वाला बताया गया है। एक अन्य श्लोक है, "**दश-वर्ष सहस्राणि नवा धारयते तनुम**' अर्थात् दस हजार वर्ष जवान रहता है। इसके पश्चात् इसके स्थानो का वर्णन है। वेद मे मौजवत्, मधुर और मदकारी आदि शब्दो से इस बूटी की कल्पना की गई है। परन्तु **डारमेस्टेटर** का कथन है कि "सोम समस्त वनस्पतियो की जीवन-शक्ति का नाम है। अन्य कोई अर्थ नही। उनका कथन

सत्य इसलिए है कि वनस्पति की जीवन-शक्ति चन्द्रमा के आधीन है और उसी का नाम सोम है । वह औषधिराज भी है और लता रूप भी है । वह शान्त चित्त वालो के लिए मधुर, विरहियो के लिए कटु और युवावस्था वालो के लिए मदकारी है । आकाश मे वह जिस स्थान मे रहता है, उसे 'मोजवत' कहते हैं । ऋग्वेद मे इसे समस्त औषधियो के अन्दर व्याप्त बताया गया है । यथा—"**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्नि च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजी** (ऋ० १/२३/२०) ।

इसके पश्चात् ऐतरेय ब्राह्मण ७।११।८ मे और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है "एतद्वै देवसोम यच्चन्द्रमा ।" अर्थात् वही देवताओ का सोम है जो चन्द्रमा है । अतः सोमलता के वर्णन के आधार पर आर्यों का मूल निवास स्थान सिद्ध नही हो सकता ।

सागर और सरस्वती—श्री अविनाशचन्द्र दास ने, जिनका समर्थन डा० सम्पूर्णानन्द ने किया है ; ऋग्वेद के मत्र—"स्काचेतत् सरस्वती नदीना शुचिर्यति गिरिम्य आ समुद्रात्" (ऋग्वेद ७।९५।२) के आधार पर सप्तसिन्धु को आर्यों का मूल स्थान माना है । इस मत्र से उनका अभिप्राय यही रहा है कि यह मत्र उसी समय रचा गया है, जिस समय सरस्वती हिमालय से निकलकर, राजपूताने के सागर मे गिरती थी । परन्तु 'निघन्टु' मे सरस्वती मध्यस्थानी देवता है । गिरी बादलो को कहते हैं और आकाश को सागर कहा गया है । प० रघुनन्दन शर्मा ने सूर्य की किरणो मे एक किरण सरस्वती को माना है । यह किरण बादलो से निकलकर आकाश मे फैलती है । इसके अतिरिक्त "बातस्याश्वो वायो, सखाऽथो देवे पितो मुनि । उभौसमुद्रावा क्षेति यचपूर्व उतापर ।" (ऋ० १०।१३६।५) अर्थात् सूर्य उत्तरी और पूर्वी समुद्रो मे लहराता है । यह दोनो क्षितिज आकाश, समुद्र कहे गये हैं, क्योकि वेद मे आकाश को समुद्र ही कहते हैं । इसमे भी राजपूताने के समुद्र का वर्णन नही है ।

मध्यएशिया—अपनी पुस्तक "साइन्स ऑव लेंग्वेज" मे प्रो० मैक्समूलर ने भी मध्यएशिया का ही प्रयोग किया परन्तु अन्त मे उन्होने भी 'मध्य' शब्द निकाल दिया । अपनी एक रचना मे उन्होने लिखा, "जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था, उसी तरह अब भी कहता हू कि आर्यों की जन्म-भूमि कही एशिया ही[१] है ।"

इन सब के अतिरिक्त भी मनुष्य जाति के इस विभाग को 'आर्यत्व' प्राप्त हुए कितना काल हुआ, यह प्रश्न किसी ने हल नही किया । जिस मनु (नूह) के सूर्य-चन्द्र (हेम-क्षेम), वंश से समस्त ससार की उत्पत्ति हुई उस आर्य मनु का जन्म तिलक केवल २० हजार वर्ष बताते हैं और विकास का समय भी निर्धारित नही करते । अपितु डा० ऐनीवसेंट आर्य जाति को दस लाख वर्ष पुराना[२] मानती हैं । वह लिखती हैं, "हम तो कहते हैं, "जब मूल पुरुष ऋषि थे, तब यह सिद्ध है कि जब मनुष्यप्राणी इस पृथ्वी पर जन्मा, तभी से आर्यों का अस्तित्व है ।"

---

१. (Good words, Aug 1887)
२ (Theosophy and Religion)

भारतीय वाडमय द्वारा निर्णय—भारतीय आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध मे भारतीय वाडमय मे ही निर्णय है। उदाहरणार्थ—

हिमालयाभि धानोऽय ख्यातो लोकेषु पावनः।
अर्धयोजन विस्तारः पचयोजनमायत ॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः।
तत• सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम ॥
ऐरावती वित्सता च विशाला देविका कुहू।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणा श्रूयते भरतर्षभ ॥

(महाभारत)

अर्थात् समार मे पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमे एक योजन चौडा और पाँच योजन घेरे वाला 'मेरु' है, जहाँ पर मनुष्यो की उत्पत्ति हुई है। यही से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। यही पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए। जिस मेरु स्थान का वर्णन किया गया है, उसी के पास "देविका पश्चिमे पार्श्वे मानम सिद्ध सेविताम्।" अर्थात् देविका के निकास के पश्चिमी किनारे पर मानस है। यह 'मानस' वर्तमान मे झील है। परन्तु इसका यह नाम मानस या मानसी अमैथुनी सृष्टि की उत्पत्ति के कारण ही पडा है। उदाहरणार्थ 'वायुपुराण' का कथन है—"दक्षिणेन पुनर्मेरोमनिसस्य च मूर्द्धनि। (५०।८८)। वैवस्वतो निवसति थम स यमने पुरे।" अर्थात् मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर 'वैवस्तमनु' अपने यमपुर मे वसते हैं। यह वे ही वैवस्त मनु हैं, जिन्होंने समस्त जगत की उत्पत्ति की है। इसके पश्चात् 'शतपथ' ब्राह्मण (१।८।१६) का कथन है—'तद्प्येत दुत्तरस्य गिरे मनोरवसर्पणम्' अर्थात् हिमालय पर ही मनुष्य का अवमर्पण अर्थात् जलप्लावन हुआ था। महाभारत वनपर्व अ० १८७ मे लिखा है—"अस्मिन् हिमवत श्रृगे नाव वध्नीतमाचिरम्।" अर्थात 'मनु' ने इस हिमालय के श्रृग मे शीघ्रता से जलप्लावन की नाव को बाँधा। अत उपरोक्त प्रमाणो से स्पष्ट है कि जलप्लावन के पश्चात् सृष्टि की उत्पत्ति हिमालय पर ही हुई और आर्यों का मूल स्थान हिमालय ही था।

इसकी और भी पुष्टि के लिए यदि प्राचीन विद्वानो के मध्य एशिया सम्बन्धी विचारो की मीमासा की जाय, तब भी हिमालय ही आदि स्थान सिद्ध होता है। यदि पाश्चात्य विद्वानो के मध्य एशिया और भारतीय विद्वानो के विचार—कुरुक्षेत्र पर निशान लगाये जाय तो तीसरा चिन्ह, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा विचारत मानसरोवर बैठता है।

सृष्टि की उत्पत्ति और आर्यो का निश्चित मूल निवास

आदि सृष्टि के विषय मे जितनी कहावते हैं, उनका एक ही अर्थ है कि आदि सृष्टि ऊँचे पर्वत पर हुई और वह ऊँचा पर्वत हिमालय हो सकता है, क्योकि इसकी चोटी—एवरेस्ट की ऊँचाई २९ हजार फुट है। हिमालय की ऊँचाई और मनुष्य जाति

की उत्पत्ति के प्रसंग मे अमेरिकन लेखक डेविस ने अपनो पुस्तक 'हरमोनिया' मे ३२२ वें पृष्ठ पर 'ओकन' की गवाही से लिखता है—"हिमालय सबसे ऊँचा स्थान है, इस लिये आदि सृष्टि हिमालय पर ही हुई।" हिमालय सरदी गर्मी को मिलाता है। ससार मे भी गर्मी और सर्दी—दो ऋतुए ही मुख्य मानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य को छोडकर शेष प्राणी या तो अधिक बाल वाले या कम बाल वाले ही सर्वत्र पाये जाते हैं। ठडे देश वालो के शरीर पर अधिक और गर्म देश वालो के शरीर पर कम बाल होते हैं। ग्रीनलैंड आदि शीत कटिबन्ध देशो मे पशु-पक्षी नही रहते है, किन्तु मनुष्य और जल-जन्तु पाये जाते हैं। परन्तु वहाँ मनुष्यो के शरीर पर बाल नही हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल शीत प्रधान देशो मे रहने के कारण ही शरीर पर बडे-बडे बाल नहीं निकलते। परन्तु यह निर्विवाद है कि जो प्राणी अधिक बाल वाले हैं, वह ठण्डे देशो मे और जो छोटे बालो वाले हैं वह गर्म देशो मे रहने के लिये उत्पन्न किये गये हैं। ठण्डे देश से यहाँ अभिप्राय ग्रीनलेंड आदि से नही है, अपितु साधारण ठण्डक से है। ठण्डे देशो की भेंड, बकरी, गाय, घोडा और बकरियो के बालो से पाया जाता है कि वह उसी देश के अनुकूल हैं, जहाँ रहते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य दीर्घकाल से ग्रीनलैंड आदि ठण्डे देशो मे रहता है जहाँ इतना शीत पडता है कि वहाँ वनस्पति बिल्कुल नही होती और वह मछलियाँ खाकर निर्वाह करते हैं।

इतनी अधिक सर्दी के कारण उनका शरीर तो ठिगना हो ही गया साथ ही शरीर पर बाल नही निकले। इससे ज्ञात होता है कि वह इतने ठडे देशो के लिये पैदा नही किये गये हैं, बल्कि दूसरे ही स्थानो के लिये पैदा किये गये थे। बम्बई के पारसी विद्वान खुरशेद जी रुस्तम जी कहते हैं कि माउण्ट स्टुअर्ट, एलफिन्स्टन और बरनस आदि प्रवासियो ने पता लगाया है कि हिन्दूकुश मे दो महीने गर्मी और दस महीने सर्दी रहती है। हिमालय पर ही कश्मीर, नैपाल और तिब्बत आदि देश बसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि यहाँ सर्दी और गर्मी मिलती है। अत: हिमालय ही मनुष्य का मूल स्थान है। दूसरे हिमालय के प्रदेशो मे हरियाली की बहुतायत है और मनुष्य से पहिले वृक्ष आदि उगे—यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है तथा मनुष्य भी वही रह सकता है, जहाँ उसकी प्रारम्भिक जीविका के लिए फल-फूल मिलें; क्योंकि यह बात भी निर्विवाद हो चुकी है कि आदिम मनुष्य का भोजन शिकार नही, अपितु फल-फूल ही था। उसके पश्चात् उसमे पशुओं का दूध भी शामिल हुआ। मास का स्थान तो बहुत बाद मे आता है। अत वह हरियाली और फल-फूल ग्रीनलैण्ड मे न होकर, हिमालय के प्रदेश मे होती है। विकासवाद के सिद्धान्तानुसार भी बन्दर जिससे मनुष्य का विकास हुआ, पहिले वही होना चाहिए, जहाँ उसके लिए फल फूल हो, क्योकि बन्दर शाकाहारी है। अत ग्रीनलेण्ड मे मनुस्य के पहुँचने का कारण, संभवत परस्पर युद्धो और जलस्थल के परिवर्तनो के कारण वहाँ से लौट न सकना था। इसके समर्थन में डा० ई०आर० एलन्स एल० आर० सी० पी० अपनी पुस्तक 'मेडिकल ऐसे' मे लिखते हैं—"मनुष्य नि सन्देह गर्म और मातदिल मुल्को मे जन्मा है, जहाँ फल और अनाज उसके भोजन के लिए उग

सके । इन्सान की त्वचा पर छोटे-छोटे जो रोम हैं, उनमे स्पष्ट है कि गर्म और मातदिल देशो का वह रहने वाला है । वडे रोम सर्द मुल्क के रहने वालो के नही होते । अत मनुष्य वर्फानी देशो मे पैदा नही किया गया ।" इन्ही का समर्थन सोशलिस्ट काल-चेन्टर ने किया है । इसके अतिरिक्त हिमालय मे जहाँ यह सब कुछ विद्यमान है, वहाँ प्राचीन प्राणियो के फोसील (शरीर के ढाँचे) भी पाये गये हैं । इनसे प्राचीन ढाँचे और कही नही मिले । अत आदि सृष्टि का मूल स्थान हिमालय ही ठहरता है । इसी हिमालय पर आर्यों का मूल स्थान टेलर ने माना है और इसी को अविनाशचन्द्रदास ने । परन्तु दोनो ने उस स्थान को कश्मीर वताया है ।

इसके पश्चात् दो कसौटियाँ आती हैं । एक मनुष्य के मूल स्थान के पास विस्तृत भूमि की आवश्यकता, जहाँ आकर वह समार मे रहने की योग्यता प्राप्त कर सका । दूसरे, उसे अपने पूर्व स्थान का सदैव स्मरण रहे । इन दोनो कसौटियो पर भी हिमालय ही फिट वैठता है । भारतीय और ईरानियो को हिमालय की कथा स्मरण है । इनके अतिरिक्त ससार के अन्य देशो के लोगो को भी हिमालय पर हुए 'जलप्ला वन' की कथा का स्मरण है । इसी हिमालय के 'मेरु' नाम का स्मरण अन्य अनेक जातियाँ करती हैं । उदाहरणार्थ भारतीय 'मेरु', ईरानी 'मौरू' यूनानी मेरोस, असी-रियन दक्षिण तुर्किस्तान वाले 'मेरुव' मिस्री मेरई और मेरुख कहते है ।

आर्यों का लक्षण--आर्यों के लक्षणो की व्याख्या हरमस वूर्थ ने-* इस प्रकार की है--"जो गोरा हो, लम्वा हो, सर वडा हो--जो भारत, ईरान और यूरोप मे वसता हो ।" इसके विपरीत भारतीय विद्वानो का कथन है--"जो रूप-रग, आकृति-प्रकृति सभ्यता, शिष्टता, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार तथा शील स्वभाव मे श्रेष्ठ हो, उसे आर्य कहते हैं ।" यूरोप की किसी भाषा मे 'आर्य' शब्द का कोई भी विगडा हुआ रूप नही हैं । यदि वे 'आर्य' होते तो उनकी भाषा मे आर्य शब्द का रूप अवश्य आता । इसके विपरीत भारत का 'अनारी' शव्द अत्यन्त विख्यात है जो अनार्य का 'अपभ्र श है; किन्तु वह अनाडी और कम समझ वाले लोगो के लिए प्रयुक्त हुआ है । अत 'आर्य' शव्द सज्जन के लिए और 'अनार्य' कम समझ वालो के लिए प्रयुक्त हुआ है । रग का इनमे कोई स्थान नही है । अत काले दक्षिणी भारतीय भी आर्य हैं, जवकि यूरोप वाले नही ।

पुराणो में वर्णित आर्यों की उत्पत्ति और विकास

पुराणो मे आर्यों की उत्पत्ति के लिए आदि मानव 'मनु' की प्रसिद्ध कथा है और मनु परिवार से ही आर्यो के विकास का वर्णन किया है । वैवस्त मनु की पुत्री इला थी । इला से पुरुरवा (ऐला) का जन्म हुआ, जिसने प्रतिष्ठान (वर्तमान झूँसी-इलाहावाद) वसाकर अपने देश की राजधानी वना कर राज्य किया । मनु के दूसरे पुत्र इक्ष्वाकु ने

* (Harms worth History of the world P 321)

मध्यप्रदेश (उस काल का) अयोध्या को बसाकर अपना शासन किया। इक्ष्वाकु के पुत्र 'निमि' ने अपने को विदेह मे प्रतिष्ठित किया और उसके पुत्र दण्डक ने दक्षिण के वन मे अपना शासन जमाया, जो उसी के नाम से दण्डक कहलाया।

दूसरी धारा से मनु के अन्य पुत्र, सौद्युम्न ने गया और पूर्वी जनपदो मे राज्य की स्थापना की। पुरवा के अन्य पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज और पौत्र ने काशी बसाई। इक्ष्वाकु के वशज ययाति ने ऐल (आर्य) साम्राज्य की स्थापना की। इनके पाच पुत्रो के नाम क्रमश यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु थे, जिनका ऋग्वेद मे वर्णन आने से पुराणो और ऋग्वेद की कडी जुड जाती है। इन पाँचो पुत्रो ने परस्पर भारत के उत्तरी मध्य प्रदेश को, जिसमे काशी और कान्यकुब्ज के प्राचीन आर्य राज्य भी शामिल थे, बाँट लिया। पुरु को गगा-यमुना की वेदी का दक्षिण का भाग, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, प्राप्त हुआ। यदु को दक्षिण-पश्चिम का भाग, जिसमे चर्मणवती (चम्बल), वेत्रवती (वेतवा) और शुक्तिमती (केन) वहती थी, प्राप्त हुआ। द्रुह्यु ने यमुना के पश्चिम और चम्बल के उत्तर वाले भाग पर अधिकार किया तथा अनु ने गगा-यमुना के अन्तर्वेद के उत्तरी भाग मे और तुर्वसु ने दक्षिण मे रीवाँ प्रदेश के समीप अपना राज्य खडा किया।

इस वश वेलि मे यदु के वशजो ने विशेष उन्नति की जो कि कालान्तर मे हैहय और यादव—दो शाखाओ मे बँट गये और यदु के उत्तरी और दक्षिणी भागो के शासक वने। इसके बाद यादवो के अपने राजा शशिविन्दु के समय पौरवो और द्रुह्यु के प्रदेशो को भी छीन लिया। यादवो के इस राज्य का प्रतिस्पर्धी मान्धाता का अयोध्या का राज्य था, जिसने कान्यकुब्ज, पौरवो के प्रतिष्ठान राज्य और द्रुह्यु लोगो के प्रदेशो को भी जीत लिया। परिणामस्वरूप द्रुह्यु राजा गधार भाग गये। इस राजा का नाम भी गन्धार ही बताया गया है। इसी ने अपने नाम पर गन्धार बसाया था। उसके पुत्र मुचुकुन्द ने नर्वदा के तट पर महिष्यमति (आधुनिक माधाता) और पुरिका मे अपने आप को प्रतिष्ठित किया। माधाता की दिग्विजयो की प्रतिक्रिया के रूप मे हैहय, आनव और द्रुह्यु लोगो मे वडी उथल-पुथल हुई। आनव दो शाखाओ मे बँट गये। एक उशीनर के नेतृत्व मे पजाव की ओर फैली और उसने द्रुह्यु लोगो को गाधार की ओर एव उससे भी बाहर मलेच्छ देशो की ओर खदेड कर, योधेय, अम्बष्ठ, शिवि, मद्र, कैकय और सौवीर जनपदो की स्थापना की। तितिक्षु के नेतृत्व मे आनव शाखा पूर्व की ओर विदेह और वैशाली से परे फैल गई और उसने राजा वली की आधीनता मे अग, वग, पुण्ड्र, सुह्य और कलिग नामक पाँच राज्यो की स्थापना की। इस स्थिति से हैहय साम्राज्य ने कार्तवीर्य अर्जुन की दिग्विजयो के रूप मे पदार्पण किया, जिसने नर्वदा के तट पर बसे हुए भार्गव ब्राह्मणो को मार भगाया। उन्होने भागकर कान्यकुब्ज और अयोध्या के क्षत्रियो के यहा शरण ली। इस अविसधि के दुर्भिपरक रूप मे जमदग्नि हुए, जिनके पुत्र परशुराम ने तालजघ के आधीन हैहय राज्य को नष्ट कर दिया, किन्तु परशुराम का यह अभियान अल्पकाल तक रहा, तालजघो ने वीतहोत्र, शार्यात, भोज, अवन्ति और तुण्डिकेर

नामक पाँच शाखाओ मे बटकर, सारे उत्तरी भारत मे अपना अधिकार फैलाया और उत्तर पश्चिम से आने वाले, शक, यवन, कम्बोज, पारद और पहलवो की सहायता से कान्यकुब्ज और अयोध्या के राज्यो को उलट डाला और अपनी विजयो को विदेह और वैशाली तक बढा दिया।

अयोध्या का उत्थान—

अयोध्या ने राजा **सगर** के नेतृत्व मे पुन सिर उठाया और उसने हैहयों के प्रभुत्व को मिटाकर उत्तरी भारत मे पुन अपने राज्य की स्थापना की। इस भारी उलट फेर मे जो राज्य शेष रहे, वह थे---विदेह, वैशाली, पूर्व के आनव राज्य, मध्य देश मे **काशी**, रीवाँ मे तुर्वसुका वश और विदर्भ का नया यादव राज्य। प्राचीन पौरव राज्य भी सगर की मृत्यु के बाद, दुष्यन्त और उसके पुत्र भरत के नेतृत्व मे पुन उत्थान को प्राप्त हुआ। परन्तु इस बार गगा-यमुना की अन्तर्वेदी के उतरी भाग मे हस्तिनापुर को राजधानी बनाकर प्रतिष्ठान को छोड दिया गया। इस नये राज्य मे भरतो का बहुत विस्तार हुआ और उनके **कृवि और पाचाल** राज्य बने, जिनकी राजधानी अहिछत्र और कापिल्य थी। परन्तु अयोध्या को कालान्तर मे अत्यन्त शक्तिशाली राजा मिले, जिनमे, भगीरथ, दिलीप, रघु और अज मुख्य हैं। इन्ही के समय अयोध्या का नाम कोतल पडा था। इनके अतिरिक्त मधु राजा के समय यादव भी अपने राज्य को जमुना से गुजरात तक बढाने मे सफल हो गये। अत रामायण काल मे अयोध्या, विदेह, अग, मगध, पजाब के केकय, सिन्धु और सौवीर, पश्चिम के सौराष्ट्र और दक्षिणात्य लोगो का मित्र राज्य था, परन्तु रामचन्द्रजी की मृत्यु के बाद अयोध्या का राज्य पुन बिखर गया और महाभारत काल मे यादव और पौरव लोग ही मुख्य रूप से शक्तिशाली हो गये। उस समय यादवो के चार राज्य थे, जिनमे **अन्धक** और **वृष्णि** मुख्य थे। अन्धक का राज्य मथुरा मे था, यहा कुकुर और उसके वशजो ने कस के पूर्व तक राज्य किया। वृष्णि ने अपने वशज अक्रूर के पूर्व तक राज्य किया। इस युग के दूसरे यादव राज्य—**विदर्भ, अवन्ति और दशार्ण** थे और हैहय राज्य माहिष्यमती मे था। इनमे से अधिकाश यादव भोज भी कहलाते थे। दूसरी ओर प्रागैतिहासिक ऋग्वेद कालीन सुदास ने पौरव राजा सवरण को हस्तिनापुर से भगाकर, उसके विरुद्ध दाशराज युद्ध का सगठन किया, किन्तु सुदास के बाद उसके राज्य का भी ह्रास हुआ और कौरवो ने हस्तिनापुर को पुन जीत लिया तथा साथ ही पाचाल को भी जीता। अत कुरू के नेतृत्व मे पौरव राज्य प्रयाग तक फैल गया। इसके बाद, इसका पुन ह्रास हुआ और कालान्तर मे प्रतीप और राजा शान्तनु के समय पुन शक्तिशाली हुआ। शान्तनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि थे जो पौरव से कौरव कहलाये और पाण्डु के पाँच पुत्र—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डव कहलाये। अत पुराणो का यह इतिहास हमे महाभारत काल तक ले आता है। इस काल मे जरासिन्ध का मगध मे राज्य था और श्री कृष्ण ने इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) बसाई थी। अत पुराणो मे वर्णित इस इतिहास से यह भी सिद्ध हो गया कि ऋग्वेद का रचनास्थल पजाब प्रदेशमे न होकर, गगा यमुना

का ऊपरी अन्तर्वेद है। इसका समर्थन ऋग्वेद (१०।७५) मे वर्णित नदियो की सूची से भी हो जाता है।[१] इस सूची का आरम्भ गगा नदी से ही होता है और उत्तर-पश्चिम की ओर को होता है जो आर्यों के दिशा प्रचार का द्योतक है। इस दशा मे हापकिन्स पिशल, गेल्डनर की ऋग्वेद का रचना-स्थल पजाब मे मानने की धारणा समाप्त हो जाती है और हिल्लेब्रान्ट का उसके मध्य प्रदेश मे रचित होने का प्रमाण भी निर्जीव हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'पचनद'—जिसमे पाँच सोते हो, यह नाम एमिक काल तक पजाब के लिए नही आया। पुराणो से ही यह भी सिद्ध हो गया कि यहाँ से अनेक जातिया बाहर गयी जो अपने साथ अपने देवताओ के नाम भी ले गयी और वहाँ शासन के समय इन्ही देवताओ के नामो का राजाओ मे प्रचार हुआ। इसका समर्थन बोगज कुई के लेखो से सिद्ध हो चुका है। बोगज कुई के यह लेख तल्ल-अल्ल अमरना गाव मे मिले हैं, जिनमे मित्तानी राजाओ के सस्कृत मे नाम है—आर्ततम्र, तुषरत्त, सुततर्न (वैदिक सुत्राण)। बेबीलोन मे राज्य करने वाली जाति कासाई (*Kassites*) राजाओ के नाम भी सस्कृत भाषा मे हैं, जैसे सुऋअस् (सूर्य), मर्यतस (वैदिक मरुतस) इत्यादि। इसके अतिरिक्त असुरबनियाल के ईंट पुस्तकालय से देवताओ की जो सूची मिली है, उसमे अस्सर और मजस नाम हैं, जो वैदिक देवता असुर ही हैं।

महाभारत काल—आर्यों के काल निर्धारण मे हमे महाभारत काल से अब-तक इन्द्रप्रस्थ मे हुए राजाओ की सूची से विशेष सहायता मिल सकती है। अत इस सूची को इसी अभिप्राय से दिया जा रहा है कि रामायण महाभारत और आर्यों के काल का कुछ ज्ञान हो सके :—

इन्द्रप्रस्थ मे महाराज युधिष्ठिर से लगाकर, यशपाल पर्यन्त १२४ राजा हुए जिनका शासन काल ४१५७ वर्ष ९ मास और १४ दिन है।

अतिम हिन्दू राजा यशपाल पर शहाबुद्दीन गोरी ने चढाई की और यशपाल को इलाहाबाद के किले मे कैद करके स्वय दिल्ली मे राज्य करने लगा। सन् १२०३ ई० मे यह दिल्ली की गद्दी पर बैठा और सन् १२०६ में शहाबुद्दीन गोरी (मुहम्मद-गोरी) अपने गुलाम कुतबुद्दीन ऐबक को दिल्ली का राज्य सौंपकर वापस लौट गया। इस तरह १२०३ ई० से सन् १८५७ ई० तक अर्थात् ६५४ वर्ष भारत मे मुसलमानो का राज्य रहा और १८५७ ई० से १९४७ ई० तक अर्थात् ९० वर्ष अग्रेजो का राज्य रहा। इस प्रकार अब १९६२ ई० तक दिल्ली की आयु ४९१० वर्ष की हुई और लगभग यही समय महाभारत का हुआ।

इन्द्रप्रस्थ के राजाओ का शासन-काल, युधिष्ठिर से यशपाल तक निम्न प्रकार रहा —

---

१ इद मे गगे यमुने सरस्वती।

—वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ १२७

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	युधिष्ठिर	३८	८	२५
२	परीक्षित	६०	०	०
३	जन्मेजय	८४	७	२३
४	अश्वमेध	८२	८	२२
५	द्वितीय राम	८८	२	८
६	छत्रमल	८१	११	२०
७	चित्ररथ	७५	३	१८
८	दुष्ट शैल्य	७५	१०	१४
९	उग्रसेन	७८	७	२१
१०	शूरसेन	७८	७	२१
११	भुवनपति	६९	५	५
१२	रणजीत	६५	१०	४
१३	ऋक्षक	६४	७	४
१४	सुखदेव	६२	०	२४
१५	नरहरि देव	५१	१०	२
१६	शुचिरथ	४२	११	२
१७	सूरसेन (द्वितीय)	५८	१०	८
१८	पर्वत सेन	५५	८	१०
१९	मेधावी	५२	१०	१०
२०	सोनचीर	५०	८	२१
२१	भीमदेव	४७	९	२०
२२	नृहरिदेव	४५	११	२३
२३	पूर्णमल	४४	८	७
२४	कर्दवी	४४	१०	८
२५	अलमिक	५०	११	८
२६	उदयपाल	३८	९	०
२७	दुवनमल	४०	१०	२६
२८	दयात	३२	०	०
२९	भीममाल	५८	५	८
३०	क्षेमक	४८	११	२१

इस तरह पांडववंश ३० पीढी तक १७७० वर्ष ११ महीने १० दिन तक राज्य करता रहा। अन्तिम राजा क्षेमक को उसके प्रधान विश्रवा ने मार कर राज्य पर

अपना अधिकार कर लिया। विश्रवा की १४ पीढियो ने ५०० वर्ष ३ मास १७ दिन राज्य किया।

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	विश्रवा	१०	३	२९
२	पुरसेनी	४२	१	२१
३	वीरसेनी	५२	१०	८
४	अनगशायी	४७	८	२३
५	हरिजित	३५	९	१७
६	परमसेनी	४४	२	२३
७	सुखपाताल	३०	२	२१
८	कद्रुत	४२	९	२४
९	सज्ज	३२	२	१४
१०	अमरचूड	२७	३	१६
११	अमीपाल	२२	११	२५
१२	दशरथ	२५	४	१२
१३	वीरसाल	३१	८	११
१४	वीरसाल सेन	४७	०	१४

इस वीरसाल सेन को वीर महाप्रधान ने मारा और वीर महा की १६ पीढियो ने ४४५ वर्ष ५ मास ३ दिन तक राज्य किया।

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	वीरमहा	३५	१०	८
२	अजितसिंह	२७	७	१९
३	सर्वदत्त	२८	३	१०
४	भुवनपति	१५	४	१०
५	वीरसेन	२१	२	१३
६	महीपाल	४०	८	७
७	शत्रुशाल	२६	४	३
८	संघराज	१७	२	१०
९	तेजपाल	२८	११	१०
१०	माणिकचन्द	३७	७	२१
११	कामसेनी	४२	५	१०
१२	शत्रुमर्दन	८	११	१३
१३	जीवनलोक	१८	९	१७
१४	हरिराव	२६	१०	२९

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१५	वीरसेन (२)	३५	२	२०
१६	आदित्य केतु	२३	११	१३

आदित्यकेतु को प्रयागराज धन्धर ने मार डाला और उसकी ९ पीढियो ने ३७४ वर्ष ११ महीने २६ दिन राज्य किया।

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	धन्धर	४२	७	२४
२	महर्षि	४१	२	२९
३	सनरच्ची	५०	१०	१९
४	महायुद्ध	३०	३	८
५	दुरनाथ	२८	५	२५
६	जीवनराज	४५	२	५
७	रुद्रसेन	४७	४	२८
८	आरीलक	५२	१०	८
९	राजपाल	३६	०	०

राज्यपाल को महापाल नामक एक सामन्त ने मार डाला और एक पीढी राज्य किया।

१	महानपाल	१४	०	०

इस पर उज्जैन से विक्रमादित्य ने आक्रमण किया और एक पीढी राज्य किया।

१	विक्रमादित्य	९३	०	०

विक्रमादित्य को शालिवान के उमराव समुद्रपाल योगी पैठन ने मारकर १६ पीढी ३७२ वर्ष ४ मास २७ दिन राज्य किया।

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	समुद्रपाल	५४	२	२०
२	चन्द्रपाल	३६	५	४
३	सहायपाल	११	४	११
४	देवपाल	२७	१	२८
५	नरसिंहपाल	१८	०	२०
६	सामपाल	२७	१	१७
७	रघुपाल	२२	३	२५
८	गोविंदपाल	२७	१	१७
९	अमृतपाल	३६	१०	१३
१०	वलीपाल	१२	५	२७
११	महीपाल	१३	८	४
१२	हरीपाल	१४	८	४

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१३	सीसपाल (भीमपाल)	११	१०	१३
१४	मदनपाल	१७	१०	१९
१५	कर्मपाल	१६	२	२
१६	विक्रमपाल	२४	१३	१३

राजा विक्रमपाल ने पश्चिम के एक राजा मलूखचन्द वोहरे पर चढाई की और वहाँ विक्रमपाल मारा गया। मलूखचन्द वोहरे की १० पीढियो ने १९१ वर्ष १ महीना १६ दिन तक राज्य किया।

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	मलूखचन्द	५४	२	१०
२	विक्रमचन्द	१२	७	१२
३	अमीनचन्द	१०	०	५
४	रामचन्द	१३	११	८
५	हरीचन्द	१४	९	२४
६	कल्याणचन्द	१०	५	४
७	भीमचन्द	१६	२	९
८	लोवचन्द	२६	३	२२
९	गोविंदचन्द	३१	७	१२
१०	रानी पद्मावती	१	०	०

गोविंदचन्द की रानी लावारिश मरी तब कार्यकर्त्ताओ ने हरीप्रेम नामक एक वैरागी को गद्दी पर वैठाया। दीवान लोग शासक रहे। यह वैरागी राज्य ४ पीढी तक ५० वर्ष २१ दिन तक निम्न प्रकार रहा—

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	हरिप्रेम	७	५	१६
२	गोविन्द प्रेम	२०	२	८
३	गोपाल प्रेम	१५	७	२८
४	महावाहु	६	८	२९

अन्तिम राजा महावाहु राज्य त्याग वन मे तपस्या करने चला गया और इसके जाते ही वगाल के राजा आवीसेन ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। आधीसेन की १२ पीढ़ियो ने दिल्ली मे १५१ वर्ष ११ महीने २ दिन राज्य किया—

	राजा	वर्ष	मास	दिन
१	आवीसेन	१८	५	२१
२	विलाव सेन	१२	४	२
३	केशव सेन	१५	७	१२

	राजा	वर्ष	मास	दिन
४	माघसेन	१२	४	२
५	मयूर सेन	१०	११	२७
६	भीमसेन	५	१०	६
७	कल्याण सेन	४	८	२१
८	हरी सेन	१२	०	२५
९	क्षेमसेन	८	११	१५
१०	नारायण सेन	२	२	२९
११	लक्ष्मीसेन	२६	१०	०
१२	दामोदर सेन	११	५	१९

दीपसिंह नामक एक उमराव ने सेना की सहायता से दामोदर सेन को मार डाला और दिल्ली राज्य पर अधिकार कर लिया। दीपसिंह की ६ पीढियो ने १०७ वर्ष ६ मास २२ दिन तक राज्य किया—

राजा	वर्ष	मास	दिन
१ दीपसिंह	१७	१	२६
२ राजसिंह	१४	५	०
३ रणसिंह	९	८	११
४ नरसिंह	४५	७	१५
५ हरिसिंह	१३	२	२९
६ जीवनसिंह	८	०	१४

इन जीवनसिंह ने पहाडी देशो पर चढाई के लिए अपनी सेना भेजी तो विराट् के राजा पृथ्वीराज ने दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और जीवनसिंह को मारकर इन्द्रप्रस्थ पर अधिकार कर लिया।

पृथ्वीराज की ५ पीढियो ने ८६ वर्ष २० दिन इन्द्रप्रस्थ मे राज्य किया।

राजा	वर्ष	मास	दिन
१ पृथ्वीराज	१२	२	१९
२ अभयपाल	१४	५	१७
३ दुर्जनपाल	११	४	१४
४ उदयपाल	११	७	३
५ यशपाल	३६	४	२७

यशपाल पर शहाबुद्दीन ने चढ़ाई की और राजा को इलाहाबाद के किले में कैद कर दिया। १२०६ ई० मे शहाबुद्दीन गौरी दिल्ली का शासन अपने गुलाम कुतुबुद्दीन को सौंप कर लौट गया और घर जाकर मर गया। उसके बाद दिल्ली मे मुस्लिम शासन आरम्भ हुआ।

वैदिक ऋषि और वैदिक-साहित्य—वैदिक-साहित्य का प्रारम्भ ऋग्वेद से होता है। वैदिक शिक्षण के आदिम काल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन प्रमुख रहा है। जिस सनातन ज्ञान की निर्मल धारा के विशाल और निरवार्य प्रवाह के एक तीर्थ को सुमर्यादित करके ऋग्वेद का नाम दिया गया, उसके प्राचीनतम स्वरूप की कल्पना प्रासगिक है। ऋग्वेद काव्यात्मक ग्रथ है। काव्य की रचना के लिये वाक् और अर्थ की प्रतिष्ठा करने के लिये सुकवि को तपोमय साधना करनी पडती थी। उस युग मे ऐसे साधक का नाम ही ऋषि था। ऋषियो के विकास का क्षेत्र अच्छे से अच्छे शब्दो का अच्छे से अच्छे अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये नित्य अभ्यास करना था।

शब्दो का परिज्ञान व्याकरण के द्वारा सम्भव होता है और अर्थों का बोध प्रस्तुत विषयो के सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा प्राक्कालीन सदुक्तियो और उनके अर्थों के सग्रह द्वारा सम्भव होता है। जिन ऋषियो ने मत्रो की रचना की थी, निश्चय ही उन्होने अपने पूर्व के ऋषियो के साथ बैठ कर, शब्दो और अर्थों का ज्ञान प्राप्त किया था और प्रकृति की ऐकान्त सम्पन्नता का आश्रय लेकर, उसके गुणो से मानस-पटल का परिचित्रित करके वाणी के माध्यम से, उसको सर्वजनीन बना दिया था। ऋग्वेद की रचना जिस युग मे हो रही थी, (अनुमानत १० हजार वर्ष ई० पू०) उसमे सूक्तो को कण्ठस्थ करने की प्रवृत्ति सनातन रूप से प्रचलित थी। यही प्रवृत्ति वश-परम्परा और गुरु-शिष्य परम्परा के रूप मे विकसित होती रही। प्राचीन काल मे असख्य सूत्र प्रचलित थे। उनमे से कुछ सूक्त लुप्त हो गये और शेष का वैदिक सहिताओ मे सचलन हो गया। इन सूक्तो की रचना, सम्पादन और सग्रह मे निश्चय ही हजारो वर्ष लगे होगे। इसका सकेत ऋग्वेद मे भी मिलता है। ऋग्वेद (६।२१।५) मे प्रत्न, मध्यम तथा नूतन ऋषियो की स्तुति की चर्चा की गई है और भाषा के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि भारतीय आर्यों के अन्दर शिक्षा का विकास ऋग्वेद-काल से भी हजारो वर्ष पूर्व हो चुका था।

सहिताओ की रचना के युग मे एक के पश्चात् दूसरे ऋषि की योग्यता के वशानुक्रम से यथापूर्व प्रतिष्ठित रहने की प्रवृत्ति अत्यन्त सबल थी। पूर्व ऋषियो के ज्ञान को उनसे ग्रहण करना और उनकी सगति मे बैठ कर तत्कालीन धार्मिक, दार्शनिक, काव्यात्मक, पौराणिक और ऐतिहासिक विचारधाराओ का विवेचन करना। इस सब के बिना वैदिक साहित्य का सृजन असम्भव था। इसके अतिरिक्त वेदाग शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द व्याकरण और ज्योतिष का महत्व भारतीय शिक्षा पद्धति मे आरम्भ से रहा है। इन विषयो का सम्बन्ध पूर्व वैदिक साहित्य और यज्ञो से भी था। स्वतन्त्र रूप से भी इनका अध्ययन वैदिक काल मे होने लगा था। परवर्ती-युग मे व्याकरण की परिधि के भीतर ही शिक्षा और निरुक्त का भी अन्तर्भाव हुआ और पाणिनी का व्याकरण अनन्तकाल से प्रवाहित शब्दानुशीलन की सरिताओ का महासागर बन गया। व्याकरण की यह शैली शब्दो के वैज्ञानिक तत्वावलोचन के माध्यम से ही प्रस्फुटित हुई थी। मोनियर विलियम्स ने अपनी पुस्तक 'Hinduism' मे लिखा है —

वेद विश्वसजनीन ज्ञान का एक कोष है। वही एक ऐसा साधन है, जहाँ से धार्मिक और वैज्ञानिक विचारो के प्रकाशन की सामग्री तैयार की जा सकती है।' इनके अतिरिक्त बुनसेन ने लिखा है—'वैदिक सूक्तो के सबमे प्राचीन अश भी मानव जाति के अर्वाचीन इतिहास के अग है।'

वैदिक मत्र वस्तुत छन्दोवद्ध रूप रखते है, उनकी पद्धति मे एक सतत सूक्ष्मता और चातुर्य्य है। उनमे शैली तथा काव्यमय व्यक्तित्व की महान विविधताए हैं वे असभ्य जगली तथा घुमक्कड लोगो की कृतियाँ नही मानी जा सकती। अपितु वे एक परम कला और सचेतन कला के सजीव नि श्वास है। जो कला अपनी रचनाओ को एक आत्मदर्शिका अन्त.प्रेरणा को सबल किन्तु सुनियत्रित गति मे उत्पन्न करती है। फिर भी यह सब सर्वोच्च उपहार जानबूझ कर एक ही अपरिवर्तनीय ढाँचे के बीच मे और सर्वदा एक ही प्रकार की सामग्री से रचे गये है, क्योकि व्यक्त करने की कला ऋषियो के लिये केवल साधनमात्र थी न कि लक्ष्य भूत। उनका मुख्य प्रयोजन अविरत रूप से व्यावहारिक था, बल्कि उपयोगिता के उच्चतम अर्थ मे लगभग उपयोगितावादी था।

वैदिक मत्र उस ऋषि के लिये जिसने उसकी रचना की थी, स्वय अपने लिये तथा दूसरो के लिये अध्यात्मिक प्रगति का साधन था। पूर्णता की प्राप्ति के लिये सघर्ष करने वाले आर्य के हाथ मे एक शस्त्र का काम वेद-मत्र था। दार्शनिक रहस्यो को जानने वाले पिता के भी पिता माने जाते थे +। शतपथ ब्राह्मण ने भी वेद के आचार्यो को 'देव' माना है +। ऋग्वेद सहिता मे सिद्धानानुसार सूक्तो का चुनाव हुआ है। यही सबसे बडी साहित्यिक कुशलता है। सग्रहकर्ताओ ने पूर्व ऋषियो के वास्तविक शब्दो को अपने स्वपाठ मे सुरक्षित रखा। उनके स्वर और रूपान्तरो की विशेषताओ मे कुछ भी हेरफेर किये बिना ज्यो का त्यो रहने दिया।

आर्यो की प्रारम्भिक भाषा और उसका विकास

वैदिक भाषा अलकारो से आच्छादित है। वेदभाषा मे अलकारो का प्रयोग अत्यन्त चातुर्यपूर्ण रूप से उसे इस प्रकार विकसित करके किया गया है कि एक ही शब्द मे जितने भी सम्भव अर्थ हो सकते हैं, वे सब के सब आकर सचित हो जायें। अलकारो की यही परम्परा सस्कृत साहित्य मे भी आयी। कही-कही पीछे के सस्कृत ग्रन्थो मे इसका प्रयोग अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया। इस श्लेष या द्विविध अर्थ के अलकार का प्रयोग सस्कृत के बाद हिन्दी मे भी प्रारम्भ हुआ। अत यह मानना ही पडता है कि वैदिक ऋषियो की भाषा मे ऐसी विशेषता थी कि शब्द अपेक्षाकृत अधिक सजीव और अनुभूत होते थे। वे विचारो के लिये केवलमात्र सही साकेतिक शब्द नही थे। अर्थ के सक्रान्त करने मे उसकी अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र थे, जैसे कि हमारी भाषा के बाद के प्रयोग मे है। उनके शब्द कृत्रिमता तथा खीचतानी से युक्त नही होते थे।

+ऋग्वेद १।१६।१६, शतपथ ब्राह्मण २।२।२,६।

अत यदि आर्यभाषा के विकास का अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि यह भाषा उस अवस्था मे से गुजरी है, जो कि शब्दो के रहस्यमय तथा अध्यात्मवाद प्रयोग के लिये अद्भुत रूप से अनुकूल होती थी । जिसके शब्द अपने प्रचलित व्यवहार मे एक सरल निश्चित तथा भौतिक अर्थ को देते थे । श्री विटरनिज ने लिखा है—"जब हम ऋग्वेद के समीप आते हैं, तब उसमे भाषा और दार्शनिक विचार सम्बन्धी ऊचे विकास का परिचय मिलता है । ऋग्वेद की सस्कृत मे भाषा के विकास की अपेक्षा का प्रमाण नही मिलता । उसका व्याकरण नितान्त पूर्ण है । प्रत्येक क्रिया के लकार, वचन, पुरुष सुनिश्चित हैं और कारक एव विभक्तियो के रूप मे भी नियत हैं, जो सर्वोच्च विकसित भाषा का परिचय देते हैं ।"

आर्यों की प्रारम्भिक भाषा के बारे मे भी अत्यन्त विवाद है । पहला प्रश्न तो यही है कि यदि आर्यों की उत्पत्ति अमैथुनी सृष्टि से हुई, तब क्या उनका जन्म पूर्ण पण्डित के रूप मे हुआ था ? यदि नही, तब क्या उन्होने भी पहले सकेतो से काम चलाया और उसके पश्चात् चित्रलिपि बनाई, जिसका विकास प्रारम्भिक वेद-भाषा, पश्चात् सस्कृत, उसके पश्चात् खरोष्ठी तथा हिन्दी आदि के रूप मे विकास हुआ ?

प्राय सभी शिक्षा-शास्त्री इस कथन से सहमत हैं कि जब तक नैमित्तिक ज्ञान न मिले, तब तक मनुष्य का विकास नही हो सकता । बच्चे के जन्म लेते ही, उसे दूसरो से ज्ञान की शिक्षा मिलने लगती है । उसी बच्चे को यदि मनुष्यो की बजाय पशुओ मे रखा जाए, तब पशु समान ही रहेगा । तात्पर्य यह है कि बिना नैमित्तिक ज्ञान के स्वय ज्ञान प्राप्त नही हो सकता । यदि ऐसा होता, तब अण्डमान टापू आदि के मूल निवासी जो आज तक गिनती गिनना भी नही जानते, पर्याप्त विद्वान हो गये होते । अभिप्राय यह है कि कुछ लक्ष्य कराये बिना मनुष्य चाहे जितना भी प्रतिभावान् हो, वह ज्ञान-वृद्धि नही कर सकता । मनुष्य प्राय वही भाषा बोलता है जो माता-पिता से सुनता है । वह स्वय कोई भाषा नहीं बना सकता । उदाहरणार्थ गू गो या बहरो को यदि स्कूल में सिखाया न जाय, तब वह स्वत से कोई भाषा नहीं बना सकते । मनुष्य बिना सिखाये भी बोल सकता है, इसके कई प्रयोग हो चुके हैं । पहला मिस्र के बादशाह सामेटिक ने किया था । दूसरा अकबर ने । इन प्रयोगो मे दो-दो बालको को मनुष्यो से अलग रखवा कर जानवरो के पास पाला गया था । वहा वह कुछ भी बोलना नही जान सके थे । इस प्रकार भाषा-विज्ञान का वह सिद्धान्त कट जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि भाषा का विकास भी मनुष्य के विकास की भाँति हुआ ।

भाषा-विज्ञान के चार सिद्धान्त हैं—प्रथम दैवि शक्ति द्वारा सम्पन्न भाषा की उत्पत्ति, द्वितीय, सकेतो द्वारा काम न निकल सकने पर मनुष्यो ने स्वय भाषा का निर्माण किया, तृतीय, मनुष्यो के विचारो और भाषा का अटूट सम्बन्ध होने से, मनुष्यो के विचार स्वभाव से ही भाषा के मूलतत्वस्वरूप कुछ धातुओ द्वारा प्रकट हो गये । बाद मे धीरे-धीरे धातुओ के आधार पर भाषा का विकास हुआ, चतुर्थ, अनुकरणात्मक तथा हर्ष क्रोधार्थ, मनोरागव्यजक शब्दो के द्वारा तथा उसके आधार पर परस्पर विचार-

परिवर्तन मे सरलता का उद्देश्य रख कर, स्वभावतया भाषा का विकास हुआ। इसके पश्चात् कहा जाता है कि पदार्थो और क्रियाओ के पहिले पहल नाम जड चेतनात्मक वाह्य जगत की ध्वनियो के अनुकरण के आधार पर रखे गये, जैसे कोकिल, कुक्कू (Cuckoo) या 'काक' (काक इति शब्दानुकृति निरुक्त), दूसरे सिद्धान्त की व्याख्या मे कहा गया है कि कुछ स्वाभाविक ध्वनिया हमारे मुख से निकल पडती हैं, जैसे 'हाहा', 'हाय-हाय', 'अहह' आदि।

भाषा शास्त्रियो का कथन है कि पहिले मनुष्यो ने इशारो से काम चलाया। पश्चात् वाह्य ध्वनियो को सुन कर और उद्धारात्मक शब्दो की योग्यता से धीरे-धीरे भाषा बन गयी। जैसे कूकू करने से कोयल का नाम 'कुक्कू' पड गया और काव-काव करने से कौवो को सस्कृत वाले 'काक' कहने लगे। इसी प्रकार शब्दानुकृति से शब्द बने। किन्तु यहा पर शका यह उठती है कि बिना पूर्ण ज्ञान के क्या कोई मनुष्य इशारे से बात कर सकता है और दूसरा समझ सकता है? युद्ध काल मे झण्डियो के इशारे और वर्तमान मे तार के 'ट्रा-टक्कू', की ध्वनियो से शब्द रचना पूर्ण विद्वत्ता के कारण है अथवा पूर्ण मूर्खता के कारण है? इसी प्रकार नृत्य-कला मे, नृत्य भ व पैरो द्वारा प्रकट किया जाता है, क्या वह जगली अवस्था का द्योतक है? इसका स्पष्ट अर्थ तो यह है कि बोलने की शक्ति होते हुए भी सकेतो से आशय व्यक्त करना पूर्ण विद्वत्ता का चिह्न है। तब आदिम मनुष्यो द्वारा सकेत से काम चला लेना मूर्खता की श्रेणी मे नही आता, क्योंकि सकेत के पूर्व बुद्धि का पूर्ण विकास होने पर ही सकेत का अर्थ नियत हो सकता है। दूसरे, बिना भाषा के बुद्धि का पूर्ण विकास भी नही हो सकता—यह सर्वमान्य सत्य है। जब तक भाषा उत्पन्न न हो जाय, और उस भाषा द्वारा बुद्धि का पूर्ण विकास न हो जाय, तब तक सकेत भी असम्भव है। इसी प्रकार 'कुक्कू' और 'काक' शब्द तो तभी बन सकेंगे, जब पहले 'क' शब्द बना लिया हो, अर्थात् उसका उच्चारण करना आ गया हो। जब तक मनुष्य के मुख से वर्ण न निकले हो, तब तक वह 'शब्दानुकृति' कर ही नही सकता। निरुक्तकार का कथन यही है कि जब 'वर्णोच्चारण हो जाता है तब शब्दानुकृति से नाम रखे जा सकते है। निरुक्त का कथन है—

> काक इति शब्दानुकृतिस्तदिद शकुनिषु बहुलम्।
> न शब्दानुकृतिर्विद्यते हत्यौपमन्यव,
> काको अपकालयितव्यो भवति। (निरुक्त ३।१८)

अर्थात् एक कहता है कि 'काक' नाम शब्दानुकृति से रखा गया, परन्तु दूसरा औपमन्यु कहता है कि 'काक' शब्द अपकालयितव्यता-अस्पृश्यता के कारण रखा गया है। यहा औपमन्यु उसका धातुज नाम बताता है, किन्तु पहिला कहता है कि शब्दानुकृति से भी उसका ऐसा नाम रखा जा सकता है। इस वर्णन से यह नही पाया गया कि आदि मे शब्दानुकृति से ही नाम रखे गये है। इससे तो यह सिद्ध हुआ कि हमारे पास वर्ण है और हम अनुकृति से नाम रख सकते हैं। जैसे खासना, धमाधम, तडतड, चटपट आदि। परन्तु प्रश्न यह होता है कि आदि मे मनुष्य ने वर्णो का उच्चारण

कैसे किया ? यदि वाहर की ध्वनियो से किया, तब क्या वाहर की ध्वनियाँ स्पष्ट वर्णात्मक हैं ? वाहर की ध्वनियाँ जिन्हे टन्-टन्, धम् धम्, खट्-खट्, भन्-भन्, पू-पू, म्यु-म्यु कहते हैं, क्या उन वर्णों से वनी होती है ? स्पष्ट तो यह है कि जब तक मनुष्य कठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ तथा जिह्वा का प्रयत्न दूसरी जगह न करे, तब तक वे वर्ण स्पष्टतया नही निकल सकते । हमारे पास यदि 'ट' और 'न' है, तभी तो हम बाहरी आवाज को टनटन कहते हैं । परन्तु जिन भाषा-भाषियो के पास 'ट' वर्ग नही है, वे उस 'टनटन' को 'तनतन' ही कहेंगे । इसका स्पष्ट अर्थ यही हुआ कि हम जो वाह्य ध्वनियो की नकल करते हैं, उसका कारण वाहर की ध्वनियाँ नही, बल्कि हमारे पास वर्णों का होना है । उदाहरणार्थ अग्रेजो से भ, ख, ध, ढ और त आदि अक्षरो का उच्चारण नहीं हो पाता । इसी प्रकार हमारी भी कई प्रान्तीय भाषाओ के उच्चारण ऐसे हैं, जो स्पष्टतया नही वोले जाते, क्योकि हम वाल्यकाल से उन उच्चारणो को सुनते नही । अत वोलने की शक्ति रखते हुए भी उनका उच्चारण नही कर पाते । तव आदिम मनुष्य ने जगली पशु-पक्षियो, नदियो आदि की आवाजो से उच्चारण कैसे सीख लिया ? जबकि आधुनिक भाषा विद् यह भी मानते हैं कि 'एक ही ध्वनि भिन्न व्यक्तियो को भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है ।' दूसरा उनका कथन है—'हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के भावो के आवेश से कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल जाती हैं, जैसे हा-हा, हाय-हाय, अहह, वाह-वाह, आदि । परन्तु क्या कोई गूगा इन्हें दुहरा सकता है ? जब तक मुख मे ह' और 'व' वर्ण न निकलें, तव उद्गारात्मक वाक्य कैसे निकल सकते है ? यदि दुधमुहे वच्चो को अकेला छोड दिया जाय, तव वह स्वत कोई भाषा नही वना सकते, अपितु सरक्षण मे होने पर सरक्षक की भाषा वोलना सीख सकते हैं । भाषा-विकास की उपरोक्त सभी दलीलें ऐसी हैं, जिनसे यह सिद्ध नही होता कि सकेतो से भाषा का विकास हुआ । सम्भवत इसीलिए डा० मगलदेव शास्त्री ने भी अपने तुलनात्मक भाषा विज्ञान मे लिख दिया है—"जिस प्रकार मानव-समाज की सारी की सारी सभ्यता की सामग्री, सृष्टि के आदि से न होने पर भी, इस आशय से ईश्वरप्रदत्त कही जा सकती है कि उसका सम्पादन मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ से ही वीज रूप से ईश्वरप्रदत्त शक्तियो और योग्यताओ के आधार पर किया है । उदाहरणार्थ लेखन कला और गृह वस्त्रादि के निर्माण करने की कलाओ के विषय मे यह कोई नही कह सकता कि इनकी सृष्टि के आरम्भ मे मनुष्य को ईश्वर ने सिखलाया । तब भी इनका सम्भव विकास ईश्वरप्रदत्त शक्तियो के आधार पर ही हो सका । इसी आशय से भाषा को भी हम ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं । यह स्पष्ट है कि ऐसा मानने से ईश्वर के महत्व मे कोई अन्तर न आया वह ज्यो का त्यों रहता है ।"

संकेत—लिपि द्वारा भाषा-विकास की आलोचना करते हुए मैक्समूलर ने लिखा है —'मैं नही समझता कि विना भाषा के सवाद कैसे जारी रह सके । अमुक सकेत का अमुक अर्थ किस प्रकार सभव हुआ । अथवा अमुक ध्वनि का अमुक अर्थ करना कैसे सभव हुआ । जबकि उनके पास कोई सार्थक ध्वनि थी ही नही ।' आगे आप कहते

है—'बात असल मे यह है—बिना भाषा के ज्ञान नही और बिना ज्ञान के भाषा नही।' इसका अर्थ यही हुआ कि आदिम मनुष्य ज्ञान और भाषा सहित ही उत्पन्न हुआ। अर्थात् उसमे बोलने और शब्द उच्चारण की भी शक्ति थी। इसका समर्थन ट्रीनिच ने अपनी पुस्तक 'स्टडी ऑफ वर्ड्स' मे किया है—"ईश्वर ने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है, जिस प्रकार बुद्धि दी है।" लगभग यही कोलरिक ने कहा है—"भाषा मनुष्य का एक आत्मिक साधन है।"

प्रारम्भिक भाषा की रूपरेखा—प्रारम्भिक भाषा के बारे मे डा० मगलदेव शास्त्री का कथन है कि "भाषा का प्रारम्भ पृथक्-पृथक् शब्दो से न होकर, वाक्यो से हुआ। वाक्य कितना भी बडा हो सकता है। वह एक अक्षर का भी हो सकता है, जैसे 'कल', 'हाँ' और अनेक शब्दो का भी हो सकता है, किन्तु उसके द्वारा वक्ता का आशय स्पष्ट होना चाहिये।" आगे आप कहते है—'आदिम भाषा, वाक्य-मय थी और आर्य भाषाओ की भाँति विभक्तियुक्त थी।' ससार की समस्त सश्लेषणात्मक अर्थात् विभक्तियुक्त भाषाएँ विश्लेषणात्मक अर्थात् एकाक्षरात्मक होती गयी और होती जा रही हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि सश्लेषणात्मक या विभक्तियुक्त भाषाएँ आदि-कालीन हैं और विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ उन्ही आदिमकालीन भाषाओ का विकास हैं, परिवर्तन है अथवा अपभ्रश हैं। डा० मगलदेव का कथन है—'विभक्ति-युक्त भाषा-वर्ग का सम्बन्ध केवल भारत-यूरोपीय और सेमेटिक इन दो भाषा परि-वारो से है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है—आदिमकालीन भाषा वही है जो विभक्तियुक्त हो, सश्लेषणात्मक हो और आर्य, यूरोपियन तथा सेमेटिक भाषाओ से सम्बन्ध रखती हो, क्योकि ससार की शेष सभी भाषाएँ विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक हैं और सश्लेषणात्मक और विभक्तियुक्त भाषाओ से ही, विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक भाषाओ की उत्पत्ति हुई है।"

डा० मगलदेव जी यह मानते हुए भी कि आर्य और सेमेटिक भाषाएँ विभ-क्तियुक्त सश्लेषणात्मक हैं, सेमेटिक भाषाओ को आर्य-भाषाओ से पृथक् मानते हैं। परन्तु जब दोनो की रचना का सिद्धात ही एक है, तब दोनो को पृथक् नही माना जा सकता। स्वय शास्त्री जी भी यह स्वीकार करते हैं कि दोनो भाषा-परिवार एक ही हैं, किन्तु हजारो वर्षो से एक दूसरे से अलग हैं। जिसका अर्थ है पहले एक ही थे। अत दोनो की भाषाएँ भी जुदा नही हो सकती, क्योकि सिद्धातत एक ही स्थान पर पैदा होने वाला मूल पुरुषो का ज्ञान और भाषा भिन्न नही हो सकती। मैक्समूलर ने भी ससार की समस्त भाषाओ को आर्य, सेमेटिक और तूरानी भाषाओ मे विभक्त करते हुए कहा है—"नि सन्देह मनुष्य की भाषा एक ही थी। भाषाओ के बिगडने का कारण मनुष्य की असावधानी है।" इसी प्रकार इण्डोजैक्सन डेविस ने अपनी पुस्तक 'हारमो-निया' मे भाषा को आदिम और स्वाभाविक माना है। प्रो० पाट का कथन है—"भाषा के वास्तविक स्वरूप मे कभी किसी ने परिवर्तन नही किया। केवल वाह्यस्वरूप मे कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। परन्तु किसी भी पिछली जाति ने एक भी नयी 'धातु' नही

बनाई। हम एक प्रकार से वही शब्द बोल रहे है, जो सर्गारम्भ मे मनुष्य के मुँह से निकले थे।" इसका आशय स्पष्टत यही है कि ज्ञान-अज्ञान के समय-समय पर होते हुए परिवर्तनो मे मनुष्य समाज भी अस्तव्यस्त हो जाता है। जगली दशा मे रहने वाली जातिया विद्वान् हो जाती हैं और विद्वान् जातियां जगली अवस्था को पहुच जाती हैं। इन उथल-पुथलो मे भाषा का ही नही, धर्म तक का भी रूप विकृत हो जाता है। भारतवर्ष मे तो यह उथल-पुथल अनेको बार हुई है। यही कारण है कि यहाँ का धर्म ही इधर-उधर नहीं गया, अपितु उसमे शाखा-प्रशाखाएँ फूटीं, जिनमे कोई-कोई तो अत्यन्त ही विकृत थी। इसी भाँति भाषा का हाल भी हुआ। भारतीय भाषा भी सदा अदलती-बदलती रही। इसके शब्द बहुत-सी भाषाओ मे गये और वहाँ भी कुछ के कुछ बन गये। उदाहरणार्थ सस्कृत का भूगोल शब्द, जिसका स्पष्ट अर्थ पथ्वी और गोल अर्थात् पृथ्वी की गोलाई है, यूरोप मे जाकर पहले 'गोलभू' हुआ। पश्चात् 'गोलबू' और उसके बाद 'ग्लोब' बन गया। 'ग्लोब' शब्द पृथ्वी की गोलाई का वाचक होते हुए भी यूरोपियन विद्वान् नही समझ सके। 'गेलेलियो' को अपनी जान से हाथ इसीलिये धोना पडा कि उसने जमीन को घूमने वाली गोल कहा था। भारत मे भी 'भू-गोल' शब्द होते हुए जमीन को गोल नही माना जाता था।

आर्यों की मूल भाषा

आर्यों की प्रारम्भिक भाषा वेद-भाषा थी, जिसका अपभ्रंश सस्कृत भाषा है और इसी सस्कृत भाषा से ब्राह्मी भाषा, हिन्दी भाषा तथा विश्व की सभी भाषाओ ने जन्म लिया। भाषाओ के विश्लेषण से देखा जाता है कि जिस भाषा मे अधिक और क्लिष्ट उच्चारण होते हैं, उससे जब कोई भाषा पृथक् होकर नवीन रूप धारण करती है, तब उसके दो रूप होते हैं—एक रूप विद्वानो की भाषा का जो उसके समस्त उच्चारणो को स्वीकार करते हैं और ध्वनियो मे न्यूनता नही आने देते। इसके विपरीत दूसरी भाषा जनसाधारण की होती है जो उसके क्लिष्ट उच्चारणो को छोड देते हैं, क्योकि वह उनसे शुद्ध रूप मे नही हो पाते। अत उनकी भाषा मे ध्वनिया सकुचित होकर न्यून हो जाती हैं। इससे यही सिद्ध हुआ कि विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारण ही मौलिक हैं और सकुचित तथा सरल उच्चारण अपभ्रंश हैं। साथ ही जिन भाषाओ मे अधिक क्लिष्ट ध्वनिया हैं, वह विद्वानो की हैं, प्राचीन हैं और मौलिक हैं। इसके विपरीत जिन भाषाओ की ध्वनिया कम और सरल हैं, वे जनसाधारण की और नवीन अपभ्रंश भाषाएं हैं। इस दृष्टि से वैदिक आर्यों की वेद-भाषा, विस्तृत, विज्ञान-पूर्ण और क्लिष्ट है। अत वही प्राचीन भाषा है और विद्वानो की भाषा है। सस्कृत जन-साधारण की भाषा थी। प्रमाणस्वरूप वेद-भाषा का व्याकरण सस्कृत-भाषा से भिन्न है। सस्कृत मे अकारान्त पुल्लिग द्विवचन मे '**औ**' होता है, जैसे **रामौ**, किन्तु वेद मे **आ** है। यदि सस्कृत और वेद-भाषा एक ही होती, तब सस्कृत के व्याकरणानुसार वेद मे 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के स्थान मे 'द्वौ सुपर्णौ सयुजौ

सखायो' होता । इसके अतिरिक्त वेद मे एक लकार अधिक है, जिसे 'लेट-लकार' कहते हैं, वह सस्कृत-भाषा मे नही । साथ ही वेद भाषा मे 'ळ' अक्षर भी अधिक है तथा वेद भाषा अपना अर्थ स्वरो मे पुष्ट करती है, यह कौशल ससार की किसी भाषा मे नही । साथ ही वेदो के बहुत से शब्द जिस अर्थ मे आते हैं, वह सस्कृत मे उस अर्थ मे नही आते । उदाहरणार्थ—

वेद-शब्द	**वैदिक अर्थ**	**सस्कृत अर्थ**
अहि	मेघ	सर्प
अद्रि	,,	पहाड
गिरि	,,	,,
पर्वत	,,	,,
अश्मा	,,	पाषाण
ग्रावा	,,	,,
घृताची	रात्रि	वेश्या
वराह	मेघ	शूकर
धारा	वाणी	जलप्रवाह
विप्र	बुद्धिमान	ब्राह्मण
गोतम	चन्द्रमा	ऋषि
अहिल्या	रात्रि	ऋषि-पत्नि
इन्द्र	सूर्य	एक राजा
जमदग्नि	आख	एक ऋषि
	अपभ्रष्ट शब्द	
स्याल	साला	श्याल
सूर्प	सूप	शूर्प
सूकर	सुवर	शूकर
वेस	वाना	वेश
कोस	खजाना	कोष
वसिष्ठ	उत्तम, स्वर्ग	वशिष्ठ

वेद-भाषा मे ऐसे शब्द भी हैं, जिन्हे देखकर ऐसा आभास होने लगता है कि वह अन्य भाषाओ से लिये हैं । ऐसे शब्द ऋग्वेद १०।१०६। ६ मे **जर्फरी** और **तुर्भरी** हैं । यह शब्द अरबी और फारसी के ज्ञात होते हैं और अथर्ववेद १९।३४।३ मे आया **जगिड** तथा ४।१६।२ में आया **वञ्च** शब्द क्रमश मद्रास प्रान्त का और दूसरा चीनाई साचे का सा शब्द है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रारम्भिक वैदिक भाषा मे ऐसे शब्द भी थे जो सेमेटिक आदि से अधिक मिल जाएँ । ऐसे शब्द बाहुल्यो ने ही भाषा-भेद भी कर दिया । परन्तु उस काल की भाषा आगे उतनी ही रह गयी है जितनी वेद मे है । उस समय के व्यावहारिक शब्द लुप्तप्राय हैं । उनमे से अधिकाश दूसरी भाषाओ

मे चले गये हैं । सस्कृत भाषा मे भी वेद-भाषा की भाँति जर्फरी-तुर्भरी आदि शब्द नही हैं । परन्तु फिर भी यदि कोई भाषा वेद-भाषा से मिलती है तो वह सस्कृत है ।

सस्कृत-भाषा—पिछले वर्णन से स्पष्ट हो चुका है कि आर्यों की दूसरी भाषा सस्कृत है । इसे वेद-भाषा नही कहा जा सकता, अपितु वेद-भाषा का अपभ्र श माना जाता है । प्रारम्भिक 'वेद-भाषा' उन ऋषियो की थी, जो वेद-पाठी थे और वेद के मंत्रो का शुद्ध उच्चारण करते थे । सस्कृत भाषा तव उन जनसाधारण आर्यों की थी जिन्होने वेद-भाषा के क्लिष्ट उच्चारणो को किंचित सरल कर लिया था । पश्चात् भारतीय वाडमय की लिपि के लिये यही भाषा स्वीकार करली गयी । परन्तु सस्कृत भाषा को भी इस स्थायित्व को प्राप्त करने मे सैकडो वर्ष लगे और इस अवधि मे उसे विभिन्न रूप बदलने पडे । इसी सस्कृत भाषा से कालान्तर मे ब्राह्मी भाषा उत्पन्न हुई जिसमे बौद्ध साहित्य का सृजन हुआ ।

अस्तु, पूर्वकालीन वेद-भाषा को सरल बनाने के लिये अर्थात् सस्कृत भाषा को जन्म देने के लिये, जब कुछ विद्वान् प्रयत्न कर रहे थे, उस समय देशाटन और देश-काल की अन्य परिस्थितियो के कारण, वेद-भाषा की कई शाखा-भाषाएँ बन गयी थी, जो अपभ्र श रूप मे चार बडे-विभागो मे बँट चुकी थी—प्रथम वह शाखा जिससे तूरानी भाषाओ की उत्पत्ति हुई । द्वितीय वह शाखा, जिससे सेमेटिक भाषाओ ने जन्म लिया, तृतीय सस्कृत भाषा और उसकी शाखा-उपशाखाएँ और चतुर्थ वह भाषा जो स्पेरेंटो या कोडवर्ड्स की भाँति राज्य-कार्यो मे प्रयुक्त होती थी । वेद-भाषा की इन्ही चार भाषाओ से ससार की समस्त-भाषाओ की उत्पत्ति हुई है । ईरान की जेंद भाषा भी सस्कृत भाषा की ही अपभ्र श भाषा है । जेन्द ही नही, सस्कृत के शब्द सभी भाषाओ में भरे पडे हैं । यह एक ओर तो आर्यों की भाषा की प्राचीनता सिद्ध करते हैं, दूसरी ओर आदिम की उत्पत्ति और ज्ञान के प्रमुख स्रोत का सकेत भी भारत की ओर ही करते हैं । उदाहरणार्थ सस्कृत भाषा का 'अग्नि' शब्द लैटिन मे 'इग्निस' (Ignis) हुआ । **द्यौ** शब्द ग्रीक मे 'ज्योस' (Zews), यही इटली मे 'जुपिटर' और ट्यूटानिक मे 'त्यू' (Tuis) हो गया । इसी प्रकार सस्कृत का **उषस्** शब्द ग्रीक मे 'इअस' (Eos) **नक्त** का 'निक्स' (Nyx) और **सूर्य** का 'हिलिअस' हो गया । **भग** शब्द ईरान मे 'वग' और स्लाविक मे 'बोगू' (Bogu) हुआ । **वरुण** का ग्रीक मे 'यूरेनिस' वात का 'वोटन' वाक का 'वाक्स' और **मरुत** का 'मर्सि' हो गया । सस्कृत भाषा का शब्द **अयस** (लोहा) लैटिन मे 'एस' (Aes), गाथिक मे 'एरिस' प्राचीन जर्मनी मे 'एर' (Er), वर्तमान जर्मनी मे 'राजन' और अग्रेजी मे 'आयरन' (Iron) हो गया । **पर्जन्य** को लैटिन मे 'पर्कुनस', एशिया मे 'पर्क्यूनास', स्लाविक मे 'पेरुत', पोलिश मे 'पायोरन' और वोहिमिया मे 'पिरान' कर दिया गया । इसी प्रकार सस्कृत का **आर्जर** शब्द जो **अज=गति** धातु से बना है, फ्रेंच और अग्रेजी मे 'अजिल' (Agile) और लैटिन मे 'अजिलिस' (Agilis) हो गया है । **ईरा** ग्रीक मे 'एरा', लैटिन मे 'तेरा' अग्रेजी मे 'अर्थ' हो गया । यूनानी भाषा मे सस्कृत मे **श** का ही **क** हो गया ।

आर्यों की दृष्टि से मनुष्य का उत्पत्ति काल—आर्य लोग मनुष्य की उत्पत्ति का निश्चय 'विकासवाद' के सिद्धान्त से न करके, अपनी सम्वत् गणना के काल से करते हैं। यह सम्वत् ही वेबीलोनिया, ईरान आदि प्राचीन राज्यो मे भी पाया जाता है। इस सवत् का साराश निम्न प्रकार है—"द्वितीयपरार्द्धे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशति कलौ युगे ५०३० गताब्दे।" अर्थात् यह वैवस्वत मनु का अट्ठाइसवाँ काल है जिसके ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प अथवा सृष्टि-समय कहते है। यह कल्प १४ मन्वन्तरो अथवा एक सहस्र चतुर्युगियो का होता है। अब तक छै मन्वन्तर बीत चुके है। एक मन्वन्तर लगभग ७१ चतुर्युगियो का होता है। वैवस्वत मनु की २७ चतुर्युगी बीत चुकी हैं। अट्ठाइसवी मे भी (कृत, त्रेता और द्वापर) तीन युग बीत चुके है। चौथे कलि के भी ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। गणित के हिसाब से सृष्टि की उत्पत्ति को अब तक १९७२९४००३० वर्ष बीत चुके है।

ईरानियो के विश्वासानुसार ससार की स्थिति का समस्त काल १२ हजार वर्ष* है। भारतीय वाङमय मे एक चतुर्युगी देवताओ के १२ हजार वर्षो की होती है। **तैत्तिरीय** ब्राह्मण ३।९।२२ मे लिखा है—"एक वा एतद्देवानामह यत्सवत्सर" अर्थात् जो सवत्सर है, वह देवताओ का एक दिन है। ईरानियो के यहाँ भी यही लिखा है—"तएच अयर मइन्यएन्ते यतयरे' अर्थात् जो देवताओ का दिन है, वह हमारा एक वर्ष है। इस जन्द भाषा के वाक्य का सस्कृत वाक्य 'ते च अहर मन्यन्ते यद्वर्षम्' बनता है। अत देवो का एक वर्ष वैदिक १६० वर्षो के बराबर है और १२ हजार देव वर्ष भारतीय ४३२०००० वर्षो के बराबर होते हैं। यह सख्या एक महायुग अर्थात् एक चौकडी युग की है। इसी पर तीन बिन्दु और रखने से एक सृष्टि-काल हो जाता है। इस तरह ईरानियो के १२ हजार देववर्षो पर भी तीन बिन्दु रखने से सृष्टि-समय निकलता है।

श्री शाम शास्त्री ने 'सप्ताह की मौलिकता' (Origin Of the Week) शीर्षक से वेबीलोन वालो मे भी यही गणना सिद्ध की है कि "हमारे सूर्य सिद्धान्त मे जिस प्रकार दश स्वर का एक श्वास, छ श्वास की एक विनाडी, साठ विनाडी की एक नाडी और साठ नाडी का एक दिन लिखा है, उसी प्रकार वेबीलोन के लोगो मे **सास, सर** और **नेर** की गिनती है। यह क्रमश श्वास, स्वर और नाडी का बिगडा हुआ रूप है। **राबर्ट ब्राउन** का कथन है कि 'वेबीलोनियनो का विश्वास है कि उनके दस राजाओ ने १२० सर राज्य किया। बेरोसस (Berosos) के मतानुसार एक सास ६० वर्ष का, एक नेर ६०० वर्ष की और एक सर ३६००० वर्ष का होता है। इन ३६००० वर्षो को १२० से गुणा करने पर, ४३२०००० वर्ष होते हैं, यह कलियुग की वर्ष सख्या है।

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२२-२५ मे युगो का समय अत्यन्त अलौकिक ढग से निकाला गया है। वहाँ '**अग्निचयन**' प्रकरण मे लिखा है—"ऋग्वेद के अक्षरो से

---

* The Age of the Earth, P 3)

प्रजापति ने १२००० वृहती छन्द (प्रत्येक ३६० अक्षर का) बनाये। अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर ४३२०००० हुए। इसी प्रकार यजुर्वेद के ८००० और सामवेद के ८००० मिलकर १२००० के भी वही ४३२००० हुए। इनके जब पंक्ति छन्द (४० अक्षर का) बनाते हैं, तब १०८०० छन्द होते हैं। उतने ही यजुर्वेद और साम के होते हैं। एक वर्ष ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त होने से वर्ष के १०८०० मुहूर्त हुए। यहाँ मुहूर्त से लेकर वर्ष, युग और चतुर्युगी आदि की सभी सख्याए बतला दी गयी हैं।

अथर्ववेद मे १०।७।६ मे लिखा है भूत, भविष्यमय कालरूपी घर, एक सहस्र खम्भो पर खडा किया गया है। इन खम्भो के अलकार से एक कल्प मे होने वाली एक सहस्र चतुर्युगियो का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद मे एक कल्प के वर्षों की सख्या इस प्रकार बतलाई गयी है कि सौ अयुत वर्षों के आगे दो-तीन और चार की सख्या लिखने से कल्पकाल निकल आयेगा। अयुत दस हजार का होता है। इसलिए सौ अयुत दश लक्ष हुए। दस लक्ष के सात शून्य लिखकर उनके पहिले दो-तीन चार लिखने से ४३२०००००० वर्ष होते हैं। यह सख्या भारतीय वाडमय और अन्य धर्मावलम्बियो के अनुसार फिट बैठती है।

ऋग्वेद का काल—ऋग्वेद के काल का निर्धारण हम दो प्रकार से कर सकते हैं। एक, भारतीय वाडमय-रामायण और महाभारत आदि द्वारा। दो, मध्य एशिया और पश्चिमी एशिया के उत्खननो मे मिले राजाओ के वह नाम, जिनके नामो के शब्द ऋग्वेद मे आये हैं। महाभारत काल ४॥ हजार वर्ष और रामायण काल ६ हजार वर्ष के आसपास बैठता है तथा बोगज कुई से मिले बेबीलोन राजाओ के नामो का काल ई०पू०१७५० अर्थात् ३७५० वर्ष के लगभग बैठता है। यह काल प्रमाणो से महाभारत के बाद का है। अत ऋग्वेद की रचना और उसके छन्दो मे आये देवताओ के नाम तथा देवताओ के नामो के नाम पर, अपने नाम रखने की भारतीयो की कल्पना और उसके विकास के तुलनात्मक आकडो से ऋग्वेद का काल १० हजार वर्ष ई०पू० से बाद का नही बैठ सकता। दूसरा प्रमाण भारत की दाक्षिणात्य जातिया हैं, उस समय वे भारत से अफ्रीका—मिस्र आदि गई थी, जिस समय ऋग्वेद के मन्त्रो की कल्पनाए प्रारम्भ हो गई थी, अथवा आर्य लोगो ने अपने देवताओ की शृखला तैयार करके कर्मकाण्डीय जीवन-यापन शुरू कर दिया था और जो उनके नियमो के अनुसार नही चलता था, उसे जाति-च्युत् करने लगे थे, यह समय ई० पू० १८-१९ हजार वर्ष के आसपास बैठता है, और उनके लौटने का समय वह है, जब ऋग्वेद तैयार हो चुका था—यह समय ठीक ई० पू० १० हजार वर्ष बैठता है।

भारतवर्ष का नामकरण—हमारे देश भारतवर्ष का यह नाम भी अति प्राचीन नाम नही है। हजारो वर्षों के पश्चात् उसे यह नाम मिला है। इस नाम के लिये भी विविध कल्पनाएँ हैं।

वस्तुत 'भारतवर्ष' का अर्थ है—भा—ज्ञान+रत प्रेमी वर्ष (देश) अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने मे प्रेम रखने वाला देश। इस देश का नाम हजारो वर्षो तक आर्य-

र्त्त और 'ब्रह्मावर्त' रहा। उसके पश्चात भारतवर्ष और भारतवर्ष के वाद 'हिन्दुस्तान' नाम पडा। प्राय सभी पुराण भारतवर्ष नाम पडने का एक ही कारण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ लिंगपुराण (अध्याय ४७), शिवपुराण (ज्ञानसहिता ४७ वाँ अध्याय) और विष्णुपुराण (७४ वा अध्याय) मे लिखा है—"राजा प्रियव्रत के वडे पुत्र आग्नीध ने जम्बू द्वीप के ६ खण्डो को अपने ६ पुत्रो मे विभक्त कर दिया, जिनमे हेय नामक दक्षिण का 'वर्ष' अर्थात् दक्षिणी खण्ड, जो हिमालय युक्त है, आग्नीध के वडे पुत्र 'नाभि' को मिला। नाभि का पुत्र ऋषभ और ऋषभ के १०० पुत्र हुए। राजा ऋषभ अपने वडे पुत्र भरत को राजतिलक कर परमधाम को गये। यह हिमालय के दक्षिण का देश भरत के अधिकार मे हुआ, इसलिए इस देश का नाम भारतवर्ष पडा।

श्रीमद्भागवत—५ वा स्कन्ध-दूसरे अध्याय से ७ वे अध्याय तक और गरुड-पुराण ५४ वां अध्याय में लिखा है—राजा प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध जम्बू द्वीप का राजा हुआ जिसके ६ पुत्र थे—नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। अपने-अपने नाम से जम्बू द्वीप के ६ खण्ड करके राज्य भोगने लगे। नाभि के पुत्र राजा ऋषभदेव के १०० पुत्र हुए जिसमे भरत सवसे वडा था। उसी के नाम से इस खण्ड को भारतवर्ष कहते हैं। इस 'वर्ष' (देश-भाग) का नाम पहिले 'अजनाभ' था, परन्तु जव से भरत राजा हुए तवसे इसका नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।

आर्यों और अनार्यों के बीच का भेद जातीय भेद नही, वल्कि सास्कृतिक भेद था*। कहा जाता है कि गौर वर्ण वाले और उभरी हुई नासिका वाले आर्यों के प्रतिकूल दस्युओ का वर्ण इस रूप मे आता है कि वे काली त्वचा वाले और विना नासिका वाले (अनस्) है। परन्तु इनमें श्याम और श्वेत का जो भेद है, वह निश्चय ही 'आर्य देवो' और दास शक्तियो के लिये 'प्रकाश' और 'अन्धकार' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और अनस शब्द का अर्थ विना नाक वाला नही' है। सूक्तो की भाषा स्पष्टतया सकेत करती है कि एक विशेष प्रकार की पूजा या आध्यात्मिक सस्कृति ही आर्यो का भेदक चिन्ह थी। प्रकाश और उसकी शक्तियो की पूजा तथा एक आत्मनियत्रण था जो 'सत्य' की सस्कृति और अमरता की अभीप्सा ऋतनम् और अमृतम् पर आश्रित था। किसी भी जातिय-भेद का वेद में कही वर्णन नही मिलता।

ब्रह्मवैवर्त्त (कृष्ण जन्म खण्ड-५६ वाँ अध्याय), विष्णु पुराण (दूसरा अश तीसरा अध्याय) और वृहन्नारदीय पुराण (तीसरा अध्याय) में लिखा है—"क्षार समुद्र से उत्तर और हिमालय पर्वत से दक्षिण भारतवर्ष है। इसके अतिरिक्त अग्निपुराण (११६ वा अध्याय) मे लिखा है—समुद्र से उत्तर और हिमवान पर्वत से दक्षिण ६ सहस्र कोस विस्तार का भारतवर्ष है। स्वर्ग और मोक्ष पद के प्राप्त करने वाले मनुष्यो के लिये यह कर्म-भूमि है।

---

*श्री अरविन्द 'वेद रहस्य' पृष्ठ ३३।

आर्यवर्त आदि नाम—वैदिक वाडमय मे भारतवर्ष के आर्यवर्त आदि नाम ही अधिक आते हैं। यथा मनुस्मृति (द्वितीय अध्याय) मे लिखा है—"पूर्व के समुद्र से पश्चिम के समुद्र तक नर्वदा नदी और हिमवान पर्वत के बीच के देश को आर्यवर्त कहते हैं। सरस्वती और दृषद्वती—इन दोनो नदियो के अन्तर्वर्ती देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं। इस देश मे चारो वर्णों के बीच जो आचार परम्परा क्रम से चले आते हैं, उसे 'सदाचार' कहते हैं। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाचाल और सूरसेन (मथरा) देशो को 'ब्रह्मर्षि-देश' कहते हैं। इन देशो मे उत्पन्न हुए ब्राह्मणो के समीप, पृथ्वी के सब लोगो को अपना-अपना आचार-व्यवहार सीखना चाहिये। इसके पश्चात् लिखा है—प्रयाग के पश्चिम मे जो भूमि है, उसे 'मध्यदेश' कहते है।

वशिष्ठ स्मृति (प्रथम अध्याय) में लिखा है—" हिमालय के दक्षिण और विध्य पर्वत के उत्तर मे जो धर्म वा आचार है, वह जानने योग्य है, इस देश को आर्यवर्त कहते हैं।" भविष्यपुराण (छठा अध्याय) मे लिखा है—"सरस्वती दृषद्वती और गगा—इन तीन नदियो के बीच जो देश है, वह देवताओ का बनाया हुआ है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं। हिमालय और विध्य—इन दोनो पर्वतो के मध्य मे कुरुक्षेत्र से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम जो देश है, उसे 'मध्यदेश' कहते है। हिमालय और विध्य पर्वतो के बीच मे पूर्व के समुद्र से, पश्चिम के समुद्र तक जो देश है, उसे 'आर्यवर्त' कहते है।

नामो के अतिरिक्त पुराणो मे भोगोलिक अश भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ गरुडपुराण (पूर्वार्द्ध, ५५ वा अध्याय) मे लिखा है—"भारतवर्ष मे ९ द्वीप हैं—इन्द्र द्वीप, कशेरू, ताम्रवर्ण गभस्तिमान्, नाग, कटाह, सिहल, सौम्य और वारुण। भारत मे पूर्व किरात, पश्चिम यवन, दक्षिण अन्ध्र और उत्तर तुरुष्क वसते है।" वामनपुराण (१३ वां अध्याय) मे लिखा है—"भरत खण्ड मे भी ९ खण्ड हो रहे हैं और समुद्र करके अवतरित हुए नवो खण्ड आपस मे अगम्य हैं। यथा—इन्द्र द्वीप, करूरू, ताम्रवर्ण, गमास्तिमान् नागद्वीप, कराह, सिहल, वारुण और कुमाराख्य। दक्षिण उत्तर के मध्य कुमाराख्य खण्ड है। पूर्व मे किरात, पश्चिम में यवन, दक्षिण मे अध्र और उत्तर मे तुरुष्क स्थित हैं।

वश परम्परा का प्रारम्भ—भारतीय वाडमय से ज्ञात होता है कि आर्यों की प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था ने कुछ समय उपरान्त 'वश-परम्परा' का रूप धारण किया। यह वश ऋषियो के नाम पर थे। इन वर्शो ने कालान्तर मे जातियो का रूप भी धारण कर लिया। पश्चात् यह जातियाँ पेशो के अनुसार शाखा-उपशाखाओ मे विकसित होती गई। इसी वश-परम्परा के अध्ययन से हमें दाक्षणात्य जातियो और वशो का भी परिचय मिलता है, क्योकि रामायण काल तक हजारो वश जातियो मे विभक्त हो चुके थे। दक्षिण भारत मे ऐसी जातियो की बहुतायत थी।

रामायण और महाभारत कालीन जातियो की उत्पत्ति इन्ही वशो से हुई और उसी काल मे इन जातियो के महापुरुषो ने विश्व मे यत्र-तत्र अपने राज्य स्थापित किये। इसे हम भारत का प्रथम सास्कृतिक अभियान कह सकते हैं। उदाहरणार्थ—

मारीची-कश्यप और दिति से **दैत्य-वश** चला, अदिति से **आदित्य वश,** दनु से **दानव-वश** । इस प्रकार उस काल मे ३ वशो की उत्पत्ति हुई ।

इन वशो के सस्थापक वह ऋषि थे, जिन्हे मनुर्भरतो के अन्तिम प्रजापति प्रचेता-पुत्र दक्ष ने साठ कन्याओ का दान किया था । इनमे तेरह कन्याए कश्यप को, दस यम को, सत्ताईस चन्द्र को, चार अरिष्टनेमि को, दो भृगु पुत्र को, दो कृशाश्व को और दो अगिरा को मिली थी ।

दैत्य-दानव-वश—दिति-कश्यप की सन्तान 'दैत्य' कहलाई और सर्वश्रेष्ठ मानी गई । सागर तट के आस-पास इनका विस्तार हुआ तथा आदित्यो से इनका राज्य सम्बन्धी झगडा चलता रहा । दैत्यो की सभ्यताओ को ही पुरातत्ववेत्ता 'हीलिपोलिथिक' सभ्यता कहते हैं । इसी की एक शाखा अमेरिका मे 'मय' सभ्यता के नाम से प्रसिद्ध हुई । दूसरी मिस्र मे, तीसरी मेसोपोटामिया मे और चौथी वेबीलोन मे असुर नाम से विकसित हुई ।

दानव-वश—कश्यप की तृतीय पत्नी 'दनु' थी । उसी की सन्तान से दानव-वश की उत्पत्ति हुई । इस वश के प्रमुख व्यक्ति थे—शवर, शकर, एकचक्र, महावाहु ताटक, वृषपर्वा, विप्रचित्ति आदि हुए पुत्र तथा पुलोमा और कलिका नाम की दो कन्याएँ हुई । वृषपर्वा की कन्या **शर्मिष्ठा** थी । चन्द्रवशी ययाति से इसका विवाह हुआ था जिससे चन्द्रवश के प्रमुख पुरुष पुरू का जन्म हुआ ।

कश्यप की पुत्रियो, कालिका और पुलोमा से भी दो वश—**कालिकेय** और **पौलोम** चले । दिति (दानव) की पुत्री सिंहिया का विवाह विप्रचित्ति नामक दानव से हुआ । उसके वश मे शाल्येना, वातापि, नमुचित, इल्वल, नरक, कालनाम तथा चक्र-योधि राहु आदि तेरह वीर हुए । ये सब 'सिंहिक्रिय' कहलाये ।

दैत्यो मे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष[१] अत्यन्त प्रसिद्ध हुए । हिरण्यकशिपु ने, हिरण्यपुरी (स्वर्णनगरी) नामक नगरी बसाकर अपनी राजधानी बनाई । उसने सर्व-प्रथम सोने की खान का या सोने का पता लगाया । उसकी नगरी **काश्यप** सागर के तट पर थी और उसके भाई हिरण्याक्ष का राज्य वेबीलोन मे था । हिरण्यकशिपु का राज्य ईरान और अफगानिस्तान तक था । हिण्यकशिपु वैदिक कर्मकाण्ड का विरोधी था और इसका पुत्र प्रह्लाद पक्षपाती था । इसी से पिता पुत्र मे विवाद हुआ और अन्त मे हिरण्यकशिपु नृसिंह द्वारा मारा गया , प्रल्हाद और उसके पुत्र विरोचन ने दैत्य राज्य का विस्तार नही किया । परन्तु विरोचन का पुत्र वलि अत्यत दानी और वीर हुआ । इसका पुत्र **बाण** भी प्रसिद्ध वीर था उसकी उपाधि **महातेज** थी ।

नाग-वश—मारीचि कश्यप की चौथी स्त्री कद्रू थी । उसकी सन्तान से २६ नाग कुल चले । इस कुल मे शेष, वासुकी, कर्कोटक, तक्षक आदि जन्मे । सम्भवत तुर्किस्तान नागलोक था । तुर्क नागवशीय है । तुर्कों की उपजाति 'सेस' वासक आदि

---

१ **वेद मे हिरण्य शब्द सोने के लिए आया है ।**

—लेखक

'शेष' और 'वासुकि' के नाम पर है। विष्णु-पुराण मे इन्हे सुरसाके पुत्र वताया गया है। शेषनाग का एलाम मे भी आधिपत्य था।

आदित्य—मारीचि कश्यप की दूसरी पत्नी अदिति से वारह पुत्र हुए और आदित्य-वश चला जो देव-कुल के नाम से भी विख्यात हुआ।

गरुडवश—कश्यप की पाँचवी पत्नी वनिता से छै पुत्र हुए और यह गरुड वशो के सस्थापक हुए। रामायण और महाभारत मे गरुडो और नागो के सकेत हैं। नागो ने गरुडो को जीतकर अपना दास वना लिया था।

भृगु-वश—भृगु वरुण के पुत्र थे। हिरण्यकशिपु दैत्य राज्य की पुत्री दिव्या इनकी प्रथम पत्नी थी और पुलोमा दानव कुल की पुत्री द्वितीय पत्नी पोलोमी थी। इस पुलोमा की एक लडकी इन्द्र को व्याही थी। दोनो पत्नियो से शुक्र-उशना, च्यवन-वसन (स्त्री सुकन्या) का जन्म हुआ और पश्चात् इसी कुल मे 'आप्नवान', दधिचि', 'सारस्वत' ऋचीक', जमदग्नि', तथा परशुराम आदि जन्मे। पुराणो मे भृगु को ब्रह्मा का माना हुआ पुत्र कहा गया है। एशियामाईनर के टेबुललैण्ड को जो वहुत ऊँचाई पर है—भृगु कहते हैं। यही भृगु का स्थान था। इसे ही देव-प्रदेश (स्वर्गलोक) कहते थे। एशिया के मानचित्र के अनुसार यह स्थान हिमालय बैठता है। दिव्या को किसी कारण-वश विष्णु ने मरवा दिया था, इस पर भृगु ने विष्णु को एक लात मारी थी। इसी दिव्या से शुक्र का जन्म हुआ था। इन्द्र ने अपनी पुत्री जयन्ती का भी शुक्र से विवाह किया था।

शुक्र-उशना-काव्य—भृगु पुत्र शुक्र दैत्य-दानव याजक थे। इनका नाम काव्य भी था उशना भी था। यह बडे नीति शास्त्री थे। इन्होने 'ओर्शनस अर्थशास्त्र' रचा। यही विश्व का प्रथम राजनीतिक ग्रन्थ था।[१] यही अर्थशास्त्र द्रोण, भारद्वाज, कौण-पत्त्व आदि अर्थशास्त्रो का भी मूलाधार था। शुक्र की नीति और बुद्धि-वल से दैत्य और दानवो के राज्य बढते गये तथा उन्ही की विजय होती गयी। व्यास ने 'महाभारत' मे भी शुक्र अर्थशास्त्र के उद्धरण दिये हे। इन्होंने एक धनुर्वेद भी रचा था। इन्द्र के दामाद बनने पर भी शुक्र ने दैत्य-दानवो का पुरोहित पद नही छोडा। वाद मे जब वलि ने उनका कहना नही माना, तव वे अरब चले गये।[२] वहाँ उनके पौत्र और्व रहते थे। देवो ने वलि को हराकर उसका राज्य छीन लिया और उसे नाग लोक मे भेज दिया।

अरब मे शुक्र दस वर्ष रहे। यहाँ का मन्दिर कावा—काव्य शुक्र का ही मन्दिर है। कावा, काव्य का अपभ्र श हैं। यही कारण है कि शुक्र का अर्थ जुम्मा (बडा) किया जाता है। शुक्र को पवित्र दिन माना जाता है। शुक्र ने वहाँ महि देवो की स्थापना की और युद्धो का अन्त किया। इसीसे उन्हे जुम्मा-आरूबा की उपाधि दी

---

१ इस अर्थशास्त्र का उल्लेख चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र मे किया है।

२. मत्स्य पुराण।

गयी। मुहम्मदसाहब के समय तक अरब मे इन्ही 'भृगु' ब्राह्मणो का बाहुल्य था और पौरोहित्य भी था। रसूल ने जब मक्के पर आक्रमण किया था, तब वहाँ बृहस्पति (Jupiter), मगल (Mars), अश्विनीकुमार (Yankor Hors), गरुड (Nasr-Fcijle), नृसिह की मूर्तिया वहाँ मौजूद थी। इन्ही मे एक वलि की मूर्ति भी थी, जिसका एक बाहु स्वर्ण का बना हुआ था, जो उसके धनी होने का प्रतीक था। इसका नाम (Holul) था। इसके सम्बन्ध मे कहा गया है कि वह प्रथम Syria के Belks स्थान पर थी। यह मूर्ति अब्राहम और इस्माईल की मूर्ति के बराबर रखी थी। मुहम्मद ने इन सब को तोडकर फेंक दिया[१]।

अगिरा वश—वरुण के दूसरे पुत्र अगिरा के पुत्र वृहस्पति थे। यह देवो के पुरोहित बन गये। इस समय देवो का राजा इन्द्र था। अत इन्द्र को पुरोहित और मत्री रूप मे सहायता करना वृहस्पति का कर्तव्य था। परिणाम यह हुआ कि देव-लोक मे भृगु वश के स्थान पर वृहस्पति-वश को प्रतिष्ठा मिलने लगी और वही वश प्रधान हो गया।

अग्नि-पूजन—कालान्तर मे भृगु पुत्रो के दोनो वश पृथक् हो गये। उनकी आचार सहिता मे भी परिवर्तन आ गया। परन्तु अग्नि-पूजन की आस्था दोनो मे बराबर रही। सभवत इसीलिये **भृगु** को मनुष्यो मे अग्नि धारण करने वाला बताया जाता है[२]।

अत्रि वश—चन्द्रवंश के आदि पुरुष अत्रि प्रजापति थे। यह भृगु के पुत्र शुक्र के पुत्र थे। इनका क्षेत्र आत्रेय देश था[३]। जिसे अजरबेजान के निकट अपवर्त मे आत्रिक (Atrek)नदी के तट पर **अत्रिपत्तान** (Atropatene) माना है। इसी स्थान को ईरानियो का स्वर्ग कहा गया है। यहाँ रात दिन प्रकाश रहता था। ईरान का यह तपूरिया प्रान्त था। इसे पुराणो मे तपोभूमि कहा गया है।

वसु—वसु के आठ पुत्र हुए। यह वसु कहलाये। अग्नि को वसुओ की कोटि मे माना गया है, किन्तु देवो से वह पृथक् थे। इसी से उनके परिवार मिस्र, यूनान आदि देशो मे रहे। इनका अग्नि वश चला जो इतिहास मे आस्ट्रिक वश है।

रुद्र—वसुओ मे ज्येष्ठ धर थे। धर के पुत्र रुद्र हुए। इनके ग्यारह कुल चले। रुद्र के चार स्थान प्रमुख हैं। प्रथम मुजवान पर्वत, द्वितीय भद्रवट, कैलाश से पूर्व, तीसरा हिमाँचल, चौथा पर्शिया मे है। वहा 'शकरा' नामक एक जाति अब भी निवास करती है। शिव-पूजन जातियाँ विभिन्न देशो मे बसी हुई थी। भूमध्यसागर के तट पर त्रिपुरी बसी हुई थी। इसी स्थान पर **त्रिपोली** नगर है, जो मिस्र के उत्तर पश्चिम मे प्रमुख नगर है। त्रिपोली प्रदेश का एक भाग सिरटियन सागर मे जलमग्न है।

---

१ Mohammad and the black stone

२ ऋग्वेद १।१।४।११।५८।६, मत्स्यपुराण अ० ११३।४२,४३।

३ मत्स्य पुराण अ० ११८। श्लोक ६१,७६।

यम-वश—यम ने प्राचेतस कुल की दस कन्याओ से विवाह किया । इनकी एक पत्नी सांध्या से साध्य जाति के पूर्वज जन्मे जो इतिहास मे सीथियन नाम से प्रसिद्ध हुए । शेष पत्नियो से जो सन्ताने हुयी, वह सूर्य उपासक—हूण, मगोल× आदि जातिया थी । सूर्य को यह God of all Nations मानते थे ।

आर्येत्तर जातियो का विकास

हम पीछे यह सिद्ध कर चूके है, कि भारत मे इस छोर से उस छोर तक रहने वाली समस्त जातियां आर्य ही हैं । प्राचीन काल मे इन्हे 'वेद-भ्रष्ट' कहकर समाज से निकाला गया अवश्य, किन्तु इनके रीति-रिवाज, रहन-सहन और आचार-व्यवहार, वेश-भूषा तथा भाषा वही रहे और वंदिक आर्यो का इनके यहां आना-जाना भी जारी रहा । इन्ही मे वह लोग भी थे, जो स्वेच्छा से इनके पास जाकर रहे । यही कारण है कि अनेको ऋषियो के दर्शन हमे दक्षिण भारत मे होते हैं । और महाभारत काल के पश्चात् भारतीय सस्कृति का सिरमौर हम दक्षिण भारत को ही पाते है ।

हमारे दक्षिण भारत से ही पश्चिमी और पूर्वी एशिया में भारतीय सस्कृति का प्रसार-प्रचार हुआ । परन्तु उस काल मे वश परम्पराएं जातिगत रूप ले चुकी थी और उन जातियो के अपने-अपने व्यवसाय भी नियत हो चुके थे । हमारे कथन का समर्थन डा० स्टेनकोनो ने भी किया है । उन्होने अपनी पुस्तक इण्डो आर्यन हिन्दी (Indo Aryan and Hindi) मे लिखा है—"जो मुण्डा भाषा आज छोटा नागपुर, मद्रास के कुछ प्रान्तो और महादेव की पहाडियो आदि मे बोली जाती हैं, वह पहिले गगा की घाटियो और मैदानो तक बोली जाती थी ।* पश्चिमी बगाल की सन्थाली भाषा भी इसी भाषा से सम्बन्धित है । उत्तर मे **लेपिया** अथवा **रोग** भाषा, उत्तर पूर्व की बोडी या **कचारी** भाषा **गारो**, **दीमा सा अ ग** या त्रिपुरा भाषा **मईथी**, **लुशाई**, **आराकानी**, सभी भाषाएँ सस्कृत से निकली है ।" फादर स्मिट के अनुसार—"मुण्डा, खासी मोन-रुमेर तथा आवामी भाषाएं आग्नेय एशियाई परिवार की भाषाएं हैं । यह भाषा-भाषी एक बार भारत से बाहर निकल गए और पुन आ बसे ।"

राक्षस जाति का विकास—पुरातत्ववेत्ताओ का कथन है कि भारत मे सर्व-प्रथम **नीग्रो** जाति का अफ्रीका से आगमन प्रस्तर युग मे हुआ । इसी की एक शाखा आस्ट्रेलिया गई, जहां अब भी उसके वशज हैं । भारत से जाते हुए इस जाति की टुकडियां इण्डोनेशिया पोलोनेशिया मे भी बसी । मलाया, फिलिपाईन, न्यूगिनी और अण्डोमान मे इसी जाति के वशज हैं । इनके बाद, **आग्नेय**, उनके बाद द्राविड और द्राविडो के बाद आर्य भारत मे आये । इन सभी के आने पर भारत मे सस्कृति का समन्वय हुआ ।

× Literature and the Architecture Under the Moahals

* Indo Aryan and Hindi, P 31 Dr Sten Kono

हम भारतीयो का अफ्रीका मे और आस्ट्रेलिया मे बसना पहिले ही सिद्ध कर चुके है। अत अब हम **राक्षस** जाति की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते है। **आस्ट्रेलिया** का प्राचीन नाम **आन्ध्रालय** था और वहाँ भारतीय जाति के बसने का सकेत और वहाँ के राजा **तृणविन्दु** के यहाँ महर्षि पुलस्त्य के जाने का उल्लेख हम कर चुके है। अत इन्ही महर्षि पुलस्त्य को तृणविन्दु ने अपनी पुत्री व्याह दी और उससे विश्रवा का जन्म हुआ। विश्रवा से **वैश्रवण** का जन्म हुआ। युवा होने पर 'कुबेर' का पद देकर, इसे लोकपाल बना दिया गया तथा पुष्पक यान भेट कर दिया गया। कालान्तर मे यह पिता की आज्ञा लेकर त्रिचूर पर्वत पर बसी हुई लकापुरी को अपनी राजधानी बना कर वही रहने लगा। उस समय आस्ट्रेलिया और लका के बीच सागर आ चुका था और पूर्वी द्वीपसमूह छिछले सागर द्वारा पृथक् हो चुके थे।

उस समय यह नगरी सूनी पडी थी इसके निर्माता इसे छोड कर अफ्रीका चले गये थे। इस नगरी के चारो ओर दुर्ग था और उसके बाहर गहरी खाई थी। अस्त्र-शस्त्र भी वहाँ भरपूर थे। इस नगरी का निर्माण "दैत्यो" ने किया था। **हेति** और **प्रहेति** नामक दो दैत्य थे। हेति ने काल दैत्य की बहिन 'भया' से विवाह किया। उससे 'विद्युत्केश' उत्पन्न हुआ, जिसका विवाह सन्ध्या की पुत्री सालकटकटा से हुआ, उससे 'सुकेश' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विश्वावसु गन्धर्व ने उससे अपनी पुत्री देववर्ण व्याह दी। इसके माली, सुमाली और माल्यवान्—तीन प्रतापी पुत्र हुए। इन्ही तीनो भाइयो ने दक्षिणी समुद्र तट पर त्रिकूट सुवेल पर्वत पर तीस योजन चौडी और सौ योजन लम्बी 'लकापुरी' बसाई तथा उसे विविध भाँति सम्पन्न किया। इन तीनो भाइयो से नर्मदा नामक गन्धर्वा ने अपनी तीन पुत्रियाँ व्याह दी। इनमे गन्धर्व रानी से माल्यवान को ७ पुत्र और २ पुत्री, सुमाली को ११ पुत्र और ४ पुत्रियाँ तथा माली को ४ पुत्रो की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् **वलि** से देवो (आर्यों) का युद्ध हुआ। यह वलि के सहायक थे। युद्ध मे वलि बन्दी हुआ, माली रणभूमि मे मारा गया। सुमाली और माल्यवान भागकर पाताल लोक मे जा छिपे। लका उजड गई, जिसे कुबेर ने पुन बसाया।

कुबेर के आने के कुछ दिन बाद, सुमाली पुन लौटा। इस समय वह वृद्ध हो चुका था। उसके साथ उसके पुत्र प्रहस्त, अकम्पन तथा पुत्री कैकसी और माल्यवान् के पुत्र विरुपाक्ष तथा मारीचि थे। सुमाली के लिए कुबेर से लडकर लका छीनना कठिन था। अत उसने युक्ति से काम लिया और अपनी युवती पुत्री कैकसी का विवाह पुलस्त्य पुत्र **विश्रवा** से कर दिया। इस विवाह से दैत्यो का सम्बन्ध **प्रजापति** के वश से हो गया। अब तक रावण का वश राक्षस न होकर प्रजापति था। अस्तु, कैकसी के तीन पुत्र हुए—रावण, कुम्भकरण और विभीषण तथा पुत्री सूर्पनखा। रावण के युवा होने पर सुमाली की राजनीति ने बिना लडे ही रावण को लका का राज्य दिला दिया। कुबेर ने लका छोड दी और रावण ने "रक्षाम" अर्थात् रक्षक कहकर लका मे प्रवेश किया। अत. 'रक्ष' सस्कृति का सस्थापक रावण हुआ और कालान्तर मे

रक्ष' शब्द ही 'राक्षस' के रूप मे बदल गया । इसी वश के साथ पहिले दैत्यो का सम्बन्ध हुआ था । पश्चात् रावण ने अपनी बहन सूर्पनखा का विवाह दानव विद्युज्जिह्व से करके तथा दिति के पुत्र मय दानव की पुत्री मन्दोदरी से अपना विवाह करके और वैरोचन की पुत्री वज्रज्वाला से, कुम्भकर्ण का तथा गन्धर्वों के राजा सैलूप की कन्या 'सोमा' से विभीषण का विवाह कराकर, राक्षस, दैत्य, दानवो को एक शृखला मे बाँध लिया । इसके बाद इसी गुट मे असुर भी शामिल हो गए थे । दक्षिण मे इनसे भी शक्तिशाली राज्य थे । इनमे मुख्य था, तिमिध्वज का राज्य । यह असुर रावण का साढू था । मय दानव की छोटी पुत्री मायावती इसे व्याही थी । इसकी राजधानी वैजयन्तपुरी दक्षिण भारत मे दण्डकारण्य के निकट थी । यह व्यक्ति कुलीतर वशी था । दशरथ ने इस राजा को जीता था और तभी से दशरथ के परिवार और रावण की भी शत्रुता थी । इस युद्ध के समय ही राजा दशरथ का परिचय जटायु गरुड से हुआ था, जिसका छोटा-सा राज्य पचवटी के निकट था, तभी से गरुड अयोध्या का मित्र था ।

उस समय दैत्यो का सम्बन्ध आर्यों से भी था । उनका आर्यो से रोटी-बेटी का व्यवहार चलता था । उदाहरणार्थ पुलोमा दैत्य ने अपनी दूसरी पुत्री शची का विवाह इन्द्र से किया था । परन्तु फिर भी अधिकाश दाक्षिणत्य जातिया आर्यों से तिरस्कृत होकर खिन्न थी और वह आर्यों से आतरिक शत्रुता भी रखती थी । रावण भी इन्ही मे था । उसके दिल पर अपने तिरस्कृत परिवारियो और अपने तिरस्कृत रिश्तेदारो का चित्र खिचा हुआ था । वह वेदो का धुरन्धर विद्वान् होते हुए भी आर्य यज्ञ विधि-विधान का विरोधी था । वह भासक भी था और मूर्तिपूजक भी था । वह शिव और विभिन्न देवियो का उपासक था । उस समय दैत्य और असुर—आर्यों के भाई बन्द होते हुए भी, रहन-सहन और विचारधारा से पृथक् हो चुके थे । याज्ञिको द्वारा वैदिक सस्कार क्रिया से पृथक् किये जाने के कारण उसके मन मे भी आर्यों के प्रति विद्वेष की ज्वाला जलने लगी थी ।

असुर आदि जातियां

वैदिक-कालीन वश-परम्परा, शनै-शनै जातियो और उपजातियो के रूप मे विकसित होती गयी । अत रामायण-काल मे 'जाति-वाद' का एक बडा जाल हमे सारे भारत मे फैला हुआ मिलता है ।

इस समय दक्षिणी भारत की जातिया भी सभी शक्तियो से सुसज्जित हो चुकी थी । इनमे वह आर्य जातिया भी थी, जिनके पूर्वज स्वेच्छा से दक्षिण मे जा वसे थे और वह जातिया भी थी, जिन्हे आर्य 'वेद-भ्रष्ट' कहकर दक्षिणी आरण्यो मे भेजने के लिये विवश करते रहे थे । अत विद्वत्ता की दृष्टि से दक्षिण की यह जातिया, उत्तरी आर्य जातियो से कम नही थी, अपितु उस समय से ही भारत का यह दक्षिणी भाग

समस्त देश के नेतृत्व का प्रशिक्षण ले रहा था, जिसके शिक्षक थे, अगस्त्य और परशुराम जैसे ऋषि।

अस्तु, रामायण-काल तक दक्षिण भारत मे वास्तुकला, स्थापत्य, नृत्यकला, सगीतकला तथा आधुनिक विज्ञान की जडे जम चुकी थी, जिनके प्रमाण, रावण वाली, सुग्रीव के महलो के अतिरिक्त, असुर राज्यो की राजधानिया भी है। उस समय असुर राज्यो के सरदार और राजा विप्रु, 'सुश्ना' 'शम्बर', 'अर्बुद', 'वभ्रु,' 'नमूची', 'करज' 'बल , वृषय', वस तुग्र', और 'त्रैतन' आदि थे। इनकी सैन्य शक्तिया १-१ लाख सैनिक तक थी और नगर की रक्षा के लिये यह पत्थरो के दुर्ग बना चुके थे। एक-एक सरदार या राजा के पास पचास-पचास और सौ-सौ तक दुर्ग थे।

इसके अतिरिक्त दूसरो ओर वह जातिया थी जो या तो समूह बनाकर बिना राज्य के ही रहती थी अथवा छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने मे सफल हो गयी थी। यह जातिया महिष, कपि, नाग, मृग, ऋक्ष, व्रात्य, (बहिष्कृत क्रिया रहित आर्य), राक्षस, दैत्य, दानव (जिनके वशो का वर्णन पीछे किया जा चुका है), मूजवन आदि अनेक जातिया थी। उस समय मैसूर प्रान्त 'महिष-मण्डल' कहलाता था, जो महिषि जाति के राज्य का अग था। कपि (वानरो) का राज्य किष्किन्धा मे था। यह स्थान दक्षिण मे हम्पी-विजयनगर के निकट था। कपियो की राजधानी किष्किन्धा अत्यन्त सम्पन्न नगरी थी। इसका राजा वालि अजेय योधा था।

महावृष, मुजवन, वाल्हीक, पजाव से पूर्वी अफगानिस्तान तक फैले हुये थे। रावी तट पर याजिक रहते थे। सिन्ध मे नागो का राज्य था। आर्यों से नागो का बेटी-रोटी का सम्बन्ध चलता था। उदाहरणार्थ आर्य युवनाश्व और हर्यश्व ने अपनी बहिन धर्मवर्णा नाग को व्याही थी।

इसके अतिरिक्त पजाब और सिन्ध के कई भागो मे भरतो के भी छोटे-छोटे प्राचीन राज्य कायम थे।

आर्येत्तर जातियां और उनकी उत्पत्ति

आर्यों के अतिरिक्त इस देश मे आर्येतर जातियो को आर्यो से प्राचीन माना जाता है। कहा जाता है, इन्ही द्रविड, कोल, सथाल तथा किरात आदि जातियो को आर्य लोग लड-लड कर भगाते रहे और अपना विस्तार करते रहे। अत देश की प्राचीन सस्कृति को द्रविड' सस्कृति की सज्ञा देकर, भारतीय वाङमय मे असुर—दस्यु आदि शब्दो को अपने कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आर्यो ने इन्ही जातियो का नाम असुर और दस्यु रखा हुआ था। अत सबसे पहले हम भारतीय वाङमय के आधार पर इन आर्येतर जातियो और दास-दस्यु तथा असुर आदि शब्दो पर ही विचार करते हैं।

द्रविड जाति—द्रविड जाति वस्तुत आर्य ही है। उदाहरण के लिए 'चन्दन' और 'कपूर' दोनो ही मद्रास प्रान्त की ही उपज हैं। परन्तु उक्त दोनो ही नाम द्रविड-

भाषा के नही है। दक्षिण की दूसरी वस्तु 'मोती' है। मोती को तामिल-भाषा मे 'मुत्ता' कहते हैं। वस्तुत यह 'मुत्ता' शब्द सस्कृत शब्द 'मुक्ता' का अपभ्रश है। २० मार्च १९३१ ई० के 'फ्री प्रेस जर्नल' मे वी० नारायण एम०ए०एम० लिखते हैं—"मोती पृथक्-पृथक् होते हैं, इनका गुच्छा नही होता। इसी से वे 'मुक्ता' कहलाते हैं। 'मुक्ता' शब्द सस्कृत-भाषा का है। अत सस्कृत के शब्द द्वारा अपने देश की उपज का नाम रखने वाले द्रविड आर्यों से भिन्न नही हो सकते।"

आर्य बाहर से आये, ऐसा किसी वैदिक ग्रन्थ मे नही है। मूर जो यही सिद्ध करने के प्रयत्न मे रहे, एक स्थान पर लिखते हैं—"जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सस्कृत की किसी पुस्तक अथवा किसी प्राचीन पुस्तक के हवाले से यह ज्ञात नही होता कि भारत-वासी अन्य देश से आये। द्रविड जो यहाँ के पहले रहने वाले थे, उन्होने भारतवर्ष का क्या नाम रखा हुआ था। भारतवर्ष, आर्यावर्त आदि नाम आर्यों के हैं, उनके समय क्या नाम था। यह उनकी किसी पुस्तक मे नही लिखा है कुछ तो नाम अवश्य होता?"

आर्य लोग बहुत दिनो हिमालय पर रहे। इसके बाद हरद्वार (हिमालय का दरवाजा) नाम रख आये। चरकसहिता मे लिखा है—'दोष मत्वा पूर्वनिवास हिमवत जम्मु' बीमार होकर वापस चले गये। कुछ दिन बाद फिर आये। जगल काटकर स्थान रहने योग्य बनाया।

शतपथ ब्राह्मण (१। ।३।१४) के अनुसार हरिद्वार कुरुक्षेत्र अर्थात् सरस्वती नदी से लेकर, पूर्व की गण्डकी नदी, जिसको सदानीरा और दृषद्वती कहते हैं, जगलो को जला कर आबादी की और इस भूमि का नाम ब्रह्मावर्त रखा। इसके आगे के देश का नाम विदेह हुआ। जिसका अर्थ शरीर शून्य अर्थात् निर्जन है। इससे सिद्ध होता है, यहा पहिले आबादी नही थी, होती तो विदेह नाम न रखना पडता। जगल न जलाने पडते। जिन दस्युओ को मूलनिवासी कहा जाता है। उनके बडे-बडे नगर थे। वे युद्ध करना जानते थे। 'शतपथ' मे लिखा है—'असुर पुरो प्रकुर्वीत' वे व्यापारी थे, जहाज चलाना भी जानते थे। ऐसे लोगो ने क्या जगलो मे ही निवास रखा। कोल, भील तो अब तक जगल काटने मे प्रवीण हैं। इस तरह पराजित विजित का सवाल ही नही उठता। नैसफील्ड लिखते हैं* —"भारतीयो मे आर्य विजेता और मूल निवासी जैसा कोई विभाग नही है। यह विभाग बिल्कुल आधुनिक है। ब्राह्मण से लेकर सडक झाडने वालो तक का रूपरग एक समान है।"

असुर—असुर शब्द का भी भारतीय वाङमय मे बहुत प्रयोग हुआ है और इसी शब्द की ओट मे वैदिक इडेस्कारो ने मनमाने अर्थ लगाये हैं और इन्हे आर्यो द्वारा हीन जाति बताकर आर्येतर जाति सिद्ध किया है। परन्तु भारतीय वाङमय मे इन्हें आर्य ही बताया गया है। वायुपुराण मे इन्हे तिब्बती आर्यो का वशधर

---

* Brief view of the caste system of the North-West Provinces and Oudh, P 27

बनाया गया है। इन्होंने बच्छदेश मे जाकर 'प्रयरावती' और 'मिथिला' नामक नगर बसाये थे। उस समय तक इनकी भाषा संस्कृत ही थी। यथा—

'असुरा ये तरा आसन् तेषा दायादबान्धवा।'

—वायु पुराण।

'ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टये'।

—महाभारत

अभिप्राय स्पष्टत यही है कि पहिले यह कुरुक्षेत्र मे बसते थे, इसके पश्चात् तिब्बत मे जा बसे और वही से लौटकर इन्होंने भारत मिथिला आदि नगरिया बसाई। विदेहवासी याज्ञवल्क्य का जन्म भी इसी जाति मे हुआ था। मोहन-जो-दडो' का उल्लेख करते हुए श्री रमाप्रसाद चन्दा कहते है—"आर्य पणियो ने ही 'मोहन-जो-दडो' बनाया था। यह लोग सुमेर, मिस्र और यूनान आदि से व्यापार करते थे।" ऋग्वेद मे पणियो द्वारा समुद्री व्यापार का वर्णन है। यथा —"**त गूर्तयो ने मुनिष' समुद्र न सचरणे** सनिष्यव।"—(१।५६।२) अर्थात् जिस प्रकार धनाभिलाषी वणिक घूम-घूम कर समुद्र को चारो ओर से व्याप्त किये रहते है, उसी प्रकार हव्य वाहक स्तोता लोग चारो ओर से इन्द्र को घेरे रहते है। यह लोग कर्म से ही वंचित नही हुए, इन्द्र के उपासको के भी शत्रु बन गये। इसी प्रकार ऋग्वेद के १०८वें सूक्त मे पणियो और इन्द्र का दूती सरमा' के बीच सवाद का उल्लेख है। सरमा को इन्द्र की कुतिया की दूती न मानकर अन्तरज्ञान भी माना गया है, जो अवचेतन मन रूपी अधेरी गुफाओ के अन्दर प्रवेश करती है, ताकि इन गुफाओ मे बन्द पडे ज्ञान के चमकीले प्रकाश को छुटकारा दिलाने की— जगाने की तैयारी करे। वह केवल इस भौतिक 'उषा' के रूप की द्योतक थी, जो खोई हुई प्रकाश की गौओं (किरणो) को खोजते-खोजते अन्धकार की गुफा मे घुस जाती है। पणियो के साथ वर्णन का भी यही अभि प्राय है। इसका वास्तविक सूत्र लोप हो जाने के कारण, नाम के सादृश के अनुरूप दूसरा सूत्र तैयार कर लिया गया जान पडता है*, जबकि हम सूर्य की गौओ—होमर (Homer) कवि की हीलियस की गायो और उषा की गौओ पर विचार करते है, तब यह गुत्थी दिव्य ज्ञान के प्रतीक के रूप मे स्वय सुलझ जाती है। फलत ऋग्वेद के तीसरे मण्डल के ५८ सूक्त के दूसरे मत्र मे पणियो को नष्ट करने का आदेश है। इन्हे 'असुर' या 'अनार्य' नही कहा गया। अपितु 'आसुरी-बुद्धि' वाला समझा जा सकता है। अत स्पष्ट है कि यह आर्य व्यापारी थे जो यज्ञादि न करने के कारण, ऋषियो के कोप के भाजन बने। इनका रहन-सहन, वेश-भूषा आर्यो जैसी ही रही। इन्ही के दक्षिणी बन्धुओ ने विदेशो मे अपने राज्य स्थापित किये। इन्होंने ही फीनिशिया बसाया और उसका नाम 'पण्य जन-पद' रखा था। मिस्र की प्राचीन गाथाओ से ज्ञात होता कि मिस्र के मूल निवासी

---

*महर्षि अरविन्द—वेद रहस्य पृष्ठ—४८।

'पुन्तु' नगर से आकर बसे थे। यह शब्द भी वास्तव मे 'पुण्य' अथवा 'पर्णी' शब्द का ही अपभ्रंश है।

भारतीय व्यापारियों की यात्रा के वर्णन वैदिक वाङमय मे भरे पडे हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय व्यापारी अथर्ववेद काल मे भारत से व्यापार के लिए बाहर जाने लगे थे। उदाहरणार्थ—"मनोनिविष्ट मनु सविश स्वयत्र भूमेर्जु वसे तत्र गच्छ।"१ अर्थात् हे मनुष्य जहाँ तेरी इच्छा हो जा, क्योकि यह सारी पृथ्वी तेरी है। इसके पश्चात् यजुर्वेद मे भी यात्रा वर्णन मे लिखा है—"समुन्द्र गच्छ स्वाहा"२ अर्थात् मधुर भाषी बनो और यात्रा करो। वेद-काल के पश्चात् महाभारत काल मे भी सागर-यात्रा का वर्णन मिलता है। लिखा है—"वाणिज्यार्थं समुद्रा द्वै यथार्थं लभते धनम्।" अन्त मे बौद्ध जातक तो इन व्यापारिक-यात्राओ के प्रकरणो से भरे हुए मिलते ही हैं। स्मृतियो मे भी वर्णन है। लिखा है—"वसन्वायत्र तत्रापि स्वचार न विवर्जयेत्३।" वस्तुत यह व्यापारियो को ही उपदेश है कि जहाँ रहो, अपना आचार न छोडो।३

इसके पश्चात् पुराणो मे वर्णन आता है कि सूर्य की गति को रोकने वाला विन्ध्याचल अगस्त्य ऋषि के सम्मुख झुक गया। अगस्त्य ऋषि का नामहमे दक्षिण-भारत से लगाकर अनाम और स्याम तक मिलता है। जावा आदि मे इसकी विशाल मूर्तियाँ भी बनीं। अत 'विन्ध्याचल के झुकने' का स्पष्ट अभिप्राय यही है कि विन्ध्याचल के उस पार के निवासियो ने अगस्त्य के ज्ञान का लाभ उठाया और उन्होंने उनके उपदेशो को सुन कर पुन आर्य धर्म स्वीकार किया। इससे स्पष्ट है कि अगस्त्य के समय से आर्यो का विदेशो मे धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ हो गया था।

मि० मूर लिखते हैं, "मैंने ऋग्वेद के दस्यु या असुर आदि नामो को इसलिए पढा कि यह नाम अनार्यों के हैं या मूल निवासियो के। परन्तु मुझे कोई भी नाम न मिला, जो इस प्रकार का हो।" मैक्समूलर का कथन है कि दस्यु का अर्थ तो केवल शत्रु का है।

ए० राजोगिन कहते हैं—'दस्यु का अर्थ केवल लोग है। ईरानियो की अवस्था पुस्तक मे४ उनका 'दह्यू' शब्द ५ इसी अर्थ मे आया हैं।' मि० मूर कहते हैं मृध्रवाचा आदि शब्द, जो वेद मे आये हैं, अनार्य भाषा के नही हैं। प्रो० रॉथ कहते हैं—"कृष्णगर्भा और कृष्णयोनि आदि शब्द कृष्ण मेघ के लिये आये हैं, जो काला ढक्कन है।"

१ अथर्ववेद काण्ड ४८ सूत्र ३, यजु० ६१
२ महाभारत शांतिपर्व अध्याय २६६।
३ पाराशर स्मृति १.४७।
४ Sanskrit Text Book Vol II, P 387.
Last Results of the Turanian Research, P 344
५ Vedic India, P. 113.

बाबू अविनाशचन्द्र दास कहते हैं—"श्यामवर्ण का वर्णन आर्यों ने अपने एक दल के लिए किया है, यह उपमा काले बादल से ली गई है। जैसे वे वृत्र × कहते हैं।" इससे ज्ञात हुआ वेदो मे आये कृष्णयोनि और मृध्रवाचा शब्द मूल निवासियो के लिए नही आये। यह शब्द बादलो के लिए आये हैं और युद्धो के वर्णन इन्द्र और वृत्र के हैं जो वास्तव मे विद्युत, सूर्य, तथा मेघो के अतिरिक्त और कुछ नही।

वेद मे इन्द्र और वृत्र का वर्णन बहुतायत मे आता है। यह वर्णन युद्ध रूप मे भी आता है। वेद मे आया इन्द्र और वृत्र का अलकार ही **देव** और **असुर** तथा **आर्य** और **दस्यु** सग्राम है। यह ऋग्वेद के विभिन्न मत्रो से स्पष्ट है।

आर्यों का विश्वास है कि उन्होने ससार मे जितने पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम वेद शब्दो से ही रखा गया है। प्रकाश के विरुद्ध आने वाले बादलो को, जिस प्रकार वेद ने दस्यु कहा है, उसी प्रकार श्रेष्ठ आर्यों से विरोध करने वालो को भी दस्यु कहा है। इसलिए आर्यों ने नामो की यह कुजी पाकर अपनी जाति को दो भागो मे बाँट दिया, क्योकि यजुर्वेद मे लिखा है—

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः।' अर्थात् आर्य और दस्यु को अलग जानो।

ऋग्वेद ने इन्हे यज्ञहीन, अविचारी कहा है। वेद की अलकृत शिक्षा के द्वारा ही प्राचीन आर्यों ने अपनी जाति के भीतर ही दुष्ट स्वभाव के मनुष्यो को अनार्य और दस्यु कहा है। उत्तम स्वभाव वालो को आर्य कहा है।

वेदो मे इतिहास मानने वाले भी स्वीकार करते हैं। **सुदास, दिवोदास** और **त्रिसदस्यु** आर्य राजे ही थे। वेदो मे दस्यु नाम से किसी जाति विशेष का वर्णन नही है।

शक जाति—शक शब्द का भारतीय वाडमय मे पर्याप्त वर्णन आता है। पुराणो मे लिखा है—"**नरिष्यन्तः शका पुत्रा।**" इस वाक्य से प्रकट है कि **शक** इक्ष्वाकु का पौत्र था। यह शब्द **ऋग्वेद** मे भी आया है। उस समय आर्य-जन हिमालय पर ही वास करते थे।

सीथिया देश किसी समय भारत से निकाले हुए शक नामक पतित छत्रियो द्वारा बसाया गया था। इसके विषय मे विष्णु-पुराण मे लिखा है—

इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्ट शर्यातिरेव च।
नरिष्यन्तश्च विख्यातो न भानेदेष्ठि एव हि॥
करूषश्च पृषध्रश्च वसुयान् लोकविश्रुत।
मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राश्च धार्मिका॥

अर्थात् वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ठ, शर्याति, नामानेदिष्ठ, करुष,

× (Rigvedic India 123)

पृषध्र, वसुभान् और नरिष्यन्त ये नौ पुत्र थे । इसके उपरान्त हरिवंश पुराण अध्याय १० श्लोक २८ मे लिखा है—

नरिष्यन्त शका पुत्रा नाभागस्य तु भारत ।
अम्बरीषोऽभवत् पुत्र पार्थिवर्षभसत्तमः ॥

अर्थात् नरिष्यन्त के पुत्रों का नाम ही शक हैं। इन शको को राजा सगर ने 'अर्धमुण्डान् शकान्' (विष्णु पुराण अ ४, अध्याय ३, श्लोक २१) अर्थात् आधा सिर मुडवाकर निकाल दिया था। यही लोग सीथिया मे जाकर बस गये। इसलिये इनके आर्य होने में कोई शक नही।

उत्तर कुरुप्रदेश साइबेरिया से लेकर आगे तक है। इसके बारे मे वायु पुराण अध्याय ८५ का श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यथा—"

"उत्तरस्य समुद्रस्य समुद्रान्ते च दक्षिणे ।
कुरुवस्तत्र तद्वर्ष सिद्धनिशेवितम् ॥
देवलोकात् च्युतास्तत्र जायन्ते मानवा शुभा ।

अर्थात् उत्तर महासागर के दक्षिण किनारे पर, अति पवित्र उत्तर कुरु वर्ष है, जहा देवलोक से गये हुए उत्तम पुरुष निवास करते हैं । यह देवलोक हिमालय के सिवा और कोई नही है। आर्य लोग हिमालय से जाकर, उत्तर समुद्र अर्थात् शीत-कटिवन्ध के इस पार तक और साइबेरिया के उस पार तक कुरुदेश मे निवास करते थे । जिस प्रकार भारत मे कुरुक्षेत्र था, उसी प्रकार उतनी दूर जाने पर भी उन्होने कुरु नाम से ही उस देश को सम्बोधित किया है। आर्य लोग उत्तरी ध्रुव कभी नही गये। वहा विकट अन्धकार था, क्योंकि वेदो मे दीर्घरात्रि और उस रात्रि मे पडे हुए रोने वालो के अलकार से उपदेश दे दिया गया है कि वहा किसी को नही जाना चाहिये। परन्तु वहा एक 'Navya Zimala' अर्थात् नव्य हिमालय का पता लगा है, जिससे सूचित होता है कि कभी इरानियो के पूर्वज वहा जाकर बसे थे। उनकी भाषा मे सस्कृत के 'ह' का 'ज' हो जाता है, इसलिये प्रतीत होता है कि 'नव्य जिमालय' नाम उन्होने ही रखा है और इसे पुराने हिमालय के साथ मिलाया है। यदि वैदिक आर्य नाम रखते तो 'नव्य हिमालय' ही रखते। इस नव्य हिमालय को उर्दू ज्योग्रफी मे 'नवजुमला' लिखा हुआ है। इसका वर्णन इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका मे भी आया है।

यवन शब्द/जाति—इस शब्द के लिए पुराणो मे आया है—"तुर्वसो यवन जातः।" अर्थात् तुर्वसु से यवन पैदा हुए। भारतीय वाङमय के अनुसार तुर्वसु, ययाति का पुत्र था। इस सम्बन्ध मे स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—"पहले मिस्री और बेबीलोन वाले, शक और ग्रीको को 'यवन' ही कहते थे।"

मुगल, तातार और चीनी लोग अपने को चन्द्रवशी मानते हैं। तातारी अपने को 'अय' का वशज कहते हैं। यह 'अय' पुरुवा का पुत्र आयु ही है। इस 'आयु' के वश मे ही 'यदु' था और उसका पौत्र 'हय' था। चीनी लोग इस 'हय' को 'ह्यू' कहते

है और अपना पूर्वज मानते है। इस सम्बन्ध मे चीनी विद्वान् याग्साई ने १५५८ ई० मे एक ग्रन्थ लिखा था। उस ग्रन्थ का १७७६ ई० मे हू या नामी विद्वान् ने सम्पादन किया। पादरी क्लार्क ने इस ग्रन्थ का अग्रेजी मे अनुवाद किया। इसमे लिखा है--"प्राचीन काल मे भारत के मो० लो० ची० राज्य का आई० यू० नामक राजकुमार युन्नान प्रान्त मे आया। उसके पुत्र का नाम ती० मोगगे था। इसके ६ पुत्र पैदा हुए। उन्ही की सतति के विस्तार से चीनी जाति की वश वृद्धि हुई।"

चीन के विषय मे प्रो० हार्न कहते है—"चीन शब्द भारत का है। यह हिन्दुस्तान से आया है।" पचतन्त्र की एक कथा मे लिखा है—"एक कोलिक विष्णु रूप धारण करके किसी राजकन्या के पास आया करता था। उस कन्या के सर्वांग सुन्दर वर्णन मे 'चीना नाभि' लिखा है। यहाँ चीना शब्द का अर्थ गहरा है। 'अमरकोश' मे मृगो का भेद करते हुए, इस प्रकार कहा गया है कि एक प्रकार के मृग को 'चीन' कहते हैं। इन कथनो से ज्ञात होता है कि गहराई मे रहने और तेज तबियत का होने के कारण इन्हे चीनी कहा गया है।

किरात—इस जाति का भी भारतीय वाङमय मे बहुत वर्णन है। महाभारत मे इन्हे असम के राजा भगदत्त का सहायक माना गया है और युधिष्ठर यज्ञ मे भी यह चन्दन, अगर, शाल-दुशाले और स्वर्ण तथा अन्य सुगन्धित वस्तुएँ तथा अपने देश मे पैदा हुए सुन्दर मृग, पक्षी और पर्वत की विचित्र वस्तुओ के अतिरिक्त १० हजार किरात दासियाँ देने के लिए लाये थे। पर्वतो पर रहने वाली इस जाति को 'मानव-धर्म-शास्त्र' आर्य क्षत्री मानता है। यह क्षत्री लोग धीरे-धीरे ब्राह्मण को न देखने के कारण वृषलत्व को प्राप्त हो गये। ब्राह्मणो को न देखने का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड का न करना है। श्री 'जिमर' और 'ओल्डन वर्ग' दोनो ही इतिहासकार इन्हे 'अनार्य' मानते हैं। इनका निवास-स्थान उस देश को मानते हैं जो पीछे मगध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इतिहासकार वेबर इन्हे आर्य मानते हैं। परन्तु इनका निवास मगध ही मानते है। भारतीय धर्मग्रन्थ निरुक्त इस स्थान को 'आर्य-निवास' कहता है। वस्तुत पुराणो मे यह 'किरात' नाम जाति नही, देश के अर्थ मे आया है। इस स्थान का 'किरात' के बाद 'मगध' नाम बाद मे हुआ। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे कीकट जो वर्तमान मगध के निवासी थे—अत्यन्त ऊँचा माना है। वृहदारण्यकोपनिषद मे भी राजा अजातशत्रु का आत्मज्ञान अत्यन्त ऊँचा माना है। तब उन्हे अनार्य नही कहा जा सकता।

आर्यो की धार्मिक सकीर्णता और निम्न जातियो की उत्पत्ति

वस्तुत. आर्य जाति मे जन्म के स्थान पर कर्म प्रधान था। जातिगत ऊँच-नीच की कोई गुजाइश नही थी। कर्म के अनुसार ही क्षत्री का कर्म करने वाला क्षत्री, अच्छे कर्म करके ब्राह्मण बन सकता था और शूद्र के कर्म करने वाला ब्राह्मण शूद्र बन सकता था। इसके विपरीत निकृष्ट कर्म करने अथवा वैदिक धर्म की आस्था-आराधना

के विपरीत जाने पर व्यक्ति का जातिगत दर्जा ही नही घटा दिया जाता था, अपितु उसे 'अनार्य' दस्यु, असुर आदि शब्दो से पुकारा जाता था। अत उनका दृष्टिकोण सदैव आर्य जाति को शुद्ध रखना ही होता था।

जाति-च्युत करने का प्रथम दौर—जाति-च्युत करने के लिए प्रारम्भ मे वैदिक नियमो का उल्लघन आधार बनाया गया था। यदि कोई व्यक्ति अपने बच्चे को यज्ञोपवीत धारण कराकर, आचार्य कुल मे भर्ती नही कराता था, तब उसे जाति-च्युत कर दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति अकारण किसी को सताता था, तब उसे असुर - दस्यु स्वभाव वाला समझा जाता था। यदि कोई व्यक्ति वेद न पढकर, अन्य कर्म करता था, तब उसे द्विज समझा जाता था। दोनो समय सध्या वन्दन न करने वाले को शुद्र की सज्ञा दी जाने लगी। यदि कोई व्यक्ति आर्य नियम से विवाह नही करता था, तब उसे भी चातुर्वर्ण मे स्थान देने के अयोग्य ठहरा दिया जाता था। माता-पिता और आचार्य की आज्ञा न मानने वाला भी समाज से च्युत कर दिया जाता था।

अन्य-दण्ड—धार्मिक-कृत्य न करने पर, जाति-च्युत करने के अतिरिक्त अन्य भी दण्ड थे। उनमे आर्थिक दण्ड और प्रायश्चित प्रमुख थे। परन्तु **जाति-च्युत** करना आम बात थी। अत इन जाति-च्युत लोगो को ही दस्यु, दास, राक्षस, असुर, कपि, नाग आदि जातियाँ बनी। कालान्तर मे इनकी पृथक्-पृथक् सस्कृतियाँ फली-फूली भी और आर्यों के विनाश का कारण भी बनी।

मनुस्मृति मे लिखा है—"ब्राह्मणो के पास न पहुच सकने के कारण क्षत्रियो की जातियाँ क्रिया-लुप्त होने से पतित हो गयी। वही पौड्र, औड्र, द्रविड, कम्पोज, पारद (पारसी-ईरानी) खश, पल्लव, किरात, झल्ल, मल्ल, दरद और तुरक तथा शक नामधारिणी अनार्य जातियाँ हो गई। अत आर्यों से पृथक् होकर इन्होने दूर-दूर जाकर अपने देश अलग-अलग बसाये और **रामायण-काल** तक इनके देश पर्याप्त शक्तिशाली हो गये थे। इन्हे जहाँ भी स्थान मिला, वही अपने नगर अथवा नगर-राज्य स्थापित किये। जगलो को काटकर भी नगर बसाये गये और जगलो के बीच मे भी बसाये गये तथा पर्वतो की नदियो के पास छोटे-छोटे राज्य खडे किये। भौगोलिक-स्थिति परिवर्तित होने के कारण जबकि उस समय का समस्त दक्षिण, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और अमेरिका से जुडा हुआ था—यह जातियाँ वहाँ तक भी पहुची। आर्यों से पृथक् होते हुए भी, इनके रीति-रिवाज भारतीय ही थे। यहाँ रहते समय भी वह आर्यों के रीति-रीवाजो का ही अधिकाशत अनुकरण करते थे, इनकी भाषा भी रामायण-काल तक शुद्ध सस्कृत थी।

महाभारत और हरिवशपुराण मे लिखा है—"राजा हरिश्चन्द्र के **बाहु** नामक सातवा वशज हुआ। यह 'हैहा' और 'तालजघा' नामी राक्षसो से पराजित होकर जगल मे भाग गया। उससे सगर पैदा हुआ। सगर ने अपने बाप के शत्रु शक, यवन, कम्बोज तथा चोलो को जीतकर, उनका विनाश करना चाहा। परन्तु वशिष्ठ के कहने पर सबको **वेद-भ्रष्ट** करके दक्षिण देश के अरण्यको मे निकाल दिया।

अस्तु, जातिगत दण्ड-व्यवस्था के आन्दोलन मे कालान्तर मे और कठोरता आई। पिता पुत्र तक को दण्ड देने लगा। नहुष के पुत्र ययाति ने अपने पाँच पुत्रो मे से तुर्वसु से युवावस्था माँगी, उसके इन्कार करने पर उसे पिता की आज्ञा का अपराधी घोषित करके, दक्षिण दिशा मे सपरिवार निकाल दिया। यह भी महाभारत मे लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणो मे भी जाति-बहिष्कार की प्रथा चली। दूसरा उदाहरण विश्वामित्र का है। इन्होने कही से एक लडका प्राप्त किया। पढा-लिखाकर उसे अपने सब लडको मे श्रेष्ठ ठहराया। परन्तु उनके पचास लडको ने उसे श्रेष्ठ मानने से इन्कार कर दिया। अत अपने इन लडको पर कुपित होकर, विश्वामित्र ने इन्हे दक्षिण की ओर निकाल दिया। इन्ही लडको की सन्ताने आध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिक आदि जातियो के नाम से विख्यात हुयी।*

इन लोगो के अतिरिक्त बहुत से वणिक भी दण्ड देकर दक्षिण मे भेजे गये। यही जातियाँ दूसरे देशो तक गई और वहाँ सैकडो वर्ष रहने के उपरान्त उनमे से बहुत-सी जातियो के भाग भारत भी लौटे। उदाहरणार्थ आन्ध्र लोग, आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया) गये। जल्ल लोग अफ्रीका तक पहुचे और वहा जुलु जाति के नाम से विख्यात हुए। यह भारत से पहिले ईजिप्ट गये और वहाँ से अफ्रीका गये। ईजिप्ट को बसाने का आरम्भ भी इन्होने किया। यह भारतीय कथित अनार्य जातियो का विदेशो मे जाने का पूर्व दौर था, जिसका काल प्रागैतिहासिक माना जा सकती है। इसके बाद इसी प्रकार की तीन लहरें और गयी जो इनसे अधिक सुक्षित थी। अस्तु, चीनी चीन मे जाकर बसे और किरात बिलोचिस्तान तक पहुचे। बहुत-सी जातियाँ अमेरिका और मध्यएशिया तक भी पहुची। परन्तु उनका भारत से सम्बन्ध बना रहा।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षणो से भी यह सिद्ध होता है कि उक्त देशो के मूल निवासी आर्य वशधर ही थे। ईरानियो के बारे मे अपनी पुस्तक "दी सेक्रेड लेंगवेज, राइटिंग्स एण्ड रिलिजन ऑफ पारसीज" मे पारसी-धर्म के विख्यात विद्वान् डा० हाग लिखते है—"भारतीय आर्य और ईरानी आर्यों के मतभेद के तीन कारण दृष्टिगोचर होते है। (१) आर्य जाति की कई शाखाएँ थी, उन्ही मे भारतीय और ईरानी आर्य भी थे। इनका आदि स्थान कोई शीत प्रधान देश था। उस समय यह चरवाहा जीवन व्यतीत करते थे। दूध-दही का इस्तेमाल करते थे। वहाँ से आने पर यह ईरान आये। जरथुस्त्र के कहने पर, कुछ लोगो ने नागरिक सभ्यता अख्तियार की और वहाँ बसकर खेती-बाडी करने लगे। परन्तु कुछ ने विरोध किया और वही अपना पुराना पेशा अपनाये रखा। यही वैदिक आर्य थे और यही से परस्पर विरोध शुरू हुआ। यह आगे चलकर पजाब क्षेत्र मे जा बसे और उसके उपरान्त सारे भारतवर्ष मे फैल गये। जब तक यह नही बसे थे, बसे हुए ईरानियो को लूटते रहते थे। उनकी खेती-बाडी लूट ले जाते थे। कहा जाने लगा था, जो बस जाता है, वह सम्पत्ति भी जुटा लेता है और उसे लूटना

---

* एतरेय ब्राह्मण (७/४/१८)।

भी आसान है। एक तरह से यह सम्पत्तिशालियो और सम्पत्तिहीनो की लडाई थी। डा० हॉग का कहना है कि "आर्यों की इन दोनो शाखाओ का सग्राम इसी आधारभूत सिद्धान्त का परिणाम है। इसका नतीजा यह हुआ कि दोनो ने एक-दूसरे के देवी-देवताओ को भी कोसना शुरू कर दिया। जो देवता पारसियो के यहां ईश्वर थे, वैदिक आर्यों मे वह राक्षस बन गये। जो वैदिक आर्यो के यहा ईश्वर थे, वह पारसी धर्म मे राक्षस कहे जाने लगे।" (२) दूसरा कारण राजनैतिक बताते है। कहते हैं पारसी लोग वैक्ट्रिया में बस कर, उसे अपना घर समझने लगे, परन्तु वैदिक आर्य उनकी इस विचारधारा के विरोधी थे। वह उसे अपना देश स्वीकार नही करते थे। (३) उन्होने तीसरा कारण धार्मिक माना है। कहते हैं कि प्रारम्भ मे दोनो का मूल धर्म एक ही था। यह विभिन्नता कालान्तर मे परस्पर कलह से ही आई। उदाहरणार्थ पारसी की पुस्तक 'जन्द' है, वैदिक धर्म पुस्तक 'छन्द' कहलाती है। वेद 'छन्द-व्यवस्था' का नाम है। 'जन्दावस्था' या 'छन्दावस्था' मे कोई भेद नही। पारसी धर्म-ग्रन्थ (४३/१५) मे लिखा है कि जरथुस्त्र ने अपने अनुयायियो को अगिरा ऋषि का सम्मानपूर्ण स्मरण करने का आदेश दिया। जन्दावस्था मे अगिरा तथा **अथर्वा** का एक साथ वर्णन आता है। अथर्ववेद के रचियताओ का नाम **अथर्वांगिरस्** है। इससे स्पष्ट है कि जरथुस्त्र अथर्ववेद के रचियिताओ को आदर की दृष्टि से देखता था। **जन्दावस्था** मे पुरोहित के लिए **अथवा** शब्द आता है जो ऋग्वेद के **अथर्वा** शब्द का ही रूप है।

डा० साहब के कथन और उनकी धर्म पुस्तक **यस्न** (१२/१४) से तो यह सिद्ध नही होता कि ईरान मे ही आकर आर्यो के दो भाग हुए। न ही उसके ग्रन्थ जन्दावस्था की भाषा से यह सिद्ध होता है। इसके विपरीत और ही सकेत मिलता है। यदि दोनो शाखाएँ ईरान से अलग हुई होती, जैसा कि डा० साहब का कथन है, तब उन्हे यह मानना पडेगा कि ऋग्वेद की रचना उनके ईरान मे आने से बहुत पहले कही हो चुकी थी, क्योकि ऋग्वेद के देवी-देवता तथा अन्य शब्दो को ही जन्दावस्था मे उन्होने स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त **यस्न** मे जरथुस्त्र ने लिखा है—"मैं देव-धर्म का परित्याग करता हूँ। ये दुष्ट हैं, बुरे हैं, दुर्गुणो के प्रवर्त्तक है। विनाशक है, जादूगर हैं। यत्र तत्र करते हैं।" इसका अर्थ यह है कि कालान्तर मे आर्य धर्म मे कुछ दुर्गुण आ गये थे और जरथुस्त्र एक समाज सुधारक के रूप मे आये। अथवा जरथुस्त्र भी परित्यक्त किये गये थे। इसी कारण दोनो एक दूसरे के देवी-देवताओ को भी तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। यह विरोध यहा तक बढा कि पारसियो के करेशानी राजा ने आदेश दिया कि कोई आथ्रवा (पुरोहित) उसके राज्यान्तर्गत अपा अविष्टिश्' का पाठ न करे। 'अपा अविष्टिश्' मे **"शन्नो देवीरभिष्टये आप.'** को उलट दिया गया है। अर्थात् **'अभिष्टये आप.'** का 'अपा अविष्टिश्' हो गया है। शन्नो देवीरभिष्टये' अथर्ववेद का सूचक है। महाभारत मे जहाँ चारो वेदो के सूचक मत्र

---

* फारसी ग्रन्थ होमयष्ठ प्रकरण २४।

लिखे हैं, वहा अथर्ववेद के लिए यही लिखा है। अत 'अपा आविष्टिश्' के पाठ का निषेध करना सिद्ध करता है कि करेशानी राजा ने अपने यहा अथर्ववेद के पाठ पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसका अभिप्राय भी यही है कि ईरानी लोग खिन्न होकर ही भारत मे गये थे। परन्तु भारतीय रीति-रिवाजो को उन्होने अपनाये रखा और अपने समाज का वर्गीकरण भी भारतीय आर्यो के आधार पर ही किया।

जाति-च्युत लोगो का आर्य विरोधी होना स्वाभाविक ही है। अत इनका पृथक् नगर और राज्य बनाना भी स्वाभाविक है। भारतीय वाड्मय म जहाँ इनके जाति-च्युत होने का वर्णन है, वहाँ इनके अलग राज्य बसाने का भी वर्णन है। उदाहरणार्थ **गान्धार** जिसे कन्दहार कहते हैं--पहले वन्दहार भी कहते थे। चन्द्रवशी पठान जाति का बसाया हुआ है। इसके पास गजसिंह का बसाया हुआ गजनी मौजूद है। यह चन्द्रवशी पठान जाति भारत मे प्रतिष्ठानपुर मे रहती थी। यह पहले सरहद पर बसे। वहाँ इन्होने प्रजासत्तात्मक शासन पद्धति स्थापित की। इसे ही **गणराज्य** कहते थे। अफरीदी उस समय के गण लोग ही हैं। रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य ने अपने ग्रन्थ 'महाभारत मिमासा' मे। इस पर प्रकाश डाला है। महाभारत मे लिखा है—

"गणान् उत्सवसकेतान् दस्यून पर्वतवासिन। अजयन् सप्त पाण्डवा' अर्थात् सप्त गणो को पाडवो ने जीत लिया। इन्ही गणो के आगे **उपगण** अथवा **अपगण** थे। इसे ही अफगानिस्तान कहते हैं। इसका असली उच्चारण **उपगणस्थान** है। यह लोग आर्यों से द्वेष रखने के कारण ही आर्यों से अलग रहते थे।

बलूचिस्तान भी **बलोच्चस्थान** है। इसमे केलात नगर अब तक विद्यमान है। यह केलात तब का है, जब **किरात** नामक पतित क्षत्री यहां आकर बसे थे। यह क्षत्री होने से ही बल मे उच्चस्थान प्राप्त कर सके। मनुस्मृति मे पतित क्षत्री किराता **यवना** शका कहे गये है। यह लोग किरात, नैपाल, भूटान मे जाकर मगोलिया के मूल पुरुष बने।

भारतीय वाडमय मे अरबी लोगो को भी आर्य ही माना गया है। वैदिक-भाषा मे **अर्वन** घोडे को कहते है और जिस जगह घोडे रहते है, उस स्थान को 'अर्व' कहते है। अत आर्यो ने इस देश का नाम **अर्व** रखा था। स्मृतियो मे लिखा है* आर्यो से उत्पन्न एक वर्णसकर जाति को **शेख** कहते है। यह सकर जाति ब्राह्मण के ससर्ग से उत्पन्न हुई थी। वही जाति अरब मे बसकर शेख हो गई। शेखो का अरब मे वही मान है जो भारत मे ब्राह्मणो का। मुसलमान होने से पहिले यह लोग अपने को **ब्राह्मण** कहते थे। अरब से ही रामानुज सम्प्रदाय का मूल प्रचारक यवनाचार्य

---

* व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टक
पावन्त्यवाटधानौ च पुष्पध शेख एव च ॥
(मनुस्मति)

यहाँ नवी शताब्दी मे आया था। ११ वी शताब्दी मे रामानुजाचार्य का जन्म हुआ। इनके दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास प्रान्त मे शूद्र जाति पर महान् अत्याचार होता था। उसी समय इस अरब देश निवासी ब्राह्मणोकुल उत्पन्न का यहा आगमन हुआ। उस समय वहाँ महात्मा शटकोप आदि आन्दोलन-कारियो को यवनाचार्य ने मदद दी।

एशियाटिक रिसर्च भाग १० मे विलफोर्ड ने लिखा है—"यवनाचार्य का जन्म अरब देश के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ। अलेक्जेंड्रिया के विश्वविद्यालय मे उसने शिक्षा पाई। अरब मे अब भी बहुत से आर्य निवास करते हैं, परन्तु उनका आचार यहाँ के हिन्दुओ सा नही। विगत युद्धो म गये भारतीय सैनिको ने बताया है कि वहाँ पुराने हिन्दुओ के चिन्ह पाये जाते हैं।"

नैपाल के आगे, हिमालय से नीचे रूसी तुर्किस्तान है। यहाँ बहुत-काल से आर्यों का निवास है। 'मान्वेर आदि भूमि' मे बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने, रूसी तुर्किस्तान से आगे मगोलिया के अल्ताई पहाड पर, आर्यों का निवास सिद्ध करने का यत्न किया है। इतना अवश्य है कि पूर्वातिकाल पूर्व आर्य लोग अल्ताई पहाड इलावृत्त मे रहते थे। अल्ताई शब्द इलावृत्त का ही अपभ्रंश है।

वायु पुराण ने इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। यथा—

वेद्यर्ध्द दक्षिणे त्रीणि वर्षाणि चोत्तरे।
तयोर्मध्ये तु विज्ञेयं मेरुमध्य मिलावृतम्॥
तत्र देवगणा सर्वे गन्धर्वोरग राक्षसा।
शैल राज्ये प्रमोदन्ते शुभाश्चाप्सरसागना॥

अर्थात् इलावृत्त के दक्षिण हरिवर्ष, किम्पुषवर्ष और भारतवर्ष—यह तीन वर्ष है। उत्तर की ओर रम्यकवर्ष, हिरण्यवर्ष ओर उत्तर कुरुवर्ष—ये तीन वर्ष हैं। इनके बीच मे इलावृत्त वर्ष है। इस वर्णन से स्पष्ट है, मगोलिया मे आर्यों ने ही अपना उपनिवेश बसाया था।

वेद-कालीन नागरिक-सभ्यता—हिमालय से हरिद्वार आने के उपरान्त आर्यों ने जगलो को जलाकर, नागरिक-सभ्यता प्रारम्भ की। इसका सकेत ऋग्वेद से भी मिलता है। यथा—""**भरताः सन्तरेयु. गव्यन् ग्रामः।**" वेद के प्रतीक इस "गव्यन् ग्राम." शब्द का अर्थ 'हाफकिन्स' ने 'लूटने वाला' किया है और 'जिमर' ने 'ग्राम' किया है। उसका कथन है कि 'ग्राम एक विश् जाति ओर परिवार की चीज़ है। अर्थात् एक प्रकार के लोगो का जत्था है। बहुत प्रकार के लोगो के रहने का स्थान है।' यह शब्द ऋग्वेद, एतरेय ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् मे ग्राम के लिए आया है। उपरोक्त मत्र मे विश्वामित्र ने नदियो से स्तुति की है कि 'आपने' मेरे उतरने की आज्ञा दे दी है। यदि मेरे बाद भरत (वश के लोग) आयें तो आनन्द से उतर जायें।'

'नगर शब्द' पूर्व साहित्य मे **नगरिन्** के नाम से व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप मे आया है। परन्तु तैत्तिरायारण्यक मे यह शहर के रूप आया है। देश या राज्य के लिए 'राष्ट्र' शब्द था। ऋक्० ४/४२/१। गाँव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था।

ऐतरेय ब्राह्मण (२५/६) मे "नगरी जानश्रुतेय." लिखा है। नगरी का अर्थ 'नगरवासी' होता है। इसे वैदिक इन्डेक्सकार भी मानते हैं। तब कीट का यह कथन मिथ्या हो जाता है कि वैदिक लोगो की सभ्यता केवल 'पशु-पालक' थी और 'मोहन-जो दडो' से पहिले उन्हे भवन बनाने का ज्ञान ही नही था। तथा 'मोहन-जो-दडो' की सभ्यता आर्य-सभ्यता से प्राचीन है। इसके अतिरिक्त उक्त शब्दो का अर्थ हाफकिन्स ने शहर, ग्राम, गावा घोप (पशु-फार्म) किया है। साथ ही किलो का भी वर्णन सहिताओ और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे है। ऋग्वेद के अनुसार इनमे अग्नि का भी प्रकोप होता था।

पूर्व-वैदिक-काल मे खाण्डव के वर्णन से भी यही ज्ञात होता है कि रामायण से पूर्व, प्रारम्भिक वैदिक-काल मे ही आर्यन सभ्यता नागरिक रूप ले चुकी थी। यह स्थान पहिले आयु और पुरुरवा की राजधानी था। पुरुरवा के लोभी होने पर ब्राह्मणो ने इस नगरी को जला दिया। उस समय इस नगरी का नाम 'खाण्डवनगरी' था। यही नाम 'तैत्तिरीयारण्यक' मे कुरुक्षेत्र की सीमा के लिए आया है। यहाँ यमुना के पास वन था और उससे कुछ दूर अश्वरथा नामक नदी थी। यही पर इन्द्र और अर्जुन का युद्ध हुआ था। यमुना के किनारे के वन का नाम खाण्ड वन था, जिसे अर्जुन ने जलाया था और इन्द्र के नाम पर ही इसका नाम इन्द्रप्रस्थ रखा था।

डा० भगवतशरण उपाध्याय ने भी वैदिक राष्ट्र की शक्ति का मूलाधार इनके राज-नैतिक और सामाजिक सगठन को ही माना है। इनके राष्ट्र का आधार 'गृह' अथवा 'कुल' था। कई कुलो का ग्राम बनता था। ग्रामो का 'समूह' या 'विश' बनता और विशो का समूह 'जन' कहलाता था। जनो के सम्बन्ध मे 'पचजना', यादव जन (यादवा ८/६/४६/४८ और भारत-जन ३/५३/१२ का उल्लेख मिलता है। उसका मुखिया राजा कहलाता था। उसे जन का 'गोप्ता' या रक्षक भी कहा गया है। ऋग्वेद-काल के उत्तरार्द्ध तक उसका पद वशानुगत था। ऋग्वेद मे एक ही राजकुल के कई पुत्रानुक्रमिक राजाओ का वर्णन मिलता है। जैसे वध्रयाश्व, दिवोदास, पिजवन तथा सुदास आदि। राजा युद्धो मे सेना का नेतृत्व करता था। शान्ति के समय जनता की रक्षा न्याय आदि द्वारा करता था। राजा न्याय भी करता और 'विश' के कल्याणार्थ यज्ञ भी करता था। सेनाध्यक्ष 'सेनानी' और ग्राम का मुखिया ग्रामिणी कहलाता था। इनके अतिरिक्त पुरोहित भी राज्य परिवार का अधिकारी था। उपहार मे पाये धन आदि के बदले वह मन्त्रो से राजा के युद्धानुष्ठानो को सफल बनाता था। पुरोहित मत्री भी होता था। वह राजा के कार्य का शिक्षक और उसका पथ-प्रदर्शक होता था। ऋषि तथा मित्र के रूप मे वह राजा का साथी था। ऋग्वेद में पुरोहित के अनेक उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ विश्वामित्र और वशिष्ठ, वित्सु वश के, भरत राजा सुदास के, कुरु श्रवण राजा का और शान्तनु का देवापि, राजनीतिक पुरोहित और धर्माचार्य थे। राजा राज्य सचालन मे गुप्तचरो की सहायता भी लेता था (ऋक्० ८/४७/११)। राजा की विशेषता उसका भव्यवेश और प्रभविष्णु राज्यप्रसाद था, जिसे सहस्र

स्तम्भो वाला सभा-स्थान कहा गया है। (ऋक् २/४१/५) । एक स्थान पर सहस्र द्वार वाले गृह का भी उल्लेख है। (ऋक्० ७/८८/५) । राजा की सभा मे पार्षद भी होते थे और युद्ध मे पैदल सैनिको के अतिरिक्त रथो का प्रयोग भी होता था, जो चमडे से मढे रहते थे।

शासन-समिति—राज्य-सचालन के लिए सेना और पुरोहित के अतिरिक्त शासन-समितियाँ भी थी। इनमे एक छोटी समिति (सभा) थी और एक बडी समिति[१] थी +। इस छोटी-सी सभा को ही वर्तमान काल की राज्यसभा समझा जा सकता है। 'समिति' को लोकसभा कहा जा सकता है। अत राजा का शासन सभा-समितियो के द्वारा होता था।

वैदिक वाङमय मे स्वय राजा के लिए भी 'जानराज्य' शब्द[२] भी आया है, जिसका अर्थ ही जनो का राज्य अथवा प्रजा का राज्य है। वैदिक-काल के वश परम्परागत 'राजपद' का ब्राह्मण काल मे परिवर्तित रूप मिलता है, क्योकि राजा के लिए 'राजकृत' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है राजा को चुनने वाले। अतः राजा का चुनाव हो जाने पर उसे प्रजा के प्रति वफादारी की शपथ 'यज्ञ' के सम्मुख खडे होकर लेनी पडती थी और वही उसका राजतिलक होता था।

वेदकालीन-समाज की रूपरेखा—वैदिक-कालीन-समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र—इन वर्णों मे विभक्त हुआ; किन्तु यह वर्ण जन्मगत न होकर कर्मगत रहे। जो जैसा कर्म करता था, उसे वैसा ही कर्म करना पडता था। दास—दस्यु शब्दो का प्रयोग आर्य वर्ण-व्यवस्था के लिए वेद मे न आकर, अलकारिक रूप मे आया है।

"न विशेषोस्ति वर्णाना सर्वं ब्रह्ममिद जगत्।"

अर्थात् जाति-भेद नही, सभी जगत्[३] ईश्वरोत्पन्न है।

जन्मना जायते शूद्र. सस्कारा द्विज उच्चयते।
वेदाभ्यासाद्ववेद विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।

अर्थात् जन्म से सभी शूद्र हैं। सस्कार होने पर द्विज, वेदाध्ययन से विप्र और ब्रह्म को जानने से ब्राह्मण होते हैं। यही कारण था कि अज्ञान कुलोत्पन्न जावाल, क्षत्रिय कुलोत्पन्न विश्वामित्र, वैश्य कुलोत्पन्न वसुकरण और तुलाधार, चाण्डाल कुलोत्पन्न 'मातग' और धर्म व्याघ्र, शूद्र कुलोत्पन्न कवष ऐलुप, दासीपुत्र कक्षीवान् इत्यादि व्यक्ति अपने विद्या बल से ही ऋषि-पद को प्राप्त हुए थे और ययाति राजा का क्षत्री ब्राह्मण होने पर भी देवहुति नामक ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह हुआ। अगस्त्य ऋषि का

---

१ 'त सभा च समितिश्च सेना च' (अथ० १५/२/६/२)।

२ "महते जानराज्याय इन्द्रस्येन्द्रियाय।'

(यजु० ६/४०)

३. महाभारत शान्तिपर्व।

ब्राह्मण होने पर भी लोपामुद्रा नामक क्षत्री कन्या से विवाह हुआ। महाभारत के शान्ति-पर्व मे जातिवाद की विस्तृत व्याख्या है। उसमे सत्य, दान, अद्रोह, लज्जा, दया और इन्द्रिय निग्रह वाले व्यक्ति को ब्राह्मण, युद्ध-कला मे प्रवीण, दान मे उदार, प्रजा-रक्षा मे प्रसन्न को—क्षत्री बताया है, व्यापार, कृषि, पशु-पालन और विद्याभ्यास मे निपुण को वैश्य कहा है तथा भक्ष्य अभक्ष्य का विचार न करने वाले या मूर्ख, अपवित्र तथा आचारहीन को शूद्र कहा है। मनुस्मृति ८८/८९/९० और ९१ मे भी शूद्र की परिभाषा यही है।

वैदिक समाज अपना जीवन-यापन सतत उद्योग द्वारा करता था*। यज्ञो के अवसर पर ऋषिगण देवताओ से अन्न, धन और सौभाग्य प्राप्ति की आकाक्षा करते थे। वह खाद्यानो के साथ-साथ पशुओ की माग भी करते थे। पशु धन की बहुलता का प्रमाण यही है कि ऋषियो के यज्ञ-अवसर पर घोड गाये और रथो के दान देने का वर्णन आता है। ऋषि लोग देवताओ की अभ्यर्थना मे नित्य नई-नई स्तुतियो की रचनाएँ किया करते थे। उन्हे यज्ञो के माध्यम से देवताओ के सान्निध्य की प्रतीति होती थी। इसी कारण उनकी आध्यात्मिक उन्नति भी होती थी। उसके अनुसार वे कर्मण्य, उदार, सत्यपरायण, सहानुभूतिपूर्ण वृत्ति वाले, पराक्रमपूर्ण और उत्साहपूर्ण जीवन बिता सके थे। समय-समय पर उन्हे स्वावलम्बी और सन्तोषी जीवन तथा कृषि-कर्म का उपदेश मिलता रहा। उन्हे अपने पशुओ तथा स्त्री आदि के लिए सदैव सहानुभूति रखने की चेतावनी भी मिलती रही।

उस काल के सामाजिक जीवन मे दो विशेषताएँ ऐसी है, जो किसी देश की सस्कृति मे नही मिलती। प्रथम कमा कर अकेले खाने वाले व्यक्ति को पापी-तुल्य माना जाता था।[२] द्वितीय अतिथि सत्कार की भावना समाज मे इतनी प्रबल थी कि वह लोग अग्नि को भी अतिथि मानकर, उसे खाने से पहले 'ग्रास' देते थे। उस समय पुत्र-जन्म आदि पर व्यक्ति देवो से 'सहस्र-पोष्य' की शक्ति की याचना करता था।

वेद समाज—ऋग्वेद-कालीन समाज का व्यक्ति जहाँ यज्ञो मे देवताओ से अपने स्वस्थ रहने की कामना करता था। धन और अन्न भोगता था, वहा वह यह भी आकाक्षा करता था कि मुझे किसी व्यक्ति से किसी वस्तु की याचना न करनी पडे।[३] ऋण भोगने वाले के लिए उषा का मानो उदय होता ही नही। मुझे भी दूसरे का धन न भोगना पडे। ऋग्वेद-काल मे देवताओ के साथ-साथ पित्तरो की कल्पना भी की जा चुकी थी और उनसे भी स्तुति और हवि के पश्चात् अपने वशजो की रक्षा करने की

---

१ ऋक् १/११६/३, १०/ ४/१३, १/४८/१-१६, १/४३/७, ६/१२/६, ७/१/५,

२ केवलाघी भवति केवलादी ५/८२/, ६/३५/१। ऋ० १०/११७/६,

३ १/४३/२/६, २/२१/६, ।२/२७/१७, १०/१५

याचना की जाती थी।[१] उनकी विचारधारा मे उनसे शक्ति और धन मिलने की सम्भावना भी थी। पित्तरो के स्वरूप की कल्पना के आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि तत्कालीन-समाज पित्तरो के रहस्यमय साहचर्य की अनुभूति करता था। इसी कारण समाज की सदाचार कर्मठ भावना मे पित्तरो सम्बन्धी इस विचारधारा का अच्छा योग रहा। इसी कारण लोग मृत्यु को भी भयानक नही समझते थे। वह समझते थे कि मृत्यु के उपरान्त वह पित्तरो के कुल की श्रेष्ठ श्रेणी मे पहुँच जायेंगे।

उस काल का गृहस्थ अपने ही परिवार का नही, अपितु ऋषियो का भी आश्रयदाता होता था। महर्षि भारद्वाज ने एक स्थल पर कामना की है—"हे देव! हमे किसी वीर, धनी और प्रचुर दक्षिणा देने वाले गृहपति से मिलाओ।"

अथर्ववेद-कालीन-समाज—अथर्ववेद काल मे मानव-समाज की सभी प्रवृत्तियो मे आंशिक परिवर्तन आया। ऋक्-कालीन समाज का निर्मल हृदयी पुरुष, जो देव-पित्तरो और पृथ्वी से सदाचार अन्न, सुखी जीवन अपने पशुओ की वृद्धि की कामना करता था, अथर्ववेद का गृहस्थ ऋत, सत्य, तप, धर्म, कर्म, श्रम, राष्ट्र, वीर्य, बल, लक्ष्मी की समृद्धि आदि की उद्दात्त कल्पनाओ द्वारा उद्दात्त बनकर, इनके द्वारा प्राप्त आनन्द, मोद, प्रमोद आदि भावो की अनुभूति करके पृथ्वी से प्रार्थना करता था—"हमे गौ, अश्व, पक्षी के साथ ही वर्चस्विता प्रदान करो। जिस प्रकार स्वर्ण की आभा पडने से कोई वस्तु स्वर्णिम हो जाती है, वैसे ही मुझे भी चमका दो। मुझे कमल की गन्ध-सी सुरभि दो।" इसके पश्चात् पृथ्वी से रत्नो और धातुओ की आकाक्षा भी की जाने लगी। यथा—

"निधि विभ्रती बहुधा गुह्य वसु मणि हिरण्यं पृथ्वी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ अथर्व १२/१/४४

अर्थात् अपने गर्भ मे विविध प्रकार की निधि धारण करने वाली पृथ्वी, मेरे लिए मणि और हिरण्य देगी। उदारतापूर्वक धन देने वाली पृथ्वी, हम सबको धन देगी। इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि अथर्ववेद काल के लोगो को खनिज का ज्ञान भी हो चुका था और वह धातुओ के शोधन द्वारा अपने सामाजिक-जीवन को विकसित कर रहे थे। अथर्ववेद कालीन समाज के विकास मे, अथर्ववेद मे लिखा है—

"यद्वदामि मधुमत् तद्वदामि यदीक्षे तद्वनान्ति मा।
त्विषी मानस्मि जूतिमानवान्यान्हान्मि दोधत। अथ० १/११/५८

अर्थात् जो कुछ मैं बोलता हू। मधुर बोलता हूँ, जो चाहता हूँ मुझे मिल जाता है। मैं प्रतिभाशाली, जागरूक और धर्मी हूँ। जो मेरे ऊपर आक्रमण करते हैं, मैं उन्हे परास्त कर सकता हू। उस काल के समाज के व्यक्ति के हृदय मे लोभ भी अपना स्थान ले चुका था। व्यापारी लोगो की आकाक्षा मे जो मन्त्र आये हैं, उनमे सौ गुने

१ ऋग्वेद ६/५३/२।
२. अथर्व० ६/१/१७-२२, ११/७/१७, १८, २६, १/१२/१, १२/१।

लाभ की अकाक्षा की झलक मिलती है ।१ अत अथर्ववेद-कालीन समाज अपने सुखी जीवन के उच्चस्तर तक पहुच चुका था । उसका घर अन्न और दूध का भण्डार था । घर के एक भाग मे यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित रहती थी । उस समय अतिथि साक्षात् 'ब्रह्म' था । अतिथि का सत्कार यज्ञ रूप मे प्रतिष्ठित हुआ है । यज्ञ मे अतिथि पुरोहित भी होता था और आतिथ्येय यजमान द्वारा होता था ।२ उस काल मे अतिथि का महत्व गृहस्थ के पाप दूर करने मे माना गया है । वह आतिथ्येय को स्वर्ग का अधिकारी बना देने वाला माना गया है । अत श्रेय और श्रीहीनता के विनाश के भय से, कोई भी व्यक्ति बिना अतिथि को पहले भोजन कराये—भोजन नही कर सकता था । 'अथर्ववेद' मे अतिथि-सेवा का महत्त्व सब से अधिक है, इसके अतिरिक्त 'यजुर्वेद-काल' तक आर्यों की उपासना-पद्धति आदर्श ही बनी रही, क्योकि यजुर्वेद (३/३५) मे ही प्रसिद्ध गायत्री-मत्र—"**ओ३म भूर्भुव स्व. ओ३म तत्सवितु वरेण्यम् भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योन प्रचोदयात् ।**" हमे मिलता है, जिसका अर्थ है, जो विविध जगत् मे प्रकाश देने वाले सर्व शक्तिसम्पन्न न्यायकारी हैं, जो सम्पूर्ण जगत् के जीवन सबको नियमित रखने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, उनको हम हृदय मे धारण करते हैं । वह परमात्मा हमारी बुद्धि को उत्तमोत्तम कार्यो से प्रेरित करे । यहाँ भी परमात्मा से शुद्ध बुद्धि की याचना की गई है ।

आर्यों की वेश-भूषा—प्रारम्भ मे आर्य लोग बिना सिला कपडा पहना करते थे, ऐसे प्रमाण भी मिले हैं, जो सिले हुए कपडे का विरोध करते है । वस्त्रो के विषय मे उनके सिद्धान्त का ज्ञान महाभारत से भी होता है । महाभारत मे स्पष्ट लिखा है—आर्य लोग स्वदेश के सीधे-सादे वस्त्र पहनते थे । पाँडु के शव आच्छादन के लिए देशज अर्थात् देश के कफन का ही प्रयोग किया गया था । कलिका पुराण से भी उनकी यही वेश-भूषा सिद्ध होती है । ऋषि लोग वल्कल और मृगचर्म भी धारण करते थे । बुनाई का कार्य स्त्रियाँ करती थी । एक मन्त्र मे एक ऋषि अपने पिता को भिषज और माँ को चक्की पीसने वाली कहता है ।३ यहाँ पर दस गायें देकर इन्द्र की प्रतिमा लेने का भी वर्णन आता है । हार के भाव का भी उल्लेख है ।४ रुपये पैसे के मत्र का भी सकेत है । इसमे सौ अश्व और सौ निष्क देने का वर्णन है ।

---

१ ३/१५

२ अथर्व वेद ९/६/१-१२ ।

३ कार्पासं कावम्ल वाल्क कोपज वस्त्रमिष्यते ।
निर्देश मलिन जीर्ण छिन्न गात्रावलिंगितम्
परकीय वा ऽऽखुदष्ट सूचीवद्ध तथासित ।
उप्त केश विधौत च श्लेष्म मूत्रादिदूषितम् प्रदाने
देवताभ्यश्च देवे पित्रे च वर्जयेत् कालिकापुराण ।

४ ऋक् (९/११२/३), (४/२४/१०), ४/२४/९, (१/१२६/२) ।

वेदों के अनुसार, प्राचीन-काल में पिता, मुनिगण और व्रत्य—खालो के वस्त्र धारण करते थे। वेदो का समर्थन "शतपथ-ब्राह्मण" मे भी किया गया है। उसने यह भी लिखा है कि आर्य लोग गौ चर्म और हिरन की खाल का प्रयोग भी वस्त्र के रूप मे करते थे।

'ऋग्वेद मे भी हिरन की खालें पहनने का वर्णन है। लिखा है—'मारुत हिरन की खालें पहनते थे। हिरन की खालें पहनकर और उसी के चमडे की ढाले लेकर, देवगण शत्रुओ मे भय उत्पन्न करते थे।"

"अथर्ववेद" ने भूरे और कमाये हुये चमडे को पहिनने का वर्णन किया है। इस चमडे को "पशिगमला" लिखा है। व्रात्यो के अधिनायक और उनके साथी, दोहरे कपडे पहिनते थे। जिनमे एक काला और दूसरा श्वेत होता था। इसके अतिरिक्त "पर्चविश-ब्राह्मण" के अनुसार यज्ञ के समय कृष्ण-चर्म पहना जाता था। अथवा बकरे की खाल पहनी जाती थी।

खालो के वस्त्र रूप मे प्रयोग का वर्णन, जहाँ वेदो मे बहुतायत से आया है, वहाँ वेदो मे ही ऊनी और रेशमी वस्त्र पहिनने का भी वर्णन आया है। उस वर्णन से ऐसा आभास भी मिलता है कि खालो का प्रयोग यज्ञादि धार्मिक-कृत्यो के अवसरो पर होता था। अथवा ऋषि-मुनिगण अपने आश्रमो और तपोवनो मे इनका प्रयोग करते थे, अन्यथा जन-साधारण रेशम और ऊन के वस्त्रो का ही प्रयोग करता था। कुछ कपडे वृक्षो के रेशो के भी बनाये जाते थे।

"दूर्श" नामक एक ऐसे ही ऊनी कपडे का वर्णन अथर्ववेद मे भी बहुत आया है। अथर्ववेद के अतिरिक्त पाली-साहित्य मे भी 'दुस्स' नामक वस्त्र का वर्णन है।

वस्तुत "दूर्श", "दुस्स" और "धुस्सा" यह शब्द "दूर्श" शब्द से ही निकले हैं और एक ऊनी खुरदरी चादर के लिये बोले जाते थे। यह कपडा आज भी पजाब और कश्मीर मे बनता है।

क्षौम वस्त्र का उल्लेख 'मैत्रायणी सहिता' मे भी आया है। यह वस्त्र क्षुभा अथवा आतसी की छाल के रेशे से बनाया जाता था। इसके अतिरिक्त कुसमी रग के क्षौम परिधान का उल्लेख 'शाखायन आरण्यक' मे भी आया है। आश्वलायन स्रौत सूत्र के अनुसार क्षौम वस्त्र, यज्ञ के अवसर पर नेष्ट्रि को दक्षिणा के रूप मे दिया जाता था।

'काठक सहिता' मे भी क्षौम वस्त्र का वर्णन आया है। आश्वलायन स्रौत सूत्र २३ और लाट्यायन स्रौत सूत्र के अनुसार वरासी वस्त्र सोमयाग मे भाग लेने वाले नेष्ट्रि को दक्षिणा के रूप मे दिया जाता था। लाट्यायन स्रौत सूत्र के टीकाकार ने वरासी को क्षौम्य अलसी की छाल के रेशे से बना माना है। आश्वलायन स्रौत सूत्र के टीकाकार ने वरासी का अर्थ मोटे सून का कपडा किया है। परन्तु डा० सरकार के मत से उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त और हिमालय की तराई मे उगने वाला—एक प्रकार के लाल फूल वाला रोडोड्रेडून नामक वृक्ष था, उसी की छाल के रेशे से कपडा बनता था।

यज्ञो के अवसर पर 'चडातक' नामक एक और वस्त्र के पहनने का वर्णन आता है। यह वस्त्र कुश का बना हुआ होता था और यजमान की पत्नी इसे अपनी कमर मे लपेट दीक्षित नामक वस्त्र के ऊपर उस समय पहनती थी। परन्तु सायण ने 'कुश' को घास नही माना। उन्होने कुश को रेशम का द्योतक माना है। अत चाडातक को रेशमी वस्त्र माना गया है। इसी चाडातक को 'अवेसिक' भी कहा गया है, जो केवल जघाओ के भागो को ढँकने वाला घाघरा सदृश था। जिसे नर्तकिया पहना करती थी। पाणीनी-काल तक रेशम के भारत मे प्रयोग के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं।

स्मृति-काल आते-आते, वल्कल और खालो का प्रचलन शिथिल हो जाता है, और वस्त्रो की बहुतायत दृष्टिगोचर होने लगती है। उदाहरणार्थ वाजमनय सहिता' मे समूर क व्यापार का उल्लेख है तथा कुछ ऐसे कपडों का वर्णन भी हे जो वृक्षो के रेशो से तैयार होते थे।

'शतपथ ब्राह्मण' और 'मैत्रायणी सहिता' मे पाडव का वर्णन है। यह भी यज्ञ के समय राजाओ द्वारा पहना जाता था। 'वृद्धारण्यक उपनिषद' मे भी श्वेत वस्त्र होने का वर्णन है। परन्तु डा० सरकार इसे रगीन रेशमी वस्त्र मानते हैं।

ऊनी और रेशमी कपडो के अतिरिक्त कपास के बने कपडो का उल्लेख प्राचीन-ग्रन्थो—वेदादि मे प्राय कम मिलता है। जबकि प्राचीन सिन्धु सभ्यता मे कपास के बने कपडे पहिने जाते थे। परन्तु वैदिक सहिताओ और ब्राह्मण ग्रन्थो तक में कपास का उल्लेख नही। सबसे पहले 'कार्पास' का उल्लेख आश्वलायन और लाट्यायन स्रौत सूत्र में आया है। इनके अनुसार सोमयक के पौतृ को कर्पास का कपडा (कार्पास मवास) दक्षिणा रूप मे दिया जाता था। किन्तु 'शतपथ-ब्राह्मण' मे यह शब्द अच्छे कपडे पहनने वालो के लिये व्यवहृत किया गया है।

शिरो वस्त्र—प्राचीन काल मे शिरोवस्त्र की दशा भी अत्यन्त अद्भुत रही है। कही लोग नगे सर रहे हैं, कही सर ढकने के लिये विभिन्न प्रकार के आवरण अपनाये गये हैं।

इस प्रश्न पर प्राय सभी विद्वान् एक मत हैं कि सिन्धु सभ्यता के लोग कपडा सीकर पहनना नही जानते थे, चादर की तरह उसे ओढते थे और लगोटी पहनते थे। डा० मेके का कथन है कि मोइन-जो-दडो की स्त्रिया और पुरुष पखे के आकार का एक शिरोवस्त्र अवश्य पहनते थे। किन्तु इस बात का पता नही लग सका कि उसके बनाने मे कौन सा कपडा वे लोग लगाते थे। मेके का कथन है कि यह कपडा माडी देकर कडा किया जाता था और फ्रेम पर चढाकर इसे बनाया जाता था। कुछ लोगो की यह भी धारणा है कि इस शिरोवस्त्र का ज्ञान उन्हे तब हुआ हो, जब पहले वे चादर का एक कोना बाधकर शिरोवस्त्र का काम लेते थे।

साची मे इस शिरोवस्त्र का रूप ऐसा ही पाया गया है। जब यह दोनो तरफ दिवलीदार न होकर, सादा होता था और इस पर कुछ अलकार कढे होते थे।

कभी-कभी इसके दोनो ओर अलकार कढे होते थे और कभी-कभी मनको और

कौडियो की लडिया बनाकर, एक चोगानुमा अलकार का रूप बना लिया जाता था। कही-कही यह सीधा रखा हुआ दीख पडता है, और कही-कही यह पीठ पर पडी चोटी से लगा हुआ और सर से एक फीते से बँधा हुआ है।

उस समय बहुत सी स्त्रिया दीवलेदार शिरोवस्त्र भी पहनती थीं। पेशानी पर बधे एक फीते के सहारे यह शिरोवस्त्र रुका रहता था। शिरोवस्त्रो में लगी इन दिवालियो में काजल जैसे धब्बे लगे मिले हैं, जिनसे पता चलता है, सम्भवत इनमें छोटे दीप भी जलाये जाते हो। इस आभास की पुष्टि के लिए और भी प्रमाण हैं। वह यह कि मध्यकालीन आधुनिक दीप लक्ष्मी की मूर्तियो का श्रोत प्रागैतिहासिक काल है। यह भी सम्भव है, जलने वाले इन दीपो का प्रयोग देवियो के लिए ही होता हो।

इनके अतिरिक्त और भी अद्भुत शिरोवस्त्र मिले हैं। पखे के आकार वाले इन शिरोवस्त्रो पर एक तिपाई सी दीख पडती है। सभवत यह भी किसी अलकार की द्योतक हो अथवा देव-पीठिका हो सकती है। आज भी स्त्रिया सरो पर देव-पीठिका लेकर मदिरो में जाती हैं। मोइन-जो-दडो में पगडी पहने मूर्तियाँ कम मिली हैं। लगता है, स्त्रिया कभी-कभी ऐसी-वैसी बनी टोपी भी पहनती रही हो।

आर्यकालीन भारत मे प्रारम्भ से ही ओढनी का वर्णन मिलता है। कुषाण काल मे भी स्त्रियाँ ओढनी ही ओढती थी। हाँ, यवनी (यूनानी) स्त्रिया या तो नगे सिर रहती थी, अथवा ओढनी को पगडी की तरह बाँध लेती थी। उनके स्नान कराने वाले सेवक लाल रग की धोती पहनते थे, जिनके सर रूमाल से ढके रहते थे। इसके पश्चात् गुप्त काल में स्त्रिया रत्नपट पहनती थी और बहुत सी जालीदार टोपिया भी पहनती थी।

खान-पान—इनका खानपान अत्यन्त सरल था। प्रारम्भ में जगली फल-फूल खाते थे। उसके पश्चात् कृषि करके भोजन जुटाते थे। यह लोग 'उत्तम-खेती मध्यम वणिज' के आधार पर स्वय का बोया हुआ अन्न ही धर्मानुकूल समझते थे। मास का प्रचलन नही था। यज्ञो मे बलि-प्रथा बहुत काल बाद आई। प्रारम्भ मे आर्य ऋषिगण तो नमक तक स्वय का ही बनाया हुआ खाते थे।[१] वैसे वेद में न नमक का वर्णन है, न सूती कपडे का। इसके बाद जौ के सत्तू का प्रयोग करना शुरू किया। मक्खन, दूध-मलाई का प्रयोग पशु बाहुल्य के कारण बहुत था। इसके बाद जब व्यवस्थित रूप से मैदानो मे खेती की जाने लगी, तब प्रत्येक प्रकार के अन्न उगाये जाने लगे। 'यजुर्वेद के एक मन्त्र मे[२] व्रीहि (धान), यव (जौ), माष (उर्द), तिल, मुद्ग (मूँग),

---

१. देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्य मध्यतरं हवि।
शेषमात्माने पुञ्जीत लवणं च स्वय। —मनुस्मृति

२. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे प्रियगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्चय मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पताम्।
(यजु० १८/१२)

खल्व, प्रियगु, श्यामाक नीवार, गोधूम और मसूर का वर्णन है । "तैत्तिरीय-सहिता मे भी इन्ही अन्नो को गिनाया है । 'खल्वा ' का अर्थ सायरण ने "मुद्गेभ्योऽपि स्थूलबीजा " किया है । मसूर का उपयोग मूँग के समान ही सूप (पेय रस) बनाने मे किया गया है । (मसूरा· मुद्गवत् सूपहेतव) सूक्ष्मशालियो (शाली धान्य) का नाम अणु बताया है । श्यामाक एक विशेष ग्राम्य धान है और नीवार आरण्य-धान (जगली अन्न है) । इसे कुत्सित यव कूयव नाम दिया है ।

वैदिक-युग मे खान-पान पर प्रकाश शिशु-जन्म के सस्कारो से भी पडता है । बृहदारण्यक उपनिष् के अनुसार नवजात शिशु को गोद मे लेकर पिता दही और घी की हवि बनाकर यज्ञ करता था । यज्ञ करते समय वह कामना करता था—इस शिशु से सवर्धनशील होकर मैं सहस्रो का पोषण करूँ । पशुओ और सतति का मेरे लिए कभी विच्छेद न हो । पश्चात् वह दधि, मधु और घी को स्वर्ण से मिश्रित करके शिशु को खिलाते हुए कहता था—'भूस्ते दधामि, भुवस्ते दधामि, स्वस्ते दधामि । भूर्भुव स्व सर्वं त्वयि दधामि ।' अर्थात् मैं तुम्हे भू (पृथ्वी), भुव (वायुलोक) और स्व (स्वर्ग लोक) की प्रतिष्ठा करता हूँ । भारतीय वाङ्मय के अनुसार दधि इन्द्रियो की शक्ति का सवर्धक है । मधु औषधियो का रस है और घी पशुओ का तेज है[१] । 'शतपथ-ब्राह्मण' ने भी दही, मधु और घी को सर्वश्रेष्ठ माना है ।[२]

वैदिक काल मे आर्य यव (जौ) की खेती करने के कारण 'यवमन्त ' कहलाते थे । जौ से वह विविध प्रकार के व्यजन तैयार करते थे । 'ऋक्' और 'यजुर्वेद' मे उनके सकेत हैं ।[३] इन सकेतो के अनुसार धान पकाकर और माँड उतार कर भी खाया जाता था, भुने जौ के आटे को मट्ठे मे पकाकर 'मासर' बनाते थे । इसके अतिरिक्त वैदिक-काल मे दूध से दही, मट्ठा, आमिक्षा, वाजिन, घृत आदि का बनाना साधारण बात थी । दूध से पहली बार कैसे दही तैयार किया गया होगा, दही जमाने के लिए जामन कहाँ से और किस वस्तु से लिया गया होगा, इसका कोई सकेत नही । परन्तु भारतीयो की यह रसायनिक प्रक्रिया शोध के इतिहास मे अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान रखती है । अन्न आदि मे खमीर उठाकर, खट्टी और मादक वस्तुओ को तैयार कर लेना 'किण्डव रसायन' की ऐतिहासिक घटना है । जौ की शराब और तरह-तरह की काँजियाँ आज भी मनुष्य के प्रसिद्ध पेयो मे हैं ।

वैदिक आर्य मधु से परिचित होकर तो अपने भोजन को मीठा बनाते ही थे, ईख से भी परिचित थे । अथर्ववेद मे ईख का पर्याप्त उल्लेख आया है[४] । 'ऋग्वेद मे

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण ८/२० ।

२ शतपथ ब्राह्मण ६/२/११ ।

३ ऋ० १०/१३१/२ , यजु० १०/३२ , १६/६ ।

४ अथर्व० १/३४/५, , १/३४/१ ।

छलनी से सत्तू छानने का उल्लेख भी है। अथर्व० और यजुर्वेदमे जहाँ सिल, खरल तथा रसोईघर के अन्य बर्तनो का उल्लेख है, वहाँ छलनी के स्थान पर छाज (सूप) का उल्लेख है।

'अथववेद' के काल तक भी आर्यों के मास खाने का कोई सकेत नही मिलता। वह केवल पृथ्वी की स्तुति वनस्पति, अन्न और दुग्ध के लिये ही करते थे। उदाहरणार्थ अथर्ववेद का ऋषि पृथ्वी की स्तुति करता है—'ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्त ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथ्वि नो दुहायताम् ।"*

अर्थात् आपके ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतु दिन और रात्रि हमे दुग्ध प्रदान करें।

आर्यों का औषध-ज्ञान—प्राचीन आर्यो ने अपनी चिकित्सा का प्रारम्भ जडी-बूटियो से किया और पश्चात् वह रसायनिक बने। ऋग्वेद के १० वे मण्डल के सूक्त जिसके ऋषि 'आथर्वण' भिषक् हैं, औषधियो का विस्तृत विवरण दिया हुआ है। कहा गया है कि यह औषधियाँ देवताओ द्वारा उत्पन्न हुई। तीनों युगो मे यह विद्यमान रही। इनकी सख्या ७०० के लगभग है। जिनमे सोम विशेष महत्त्व की है। हजारो वार रोगियो पर इनका प्रयोग हुआ है और उनके रोग दूर हुए है। अत. स्तुति मे औषधियो को मातृरूप कहा गया है। इसके अनन्तर कहा गया है—"जो औषधियो को जानता है, वही चिकित्सक है और वही रोगहर्ता है। इन औषधियो की विस्तृत सूची ऋक् के अतिरिक्त यजुर्वेद मे भी है।

वैदिक औषधियो का प्रचार मिस्र, सुमेर, असीरिया, बेबीलोनियाँ आदि देशो मे भी था। डा० फिलिओजे (Filliozat) ने अपने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा लिखा है कि ईसा से १५०० वर्ष पहिले मध्यपूर्व और पूर्व के सभी देशो मे, लगभग एक-सी ही औषधियो का प्रचार था।

चिकित्सा का विकास—जडी-बूटियो के साथ चिकित्सा का विकास जडी-बूटियो के विविध प्रयोग के रूप मे हुआ। अथर्ववेद मे जडी-बूटियो के साथ सूखी वस्तुओ का प्रयोग भी औषधियो के साथ होना शुरू हो गया था। जैसे जख्म के लिए सिलार्चा (लाक्षा) औषधि का प्रयोग अचूक बताया गया है। इस औषधि को पीसा जाता था। बाद मे गर्म किया जाता था। औषधियो का इस तरह का प्रयोग चिकित्सा-पद्धति मे प्रथम रसायनिक प्रक्रिया थी, जिसका ही आगे विकास हुआ है। ऋग्वेद (१/१/२३) मे बताया गया है कि सब रोग पानी से दूर होते है।

धर्म-व्यवस्था—ऋग्वेद-काल मे ही आर्यों ने धर्म-व्यवस्था की नीव डाल दी थी। परन्तु वह व्यवस्था जातिगत न होकर, 'कर्मवाद' के आधार पर थी और धर्म-व्यवस्था की स्थापना का वस्तुत मूल कारण भी यही था। भारतीय वाङ्मय मे भी

* अथर्व० १२/१/३६।

'धर्म' का अर्थ अत्यन्त व्यापक रहा है। धार्मिक नियमो के अन्तर्गत व्यक्ति विशेष के विकास, समाज के उत्थान और राष्ट्र के अभ्युदय के साथ-साथ अधिभौतिक और आध्यात्मिक मान्यताओ का विशेष ध्यान रखा गया था। इस प्रकार मनुष्य आरम्भ से अन्त तक अपने, समाज के, राष्ट्र के, विश्व के और प्रकृति के प्रति उत्तरदायी होकर अपना जीवन-यापन करता था। इस जीवन-यात्रा मे उसका और उसके प्रति दूसरो का आचार-विचार धर्मपरक होकर पवित्र और कल्याणमय हो जाता था। 'धर्म' व्यक्ति को 'धर्म-दास' बनाकर उसे सहिष्णु बनने की प्रेरणा प्रदान नही करता था। इसके विपरीत व्यक्ति द्वारा समाज और समाज द्वारा राष्ट्र और राष्ट्र द्वारा विश्व मे मानव धर्म और भारतीय सस्कृति के विकास का सम्बल केवल धर्म ही था, क्योकि धर्म से ही सस्कृति का जन्म होता है और सस्कृति से ही राष्ट्र और समार का कल्याण होता है। अत भारतीय-धर्म की स्थापना मे महापुरुषो ने अपनी उन्ही अनुभूतियो को स्थान दिया था, जिनका आभास उन्हे सत्य के प्रयोग द्वारा हुआ था। यही कारण भारतीय सस्कृति के विकास का हुआ।

भारतीय धर्म-व्यवस्था मे मानव-जीवन की सभी आधारभूत बातें निहित है। उसमे मानवीय सस्कारो द्वारा व्यक्ति की महानता के उपाय अर्थात् अपने जीवन के चारो आश्रमों द्वारा व्यक्तित्व का विकास, ईमानदारी और सच्चरित्रता से नागरिक जीवन का पालन निश्छलता से अपना कारोबार करने, दुर्गुणो के त्यागने, बुरे मनो-रजनो से दूर रहने, अपने पशुओ और परिवार के प्रति सहृदय रहने की आज्ञाएँ और देव, पित्तरो तथा पूर्वजो के प्रति निष्ठा और श्रद्धावान् रहने के आदेश हैं, जिसमे जीव-हत्या की निन्दा, अपहरण, बलात्कार, सूदखोरी, चोर बाजारी, रिश्वतखोरी और न्याय के प्रति निष्ठावान् न रहने वालो को नर्कगामी माना गया है। अत भारतीय धर्म-व्यवस्था मे प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को अपना जीवन धर्म की व्यवस्थाओ के अनुसार पालन करने का उपदेश दिया गया है। दो शब्दो मे, ऋग्वेद-कालीन समाज का सादा जीवन और उच्च विचार थे। समाज चिन्तनशील था। अत उसने अपने जप-तप द्वारा ज्ञान की शक्ति से साक्षात्कार किया। प्रत्येक ऋषि कुल विद्यालय बन गया और वहां ऐसे उच्च साहित्य का सृजन हुआ जो अपनी रचना मे सम्पादन तो दूर, मात्रा-परिवर्तन भी स्वीकार नही करेगा।

भारतीय धर्म-व्यवस्था मे 'कर्म-फल' की भावना सदा से रही है। इस सिद्धात को भारती धर्म-व्यवस्था के प्रत्येक काल मे तो अपनाया ही गया है, अन्य धर्मा ने भी अपनाया है। कर्म फल के भारतीय सिद्धान्त के अनुसार, व्यक्ति को अपने जीवन मे तो कर्मो का फल भोगना ही पडता था, साथ ही उसे कर्म फल के लिए विभिन्न योनियो मे भटकना होता था और अन्त मे कर्मानुसार स्वर्ग अथवा नर्क मिलता था। कर्म-फल की यह धारणा समाज मे सदाचार का कारण बनी और व्यक्ति विशेष की पुण्यमयी प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिला।

धार्मिक जीवन मे कर्मकाण्ड—वैदिक-कालीन कर्मकाण्ड-पद्धति उतनी ही

जटिल थी, जितना सामाजिक-जीवन सरल था। वह अनेक देवताओ की उपासना करने थे। उदाहरणार्थ द्यावा पृथ्वी=आकाश और भूमि, वरुण—जो मूलत आकाशीय देवता थे, जिनकी स्तुति मे ऋग्वेद मे सर्वोत्तम मत्र रचे गये हैं। ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तो मे 'वरुण' ऋतु के अधिपति हैं, जो विश्वजनीन नियमो की सज्ञा थी, कालान्तर मे जिसका प्रयोग ससार के नैतिक नियमो के लिए हुआ। 'इन्द्र' सर्वोत्तम वैदिक देवता थे। यह आकाशीय शक्तियो के स्वामी थे। वरुण से इनका पद उच्च था। इनके अति-रिक्त 'सूर्य' देवता भी मुख्य थे। दार्शनिक ग्रन्थो में वेद मे आई गौओ को भी सूर्य की किरणें ही माना गया है। ईरान मे यही मिथ्र नाम से पूजे गये। पूषन् औषधि और वनस्पति जगत् की वृद्धि मे सहायक, सूर्य की शक्ति का प्रतीक था। विष्णु जो प्रारम्भ मे आकाशचारी सूर्य के रूप थे, कालान्तर मे उनकी पूजा पृथक् देव के रूप मे हुई। 'रुद्र' उग्र प्रकृति के देवता माने जाते थे, दो अश्विन जो प्रात और साय के नक्षत्र द्वै के वाचक थे, मरुत्त जो रुद्र के सहायक थे, वायु पर्जन्य, वृष्टि, जल और नदियो के देवता थे, उषा प्रात काल की अधिष्ठात्री देवी थी, जिसकी प्रशसा ऋग्वेद मे विशेष रूप से हुई है। इनके अनन्तर गृहस्थ देवता अग्नि था। जिसके तीन रूप थे—आकाश मे सूर्य, अतरिक्ष मे विद्युत् और पृथ्वी पर भौतिक अग्नि। इन्ही शक्तियो का कालान्तर मे विज्ञान-जगत् मे भी विकास हुआ।

ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे विश्व की मूलभूत एकता का प्रतिपादन करते हुए उसे 'ब्रह्म' की एक अद्वितीय रचना कहा गया है और 'असत्' तत्व के अग्नि या जलीय रूप मे विकसित होने पर सृष्टि की रचना मानी गई है। ऋग्वेद के मत्र (१/१६४) मे स्पष्ट रूप से(एक सत्)एक तत्व का उल्लेख है। ऋग्वेद के इस सत्य को ही विभिन्न रूपो मे, विभिन्न धर्मों ने ग्रहण किया है। मृत्यु के पश्चात् ऋक् ज्ञान यम-लोक मे विश्वास करता है। भारतीय धर्म या सस्कृति का मूलाधार वह तत्त्व है, जिनमे व्यक्ति विश्व के कल्याण की कामना करता है। भारतीय सस्कृति के सस्थापको ने इन सिद्धातो से भी आगे वढकर अपने त्याग का अपूर्व परिचय दिया है। भर्तृहरि ने ऐसे सत्पुरुषो की चर्चा करते हुए कहा है—"एके सत्पुरुपा परार्थघटका स्वार्थ परित्यज्य ये।" अर्थात् जो स्वार्थ की भावना अपने मन से दूर करके, दूसरे का हित करते हैं, वे सत्पुरुप है। इन सिद्धान्तो का आदर्श पूर्व वैदिक-काल से वर्तमान हिन्दू काल तक ज्यो का त्यो अपनाया गया। मध्य-कालीन जैन और बौद्ध-धर्मो ने तो इन सिद्धान्तो को पराकाष्ठा तक पहुचा दिया था।

भारतीय सस्कृति का दूसरा आदर्श 'समानता', 'बन्धुत्व', प्रेम और दया-भावना का प्रतीक था। इनके प्रचार मे भारतीय-सस्कृति के उन्नायको ने, सहिष्णुता और विनय से काम लिया। इसी सास्कृतिक कार्यक्रम को अशोक ने 'धर्म विजय' का नाम दिया। अत भारतीय-सस्कृति के उन्नायको का प्रथम ध्येय यही रहा कि जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर हो, वह सब के लिए हो। गीता के निम्न श्लोक से भारतीय सस्कृति की त्याग-भावना पर अच्छा प्रकाश पडता है। यथा—"यत्करोपि यदश्नासि

यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्त पस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ ९/२७॥

अर्थात् भगवान् के लिए ही सब कुछ समर्पण कर देना है, अपने लिये कुछ भी नही है।

धर्म—आर्य लोगो का प्रारम्भिक-जीवन अत्यन्त साधारण और विचारशील धर्ममय था। आर्य सभ्यता के मूल रूप मे, वैदिक-धर्म का वर्णन 'छान्दोग्यो उपनिषद' मे किया गया है। उसमे लिखा है—

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययन दानमिति।
प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीय।"

अर्थात् धर्म के तीन भाग है। यज्ञ, अध्ययन और दान पहिले विभाग मे है।[१] तप दूसरा विभाग है और ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्य कुल का वास तीसरा विभाग है। 'वहाँ धर्म का रूप' यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप और ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। अत उन्होने अपने समाज की भित्ति का आधार ब्रह्मचर्य को मानकर ही रचना की और जीवन का चौथाई भाग ब्रह्मचर्य से रहकर तप और स्वाध्याय के लिए रखा इसके बाद जीवन का एक भाग गृहस्थ आश्रम के लिए, दूसरा वानप्रस्थ आश्रम के लिए और तीसरा सन्यास आश्रम के लिए था। इस अन्तिम काल मे आर्य ग्राम या नगर से बाहर रह कर, समस्त व्यक्तियो को अपना मानते थे। उनके कल्याण के कार्य करते थे। बच्चो को शिक्षा और बडो को उपदेश देते थे।

अथर्ववेद—काल तक भारतीय ऋषि देवी-देवताओ की कल्पना से विरत रह कर मात्र-प्रकृति से ही अपने कल्याण की कामना करते हुए उसकी स्तुति करते थे। इस स्तुति मे भी प्रमुखता अपनी हिरण्यगर्भा—पृथ्वीमाता को देते थे, क्योकि वही उनकी सुख-समृद्धि की दाता थी। अत ऋषि पृथ्वी माता से कामना करते थे—

"भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठिम्।
सविधाता दिवा कवे श्रियां मा धेहिभूत्याम्॥"

अर्थात् हे पृथ्वीमाता मुझे प्रतिष्ठा प्रदान करो, द्यौ के साथ मुझे श्री और विभूति मे सम्पन्न करो। अत अथर्ववेद के १२वे काण्ड मे प्रथम सूक्त मे आद्योपान्त पृथ्वी के विभिन्न स्वरूपो का ही स्तवन किया गया है।

भारत-भूमि की रमण्यता से भारतीय ऋषि ही प्रभावित नही थे, अपितु विदेशी भी प्रभावित थे। 'प्लीनी' ने भी भारत-भूमि को रत्नो का भण्डार और मोती मिलने का स्थान मान कर इसकी प्रशसा की है। अपने ग्रन्थ 'आसारुल विलाद कजनीवी" मे अबू जिलअ सिन्धी ने लिखा है—"अपने प्राणो की कसम, यह वह भूमि है, जब यहाँ

१ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।—यजुर्वेद
२ अथर्व १२।१।६।

पानी बरसता है, तब यहाँ दूध, मोती और लाल उगते है।" इनके अतिरिक्त अब्दुल्ला वस्साफ ने लिखा है—"सभी लेखक इस विषय पर एक मत हैं कि रुहे-जमीन पर हिन्दुस्तान, रहने की सबसे शानदार जगह है। वह दुनिया का सबसे खूबसूरत टुकडा है। इसकी धूल हवासे भी पाक है और हवा पाकीजगी से भी पाकीजा है।[1]

प्राचीन आर्यों की वैवाहिक पद्धति—आर्य-विधान मे विवाह को भी एक परम पवित्र सस्कार माना जाता था। विवाह करने वाले युवक की क्या योग्यता हो, उसकी तथा वधु की क्या आयु हो—वैदिक-काल मे इनका विशेष ध्यान रखा जाता था। वेदो के अनुसार सबसे पहिला सस्कार विवाह ही है। अथर्ववेद मे लिखा है—

"शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमाभिषिञ्चामिवोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥"
(अथर्व ६।१२२।५)

अर्थात् शुद्ध-पवित्र और पूजनीय, इन स्त्रियो को मैं ज्ञानियो के हाथो मे अलग-अलग सौंपता हू और जिस कामना के लिये मैं तुम्हारा यह अभिषेक कर रहा हूँ, वह मेरी कामना सब देवता पूर्ण करे। इस मत्र मे विवाह करने वाली कन्या को शुद्ध, पवित्र और पूजनीय बतलाया गया है और जिसके साथ विवाह होना है, उसे ज्ञानी-विद्वान् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि हर प्रकार से योग्य कन्या और वर का ही विवाह वैदिक है।

ऋग्वेद-काल मे स्वयवर प्रथा भी थी। कन्याओं को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १०।२७।१२ का मन्त्र है—

"कियती योषा मर्यतो वधूयो. परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा. स्वयं सा मित्रं वनते जनेचित्॥

अर्थात् वधु बनने वाली कितनी ही स्त्रियाँ जो भद्र और सुरूपा होती हैं, मनुष्य के गुणो को पसन्द करके अपने मित्र (पति) को जनसमूह से स्वय चुन लेती हैं।

एक दूसरा श्लोक है—

"वधुरियं पतिमिच्छन्त्येति।" ऋग्वेद ५।३७।३

अर्थात् कन्या को अपना पति खोजकर विवाह करना चाहिये। ऋग्वेद के पश्चात् स्वयवर प्रथा की झलक अथर्ववेद-काल मे भी मिलती है। यथा—

"युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानो।" अथर्व १४।२।४२

अर्थात् तरुण वर और कन्या को विवाह करना चाहिये। इसके अतिरिक्त निम्न श्लोक से उसकी वैवाहिक आयु का भी सकेत मिलता है। लिखा है—

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम्।" अर्थात् दोनो ब्रह्मचारि और युवा हों।

वेद-काल मे अल्पायु कन्या का विवाह नही होता था। कन्या की आयु के बारे मे लिखा है—

---

१ ताजियातुल अम्सर।

"सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा : ।।
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये ।
रयिं च पुत्राश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ।।
(ऋ० १०।८५।४०-४१)

अर्थात् पहिला पति सोम है, दूसरा गन्धर्व है, तीसरा अग्नि है और चौथा मनुष्य है। सोम गन्धर्व को देता है गन्धर्व अग्नि को देता है और अग्नि धन और पुत्रो के लिए मुझ को देता है। उक्त मत्र का स्पष्टीकरण करते हुए अत्रिस्मृति मे कहा गया है कि मनुष्य के पूर्व कन्या को सोम, गन्धर्व और अग्नि आदि देवता भोगते हैं । अर्थात् रोम काल मे सोम, स्तनकाल मे गन्धर्व और रजोदर्शन काल मे अग्नि का प्रभाव रहता है। इसलिए कन्या का विवाह रजोदर्शन काल मे ही होना चाहिए।

कन्या की आय के पश्चात् वर की आयु का वर्णन भी ऋग्वेद मे है। यथा –

युवा सुवासा· परिवीत आगात्स उ श्रेयान्भवति जायमान ।
त धीरास. कवय उन्नयति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ।।
(ऋ० ३।८।४)

अर्थात् जो युवावस्था को प्राप्त होकर, विद्या पढ कर, यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रों को पहिन कर आता है, वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान् तथा धीर पुरुष अन्त करण से उन्नत करते हैं। इस यत्र मे समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के समय ही विवाह होता है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय पुरुष भी युवा होना चाहिये। इसके अतिरिक्त विवाह की प्रतिज्ञा को भी मत्रो मे भली प्रकार दर्शाया गया है। यथा—

"गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरधिर्मह्यं त्वादुर्गाह पत्याय देवाः ।।
(अथर्व १४।१।५०)

भगस्ते हस्तमग्रहीत सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ।।
(अथर्व १४।१।५१)

अर्थात् भग अर्थमा, सविता और पुरन्धि आदि देवताओ ने मुझ को गार्हपत्य के लिये तुझे दिया है। अतएव मैं सौभाग्य के लिये तेरा हाथ पकडता हू। तू वृद्धावस्था पर्यन्त मेरे साथ रह। भग और सविता आदि देवताओ ने, तेरा हाथ मुझ पकडाया है, इसलिए अब तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हू। इसके पश्चात् वधु प्रतिज्ञा करती है।

"अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासा कीर्तयाश्चन ।। अ० ७।३७।१

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्व केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।। अ० ७।३८।४

अर्थात् हे मननशील पुरुष ! मैं तुझे अपने वस्त्र से बांधती हूं, जिससे तू मेरा ही रहे और दूसरी स्त्रियो की कभी बात न करे । मैं प्रतिज्ञा कर रही हूं और इस सभा मे तू भी प्रतिज्ञा कर जिससे तू मेरा ही होवे और अन्य स्त्रियो की कभी बात न करे ।

भौतिक-विज्ञान—आर्यो का भौतिक विज्ञान बहुत ऊँचा था । इन्होने सूर्यकान्त-मणि, और 'चन्द्रकान्तमणि नामक दो यंत्र बनाये थे, जो प्राय चिकित्सा के काम आते थे । चन्द्रकान्तमणि द्वारा चन्द्रमा से पानी बनाया जाता था । वह पानी अनेक रोगो मे बीमारो को पिलाया जाता था । 'सुश्रुत' मे लिखा है—

"रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादि ज्वरदाहविषापहम् ।
चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम् ।।" सुश्रुत ४५।३०

अर्थात् चन्द्रकान्त से बना हुआ जल शीतल निर्मल, आनन्द देने वाला, पित्त ज्वरदाह और विष का नाश करने वाला है । यह चन्द्रकान्तमणि अकबर के समय तक रही, क्योंकि 'आईने अकबरी' पृष्ठ ४० पर इसका उल्लेख है ।

वेद के 'सप्ताश्व' प्रकरणानुसार सूर्य की सात किरणो का ज्ञान, संसार मे सबसे पहिले आर्यो ने प्राप्त किया ।

ज्योतिष के ग्रन्थो मे पृथ्वी से नक्षत्रो की दूरी भी लिखी हुई है और कणो, मेघो तथा विद्युत् की दूरी भी १२ योजन लिखी हुई है । इसके अतिरिक्त उन्होने सूर्य के काले धब्बो का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया था । इन धब्बो को यूरोपियन विद्वान् बडे-बडे दूरबीक्षण-यन्त्रो की सहायता से कल ही जान पाये हैं । रामायण मे इनका उल्लेख आ चुका है । यथा रामचन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं—

"ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेशस्तु लोहित ।
आदित्ये विमले नील लक्ष्य लक्ष्मण दृश्यते ।।

—वाल्मीकि रा० युद्ध० २३।९

अर्थात् विमल आदित्य मे छोटा-सा काला दाग दिखाई पड रहा है ।

आर्यो की वैज्ञानिक प्रगति

भारतीय आर्यों ने विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे इतनी उन्नति कर ली थी, जितनी अभी तक कोई भी पश्चिमी देश नही कर सका है । उस समय का विज्ञान बहुत ऊंचाई तक पहुच चुका था । सभी प्रकार के वैज्ञानिक-यन्त्र यहाँ मोजूद थे । विज्ञान द्वारा ही चिकित्सा होती थी । ऋग्वेद के मन्त्र १।"८।११—३० मे तार-यन्त्र का सांकेतिक वर्णन है । १।३।६।७ तथा १।३।९—४ मे नौका, रथ और विमान का भी वर्णन है । ऋग्वेद ८।२।१०।१ मे पृथ्वी के घूमने का वर्णन है । लिखा है—'पृथ्वी सूर्य के पास फिरती है ।' यजुर्वेद २३।६२ मे भी खगोल विषयक वर्णन है । खगोल

शिल्प आदि विद्याओ के अतिरिक्त समाज कैसा होना चाहिये, अर्थात् समाज-शास्त्र का भी वर्णन आया है।

इन्ही विद्याओ का विकास हम वैदिक-कालीन तृतीय चरण अर्थात् रामायण काल मे अपने दक्षिण भारत मे देखते है, क्योकि रामायण मे आये रावण के वर्णन से ज्ञात होता है कि उसने देवताओ को दास बना रखा था और उनमे काम लेता था। इसका स्पष्ट आशय है कि रामायण-काल मे यत्रो का बाहुल्य हो चुका था। देवताओ के दास बनाने का अभिप्राय भी यही है कि वहाँ जल शक्ति, विद्युत-शक्ति वाष्प-शक्ति का प्रयोग होता था। लका के उन यत्रादि के व्यापार के कारण ही, लका 'स्वर्णनगरी' कहलाती थी। हनुमान के लका दहन के प्रसग मे कहा गया है कि उस अग्नि-काण्ड से लका काली पड गयी, उसका भी अभिप्राय यही है कि उस अग्निकाडमे लका के उद्योग-धन्धो को क्षति पहुची और रावण द्वारा रचित अनेको ग्रथ उस अग्नि से जल गये। उसके पास केवल उसका राज्यीय विमान 'पुष्पक' ही शेष रह गया था।

वैदिक शिक्षा-प्रणाली—वैदिक सामाजिक रूपरेखा मे विदित होता है कि उस काल मे बालक की शिक्षा का प्रारम्भ १२ वर्ष की आयु मे होता था, क्योकि उस काल की शिक्षण विधि मे वेदो का सस्वर पारायण अनिवार्य था। आचार्य के पढाये शब्दो के शिष्यो द्वारा दुहराने का वर्णन है। ७।१०३।४। अत वह अल्पायु छात्र के लिये यह असभव था। बारह वर्ष की उम्र होने पर ही शिशु मे यह शक्ति आ जाती थी और १२ वर्ष तक ही गुरु के वन-उपवन (आरण्य) आश्रम मे उसकी शिक्षा चलती थी। शिक्षा मे प्रवचन और उच्चारण का विशेष महत्त्व था। शिक्षा साधन तप था। ऋग्वैदिक शिक्षा मानसिक कम्पन और ध्यान पर आधारित थी। जिसके फलस्वरूप ज्ञान का प्रकाश मिलता था।

पश्चात् यह आश्रम नगरो के पास भी बनने लगे। गुरुओ के घर भी स्कूल बने और देव-मन्दिरो मे भी शिक्षा शुरु हुई। भारत मे स्कूली पद्धति तो ब्रिटिश काल की बात है। परन्तु विश्वविद्यालीन प्रथा ब्रिटिश-जन-जीवन के प्रारम्भ मे भी प्राचीन है। इन्ही का अनुकरण यूनानियो और मिस्रवालो ने भारतीय गुरुओ की सहायता से अपने यहाँ किया था। सिकन्दरिया और एथेन्स के विश्वविद्यालय तक्षशिला विश्व-विद्यालय के अनुकरण पर ही बनाये गये थे। अस्तु, शिक्षा प्रारम्भ गायत्री मन्त्र द्वारा होता था। वह भी विभाजित रूप मे। इसके पश्चात् ही उन्हे शुद्ध वेदपाठ की शिक्षा दी जाती थी। उच्चारण की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

उपनयन-सस्कार—उपनयन का मौलिक अर्थ है (आचार्य द्वारा) ग्रहण किया जाना। प्रत्येक आचार्य अपने विद्यार्थी का उपनयन करता था। ५वी शताब्दी मे उपनयन का दूसरा नाम आचार्यकरण भी मिलता है।* काशिका मे आचार्यकरण उस

* पाणिनी १।३।३६

प्रक्रिया का नाम बताया गया है जिसके अनुसार आचार्य माणवक को अपने समीप लाता था। पिता आचार्य से जाकर निवेदन करता था कि आप उसका उपनयन करें। इस सस्कार के साथ बालक का ब्रह्मचर्य-जीवन प्रारम्भ हो जाता था।

आचार्य ब्रह्मचारी का हाथ पकडकर कहता था--'तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो' अग्नि तुम्हारा आचार्य है—मै तुम्हारा आचार्य हू।' वह विद्यार्थी को इन्ही दो देवताओ को सौप देता था। इसके पश्चात् वह उसे प्राणियो के निमित्त सौपते हुए प्रजापति और सविता देवताओ के लिये देता था। पश्चात् द्यावा पृथ्वी, ब्रह्म आदि देवताओ को सौप देता था। वैदिक विचारधारा मे इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, सविता द्यावा पृथ्वी आदि श्रेष्ठ और वलिष्ठ देवता हैं। इनके प्रभाव मे कभी ब्रह्मचारी विपत्ति मे नही पड सकता। आचार्य उपदेश देता था—'कर्म करो, कर्म ही बल है। बल का सवर्धन करो।' शतपथ ब्राह्मण काल मे भी उपनयन सस्कार की यही विधि थी।

सूत्र और उपनिषद् युग मे उपनयन का विस्तृत-विधान तैयार हो गया। उपनयन के लिये आयु पुन निर्धारित हुई। इस व्यवस्था मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था से लेकर, १६, २२ और २४ वर्ष तक उपनयन के योग्य समझे जाते थे। विशेष योग्ता के लिये क्रमश ५, ६ और ८ वर्ष मे भी उपनयन किया जा सकता था। इससे ज्ञात होता है कि स्मृति-काल का उपनयन, वैदिक उपनयन का प्रतीक मात्र ही रहा। शिक्षा की विस्तृत रूपरेखा का ह्रास हो गया। उस काल मे उपनयन-सस्कार मात्र दक्षिणा लेने भर के लिये रह गया। उन्हें यह भी ज्ञात नही रहा कि उपनयन सस्कार के पश्चात् समावर्तन सस्कार तक विद्यार्थी उन्ही के पास रहेगा।* इसके साथ ही उपनयन ब्रह्मचारी के घर पर भी होने लगा, जिसमे बालक के माता-पिता के अतिरिक्त परिवारी भी भाग लेने लगे। इस सस्कार मे तीनो वर्णों के लिये क्रमश वसन्त्, ग्रीष्म और शरद् ऋतुए उचित मानी गई। पश्चात् मास और तिथियो का विधान भी किया गया। अत सूत्रयुग मे उपनयन सम्बन्धी कर्मकाण्ड का भी विस्तार हुआ। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार उपनयन की कर्मकाण्डीय-विधि इस प्रकार थी—विद्यार्थी उत्तरीय और वास पहनकर, सर घुटवाकर मेखला और दण्ड धारण कर, उपनयन के लिये, आचार्य के सम्मुख बैठ उसका हाथ पकडता था और आचार्य हवन की अग्नि के पूर्व दिशा मे मुख करके 'आग्यहोम' करता था। पश्चात् आचार्य मत्र पढता था—

तत्सवितुर्वृणीमहे वय देवस्य भोजनम् ॥
श्रेष्ठं सर्वधातम तुर भगस्य धीमहि ॥

अर्थात् हम लोग सविता देव के भोजन को प्राप्त कर रहे हैं। वह श्रेष्ठ है। सबका पोषक और रोग नाशक है। यह मत्र पढकर वह हाथ का जल विद्यार्थी की

---

* शतपथ ब्राह्मण ११।५।८।, आपस्तम्भ गृह्यसूत्र ४।११।१६

अजुलि मे डाल देता था और उसका हाथ अगूठे के साथ पकड लेता था। इसके पश्चात् आचार्य कहता था—

'देवस्य त्वा सवितु प्रसवेऽश्विनो वाहुभ्या पूष्णो हस्ताभ्या हस्त गृहणाम्यसौ ।' अर्थात् सविता के अनुशासन मे अश्विन द्वय की वाहो से, पूषा के हाथो से मैं तुम्हारा हाथ पकडता हू । 'सविता ते हस्तमग्रभीदसौ' कहकर एक बार और वह उसका हाथ पकडता था । इसके पश्चात् वह तीसरी बार उसका हाथ पकडकर अग्नि और सूर्य से उसके कल्याण की कामना करता था । इस प्रकार विभिन्न देवताओ का स्तवन किया जाता था ।* महाभारत काल म राजाओ के द्वारा, राजकुमारो को शिक्षा दिलाने के लिये आचार्यों को नियुक्त करने के उल्लेख मिलते हैं । द्रोणाचार्य को पाडवो और कौरवो को शिक्षा देने के लिये नियुक्त किया गया था । उस काल मे राजा लोग आचार्यों के लिये आश्रम वनवा देते थे जो राजकुमारो का उपनयन करके उनको शिक्षा देते थे । अपने घर पर उपनयन करने की पद्धति का प्रारम्भ यही से होता है । ऐसे आचार्य गावो या नगरो के समीप बसते थे । इस प्रकार प्राचीन भारत मे बनवासी आचार्यो की परम्परा के साथ ही ग्रामीण आचार्यो की परम्परा भी चल पडा । यही ग्रामीण आचाय पुरोहित भी होते थे ।

कन्याओ का उपनयन—कन्याओ का उपनयन भी वैदिक-काल से ही होता आया है । बालको की अपेक्षा कन्याओ के उपनयन की आयु मे अन्तर रहता था और उपनयन कराने वाली कन्याओ की सख्या मे भी कमी रहती थी । उन्ही कन्याओ का उपनयन होता था जो विद्या के लिये ऋषि-आश्रमो मे जाती थी । प्रारम्भिक वैदिक युग के पश्चात् कन्याओ के विवाह की आयु मे क्रमश कमी होती गयी । परिणामस्वरूप उनका आश्रमो मे जाकर पढना भी बन्द होता गया और ऐसी कन्याओ की सख्या स्वल्पमात्र ही रह गयी जो उपनयन के पश्चात् वेद-विद्याओ का अध्ययन करती थी । इस बीच उपनयन की सार्थकता भी धुधली पडती गयी और पुरुषो के लिये भी यह सस्कार दिखावा मात्र रह गया । अत कन्याओ और लडको का उपनयन घरो पर ही होने लगा, वह भी केवल विवाह के समय केवल धार्मिक-विधान की पूर्ति मात्र के लिये ।

यज्ञोपवीत-संस्कार—पूर्व वैदिक युग मे वर्तमान-कालीन यज्ञोपवीत पद्धति का प्रचलन सभवत नही था , क्योकि उपनयन सस्कार के अवसर पर यज्ञोपवीत का वर्णन नही आता है । परन्तु यज्ञोपवीत का वैदिक अर्थ यही सिद्ध करता है कि इस समय भी यज्ञोपवीत पहना जाता था , क्योकि यज्ञोपवीत का अर्थ होता है, यज्ञ के समय पहना हुआ । सम्भवत. पूर्व वैदिक काल मे उत्तरीय धारण करने का नियम ही सर्वमान्य था । उत्तरीय धारण करने की तीन विधियो के नाम क्रमश निवीत, आवीत और उपवीत मिलते हैं । इनमे से उपवीत विधि से उत्तरीय धारण करने का प्रचलन

*ऋक् ५/८२/१

देवो मे था। यज्ञ करते समय मानव भी देव की कोटि मे आ जाता था। अत यज्ञ के अवसर पर वह भी उत्तरीय धारण करता था। पश्चात् समग्र जीव विन्यास को ही यज्ञ मानकर सदैव यज्ञोपवीत उत्तरीय धारण करने की रीति का प्रचलन हुआ।

सूत्रयुग मे सूत के बने हुए जनेऊ का विकल्प से प्रचलन हुआ। नियम बना कि गृहस्थ को सदैव उत्तरीय या सूत्र—उपवीत विधि से धारण करना चाहिये। उत्तरीय साधारणतया मृगचर्म का होता था। यदि विकल्प से सूत्र धारण किया जा सकता था तो भारत की जलवायु मे सम्भवत चर्म के उत्तरीय के स्थान पर सूत्र के जनेऊ से सुविधा हो सकती थी। इस सूत्र के जनेऊ का प्रचलन बढा।

यद्यपि सूत्र के जनेऊ ने 'सूत्रकाल' मे उत्तरीय का स्थान ले लिया था, फिर भी भोजन करते समय उत्तरीय को यज्ञोपवीत विधि से धारण करने का नियम बना कर वैदिक उत्तरीय विधि को सदा के लिये अक्षुण्य रखा गया।[१]

प्रारम्भिक समय मे यज्ञोपवीत प्रत्येक समय धारण नही किया जाता था। इसके लिये अवधिया नियत थी—जैसे कि [२]यज्ञ, जप, भोजन, आचमन और वृद्ध तथा अतिथियो के सत्कार के समय आदि।

उपनयन-सस्कार के अवसर पर उत्तरीय वस्त्र का सूक्ष्म रूप ही पहले वैकल्पिक विधि से और कालान्तर मे अनिवार्य रूप से ग्रहण किया गया।

वैदिक-काल मे यज्ञोपवीत का सूत्र सम्भवत अज्ञात था। सूत्र का जनेऊ भारतीय जीवन की सरलता और जलवायु के अनुरूप ही ग्रहण किया गया है। सूत्र के जनेऊ का प्रचलन होने पर उसकी रचना सम्बन्धी अभिव्यक्तियो का अनुसधान समय-समय पर किया गया। इस सस्कार के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाओ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और अद्वैत—तीन गुणो सत्त्व, रजस्, तथा तमस् और तीन ऋणो का परिचय कराया गया है और इसमे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, की तथा कुल के प्रवर महर्षियो की प्रतिष्ठा की गई है। स्त्रियाँ भी प्राचीन काल मे यज्ञोपवीत धारण करती थी। बाण ने 'कादम्बरी' मे तपस्विनी महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका शरीर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से पवित्र हो रहा था।

कन्याओं की शिक्षा—पूर्व वैदिक-काल मे कन्याओ की शिक्षा पर भी उतना ही ध्यान दिया जाता था, जितना छात्र की शिक्षा पर। वैदिक-काल मे कन्याएँ ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके, सभी प्रकार की शिक्षाए ग्रहण करती थी। उनका अध्ययन क्षेत्र छात्रो के समान ही था। यही कारण है कि उस युग मे अनेक ऋषिकाओ की प्रतिष्ठा विद्या के कारण ही हुई। ऋग्वेद की ऋचाओ की वे ऋषि बनी।[३] इनमे लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी, अपाला तथा काक्षीवती घोषा प्रमुख हैं। अथर्ववेद मे

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/२/४/२२-२३, २/८/१९/१२।
२ तैत्तिरीय आरण्यक २/१, शतपथ ब्राह्मण ११/३/३/२।
३. ऋग्वेद १/१७९; ५/२८; ८/९१, १०/३९/४०।

भी महिलाओ की उत्कृष्टता के विषय मे कहा गया है—"ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति प्राप्त करती है१ ।" इससे भी कन्याओ की शिक्षा पर प्रकाश पड़ता है ।

वेद-काल के पश्चात् भी कन्याओ की शिक्षा मे कोई कमी नही आई, क्योकि उपनिषदो मे भी कई दार्शनिक स्त्रियो की उच्चकोटि की विद्वता का परिचय मिलता है । याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ही अमर पद प्राप्त करना चाहती थी ।२ उपनिषद्-काल मे गार्गी प्रसिद्ध दार्शनिक महिला थी । उसने जनक की परिपद् मे याज्ञवल्क्य से दर्शन सम्बन्धी रहस्यमय समस्याओ का आकलन किया था । मैत्रेयी और गार्गी उसी समय से प्रात स्मरणीय रही है ।

उपनिपद् काल मे कन्याओ को विदूपी बनाने की आकाक्षा सर्वसाधारण मे पाई जाती थी । अत कन्याओ को शिक्षा देने के लिए विद्यालय बने । इन विद्यालयो मे शिक्षा देने वाली महिलाओ को आचार्य और 'उपाख्या' कहा जाता था ।३ पतजलि ने औदमेध्या तथा उसके शिष्यो का उल्लेख किया है ।४ उन्होने छात्राओ की उपाधियाँ 'अध्येत्री' और 'माणविका' बतलाई है । कर्ण वृन्दारिका कठशाखा की श्रेष्ठ छात्रा थी । वेद पढने वाली कन्याएँ 'बह्वृची' कहलाती थी । पाणिनी ने शस्त्र-सचालन की विद्या सीखने वाली कन्याओं का भी उल्लेख किया है । आश्वलायन गृह्यसूत्र मे कन्याओ के समावर्तन-सस्कार सम्बन्धी नियमो से भी उनके ब्रह्मचर्य व्रत के पश्चात् स्नातिका बनने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है । भारतीय धर्म-शास्त्रो मे 'सरस्वती' और पार्वती को विद्या की अधिष्ठात्री मानने का अभिप्राय भी यही है कि महिलाओ के विद्या प्राप्ति के मार्ग मे कोई रुकावट नही थी ।

पाठ-शुद्धता की कुञ्जियाँ—वेद मत्रो के शुद्ध पाठ के लिये भी कई ग्रन्थो की रचना हुई, जिन्हे अनुक्रमणियाँ कहते हैं । इनमे उदाहरणो सहित सधि के नियम बताए गए हैं, जिनके द्वारा पद-पाठ सहिता पाठ मे परिवर्तित किया जा सकता है । वेद के अनुक्रमणी ग्रन्थो मे सूक्त, मत्र, शब्द यहा तक कि अक्षरो की सख्या भी दी गई है । जिससे ग्रन्थ परिमाण की सभ्यता सिद्ध हो जाती है । मैकडानल्ड ने लिखा है—"इन सूक्तियो की सहायता से भारतीय ग्रन्थो की पाठ परम्परा जैसी सच्ची है, वह किसी भी साहित्य मे अद्वितीय है ।"४

नामकरण-संस्कार—भारतीय धर्म व्यवस्था की सस्कार-प्रणाली मे नामकरण-सस्कार का विशेष महत्त्व रहा है । इस महत्त्व का वर्णन भी समस्त भारतीय वाङ्मय मे आया है । उपनिषदो और स्मृतियो मे तो विभिन्न नाम भी सुझाये गये हैं । वृहदारण्यक उपनिषद मे नाम के महत्त्व के सम्बन्ध मे एक सवाद भी मिलता है । इस

---

१ ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विदन्ते पतिम् । अथर्व ६/५१/८ ।

२ बृहदारण्यक २/४/१ ।

३ काशिका व्याख्या पाणिनी सूत्र ४/१/५६ तथा ३/३/२१ ।

४. महाभाष्य ४/१/७८ । & Indias Past—Makdonld

सवाद का साराश यह है कि व्यक्ति के मरने के पश्चात् उसका नाम ही जीवित रहता है। पूर्व वैदिक-काल मे जातकर्म-सस्कार के दिन भी नाम रखा जाता था जो परिवार की परिधि तक ही सीमित होता था । जन्म के दसवें दिन नामकरण-सस्कार के माध्यम से जिस नाम को प्रतिष्ठा मिलती थी, वही सार्वजनिक ख्याति के लिये होता था। पौराणिक-युग मे नामकरण-सस्कार शिशु के छै मास की आयु का होने पर सम्पन्न होता था + । परन्तु महाभारत काल मे नामो को अभिष्ट उच्च-गुणो की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से भावी जीवन का परिचायक बनाया जाने लगा था। अत कुछ नाम परिवार के महापुरुषो के नाम पर भी रखे जाते थे और कुछ जन्म नक्षत्र के अधिष्ठाता देव के नाम पर रखे जाते थे* ।

भारत मे अधिकतर नाम रखने की परिपाटी कुल, गोत्र और माता-पिता के नाम पर किये गये महान् पराक्रमो के अनुसार रखने की पद्धति रही है । यह नियम जनसाधारण ही नही, अपितु देव वर्ग मे भी पाया जाता है। ऋषियो के भी अनेक नाम मिलते हैं। अस्तु, वैदिक काल के पश्चात् समाज-शास्त्रियो ने नामकरण सस्कार मे भी आमूलचूल परिवर्तन करके नाम सम्बन्धी भी कुछ नियम बनाये। इन नियमो के अनुसार नाम का प्रारम्भ घोष वर्णों से होना चाहिये । नाम का एक अक्षर अन्तस्थ वर्णों से होना चाहिये और अन्त मे विसर्ग होना चाहिये । दो अक्षरो का नाम होने पर पुरुष को लौकिक प्रतिष्ठा और चार अक्षर का नाम होने पर आध्यात्मिक अभ्युदय की प्राप्ति होती है। पुरुष के नाम में युग्म अक्षर और स्त्रियो के नाम मे अयुग्म अक्षर होने चाहियें। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन सामाजिक नियमो का पालन नही हुआ, क्योकि सीता, भरत, कृष्ण और अर्जुन उसी काल के नाम हैं। अत सूत्र-काल मे इन नियमो मे पुन परिवर्तन हुआ । बोधायन श्रौतसूत्र के अनुसार प्राचीन परिपाटी को ही प्रधानता दी गयी अर्थात् नामो का आधार पुन ऋषि, देवता और पूर्वज बनने लगे। इस परिपाटी मे देवताओ के नाम पर नाम रखने का विरोध कुछ समाज-शास्त्रियो ने अपने ग्रथो मे किया गया। उन्होने शिवदास, शिवदत्त, इन्द्रनाथ और ब्रह्मप्रकाश पर तो आपत्ति नही की, किन्तु राम, विष्णु, सुरेश, महेश आदि के लिये आपत्तिया की कि देवताओ के नाम व्यक्तियो के नाम नही होने चाहियें । साथ ही अमागलिक, अर्थहीन और घृणोत्पादक नामो का भी वर्णन किया गया। अत प्रयत्न किया गया कि नामो के अक्षरो के अन्तिम वर्ण लघु होने चाहियें और नामो का उच्चारण स्पष्ट तथा सुखद होना चाहिये ।

वैदिक कालीन नामो की दूसरी विशेषता यह थी कि उनके आगे ऋषि अथवा गोत्र आदि का नाम जोडने का नियम नही था। यदि चिरजीलाल कोई नाम है और पाराशर वशज है, तब भी वह न तो अपने नाम के आगे चिरजीलाल पाराशर लिखेगा और न ही चिरजीलाल शर्मा। उस काल मे छोटा या बडा जैसा नाम होना

+ भागवत् १०।८।६, × महाभारत आदि पर्व २ ०।८०।६५

* देखिये विष्णुसहस्रनाम ।

था, ज्यो का त्यो रखा जाता था । अतः यह जाति-बोधक शब्द बौद्ध-काल के समय जोड़े गये । व्यक्ति की महानता दर्शाने के लिये 'श्री' शब्द का प्रयोग भी सभवत वेद-काल के पश्चात् स्मृति-काल मे ही जोडा गया, क्योकि मनुस्मृति (२।३३) से यह आभास मिलता है ।

स्त्रियो के नामो के लिये उपर्युक्त नियमो के अतिरिक्त **आ ई या दा** मे अन्त होने का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है । सीता, सुलोचना, कौमुदी, अनुसूया, सुलक्षणा आदि नाम उदाहरण के लिये प्रस्तुत हैं । नदी, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र आदि पर कन्याओ के नामो को रखने का विरोध किया जाता था । ऐसे नामो का भी विरोध किया जाता था, जिनसे यह बोध हो कि वह देवताओ द्वारा दी हुई हैं । स्मृतिकार **मनु** ने व्यवस्था दी थी कि कन्याओ के नाम स्पष्ट अर्थ वाले, माँगलिक, मनोरम, दीर्घवर्ण जिन के अन्त मे आता हो तथा आर्शीवादात्मक होने चाहिये । स्मृतिकाल मे विवाह के अवसर पर कन्या के नाम की छानबीन अत्यन्त बारीकी से की जाने लगी थी, क्योकि कई धर्मशास्त्रियो ने कन्याओ के नामो को नदी, नक्षत्र, वृक्ष का पर्यायी होने के विरुद्ध भी व्यवस्था दे दी थी । अतः ऐसी नाम वाली कन्या विवाह के अयोग्य घोषित कर दी गई थी ।

आर्यो का वैमानिक ज्ञान

प्राचीन आर्यो को वैमानिक ज्ञान ही नही था, अपितु वह विमानो का प्रयोग भी करते थे । महाभारत-काल तक विमानो के प्रयोग का पता चलता है और बौद्ध-काल तक देश के विमान बनाने वाले कारीगरो का भी पता चलता है । आर्य-विमान पक्षियो के आकार के होते थे और उन्ही के नामो पर विमानो का नाम रखा जाता था । विमानो के सम्बन्ध मे साहित्य भी पर्याप्त लिखा गया ।

भारतीय-साहित्य मे विमान-विज्ञान—सस्कृत मे 'वि' पक्षी को कहते हैं 'मान' का अर्थ सदृश्य है । अर्थात् पक्षी सदृश्य । अत विमान का अर्थ पक्षी सदृश्य हुआ । ऋग्वेद मे लिखा है जो आकाश मे पक्षियो के उडने की स्थिति को जानता है, वह समुद्र—आकाश की नाव विमान को जानता[१] है । वाल्मीकि रामायण मे भी रावण के पुष्पक विमान का वर्णन है[२] ।

भागवत् मे **शाल्व** राजा के विमान का भी वर्णन आया है । शाल्व का यह विमान, भूमि, आकाश, जल और पहाड पर भी चल सकता था । सबसे विशाल विमान **कर्दम** ऋषि का था । भागवत् मे इसका भी वर्णन है । विष्णु का वाहन **गरुण** नामक विमान ही था; वह पक्षी नही था । इसके अतिरिक्त इन्द्र और दुष्यन्त के

---

१ वेदा यो वीना पदमन्तरिक्षेण पतता वेद नाव समुद्रिया ।

२ ब्रह्मणोर्ये कृत दिवियदिवि यद्विश्वकर्मणा (ऋग्वेद)

विमान पुष्पक नाम सर्वरत्नविभूषितम ।' वाल्मीकी रामायण सुन्दर काण्ड ।

विमानो का भी उल्लेख है। दिलीप की सवारी का रघुवंश मे कालिदास ने जो वर्णन किया है, उसका भी भूमिचारी विमान से ही अधिक साम्य है। शिवपुराण के एक प्रसग के अनुसार हरियान (अर्थात् गरुण) ने आकाश गगा मे डुबकी लगाई थी। इस प्रसग से वह अतरिक्ष-यान की कोटि मे आता है। पचतत्र की एक कथा मे एक धूर्त की कथा है जो विष्णु का रूप धारण करके, गरुण विमान पर बैठकर एक राजकन्या के पास आया करता था। गयाचिन्तामणि नामक ग्रथ मे मयूर की आकृति के विमान का भी पता चलता है।

धम्मपाद के वोधिराजकुमार ने एक महल बनाया। बनाने वाले कारीगर ने उसे बडा ही सुन्दर बनाया। वोधिराज ने सोचा, यह कारीगर कही दूसरा महल भी ऐसा ही न बना दे अत इसके हाथ कटवा लेने चाहिये। यह समाचार कारीगर तक पहुच गया। कारीगर ने अपनी स्त्री से सारा सामान बिकवा कर राजा के महल देखने की दरखास्त दिला दी और जब वह महल देखने गयी, तब कारीगर एक कमरे मे रखे गरुणयत्र पर उसे तथा बच्चो को बिठाकर काठमाडू (नेपाल) भाग गया।

वैमानिक-साहित्य—भारद्वाज ऋषि द्वारा लिखित 'अशुवोधिनी' नामक ग्रथ मे एक विमान अधिकरण भी है। इस अधिकरण मे आकाशीय सचार गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं—'शक्त्युद्रम' बिजली से चलने वाला, 'भूतावाह', अग्नि, जल और वायु से चलने वाला, 'धूमयान' वाष्प से चलने वाला, 'शिखोद्रय' पचशिखी के तेल से चलने वाला, 'अशुवाह' सूर्य की किरणो से चलने वाला, 'तारामुख' उल्कारस (चुम्बक से चलने वाला), 'मणिवाह' सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त मणियो से चलने वाला और 'मरुत्सखा' केवल वायु से चलने वाला। इसी पुस्तक मे बन्दूक और तोप तथा उनकी नालियो के विविध व्यासो का भी वर्णन है। साथ ही वाष्प बनाने की विधि भी है।

शस्त्र-सम्बन्धी साहित्य—शस्त्र-सम्बन्धी प्राचीन साहित्य से ज्ञात होता है कि भारत मे धनुष से भी पहिले तलवार का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। वैशम्पायन एक 'धनुर्वेद' है, उससे इस कथन की पुष्टि होती है कि धनुष का प्रचार राजा प्रथु के समय मे हुआ। राजाश्रय न मिलने के कारण यह ग्रथ यूँ ही पडा रहा और अन्ततः इसका लोप हो गया। 'धनुषप्रदीप' द्रोणाचार्य का लिखा हुआ ग्रथ है। इसमे ७ हजार श्लोक है। इसकी रचना महाभारत से पहिले हुई थी। 'धनुष चन्द्रोदय' नामक ग्रथ मे ६० हजार श्लोक हैं। इसे **परशुराम** ने त्रेता-युग मे रचा था। यह दोनो ही प्रकाशित नही हुए। 'धनुष-प्रदीप' मे धनुष बनाने का स्थूल विधान है। तीरो के बनाने मे किन-किन औषधियो के रसो का प्रयोग होता था, इसका भी वर्णन है। 'धनुष चन्द्रोदय' मे **परमाणु** से धनुष-बाण के निर्माण तथा परमाणु से ही समस्त शस्त्रो के निर्माण एव प्रयोग की विधि लिखी है।

धनुर्विधि, द्रोणविद्या, कोदन्ड-मण्डन, धनुर्वेद-सहिता आदि ग्रथो मे भी इस विषय का पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। शारगधर-पद्धति, वाल्मीकि रामायण और

महाभारत के युद्ध वर्णन प्रसग से भी इस उपवेद के अनेक तथ्यो का चयन किया जा सकता है। अग्निपुराण मे भी धनुर्वेद सम्बन्धी अध्याय हैं।

समाचार भेजने के साधन—आर्यों ने समाचार भेजने के लिये पहिले कबूतरो का प्रयोग किया। पश्चात् यत्र बनाया। शुक्रनीति मे लिखा है—'राजा एक दिन मे दस हजार कोष की बात जाने।' इससे ज्ञात होता है कि समाचार भेजने के यत्रो का आविष्कार हो चुका था। हैदराबाद दक्षिण के पत्थरघाटा नामक ग्राम मे डा० सैय्यद मुहम्मद कासिम के पास सस्कृत की एक पुस्तक मे दो पत्थरो द्वारा सवाद भेजने का उल्लेख है। इसी पुस्तक मे ऐसे मसाले का भी उल्लेख है जिससे शव हजारो वर्ष सुरक्षित रखा जा सकता है।

मनोरजन—आर्यन लोग नृत्य और गान के शौकीन थे। रथो की दौड का शौक था जो एक नपे-तुले मैदान मे होती थी। ऋग्वेद मे विश्पला नामक एक तेज घोडे का भी उल्लेख आया है। वाद्य यन्त्रो मे दुन्दुभि, कर्करि, वीणा और झाझ का उल्लेख मिलता है। वीणा के सप्तस्वरो का उन्हे ज्ञान हो चुका था।

व्यापार—प्रारम्भिक आर्यों का व्यापार भी प्राय सभी देशो मे होता था। एनटानियो मैसन ने छीट छापने के अपने ग्रथ मे लिखा है—'ई० सन् २ हजार के पूर्व इस विद्या को भारतीय जानते थे। समस्त लेखक इस बात को जानते हैं कि भारत-वर्ष कपडे पर छीट छापने की जन्मभूमि है। यूरोप वाले इस कला की नकल करने के बहुत दिन पूर्व हिन्दुस्तान के छपे कपडे को जानते थे।' अन यहाँ के छपे कपडे का व्यापार अत्यन्त प्राचीन-काल से होता था। मिस्र के पिरामिडो मे ममियो पर भी यही कपडा मिला है।

प्राचीन आर्यों का दूसरा व्यापार **रत्नो** का था। 'प्रेशियस् स्टोन्स एन्ड जेम्स' नामक ग्रथ मे लिखा है— प्राचीन समय से हिन्दूओ को रत्नो का शौक है। वे आदि-काल से हीरे निकालते है।' राजा सुरेन्द्र मोहन टैगोर ने, 'मणिमाला' नामक अपने ग्रथ मे लिखा है–'कोहेनूर आदि हीरे भारतीय खानो से निकले हैं। हिन्दू उन्हे काटना और कमल बनाना जानते थे। वे उन्हे रगना, उनका रग बनाना और उन पर से रग निकालना भी जानते थे। ऐसा एक भी रत्न नही है, जिसे पहिले से वे जानते न हो।' एक कहानी से सामुद्रिक व्यापार का उल्लेख भी मिलता है। इस कहानी मे भुज्यू के जहाज का समुद्र मे टूट जाने का वर्णन है, जहाँ से १०० डाडो वाले अपने जहाज मे अश्विनीकुमारो ने उसका उद्धार किया। १।११६।५।

आर्यो का धातु-ज्ञान और रसायनिक प्रक्रिया—धातुओ का ज्ञान आर्यों को था और रसायनिक प्रक्रिया मे भी वे परिचित थे। इसके मूलत दो कारण थे। पहला पर्वतीय भागो मे रहने के कारण धातुओ की सुलभता और जडी-बूटियो की बहुतायत, द्वितीय आर्यों का चिन्तनशील उर्वरा मस्तिष्क। यही कारण है कि जिस काल मे वेदो की रचना हुई, उस काल मे रसायनिक प्रक्रिया की तो बात ही अलग है, मनुष्यो को धातुओ का भी ज्ञान नही था। इसके विपरीत वेदो मे आरम्भ से ही धातुओ का वर्णन आता है। उदाहरणार्थ 'ऋग्वेद' मे कई स्थलो पर 'अयस' शब्द का प्रयोग हुआ है

और कई स्थलो पर वह प्रयोग 'हिरण्य' के साथ है। 'लोह' शब्द ऋग्वेद और अथर्ववेद में लाक्षणिक रूप मे ही है।१

यजुर्वेद के एक मन्त्र मे अयस्ताप (Iron Smelter) का उल्लेख है जो लोहे के खनिज को लकडी कोयला आदि के साथ तपाकर धातु तैयार करता है।२ 'यजुर्वेद' के एक स्थल पर (अश्मन्) मिट्टी (मृत्तिका) और वालू (सिकता) के अतिरिक्त हिरण्य (सोना), अयस् (लोहा अथवा कासा) श्याम (तावा), लौह (लोहा), सीस (सीसा) और त्रपू (रागा, बग या टीन) का उल्लेख है। इस स्थल पर चाँदी का नाम नही लिया गया है। अयस्, श्याम और लोहे—इन तीनो शब्दो के अर्थ मे मतभेद हो सकता है। लौह शब्द साहित्य मे धातुमात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'तैत्तिरीय सहिता' मे भी इसी प्रकार का उल्लेख है। सायरण ने श्याम का अर्थ कृष्णायस या काला लोहा किया है। लोहे से उनका अभिप्राय कांस्य-ताम्र आदि सब लोहो से है।

तपाकर धातु तैयार करने का सकेत अथर्ववेद मे भी है। इसके मन्त्र मे हरित, रजत और अयस् तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो क्रमश. सोना (हिरण्य), चाँदी और लोहे के पर्याय प्रतीत होते हैं। सफेद सुन्दर रूप के कारण चांदी को अर्जुन भी कहा गया है। हरित अर्जुन और अयस् (सोना, चाँदी और लोहा) यह तीन धातुएँ प्रसिद्ध हैं।३ अथर्ववेद मे एक स्थल पर श्याम (तांवे), लोहित (लोहे) और हरित (सोने) के साथ त्रपु (राँगा) शब्द का भी प्रयोग हुआ है—इसका मास ताम्रवर्ण (श्याम रग) का है; रुधिर लोहे का, इसकी भस्म त्रपु वर्ण की है और इसका रग हरित या सोने का सा है। 'अथर्ववेद' मे एक पूरा सूक्त "दधत्य सीसम्" सीसा धातु पर है। वरुण, अग्नि और इन्द्र इन तीनो की कृपा या आशीर्वाद से यह सीसा धातु प्राप्त हुई है। यह शत्रुओ को दूर भगाने वाली है। लिखा है—"हम तुम्हे सीस से वेधते हैं, जिससे तुम हमारे प्रियजनो को न मार सको।" (सम्भवत शीशे के छर्रे युद्ध के समय काम आते थे)। कहा गया है—"जो हमारे गौ, अश्व या पुरुषो को मारे, उसे तुम सीसे से वेंधो।"४

ब्राह्मण-काल—वेद-काल के पश्चात् ब्राह्मण काल मे धातुओ के प्रयोग और रसायनिक प्रक्रिया मे और प्रगति हुई। "शतपथ ब्राह्मण" मे लोहा, तांवा, सीसा, सोना और चाँदी इन पांच धातुओ का उल्लेख है। तांबे के लिए भी ब्राह्मण-साहित्य मे लोह

---

१. ऋ० १/५६/३, हिरण्यचक्रानयोदष्ट्रान् १/८८/५ (सूअर के लोहे के से दांत); हिरण्यशृगोऽयो अस्यपादा १/१६३/६ (लोहे के पैर) अयोमुखम् ६/७५/१५ (तीर जिनके मुख लोहे के हो), धियमयस्ते न धाराम् ६/४७।१० (लोहे की धार जैसी तीक्ष्ण बुद्धि। आदि-आदि।)

२ मन्यवे अयस्तापम् (यजु० ३०।१४)।

३. अथर्व० ५।२८।१, ५।२८।५।

४. अथर्व० १।१६।२-४।

शब्द का प्रयोग हुआ है। इस समय तांबे के क्षुर बनते थे, जिनका प्रयोग हजामत के लिए होता था। चाँदी के लिए 'शतपथ' मे रजत-हिरण्य अर्थात् सफेद सोना शब्द प्रयुक्त हुआ है। अकेला 'रजस्' शब्द भी चाँदी के लिए आया है। चाँदी और सीसा दोनो के 'रुक्म' तश्तरी बनाये जाते थे। रजत हिरण्य दक्षिणा का अर्थ--चाँदी की दक्षिणा है। एक स्थान पर चाँदी की तश्तरी को सिकता या बालू मे दबाये जाने का भी उल्लेख है।

शतमान चाँदी की दक्षिणा की ओर सकेत करता है। अत विश्वास किया जा सकता है कि ब्राह्मण-काल मे चाँदी के कई प्रकार के सिक्के प्रचलित हो चुके थे। 'शतपथ' मे लोहे के कटोरे आदि के अतिरिक्त उसके और भी कई पदार्थों का वर्णन करके उसे पूजा के तुल्य माना गया है। परन्तु सोने से अधिक लोहे की महिमा नही गाई गई। शतपथ मे इसे अमृत और आयु बताया गया है। शतपथ मे एक स्थान पर सोने के तारो से बुनाई करने (प्रवयन) की ओर सकेत है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न भारो के सोने के सिक्के भी बनाये जाते थे। एक स्थान पर शतमान के तीन सुवर्णों को दक्षिणा के रूप मे देने का भी सकेत हैं। एक स्थल पर सोने के सिक्के का नाम 'निष्क' दिया हुआ है।

सोने की खोज और उसकी शुद्धि--शतपथ ब्राह्मण से यह विदित होता है कि सोना पहिले मनुष्य को खान से प्राप्त नही हुआ, वह उसे खान से ऊपर ही पत्थरो मे पडा मिला। शतपथ ब्राह्मण मे भी लिखा है कि हिरण्य पत्थरो के बीच पाया जाता था। पत्थर को तपाकर हिरण्य प्राप्त किया जाता था। प्रजापति ने सिकता (बालू) से शर्करा (पत्थर के टुकडे) बनाई। शर्करा से अश्म बनाया, अश्म से अयस् (खनिज द्रव्य या अयस्क—Ore) बनाया और अयस् को तपाकर हिरण्य निकाला।१ सोने के टुकडे का नाम हिरण्यशकल था।२ पीले सोने के लिए 'हरित हिरण्य' शब्द का प्रयोग किया गया।३ अत सोने का प्रयोग तार, टुकडा, (शकल) और सिक्का (निष्क) इन तीनो रूपो मे होता था। सोने के तारो के बने हुए 'कशिपु' (कुशन या आसन) कूर्च (बैठने के स्टूल या आसन--कात्यायन २०, २, १९) और फलक (Slale) भी बनते थे।४ हिरण्य--शकलो के प्रयोग से सुनहरी ईंटे—'हिरण्येष्टका' तैयार की जाती थी।५ शतपथ मे सोने के बने रुक्म का उल्लेख अनेक स्थलो पर आया है। रुक्म सम्भवत सोने का हार है जो कठ मे पहना जाता था। एक रुक्म मे सोने के इक्कीस परिमण्डलो (Knole) का उल्लेख है। एक रुक्म मे सौ छेदो का

---

१ शतपथ (६।१।३।५)।
२ ,, (३।८।२।२६)।
३ ,, (१२।४।४।६)।
४. ,, (१३।४।३।१)।
५ ,, (६।१।२।३०)।

भी उल्लेख है। रुक्म के काले हिरन के चर्म के साथ सी दिये जाने का भी उल्लेख है। रुक्म-नाभि के ऊपर पहना जाता था।१ एक स्थल पर सोने और चाँदी—दोनो के बने निष्को का सकेत है। सोन के बने निष्को (सिक्को) से बने हार या इसी प्रकार के आभरण को भी निष्क कहा गया है। छाती पर सुनहले पादक और कर्णशोभन (८।७८।३) मे उल्लेख है। स्त्रियो की माँग और चार चोटियो का भी वर्णन है।

उस काल मे पुरुष दाढ़ियाँ भी रखते थे और हजामत भी बनाते थे। उस काल मे उस्तरे का पता भी चलता है।

भारतीय-सगीत कला का विकास

ऋग्वेद-काल—भारतीय प्रस्तर-युग और ताम्र-युग की खुदाइयो से प्रस्तर के कुछ ऐसे उपकरण मिले है, जिन्हे वाद्य-यत्र माना जाता है। परन्तु ऋग्वेद-काल मे तो भारतीय सगीत अपने उच्च विकास की सीमा पर पहुँचा हुआ था। इसका श्रेय ऋग्वेद के मत्रो की छन्दबद्ध रचना ही है। वैदिक-युग मे उषा की स्तुति के समय वैदिक परिवार मिलकर गायन द्वारा उषा की स्तुति करते थे। इस काल मे सगीत का ज्ञान ऋषि दिया करते थे। अन्य विद्याओ के साथ सगीत-शिक्षा भी दी जाती थी। सगीत और नृत्य मे विशेषत वीणा-वाद्य का प्रयोग होता था।

इतिहासकार अर्चिल विम्स ने लिखा है—"वैदिक-काल मे सगीतमय आयोजन 'समन' के रूप मे होता था। इस उत्सव मे कुमारियो की सगीत-प्रभा की परीक्षा होती थी। साथ ही युवको के सगीत का परीक्षण भी होता था। यही 'समन' आगे चलकर 'समज्जा' नामक उत्सव बन गया।"२

वैदिक-काल मे सगीत के साथ-साथ नृत्य-कला भी प्रचलित थी। इसका प्रमाण ऋग्वेद मे भी मिलता है।३ समाज मे नृत्य के अनेक रूप प्रचलित थे। नारियाँ अपने शरीर को अलकारों से सुसज्जित कर नृत्य करती थी।

ऋग्वेद के कुछ काल पश्चात् जब सामवेद बना, तब यह कला अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी, क्योकि सामवेद पूर्ण सगीतमय है। इस वेद के द्वारा सगीत को विधान मे आबद्ध कर दिया गया। सामगान से पहिले तीन स्वरो का प्रयोग होता था—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। कालान्तर मे स्वर बढते गये और सामगान 'सप्तस्वरो' मे होने लगा। वस्तुत वैदिक-सगीत की सबसे बडी विशेषता सगीत और धर्म का समन्वय है।

इतिहासकार ग्रीन ने लिखा है—"ऋग्वेद-काल मे रज्जु-नृत्य 'सलिल-नृत्य', 'अरण-नृत्य', 'प्रकृति-नृत्य', 'पुष्प-नृत्य' और 'वसन्त-नृत्य' प्रचलित थे। इस युग तक

---

१ शतपथ (६।७।१।१-)।

२ Music History of Vedic Period—by Archil Vims

३ नृत्यमनो अमृता (ऋक् ५/३३/६।

नाटक सगीत से पृथक् नही था। वाद मे ही नाटक की धारा सगीत की धारा से पृथक् हो गई। वैदिक-युग मे सगीत के दोनो रूप थे—मनोरजात्मक और आध्यात्मक।

सामगान के तीन भाग थे—प्रस्ताव, प्रतिहार और उद्गीत। इनके तीन उपाग थे—हिंकार, उपद्रव निधान। यही ध्रुपद के चार पद बने।

चित्रकला का विकास—भारत मे चित्रकला के चिन्ह अब से हजारो वर्ष पूर्व प्रागैतिहासिक काल से ही मिलने आरम्भ हो जाते है। इनमे प्रथम हैं—वनवासियो द्वारा प्राकृतिक गुफाओ की भित्तियो पर प्राकृतिक उपादानो द्वारा और दूसरे चित्र है, जो शिल्प-शास्त्रियो द्वारा बनाये गये। इनमे वनवासियो के चित्र उनके विनोदी जीवन के प्रतीक हैं। यह चित्र मिर्जापुर जनपद मे सोन द्रोणी मे, हाथो मे भाले लिये हुए शिकारी गेंडे पर हमला करते दिखाये गए है। जिसकी नस्ल अभी तक असम आदि के वनो मे है। माणिकपुर वादा जनपद मे, होशगावाद जिले की चलदरिया गुहा मे मृगया का चित्रण है। एक सूअर वाण लगने से श्रान्त है। साथ ही पक्षियो का जल-सचरण भी दिखाया गया है। विजयगढ की गुफा मे बाघ और सिह का चित्र बना हुआ है। वादा जनपद मे सरहन की गुफा मे तीन घुडसवारो का तीन घोडो के साथ चित्रण है। मालवा की गुहा मे गाडी मे बैठा हुआ व्यक्ति दिखाया गया है। इसी गाडी पर दो पुरुष और हैं जो हाथ मे लाठी और धनुष-वाण लिये हैं। सिंघनपुर की गुफाओ मे मृगया के दृश्य, मगर, कगारू, हरिण तथा छिपकली आदि के चित्र मिलते हैं। पचमढी के समीप भी ५० गुफाओ मे चित्र बने मिलते है। इनमे मृगया, युद्ध, मधु-सचय, पशु-चारण, पर्ण-कुटी तथा उसके निवासी के दृश्य चित्रो मे प्रस्तुत किए गये है। कही-कही जगली पशुओ, हाथी, रीछ, सुअर और हरिणो के चित्र हैं और कही-कही पालतू पशु बैल, बकरी, कुक्कुर आदि के चित्र हैं। अमरडोरोथी नामक गुफा मे वानर का वशी-वादन दृश्य अत्यन्त सजीव है। इन चित्रो में प्राय गेरू और कोयले को पीसकर रग बनाया गया है। इन चित्रो को स्पेन और फ्रास के गुहाचित्रो का समकालीन माना गया है।

नागरिक चित्र—नागरिक चित्रो का परिचय सिन्धु-सभ्यताओ मे मिला है। इस युग मे भारत की चित्रकला विकसित हो चुकी थी। उस चित्रकला से सिद्ध है कि इस कला के पीछे दीर्घ-कालिक अनवरत अभ्यास का युग बीता है। जिसमे कलाकारो की साधना जारी रही है। अत इस युग मे कला ने सार्वजनिक जीवन मे अपना स्थान स्थिर कर लिया था। यही कारण है कि सार्वजनिक उपयोग मे आने वाली वस्तुओ—घरेलू-पात्रो, मिट्टी की मुहरो और वस्त्रो पर चित्रकला के निखरे रूप के दर्शन होते है। यह चित्र-कला ज्यामिति और प्राकृतिक दृश्यात्मक है। प्रथम श्रेणी मे रेखा-चित्रो का बाहुल्य है। दूसरी श्रेणी मे पत्र-पुष्पो के बीच मोर, मछली तथा कछुए आदि चित्रित हैं। उनसे किसी न किसी भाव की अभिव्यक्ति होती है। चन्हुदडो के एक पात्र पर की पीत भूमिका पर, काले, सफेद और लाल वर्णो के पशु-पक्षियो के चित्र बने मिले हैं। सिन्धु सभ्यता की लिपि भी चित्रमय है।

मोइन-जो-दड़ो सभ्यता का विकास

'मोइन-जो-दडो' का अर्थ है—'मृतको का टीला'। इस टीले की खुदाई मे प्राप्त वस्तुओं को आधार बनाकर पुरातत्ववेत्ताओ और इतिहासकारो ने, मैक्समूलर, मैकडानल्ड तथा एथोनी आदि—अंग्रेज इतिहासकारो की इस मान्यता का खण्डन करके कि 'भारतीय सभ्यता केवल तीन हजार वर्ष प्राचीन है'—इस सभ्यता को तीन हजार वर्ष और पीछे अर्थात् छै हजार वर्ष प्राचीन सिद्ध कर दिया है। और 'महिस्य-मति' के उत्खनन ने इस अवधि को और भी एक-डेढ हजार वर्ष पीछे सरका कर यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य का जन्म ससार के भले ही किसी भू-भाग मे हुआ हो, किन्तु विश्व की सभ्यता का प्रकाश-स्तम्भ भारत ही था। इसकी खुदाई १६२२ ई० मे हुई।

भारत की इस 'सैन्धव-सभ्यता' को भारत का 'ताम्रयुग' और उषा-काल भी माना जाता है। इस स्थान से उपलब्ध वस्तुओ से पता चलता है कि सिन्धु-सभ्यता तत्कालीन विश्व-सभ्यता के शिखर पर विराजमान थी। इसका समर्थन, असीरिया देश के पुरातत्व-विशेषज्ञ प्रो० ए० एच० साइस ने भारत मे पुरातत्व-विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल के २० सितम्बर १६२४ ई० के 'इलस्ट्रेटेड लन्दन न्यूज' नामक पत्र मे छपे, 'मोइन-जो-दडो' सम्बन्धी लेख के उत्तर मे उसी पत्र के २६ सितम्बर के अक मे अपना लेख लिखकर किया। अपने लेख मे उन्होने लिखा—'हड़प्पा और मोइन-जो-दडो में जो खुदे हुए लेखो वाली मुद्राए मिली हैं, वे सूसा मे श्रीयुत डी० मार्गन द्वारा आविष्कृत प्रोटो-एलमाइट तख्तियो (Proto-Elamite-Tablettes) से हू-बहू मिलती हैं। नाम मुद्राओ का आकार और डील-डौल वही है। 'एक शृंग बैल वही है तथा चित्रमय शब्द और अक भी वही हैं। उनमे अभिन्नता यहाँ तक है कि मुद्राए तथा तख्तियाँ एक ही हाथ का बनी लगती हैं। यह तख्तियाँ बहुसख्यक हैं और ईसा पूर्व तीन हजार वर्ष प्राचीन हैं और बाबुल के राजा मनिस्ट्रस्' (ई० पू० २६०० वर्ष) के काल से लेकर 'उरनगर' के तीसरे कुल (ई० पू० २३०० वर्ष) के समय तक फैली हुई है। इसलिये स्पष्ट है कि ई० पू० ३००० मे भारत और सूसा-नगर राज्य मे घनिष्ठ सम्बन्ध था। मुद्राओ के साथ चित्रित मिट्टी के पात्रो से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हू कि यह सूसा की द्वितीय रीति से मिलते हैं जो कि इन तख्तियो की समकालीन है।'

अस्तु, इस काल मे तावे-पीतल के हथियारो के साथ-साथ पत्थरो के वर्तनो और अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण भी होता रहा।

बीकानेर के पास दृषद्वती और सरस्वती नदियो की घाटियो की जो खुदाई हुई है, उससे पता चलता है कि सिन्धु-हडप्पा सभ्यता यहाँ तक फैली हुई थी। यह सभ्यता काठियावाड (गुजरात) से लेकर, वजीरिस्तान, बिलोचिस्तान आदि तक व्याप्त थी।

मोइन-जो-दडो का स्थान और भग्नावशेष—यह स्थान सिन्ध के लरकाना जिले मे, सिन्धु नदी के तट से पश्चिम ३॥ मील भूमि की सतह से लगभग ६० फुट ऊचे टीले से खुदाई पर प्राप्त हुआ। इस जगह दूर-दूर तक टीले फैले हुए हैं। यहाँ पर आवाद प्राचीन नगर जमीन के नीचे दब गये है। कालान्तर मे इन पर एक के बाद दूसरा नगर बसता गया। ऐसे ही टीले दजला-फरात और नील नदी की उपत्यकाओ मे भी वहुतायत से मिलते है। मोइन-जो-दडो के प्रथम विनाश के वाद भी यहाँ नगर बसते रहे। यही कारण है कि यहाँ की ऊपरी सतह मे बुद्ध-काल के चैत्य-सहित, उस काल की अन्य वस्तुए भी मिली है। इस भूमिगत नगर की सात तहे है। अनुमान है अभी तीन तहे पानी मे डूबी ई है। तीस फुट की गहराई तक पकाई हुई ईंटो की तहे है।

इस स्थान को सदियो से यहा के निवासी इसी नाम से पुकारते आ रहे हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उस सभ्यता के विनाश के वाद ही, उस स्थान का यह नाम प्रचलित हो गया और भाषाओ के रूप बदलते हुए भी प्राचीन अर्थ मे ही प्रयुक्त होता रहा। उदाहरणार्थ जैसे आगे इसे 'कन्हूदेडो—झुकारदेडो' कहा जाता है, जिसका अर्थ वही है। इस नगर का प्रारम्भिक विनाश कैसे हुआ? इसका उत्तर अभी नही खोजा जा सका। प्रारम्भ मे यूरोपियन इतिहासकारो ने इस 'पाप' को आर्यो के मत्थे मढना चाहा था, किन्तु अब यह धारणा निर्मूल हो चुकी है और इसका विनाश गगा के किनारे बसे हस्तिनापुर की भाति सिन्धु नदी की बाढ को माना गया है, जो अपनी धारा वदलकर नगर के बीचो-बीच मे आ गयी थी।

मोइन-जो दडो के भवन पक्की ईटो के दो मजिले, हवादार होते थे और मकान का पानी निकालने के लिये नालियाँ होती थीं जो शहर के ढके हुए बडे नाले मे मिलती थी। मकानो मे स्नानागार भी होते थे। पानी कुओ से लिया जाता था। उन मकानो को देखने से ज्ञात होता है कि वास्तुकला के ज्ञाताओ द्वारा 'प्लान' बनाकर ही मकान बनाये जाते थे। उसमे राजमार्ग, चौडी सडके और गलियाँ दूर-दूर तक एक दूसरे को काटती थी। इनके गौरवशाली भवन सडके के दोनो ओर खडे थे। मकानो का ईटो को काली मिट्टी के गारे से जोडा जाता था।

मकान की दूसरी मजिल पर जाने के लिये सोपान (सीढियाँ-जीना) वनाये जाते थे। वडे-वडे मकानो मे घरो मे भी कुए वनाये जाते थे।

ऊचे-ऊचे कूडेदानो के मिलने से यह भी ज्ञात होता है कि सडको की सफाई की वहाँ विशेष व्यवस्था थी। मोइन-जो-दडो नगर का वडा बाजार, नदी के दक्षिणी किनारे से दक्षिण-पूर्व की ओर जाते हुए 'राजमार्ग' के रूप मे पहचाना गया है। इस के दोनो किनारो पर मकान बने हुए हैं। जहाँ यह राजमार्ग नदी की ओर जाकर घाटो पर निकलता है, वही राजभवन था। इसके अतिरिक्त नदी के पेटे मे, जो अब-सूखा पडा है, अनेक टीले है, जिनमे नगर के विशाल मन्दिरो और भवनो का अनुमान राखालदास बनर्जी ने किया है।

यहाँ एक ऊचे चबूतरे पर बना हुआ, विशाल बौद्ध स्तूप था। जहाँ छोटे-छोटे मन्दिर और भिक्षुओ के कमरे थे। यह खण्डहर ई० पू० २ री शताब्दी के हैं, जबकि पश्चिमोत्तर भारत मे कुशाणो का प्राधान्य था। अत इन वस्तुओ से सिद्ध होता है कि वहाँ के नागरिक सुखी और समृद्धिशाली थ।

खान पान और वेश-भूषा—यहाँ प्राप्त गेहूँ और जौ के दानो से यह स्पष्ट है कि यह लोग अन्न खाते थे। साथ ही मासाहारी भी थे।

वेश-भूषा मे यह लोग ऊनी और सूती दोनो ही प्रकार के कपडो का प्रयोग करते थे। यह कपडे का प्रयोग सिलकर करते थे अथवा यूँ ही ओढकर करते थे, इसका स्पष्ट प्रमाण अभी नहीं मिला। एक पुरुष मूर्ति ने लम्बी शाल वायें कधे से ऊपर और दाहिनी भुजा से नीचे से फेंककर ओढी हुई है। यहाँ पर चाँदी के एक कलश से चिपका हुआ सूती खद्दर का एक टुकडा भी मिला है और सूत लपेटने की नरियाँ भी मिली हैं। यहाँ बेलबूटेदार कपडे भी पहने जाते थे। साधारण पुरुष अपना ऊपरी भाग नगा रखते थे। पर अभिजात्यवर्ग शाल की भाँति कपडा ओढता था।

आभूषण—यहाँ के निवासियो मे आभूषण पहिनने का प्रचलन था। शरीर पर स्त्रियाँ छोटी कुरती पहिनती थी जो कमर के पीछे तनी से वधी रहती थी। स्त्री और पुरुष दोनो ही आभूषण पहनते थे। हार, कान के अनेक प्रकार के इयरिंग, कडे और मनको की मेखलाएँ—नर-नारी दोनो ही पहनते थे। अन्तर केवल इतना ही था कि धनाढ्य लोग अपने आभूषण, सोना-चाँदी हाथी दात आदि के बनवाते थे, जो ५ हजार वर्ष प्राचीन के जौहरियो की दक्षता का प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त ताँवे की सलाइया और पावडर के चिह्न भी मिले हैं। कासे के शीशे और हाथी दाँत के कघे भी भी मिले हैं। इनके अतिरिक्त अन्य वहुमूल्य पत्थरो—लाल मूगा, पन्ना आदि के गहने भी बनाते थे। गरीब लोग लाल पत्थर, मनके, सीप आदि के बनाते थे। पुरुष अगूठी भी पहनते थे। यहाँ पर पाई गई पत्थर की छोटी पेटिकाओ से यह ज्ञात होता हैं कि वह नारियो के शृगार की वस्तुओ के रखने के काम मे आती थी।

मन्दिर और तालाब—इस सभ्यता मे मन्दिरो और तालावो के भी दर्शन होते हैं। यहा ३६ फुट लम्बा, २३ फुट चौडा और ८ फुट गहरा एक तालाब है। इसकी दीवारें मजबूत हैं और उतरने के लिये सीढिया बनी हुई हैं। इसके चारो ओर

गैलरी बरामदो और कमरो का एक लम्बा सिलसिला है । इस तालाब मे, जो स्नान करने के काम मे आता था, दो पास के कुओ से नलो द्वारा पानी लिया जाता था । यह पानी गन्दा होने पर नलो द्वारा ही निकाला जाता था। जल को बाहर निकालने के लिये छे फुट ऊची प्रणाली वास्तव मे हमारे लिये आज भी आश्चर्य की बात है। इस तालाब से मिला हुआ एक हम्माम भी है । यहा सम्भवत हर समय गर्म पानी का प्रबन्ध होता था।

इसी सिलसिले मे एक पिडाकार रचना—विशेषत एक मन्दिर है। इसकी दीवारें सात-आठ फुट मोटी हैं , जिसमे से कई नालिया गुजरती है। बनर्जी का मत है कि यह नालिया मन्दिर मे रखी मूर्तियो को नहलाने के बाद, पानी को बाहर निकालने के लिये बनाई गई थी । इसी समूह के एक दूसरे भाग मे छोटी-छोटी ग्लेज्ड या ईटो की बनी हुई एक वेदी सी जान पडती है। इसकी नाली भी उसी प्रकार की बनी हुई है । इनमे से एक मे दक्षिण-पश्चिम की ओर एक सीढी है और सामने नाली है। इसकी सगमरमर की छत हटा ली गयी है। इसी मन्दिर के पश्चिम उपर्युक्त तालाब है।

माप-दण्ड—यहाँ शख के एक टुकडे पर कुछ निशान लगे मिले हैं। यह टुकडा ६ ६२ × ० ६२ सेंटीमीटर माप का था । इसमे ९ समानान्तर रेखाए खिची हुई मिली हैं, जिनके बीच मे ० २६४ इच की दूरी थी। एक रेखा पर एक वृत्त खिचा था। पाँच रेखाओ के बाद एक बडा बिन्दु और था। वृत्त और बिन्दु के बीच मे आजकल की माप के हिसाब से १ ३२ इच का अन्तर था। सभवता सिन्धु सभ्यता का इच इतना ही बडा रहा होगा।

मनोरजन—मनोरजन के साधनो का भी यहाँ अभाव नही था। इन लोगो का सबसे प्रिय खेल वही था जो आर्यो का था। अर्थात् चौसर था। उस खेल के पाँसे भी यहाँ बहुतायत से मिले है। बच्चो के खिलौनो मे स्त्री, पुरुष, गाडियाँ, पशु-पक्षी मिट्टी के बनाये जाते थे । इन खिलौनो से झलकने वाली विविधता से तत्सम्बन्धी मानव-जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इनके बच्चो को दूध पिलाने वाले प्याले तथा हिलते सिर के बैल अत्यन्त आकर्षक हैं।

अस्त्र-शस्त्र—इनके प्रारम्भिक अस्त्र-शस्त्र पत्थर के है और कुछ हड्डी के बने हुए भी वहा पाये गये है। पश्चात् उनका स्थान ताँबे और पीतल ने ले लिया। अत. इन धातुओ के धारदार हथियार बनाये जाने लगे । इनके हथियारो मे कटार, गदा, परशु भाला, धनुषबाण, पत्थर फेकने का गोफिया मुख्य थे। इनका प्रयोग यह आखेट और युद्ध दोनो मे करते थे। तलवार, ढाल तथा कवच यहाँ उपलब्ध नही हुए। इनके अतिरिक्त धातुओ की अन्य चीजो की प्राप्ति से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्हे सोना, चाँदी, ताँबा, टीन और राँगा का ज्ञान था। वह भी सम्भवत प्राचीन काल से ही। इसके विपरीत वहाँ लोहा नही मिला।

कला-कौशल—चित्र-कला मे इन्होने काफी उन्नति करली थी । चित्रित भाण्ड और कलश उन्हे अत्यन्त प्रिय थे । यहाँ पर रगसाजी की भी कुछ वस्तुएँ मिली हैं, जिनमे मूर्तियाँ और बर्तन दोनो हैं; जो उनके कला-कौशल के प्रतीक हैं । यहाँ पर एक नर्तक और नर्तकी की मूर्तियाँ भी मिली हैं । नर्तक दाहिने पैर पर खडा है और बाँया पैर सामने की ओर को उठाये हुए है । उसकी भावनामयी मुद्रा ऐतिहासिक काल की मूर्ति-कला की मुद्रा से भी श्रेप्ठ है । नारी मूर्ति नग्नावस्था मे है; किन्तु उसके शरीर की गठन की बनावट उनकी कला की श्रेष्ठता की प्रतीक है ।

उनकी कला की श्रेष्ठता का सबसे मुखर प्रमाण उनकी मिट्टी की मुहरें हैं । रेखा-चित्रण, उन पर पशुओ का चित्रण यह भी सिद्ध करता है कि रेखा और वर्ग के चातुर्य मे यह लोग अपनी सानी नही रखते । सभ्यता के प्रारम्भ मे तक्षण और रेखाकन का इतना ज्ञान वास्तव मे आश्चर्य का विषय है ।

इन मुहरो पर खुदे हुए लेखो से यह भी ज्ञात होता है कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी लेखन-कला से अनभिज्ञ नही थे । यहाँ पर पत्थर अथवा मिट्टी की पाटिकाओ पर तो कोई लेख नही मिला है, किन्तु छोटी-बडी मुहरो पर गैडो और साडो की जो आकृतियाँ उत्कीर्ण है, उनके पास लिखे लेख उसी तरह के हैं जैसे कि प्राचीन ऐलाम सुमेर और निनवे से मिले हैं । परन्तु सिन्धु-सभ्यता के यह लेख अभी तक पढे नही जा सके । अभी तक केवल यही धारणा बन सकी है कि इन लेखो की जननी भी चित्र-लेखन-कला है, जिसका प्रत्येक चिन्ह शब्द-विशेष था अथवा वस्तु का बोध कराता था । इस प्रकार के ३९६ चित्रो की एक तालिका प्रस्तुत की गयी है । इस लेखन के प्राय पिछले काल में कुछ ऐसी सकेत मात्राओ का प्रयोग हुआ है जो शायद स्वर-चिन्ह हो ।

इस भाषा के बारे मे दूसरा ज्ञान यह और प्राप्त हुआ है कि पहिली मुहरो में भाषा दायी ओर से बायी ओर को लिखी गई है और बाद मे बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाने लगी थी । इसी प्रकार यह क्रमशः बदलती गई है । अत इस भाषा को कुछ पूर्व-काल की द्राविड और कुछ ब्राह्मी की प्रारम्भिक आर्य-लिपि और भाषा मानते हैं । परन्तु अभी तक इसका कोई प्रमाण नही है ।

हण्टर साहब का कथन है कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि सकेतात्मक है । इसकी उत्पत्ति पदार्थों, चित्रो और चित्रलिपि से हुई है । यह लिपि चीन और जापान मे आज तक प्रचलित है । ईस्टर टापू की लिपि भी इस जैसी ही है । अनेक मुद्राओ की लिपि सुमेर और मिस्र की भाँति है ।

वाद्य-यन्त्र—ललित-कलाओ मे नृत्य तथा सगीत इन्हे प्रिय था । ढोल तथा किसी प्रकार का तारो वाला वाद्य कम से कम उस समय मे अवश्य प्रयोग मे आता था । मोइन-जो-दडो की नृत्य कुमारी की मूर्ति जो साचा ढालकर बनाई गई है, यह सिद्ध करती है कि धातु की वस्तु ढालने का उन्हे पर्याप्त ज्ञान था ।

धर्म-व्यवस्था—सिन्धु-सभ्यता का ज्ञान वहाँ उत्खनन से प्राप्त मृनका मुहरो, ताम्रपत्रो, धातु, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियो से ही प्राप्त हुआ है। इन सब मे महत्त्व-पूर्ण मातृ-देवी अथवा प्रकृति देवी की मूर्ति है, जिससे सिद्ध होता है कि यह लोग पृथ्वी की पूजा--मातृदेवी के पुजारी थे और इनके यहाँ मातृ-सत्ता प्रधान थी। मातृ-देवी की नग्न-मूर्तियाँ यहाँ पर्याप्त मिली हैं। इसके अतिरिक्त ठीक इसी प्रकार की मूर्तियाँ बिलोचिस्तान मे भी मिली हैं। बेबीलोन की भी कुछ मुद्राओ पर मातृदेवी को गेहूँ की बालो के साथ अंकित किया गया है। सम्भवत मातृदेवी की उत्पत्ति प्रारम्भ मे माता के रूप मे हुई। मेसोपोटामिया के लेखो से ज्ञात होता है कि वहाँ मातृदेवी नगरवासियो की रक्षक थी। ऋग्वेद मे मातृदेवी के लिए अदिति', 'प्रकृति' तथा पृथ्वीमाता' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यही मातृदेवी भारत के मध्य-युग मे 'शक्ति' की प्रतीक मानकर पूजी गई। ईरान और ईजियन द्वीपो मे भी इसकी पूजा हुई। अत सिद्ध हुआ कि यह लोग प्रकृति अथवा पृथ्वी के पुजारी थे।

इनके दूसरे देवता 'शिव' थे। कुछ विशेष प्रकार की मुहर, जो यहाँ से खुदाई से मिली हैं, उन पर प्रागैतिहासिक शिव का चित्र उत्कीर्ण है। शिव की मूर्ति त्रिमुखी लाक्षणिक है और योगमुद्रा मे बैठी हुई है। यदि वास्तव मे यह 'शिव' ही हैं, तब शैव धर्म, विश्व के सभी धर्मों से प्राचीन माना जायेगा। यह मूर्ति एक तिपाई पर आसीन है। तिपाई के दाहिनी ओर चीते और गैंडे तथा भैंसे का चित्र है। शिवजी के सम्मुख द्विशृंगी हिरन खडे है। सर पर सींग हैं जो सिरन्द से बंधे हैं। मुद्रा के ऊपर के भाग म सात शब्दो का एक लेख है जो अभी तक पढा नही जा सका। प्राचीन काल मे सींग भी धार्मिक चिन्ह समझा जाता था। सुमेर, बेबीलोन तथा ईरान मे राजा और पुरोहित लोग इन्हे ताज की भाँति पहिनते थे। सम्भव है सिन्धु-सभ्यता के शिव के सींग भी किसी ऐसी ही धार्मिक-भावना के प्रतीक रहे हो। सर जान मार्शल की राय है कि "ऐतिहासिक युग मे यही त्रिभग प्रतीक त्रिशूल के रूप मे आया।" शिव की इस आकृति मे सम्भवत तीन देवताओ को एक करने का प्रयास किया गया है। शिव की दूसरे प्रकार की मूर्ति एक ताम्र-पत्र पर अंकित है। इसमे भी शिव योगासन पर विराजमान हैं। शिव के दोनो ओर दो भक्त घुटनो के बल बैठे हैं और शिव अपने गले मे सर्प धारण किये हुए हैं।

कुछ मुद्राओ से वृक्षो और पशुओ की पूजा का आभास मिलता है। अत हिन्दू-सभ्यता मे अब भी कुछ इस प्रकार के स्थल हैं, जिनसे भारतीय-संस्कृति की हजारो वर्षों से चली आ रही अटूट धार्मिक शृंखला का विस्तार सिद्ध होता है।

सिन्धु-सभ्यता के संस्थापक—इस सभ्यता के संस्थापक वस्तुत वह आर्य थे, जो अपनी व्यापारिक आदि असुविधाओ के कारण आर्यों के कठिन कर्म-काण्ड मे भाग न ले सकते थे और उन्हे आर्य 'दास' अथवा 'दस्यु' नाम से सम्बन्धित करते थे। भारतीय वाङमय मे इस प्रकरण पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

इस सत्य के विरोध मे केवल तीन प्रमाण दिये जाते है। एक, वहाँ पर अश्व

और श्वान का अभाव अस्थि-पजरो और मिट्टी की मुहरो पर है । इनके चिन्ह ऊपरी सतह पर मिले हैं, उसी आधार पर यह सिद्ध करते है कि जिस जाति के पशु हैं, उसने ही इन्हे नष्ट किया । वह यह नही सोचते कि मोइन-जो-दडो के निवासी किसान और व्यापारी थे । उनका व्यापार नौकाओ द्वारा होता था और गाडी खीचने तथा कृषि के बैल पर्याप्त थे । अत' उन्हे घोडा पालने की आवश्यकता ही नही थी । रही वात कुत्ते की । सभव है वह कुत्ते से घृणा करते हो । इन वस्तुओ का ऊपरी सतह पर पाये जाने का तात्पर्य स्पष्ट है । कुषाण-काल के पश्चात् तक भी वहा पर नगर रहा । बौद्ध-काल के चिन्ह इस प्रमाण के प्रतीक हैं । इसके साथ ही यह नही माना जा सकता कि आर्यों के इतना पडौस मे रहने पर भी, इन्हें आर्यों के घोडो और कुत्तो का ज्ञान अन्तिम समय तक भी न हुआ हो । यदि हम आर्यों को वाहर से आया मानते हैं, तब इन चीजों के मोइन-जो-दडो में अभाव के कारण यह भी मानना पडेगा कि आर्यों ने सबसे पहिले अपना विस्तार न करके मोइन-जो-दडो पर ही विनाशक प्रहार किया । इसमे दो वातें अत्यन्त बाधक हैं । पहिली बाधा मोइन-जो-दडो के ४ हजार ई० पू० के नष्ट होने की है । अत आर्यों का आगमन ई० पू० २००० वर्ष पूर्व मानना पडेगा और आर्यों के चौसर के खेल को भी मोइन-जो-दडो सभ्यता का मानना पडेगा । दूसरे ई० पू० ३ री शदी मे वहा बौद्धो का वाहुल्य हो गया था और बौद्ध धर्माचार्य आर्यों की इस विशाल विध्वसलीला का वर्णन अपने धर्म ग्रथों मे अवश्य करते । तीसरा प्रमाण उन्हें द्रविड सिद्ध करने के समर्थक यह देते हैं कि वहाँ कुछ विशाल अस्थि-पजर मिले हैं जो वहाँ के निवासियो के नही हैं । उसके लिये यदि यह मान लिया जाय कि वह मोइन-जो-दडो के एक-दो पहलवान् होगे तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

श्री बनर्जी सहित कुछ इतिहासकारो की धारणा यह भी है कि बिलोचिस्तान मे पाई गयी, मोइन-जो-दडो सदृश वस्तुए और इन्ही के अनुरूप भूमध्यसागर की ईजियन-सभ्यता की वस्तुए यह सिद्ध करती हैं कि इस जाति का मूल निवास क्रीट द्वीप है और यह विलोचिस्तान होती हुई भारत आयी । उनका दूसरा कथन मोइन-जो-दडो वासियो को सुमरेवासी सिद्ध करने का है । इसका आधार नालियो और भाडो की समानताए हैं । परन्तु वह यह ध्यान नही देते कि यह समानताएँ सुमेर के निचले स्तरो और सिन्धु सभ्यता के ऊपरी स्तरो से उपलब्ध सामग्रियो की हैं जिससे सुमेर की प्राचीन सभ्यता, सिन्धु सभ्यता की बहुत पश्चात् की सभ्यता के समान दर्जे पर आती है । अत. उनके सुमेरीय होने का तो प्रश्न ही समाप्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त यह विचार उत्पन्न होता है कि सिन्धु सभ्यता वालो ने पहिले क्रीट की सभ्यता को जन्म दिया और पश्चात् सुमेरीय सभ्यता को । यह मानने के अतिक्ति और कोई चारा नही रह जाता ।

सिन्धु सभ्यता की समानता भारत मे हडप्पा और पाकिस्तान मे बिलोचिस्तान से मिले बर्तनो से की जाती है । भारत मे दक्षिणी पजाब तक इस सभ्यता का

विस्तार माना जाता है। गगा के काठे मे इस सभ्यता के चिन्ह न मिलकर फैजावाद मे यह चिन्ह पाये गये है। सभव है आर्यो की इस प्राचीन शाखा का मूल गगा यमुना का दुआवा भी न ठहरकर दक्षिण भारत ही बैठे, जहा पर यह सभ्यता मोइन-जो-दडो की भाँति ही फली-फूली थी।।

काल-निर्धारण—इस सभ्यता की अभी तक सात तहें खोदी जा सकी हैं, तीन अभी पानी मे है। उनमे से प्रत्येक सभ्यता का समय ५०० वर्ष मानकर इसका प्रसार-काल ३२५० ई० पू० के आसपास बैठता है। परन्तु यह मानना होगा कि इसकी पानी की तीन सतहें और परिपक्व नागरिक सभ्यता यह सिद्ध करती हैं कि इनका विकास और भी शताब्दियो पहिले हो चुका था। इसी आधार पर यह न मानने का कोई कारण नही रह जाता कि मोइन-जो-दडो और ऐलाम सभ्यताओ की वस्तुओ मे जो एकरूपता पाई जाती है तथा सुमेर और मेसोपोटामिया से प्राप्त वस्तुओ की समानता यह सिद्ध करती है कि मेसोपोटामिया मे 'जल-प्रलय' (दजला की बाढ) के समय की सभ्यता और सिन्धु की मध्यकालिक सभ्यता के समान है, जिसका काल २७५० ई० पू० है। अत हमारे पास पानी के तीन स्तर गणना के लिए शेष रह जाते हैं। पूर्व नियम की भाँति अर्थात् प्रत्येक स्तर को ५०० वर्ष का मान लेने पर १५०० वर्ष होते हैं। इस प्रकार २७५०+५००=३२५० ई० पू० का काल इस सभ्यता का ठहरता है।

नष्ट होने का समय—इस सभ्यता को आर्यों द्वारा नष्ट हुआ तो माना ही नही जा सकता। वह इसलिये भी नही माना जा सकता कि जिस समय इस सभ्यता के नष्ट होने का आरोप आर्यो पर लगाय जाता है, वह लगभग तीन हजार ई० पू० बैठता है और प्राप्त अस्थि-पजर यह सिद्ध करते हैं कि उनकी मृत्यु धारदार हथियारो से हुई है—अर्थात् तलवारो से। इस अवस्था मे आर्यों के लिये यह मानना पडता है कि या तो उनकी सभ्यता इतनी विकसित हो चुकी थी कि वह तीरो की बजाय तलवारो से लडते थे अथवा बाहर से ही वह तलवारें लेकर आये थे और इतने शक्तिशाली होकर आये थे कि सिन्धु-काठे से लेकर पजाब और बिलोचिस्तान तक फैली कथित द्रविड दृढ सभ्यता को उन्होने समाप्त कर दिया। जबकि यही इतिहासकार आर्य सभ्यता का उत्तरी भारत मे प्रसार ही केवल १५०० ई० पू० मानते हैं। दूसरे, ईरानी दारा की सेना मे मोइन-जो-दडो के लोगो का भाग लेना भी यह बताता है कि इस सभ्यता का समूल नाश नही हुआ था। पहिली सभ्यताएँ बाढ और भूकम्पो की भेंट हुयी। यदि ऐसा नही होता, तब आक्रमणकारी आर्य इनका समूल नाश करके वहीं बस गये होते और भारतीय सभ्यता का मुख्य केन्द्र मोहन-जो-दडो ही बनता। इसके विपरीत यह मानना कि वह लोग यत्र-तत्र भागे और कोल, मुडा तथा राजस्थान के मीण इन्हीं के वशज हैं, गलत है। राजस्थान के मीणो की वेश-भूषा,

शारीरिक गठन द्रविडो के कथित गठन से सर्वथा भिन्न है। और कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास मे इन्हे 'हूण' जाति की एक शाखा माना है। अत हमे पुनः भारतीय वाङमय को ही आधार मानना पडता है कि मोइन-जो-दडो के वासी प्राचीन भारतीय आर्यो की ही एक शाखा थे।

हड़प्पा सभ्यता

मोइन-जो-दडो की सभ्यता और हडप्पा की सभ्यता को एक ही जाति की सभ्यता माना जाता है। मोइन-जो-दडो सिन्धु मे है और यह स्थान पंजाव के मिंटगुमरी जिले मे है। इसकी खुदाई श्री दयाराम साहनी के नेतृत्व मे हुई थी। श्री दयाराम साहनी को खुदाई से आठ कृत्रिम तहे दिखाई दी थी। इनसे ज्ञात होता है कि यह स्थान ई० पू० ३ री शताब्दी से भी हजारो वर्ष पहिले से निरन्तर आबाद रहा है और इस लम्बे काल के एक बहुत बडे भाग मे भली प्रकार पकाई हुई ईंटे मकानो के बनाने मे प्रयुक्त होती रही हैं। परन्तु यहाँ जा वस्तुए प्राप्त हुई हैं वह खण्डित अवस्था मे हैं तथा बहुत-सी दुर्लभ वस्तुएँ रेल्वे के ठेकेदार लोग पहिले ही ले उडे हैं।

जन-जीवन—हडप्पा का जन-जीवन, मोइन-जो-दडो के जीवन से प्राचीन लगता है। यहाँ के लोगो ने पहिले हाथ से सादे बर्तनो को बनाना सीखा, बाद मे यह चाक से बनाये जाकर, रगे जाने लगे। यह लोग मिट्टी के खिलौने भी बनाते थे तथा इनकी स्त्रियाँ नीले कांच, लेई और सीपी की चूडियाँ इस्तेमाल करती थी।

अपने दैनिक व्यवहार की वस्तुओ मे हडप्पा-निवासी चाकू, चकमक की कीलें, पासे और शतरज की मुहरें प्रयोग मे लाते थे। यहाँ पर पाया गया पत्थर की अँगूठियो का एक अद्भुत अनुक्रम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। नये नमूने के सिक्के का निशान और मिट्टी की मुद्राएँ जिन पर कुछ लिखा हुआ है—बहुत पीछे की तहो के अलावा कम मिलती हैं।

इन सब मे महत्त्वपूर्ण पत्थर की मुद्राएँ हैं, जिन पर अज्ञात चित्रमयी लिपि मे उपाख्यान खुदे हुए हैं। खोदने की इनकी शैली भी अद्भुत है। ऐसी शैली के भारत ही नही, अन्यत्र भी दर्शन नही होते। इनमे कुछ साबूनी पत्थर (Steatite) की हैं, कुछ हाथी दाँत की और कुछ पत्थर और लेई की। अधिकांश मुद्राएँ वर्गाकार हैं और उनकी पीठो पर एक कोका है, जिसमे धागा डालकर लटकाने के लिए एक-एक बारीक छिद्र है। इन पर उत्कीर्ण जन्तुओ मे से कई पर सांड हैं, कइयो पर एक शृंग बैल, है परन्तु यह बात द्रष्टव्य है कि बैल न तो कवड वाला है, न भारतीय सांड है और न जगली भैंसे सदृश्य है।

लेखन-कला—यह लोग लिखना-पढना जानते थे। इसका प्रमाण इनकी चित्रित मुहरें हैं । श्री वनर्जी इनकी मुहरो को सिक्के मानते हैं , क्योकि भारत के प्रायात सिक्को के सदृश्य हैं, जिन्हे पच-चिन्हित' (Punch-Marked) कहते हैं । यद्यपि तोल मे यह प्राचीन भारत मे प्रयुक्त होने वाले किसी भी स्वीकृत मान के अनुरूप नही । यदि यह सत्य है तो ७वी सदी ई० पू० मे निर्मित लीडियन सिक्के इनके सामने विल्कुल नए सिद्ध होगे ।

सैन्धव-सभ्यता मे धातुओ का प्रयोग—इस सभ्यता मे प्राय सभी प्रकार की धातुएँ पाई गई हैं। जिसका अभिप्राय यह है कि इन लोगो का रासायनिक ज्ञान भी अच्छा था। सिन्धु से प्राप्त सोने से ज्ञात होता है कि वहाँ पर सोना दक्षिण-भारत से पहुचता था। 'मार्शल के अनुसार २५०० ई० पू० से वहाँ पर सोना निकाला जाता रहा है। यहा पर चाँदी दो स्थानो से आती थी । एक दक्षिण से जो सोना मिली होती थी । दूसरे अफगानिस्तान की फारजल खान से । इसके अतिरिक्त आर्मे-निया की गुमुक्ष खान से अथवा पारस से भी पहुँचती थी जो सीसा मिली होती थी । ताँवा भी यहाँ कई स्थानो से पहुँचता था। जयपुर और मद्रास के नेल्लोर प्रान्त के अतिरिक्त शाह मकसूद तथा विलोचिस्तान के दोपाट की खानो से भी पहुँचता था । सीसा अजमेर की प्राचीन खानो से पहुँचता था। वहाँ की खानो की रूपरेखा से ही यह सिद्ध होता है कि यहाँ सदियो से शीशा निकाला जाता रहा है। इसके अतिरिक्त वहा कश्मीर से हरे रग की 'अमेजन' मणि, फारस से भी हरे रग की हरिताश्म मणि, काठियावाड मे स्फटिक या क्वार्ट्ज, राजस्थान से स्टीएटाइट या तल्क (Talc) (एसिड मेगनीशियम मेटासिलिकेट या मृदु अभ्रक सोप स्टोन) पहुँचता था । 'नीलम' लका, यूराल पर्वतमाला और हैदराबाद मे पहुँचती थी । 'स्लेट' पजाव के हजारा जिले और राजस्थान के अलवर जिले से पहुँचता था। 'शिलाजीत'—यह पदार्थ पहिले सीमान्त प्रदेश मे वहुत पाया जाता था । सम्भवत विलोचिस्तान से यहाँ पहुचता होगा । जेड या जेडाइट (Jadeite) मोइन-जो-दडो मे जेड के वने मणिक काफी पाये गये हैं। अनुमान है कि यह पामीर, पूर्व तुर्किस्तान, तिव्वत या उत्तरी वर्मा से पहुँचता हो। यहाँ पर 'जेड' का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि इस सभ्यता का मध्य एशिया से पर्याप्त सम्वन्ध रहा है।

औद्योगिक पदार्थ—मोइन-जो-दडो की अनेक मुद्राओ पर हाथी का चित्र अकित है। परन्तु यहाँ हाथी दांत की वनी वहुत कम चीजे मिली हैं। यहाँ हाथी दाँत का प्रयोग मालाओ, छडियो की मूँठो, कघो और वनुपो मे आरी आदि से काटकर हुआ है। इसके वाद 'शख' का नम्बर आता है । यहाँ पर वेवीलोनिया की भाँति शख से वनाई गई वहुत-सी चीजें मिली हैं। शख के प्रत्येक भाग से यह कोई न कोई वस्तु तैयार कर लेते थे। पशुओ के चित्र अकित करने मे भी शख से सहायता ली जाती थी । पत्ते, फूल की पखडियाँ, नेत्र आदि की रचना मे भी शख से काम लिया जाता था।

शख के अतिरिक्त यह लोग काचीय मिट्टी (Glaze) क बन मनके, गुरिया या गुलिकाएँ बनाते थे। पहले यह काँच की ही समझ ली गई थी, परन्तु अन्वेषण से ज्ञात हुआ कि यह दो रगो की काचीय मिट्टी की बनी हुई थी। ऊपर का हल्का परत भूरी मिट्टी का था और भीतर का श्वेत काचीय मिट्टी का भूरा। रग सम्भवत लोह ऑक्साइड के कारण आया। डा० हमीद ने काचीय अवलेप से बनी एक मानव मूर्ति और एक पात्र के आधार भाग की परीक्षा की। इस परीक्षण के अक मिस्र मे पाये गय फाएन्स के अको से मिलते-जुलते हैं। पेट्री (Petree)के मतानुसार काच के इस तरह प्रयोग का युग ई० सन् से १० हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ होने लगा था, किन्तु अन्य विद्वान् इसे ई० पूर्व ३४०० वर्ष का मानते हैं। मेसोपोटामिया मे भी प्राचीन-काल से काचिय आभायुक्त मनको और गुलिकाओ के बनाने की कला रही है। परन्तु हडप्पा और मोहन-जो-दडो मे इस कला की वस्तुओ की बहुतायत मिली है। काचीय मिट्टी से छोटे-छोटे मनके बना लेना तो आसान था, किन्तु बडे-बडे घट बनाना कठिन था। मोहन-जो-दडो मे ही प्राचीनतम घट ऐसे मिले हैं, जो काचीय मिट्टी की आभा से युक्त तैयार किये गये। रोमन-काल से पूर्व यह मिस्र देश वालो के लिए अज्ञात थे। 'रायस्नर' (Reisner) यह बर्तन नूबिया की एक कब्र मे अवश्य मिले हैं, किन्तु मिस्र के लिए अज्ञात थे। मेसोपोटामिया मे भी यह ईसा से केवल १ हजार वर्ष पूर्व ही बनने शुरू हुए थे। क्रीट मे कतई मिले ही नही। इससे यह सिद्ध होता है कि इन बर्तनो को तैयार करने की कला सर्व प्रथम सिन्धु घाटी या भारत मे ही कही विकसित हुई। बीच मे यह कला अवश्य कुछ समय के लिए लुप्त हो गई, परन्तु दूसरी शती मे—कुशाण-काल मे फिर जाग्रत हुई। चीन मे भी यह बर्तन हान-वश (२०६ ई० पू०–२२० ई०) से पूर्व नही थे। इससे 'रॉस' की यह कल्पित धारणा समाप्त हो जाती है कि यह चीन से भारत आये।

रामायणकालीन सभ्यता का विकास

(ई० पू० ६ हजार से ई० पू० ३ हजार तक)

रामायणकाल मे भारतीय सभ्यता का विकास अपनी चरम-सीमा पर था। इस काल को भारतीय सभ्यता का 'स्वर्णयुग' कहा जाता है। ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से उस समय भारतवर्ष सर्वोच्चिता के उच्च-शिखर पर पहुँचा था। यह काल ब्राह्मण ग्रथो के वाद का है और महाभारत काल से पूर्व का है। इस काल मे साहित्य-सृजन भी अपनी पराकाष्ठा पर था। इस काल की रचना केवल 'रामायण' एक ऐसी साहित्यिक रचना है, जिसकी तुलना मे आज तक ससार का कोई ग्रथ नही लिखा गया और यही कारण उसके विश्वव्यापी वनने का है।

कौशल राजवश और राम—ऋग्वेद (४।३०।१८) मे सरयू नदी के तट पर प्रथम आर्य वस्ती वसने का उल्लेख आता है। अयोध्या नाम की इस नगरी की स्थापना स्वय **मनु** ने की थी और उसकी पूर्ति इक्ष्वाकु ने की थी। उस समय **विदेह** मे दलदल भरा था, माधव ने वहाँ देश वसाना प्रारम्भ किया था। कोशल के उत्तर मे हिमालय, पूर्व मे सदानीर, दक्षिण मे सहनदी, पश्चिम मे पांचाल नाम्क देश वस गये थे। शाक्यो का राज्य भी कोशल के अन्तर्गत था। अयोध्या, श्रावस्ती और साकेत—सूर्य वशियो की राजधानिया थी। श्रावस्ती राप्ती नदी के किनारे थी। (वर्तमान मे सहेत-महेत)। कौशल राज्य कुरु पचाल राज्य से पीछे और विदेह के पूर्व परिपूर्ण हुआ। इक्ष्वाकु वशी विशाला-वैशाली, मिथिला तथा कुशीनारा मे राज्य करते थे।

उत्तर-कौशल राजवश की मुख्य शाखा की ३९वी पीढी मे राजा राम का जन्म हुआ। यह सूर्यवशी थे। इन सूर्यवशी नरेशो मे मनु—इक्ष्वाकु, पुरजय, मान्धाता, त्रसदस्यु (ऋग्वेद मे प्रशस्ति), वृक, नाभाग, अम्बरीप, दिलीप, रघु, अज और दशरथ अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। इन्ही दशरथ के पुत्र राम थे। राम के समकालीनो मे सूर्यवश की दूसरी शाखा मे हरिश्चन्द्र, सगर, सुदास, कल्माषपाद, सीरध्वज, कुशध्वज, भानुमन्त और धर्मध्वज थे।

इनके समकालीन ऋषियो मे 'वशिष्ठ', विश्वामित्र', 'वामदेव', ऋष्यशृग तथा मित्रमुकाश्यप, सामकाश्व, देवराट्, मधुच्छनदस, प्रतिदर्श, गृत्सभद, अगस्त्य, अलर्क और भारद्वाज थे।

रामायण-महान् ग्रथ—मूल ग्रन्थ रामायण का वाल्मीकि ऋपि ने नि सन्देह राम

काल मे ही लिखा था। अत' वाल्मीकि **रामायण** ही रामचरित्र की विश्व-विश्रुत सर्वाधिक प्राचीन, सर्वाधिक प्रामाणिक और अत्यन्त सर्वाधिक सागोपाग पूर्ण पुस्तक है। अत उसके ऐतिहासिक तत्त्व सत्य के अति निकट है। वाल्मीकि द्वारा रचित मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। वर्तमान रामायण को लगभग ई०पू० ७वी शताब्दी मे लिखा गया। इस समय यह ग्रन्थ तीन पाठो मे उपलब्ध है। यद्यपि इन पाठो मे सूर्यवश की प्राचीन वशावली का कुछ भाग विकृत हो गया है, परन्तु इतिहास के लिये यह अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। 'बाल-काण्ड और उत्तरकाण्ड' मूल रामायण मे नहीं थे, इन्हे ई० पू० २री शताब्दी मे जोडा गया। मूल-रामायण मे पाच काण्ड और १२ हजार श्लोक थे। *

रामायण की फलश्रुति छठे काण्ड के अन्त मे है। फिर भी सातवा काण्ड अति प्राचीन है। भास (ई० पू० प्रथम शताब्दी), मदन्त अश्वघोष (प्रथम शताब्दी), कालिदास (पाचवी शताब्दी), भवभूति (आठवी शताब्दी), ने इस काण्ड से उद्धरण लिये हैं। **निरुक्त** व्याख्याकार दुर्ग ने वाल्मीकि रामायण से श्लोक भी उद्धृत किये हैं। वाल्मीकि रामायण के अनेको श्लोको की छाया महाभारत मे भी है।

रावण का महल—रावण का महल एक उच्च पर्वत-शिखर पर था। चांदी से मढे चित्रो, स्वर्ण द्वारो, भव्य प्रागणो और अद्भुत अन्तर्द्वारो से वह सुशोभित था। उसमे लडाई के रथ तथा आने-जाने के अन्य राजमार्ग थे। इन मार्गो पर थोडी-थोडी दूर पर हाथी दात की बनी योद्धाओ की मूर्तिया बनी थी तथा घुडसवार सैनिक तैनात थे। वह महल मदराचल के समान ऊचा, मोरो के स्थान से युक्त, ध्वजाओ से सुशोभित रत्नो और खजानो से भरा हुआ था। उसमे अनेक अटारियाँ थी, वैदूर्य मणियो से जटित सोने की खिडकियाँ थी तथा उत्तमकोटि के शख, शस्त्रास्त्र और धनुषो की शालाए थी। उस पर्वत समान भवन मे अनेक चौवारे और अनेक फव्वारे थे। महल के बाहर सैनिको के निवास स्थान बने हुये थे। उनके चारो ओर लम्बे-चौडे उद्यान बने हुए थे। यह कलात्मक ढग से सजे हुए थे तथा पशु-पक्षियो के सुन्दर स्थान बने थे। उनके बाद घोडे और हाथियो के स्थान थे जो सोने और बहुमूल्य धातुओ की जालियो से छाये हुए थे।

रावण का शयन-कक्ष भव्य, सुन्दर और विशाल था। उसमे मणियो से जडी सीढियाँ, स्फटिक का फर्श, रत्न जडित स्तभ और हाथी दात की बनी हुई मूर्तिया थी। फर्श पर रग-बिरगे कालीन बिछे थे। द्वारो पर नीले रग के पर्दे टगे थे। सभी कमरे अगर की सुगध से सुवासित थे। उनकी भव्य दीवारें पुष्पमालाओ और वदनवारो से अलकृत थी। सारा वातावरण आह्लादकारी और चित्ताकर्षक था। महल के दूसरे भाग मे नृत्यशाला और सगीत-शालाए थी। पास ही रावण की अशोक वाटिका भी थी, जिसमे तरह तरह क पशु पक्षी-भवन और प्रासाद थे।

लका मे सामान्य नागरिको के आवास स्थान भी सम्पन्न, अनेकानेक कक्षो से

---

* महाभारत

युक्त, सोने के पूर्ण और अर्द्ध-चन्द्रमा से अलकृत होते थे । उन भवनो मे सुन्दर चन्द्र-शालाए बनी थी और बैठको के झरोखे बढिया रत्नो से खचित थे। प्राय सभी घर मणि-मूगो से चित्रित थे। लका नगरी के सौन्दर्य का यह वर्णन वाल्मीकि रामायण मे है। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय विश्व की अन्य जातिया आवास-ज्ञान से बिल्कुल अनजान थी, उस समय भारतीय वास्तुकला अपनी श्रेष्ठता के उच्च-शिखर पर पहुँची हुई थी।

रामायण-कालीन दक्षिण भारत का ज्ञान—वाल्मीकि रामायण मे प्रसगवश दक्षिण भारत की भी अनेक जातियो के वर्णन आये है । प्रथम वर्णन वानरो का है । राम और सुग्रीव की मित्रता कराने के लिये हनुमान ने उन्हे अग्नि की परिक्रमा कराई थी जो विशुद्ध आर्य-पद्धति है। वानर-जाति के वर्णन मे रामायण मे लिखा है कि वह पित्तरो का श्राद्ध-तर्पण करते थे और धार्मिक कर्म-काण्ड ब्राह्मणो द्वारा सम्पन्न कराते थे । अपने राज्याभिषेक के अवसर पर सुग्रीव ने भी रत्न-वस्त्र देकर द्विज श्रेष्ठो को प्रसन्न किया था। (४।२५।२९) समृद्धि-प्राप्ति के लिये वानर स्वस्त्ययन जैसे मागलिक कृत्य करते थे। उदाहरणार्थ बाली को विदा करते समय तारा ने उसकी प्रदक्षिणा करके, उसकी विजयकामना से विधिपूर्वक स्वस्त्ययन किया था । इसके अतिरिक्त लका की ओर उडान भरने से पहिले हनुमान ने सूर्य, महेन्द्र, पवन और स्वयभू ब्रह्मा को नमस्कार किया था। लका मे अशोक वाटिका मे घुसने से पहिले भी उन्होने ब्रह्मा, अग्नि, वायु, वरुण, चन्द्र, इन्द्र, अश्विन और मरुत आदि की अभ्यर्थना की थी । लक्ष्मण ने उन्हे 'विद्वन्' कहकर सम्बोधित किया था ।

वानर-जाति को औषधि-विज्ञान मे भी अत्यन्त निष्णात माना गया है। लका-युद्ध के समय राम, लक्ष्मण तथा अनेक वीरो की जीवन-रक्षा वानर-वैद्य सुषेण की सामयिक चिकित्सा से ही सभव हो सकी थी। देश-देशान्तरो से परिचित होने के कारण वानरो को औषधियो और उनकी प्राप्ति के स्थान का ज्ञान रहता था।

रामायणकालीन परिवार—वस्तुत रामायणकालीन आर्य-परिवार विश्व की परिवार व्यवस्था के लिये एक आदर्श था। परिवार मे पिता ही परिवार का मुखिया था। जिसका आदर्श सर्वोपरि था। पत्नी घर की गृहस्वामिनी थी। पुत्र और पुत्रियो पर पिता का पूर्ण नियत्रण था । पिता की अनुमति के बिना वह अपना जीवन-साथी नही चुन सकते थे। जनक का धनुष तोडकर सीता को पाने के अधिकारी होने पर भी राम ने पिता की इच्छा के बिना विवाह करने से इन्कार कर दिया था । अत व्यावहारिक मामलो मे पिता की आज्ञा कानून के तुल्य होती थी। अपनी सम्पत्ति का परिवार मे विभाजन कराने मे पिता स्वतन्त्र था। परिवार को एक सयुक्त इकाई के रूप मे गठित करने मे ऋषियो-मुनियो का भी बडा हाथ था । महर्षि वाल्मीकि ने बारम्बार कहा है—'अपने व्यक्तिगत स्वार्थो को परिवार के सामूहिक हितो के समक्ष अत्यन्त गौण रखना चाहिये।' परिवार मे सबसे पहिले बडे भाई का विवाह होता था। यदि छोटा भाई पहिले विवाह कर लेता था, तब वह 'परीवेत्ता' कहलाता था और नर्क का गामी होता

था । अत· छोटे भाई बडे भाई को पितृ-तुल्य मानते थे । उदाहरणार्थ जब दरबार मे विभीषण ने रावण को उपदेश देना शुरू किया था, तब रावण ने उसे फटकारते हुए कहा था—'मैं तुम्हारा बडा भाई और आचार्य की तरह ही मान्य हूँ ।' भरत को भी 'ज्येष्ठानुवर्ती' अर्थात् बडे भाई का आज्ञापालक कहा गया है । माता-पिता की आज्ञा मानना और सेवा करना—सत्य, दान और यज्ञ से भी अधिक कल्याणकारी माना जाता था ।

परिवार के सदस्यो का सौहार्दमय पारस्परिक सम्बन्ध ही आर्य-सस्कृति का प्रधान सबल और उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है । रामायण ने पाठको के सामने सयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यो के बीच स्नेह और सद्भावनापूर्ण सम्बधो का एक उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम सर्वत्र देखते हैं कि माता-पिता की भक्ति, सतति का प्रेम, पति पत्नि की अनुरक्ति, अतीत की परम्पराओ मे आस्था और पूर्वजो का श्रद्धामय स्मरण—यही कोमल ततु थे, जिन्होने भारतीय परिवार के सदस्यो को स्नेह के बन्धन मे आवद्ध किया था । उस समय एक हिन्दू सस्कारी का घर, मातृ-स्नेह, पैतृक-सरक्षण, दाम्पत्य-प्रणय और सन्तानोत्पत्ति की अचल प्राकृतिक प्रवृत्तियो के आधार पर समाज और राष्ट्र का दृढ स्तभ वनता था । मनुष्य के चरित्र-निर्माण मे परिवार के सहयोग को **रामायण** ने स्वीकार किया परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जिसमे व्यक्ति, स्नेह और सौहार्द का, गुरुजनो के प्रति आदर और भक्ति-भाव का और सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियो को दबाने का पाठ सिखाता रहता है ।

रामायण-कालीन-विवाह प्रथा—विवाह मनुष्य जीवन की पूर्णता है । गृहस्थ आश्रम की भित्ति और पारिवारिक ढाचे की वह आधारशिला है । मनु ने विवाह को स्त्री-पुरुषो के सम्बन्धो को मर्यादित करने वाली—कल्याणकारी लौकिक प्रथा माना है । रामायणकाल मे विवाह-प्रथा शास्त्रीय आधारो पर पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। सामान्यत प्रत्येक व्यक्ति के लिये विवाह—पारिवारिक स्थिरता, सासारिक सुख और पारलौकिक दृष्टि से आवश्यक माना जाने लगा था । उस समय उपनयन सस्कार द्वारा जिस प्रकार व्यक्ति द्विजत्व प्राप्त करता था, उसी प्रकार स्त्री पाणि-ग्रहण द्वारा अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट करती है ।

रामायण-काल मे विवाह से पूर्व वर-वधू में कोई सम्पर्क नही होता था । सीता, मन्दोदरी, कुशनाभ, कन्याए ऋष्यश्रृग की पत्नी शाता--किसी ने विवाह से पहिले पति के दर्शन नही किये थे । उस समय विवाह से पहिले प्रेम सभाषण हेय दृष्टि से देखा जाता था। समान शील और कुल के आग्रह के सिवा विवाह सम्बन्धो पर कोई निर्धारित प्रतिबन्ध नही था । गोत्र, प्रवर, सपिंड सम्बन्वो के वर्जन आदि का ध्यान रखा जाता था या नही, इसका कोई प्रमाण नही मिलता । अलबत्ता अन्तर्जातीय विवाहो का प्रचलन था । क्षत्रिय राजकुमारी शान्ता और ब्राह्मण ऋषि-कुमार ऋष्यश्रृग का विवाह अनुलोम विवाह का उदाहरण है उत्तरकाण्ड के युग मे

अनुलोम-विवाहो की सख्या और भी बढ गई थी। ययाति और ब्राह्मण देवयानी का सम्बन्ध इसका उदाहरण है।

उस समय पुत्र-पुत्री का विवाह पिता करता था। क्षत्रियो मे स्वयवर प्रथा भी थी। परन्तु यह भी पिता की इच्छा से होता था। जब वायु ने कुशनाभ कन्याओ से अपने साथ विवाह के लिए कहा था, तब उन्होने कहा था—'हे मूर्ख, ऐसा समय कभी न आये, जब हम अपने सत्यवादी पिता की उपेक्षा कर स्वतन्त्रतापूर्वक स्वयवर करलें। पिता ही हमारे प्रभु और देवता हैं।' ब्राह्मणो तथा अन्य वर्गों मे स्वयवर नही होता था। विवाह वयस्क अवस्था होता मे था।

आदर्श वधू मे सौभाग्य सूचक लक्षण देखे जाते थे। राम की कथित मृत्यु पर सीता ने कहा था—"सामुद्रिक शास्त्र जानने वालो ने मुझे सधवा और पुत्रवती बताया था। जिनके कारण कुल कामनिया अपने राजा पतियो के साथ राज पद पर अभि-षिक्त होती हैं, मेरे पैरो मे वह कमल रेखाएँ भी हैं—विधवा होने का कोई लक्षण मेरे शरीर मे नही। मेरे बाल बारीक, समान और काले हैं, भौहे जुडी हुई नही है। जघा गोल और रोम हीन है, दाँत सटे हुए हैं। आँखो के प्राँत भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने और जाघें-सब समान और उभरे हुए हैं। नख उतार-चढाव वाले और चिकने हैं। उँगलियाँ भी समान हैं। मेरे उरोज मोटे और सटे हैं। उनके चूचक धसे हुए है। मेरी नाभि गहरी है तथा पार्श्व भाग और छाती उभरी हुई है। मेरी अग-काति खरीदी हुई मणि के समान उज्ज्वल है और शरीर के रोयें कोमल है तथा पैरो की अगुलिया और तलवे पृथ्वी से अच्छी तरह सट जाते हैं। इसके कारण भी लक्षणज्ञो ने मुझे शुभ लक्षण बताया था। मेरे हाथ-पैर लाल हैं, उनके पोरो मे यव (जौ) की समूची रेखाएँ हैं। कन्या का ज्ञान रखने वालो ने मुझे मन्द मुस्कान वाली बताया था। इसी प्रकार वर मे भी बल और सुन्दरता के अतिरिक्त विवाह-पद्धति लगभग वही थी, जो हिन्दुओ मे वर्तमान में है। उस समय मे भी कन्यादान पुण्य कर्म माना जाता था।

नारी शिक्षा—रामायण मे स्त्री-पात्रो की समीक्षा से यह सिद्ध है कि उस काल मे कन्या-शिक्षा पर बल दिया जाता था। इसका प्रमाण यही है कि पत्नी पति के साथ धार्मिक कृत्यो मे भाग लेती थी। राम के राज्याभिषेक के दिन कौशल्या को मन्त्रो सहित आहुति देते दिखाया गया है। कर्मकाण्ड की शिक्षा पाने के अतिरिक्त उन्हे गृह-विज्ञान, शस्त्र-विज्ञान तथा व्यवहारिक मनोविज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। राज-कुमारियो को राजधर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। साथ ही कन्याओ को ललित-कलाओ नृत्य, सगीत आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। रावण के महलो की स्त्रिया भी वाद्य-यन्त्रो के प्रयोग मे निपुण थीं।

सभ्यता की रूपरेखा—ऋक्-काल की आर्य सभ्यता का प्रखर रूप हमे रामा-यण-काल मे मिलता है। इस काल मे आर्य सभ्यता का प्रसार दक्षिण भारत मे हो चुका था। रावण स्वय भी आर्य ब्राह्मण था और वेद-वेदागो का ज्ञाता होने के अति-

रिक्त कुशल वैज्ञानिक भी था। उसके यहा यात्रा के लिये पुष्पक विमान था। विद्युत-शक्ति, वाष्प-शक्ति और जल-शक्ति मे भी वह निष्णात था। इन्हे आसुरी शक्ति माना गया है। लका के नगरो मे आगे नगरद्वार होते थे। परन्तु इस युग मे ब्राह्मणो के स्थान पर क्षत्रिय लोग शासक होने लगे थे। जातिवाद भी बहुधा भारतभूमि पर जम चुका था। राम के शवर अतिथि के कारण यह सत्य है कि उस काल मे जाति-भावना कु ठित नही थी छूतछात के दर्शन रामायण मे कही नही होते, परन्तु नये-नये पेशो के कारण जातियो की सख्याएँ बढ रही थी।

लका मे रावण ने अपने राज्य को दृढतर कर लिया था। वह सारी वेद-भ्रष्ट जातियो को एक सूत्र मे बाँधने के लिये वेदो का गहन अध्ययन और नया वेद तैयार कर रहा था। दैत्य और दानवो से उसके पारिवारिक सम्बन्ध दृढ हो चके थे। अपने राज्य की प्रतिरक्षा की भी उसने सुन्दर व्यवस्था की हुई थी। वह हैहयवशी (बहिष्कृत आर्य अय्यर के पूर्वज) लोगो को भी अपने सघ मे लाना चाहता था। उसकी बहिन सूर्पणखा विधवा हो चुकी थी। अत उसने 'दण्डकारण्य' का राज्य उसे देकर, अपन भाई 'खर' को वहा का गवर्नर और 'दूषण' को उसका सरक्षक बना दिया था।[१]

रामायण-कालीन शिक्षा प्रणाली—ऋग्वेद-कालीन शिक्षा प्रणाली की भाति ही इस काल मे भी शिक्षा के क्षेत्र ऋषियो के तपोवन ही थे। इस काल मे नगरो मे ऋषिकुलो, विद्यालयो आदि का उल्लेख कही नही मिलता। जन साधारण से लगाकर राजकुमार तक ब्रह्मचर्य व्रत लेकर ऋषि आश्रम मे विद्याध्ययन के लिए जाते थे। रामायण काल मे शिक्षा के अनेक आश्रमो का आभास मिलता है। परशुराम का आश्रम महेन्द्र पर्वत पर था। इसमे प्रयोग रहस्य और उपसहार विधि के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रो की भी शिक्षा दी जाती थी।[२] प्रयाग के सगम पर भारद्वाज ऋषि का आश्रम था। उनके विद्यालय मे अध्ययन और आवास के लिए पर्णशालाएँ बनी थी[३] इस आश्रम मे जल, वृक्षो और पर्णकुटियो की रक्षा का ध्यान राज्य की ओर से रखा जाता था। महर्षि वाल्मीकि का आश्रम चित्रकूट पर था। वाल्मीकि रामायण मे इस आश्रम की सुन्दरता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इस आश्रम की प्रसिद्धि फल के वृक्षो, ज्ञानी ऋषियो, कोकिलो और मयूरो के कारण चारो तरफ व्याप्त है। इनके अतिरिक्त आचार्यों के निज स्थानो पर भी छात्रो के पढ़ने के प्रमाण मिलते हैं।

'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'निरुक्त' मे आचार शब्द से बतलाते हुए कहा गया है—"अस्मादाचार ब्रह्मत्यचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमति वा।" अर्थात् आचार को ग्रहण करने वाला बुद्धिमान आचार्य है। इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी लिखा है—"यस्माद्धर्माना चिनोति स आचार्य।"

---

१ तैत्तिरीय आरण्यक।

२ महाभारत आदि पर्व १३०/६५;

३ वाल्मीकि रामायण २/५४,

यह आचार्य धनवान भी होते थे। रामायण-कालीन आचार्य और ऋषि भारद्वाज ने भरत और उनके सैनिको का स्वागत और खान-पान की सम्पूर्ण व्यवस्था की थी।*

शासन-पद्धति—रामायण-काल मे देश भर मे छोटे-छोटे राज्यो का जाल बिछ गया था। इन राजा लोगो के शासन-सचालन मे १८ मत्रियो का सहयोग होता था। जिनमे धर्म के पुरोहित और चम्पूपति (सेना सहित) सबके अपने विभाग अलग-अलग होते थे।

रामायण-काल मे वेदो का पठन-पाठन और यज्ञ कर्म अनिवार्य था। राजा जनक के समकालीन विद्वान् याज्ञवल्क्य वाजसनेयी ने 'शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेयी' नाम से यजुर्वेद, जो यज्ञो का मूलस्तम्भ है, उसका नवीन सस्करण तैयार किया। उस समय देवताओ को प्रसन्न करने के लिए राजा लोग भी पुत्रेष्ठि-यज्ञ से लगाकर अश्वमेध यज्ञ तक करते थे। यह अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्ती सम्राट् बनने के लिए किया जाता था।

धार्मिक-विचार की रूपरेखा—रामायण-काल मे धार्मिक विचारधारा मे भी अन्तर आ गया था। ऋग्वेद मे एक देवता की विभिन्न नामो से उपासना होती थी। यथा—"इन्द्र मित्र वरुणमाग्नि माहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥ (ऋ० १/१६४/४६)" इससे स्पष्ट है कि वैदिक देवता एक ही था और उसके विभिन्न नाम थे। कालान्तर मे इसी का विश्व मे एक देवतावाद, अद्वैतवाद, स` देवतावाद और यहाँ तक कि बहु देवतावाद प्रचार हुआ। इस प्रकार वेद मे जिन विचारो और सिद्धान्तो का प्रकाश प्रकट हुआ था, वह उस प्रकाश से सर्वथा श्रेष्ठ था जो ब्राह्मणो, वेदान्तियो और पौराणिको द्वारा प्रस्फुटित किया गया।

रामायण-काल मे आकर वैदिक-यज्ञ के फल मानसिक प्रकाश की समृद्धि और जीवन-शक्ति की बहुलता का अर्थ गौओ की सम्पत्ति और घोडो की सम्पत्ति के अर्थ मे माना जाने लगा। ऋग्वेद मे गाय और घोडा निरन्तर इकट्ठे आते हैं। उषा का वर्णन इस रूप मे हुआ है कि 'गोमति अश्वावती" है। उषा-यज्ञकर्ता (यजमान) को घोडे और गौएँ देती है। यदि प्राकृतिक 'उषा' को लिया जाए, तो गोमती का अर्थ 'प्रकाश की किरणो से युक्त' या 'प्रकाश की किरणो को लाती हुई' होगा और यह मानवीय मन मे उत्पन्न प्रकाश की उषा का रूपक है। इसी प्रकार वैदिक 'अश्व' भी शक्ति के रूप मे माना गया है। वस्तुत वैदिक विचारधारा 'ज्ञान' और 'बल'—दो सहचार-विचारधाराओ का प्रतीक थी। ऋग्वेद मे एक स्थान पर—इन्द्र के लिए आह्वान है—"वह आकर सोमरस को पिये", उसे पीकर वह आनन्द से भर जाता है और गौओ को देने वाला (गोदा) बन जाता है। तब हम उसके समीपतम चरम-सुविधाओ को प्राप्त कर सकते हैं। तब हम उससे प्रश्न करते है। उसका स्पष्ट

---

* वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड ५५ वाँ सर्ग।

विवेक हमे सर्वोच्च कल्याण को प्राप्त कराता है । इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि गौए भौतिक गौएँ नही हैं । न ही भौतिक प्रकाश को देने वाला यह अर्थ प्रकरण मे किसी अभिप्राय को लाता है ।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारद् उपांशुना सममृतत्वमानट् ।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाम मृतस्य नाभि' ॥
(ऋ० ४।५८।१)

ऋषि वामदेव ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के अंतिम सूक्त मे इन दो समुद्रो का वर्णन करते हैं । वह कहते है कि मधुमय लहर समुद्र से ऊपर को आरोहण करती है और आरोहण करती हुई लहर जो कि 'सोम' (अंशु) है, के द्वारा मनुष्य पूर्णरूप से अमरता को पा लेता है , वह लहर का सोम निर्मलता का ('घृतस्य' जो कि घी का सूचक है) गुह्य नाम है, वह देवताओ की जिह्वा है, वह अमरता की नाभि है ।

अत समुद्र, मधु, सोम, घृत ये सब इस सन्दभ मे अवश्य ही आध्यात्मिकता के प्रतीक हैं । वामदेव का यह आशय नही हैं कि शराब की एक लहर हिन्दमहासागर या बगाल की खाडी के खारे पानी से निकल कर अथवा सिन्धु नदी या गगा के जल से निकलकर ऊपर चढती हुई आई और यह शराब ही घृत का गुह्य नाम है । उसका तात्पर्य है कि हमारे अन्दर जो अब चेतन की गहराइयाँ है, उनमे से 'आनन्द' की या सत्ता के विशुद्ध आह्लाद की एक मधुमय लहर उठती है और हमे अमरता तक पहुँचा देती है । वह 'आनन्द' वह रहस्यमय सत्ता है, वह गुह्य वास्तविकता है जो मन की क्रिया के पीछे छिपी हुई है । 'सोम' इस आनन्द का देवता, वह वस्तु है जो मन का सवेदनात्मक बोध बन गया है ।

दूसरे शब्दो मे समस्त मानसिक सवेदन अपने अन्दर सत्ता के एक गुप्त आनन्द को रखता है और अपने ही अस्तित्व के उस रहस्य को व्यक्त करना चाहता है । इस-लिए आनन्द देवताओ की जिव्हा है, जिससे कि वे सत्ता के आनन्द का स्वादन करते हैं । यह नाभि है—जिसमे कि अमर अवस्था या दिव्य सत्ता की सब क्रियाएँ आकर इकट्ठी बँधी हुई हैं । इसके पश्चात् 'वामदेव' ऋ० ४/५८/२ मत्र मे 'हृद्यात् समुद्रात्' और 'घृतस्य धारा' उठती है—शब्दो द्वारा इस प्रकरण को और भी खोल देते हैं । परन्तु रामायण-काल आते-आते सोम, अश्व और गौ का अर्थ ही बदल गया ।

बाईबिल मे जैकब से खुदा ने कहा—"मैं बेथ एल का स्वामी हूँ जहाँ तू स्तम्भ पूजा करता है ।" इसमे स्तम्भ पूजा की बात है । द्राविड परिवारीय समस्त जातियो मे दिव्य वृक्ष, स्तम्भ, शृग सूर्य आदि की पूजा प्राचीन काल से प्रचलित है । अमरीका के रेड इण्डियन, स्तम्भ पर बारह सिंघे का सर बांधकर बलि देते थे । गरुड, श्येन, कपि, तथा वृक्ष चिन्ह भी सब देशो मे पूजित हैं । भारत मे गरुड ध्वज, कपि ध्वज, वृषभ ध्वज प्रचलित रहा है । पक्षी स्तम्भ उपासना फिनिशिया और मिस्र मे भी होती थी ।

महाभारतकालीन सभ्यता का विकास

राज्यो की रूपरेखा—भारत का महाभारत काल वस्तुत सभी दृष्टियो से भारत का स्वर्ण-समय था । इस युग मे प्रत्येक कला अपनी सर्वोच्चता को पहुँच चुकी थी । धातु-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, वास्तुकला, जीव-विज्ञान आदि सभी विज्ञान अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुके थे । इस युग की सबसे बडी विशेषता, जो उस काल के ससार के किसी भी राज्य मे नही पाई जाती—स्वतत्र प्रजातत्रो की उत्पत्ति थी, जिन्हे वास्तविक प्रजातात्रिक गण कहा जाता है । अर्थात् उस समय बहुत से स्थानो पर स्वतत्र प्रजातत्र थे । महाभारत (१२।८१) मे ऐसे पाच गणो का उल्लेख मिलता है । यथा **अधक, वृष्णि, यादव, कुक्कुर और भोज** इन सघो ने मिलकर अपना एक सयुक्त सघ बना लिया था, जिसके मुख्य-सघक (राष्ट्रपति) श्रीकृष्ण थे । यह सयुक्त राज्य अपने-अपने नेता की अध्यक्षता मे स्वायत्त थे । उदाहरणार्थ भोजो का नेता अक्रूर था । आहुक स्वय यादव था और उसी नाम की शाखा का नेता भी था । इन गणो मे वर्तमान राजनीतिक पार्टीबाजी के सकेत भी मिलते हैं, क्योकि राजा बभ्रु और उग्रसेन ने कृष्ण के विरुद्ध अपनी एक पार्टी का सगठन किया था । इन गणो मे राजनीति के सफल सचालन के लिये महाभारत (२७।१०७) मे कई उपदेश भी आये हैं कि कलह को राज्य मे अधिक नही बढने देना चाहिए , गणको को अपना भेद किसी पर प्रकट नही करना चाहिए आदि-आदि ।

इनके अतिरिक्त यहाँ राजतत्र पद्धति प्रचलित थी । परन्तु राजा की निरकुशता पर रोकथाम के लिये मत्री परिषद् और सभा थी । राजा की सभा मे सैंतीस मन्त्रियो का वर्णन भी आया है , जिनमे चार ब्राह्मण, आठ छत्री, इक्कीस वैश्य और एक शूद्र सम्मिलित थे । प्रधानामात्य को तब मत्री कहते थे । राजा का सर्वप्रथम कार्य मत्रीगृह मे जाकर अपने मन्त्रियो से परामर्श करना होता था । सभा का अध्यक्ष सभाध्यक्ष कहा जाता था, जो अठारह मुख्य अधिकारियो मे गिना जाता था । इस प्रकार महाभारत कालीन राजतत्र प्रणाली भी रामायण-कालीन शासन प्रणाली के अनुरूप ही गठित की गयी थी ।

छोटे-छोटे राज्य—महाभारत-काल मे राजतत्र और प्रजातत्र—दोनो पद्धतिया थी । महाभारत युद्ध से पूर्व केवल जरासन्ध ही सम्राट् था । जब युधिष्ठिर ने राजसूय

यज्ञ का विचार किया, तब कृष्ण ने कहा था—"परशुराम से पराजित और हीन वीर्य क्षत्रियो ने यह नियम बनाया है कि जो राजा सब क्षत्रियो को जीतेगा, वही सार्वभौम माना जायगा। इस समय जरासन्ध राजा ही सबसे बलवान है । भारत के सब राजा 'एल' हो या इक्ष्वाकु—सब ही उसे कर देते है और अपने को जरासन्ध से अंकित कहते हैं। 'एल' और इक्ष्वाकु के इस समय सौ कुल है, जिनमे भोजराज कुल प्रबल है, उसे भी जरासन्ध ने पदाक्रांत किया है । उसी के भय से हमे भी मथुरा छोडकर द्वारिका जाना पडा ।"

महाभारत-काल मे बडे-बडे राज्य न होकर, छोटे-छोटे राज्य ही अधिक थे। मथुरा, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली), और हस्तिनापुर के तीन राज्य ही सौ सवासौ मील के घेरे मे थे। 'भीष्मपर्व' मे जो दक्षिण के पचास राज्य बताये गये हैं, वह भी अत्यन्त छोटे-छोटे थे। इन राज्यो को देश या जन कहते थे । महाभारत के बाद ही बडे-बडे राज्यो की स्थापना हुई। कुरु पाचालो की राजधानी उस समय हस्तिनापुर थी। इनके पूर्व पाचाल थे जिनकी राजधानी अहिच्छत्रपुर बरेली के पास या काशीपुर के पास थी। द्रुपद के राज्य मे गगा के किनारे पर माकेयी और कापिल्य नगर थे। इनके पूर्व कौशल राज्य था। जो उत्तर दक्षिण दो भागो मे विभक्त था। इसके पूर्व मिथिला राज्य था, फिर काशी राज्य था। कुरुक्षेत्र से दक्षिण दिशा मे सूरसेन देश था। इसकी राजधानी मथुरा थी। उसके पश्चिम मे मत्स्य और दशार्ण तथा यवकृल्लोम देश थे । उसके बाद कुन्ती भोजो का देश चर्मण्वती के तीर पर था । उसके आगे निषध (बरार) था और अवन्ती थी । अवन्ती मालवा का नाम था । विदर्भ के पूर्व मे प्राक्कौसल देश था। इसके बाद रूपवाहित, अश्मक देश, माष्ठराष्ट्र, गोपराष्ट्र और महाराष्ट्र थे । आनर्त और सुराष्ट्र कदाचित् गुजरात काठियावाड थे । उस समय शूर्पाटक अपरान्त देश की राजधानी था। यह बम्बई के निकट थाना स्थान पर था। यही परशुराम ने जीवन का अतिम भाग व्यतीत किया था । महाभारत मे शूर्पाटक को परशुराम की भूमि कहा गया है। मगध से आगे अग-भग, कलिग थे । यह देश चम्पारन, मुर्शिदाबाद और कटक के आसपास थे। औद्र उडीसा का नाम था।

ताम्रलिप्त बगाल मे था, प्राग्ज्योतिषपुर आसाम का नाम था । यह भरत-खण्ड से पृथक् था। माणिमान देश—मणिपुर था। जब अर्जुन अग-वग और कलिंग से आगे जाने लगा, तब साथ के ब्राह्मण लौट आये । अर्जुन ने वहां की राजकुमारी चित्रागदा से विवाह किया था, जिसका पुत्र बभ्रूवाहन था । दक्षिण के चोल, द्रविड, पाण्ड्य, केरल और महिषक प्रसिद्ध थे। पश्चिम की ओर सिन्धु, सौवीर और कच्छ थे। कच्छ के उत्तर गाधार था। गान्धार के उत्तर मे कश्मीर था। इनके अतिरिक्त मरू, शौरिषिक, महत्थ दशार्ण, शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ट, मालव, पच कर्मट और वाट थान देश थे। शाकल मे 'मद्रो' का राज्य था। महाभारत काल मे शाकल प्रसिद्ध नगर था। कालान्तर मे इस नगर को बडे-बडे विजेताओ ने राजधानी बनाया । तक्षशिला के उस और वाल्मीको और क्षुद्रको के गण थे । उत्तर मे कुविन्द, आर्त्त, तालकूट

दार्व, कोकोनद, काम्बोज, और दाद नामक देश थे। उसके आगे किंपुरुष गुह्यक आदि थे। फिर कुरु, पाचाल और हरिवर्ष देश था। यह दश सम्भवत तिब्बत था। अर्जुन के यहा जाने का उल्लेख है।

पंचायती राज्य—महाभारतकालीन पचायती राज्य-व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ थी। हर गाव मे एक मुखिया होता था, वह ग्रामाधिपति कहलाता था। उससे बडा १० गावों का मुखिया, बाद मे २० गावो का एक मुखिया, फिर १०० गावो का और कही-कही हजार गावो के मुखियाओ का भी उल्लेख है। यह छोटे मुखिया बडो के अधीन होते थे और अपनी सूचनाएँ क्रमवार बडे मुखियाओ को देते रहते थे। राज्य की ओर से गुजारे के लिये मुखियाओ को कुछ परती धरती दी जाती थी। १०० गावो के हर मुखिया को जायदाद के नाम पर एक समूचा गाव दिया जाता था। हजार गाव के मुखिया को एक पूरे नगर की आय दी जाती थी। मत्री राजा के पास ही रहता था और राज्य मे घूमकर अथवा जासूसो द्वारा राज्य की समस्त जानकारी रखता था।

राजधर्म—महाभारत मे जो राजनीति और धर्मनीति वर्णित है, वह अधिकाश मे प्राचीन बार्हस्पति अर्थशास्त्र और उशनस अर्थशास्त्र के आधार पर है। सभव है उस काल मे यह दोनो नीति सम्बन्धी ग्रन्थ विद्यमान थे। महाभारत के शान्तिपत्र मे जो राजधर्म वर्णित है, उससे ज्ञात होता है कि राजा एकतत्री स्वतन्त्र होने पर भी राज-धर्म से बधा हुआ था। राजाओ के ऊपर ब्राह्मणो का कडा अकुश भी था, अत राजा धर्म का उल्लघन नही कर सकता था।

राजनीति—महाभारत के शातिपर्व के ५६वें अध्याय मे राजनीति का वर्णन है। उसी मे यह भी बताया गया है कि धर्म या नीति की रचना कैसे की जाय। उस समय अर्थ-प्राप्ति की रीति सिखाने वाला शस्त्र—वार्ता-कहलाता था। इस नीति के अनुसार राजा राज्य सचालन मे मत्रियो, जासूसो और युवराजो की सहायता लेता था। इसमे सब प्रकार के गुप्त नियम शत्रुओ के भेद करने के मत्र राजा को सीखने का सकेत है। साथ ही दूसरे राज्यो पर चढाई करने, धर्म-विजय और आसुर-विजय भी राजनीति का एक अग मानी गई है। अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, बल और कोष—इन पाच वर्गो के लक्षण भी बताये हैं। जारण, मारण के उपाय, शत्रु, मित्र और उदासीन के वर्णन है। इस नीति मे राजा को अनेक प्रकार की व्यूह रचना भी सीखनी पडती थी। प्रजा पर न्यायाचरण करना, बलहीनो की रक्षा करना और बलवानो को सन्तुष्ट करना राजनीति के मुख्य अग थे। राजनीति मे चोरो के उन्मूलन की भी विशेष व्याख्या की गई है। नीति-शास्त्र मे राजा के लिए मृगया, वात और मद्य तथा व्यभिचार को त्याज्य बताया गया है। शत्रु को पराजित करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद, मत्र, औषध और इन्द्रजाल सब को उचित बताया गया है।

राजदरबार—महाभारत काल मे दुर्ग परम्परा विकसित हो चुकी थी। उस काल मे दुर्ग छै प्रकार के बनाये जाते थे (१) निर्जन रेतीले मैदानो से घिरे हुए, (२)पहाडी दुर्ग, (३)भू-दुर्ग, (४) मिट्टी का दुर्ग, (५) नट-दुर्ग, (६) अरण्य दुर्ग। इन

दुर्गों के चारो ओर खाइया होती थी। इन दुर्गों मे अनाज और जल का भरपूर भण्डार रहता था। किलो मे जो युद्ध यन्त्र रहते थे वह बडे भारी चक्को पर चढे होते थे और उनसे पत्थर फेंके जाते थे।

राज्य-व्यवस्था—महाभारत काल तक राज्य का अधिकारी अर्थात् राजा केवल क्षत्रिय व्यक्ति ही बन सकता था। ब्राह्मणो का काम उनका पूर्ववत् ही था। इस प्रथा को नन्दो और उनके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने समाप्त किया। चन्द्रगुप्त के बाद अनेक शूद्र, ब्राह्मण आदि भी राजा हुए। परन्तु महाभारत काल तक क्षत्रिय ही राजा बनने का अधिकारी माना जाता था। इस काल मे वाणिज्य का कार्य वैश्यो के हाथ मे रहा और पशुपालन तथा कृषि-कर्म शूद्रो के हाथ मे चला गया।

राजा की आय के स्रोत—महाभारत मे राजा सोने और अनाज रूप मे कर लेता था। प्रजा से आय का छठा भाग लिया जाता था। शान्तिपर्व मे लिखा है—"सकट काल मे राजा राष्ट्र से ऋण ले। प्रजा से प्रार्थना करे—इस आपत्ति के समय दारुण भय उत्पन्न हुआ है। अत मैं तुम्हारी ही रक्षा के लिए तुमसे धन मांगता हू। भय का नाश होने पर धन तुमको लौटा दूगा।" वस्तुत यह ऋण—शत्रु को दण्ड देकर लौटाया जाता था। व्यापार पर चुंगी ली जाती थी। हाथी, नमक तथा खानें भी राज्य की आय क साधन थे। यह मालमत्री के अन्तर्गत होते थे।

जगलो, पर्वतो और नदियो पर किसी का एकाधिकार नही था। इनके साधनो का उपयोग लोग स्वेच्छा से करते थे। जमीन पर किसानो का स्वामित्व था। वह उसे खरीद-बेच सकते थे। गाय और बैलो की वृद्धि के लिए राज्य की ओर से पशु-परीक्षक रहते थे। राजा स्वय गायो के बडे-बडे झुण्ड रखता था। एक झुण्ड मे १०० गायें होती थी। गायो के ऐसे आठ लाख झुण्ड युधिष्ठिर के पास थे।

सहदेव पशु-परीक्षक बनकर ही महाराज विराट के यहा जाकर नौकर रहा था। 'विराटपर्व' मे वह कहता है—"मैं युधिष्ठिर के पशुओ के झुण्ड पर नौकर रहता था। मैं वही जारहा हू। यहाँ से आसपास के दस योजन तक बता सकता हू कि गौओ के पहिले क्या हुआ था और आगे क्या होगा? गौओ की वृ कैसे होती है, कैसे वे निरोग रह सकती हैं।"

इसके अतिरिक्त दुर्योधन की गौओ के रहने का स्थान द्वैतवन था। वह उन्हें वहाँ देखने जाता था और गौओ तथा बछडो को चिन्हित करता था। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत काल मे पशु-पालन पर विशेष बल दिया जाता था।

किसानो के लिये सिचाई और तकावी आदि की विशेष व्यवस्था थी। गाव के पाँच अधिकारी होते थे—प्रशास्ता (सरपच), समाहर्ता(वसूल करने वाला), सम्बिधाता(पटवारी), साक्षी और लेखक। राज्य मे ग्राम, नगर और पुर थे। पुर राजधानी को कहते थे। प्रात का अर्थ सीमा था।

सैन्य-व्यवस्था—महाभारतकालीन सैन्य-व्यवस्था, रामायणकाल से बहुत विकसित थी। सेना के आठ अग होते थे। हाथी, घोडे, रथ, पैदल, विशिष्ट (ट्रासपोर्ट)

नौका, चर (जासूस) और देशिक (स्काउट्स) । पैदल सैनिक ढाल-तलवार रखते थे। कोई भाला और परशु भी रखते थे। उनके पास गदा नही होती थी। यह हथियार अधिकतर द्वन्द्व-युद्ध मे काम आता था । खग एक छोटी-सी तलवार होती थी । भाला रखने वाली सैनिक टुकडी अलग रहती थी। इनके पास लाहे का कवच भी रहता था। रथी लोग और हाथी पर लडने वाले योद्धा भी कवच पहनते थे। वास्तव मे ऐसे योद्धा बडे-बडे सामान्त या राजा होते थे। सेना मे सभी देश के लोग होते थे, जो अपने-अपने देश की रण-पद्धति अपनाते थे। गन्धार, सिन्धु, सौभीर के लोग उत्तम घुडसवार थे। वे तीक्षण भालो से लडते थे। उशीनर भी बाके लडाके होते थे। प्राच्य हाथियो के युद्ध मे प्रवीण थे। मथुरा के लोग बाहु-युद्ध करते थे तथा दाक्षिणात्य तलवार चलाने मे कुशल होते थे। लडाका हाथियो को मस्तक के सामने तक कवच पहनाया जाता था। हाथी पर योद्धा धनुष वाण या बर्छे लेकर लडते थे।

रथ मे चार घोडे जुतते थे। उन पर एक रथी और एक सारथी होता था । रथी के रथ के दोनों ओर दो रथ और चलते थे जो रथी और रथ की रक्षा करते थे। इन्हे 'चक्र-रक्षय' कहते थे। रथ पर चादी-सोना मढा जाता था तथा ध्वजा फहराई जाती थी। प्रत्येक वीर की ध्वजा का रग पृथक् होता था। इससे यह पता चलता रहता था कि अमुक वीर अमुक स्थान पर लड रहा है। द्रोणपर्व के २३वें अध्याय मे भिन्न-भिन्न रथी और ध्वजाओ का वर्णन किया गया है। भीम के रथ मे काले घोडे जुतते थे। उनका साज सोने का था। नकुल के रथ मे काम्बोज देश के घोडे जुतते थे। उनकी गर्दन लम्बी और वृषण सकरा था। द्रोण के रथ पर जो ध्वजा लगती थी, उस पर 'कमण्डलु' का चिन्ह रहता था। भीम की पताका पर 'सिंह' का चित्र था। कर्ण की ध्वजा पर 'हाथी' की जजीर का चिन्ह था । अर्जुन के रथ की ध्वजा पर 'वानर' का चिन्ह था । नकुल का चिन्ह 'परशरण' और युद्धिष्ठिर की ध्वजा पर 'चन्द्रमा' था। इन रथो मे मृदग लगे रहते थे, जो रथो के चलने पर स्वय ही बजते थे। रथी शरीर पर बख्तर और हाथो मे गोधगुलित्राण पहनते थे। रथो मे साधारणतया दो पहिए होते थे। किन्तु घटोत्कच के रथ मे ८ चक्रो का वर्णन है। उसका रथ चारसौ हाथ लम्बा था जिममे घुँघरू लगे थे। उसकी ध्वजा लाल रग की थी और वह रीछ के चमडे से मढा हुआ था। उसमे १०० वलवान घोडे जुतते थे । ध्वजा पर गृद्ध का चित्र था। उसका धनुष बारह हाथ लम्बा था। बडे-बडे क्षत्रियो मे द्वन्द्व युद्ध होता था। उस समय सारे सैनिक तमाशा देखते थे । द्वन्द्व युद्ध मे रथ मण्डलाकार घूमते थे। इस अवस्था मे सारथी का चातुर्य ही रथी की रक्षा करता था। अर्जुन के सारथी कृष्ण—अश्व-सचालन मे कुशल थे । उनके विरुद्ध कर्ण ने शल्य को अपना सारथी बनाया था । शल्य भी एक कुशल महारथी और साथ ही राजा था।

रथो को अजेय योद्धा माना जाता था। बडे-बडे सेनापति और योद्धा रथी-महारथी कहलाते थे। रथी लोग प्राय वाणो मे से युद्ध करते थे। उनके धनुष सर के बराबर बडे होते थे और बाण भी तीन हाथ लम्बे होते थे। यह बाण लोहे के पहियो

तक को छेद डालते थे। रथी के लिए वाणो के छकडे उसके साथ चलते थे। भीष्म के रथ के साथ वाणो से भरे दस छकडे चलते थे। अश्वत्थामा के रथ के साथ वाणो से भरी हुई सात गाडियाँ होती थी। एक बार अश्वत्थामा ने इतनी विकट वाण-वर्षा की थी कि उसने वाणो से भरे आठ छकडे, जिसमे आठ-आठ बैल जुते थे, तीन घण्टे मे खाली कर दिए थे। वह वाण छोटे और विभिन्न आकार-प्रकार के होते थे। उनके सिरो पर अनेक आकृतियो के फलक होते थे। कुछ वाण 'विषदग्ध' भी होते थे। परन्तु वे धर्मयुद्ध मे प्रशस्त नही माने जाते थे। महाभारत मे वाणो की दस प्रकार की गतियाँ लिखी है। कुछ वाण वृत्ताकार भी चलाये जाते थे। महाभारत के धर्मयुद्ध का नियम था कि रथी, रथी पर, हाथी वाला हाथी वाले और पैदल पैदल पर आक्रमण कर सकता था। यह भी नियम था कि दोनो योद्धाओ के शस्त्र समान हो। भागते हुए शरणागत पर प्रहार नही होता था। घायल शत्रु की भी चिकित्सा की जाती थी। महाभारत के शान्तिपर्व के ९५वें अध्याय मे धर्मयुद्ध का विषद् वर्णन है। युद्ध से किसानो और जनपदो को हानि न पहुचे, इस बात का ध्यान रखा जाता था।

धर्मयुद्ध के साथ-साथ कूट-युद्ध का वर्णन भी शान्तिपर्व के ६९वें अध्याय मे है। इस नीति मे मार्गों, जलाशयो को नष्ट करना, नगरो और खेतो को उजाड देना, आक्रमण के गुप्त स्थल बनाना भी शामिल है। आग लगाने वाले, विष देने वाले और तोडफोड की कार्रवाइयाँ करने वालो को परराष्ट्र मे भेजा जाता था, जो लूटमार करते थे और सेना मे विद्रोह फैलाते थे। महाभारत मे 'विमान-युद्ध' का भी सकेत है। शाल्व राजा ने विमान द्वारा द्वारिका पर चढाई की थी। विमान से ही द्वारिका पर पत्थरो और वाणो की वर्षा की थी। 'वन-पर्व' मे इस प्रकार का अद्भुत वर्णन है। इस युद्ध मे अग्नि उत्पादक पदार्थों से भरे हुए गोले नगर मे फेंके गए। यह गोले शृंगाटक-यन्त्र द्वारा फेंके गए थे। इस विमान का नाम "सौम नगर" था।

वर्तमान सैन्य विभाजन मे जिस प्रकार डिवीजनें होती हैं, उसी प्रकार उस काल मे अक्षौहिणी होती थी। एक हाथी, एक रथ तीन घोडे और पाच पैदल मिला कर एक पत्ति होती थी। तीन पत्तियो का एक सेनामुख, तीन मुखो का एक गुल्म, तीन गुल्मो का एक गण, तीन गणो की एक वाहिनी, तीन वाहिनी की एक पृतना, [illegible]न पृतना का एक चमू, तीन चमू की एक अनीकिनी, और दस अनीकिनी की एक [illegible]हि[illegible] होती थी। सब मिलाकर एक अक्षौहिणी मे २१८७० रथ, उतने ही हाथी, ६५६१८ घुडसवार और १०९३५० पैदल होते थे। सेना के साथ जो आवश्यक सामग्री होती थी, उसका वर्णन 'उद्योग-पर्व' मे है। महाभारत के अनुसार इस युद्ध मे ६६ [illegible]७ एक लाख और दस हजार मनुष्य मारे गए थे।

महाभारत कालीन व्यूह रचना—महाभारत की व्यूह रचना प्रसिद्ध है। [illegible] पहिले हाथी खडे किए जाते थे। मध्य भाग मे रथ और घुडसवार। सवारो के मध्य मे पैदल होते थे। यह व्यूह पहियो की आकृति के होते थे और कोसो तक फैलाव होता था। यह व्यूह कभी आत्म-रक्षा के लिए रचे जाते थे, कभी आक्रमण के

पुरुष प्राय दाढी मूँछे रखते थे । महाभारत मे नाइयो का उल्लेख है । काम्बोज के लोग सर मुडाकर दाढी रखते थे ।

बैठने के आसन, पीठ और चौकिया होती थी, जिन पर हाथी दाँत का काम होता था । रानिया 'मचक' या पर्यक पर बैठती थी । यह पलग के समान सजे हुए होते थे ।

महाभारत काल मे धनवानो की सवारी हाथी थी । उस काल मे रथो मे घोडे और गधे— दोनो जोते जाते थे । महाभारत के आदिपर्व मे पुरोचन से गधो के रथो मे बैठकर वारणावत जाने को कहा गया है । इमसे ज्ञात होता है कि उस काल मे गधो को भी रथो से जोता जाता था । चारण और बजारे बैलो को लादते थे ।

विवाह-प्रथा—महाभारत काल मे विवाह युवावस्था होने पर होता था । उस समय पाच प्रकार के विवाह प्रचलित थे—(१) ब्राह्म, (२) क्षात्र (३) गान्धर्व (४) असुर और (५) राक्षस विवाह । इनमे ब्राह्म विवाह प्रथा सबसे श्रेष्ठ मानी जाती थी । क्षत्रियो मे छात्र अथवा राक्षस विवाह-पद्धति प्रचलित थी । इस प्रथा मे कन्या का बलात् हरण किया जाता था । गान्धर्व विवाह परस्पर प्रेम का परिणाम होता था और राक्षस-विवाह छल-कपट से होते थे । उस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने से नीचे वर्णों की स्त्रियो से भी विवाह कर लेते थे । उन दिनो अधिकाश विवाह या तो स्वयवर प्रथा से होते थे, अथवा पिता उनके लिये धन लेते थे । इसका प्रमाण माद्री है ।

पाण्डु के लिये भीष्म जब माद्री को लाये थे, तब एक छकडा भरकर स्वर्ण और रत्न दकर लाये थे । महाभारत काल मे गोत्र और प्रवर बचाकर विवाह होता था । विवाह एक ही जाति मे तो होता था, पर गोत्र और समान प्रवर मे नही । स्मृतियो मे मामा की पाच पीढियो मे विवाह वर्जित माना गया है, पर उस काल मे चन्द्रवशी उस नियम को नही मानते थे । वे मामा की बेटी से विवाह कर लेते थे । कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न का विवाह भी उसकी ममेरी बहिन से ही हुआ था । सुभद्रा और अर्जुन का विवाह भी ऐसा ही था । भीम को शिशुपाल की वहिन व्याही थी । शिशुपाल की मा और भीम की मा सगी वहिनें थी । दक्षिण के ब्राह्मणो मे भी प्राचीन काल मे ऐसे ही विवाह होते थे । दक्षिण मे अब भी श्वसुर को मामा कहने की चाल है । इससे सिद्ध होता है कि दाक्षिणात्य भी चन्द्रवशी ही है ।

वर्ण-व्यवस्था—महाभारत कालीन वर्ण-व्यवस्था म रामायण काल से भिन्नता पाई जाती है । महाभारत के रचनाकार व्यास ने इस विषय मे कहा है—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियम कृत" अर्थात् इस जगत् का लोक-व्यवहार ठीक चले, इसीलिये धर्म के नियम बनाये गये है । महाभारत के शातिपर्व मे जो व्यास के कर्म सम्बन्धी विचार है, उनसे ज्ञात होता है कि इस समय की विचारधारा मे विवेचक दृष्टि का उदय हो रहा था और बुद्धिवादी तथा वस्तुनिष्ठ सारणी पर समाज की भित्ति खडी की जा रही थी । अत व्यास ने वर्ण-व्यवस्था को धर्म परक और

थी कि राज्य छोटे छोटे थे और वह भी कुलो और गोत्रों के सम्बन्धों से बधे हुए थे। इसलिये परराष्ट्र नीति मे भेदनीति को प्रमुखता दी जाती थी । तात्कालिक राजनीति के दो भेद थे—एक सरल नीति और दूसरी कुटिल नीति। इस विषय मे भीष्म कहते है—"कल्याण चाहने वाला पाँव मे पड़ जाय, हाथ जोड ले, शपथ ले ले—पर समय आने पर कन्धे पर रखे घड़े की भाति सारी प्रतिज्ञाओं को फेक दे।'

महाभारत काल मे महिलाओ की स्थिति—सम्पूर्ण महाभारत काल मे नारी को पतिव्रता और कर्तव्यपरायणा दिखाया गया है । गान्धारी अपने पति के जन्मान्ध होने के कारण अपनी आखो पर जीवन भर पट्टी बाधे रही । द्रौपदी पांडवो के वन-वास काल मे उनके दुख-सुख की साथी रही। इसके अतिरिक्त व्यास ने द्रौपदी को ब्रह्मवादिनी और पडिता कहा है । द्यूत-सभा मे उसने धर्म-नीति सम्बन्धी प्रश्नो से भीष्म को भी निरुत्तर कर दिया था। महाभारत के वनपर्व म स्त्रियो के आचरणो की मीमासा करते हुए द्रौपदी सत्यभामा से कहती है—'अहकार और क्रोध को त्याग कर स्त्री वह काम कभी न करे जो पति को अप्रिय हो । पति का मन रखने के लिये निरभिमान होकर उसकी सुश्रूषा करे। बुरे शब्द कहना, बुरी तरह खडे होना, बुरी रीति से देखना या बैठना या चाहे जहा चले जाना—इन बातो से मैं बहुत बचती हू। मैं अपने पतियो के मन की बात जानने की चेष्टा कभी नही करती । मैं भूलकर भी किसी दूसरे पुरुष को नही देखती, भले ही वह देवता हो, गन्धर्व हो या तरुण हो। पति से बढकर अच्छी होने का भी मैं प्रयत्न नही करती। न मैं सास की निन्दा करती हू–सदैव निरालस्य होकर कार्य मे लगी रहती हू। नौकर-चाकरो पर भी मेरी दृष्टि रहती है। यही मेरा वशीकरण मन्त्र है ।' यह वर्णन उस काल की एक गृहस्थ रमणी की कर्तव्यपरायणता का द्योतक है।

उस काल की स्त्रिया साडी लपेटकर सर पर दुपट्टा ओढती थी । इस दुपट्टे को उत्तरीय कहते थे। स्त्रिया जब बाहर जाती थी, तब उत्तरीय से माथा ढक लेती थी। द्रौपदी को जब सभा मे लाया गया, तब उसने बारम्बार कहा था—'मैं एक वस्त्रा हू मुझे सभा मे मत ले चलो।' उस समय सौभाग्यवती स्त्रियाँ माग मे केसर कुँकुम भरती थी और वेणी बाधती थी। उस काल की स्त्रिया 'पीत कौशेय' पहनना पसन्द करती थी। पीला रग आम था। परन्तु सुभद्रा को जब अर्जुन हरण कर लाया था, तब वह लाल वस्त्र पहिने गोप कन्या सी लग रही थी। सम्भवत गोपो की पोशाक लाल रग की रही हो। उस समय योगी और अरण्यवासी मृगचर्म धारण करते थे। मुनि पत्नियाँ भी कुश-चीर पहनती थी।

अलकार—अलकारो का शौक स्त्री पुरुष दोनो को था । सामान्य स्त्री-पुरुष सोने चादी के गहने पहनते थे। धनी लोग रत्नजटित आभूषण भी पहनते थे । राजा लोग रत्नजटित मुकुट धारण करते थे । कानो मे हीरे और मोतियो के कुण्डल पहनते थे। स्त्रिया माथे पर पट्ट पहनती थी। 'काञ्ची', 'रशना', और नूपुर स्त्रिया के अधोअग के आभूषण थे। कुण्डल और केयूर कानो मे पहिने जाते थे।

पुरुष प्राय दाढी मूँछे रखते थे । महाभारत मे नाइयो का उल्लेख है । काम्बोज के लोग सर मुडाकर दाढी रखते थे ।

बैठने के आसन, पीठ और चौकिया होती थी, जिन पर हाथी दाँत का काम होता था । रानिया 'मचक' या पर्यक पर बैठती थी । यह पलग के समान सजे हुए होते थे ।

महाभारत काल मे धनवानो की सवारी हाथी थी । उस काल मे रथो मे घोडे और गधे—दोनो जोते जाते थे । महाभारत के आदिपर्व मे पुरोचन से गधो के रथो मे बैठकर वारणावत जाने को कहा गया है । इमसे ज्ञात होता ह कि उस काल मे गधो को भी रथो से जोता जाता था । चारण और बजारे बैलो को लादते थे ।

विवाह-प्रथा—महाभारत काल मे विवाह युवावस्था होने पर होता था । उस समय पाच प्रकार के विवाह प्रचलित थे—(१) ब्राह्म, (२) क्षात्र (३) गान्धर्व (४) असुर और (५) राक्षस विवाह । इनमे ब्राह्म विवाह प्रथा सबसे श्रेष्ठ मानी जाती थी । क्षत्रियो मे छात्र अथवा राक्षस विवाह-पद्धति प्रचलित थी । इस प्रथा मे कन्या का बलात् हरण किया जाता था । गान्धर्व विवाह परस्पर प्रेम का परिणाम होता था और राक्षस-विवाह छल-कपट से होते थे । उस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने से नीचे वर्णो की स्त्रियो से भी विवाह कर लेते थे । उन दिनो अधिकाश विवाह या तो स्वयवर प्रथा से होते थे, अथवा पिता उनके लिये धन लेते थे । इसका प्रमाण माद्री है ।

पाण्डु के लिये भीष्म जब माद्री को लाये थे, तब एक छकडा भरकर स्वर्ण और रत्न देकर लाये थे । महाभारत काल मे गोत्र और प्रवर बचाकर विवाह होता था । विवाह एक ही जाति मे तो होता था, पर गोत्र और समान प्रवर मे नही । स्मृतियो मे मामा की पाच पीढियो मे विवाह वर्जित माना गया है, पर उस काल मे चन्द्रवशी उस नियम को नही मानते थे । वे मामा की बेटी से विवाह कर लेते थे । कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न का विवाह भी उसकी ममेरी बहिन से ही हुआ था । सुभद्रा और अर्जुन का विवाह भी ऐसा ही था । भीम को शिशुपाल की बहिन व्याही थी । शिशुपाल की मा और भीम की मा सगी बहिनें थी । दक्षिण के ब्राह्मणो मे भी प्राचीन काल मे ऐसे ही विवाह होते थे । दक्षिण मे अब भी श्वसुर को मामा कहने की चाल है । इससे सिद्ध होता है कि दाक्षिणात्य भी चन्द्रवशी ही है ।

वर्ण-व्यवस्था—महाभारत कालीन वर्ण-व्यवस्था म रामायण काल से भिन्नता पाई जाती है । महाभारत के रचनाकार व्यास ने इस विषय मे कहा है—

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियम कृत" अर्थात् इस जगत् का लोक-व्यवहार ठीक चले, इसीलिये धम के नियम बनाये गये है । महाभारत के शातिपर्व मे जो व्यास के कर्म सम्बन्धी विचार है, उनसे ज्ञात होता है कि इस समय की विचारधारा मे विवेचक दृष्टि का उदय हो रहा था और बुद्धिवादी तथा वस्तुनिष्ठ सारणी पर समाज की भित्ति खडी की जा रही थी । अत व्यास ने वर्ण व्यवस्था को धर्म परक और

अस्थायी नही माना। यह विचारधारा वस्तुत प्राचीन विचारधारा से निराली थी। अभी तक इस प्रकार की विचारधारा ससार मे कही भी स्थापित नही हुई थी।

महाभारत-काल मे वर्णसकर जातियाँ उत्पन्न हो चुकी थी। उदाहरणार्थ द्रौपदी के स्वयबर मे जब कर्ण ने धनुप उठाया था, तब द्रौपदी ने स्पष्ट कहा था—'मैं सूत से व्याह नही करूगी।' इससे ज्ञात होता है कि जाति-प्रथा गुण की अपेक्षा कर्म-प्रधान थी। इस काल मे ब्राह्मण केवल तीन वर्णों की बेटियो से विवाह कर सकता था। क्षत्रिय और ब्राह्मण के सिवा वह शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता था। वैश्य केवल अपने ही वर्ण मे विवाह कर सकता था। उस समय शूद्र भी आर्य-वर्णी थे। अत उनकी लडकी लेने न लेने के प्रश्न पर विवाद उठ खडा हुआ। उस समय वाणिज्य-व्यवसाय मे वैश्यो का शूद्रो से सीधा सम्बन्ध पडता था। अत वैश्यो ने शूद्रो से रोटी-बेटी का व्यवहार शुरू कर दिया।

वर्ण-व्यवस्था की कठोरता—ऋग्वेद-कालसे महाभारत काल तक पितृ-सत्ता प्रधान समाज था। महाभारत अनुशासन पर्व अ० ४४ मे स्पष्ट लिखा है--'त्रिपुवर्णेषु जातोहि ब्राह्मणाद् ब्राह्मणो भवेत्। स्मृताश्च वर्णाश्चत्वार पचमो नाधि गम्यते।' स्त्री चाहे भी किसी वर्ण की हो, किन्तु सन्तान को पिता का गोत्र मिलता था। परतु शूद्रो की कन्याए ब्याहने पर जब उनकी सन्तान को बराबरी का हक दिया जाने लगा, तब विवाद उठ खडा हुआ और उस विवाद का निपटारा हम स्मृतिग्रथो तक मे देखते है। अत पहले निर्णय हुआ कि ब्राह्मणो और क्षत्रियो से उत्पन्न ब्राह्मण की सतान ही ब्राह्मण मानी जाय। कुछ काल के बाद यह नियम भी रद्द कर दिया गया और यह निश्चय हुआ कि ब्राह्मणी की सन्तान ही ब्राह्मण से उत्पन्न होने पर ब्राह्मण मानी जाय। अब सम्पत्ति का प्रश्न उठा कि क्या शूद्र स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण की सन्तान को पिता की सम्पत्ति मे हिस्सा मिल सकता है। निर्णय हुआ कि उसे कुल सम्पत्ति का १/१० भाग केवल दिया जाय। परन्तु महाभारत काल के बाद यह नियम भी रद्द कर दिया गया और तय हुआ कि कुछ हिस्सा ही न दिया जाय। अत ब्राह्मण से उत्पन्न शूद्रा स्त्री की सन्तान न ब्राह्मण मानी गयी न शूद्र। उसकी 'पारशव' नाम की एक नई जाति बनाई गयी। क्षत्रिय और शूद्रा से उत्पन्न सन्तान 'उग्र' नाम से पुकारी गयी। परन्तु वैश्य और शूद्रा की सन्तान उस समय तक वैश्य ही समझी जाती थी। अत आगे चलकर वर्णसकर वाद की कठोर निन्दा की जाने लगी। इसलिये सब वर्णो के लोग अपने वर्णो मे विवाह करने लगे। वर्णो मे केवल विवाह बन्धन ही कडे नही किये गये, व्यवसायो पर भी रोकथाम लगी। नियम यह चला आ रहा था कि आपत्त काल अथवा आवश्यकता से विवश होकर, उच्च वर्ण का पुरुष भी छोटे वर्ण का पेशा कर सकता है। परन्तु छोटे वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण का पेशा नही कर सकता। अत अब इस विषय मे और भी कडाई की गयी।

उस समय शूद्र क्षत्रिय व्रत न करके अमत्रक यज्ञ करते थे। ब्राह्मण और शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान कुछ काल बाद 'सूत' कही जाने लगी थी। इनका पेशा राजा

का स्तुतिगान करना था। कालान्तर मे पुराण वाचन भी उनके पेशे मे सम्मिलित हो गया। वे राजाओ की वशावलिया भी रचने लगे। उन्हे वेद पढने का भी अधिकार था और मान्यता भी ब्राह्मणो के बराबर मिलती थी। यह राजा के सारथी का कार्य भी करते थे।

महाभारतकालीन शिक्षा—ब्राह्मण-काल और महाभारतन्काल की शिक्षा-विधि लगभग समान ही है। इस काल मे भी शिक्षा आचार्यों के घरो पर और ऋषि-मुनियो के आश्रमो पर होती थी। प्रत्येक विद्वान् का घर विद्यालय था। परन्तु शिक्षा देने के विद्यालय नगरो से दूर होते थे और छात्र के भर्ती होने पर पहले उसका आर्यीकरण किया जाता था। यह स्थान ऐसे स्थानो पर होते थे, जहाँ तालाब, मैदान और जगल पास ही होता था। महाभारत मे कण्डव, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमो के वर्णन मिलते है। इनमे कण्डव का आश्रम जिस वन मे था, वह मन को प्रसन्न करने वाला था। इनमे वायु—पराग मिश्रित थी। अत सारा आश्रम सुगन्धि से भरपूर रहता था। छाया सुखदायिनी थी। इस वन मे 'मालिनी' नदी तट पर कण्डव ऋषि का आश्रम था। अनेक महर्षियो के आश्रम भी आसपास ही थे।

कण्डव के आश्रम की शिक्षा-प्रणाली वर्तमान कालेजो से मिलती-जुलती दिखाई देती है। महाभारत मे लिखा है—"कण्डव के आश्रम मे विविध दार्शनिक विषयो पर व्याख्यान होते थे और वेद वेदागो पर विवाद होते थे।"१ इस आश्रम मे 'व्यास' की अध्यक्षता मे सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनी तथा पैल वेद पढते थे।२ उसके विद्यालय मे वेदादि की शिक्षा के अतिरिक्त अस्त्र शस्त्रो की शिक्षा भी दी जाती थी। स्वय द्रौपदी के पिता राजा द्रुपद ने इसी आश्रम मे शिक्षा पाई थी।३ महाभारत-काल मे अनेक आचार्य अपने शिष्यो को साथ लेकर, विचरण करते हुए अध्यापन कराते चलते थे। महर्षि दुर्वासा और वैपम्पायतो के आश्रम इस प्रकार की शिक्षा के लिये विख्यात थे।४ प्रयाग शिक्षा के लिए अगस्त्य ऋषि के आश्रम का वर्णन भी आया है।५

महाभारत-काल मे विद्यार्थी के लिए छ कर्म नियत किये गए थे—सध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथि-पूजन। अत विद्यार्थी इन नियमो का पालन करता था, उसकी दिनचर्या अत्यन्त कठोर होती थी। वह आचार्य के घर रहते हुए सबके सो जाने पर सोता था, सबके जगने से पहिले उठता था। उठकर सबसे पहिले आचार्य के चरणो का स्पर्श करता था। महाभारत-काल मे छात्रो की कर्त्तव्य-परायणता के अनेक उल्लेख मिलते हैं। 'आरुणि' नामक एक छात्र को आचार्य ने

१ महाभारत आदिपर्व ७०/३७-८६।
२ शन्तिपर्व ३२७ अध्याय।
३ आदिपर्व १३०/३३।
४ महाभारत वनपर्व २५९-८/२६०/२।
५ महाभारत वनपर्व ८७/२०।

खेत की मेढ बाधने के लिए भेजा था । इस प्रयास मे असफल हाने पर वह मेढ पर ही लेट गया । उपमन्यु गुरु की गौएँ चराता था और भिक्षा माँगकर जीवन चलाता था ।

महाभारत-कालीन भाषा और साहित्य—महाभारत-काल मे आर्य सस्कृत बोलते थे। परन्तु वह वर्तमान सस्कृत से कुछ भिन्न थी । उस समय अन्य जातिया भी सस्कृत बोलती थी । परन्तु उनके शब्दो का उच्चारण अशुद्ध होता था । यही अवस्था नारी जाति की भी थी। सस्कृत भाषा मे अनेक अपभ्र श शब्द आ चुके थे । विदेशी लोग प्राकृत भाषाएँ बोलते थे । तब अनार्य भाषाओ को भी पढा जाता था । वारणावत जाते हुए पाण्डवो को विदुर ने अनार्य भाषा मे ही सावधान किया था । उस समय ब्राह्मण ग्रन्थ तैयार हो चुके थे । अनुशासन पर्व मे 'ताण्ड्य ब्राह्मण' का उल्लेख है । 'शतपथ ब्राह्मण' का उल्लेख शान्तिपर्व ३१२वे अध्याय मे है । शान्तिपर्व ३४२वे अध्याय मे ऋग्वेद की २१ हजार, सामवेद की १००० हजार, यजुर्वेद की ५६८३७= १०१ शाखाएँ होने का वर्णन है । परन्तु आजकल इतनी शाखाएँ उपलब्ध नही है । महाभारत मे 'भाष्य' नामक व्याकरण का नाम आया है । शाकल्य और सावर्णि सूत्र-कारो का भी नामोल्लेख है । परन्तु इन्होने किस विषय के सूत्र बनाये थे, यह ज्ञात नही हो सका । परन्तु शाकल्य का पाणिनि के सूत्रो मे उल्लेख अवश्य आता है । सम्भ-वत शाकल्य ही महाभारत-कालीन व्याकरण है । निरुक्त और उसके शब्द-कोष का भी महाभारत मे उल्लेख है । महाभारत मे 'बाभव्य कुल जालक' को शिक्षा प्रणेता कहा गया है । उसने 'शिक्षा' और 'क्रम' विषयो पर ग्रन्थ लिखे थे । गौतम के 'न्याय-दर्शन' के दर्शन सभापर्व के एक श्लोक मे होते हैं। एक श्लोक मे 'एवय-मयोग्यनानात्व' शब्द है । यह गौतम के न्याय के पारिभाषिक शब्द हैं । इससे ज्ञात होता है कि उस समय गौतम का ग्रन्थ मौजूद था । इसका शान्तिपर्व मे स्पष्ट सकेत है । *

अन्य-शास्त्र—महाभारत से ज्ञात होता है कि उस काल मे अनेको शास्त्र प्रच-लित थे। सभापर्व और शान्तिपर्व मे मानव धर्मशास्त्र का उल्लेख है । स्वय महा-भारत को भी धर्मशास्त्र और कामशास्त्र कहा गया है । इसके अतिरिक्त 'ब्रहस्पति' और 'उशनस' के नीति सम्बन्धी ग्रन्थो का भी उल्लेख है । शान्तिपर्व के ५८वें अध्याय मे धर्मशास्त्र के प्रणेता 'मनु', 'भारद्वाज' और 'गौरशिरस्' का उल्लेख है । यहाँ 'भुवन-शास्त्र' का भी उल्लेख है । धनुर्वेद, गान्धर्व वेद तथा चिकित्सा-शास्त्रो का भी उल्लेख हैं । चिकित्सा-शास्त्र के प्रवर्तक कृष्ण-त्रिय थे । इसके अतिरिक्त महास्मृति और अनुस्मृति का भी उल्लेख है । गणित और अकशास्त्रो के ग्रन्थो का भी महाभारत मे उल्लेख है । उस समय 'शम्बर' नामक विद्वान् भी नीति शास्त्रकर्ता था । उस समय हस्ति-शास्त्र, अश्वशास्त्र और मल्लशास्त्र नामक ग्रन्थ भी थे । इसके अतिरिक्त स्वय महाभातत सर्वविदित ही हैं ।

---

* न्याय तन्त्राण्यनेकानि—शान्तिपर्व अ० २१० ।

धर्म-विश्वास—उस समय वैदिक-धर्म के तीन रूप थे। स्तुति, उपासना और यज्ञ। ऋग्वेद के सम्बन्ध मे लोगो की पूज्य बुद्धि और यजुर्वेद और सामवेद के सम्बन्ध मे धर्म बुद्धि उत्पन्न की गई थी। इस समय वेद अपौरुषेय माने जाने लगे थे। तीन वर्ण वेद पढते थे। महाभारत के बाद क्षत्रिय वेद के पठन-पाठन मे पिछड गये। उस समय गृहाग्नि रखी जाती थी। कर्ण नित्य सूर्य पूजन करता था। उस समय केवल तैंतीस देवता माने जाते थे। विष्णु की महत्ता बढ रही थी। शिव-पूजा का वर्णन भी उत्तर काल मे है। पित्रो के श्राद्ध और तर्पण होते थे। गो-दान का बहुत महत्त्व था। भूमिदान और कन्यादान भी महत्त्वपूर्ण पुण्य थे। ब्राह्मणो को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में लोग कन्या तक दे देते थे। उपवास का प्रचलन था। यह विशेष तिथियो को किया जाता था। योग, जप और अहिंसा को उत्तम समझा जाता था।

रामायण-काल के पश्चात् महाभारत-काल मे, राजकुमारो की शिक्षा के लिए विद्यालय भी खुलने लगे थे और घरो पर भी शिक्षा का प्रबन्ध होने लगा था। भीष्म पितामह ने हस्तिनापुर मे धनुर्वेद के महाविद्यालय की स्थापना की थी।१ राजकुमारो की शिक्षा के लिए घरो पर भी आचार्य नियुक्त होते थे, उनकी उपाधि महाभारत मे 'कारणिक' लिखी गई है।

महाभारत-कालीन मान्यताएँ—महाभारत-काल मे अनेक प्रचलित मान्यताएँ थी। यज्ञो मे पशु-वध का विरोध होने लगा था। अतिथि पूजन का बडा महात्म्य था। सत्य, सरलता, शान्ति, निर्भत्सना, इन्द्रिय निग्रह सर्वसाधारण के उत्तम धर्म कहे गये है। नीति का आचरण अच्छा माना जाता था। मोक्ष की इच्छा सब करते थे। आचार को धर्म का उत्तम लक्षण माना जाता था। स्वर्ग-नर्क की कल्पनाएँ थी। अन्य लोको की कल्पनाओ को भी मान्यता दी जा चुकी थी। ब्रह्मलोक विष्णुलोक, वरुणलोक और पाताल लोक मान लिए गये थे। स्वर्ग लोक के ऊपर ब्रह्म लोक माना जाता था। दुष्कर्म के लिए प्रायश्चित की परिपाटी थी। इसके अनेक प्रकार थे। गृहस्थ लोग सोलह संस्कार करते थे। बडे लोगो के प्रेत-संस्कार धूमधाम से होते थे।

ऋषि मुनि—महाभारत काल म ऋषि-मुनियो के अतिरिक्त वानप्रस्थी मुनियो की बहुलता के दर्शन होते हैं। महाभारत युद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र, गान्धारी और कुन्ती के भी वानप्रस्थी होकर वन मे रहने का वर्णन है।२ युधिष्ठिर सपरिवार उनके आश्रम मे गये थे। युधिष्ठिर का स्वागत वहाँ जल, मूल और फलो से किया गया था। आश्रम की वेदियो मे होम की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। मुनि-समुदाय यज्ञ कर रहा था। मृगो का समूह निःशक होकर विचरण कर रहा था। उच्चकोटि के विद्वान् वेदपाठ कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर ने वनवासी मुनियो के लिए कलश, अजिन, प्रवेणी, स्रुक्, कमण्डलु, स्थाली, पिठर, लोहपात्र आदि वस्तुओ का दान किया था।

---

१ महाभारत आदिपर्व १३०/३३।

२ महाभारत आश्रम वासिक पर्व २४

इनकी तपस्या की पद्धतिया भी पृथक् पृथक् थी। कुछ तपस्वी सूर्य का किरणो का पान करके तपस्या ही करते थे। कुछ जल मे खडे होकर तपस्या करते थे। कुछ तपस्वी पञ्चाग्नि मे तपते थे। कुछ सदैव अपने वस्त्रो को गीला रखते थे। इन वर्णनो से सिद्ध होता है कि महाभारत-काल आते-आते आर्य समाज की उपासना पद्धति ने सन्यास का रूप धारण कर लिया था, जिसमे हठयोग आदि की क्रियाएँ भी सम्मिलित हो चुकी थी, जिनका आभास इनकी तपस्या-चर्या के अतिरिक्त भोजन-चर्या से भी मिलता है। अपने भोज्य-पदार्थो के लिए अधिकतर ऋषि पत्थरो या दाँतो द्वारा डण्ठल से गूदा निकालकर खाते थे। मुलायम कन्द खोदकर खाते थे। बहुत मे जल और वायु पर ही जीवन-यापन करते थे।

रामायण और महाभारत-काल मे कुछ मुनियो के परिवार सहित भी वनो मे रहने का वर्णन भी मिलता है। इनमे वशिष्ठ का नाम लिया जा सकता है। महाभारत मे वर्णित 'व्रीहिद्रोण' नामक एक मुनि का वर्णन आया है। यह मुनि कपोती-वृत्ति से अपनी जीविका चलाते थे। पन्द्रह दिन मे एक बार भोजन करते थे। कपोती-वृत्ति से एक द्रोण अन्न उपजाकर उसी से यज्ञ करते थे और उसी अन्न से अतिथियो का सत्कार भी करते थे।१ रामायण मे ऋचीक और विश्वामित्र के भी सपरिवार वन मे रहने का वर्णन मिलता है।२ यह लोग कभी-कभी गृहस्थो के घर जाकर भी ठहरते थे और अधिकतर अपने शिष्यो को भी साथ ले जाते थे।

यज्ञ-विधि—इन मुनियो की यज्ञ-विधि भी वैदिक-ऋषियो की यज्ञ-विधि से परिवर्तित थी। उस काल मे सैकडो प्रकार के यज्ञ प्रचलित हो गये थे, जिन्होने ब्राह्मण और सूत्र काल मे और भी विस्तार कर लिया था। रामायण-कालीन मुनि अल्पकालीन और दीर्घकालीन यज्ञ करते थे। इनके दीर्घकालीन यज्ञ १२ वर्ष तक भी लगातार चलते थे। नैमिषारण्य के तपस्वियो के भी ऐसे ही यज्ञ का वर्णन मिलता है। इस यज्ञ मे आसपास के अनेक ऋषियो ने भाग लिया था। यह लोग अपने लिए भी यज्ञ करते थे और यजमानो के कल्याणार्थ भी यज्ञ करते थे। यजमान लोग पशु आदि की दक्षिणा देकर उन्हे सन्तुष्ट करते थे।

महाभारत-कालीन आचार-प्रथा—महाभारत-कालीन आचार प्रथा का आभास 'कर्णपर्व' मे मिलता है। केरल, पाण्डय और आन्ध्र लोगो के सम्बन्ध मे कर्णपर्व में कहा गया है कि वह लोग सर मे फूलो की माला लपेटे, दाँतो को लाल रग से रगे हुए, नाना प्रकार की रगीन धोतियाँ पहने और शरीर मे सुगन्धि चूर्ण लगागे छोटे-बड़ो को नमस्कार करते हुए निकलते हैं। आशीर्वाद रूप मे बडे लोग छोटोको छूते थें। राजा को धरती पर माथा टेक कर प्रणाम करते थे। ब्रह्मचारी गुरु के चरण छूकर प्रणाम करता था। ऋषियो को साष्टाग दण्डवत की जाती थी। पराजित राजा को

१ महाभारत वनपर्व २६०।

२ वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड ६१-६२ सर्ग।

उस काल मे नष्ट नही किया जाता था। उसे ही पुन राजा बना दिया जाता था। उदाहरणार्थ शान्तिपर्व मे व्यास जी युधिष्ठिर से कहते हैं—"जित् भूपतियो के राज्य और नगर मे जाकर उनके बन्धु पुत्र और पौत्रो को उनके राज्य मे अभिषिक्त करो। जिनके पुत्र न हो, उनकी कन्याओ को अभिषिक्त करो।"

वास्तुकला का विकास—महाभारत-कालीन वास्तुकला भी अपने उच्चस्तर को प्राप्त कर चुकी थी। बडे-बडे दुर्ग और महल बनने लगे थे। इन दुर्गो की सुरक्षा के लिए सैनिक रहते थे। महलो पर कगूरे होते थे। चतुष्पथो के रूप मे नगर को सुसज्जित किया जाता था। नगर के मार्ग दीपिकाओ से आलोकित होते थे। नगर मे राज्य-प्रासाद के अतिरिक्त न्यायालय, द्यूतशाला, सगीतशाला और मल्लो के लिए अखाडे होते थे। नगर के बाहर उद्यान होते थे।[1]

महाभारत—महाभारत, महाभारत-कालीन महाकाव्य है। यह महर्षि वेद-व्यास द्वारा सकलित विशाल ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कारा काव्य ही नही है, अपितु ऐति-हासिक गाथाओ का भण्डार भी है। इस ग्रन्थ की श्लोक सख्या १ लाख है। आरम्भ मे वेदव्यास ने अपने पुत्र शुकदेव को यह काव्य पढाया। शुकदेव ने वैशम्पायन के सामने इस कथा का प्रवचन किया। प्रारम्भ मे इस ग्रन्थ का नाम 'जय' था।[2] वैशम्पायन ने अर्जुन के पौत्र जनमेजय के सम्मुख इसका प्रवचन किया। इसे 'चतुर्वि-शति साहस्त्री भारत सहिता' भी कहा गया है। इसके बाद भृगुवशी शौनक के सम्मुख इसका तृतीय पारायण हुआ। इस ग्रन्थ मे १८ पर्व है। इसका मुख्य विषय कौरव-पाण्डव का सग्राम है जो कुरुक्षेत्र मे हुआ। इस युद्ध मे भारत तथा भारत से बाहर के अनेक राजा अपनी सेनाओ के साथ सम्मिलित हुए थे। परन्तु इस ग्रन्थ मे प्रसगवश भारत की प्राचीन जनश्रुति, ऐतिहासिक तथ्य तत्व-ज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मुक्तिशास्त्र का भी विपद वर्णन है। अत इस ग्रन्थ को भारतीय संस्कृति का विश्व-कोश कह सकते है।

इस ग्रन्थ मे तत्वज्ञान, इतिहास राजनीति, धर्मनीति आदि विषयो का भी समावेश है और भूगोल सहित विज्ञान के सकेत भी है।

इस ग्रन्थ की वर्णन-शैली अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। उसमे कवित्व बहुत है आख्यान मनोहारी है और तत्वज्ञान अत्यन्त गम्भीर है। प्रत्येक वर्णन मर्यादानुसार है। अत यह महाकाव्य पृथ्वी के समस्त महाकाव्यो से श्रेष्ठ और अद्वितीय है। भाषा प्रौढ और गम्भीर है। सरलता और प्रौढता का उसमे अद्भुत साम्य है। ग्रन्थ धर्म प्रधान है। 'धर्मो रक्षति रक्षित' यही महाभारत का मूलमत्र है और 'यतो धर्म-स्ततो जय' यह महाभारत की ध्वनि है।

---

१ महाभारत आदिपर्व ४/२२।

२ जयोनामेतिहासोऽयम्—आदि पर्व।

मध्यकालीन भारतीय सभ्यता का विकास

(ई० पू० २ हजार से १ हजार ई० पू० तक)

मध्यकालीन भारतीय सभ्यता के विकास मे सहिता-काल, ब्राह्मण-काल रामायण-काल, महाभारत-काल, उपनिषद् काल आदि आ जाते हैं। इस काल को आर्य-सभ्यता का मध्य-काल माना जाता है। इस काल मे आर्य सभ्यता और उसके इतिहास को विकसित किया गया और समाज मे आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। यह मध्यकाल ही ब्राह्मण-काल के नाम से भी विख्यात है।

वैदिक सभ्यता मे वर्णव्यवस्था कर्म-परक न रहकर ब्राह्मण काल आते जाति-परक होती गयी थी। रामायण-काल मे इसका निखरा रूप हमारे सामने तब आता है, जब हम उत्तरी भारत मे जन्मगत वर्णों की विभिन्न जातियो को देखते है और दक्षिण भारत मे रावण और हनुमान आदि को भी वेदपाठी ब्राह्मणो के रूप मे पाते हैं।

रामायण काल के पश्चात् महाभारत-काल मे भी ब्राह्मणो का बोलबाला रहा। इस काल मे वैदिक-आचार सहिता अवश्य शिथिल पड गयी थी, जिसका प्रमाण उस काल की शादी-प्रथा तथा राजाओ का बहु-पत्नी वादी होना है, तथा स्त्रियो को दान-दक्षिणा के रूप मे देने के वर्णन भी आते हैं। महाभारत-युद्ध के लगभग २००-२५० वर्ष पश्चात् भारत की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दशा बिगड गयी। इसका कारण कौरव-पाण्डवो का विशाल युद्ध था। इस युद्ध मे हजारो वैज्ञानिक, योद्धा तथा वीर राजा मारे गये। ब्राह्मणो को राज्याश्रय मिलना बन्द हो गया। अत उन्होने धर्म उपदेशो का कार्य बन्द कर दिया और आजीविका के लिये नये साधनो की खोज प्रारम्भ की। उनकी यह खोज भी ज्ञान-वर्द्धक ही थी। अत उन्होने वेदो का पुन. अध्ययन किया और उनका रहस्य जानने के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थो के बाद सूत्र-ग्रन्थो की भी रचना की। वास्तव मे भारतीय सभ्यता के विकास की दृष्टि से ब्राह्मण-काल, भारत का स्वर्ण-युग है, क्योकि इसी काल मे वेद साहित्य के अतिरिक्त, भौतिक शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गणित-शास्त्र, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि अनेको विषयो पर ग्रन्थ रचे गये। ब्राह्मणो ने अपने बौद्धिक परिश्रम से एक बार पुन. वैदिक ऋषियो की श्रेणी मे स्थान प्राप्त कर लिया और 'ब्रह्मवाक्य जनार्दन', तथा

---

* भारतीय सस्कृति-लक्ष्मण शास्त्री

'वर्णानाम ब्राह्मणो गुरु' का पद प्राप्त कर लिया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ब्राह्मण राज्याश्रय से मुक्त होकर समस्त जनता की श्रद्धा का पात्र बन गया। वही उस काल का पुरोहित भी था और शिक्षक भी था। इस काल मे ज्ञान पर अधिक जोर दिया गया। जिस का प्रचार पश्चात् सकर ने 'नान्य पन्था विद्यते कोऽपि मुक्तयै इत्यादिवै वेद वाक्य मुमुक्षो' * कह के किया कि ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई मार्ग नही और पूर्वकाल मे, भगवद्गीता द्वारा—'न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते।' कहकर किया गया था। उस समय चिन्तन-शीलता उच्चता की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। 'षड्विंशब्राह्मण' से ज्ञात होता है कि देश मे मूर्तिपूजा का प्रचलन भी हो गया था।

ब्राह्मण-काल का साहित्य—वेदो के पश्चात् ब्राह्मण-काल का प्रारम्भ साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योकि गद्य-साहित्य के यह सबस प्रथम प्राचीन ग्रन्थ हैं और वेदो की कुंजियाँ हैं। इनमे वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म मे सूक्ष्म जटिलता का विवेचन है।

इस युग मे सहिताओ मे समन्वित 'यज्ञ' सम्बन्धी व्याख्याओ को ब्राह्मग और आरण्यक ग्रन्थो मे सकलित किया गया। प्रत्येक वेद से सम्बद्ध अनेक ब्राह्मण-ग्रन्थ रचे गये। उनमे से आज केवल कुछ ही विद्यमान है। प्राप्त ब्राह्मणो मे **ऐतरेय ब्राह्मण** का सम्बन्ध ऋग्वेद मे है और उसमे सोमयज्ञ तथा राज्यभिषेक के विधि-विधान का वर्णन है। **पचविंश** ब्राह्मण का सम्बन्ध **सामवेद** से है। जिसमे व्रात्यस्तोम यज्ञो का वर्णन है और जाति-च्युतो को पुन जाति मे मिलाने के मत्र हैं। शतपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ग्रन्थ है। रामायणकालीन भारतीय समाज की रचना इसी के आधार पर हुई है। गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद मे है। ब्राह्मणो के अन्तिम भाग ही आरण्यक हैं। इनमे उपलब्ध ऐतरेय कौशीतकी और तैत्तरीय है, जो उन नामो के ब्राह्मणो के ही भाग है। इनमे पहिले का सम्बन्ध ऋग्वेद मे और दूसरे का यजुर्वेद मे है। यह आरण्यक उपनिषदो से पहिले की कडी थे। उपनिषद् ब्राह्मण-साहित्य के अंतिम विकास को सूचित करते हैं और आरण्यको के अग इनमे पाये जाते है। वस्तुत यह वैदिक सभ्यता की उत्तरकालीन रचनाएँ है। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण मे तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन के विषयो का उल्लेख है। इनमे से वैदिक सहिताओ के अतिरिक्त कुछ विषय ये—अनुशासन, विद्या, वाको-वाक्य, इतिहास पुराण, गाथा, नाराशंसी। इनमे से अनुशासन वेदाग है। विद्याएं, न्याय-मीमासा आदि दर्शन-शास्त्र है। वाको-वाक्य आधुनिक शास्त्रार्थ के सम-कक्ष लगते है। इनमे यज्ञ, ब्रह्म और आत्मा सम्बन्धी विषयो पर विवाद होते थे। इति-

---

* शकर दिग्विजय—पृष्ठ ८६
* भगवद्गीता (अ० ३, श्लोक ४)

-हास और पुराणो मे पराक्रमी वीरो और देवर्षियो की चरित्र-गाथा का वर्णन होता था। गाथा-नाराशंसी महापुरुषो की स्तुतियो का निबन्ध था।

ब्राह्मण-कालीन यज्ञ विद्या का अध्ययन-अध्यापन विशेष महत्वपूर्ण था। यज्ञ विद्या की गुत्थियो को सुलझाने मे ज्ञान-विज्ञान की प्राय सभी शाखाओ का व्याख्यान अपेक्षित था। इनमे पुराण, इतिहास और आख्यान, सृष्टि की रचना का विन्यास, आचार-शास्त्र और दर्शन की गवेषणा के आभास स्थान-स्थान पर समन्वित थे। ब्राह्मणो ने बाह्य प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों पर मुग्ध होना त्याग कर, उनके गूढतम विषयो की खोज करनी प्रारम्भ की।

ब्राह्मण-काल मे खान-पान—ब्राह्मण-काल मे भी आर्यों को मांसाहारी नही पाया जाता। इस काल मे भी उन्हे शाकाहारी और अन्न खाने वाला ही बताया गया है। **शतपथ ब्राह्मण** के प्रथम काण्ड मे ही यजमान के उपवास करने अथवा यज्ञ के अवसर पर कुछ खाने के प्रश्न पर यह व्यवस्था दी गयी है कि 'अरण्य मे जो उगता हो, वही खाना चाहिये।' इसी स्थल पर माष (उडद) व्रीहि (धान), यव (जौ) तथा व्रीहि और यव (चावल और जौ) शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है। इस स्थल के वर्णन से ज्ञात होता है कि चावल और जौ के विविध प्रकार के व्यजन पीसकर और पकाकर तैयार होने लगे थे। इसके साथ ही **शतपथ** के पचम काण्ड मे अभिषेचनीय कृत्यो के साथ तीन प्रकार के चावलो (व्रीहि) का भी उल्लेख है। इनमे प्लाशुक व्रीहि—अति शीघ्र उगने वाले धान, आशु व्रीहि-साधारण ढग से उगने वाले धान और नैवार—जगली धानो का उल्लेख है। इसका तात्पर्य यह है कि इस काल में धानों की कई किस्मे खोजी जा चुकी थी।

इसके पश्चात् तिल का वर्णन है। यह ग्राम्य और अरण्य—दोनो स्थानो का अन्न माना गया है। जगली तिल के नाम **जर्तिल** * लिखा है। शतपथ ब्राह्मण मे गेहूँ का उल्लेख भी दो स्थानो पर आया है। गेहू के आटे से बने **चषाल** (wooden ring at the top of a sacrificial post) की ओर सकेत है। जैसे मनुष्य के शरीर पर मोटी खाल नही है, उसी प्रकार **गोधूम** मे भी मोटी त्वचा नही है। आगे एक स्थल पर गेहू को अन्न बताया है। यहाँ ईख (इक्षु) का उल्लेख तो नही, पर उससे बने विधृति (एक्षव्य विधृति) का उल्लेख अवश्य है।

मुनियों का आश्रम-जीवन—ब्राह्मण-काल तक आते-आते आर्यो का सामाजिक जीवन व्यवस्थित हो चुका था। जिस प्रकार समाज के जीवन को चार भागों मे विभाजित किया गया था, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के भी चार भाग किये गये। वस्तुत उनकी आश्रम-व्यवस्था का यही अर्थ भी है कि मनुष्य जीवन चार भागो मे विभक्त

---

१. शतपथ ६।१। १।३

२ ,, ५।२।१।६

३ ,, ३।४।१।१८

हो—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास। शतपथ ब्राह्मण मे भी यही लिखा है कि प्रत्येक बच्चे को ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रवेश कराना चाहिए, उसके बाद गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कराना चाहिये, तत्पश्चात् वानप्रस्थी और उसके बाद सन्यासी वन जाना चाहिए१ ब्राह्मण-काल में सत्य बोलने, सत्य-कर्म करने तथा माता-पिता, गुरुजनो और पूर्वजो की सेवा पर विशेष जोर दिया जाता था।

ज्ञान-गोष्ठिया—ब्राह्मणकाल मे राजाओ की सभा मे ज्ञान-गोष्ठिया हुआ करती थी। उनमे सब जातियो और देशो के विद्वान बुलाये जाते थे। राज्यसभा मे उनका सत्कार होता था। विद्वान अधिकारी न्याय करते थे और जीवन के सब काम नियम से किये जाते थे। उस काल का मत्र था—सत्य बोलो, कर्तव्य करो, वेदो का पढना मत छोडो, हितकारी बातो की उपेक्षा मत करो, पढाई मे आलस्य मत करो। माता पिता और गुरु को देव-तुल्य जानो, पूर्वजो के उत्तम कार्यो का अनुकरण करो।

वैदिक ऋषि और ब्राह्मणकालीन ऋषियो मे अधिक अन्तर नही था। वेद-कालीन ऋषि केश रखते थे। अपने शरीर को मध्यभाग तक खुला रखते थे। जैसाकि वैदिक ऋषि केशी और '**वातसना**' उपाधि से स्पष्ट है। वे अप्सराओ, गन्धर्वो और मृगो के पथ पर चलते थे।२ अर्थात् जगलो मे रहते थे। परन्तु ब्राह्मण-काल मे ऋषि लोग तपस्या के लिये हिमालय पर जाते थे और अपने पृथक् गण बनाकर भी रहते थे। इन गणो मे भी एक ऋषि समस्त गण का शिक्षक होता था। इन तपस्वियो का भोजन, वन मे प्राप्त होने वाले फल-फूल श्यामाक और नीवार होता था। ऐसे तपस्वियो के विषय मे ऐतरेय ब्राह्मण ३३/१५ मे लिखा है कि वह पुत्र नही चाहते थे। अर्थात् सन्तानोत्पादन नही करते थे। उपनिषदो मे भी उन्हे पुत्रैषणा से परे बताया है। वास्तव मे उस समय वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम म कोई भेद नही था। यह भेद 'सूत्रकाल' मे निश्चित किया गया। इससे पूर्व गृहस्थ आश्रम को छोडने वाले सभी लोग मुनि कहलाते थे। अत प्रारम्भिक युग मे वानप्रस्थी और सन्यासी दोनो को ही 'मुनि कोटि' मे रखा जा सकता है। उस समय ब्रह्मचारी और मुनि दोनो ही अजिन धारण करते थे।३ तपस्वियो के लिये फल-फूल का भोजन प्रशस्त और अन्न-भोजन निन्दित माना जाता था।

दक्षिण भारत मे रहने वाले मुनियो का वर्णन महाभारत और रामयाण दोनो मे किया गया है।४ वन में भ्रमण करते समय रामचन्द्रजी को असख्य मुनि मिले थे। इनके आश्रमो के वर्णनो मे ज्ञात होता है कि इनके आश्रम जलाशयो के निकट

---

१. 'ब्रह्मचर्याश्रम समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।' शतपथ ब्राह्मण

२. ऋग्वेद १०।१३६,

४. महाभारतशल्यपर्व २८।२५, महाभारत वनपर्व ६१।६२

वन के रमणीक स्थलो मे होते थे । आम भूमि के समीप ही समिधा, पुष्प और कुश होते थे । जहाँ रामचन्द्र जी ने अपना आश्रम बनाया था, वहाँ मनोरम वृक्ष और पुष्पो की बहुतायत थी । समीप ही रमणीय जलाशय था । थोडी दूर पर ही गोदावरी नदी थी । रामायण मे प्रयाग के सगम पर भारद्वाज का आश्रम, चित्रकूट मे वाल्मीकि ऋषियो के आश्रम, दण्डकारण्य मे अगस्त्य आदि महर्षियो के आश्रमो के प्रचुर वर्णन मिलते है ।१ इन आश्रमो मे ऋषियो द्वारा गाये रखने का वर्णन भी मिलता है । वशिष्ठ के पास भी नन्दिनी नामक गाय थी । रामायण-काल मे मुनियो के सघ भी होते थे । उदाहरणार्थ वालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप, अश्मकुट्ट, पात्राहार, तापस सलिलाहार वायुभक्षक, आकाशनिलय आदि ऋषियो के सघ ही थे ।

ब्राह्मण-कालीन समाज—ब्राह्मण कालीन समाज भी उपासना पर आधारित था । यह युग कर्मकाण्ड-प्रधान बन चुका था । शतपथ ब्राह्मण मे गृहस्थ लोगो के लिये पाच महायज्ञो का विधान बना । गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह नित्य इन यज्ञो का सम्पादन करे । इसी से स्वर्गलोक की प्राप्ति सभव मानी गयी । उस काल मे जनता समृद्धिशाली थी । एक अवसर पर पत्नी पति से पूछती है—'आपके लिए, दही दूध मे चलाये सत्तू लाऊँ या मधुपान ?'

इस युग मे जाति-विकास भी हो चुका था । जिसका कारण अनेक पेशो की सख्या मे वृद्धि था , जिसे व्यवस्थित जीवन के साथ देखा जाता है । इस युग मे रक्त-शुद्धि का प्रश्न आर्यों के मस्तिष्क मे प्रथम बार आया । परन्तु फिर भी तब जाति-प्रथा मे कठोरता नही आ पाई थी। यह ऋग्वेद की ढिलाई और सूत्रयुग की कडाई के मध्य की मिली-जुली जाति व्यवस्था थी । अत जाति-परिवर्तन का क्रम अब भी चलता था , किन्तु उसकी गति वेद-काल जैसी नही थी । ऋग्वेद मे विश्वमित्र को ऋषि कहा गया है , किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण मे क्षत्रिय ।

इस युग के जाति विकास की झलक ब्राह्मण ग्रथो से मिलती हैं । ब्राह्मण ग्रथो ने ब्राह्मणो को दान लेने वाला, सोमपायी, सदाश्रम या कार्यशाली तथा इच्छानुसार भ्रमण करने वाला कहा है ।२ 'वैश्य' को दूसरो को कर देने वाला और खेतीहर कहा है , जिसकी भूमि राजा अपनी इच्छा से छुडा सकता था । शूद्र को दूसरे का सेवक कहा गया है । इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धार्मिक जीवन मे तो स्वतत्र था , किन्तु सामाजिक जीवन मे क्षत्रिय राजा के अधिकार और न्याय का अनुवर्ती था । क्षत्रिय लोग, भूमि के स्वामी थे, और वैश्य कृषक । राजा अपनी विजय के उप-लक्ष्य मे क्षत्रियो को भूमि और दासो का वितरण करता था ।

कृषि—भारत के कृषि-विकास के चिन्ह 'अथर्ववेद' से अच्छे ज्ञात होते हैं। काठक सहिता (१५/२) मे चौवीस बैलो से एक एक हल को खीचने का वर्णन है। इनकी खड

१ वाल्मीकिरामायण अरण्यकाण्ड ।
२. ऐतरेय ब्राह्मण (७ २९)

वन के रमणीक स्थलों में होते थे । ग्राम भूमि के समीप ही समिधा, पुष्प और कुश होते थे। जहाँ रामचन्द्र जी ने अपना आश्रम बनाया था, वहाँ मनोरम वृक्ष और पुष्पों की बहुतायत थी। समीप ही रमणीय जलाशय था। थोडी दूर पर ही गोदावरी नदी थी। रामायण मे प्रयाग के सगम पर भारद्वाज का आश्रम, चित्रकूट मे वाल्मीकि ऋषियो के आश्रम, दण्डकारण्य मे अगस्त्य आदि महर्षियो के आश्रमो के प्रचुर वर्णन मिलते है।[1] इन आश्रमो मे ऋषियो द्वारा गाये रखने का वर्णन भी मिलता है। वशिष्ठ के पास भी नन्दिनी नामक गाय थी। रामायण-काल मे मुनियो के सघ भी होते थे। उदाहरणार्थ वालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप, अश्मकुट्ट, पात्राहार, तापस सलिलाहार वायुभक्षक, आकाशनिलय आदि ऋषियो के सघ ही थे।

ब्राह्मण-कालीन समाज—ब्राह्मण कालीन समाज भी उपासना पर आधारित था। यह युग कर्मकाण्ड-प्रधान बन चुका था। शतपथ ब्राह्मण मे गृहस्थ लोगो के लिये पाच महायज्ञो का विधान बना। गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह नित्य इन यज्ञो का सम्पादन करे। इसी से स्वर्गलोक की प्राप्ति सभव मानी गयी। उस काल मे जनता समृद्धिशाली थी। एक अवसर पर पत्नी पति से पूछती है—'आपके लिए, दही दूध मे चलाये सत्तू लाऊँ या मधुपान ?'

इस युग मे जाति-विकास भी हो चुका था। जिसका कारण अनेक पेशो की सख्या मे वृद्धि था, जिसे व्यवस्थित जीवन के साथ देखा जाता है। इस युग मे रक्त-शुद्धि का प्रश्न आर्यों के मस्तिष्क मे प्रथम बार आया। परन्तु फिर भी तब जाति-प्रथा मे कठोरता नही आ पाई थी। यह ऋग्वेद की ढिलाई और सूत्रयुग की कडाई के मध्य की मिली-जुली जाति व्यवस्था थी। अत जाति-परिवर्तन का क्रम अब भी चलता था, किन्तु उसकी गति वेद-काल जैसी नही थी। ऋग्वेद मे विश्वमित्र को ऋषि कहा गया है, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण मे क्षत्रिय।

इस युग के जाति विकास की झलक ब्राह्मण ग्रथो से मिलती हैं। ब्राह्मण ग्रथो ने ब्राह्मणो को दान लेने वाला, सोमपायी, सदाश्रम या कार्यशाली तथा इच्छानुसार भ्रमण करने वाला कहा है।[2] 'वैश्य' को दूसरो को कर देने वाला और खेतीहर कहा है, जिसकी भूमि राजा अपनी इच्छा से छुडा सकता था। शूद्र को दूसरे का सेवक कहा गया हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धार्मिक जीवन मे तो स्वतत्र था, किन्तु सामाजिक जीवन मे क्षत्रिय राजा के अधिकार और न्याय का अनुवर्ती था। क्षत्रिय लोग, भूमि के स्वामी थे, और वैश्य कृषक। राजा अपनी विजय के उपलक्ष्य मे क्षत्रियो को भूमि और दासो का वितरण करता था।

कृषि—भारत के कृषि-विकास के चिन्ह 'अथर्ववेद' से अच्छे ज्ञात होते हैं। काठक सहिता (१५/२) मे चौबीस बैलो से एक एक हल को खीचने का वर्णन है। इनकी खुड

१ वाल्मीकिरामायण अरण्यकाण्ड।

२ ऐतरेय ब्राह्मण (७-२९)

ग्रन्थो मे उन राजाओ के नाम भी दिये गये है, जो अपनी विजयो से इन राजनीतिक यज्ञो अधिकारी बने । ऐतरेय ब्राह्मण (८/२/३) और शतपथ ब्राह्मण (१३/५/४) में दो भरतवशी राजाओ की पृथ्वी विजय का यशोगान है । जैसे दौ पन्ति, जिसने सत्वन्त-जन को हराया और कुरु राष्ट्र में यष्णार स्थान आदि में अश्वमेघ यज्ञो द्वारा विजय प्राप्त की । इसी प्रकार दूसरा राजा सात्राजित शतानीक था । जिसने काशी जनपद के राजा को हराया । इतने पर भी राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नही था राजा राज्य-कार्य के लिए मन्त्री परिषद पर निर्भर था । 'सभा' और 'समिति' नामक जनता का सस्थाएँ राजा के निरकुश अधिकारो पर रोक लगाती थी ।

अथववेद मे राजा के पुन स्थापन सम्बन्धी मत्र भी है । एक मत्र मे राजा के राज्य से अपदस्थ होने पर, दूसरे क्षेत्र मे विचरने का भी उल्लेख है[१] और उसके अपनी प्रजा से पुन आदर प्राप्त करने के बाद स्वागत करने का भी उल्लेख है । इस प्रकार के कई उल्लेख अथर्ववेद में हैं जिनमें राजा शासन से च्युत किये गये और पुन. प्रतिष्ठित किये गये। पचविंश ब्राह्मण (१६/७/१-४) मे भी राड्यज्ञ नामक एक विशेष सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा पदच्युत राजा पुन. राज्य प्राप्त कर सकता था। ऐसे ही अपदस्थ राजा के कर्मकाण्ड का वर्णन वाजसनेयी सहिता में है । इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भी राजा को प्रजा पद-च्युत कर सकती थी । परन्तु उस समय भी राजा 'देवानाम् अर्वभाक्' अर्थात् देवताओ के समकक्ष कहा गया है। परन्तु जनश्रुति में राजा के दैवी अधिकार की कल्पना नही है, किन्तु अभिषेक के मत्रो में राजा में दैवीगुणो का अध्यारोप किया गया है । राज्यभिषेक के अवसर पर राजा शपथ लेता था—'जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इनके मध्य मे जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य हैं, जो लोक मे मेरा धर्म है, आयु और प्रज्ञाएँ हैं, वे सब नष्ट हो जाएँ, यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ ।"[२] इसके अनन्तर आसन्दी पर बैठकर ब्राह्मण घोषणा करता था—"हे जनता ! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा हैं, किन्तु हम ब्राह्मणो का राजा 'सोम' है ।[३] इससे सिद्ध होता है कि धर्म सम्राट् ब्राह्मण ही था और उसका पद राज धर्म से भी सर्वोच्च था । इसके पश्चात् ब्राह्मण पुरोहित घोषणा करता था—"तुम्हे यह राष्ट्र दिया जात है, कृषि के लिए, जनता के श्रेय के लिए, और सर्वविध पोषण और उन्नति के लिए ।" इससे स्पष्ट है कि राज्य राजा को सौपा जाता था और राजा के उस पर टिके रहने की कसौटी प्रजा की खुशहाली थी । इसके पश्चात् राजा की पीठ पर पर अध्वर्यु और उसके सहकारी प्रतीक रूप मे दण्ड स्पर्श करते थे । इससे यह प्रतीत होता है कि राजा स्वय दण्ड से अतीत रहते हुए उस दण्ड को धारण करता है, जो धर्म का रक्षक है । राजा धर्म का विधाता था, स्रोत नही । वह उसको

१ अथर्ववेद ३।६।
२ ऐतरेय ब्राह्मण ८/१५ ।
३ शतपथ ब्राह्मण ५/३/३/१२ ४/२/३ ।

ग्रन्थो मे उन राजाओ के नाम भी दिये गये है, जो अपनी विजयो से इन राजनीतिक यज्ञो अधिकारी बने । ऐतरेय ब्राह्मण (८/२/३) और शतपथ ब्राह्मण (१३/५/४) में दो भरतवशी राजाओ की पृथ्वी विजय का यशोगान है । जैसे दौ पन्ति, जिसने सत्वन्त-जन को हराया और कुरु राष्ट्र में यष्णार स्थान आदि में अश्वमेघ यज्ञो द्वारा विजय प्राप्त की । इसी प्रकार दूसरा राजा सात्राजित शतानीक था । जिसने काशी जनपद के राजा को हराया । इतने पर भी राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नही था राजा राज्यकार्य के लिए मत्री परिषद पर निर्भर था । 'सभा' और 'समिति' नामक जनता का सस्थाएँ राजा के निरकुश अधिकारो पर रोक लगाती थी ।

अथर्ववेद में राजा के पुन स्थापन सम्बन्धी मत्र भी है । एक मत्र मे राजा के राज्य से अपदस्थ होने पर, दूसरे क्षेत्र में विचरने का भी उल्लेख है[१] और उसके अपनी प्रजा से पुन. आदर प्राप्त करने के बाद स्वागत करने का भी उल्लेख है । इस प्रकार के कई उल्लेख अथर्ववेद में है जिनमें राजा शासन से च्युत किये गये और पुन. प्रतिष्ठित किये गये। पचविश ब्राह्मण (१९/७/१-४) में भी राड्यज्ञ नामक एक विशेष सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा पदच्युत राजा पुन राज्य प्राप्त कर सकता था । ऐसे ही अपदस्थ राजा के कर्मकाण्ड का वर्णन वाजसनेयी सहिता में है । इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भी राजा को प्रजा पद-च्युत कर सकती थी । परन्तु उस समय भी राजा 'देवानाम् अर्वभाक्' अर्थात् देवताओ के समकक्ष कहा गया है। परन्तु जनश्रुति में राजा के दैवी अधिकार की कल्पना नही है , किन्तु अभिषेक के मत्रो में राजा में दैवीगुणो का अध्यारोप किया गया है । राज्यभिषेक के अवसर पर राजा शपथ लेता था—' जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इनके मध्य मे जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य है, जो लोक में मेरा धर्म है, आयु और प्रज्ञाएँ हैं, वे सब नष्ट हो जाएँ , यदि मैं तुझसे द्रोह करूँ ।"[२] इसके अनन्तर आसन्दी पर बैठकर ब्राह्मण घोषणा करता था--"हे जनता ! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा हैं , किन्तु हम ब्राह्मणो का राजा 'सोम' है ।[३] इससे सिद्ध होता है कि धर्म सम्राट् ब्राह्मण ही था और उसका पद राज धर्म से भी सर्वोच्च था । इसके पश्चात् ब्राह्मण पुरोहित घोषणा करता था—"तुम्हे यह राष्ट्र दिया जात है, कृषि के लिए, जनता के श्रेय के लिए, और सर्वविध पोषण और उन्नति के लिए ।" इससे स्पष्ट है कि राज्य राजा को सौंपा जाता था और राजा के उस पर टिके रहने की कसौटी प्रजा की खुशहाली थी । इसके पश्चात् राजा की पीठ पर पर अध्वर्यु और उसके सहकारी प्रतीक रूप में दण्ड स्पर्श करते थे । इससे यह प्रतीत होता है कि राजा स्वय दण्ड से अतीत रहते हुए उस दण्ड को धारण करता है, जो धर्म का रक्षक है । राजा धर्म का विधाता था, स्रोत नही । वह उसको

१ अथर्ववेद ३।६।
२ ऐतरेय ब्राह्मण ८/१५ ।
३ शतपथ ब्राह्मण ५/३/३/१२ ४/२/३ ।

धारण कराने वाला था। उस समय राजा के मन्त्रियो को 'रत्निम्' कहा जाता था। इनके अतिरिक्त शासन-सचालन के लिये दो सभाएँ होती थी, जिनमे वाद-विवाद होता था। यह भावी प्रजातन्त्र की समदो का रूप थी।

शिक्षा-प्रणाली—ब्राह्मणकालीन शिक्षा-प्रणाली वैदिक शिक्षा-प्रणाली से अधिक भिन्न थी। 'कौशीतकी' ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत मे शिक्षा गुरुओ के घरो पर भी होती थी और गुरुद्वारो मे भी होती थी। ब्रह्मचर्य-प्रणाली का सबसे पहले उपदेश अथर्ववेद मे आया है। इसमे सबसे पहिले उपनयन सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को नये जीवन मे शिक्षित करता था। जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। अत इस काल मे भी विद्यार्थी तपस्वी था और अपने तप से ही आचार्य को प्रसन्न करता था। विद्यार्थियो की आचार सहिता आचार्यों द्वारा बनाई जाती थी। जो अत्यन्त कठोर होती थी। आचार्य स्वय भी कठोर जीवन व्यतीत करता था। इसीलिए ही वह पितृ पद पर प्रतिष्ठित हुआ। ऋग्वेद मे आचार्यो को अग्नि प्रचेता (विशेष ज्ञानी) विश्ववेदा (सर्वज्ञ) जातवेदा (जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसे जानने वाला), धियावसु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यमन्मा (सत्य को जानने वाला), विश्वानि वयुनानि विद्वान् (विविध विद्याओ को जानने वाला), धीना यन्ता (बुद्धि को प्रगति देने वाला) आदि विशेषणो से विभूषित किया गया है। लगभग यही मान्यता आचार्यों को ब्राह्मण-काल मे मिली थी। ऋग्वेद के अनुसार सद्विचार वाले धीर कवि, जो मन लगाकर देवताओ की आराधना करते थे, ब्रह्मचारी को ऊचा उठाकर उसे श्रेष्ठ बना देते थे*।

शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है, विद्यार्थी आचार्य की गौए चराता था। निर्धन होने पर भिक्षा-यापन करता था।

अध्ययन के विषय—ब्राह्मण-काल मे विद्यार्थियो को विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। जिनमे से मुख्य थे—वेद, इतिहास, व्याकरण, श्राद्ध आदि क्रियाओ से सम्बन्धित विषय, राशि, अर्थात् अक विद्या, दैव या निमित्ति शास्त्र, खनिज विद्या, तर्क-शास्त्र, नीति शास्त्र, देव-विद्या जिसका अर्थ निरुक्त या देवार्चन-विधि किया जाता है, ब्रम्ह-विद्या, प्राणी-शास्त्र, शस्त्र-विद्या, ज्योतिष-शास्त्र, विष-चिकित्सा, नृत्य-गीत, वाद्य, गवयुक्ति और अन्य शिल्पादि विज्ञान। अथर्ववेद के जिन मत्रो मे ज्वर का वर्णन है, वहा मूल्यवान चिकित्सा सामग्री भी पाई जाती है।

आरम्भ मे मूल वैदिक-मत्रो की रक्षा और प्रचार देश के विभिन्न भागो मे फैले हुए कुलो और गोत्रो मे हुआ। कालान्तर मे अन्य सस्थाओ का विकास हुआ। यह सस्थाए चरण कहलायी, जिनमे वेद की एक-एक शाखा के अध्ययन करने वाले विद्वान् एकत्रित होते थे। ऋग्वेद सहिता का अध्ययन कई शाखाओ के रूप मे होता था और चरणो मे ब्राह्मण ग्रन्थ भी अलग-अलग पढाये जाते थे। परन्तु पाठ परम्परा को सुरक्षित रखने का चरणो मे विशेष ध्यान दिया जाता था। ऐतरेय और शतपथ

*ऋग्वेद ३/८/४,

ग्रन्थो मे उन राजाओ के नाम भी दिये गये हैं, जो अपनी विजयो से इन राजनीतिक यज्ञो अधिकारी बने । ऐतरेय ब्राह्मण (८/२/३) और शतपथ ब्राह्मण (१३/५/४) में दो भरतवशी राजाओ की पृथ्वी विजय का यशोगान है । जैसे दौ पन्ति, जिसने सत्वन्त-जन को हराया और कुरु राष्ट्र में यष्णार स्थान आदि में अश्वमेघ यज्ञो द्वारा विजय प्राप्त की । इसी प्रकार दूसरा राजा सात्राजित शतानीक था । जिसने काशी जनपद के राजा को हराया । इतने पर भी राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नही था राजा राज्य-कार्य के लिए मत्री परिषद पर निर्भर था । 'सभा' और 'समिति' नामक जनता का सस्थाएँ राजा के निरकुश अधिकारो पर रोक लगाती थी ।

अथववेद में राजा के पुन स्थापन सम्बन्धी मत्र भी हैं । एक मत्र मे राजा के राज्य से अपदस्थ होने पर, दूसरे क्षेत्र मे विचरने का भी उल्लेख है।[१] और उसके अपनी प्रजा से पुन आदर प्राप्त करने के बाद स्वागत करने का भी उल्लेख है । इस प्रकार के कई उल्लेख अथर्ववेद में है जिनमे राजा शासन से च्युत किये गये और पुन. प्रतिष्ठित किये गये । पचविंश ब्राह्मण (१६/७/१-४) मे भी राड्यज्ञ नामक एक विशेष सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा पदच्युत राजा पुन राज्य प्राप्त कर सकता था । ऐसे ही अपदस्थ राजा के कर्मकाण्ड का वर्णन वाजसनेयी सहिता में है । इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय भी राजा को प्रजा पद-च्युत कर सकती थी । परन्तु उस समय भी राजा 'देवानाम् अर्धभाक्' अर्थात् देवताओ के समकक्ष कहा गया है । परन्तु जनश्रुति में राजा के दैवी अधिकार की कल्पना नही है, किन्तु अभिषेक के मत्रो में राजा मे दैवीगुणो का अध्यारोप किया गया है । राज्यभिषेक के अवसर पर राजा शपथ लेता था—' जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इनके मध्य में जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य हैं, जो लोक में मेरा धर्म है, आयु और प्रज्ञाएँ हैं, वे सब नष्ट हो जाएँ, यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ ।"[२] इसके अनन्तर आसन्दी पर बैठकर ब्राह्मण घोषणा करता था—"हे जनता ! अमुक व्यक्ति तुम्हारा राजा हैं, किन्तु हम ब्राह्मणो का राजा 'सोम' है ।[३] इससे सिद्ध होता है कि धर्म सम्राट् ब्राह्मण ही था और उसका पद राज धर्म से भी सर्वोच्च था । इसके पश्चात् ब्राह्मण पुरोहित घोषणा करता था—"तुम्हे यह राष्ट्र दिया जात है, कृषि के लिए, जनता के श्रेय के लिए, और सर्वविध पोषण और उन्नति के लिए ।" इससे स्पष्ट है कि राज्य राजा को सौपा जाता था और राजा के उस पर टिके रहने की कसौटी प्रजा की खुशहाली थी । इसके पश्चात् राजा की पीठ पर पर अध्वर्यु और उसके सहकारी प्रतीक रूप में दण्ड स्पर्श करते थे । इससे यह प्रतीत होता है कि राजा स्वय दण्ड से अतीत रहते हुए उस दण्ड को धारण करता है, जो धर्म का रक्षक है । राजा धर्म का विधाता था, स्रोत नही । वह उसको

१ अथर्ववेद ३।६।
२ ऐतरेय ब्राह्मण ८/१५ ।
३ शतपथ ब्राह्मण ५/३/३/१२ ४/२/३ ।

धारण कराने वाला था। उस समय राजा के मन्त्रियो को 'रत्निम्' कहा जाता था। इनके अतिरिक्त शासन-सचालन के लिये दो सभाएँ होती थी, जिनमे वाद-विवाद होता था। यह भावी प्रजातन्त्र की ससदो का रूप थी।

शिक्षा-प्रणाली--ब्राह्मणकालीन शिक्षा-प्रणाली वैदिक शिक्षा-प्रणाली से अधिक भिन्न थी। 'कौशीतकी' ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उत्तर भारत मे शिक्षा गुरुश्रो के घरो पर भी होती थी और गुरुद्वारो में भी होती थो। ब्रह्मचर्य-प्रणाली का सबमे पहले उपदेश अथर्ववेद मे आया है। इसमे सबसे पहिले उपनयन सस्कार का उल्लेख है, जिसके द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को नये जीवन मे शिक्षित करता था। जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके है। अत इस काल मे भी विद्यार्थी तपस्वी था और अपने तप से ही आचार्य को प्रसन्न करता था। विद्यार्थियो की आचार सहिता आचार्यों द्वारा बनाई जाती थी। जो अत्यन्त कठोर होती थी। आचार्य स्वय भी कठोर जीवन व्यतीत करता था। इसीलिए ही वह पितृ पद पर प्रतिष्ठित हुआ। ऋग्वेद मे आचार्यो को अग्नि प्रचेता (विशेष ज्ञानी) विश्ववेदा (सर्वज्ञ) जातवेदा (जो कुछ उत्पन्न हुआ है उसे जानने वाला), वियावसु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यमन्मा (सत्य को जानने वाला), विश्वानि वयुनानि विद्वान् (विविध विद्याओ को जानने वाला), धीना यन्ता (बुद्धि को प्रगति देने वाला) आदि विशेषणो से विभूषित किया गया है। लगभग यही मान्यता आचार्यो को ब्राह्मण-काल मे मिली थी। ऋग्वेद के अनुसार सद्विचार वाले धीर कवि, जो मन लगाकर देवताओ की आराधना करते थे, ब्रह्मचारी को ऊचा उठाकर उसे श्रेष्ठ बना देते थे*।

शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है, विद्यार्थी आचार्य की गौए चराता था। निर्धन होने पर भिक्षा-यापन करता था।

अध्ययन के विषय—ब्राह्मण-काल मे विद्यार्थियो को विभिन्न विषयो की शिक्षा दी जाती थी। जिनमे से मुख्य थे—वेद, इतिहास, व्याकरण, श्राद्ध आदि क्रियाओ से सम्बन्धित विषय, राशि, अर्थात् अक-विद्या, दैव या निमित्ति शास्त्र, खनिज विद्या, तर्क-शास्त्र, नीति शास्त्र, देव-विद्या जिसका अर्थ निरुक्त या देवार्चन-विधि किया जाता है, ब्रम्ह-विद्या, प्राणी-शास्त्र, शस्त्र-विद्या, ज्योतिष-शास्त्र, विष-चिकित्सा, नृत्य-गीत, वाद्य, गधयुक्ति और अन्य शिल्पादि विज्ञान। अथर्ववेद के जिन मत्रो मे ज्वर का वर्णन है, वहा मूल्यवान चिकित्सा सामग्री भी पाई जाती है।

आरम्भ मे मूल वैदिक-मत्रो की रक्षा और प्रचार देश के विभिन्न भागो मे फैले हुए कुलो और गोत्रो मे हुआ। कालान्तर मे अन्य सस्थाओ का विकास हुआ। यह सस्थाए चरण कहलायी, जिनमे वेद की एक-एक शाखा के अध्ययन करने वाले विद्वान् एकत्रित होते थे। ऋग्वेद सहिता का अध्ययन कई शाखाओ के रूप मे होता था और चरणो मे ब्राह्मण ग्रन्थ भी अलग-अलग पढाये जाते थे। परन्तु पाठ परम्परा को सुरक्षित रखने का चरणो मे विशेष ध्यान दिया जाता था। ऐतरेय और शतपथ

*ऋग्वेद ३/८/४,

ब्राह्मणो के आरण्यको मे घोष, ऊष्मा, व्यजन, दन्त्य, दन्त्यनकार और मूर्धन्य णकार एव श, ष, स और सन्धि के नियमो का उल्लेख भी पाया जाता है । उपनिषदो मे शिक्षा का ज्ञान और भी विकसित हुआ । वहा स्वरो की मात्रा, वल (स्वर) साम और सन्तान इनका भी उल्लेख हुआ ।१

तार्किक-पद्धिति—ब्राह्मण-काल मे शिक्षा के क्षेत्र मे प्रथम वार तार्किक पद्धति की प्रगति के दर्शन होते हैं । वैदिक ग्रन्थो की व्याख्या का अर्थ-विकास सवाद पर आश्रित था जिसमे तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार प्रश्निन् (प्रश्नकर्ता), अभिप्रश्निन् (प्रति प्रश्नकर्ता) और प्रश्नविवाक् (उत्तरदाता) भाग लेते थे । अथर्ववेद मे प्रावाचिक का भी उल्लेख है, जो निर्वचन का द्योतक और निरुक्त का जन्मदाता माना जा सकता है । ब्राह्मण-काल मे, शुद्ध वेदपाठ न करने वालो को 'ठूठ' कहा जाता था ।

यज्ञ-विद्या सम्बन्धी जो व्याख्यान ब्राह्मण साहित्य मे मिलते है, उनसे ज्ञात होता है कि आचार्यो के व्याख्यानो मे प्रक्रिया सम्बन्धी विस्तार होते थे और उन प्रक्रियाओ के रहस्यो और प्रभावो का सोदाहरण विवेचन किया जाता था२ । धीरे-धीरे ज्ञान की गरिमा वढी और वैदिक विषयो का अध्ययन मौखिक उच्चारण किये विना ही करने का विधान वना । गावो से वाहर अरण्यो मे उन विषयो का अध्ययन वाचा अर्थात् वाणी से वोलकर करने की पद्धति चली ।३ उस समय ज्ञान-वृद्धि के लिये विद्यार्थी विभिन्न प्रान्त के विद्वानो से विवाद करते थे । परास्त होने पर वे कभी-कभी विजयी विद्वा् को गुरु मानकर उससे विद्या सीखते थे । वस्तुत इन विवादो का मूल स्थान ऋग्वेद ही है । ऋग्वेद के अनुसार दार्शनिक शिक्षण की एक पद्धति थी । विद्वानो की परिषद मे जिज्ञासु विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रकट करते थे—"हम पाक (न जानने वाले) है । इस विषय मे कुछ न जानते हुए हम पूछ रहे हैं । इस विषय को जो जानता हो, वह उत्तर दे ।"४ इस समय के विवाद ज्ञान की वृद्धि के लिये होते थे, इनमे हठधर्मी नही होती थी । शतपथ ब्राह्मण ११।४।१।१।६ मे याज्ञवल्क्य का कुरु-पाचालो के साथ विवाद का उल्लेख है । कुरु पाचाल के उद्दालक आरुणि उत्तर मे जाकर, वहा के उदोच्य विद्वानो को शास्त्रार्थ के लिये ललकारते हैं, परन्तु फिर उनके प्रमुख शौनक के सामने नतमस्तक हो जाते है । पश्चात् मद्रदेश मे जाकर वहा के प्रसिद्ध दार्शनिक पतचलकाप्य से उपदेश ग्रहण करते है ।

ब्राह्मणकालीन नारी समाज—ब्राह्मणकाल मे नारी-शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था । स्त्रियाँ पर्दा नही करती थी । समाज मे वह प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखी जाती थी । वे पैतृक-सम्पत्ति की मालिक होती थी । योद्धा लोग भी उनका आदर करते थे ।

---

१ तै०उ० १।१।२ ।

२ शतपथ ब्राह्मण ११।४।१।१०।१२ ।

३ तै० आ० २।११।१२-१५ ।

४ ऋग्वेद १।१६४।४—७

यज्ञादि कार्य उनके बिना नही हो सकते थे। वह बडी-बडी सभाओ मे जाती थी। वहाँ वह शास्त्रार्थो मे भी भाग लेती थी। राजनीति और शासन मे भी वह भागीदार थी।

बाल-विवाह की चर्चा इस युग मे नही पाई जाती। अपितु बहुपत्नीत्व प्रथा थी जो राजाओ और बडे-बडे लोगो मे थी। 'ऐतरेय ब्राह्मण' से ज्ञात होता है कि दो या चार पीढी तक आत्मीय सम्बन्धियो मे विवाह करने की मनाही थी। लिखा है—'भोगने वाले' पति 'भोगने वाली' 'पत्नी'—दोनो एक ही मनुष्य से उत्पन्न होते है, क्योंकि सम्बन्धी यह कहते हुए प्रसन्नतापूर्वक एकत्र होते हैं कि तीसरी या चौथी पीढी मे हम लोग फिर सम्मिलित होंगे।

ब्राह्मण काल मे आकर हमे पुरुषो द्वारा बहु पत्नीवादी होने का प्रमाण मिलता है। तैत्तिरीय मे राजा के १२ रानियो की जो सख्या भी दी गई है, इसमे उसकी तीन रानियो को भी रानियो की श्रेणी मे दिखाया गया है। उदाहरणार्थ महिषी (पटरानी), वावाता (प्रिय रानी), परिवृक्ति (निराकृत पत्नी)।

नागरिक-व्यवस्था—ब्राह्मणकालीन नगर चहारदीवारी से घिरे रहते थे। प्रत्येक नगर मे न्यायाधीश, नगर रक्षक और दण्डाधिकारी होते थे। गाव उन्नत थे। खेती की उन्नति पर ध्यान दिया जाता था। राज्याधिकारी का काम केवल कर उगाहना और किसानो का हित देखना था।

अयोध्या, मिथिला, काम्पिल्य, हस्तिनापुर—प्रधान नगर थे। इन नगरो के बीचो-बीच राज्यप्रसाद थे। इनके गगनभेदी राजप्रसादो पर सुनहरे कलश रखे हुए होते थे। सडके चौडी और साफ होती थी। इन नगरो मे अतिथि सत्कार का बडा महत्त्व था। उस समय के नागरिक की सम्पत्ति सोना, चादी, जवाहरात, गाडी घोडा, खच्चर, दास आदि पदार्थ थे।

ज्योतिष ज्ञान—ब्राह्मणकाल मे वर्ष १२ चान्द्रमासो मे बटा हुआ था। चान्द्र-काल को सौर्य काल से मिलाने के लिये १३ वा मास जोडा जाता था। वर्ष की छै ऋतुओ के नाम मधु, माधव, सुक्र, सुचि, नभ और नभस्य थे। उनका सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देवताओ से था। नक्षत्र के हिसाब से चन्द्रमा की स्थिति का ज्ञान होता था। नक्षत्रो और राशिचक्रो का अतिम रूप निश्चित हो चुका था। ज्योतिषी नक्षत्र-दर्श और गणक कहाते थे। कृष्ण यजुर्वेद मे २८ नक्षत्रो के नाम हैं। इसके बाद के नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण मे है। सत्र और यज्ञ नक्षत्र गणना से होते थे। इसी काल मे चन्द्र-राशि चक्र को स्थिर करके बडी-बडी घटनाओ की तिथि नियत करने के लिये अयनान्त जानकर वर्ष को महीनो मे बाटा गया और प्रत्येक महीने का नाम उस नक्षत्र के हिसाब से रखा गया जिस नक्षत्र मे उस मास का पूर्ण चन्द्र होता था।

उपनिषद् तथा दर्शनकालीन भारत

(१५०० ई० पू० से ३२० ई० पू० तक)

महाभारत-युद्ध के पश्चात् भारत की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। इस युद्ध मे हजारो वैज्ञानिको के मारे जाने के कारण विज्ञान भी समाप्त प्राय हो गया और भारत-भूमि वीर-शून्य हो गई। महाभारत-काल मे पृथ्वी पर छोटे-बडे चार हजार राज्य थे१। यह सब हस्तिनापुर के चक्रवर्ती सम्राट् के आधीन थे। युद्ध के पश्चात् कुछ का अन्त हुआ, कुछ स्वतन्त्र हो गए और ब्राह्मणो का राज्याश्रय समाप्त हो गया। फलत: ब्राह्मणो को भी अपनी जीविका की चिन्ता पडी। ब्राह्मणो की यह दशा महाभारत युद्ध से लगभग २५० वर्ष बाद होनी प्रारम्भ हुई थी, अत उपनिषद्-काल का समय ई०पू० १५०० हजार वर्ष के लगभग ही माना जा सकता है। और इसी के पश्चात् दर्शन-काल का प्रारम्भ हो जाता है। इन दोनो मे अधिक अन्तर नही, विचारधारा दोनो की लगभग समान ही है। परन्तु विश्व-कल्याण की भावना भारतीय मनीषियो की एक प्रमुख विशेपता रही है। ऋक्० काल मे जहाँ आर्य ऋषि विश्व-कल्याणार्थ यज्ञ करता था, वहाँ उपनिषद्-काल मे भी उसने 'सुख' को केवलमात्र अपने लिए न मानकर, विश्व भर के लिये माना है। छान्दोग्योपनिषद मे 'सुख' की कल्पना "भूमैव सुखम्" अर्थात् वाहुल्य ही सुख मान कर की गई है। भूमा को आत्मसात् करने के लिये 'भू भुव· स्व·' को अपने 'सुख-भोग' की परिधि मे रखा गया। प्रात साय गायत्री मत्र के पाठ के समय मनुष्य को ज्ञात हो सकता था कि वह मात्र अपने शरीर, परिवार, नगर अथवा राष्ट्र के दायरे तक ही सीमित नही है, अपितु उसका क्षेत्र नि सीम है। भू (पृथ्वी), भुव (वायु-लोक)और स्व (आकाश-मण्डल) उसकी सचरणशीलता की परिधिमे हैं। सूत्रकाल मे जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्वपूर्ण शब्द था। वस्तुत. भारतीय इतिहास मे युग-विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण जनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदो मे बटा हुआ था। उनकी विस्तृत सूचिया 'भुवनकोश' के नाम से लिपिवद्ध करली गई हैं जो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों मे सुरक्षित हैं। यूनानी पुर राज्यो के समान ही यहाँ जनपदो का विस्तार था। काशिकाकार ने सारे देश मे गाँवो के समुदाय को जनपद कहा है—'ग्रामसमुदायो जनपद।' वस्तुत इसमे नगर और गाव दोनो शामिल थे। उस समय पैशाची भाषा का क्षेत्र दरद जनपद, ब्रज वोली का शूरसेन जनपद, अवधी या कोसली भाषा का क्षेत्र कौसल जनपद, मागधी का मगध जनपद था।

---

१ महाभारत आदि पूर्व अ० ८१। २. शकर दिग्विजय ८६।

२ अथर्व० १२।१।५३।

उपनिषद् साहित्य—यह विशाल ग्रन्थ भी ब्राह्मण ग्रथो के भाग ही हैं । उनमे ज्ञान-गरिमा का जैसा उत्कर्ष दिखाया गया है, उसी से वह जगदादरणीय बने हैं। इनकी सख्या १२३ से २३५ तक मानी गई है । इनमे जगदुत्पत्ति, जीवात्मा और परमात्मा पर विचार किया गया है । इन पर वैदिक धर्म की गुण-गरिमा विशेषत अवलम्बित है। इसीलिये यह वेदान्त ग्रथ कहलाते है। मैक्समूलर ने लिखा है—"मानव मस्तिष्क का यह एक चमत्कारिक फल हैं। इनसे विश्व साहित्य को अत्यन्त गरिमा प्राप्त हो सकती है।"

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, यह प्रधान उपनिषद् हैं। इसके अतिरिक्त कोशीतकी आदि श्वेताश्वतर की भी प्रधानता है । उपनिषदो मे साम्प्रदायिक मत सकीर्णता का अभाव है । यही इनकी विशेषता है। ऋग्वेद के उपनिषद् उसके ब्राह्मणो के नामानुसार ऐतरेय और कौशीतकी कहलाते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के प्रधान उपनिषद् तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी हैं और शुक्ल यजुर्वेद के ईश और वृहदारण्यक। छोन्दोग्य उपनिषद् सामवेद का है । अथर्ववेद के उपनिषद् तो अनेक हैं, परन्तु प्रधानता मुण्डक को ही प्राप्त हुई हं।

उपनिषद् गद्य-ग्रन्थ हैं, परन्तु कही-कही इनमे पद्य भी पाया जाता है । कुछ उपनिषद् पद्यमय भी हैं। प्राचीन उपनिषदो का समय ब्राह्मण समकालीन हो सकता है । इनमे कितनी ही गाथाएँ और गुरु-शिष्य सम्वाद भी हैं। कठोपनिषद् मे यम ने नचिकेता को बहुत से ज्ञानोपदेश दिये हैं। छान्दोग्य उपनिषद् मे उद्दालक ने अपने पुत्र—श्वेतकेतु को ज्ञान सिखाया है । श्वेताश्वेतरोपनिषद् मे साख्याचार्य कपिल ऋषि का नाम आ गया है। शकराचार्य ने इसकी बहुत बडी टीका की है। जिसमे उन्होने साख्य-वेदान्त का मतभेद मिटाने की पर्याप्त चेष्टा की है । वेदान्त के तीन प्रधान भेद है—अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत। अद्वैत मे ईश्वर, जीव और प्रकृति एक मानी गई है । यह तीनो ही ईश्वर को मानते है । परन्तु साख्य मे द्वैतवाद का प्रवाह भीषण रूप से चल पडा। वह ईश्वर को असिद्ध ही समझता है। यह मानना पडता है कि उपनिषद्-कर्त्ता भी अत्यन्त चिन्तनशील थे। उन्होने परमार्थ चिन्तन मे प्रगाढ परिश्रम भी किया था। वे जगत् के मूल और जगत् के वास्तविक कारण स्वरूप मे जो सकेत यत्र-तत्र दे गये हं, वह अत्यन्त परिमार्जित बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी साधारण मुँह से नहीं निकल सकते थे । उपनिषदो के मत से परमात्मा की उपासना अथवा उसका ज्ञान प्राप्त करने पर ही मुक्ति सम्भव मानी गई है।

परमार्थतत्व का अनुसन्धान ही भारतवर्षीय दर्शन-शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। जगत् का कारण, निरूपण, मनुष्य की मुक्ति या पारलौकिक सद्गति-साधन का उपाय खोज निकालने के लिये ही दर्शनो की रचना हुई। दर्शन छै है—साख्य, योग, वैशेषिक, पूर्व मीमामा और उत्तम मीमामा। इनके कर्ता कपिल, पतजलि, गौतम, कणाद, जैमिनी और व्यास हं।

सांख्य दर्शन—महर्षि कपिल इसके निर्माता है, पातंजल-दर्शन—पतंजलि ने इस दर्शन की रचना की है। वैशेषिक-दर्शन—इसके प्रणेता कणाद ऋषि है। न्याय-दर्शन—इसके प्रणेता गौत्तम ऋषि है। मीमासा-दर्शन—इसके प्रणेता जैमिनी है। वेदान्त दर्शन अवशिष्ट प्रधान दर्शन का नाम वेदान्त दर्शन है।

उपनिषद्-काल—उपनिषद् युग मे, वैदिक-सहिताओ, वेदागो और याज्ञिक विधाओ का अध्यन प्रचलित तो रहा, किन्तु महत्व 'पराविद्या' को दिया गया। पराविद्या वह ब्रह्मविद्या है, जिसका विकास उपनिषदो मे मिलता है। सम्भव है वैदिक-काल के आरम्भ से ही, यह पराविद्या किसी न किसी रूप मे सदा रही हो, परन्तु इसका विकसित रूप हमे उपनिषदो मे ही मिलता है। ब्रह्मविद्या सीखने के लिये वही विद्यार्थी योग्य माने जाते, जो पहिले ही वेद-वेदाग आदि मे निष्णात होते थे। इस विद्या के आचार्यों की भी कमी थी और यह सर्वसाधारण के लिये कभी उपयोगी नही मानी गयी। इसका प्रमाण स्वय उपनिषद् ही हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार प्रजापति ने इन्द्र और वैरोचन की परीक्षा लेकर, वैरोचन को ब्रह्मज्ञान का पात्र न समझा और इन्द्र को भी इसके लिये सौ वर्ष तक तपस्या करनी पडी थी। 'कठोपनिशद्' मे लिखा है—यम ब्रह्मविद्या के सर्वोच्च आचार्य थे। उन्होने नाचिकेता की परीक्षा लेकर, उसे ब्रह्मविद्या सिखाई और कहा कि यह विद्या सुविज्ञेय नही है—अणु है।

अस्तु, छान्दोग्य उपनिषद् मे उस काल के विषयो की सूची इस प्रकार मिलती है—चारो वेद, इतिहास-पुराण, वेदो का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध-यज्ञ), राशि गणित, दैव (भौतिक-विज्ञान), निधि (काल-ज्ञान), वाको-वाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूत-विद्या, क्षेत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्पविद्या और देव-जन विद्या (शिल्प तथा कलाये)। इसी उपनिषद् मे आगे चलकर कहा गया है कि विज्ञान द्वारा इन विषयो का गहन अध्ययन होता है। केवल इन्ही विषयो का नही, अपितु स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, तेज, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतग, वनस्पति, अन्न-रस, लोक-परलोक सबको विज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। इससे सिद्ध है कि उस काल मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही ज्ञान का माध्यम बन चुका था। उपनिषद काल मे शिक्षा का कार्य ब्राह्मणो के हाथ मे निकल कर क्षत्रियो राजाओ के हाथो मे शनै-शनै: जा रहा था। इन क्षत्रिय राजाओ मे काशीराज अजातशत्रु, विदेह के राजा जनक ब्रह्म-विद्या मे निष्णात थे। यह याज्ञवल्क्य के शिष्य थे। इन्होने गुरु दक्षिणा मे याज्ञवल्क्य को १ हजार गाये दी थी।

उपनिषदो के ऋषियो ने एक दूसरी ही प्रणाली का अनुकरण किया। उन्होने विलुप्त हुए ज्ञान को ध्यान-समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया और उन्होंने प्राचीन मत्रो के मूलग्रन्थ (मूल वेद) को अपने निजी अन्तर्ज्ञान तथा अनुभवो के लिये प्रमाण रूप से प्रयुक्त किया। अथवा यूं कहे कि वेद-वचन उनके विचार और दर्शन के लिये एक बीज था, जिससे कि उन्होने पुरातन सत्यो को नवीन रूपो से पुनरुज्जीवित किया। जो कुछ उन्होने पाया, उसे

उन्होने ऐसी दूसरी परिभाषाओ मे व्यक्त कर दिया, जो उस युग के लिए, जिसमे कि वह रहते थे, अपेक्षाकृत अधिक समझ मे आने योग्य थे। परन्तु वे शाब्दिक सत्य की अपेक्षा एक उच्चतर सत्य के अन्वेषक थे और प्रयोग केवल उस प्रकाश के सकेत के लिए करते थे, जिसकी ओर जाने का वह प्रयत्न कर रहे थे। वे शब्दो की व्युत्पत्ति से बने अर्थो को या तो जानते ही नही थे या उनकी उपेक्षा कर देते थे और बहुधा वे शब्द की घटक अक्षर ध्वनियो को लेकर प्रतीकात्मक व्याख्या करने की सरणि का ही प्रयोग करते थे। जिससे कि उन्हे समझना ही बडा कठिन हो जाता था। इसी कारण उपनिषद् जहाँ अमूल्य वस्तु है, उस प्रकाश के लिये जो कि वे प्रधान विचारो पर तथा प्राचीन ऋषियो की आध्यात्मिक पद्धति पर प्रकाश डालते है, वहा वे जिन वेद मत्रो को उद्धृत करते है, उनके यथार्थ आशय निश्चित करने मे हमारे लिए उतने ही कम सहायक है। वस्तुत उनका वास्तविक कार्य वेदान्त की स्थापना करना था, न कि वेद की व्याख्या करना। इस महान् आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि विचार और आध्यात्मिकता की एक नवीन तथा अपेक्षाकृत अधिक स्थिर शक्तिशाली स्थापना वेद का वेदान्त मे परिसमाप्ति। इसके अन्दर ऐसी दो प्रबल प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी, जिन्होने पुरातन वैदिक विचार तथा सस्कृति की परिपाटी को भग करने की दिशा मे कार्य किया। प्रथम यह कि इसकी प्रवृत्ति बाह्य कर्मकाण्ड को अधिकाधिक विकसित करने की थी, मत्र और यज्ञ की भौतिक उपयोगिता को कम करके उसके स्थान पर अधिक विशुद्ध आध्यात्मिक लक्ष्य और अभिप्राय देने की थी। प्राचीन रहस्यवादियो ने बाह्य और आभ्यन्तर, भौतिक और आत्मिक जीवन मे जो सतुलन और समन्वय कर रखा था उसे अस्त-व्यस्त कर दिया और एक नवीन सतुलन और समन्वय स्थापित किया गया जो अन्ततोगत्वा सन्यास और त्याग की ओर झुक गया और उसने अपने आपको तब तक कायम रखा, जब तक कि बौद्धो ने उसे चोटें देनी शुरू न की।

यज्ञ, प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड अधिकाधिक निरर्थक और आधारभूत हो गया और वेद तथा वेदान्त के बीच एक तीव्र व्यावहारिक मतभेद अस्तित्व मे आया। अन्तत इसका परिणाम यह निकला की वेद पुरोहितो के लिये रह गया और वेदान्त सन्यासियो के पास चला गया। वेदो की शिक्षा को अनिवार्य आधार के रूप मे क्रमश कम वरते जाने के कारण अब वे वैसे उत्साह और बुद्धि चातुर्य के साथ पढे जाने बन्द हो गये, उनकी प्रतीकमय भाषा के प्रयोग मे न आने से, नयी सतति ने अपने आन्तरिक आशय के अवशेषो को भी खो दिया। दिव्य अन्तर्ज्ञान के युग बीत रहे थे और उनके स्थान पर तर्क के युग की प्रथम उषा का आविर्भाव हुआ। अन्त मे बौद्ध-धर्म ने इस क्राति को पूर्ण किया और प्राचीन युग की बाह्य परिपाटियो मे से केवल कुछ अत्यादृत आडम्बर और कुछ यत्रवत चलती हुई रूढियाँ ही शेष रह गयी।

ब्राह्मण ग्रन्थो मे इतिहास—वेद-मत्रो की व्याख्या के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थो मे भारतीय इतिहास भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। गगाघाटी मे रहने वाले 'पुरु' 'विदेह', पाचाल' और 'कौशलो' का भी पर्याप्त इतिहास है। परन्तु पजाब का

वर्णन नही पाया जाता। अपितु 'ऐतरेय ब्राह्मण' मे नग्नजित गाधार का वर्णन अवश्य है।

वेदांग—वेदो और ब्राह्मणो के अतिरिक्त ४ उपवेद, ६ वेदाग और अनेक उपाग भी हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है। यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्व वेद और अथर्व का अर्थशास्त्र।

आयुर्वेद के आदि रचयिता—आयुर्वेद की रचना सम्भवतः वेद काल मे ही हो गई थी, क्योकि इन रचयिताओ मे ब्रह्मा (वरुण), रुद्र, विवस्वान्, दक्ष, अश्विनी-कुमार, यम, इन्द्र, धन्वन्तरी, च्यवन, अत्रिय, अग्निवेश, भेल, जानुकर्ण, पराशर, क्षीरपाणि हारि, भारद्वाज, और सुश्रुत मे से कई वेद काल के ऋषि हैं। धनुर्वेद के आचार्य विश्वमित्र का हमने पहिले ही वर्णन किया है। इसमे चार प्रकार के आयुध बताये गये थे—युक्त, अयुक्त, युक्तायुक्त और मन्त्रयुक्त। इसके अतिरिक्त गान्धर्व वेद के अतिरिक्त उसके अन्तर्गत नाट्यशास्त्र है। इसके आचार्य नारद थे, जबकि नृत्य के आचार्य महेश्वर माने गये हैं और नाट्यशास्त्र भरतमुनि ने लिखा। अर्थशास्त्र की शाखाएँ नीतिशास्त्र, शालिहोत्र, शिल्पशास्त्र, सूपशास्त्र आदि है। इन नीति-शास्त्रो के रचयिता क्रमश शुक्र (ऋक् काल) विदुर (महाभारत काल) कामन्दक (ब्राह्मण-काल) और चाणक्य (चन्द्रगुप्त मौर्य काल) हैं।

वेदाग छे हैं—शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, ज्योतिष और छन्द। इनमे 'शिक्षा' से उच्चारण की रीति जानी जाती है। 'व्याकरण' से शब्दो और वाक्यो के सम्यक् प्रयोग की विधि का ज्ञान होता है। पाणिनी शिक्षा और व्याकरण के श्रेष्ठ आचार्य माने गये हैं। प्रारम्भ मे इन्द्र—चन्द्र, महेश और ब्रह्मा ने मिल कर अक्षर और व्याकरण के नियम बनाये। पश्चात् पाणिनी, कात्यायन और पतजलि वैयाकरण बने। 'निरुक्त' मे वेदो मे प्रयुक्त शब्दो की व्युत्पत्ति एव अर्थ का ज्ञान होता है। 'यास्क' इसके आचार्य हैं। 'कल्प' से वेद--कर्मों के क्रम का ज्ञान होता है। कल्प की तीन शाखाएँ है—श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म—सूत्र। श्रौत सूत्र के आचार्य लात्यायन, द्राव्यायन आदि हैं। आश्वलायन, गो मिल, पारस्कर आदि गृह्यसूत्र के आचार्य हैं। बोधायन आपस्तम्ब तथा कात्यायन आदि धर्म—सूत्र के। 'ज्योतिष' से समय, नक्षत्र और भविष्य का ज्ञान होता। पाराशरी सहिता ज्योतिष का प्रथम ग्रन्थ है। ब्रह्मा, मरीचि, अत्रि, अगिरस, पुलस्तय, वशिष्ठ, कश्यप, नारद, विवस्वान्, सोम, भृगु और मनु ज्योतिषाचार्य थे। 'छन्द' के आचार्य शेष नाग माने गये हैं। छन्द दो प्रकार के हैं—लौकिक और अलौकिक। वेद मे अलौकिक छन्द हैं। दोनो का वर्णन 'पिंगल' नाग ने 'छन्दोनिवृत्ति' ग्रन्थ मे किया है। इसी से छन्द को पिंगलशास्त्र कहते हैं।

'न्याय' के आचार्य गौतम 'वैशेगिक' के कणाद हैं। पुराणो मे कणाद को 'उलूक' और गौतम को 'अक्षपाद' लिखा गया है। गौतम के न्याय ग्रन्थ पर वात्सायन का न्याय ग्रन्थ बना और वैपेशिक पर प्रशस्तपाद का।

मीमासा—मीमासा का अर्थ है निर्णय। पूर्व मिमासा जैमिनी ने लिखी और

उत्तर मीमासा वादनारायण की है । शवर स्वामी पूर्व मिमासा के काव्यकार हैं। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर पूर्व मीमासा के अनुयायी हैं। शकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, विज्ञान भिक्षु, निम्बकाचार्य, उत्तरमीमासा के भाष्यकार माने जाते है।

धर्मशास्त्र' के 'साख्य' और 'योग' उपभेद है। इनमे कपिल साख्य के और पतजलि योग के प्रणेता हैं।

वेदात—इस युग का अतिम आश्चर्यजनक आविष्कार वेदान्त हैं । वेदव्यास ने सव श्रुतियो को लिपिबद्ध किया और उनका सम्पादन किया तथा तीन भागो मे उनका विभाजन कर दिया। ऋग्वेद-स्मृति प्रार्थना के लिये, यजुर्वेद भजन-भाजन के लिए और सामवेद गायन तथा पाठ-शुद्धि के लिए। तीनो वेद इस युग में 'त्रयीविद्या' के नाम मे विख्यात हुए। व्यास से प्रथम अथर्वांगिरस् ने भी कुछ ऐसा ही प्रयास किया था—व्यास ने उसे सम्पूर्ण किया। इसके वाद प्रत्येक वेद एक-एक शिष्य को बांट दिया गया जो उस शिष्य को अनुवसिक की भांति स्थिर रहा और इन्ही शिष्यो के वशधरो ने, इस वेद सम्पत्ति की रक्षा आज तक ऐसे यत्न से की कि आर्यो के राज्य छिने युग वदल गये, वश नष्ट हो गये, परन्तु वेद की एक मात्रा मे भी अन्तर नही आया । इसके वाद वादनारायण व्यास ने वेदान्त की रचना की । धार्मिक और सामाजिक सस्कृति का यह एक अभूतपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन था।

इस काल मे देश मे राजनीतिक और सामाजिक क्रातिकारी परिवर्तन हुए । धर्म की वागडोर व्राह्मणो के हाथ से क्षत्रियो ने झटकनी प्रारम्भ करदी । इस परिवर्तन का आभास सूत्र ग्रन्थो मे स्पष्ट मिलता है । काव्य-काल मे आर्यों की दक्षिण-सीमा विन्ध्य पर्वत था । इसको लाँघ कर गोदावरी और कृष्णा नदियो के तट पर बडे-वडे राज्य क्षत्रिय लोग स्थापित कर चुके थे। पूर्व मे मगध का बडा राज्य था । वहाँ से लोग वगाल और उडीसा मे जाकर बस चुके थे । पश्चिम म सौराष्ट्र अरब सागर तक फैल गया था। इस फैलाव का प्रभाव उनके स्वभाव और विचारो पर भी पड रहा था। वे साहसी और व्यापारी बन रहे थे। इनके साथ वश-परम्परा के अनुसार जो माहित्य था, उसे सक्षिप्त करके प्रायोगिक रूप मे लाया गया।

नवन विचारधारा—इस काल मे धार्मिक विचारधारा ने भी नया मोड लिया। वैदिककालीन समाज के अध्यात्मवाद के चिर चिन्तन ने, व्राह्मण-काल मे 'कर्म-काण्ड' का रूप लिया था। उपनिषद्-काल मे उसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और यज्ञो को निरर्थक कहा जाने लगा । व्राह्मणो के लिये वताया गया कि वह वेदो के रहस्यो को भूल गये हैं । अत सामाजिक दृष्टि से यह काल पूर्व वैदिक कालीन सामाजिक चिन्तन के प्रति प्रतिक्रिया का काल था। दूसरे शब्दो मे इसे वैदिककालीन चिन्तन के पुनरुज्जीवन का काल भी माना जा सकता है।

इस काल मे ऋषियो का चिन्तन, वैदिक-काल के ऋषियो के चिन्तन से सर्वथा भिन्न हो गया। उन्होने व्राह्मण ग्रन्थो का खण्डन तो किया ही, किन्तु अपनी नयी

विचारधारा मे भी एकदम उलझ गये। सृष्टि के रहस्य को समझने की चेष्टा मनुष्य ने प्रारम्भ से ही की है। ऋग्वेद के दशम मण्डल मे एक सूक्त है, जिसे 'विश्वकर्मन-सूक्त' कहते हैं।१ उक्त सूक्त मे इस सृष्टि के रचयिता को ही होता, ऋषि और पिता कहा गया है। उसने किस पदार्थ से इस जगत् को बना दिया, यह प्रश्न पहले भी था और आज भी है। इस सृष्टि का अधिष्ठाता क्या है? इसका आरम्भ कैसे हुआ, किस पदार्थ से यह परिवर्तन हुआ, वह कौन-सा वन था, उस वन का कौन-सा वह वृक्ष था, जिसके द्रव्य से आकाश से लेकर, पृथ्वी तक के लोक-लोकान्तर बने। हे विचारशील मनीषियो! यह तो विचारो कि इन लोको को धारण करते समय, वह सृष्टा स्वय कहा अधिष्ठित रहता है। ऋग्वेद का एक दूसरा मन्त्र२ भी लगभग इसी प्रकार का है। जिसका अर्थ है—यह सृष्टि जिस हेतु उत्पन्न हुई है, वही सृष्टि धारण कर रहा है अथवा वह भी धारण नही कर रहा कोई और ही धारण कर रहा है, अथवा स्वय अपने आप मे टिकी हुई है? इसका व्योम मे जो अध्यक्ष है, वह क्या जानता है कि वह इस का अध्यक्ष है, उसे भी ज्ञान नही कि वह इसका अध्यक्ष है। ऋग्वेद के इन मन्त्रो की आवृत्ति यजुर्वेद और तैत्तिरीय सहिता मे भी पाई जाती है। वस्तुत ऋग्वेद के (१०। १२९) मंत्र का सकेत गहन-गम्भीर अम्भस् (अथाह जल) की ओर है जो सृष्टि के प्रारम्भ मे था। जब समस्त जगत् तपोवन था, उस समय सर्वत्र अप्रकेत—सलिल—पानी ही पानी था। समस्त ससार 'तुच्छ्य' से ढका हुआ था। यह 'तुच्छ्य' तो नही परन्तु शून्य के ही समान कुछ था। कही कुछ ठोस पदार्थ न होकर, द्रव ही द्रव था। इस परम आकाश मे सृष्टि का जो अध्यक्ष था, उसे भी इस रहस्य का ज्ञान था या नही, इसमे भी हम मर्त्यों को सन्देह हो सकता है।३ अत एक ओर जहाँ उपनिषदो मे यज्ञो का विरोध करते हुए कर्मकण्ड की जटिलता की निन्दा की गई है, वहा ब्राह्मण-काल मे लुप्त हुए सृष्टि सम्बन्धी और अणु सम्बन्धी विचारो को पुनर्जीवन भी मिला। अत तत्व विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान और रसायन-विज्ञान की वही ऋग्वेद कालीन लहर इस देश मे पुन दौडनी प्रारम्भ हो गयी। इस समय के ग्रन्थ उपनिषद् तथा दर्शन थे।

उपनिषदो ने यज्ञो को ससार रूपी नौका पार करने मे सहायक नही माना। यज्ञो को उन्होने ऐसी नौकाएँ कहा है जो दृढ नही है। अत यज्ञो की जटिलता का भी उन्होने उपहास किया और 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश दिया है। इन उपदेशो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, तप और सदाचार पर जोर दिया जाता था। यह ऋषि लोग अपने आश्रम अरण्यक (वन) मे बनाते थे। इसी कारण आश्रम 'बृहदार-ण्यक' कहलाता था, जिसका अर्थ है बडे अरण्य, बडे जगल का आश्रम। वन मे जिस उपनिषद् की विचार धारा का प्रवाह हुआ, उसे बृहदारण्योपकनिषद् कहा गया।

---

१ ऋग्वेद (१०।८१)

२ (१०।१२९। ७। ३)

३. उस समय ब्राह्मण भी ब्रह्मानन्द की इस विचारधारा मे सहयोग देने लगे थे। लेखक

उपनिषद और दर्शन-कालीन शिक्षा—उपनिषद्-कालीन शिक्षा भी आचार्यो के घरो पर ही प्रारम्भ होती थी । परन्तु विद्या के लिये अरण्यो मे विद्यालय भी थे । मुण्डक उपनिषद् (१।२।११-१२) ब्रह्मज्ञान के शिक्षक ऋषियो की आवास-भूमि अरण्य ही बतायी गयी है । इन्ही ब्रह्मज्ञानियो के समीप ब्रह्मज्ञान के विद्यार्थी पहुचते थे। अरण्य मे रहना ब्रह्मचर्य का पर्याय समझा जाने लगा था।

उपनिषद के विषय—उपनिषद्-काल वास्तव मे भारत के ज्ञान-विज्ञान का क्रान्तिकारी युग है। इस युग मे शुद्ध कल्पनाओ का सृजन और रचनाएँ हुयी। विशाल, व्यापक और शुद्ध कल्पनाओ के निर्माण का कार्य—उपनिषदो द्वारा ही प्रारम्भ हुआ। उपनिषदो मे कल्पनाओ की सुसम्बद्ध रचनाएँ नही है, अपितु उच्चकोटि के विचार के चिन्हो के समूह हैं, जिनका ब्यौरेवार प्रबन्ध तथा विचार व्यवस्था का तारतम्य सूत्र-काल मे हुआ। यूँ सूत्रकाल और उपनिषद् काल आपस मे मिले-जुले हैं, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूत्र रचना की प्रधानता का काल वास्तव मे मूल उपनिषदो की समाप्ति का काल है।

इन उपनिषदो मे मुख्यत तीन विषयो का प्रतिपादन हुआ है। यह विषय हैं—धर्म, सृष्टि और अन्तिम वस्तुतत्व। ससार के अन्तिम सत्य का प्रतिपादन उपनिषदो का प्रधान लक्ष्य है। इस अन्तिम वस्तुतत्व—ब्रह्म के अथवा आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार समझने मे सृष्टि का विचार सहायक होता है। यह सत्य भी है, क्योकि अन्तिम सत्य अनुभूति का विषय बनने वाले जीवन का सुन्दर रहस्य है। इसलिए जीवन तथा विश्व के अर्थ को और कार्यकारण भाव को उचित प्रकार से समझने से अन्तिम सत्य के आविष्कार मे सहायता मिलती है।

उपनिषदो मे व्यापक, शुद्धि, धार्मिक तथा तात्विक कल्पनाओ का मूल पूर्व-वैदिक वाङ्मय मे मिलता है। उपनिषदो मे अन्तिम सत्य ब्रह्म और आत्मा को तीन कल्पनाओ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। यह तीन कल्पनाएँ वैदिक-साहित्य मे पूर्व ही विद्यमान थी, उपनिषदो मे इन्हे पूर्णता प्राप्त हुई है। इन कल्पनाओ का इतिहास ही भारतीय दर्शन की पार्श्वभूमि है।

वैदिक कल्पनाओ मे त व की सृष्टि म तीन महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ है—पुरुष, ब्रह्म और आत्मा। यहा पुरुष शब्द का अभिप्राय परमेश्वर से है। विश्व का अन्तिम सत्य पुरुष रूप है। अत ऋग्वेद के पुरुष सूक्त मे उसका निर्देश केवल 'पुरुष' सज्ञा से किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् मे इसे ही 'उत्तम पुरुष' कहा गया है। ईश्वर, पुरुषोत्तम अथवा परम पुरुष है, यह कल्पना वास्तव मे ससार के इतिहास प्रसिद्ध मान्य धर्मो की आधार शिला है, क्योकि स्तोत्र, प्रार्थना, पूजा या समर्पण ही सब धर्मो का स्वरूप है। अथर्ववेद के १०वे काण्ड के दूसरे सूक्त मे मानव-रचना के सम्बन्ध मे अनेक बार यह प्रश्न उठाया गया है कि मानव के वैचित्र्यपूर्ण कार्यो के साथ सामजस्य स्थापित कर उसके शरीर की यह रचना कैसे हुई? अति प्राचीन काल मे मानव को अपने ही शरीर की रचना के सम्बन्ध मे प्रथम जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई—इस बात का यह सूक्त उत्कृष्ट

उदाहरण है। इसमे पूछा गया है कि जागृति तथा निद्रा को, सुख और दुख को, सुबुद्धि और दुर्बुद्धि को, भूख और प्यास को, सत्य और असत्य को, बल और दुर्बल को, रेतस् और मन का किसने निर्माण किया ? इसी प्रकार के और भी बहुत से प्रश्न है, जिनका उत्तर यही है कि यह रचनाएँ पुरुष रूप ब्रह्मा ने की हैं। ब्रह्मा के साथ सब देवता मानव मे इसी प्रकार निवास करते है जिस प्रकार गोशाला मे गाएँ ! विश्व का मूल तत्व प्राण है। प्रजापति या ब्रह्मा और उपनिषदो के पूर्ववर्ती वैदिक-साहित्य मे यह विचार प्रकट हुआ है कि प्राण, प्रजापति अथवा ब्रह्मा मानव मे प्रविष्ट हुआ है। विश्व शक्ति की दृष्टि से मानव उसी विश्व शक्ति का एक रूप है और मानव की दृष्टि से विश्व शक्ति मानव का मूल रूप है। वेद इस द्विविध निर्णय पर पहुँचे। इसी निर्णय के कारण उपनिषदो की प्रगति 'आत्मा ही विश्व सत्य है' के महान् सिद्धान्त तक गई। आत्मा की भारी ब्रह्म कल्पना भी दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद मे 'ब्रह्मन्' शब्द आया है। ब्रह्मन् पद के प्रथम गण के परस्मैपदी 'बृह्' धातु से बना है। इस धातु का अर्थ है वर्धमान होना, बडा होना, बढना अथवा विस्तृत बनना। अत ब्रह्म का अर्थ होता है, विशालता, वृद्धि, विकास अथवा महिमा। महिमा का वर्णन करने वाली कविता या काव्य के अर्थ मे यह शब्द रूढ हुआ विषय का वाचक शब्द उस विषय के वर्णन का भी वाचक बना। यह प्रवृत्ति सभी भाषाओ मे विद्यमान है। जिस प्रकार भूगोल का वर्णन करने वाली पुस्तक भी भूगोल कहलाती। ब्रह्म शब्द पहिले स्त्रोतरूप काव्य का वाचक था। वही अन्त मे विश्व की चैतन्य शक्ति या अतिम सत्य के अर्थ मे रूढ हुआ। इसी वातावरण मे ऋषियो के हृदय मे यह भावना दृढ मूल हुई कि ब्रह्म अर्थात् विश्व शक्तियो का स्रोत अद्भुत सामर्थ्य से सयुक्त है और वही विश्वशक्तियो का प्राणभूत तत्व है। इसी से 'ब्रह्मन्' तात्विक गहरे तथा व्यापक अर्थ मे परिणत हुआ।

सूत्रकाल

सूत्रकाल मे आचार्य अपने शिष्य को पुत्र की भाति स्नेह करते हुए, सावधानी से पढाते और उनसे अपना कुछ भी गुप्त नही रखते थे। उपनयन के लिये वही आचार्य चुना जाता था जो उच्चकोटि का विद्वान हो। इस काल का आचार्य गृहस्थी होता था, किन्तु अत्यन्त सादगी पूर्ण जीवन व्यतीत करता था वर्षा और शरद ऋतु मे वह घर से अलग रहता था। उस समय आचार्य आधी रात के बाद नही सोता था। उस काल के गुरुजन बिना भेदभाव के विद्यार्थियो को शिक्षा देते थे। सोने के पहिले विद्यार्थी आचार्य के चरण धोता था और आचार्य की आज्ञा लेकर ही सोने जाता था। वह आचार्य के सम्मुख कभी जूते पहनकर और सर ढाप कर नही जाता था*। इस काल की गुरु-शिष्य परम्परा म विद्यार्थी का जीवन अनुशासनबद्ध और तपोमय होता था। इस काल मे ब्रह्मचारी आचार्य की दशा दीन होने पर भिक्षा याटन भी करता था। भोग-विलास की वस्तुओ से सदैव दूर रहता था।

सूत्र ग्रन्थो का जन्म—इस काल मे भारतीय साहित्य मे सशोधन प्रारम्भ हुआ। वेदो की ऋचाओ के रहस्यो को समझने के लिये, जिन ब्राह्मण ग्रन्थो का आविष्कार किया गया था, इस काल मे उसके भी रहस्यो को समझाने के लिये उपनिषदो को जन्म दिया गया। अत ब्राह्मण ग्रन्थो की शब्द बाहुल्यता को सूत्र ग्रन्थो मे सक्षिप्त किया गया। उपनिषद्-कालीन ऋषियो को ब्राह्मण-ग्रन्थ-कालीन ऋषियो के अर्द्ध ह्रस्व स्वर को सक्षिप्त कर देने मे इतनी प्रसन्नता होती थी, जितनी कि किसी व्यक्ति को पुत्र-जन्म के अवसर पर होती है। उनके सक्षिप्त करने का कारण यह था कि ताकि विद्यार्थियो को सूत्र सरलता से रटाये जा सकें। उस समय भी बालक गुरुओ के आश्रम अथवा घरो पर पढते थे और सूत्रो को कठस्थ करते थे। अत ब्राह्मणग्रन्थो के छोटे-छोटे ग्रन्थ बनाये जाने लगे।

शनै-शनै सूत्र सृजन का प्रचार भारत भर मे सर्वत्र फैल गया। सूत्र चरण बढने लगे। चरण-व्यूह मे 'ऋग्वेद' के पाँच चरण, कृष्ण यजुर्वेद के सत्ताईस चरण, शुक्ल यजुर्वेद के पन्द्रह चरण, सामवेद के बारह चरण और 'अथर्ववेद' के नौ चरण लिखे हैं। उस समय प्रत्येक सूत्र चरण के पृथक्-पृथक् सूत्र ग्रन्थ रहे होंगे और जिस चरण के जो अनुयायी थे, वे भारत के किसी भी भाग मे रहने पर उन्ही सूत्रो का

---

* आपस्तम्ब धर्मसूत्र १।१।१।३२।, १।१।२।३०

पाठ करते होगे। इस प्रकार इन सूत्र ग्रन्थो का एक वृहद् भण्डार तैयार हो गया। आजकल जो सूत्र ग्रन्थ पढ़ाये जाते है, उनकी सख्या अत्यन्त कम है। जो दशा ब्राह्मण ग्रन्थो की है, वही सूत्र ग्रन्थो की भी है। अत वैदिक कर्मकाण्ड के विस्तार को सक्षिप्त करके जो ग्रन्थ बनाये गये, वह 'श्रौतसूत्र' कहलाये। इन श्रौतसूत्रो मे से ऋग्वेद के दो सूत्र—'आस्वलायन' और 'शाखायन' हैं। सामवेद के तीन—'यासक', 'लात्यायन' और 'द्राह्यायन' हैं। कृष्ण यजुर्वेद के चार—'बौद्धायन', 'भारद्वाज', 'आपस्तम्ब' और 'हिरण्यकोशिन' है।

शौनक और उनके शिष्य आस्वलायन ने 'ऐतरेय-आरण्यक' की अन्तिम दो पुस्तके लिखी। इससे सिद्ध है कि सूत्रग्रन्थो का ऐतिहासिक-काल ब्राह्मण ग्रन्थो के बाद का है। यह शौनक भी उसी कुल मे जन्मे थे, जिस कुल ने 'ऋग्वेद' की ऋचाओ के सृजन मे योग दिया था, क्योंकि इन्हे पूर्व जन्म का गृहत्सपद कहा गया है। पश्चात् जन्मेजय के अश्वमेध मे इन्हे ही यज्ञ-पुरोहित भी पाते है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक-कालीन शौनिक-वश ऐतिहासिको और पुरोहितो का एक कुल था।

सामवेद के 'यासक' श्रौतसूत्र मे भिन्न-भिन्न विधानो के भजनो का वर्णन है और 'लात्यायन' मे भिन्न भिन्न आचार्यों के मत दिये हैं। यह दोनो सूत्र सामवेद के वृहत् ताण्ड्य या पचविश ब्राह्मण से सम्बन्ध रखते है। 'द्राह्यायन' मे 'लात्यायन' से थोडा ही अन्तर है। अप्राप्त 'भारद्वाज' सूत्र का उद्धार करने वाले डा० 'बुहलर' ने लिखा है—' ई० सन् के पहिले ही दक्षिण भारत मे हिन्दुओ का आन्ध्र मे प्रबल राज्य बन गया था। इस राज्य की राजधानी कृष्णा नदी के तट पर अमरावती के निकट थी। इसी स्थान पर आपस्तम्ब ने जन्म लिया। यही उसने अपना सूत्र चरण रचा। इसका समय ई० पू० ३री सदी माना जाता है। इसने छै वेदागो का ही नही, वरन पूर्व मीमासा और वेदान्त का भी उन्होने उल्लेख किया है। इस घटना से सिद्ध है कि इससे बहुत पहिले भारत मे दार्शनिक लेखको ने अपना विशाल कार्य प्रारम्भ कर दिया था।"

'शुक्ल' यजुर्वेद का श्रौतसूत्र कात्यायन ने बनाया है जो कि शौनिक का शिष्य था। यह कात्यायन वैय्याकरण पाणिनीय का समालोचक था। मैक्समूलर के अनुसार इसका समय ई० पू० ४ थी सदी है। कात्यायन ने शतपथ ब्राह्मण का पूरी तरह अनुकरण किया है और सूत्र के प्रथम १८ अध्याय, उक्त ब्राह्मण के ९ अध्यायो से मिलते हैं। 'लात्यायन' की भाँति, कात्यायन में भी मगधदेशीय ब्राह्मण बन्धुओ का पर्याप्त उल्लेल है।

धर्मसूत्र—श्रौतसूत्र के उपरान्त धर्मसूत्रो का नम्बर आता है। इनमे तत्कालीन भारत की ऐतिहासिक सामग्री भरी हुई है। इसके अतिरिक्त इनका महत्व इस लिये भी अधिक है कि यही मूल ग्रन्थ हैं, जिनको उत्तर काल मे सुधार कर, पद्य स्मृतिया बनाई गयी हैं, जिनके कारण मनु, याज्ञवल्क्य, शकर आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। इनका महत्व इस लिये भी अधिक है कि इनमे प्रत्येक नगरवासी को उसका

समाज, शासन और देश के प्रति कर्त्तव्य समझाया गया है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो की जो सुन्दर छाप आर्य लोगो ने बैठाई थी, मानव जाति के उर पर उतनी सुन्दर छाप बैठने का उद्योग किसी जाति ने कभी नही किया ।

अनेको सूत्र-ग्रन्थ लुप्त हो चुके है। इन्ही मे मनु का मानवसूत्र भी है, जिसके आधार पर मनुस्मृति की रचना की गयी है। सूत्रग्रन्थो मे मनु का उल्लेख विशेषकर किया जाता है। डा० वुहलर ने वशिष्ठ और गौतम के धर्मसूत्रो मे दो स्थानो पर मनु के उद्धृत वाक्य दिखाये है। जो धर्मसूत्र अभी तक मिले है, उनमे ऋग्वेद के वशिष्ठ-सूत्र, सामवेद के गौतम सूत्र, और कृष्ण यजुर्वेद के बौद्धायन हैं। समय के विचार से गौतम के धर्म सूत्र सबसे प्राचीन है, क्योंकि बौद्धायन के सूत्र मे गौतम का पूरा अध्याय उद्धृत मिलता है। पश्चात् वशिष्ठ ने भी वही अध्याय बौद्धायन से उद्धृत किया है। इन सूत्रो मे पूजा करने वालो के धर्म दिये है, जो नगरवासियो के धर्म है। परन्तु पूजा के अतिरिक्त उनके कर्त्तव्यो का भी मार्ग-दर्शन है। यथा व्यक्ति को अपने घर के लोगो पर, पुत्र, पिता अथवा पति की नाई धर्म-पालन करते हुए कल्याण-कार्य करना चाहिए। इन्ही गृह्य-विधानो के लिये अलग नियम बनाने की आवश्यकता पडी थी और वह नियम ही गृह्य-सूत्रो मे दिये हुए हैं।

यज्ञो का विरोध—सूत्र धार्मिक ग्रन्थो मे यज्ञो का आडम्बर समाप्त होकर, यज्ञ के लिये भी चूल्हा ही रह गया था। घर की अग्नि प्रत्येक गृहस्थ अपने विवाह पर जलाता था और उसी मे पात्र यज्ञ के विधान सरलता से किये जाते थे। मैक्समूलर का कथन है—'चूल्हे की अग्नि मे एक लकडी रखना, देवता को अर्घ्य देना और ब्राह्मणो को दान देना- -यही पाक-यज्ञ मे होता था।" गौतम ने सात प्रकार के पाक-यज्ञघट लिखे है। उनमे आस्ट जो शीत ऋतु मे चार महीने किये जाते थे। पार्वण जो अमावस्य और पूर्णिमा को किये जाते थे। श्राद्ध जो कि प्रतिमास किया जाता था।

ज्योतिषज्ञान—सूत्रकाल मे ज्योतिषज्ञान अपनी उच्चता पर पहुँचा हुआ था। ज्योतिष सम्बन्धी विषय थे—उत्पात, सँवत्सर मुहूर्त्त आदि। इनके अध्येयता औत्पा-तिक, सावत्सरिक, मोहूतिक और नैमित्तिक कहे जाते थे। उस समय शरीर के लक्षणो और स्वप्नो पर भी विश्वास था।

दर्शनकालीन साहित्य—दर्शनकाल मे साहित्य का प्रसार अत्यन्त तीव्रगति से हो रहा था। उस काल मे आस्तिक, नास्तिक और कुछ दैष्टिक दर्शन भी रचे गये। इनमे लोकामत-दर्शन, नास्तिक था। भिक्षु सूत्र मे मूतियो के नियम थे। ऐसा एक ग्रन्थ कर्मन्द कृत था। पराशर्य कृत भिक्षु सूत्र का वेदान्त शास्त्रो मे विकास हुआ। नट सूत्रो से नाद मे नाट्य शास्त्र विकसित हुआ। इस विषय का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत होता था। इस युग की सबसे बडी साहित्यिक विशेषता यह है कि सस्कृत के साथ साहित्य मे सबसे पहिले 'पाली-भाषा' प्रकट हुई। उस

समय शिल्प साहित्य भी था और व्यापार साहित्य भी। इस प्रकार का साहित्य **वृत्ति** कहलाता था ।

व्याकरण—इस काल तक व्याकरण का भली प्रकार विस्तार हो चुका था। पाणिनी से पूर्व देश मे शाकटायन, शाकल्य, अपिशालि, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज, काश्यप, सोनक, स्फोटायन तथा चाक्रवर्मणा नामक वैयाकरणी हो चुके थे। शाकटायन का मत है कि सर्वनाम और सज्ञाए धातुओ से वनती है। अपिशल ने गुरु-लघु तत्वो का विश्लेषण किया। गालव ने एक शिक्षा की रचना की और उसी क्रम को ठीक किया। भारद्वाज एक व्याकरण की परम्परा मे थे । कश्यप का उल्लेख तैत्तिरीय प्रतिशाख्य और महाभारत मे है । इनका एक निरुक्त ग्रन्थ भी था। पाणिनि ने प्राची (पूर्वीभारत के) और उदीची (उत्तर पश्चिमी) आचार्यो का मत अपने व्याकरण मे उद्धृत किया है ।

शिक्षा और उसकी प्रणाली—इस काल मे साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र मे बहुत विकास हुआ। साहित्य के भिन्न रूप, ग्रन्थ रचना, प्रकार, शिक्षण सस्थाए, शिक्षण प्रणाली यह सब अत्यन्त व्यवस्थित थीं।

न्याय और वैशेषिकी

न्याय-शास्त्र उन विषयो से प्रारम्भ होता है, जिनके वारे मे, वाद-विवाद किया जाय। इसमे दो बातें मुख्य हैं—(१) प्रमाण और (२) प्रमेय। यह दोनो मुख्य सिद्धान्त हैं। इन्ही के अन्तर्गत १४ विषय और हैं अर्थात् शका, हेतु, उदाहरण, निरूपण, तर्क अथवा अवयवघटित वाक्य, खण्डन, निर्णय, वाद, जल्पना, आपत्ति, मिथ्य-हितु, छल, जाति और विवाद।

इनमे प्रणाण चार प्रकार के माने जाते हैं—अनुभव, अनुमान, सादृश्य और साक्षी। सिद्धान्त है कि कारण यह है जो कि किसी कार्य के करने से पहिले अवश्य होता है और वह कार्य उस कारण के बिना नही हो सकता। और कार्य वह है जो अवश्य ही कारण से होता है और उस कारण के बिना नही हो सकता। कारण और कार्य का सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है अर्थात् सयोग और समवाय। इसलिये कार्य तीन प्रकार के हो सकते हैं (१) तात्कालिक और स्पष्ट, यथा सूत कपड़े का है, (२) माध्यमिक और अव्यक्त, यथा बुनावट कपडे की है और (३) कार्णि क यथा करघा कपडे का है।

जिन वस्तुओ को प्रमाणित करना है अर्थात् जो ज्ञान प्राप्त करने के योग्य हैं, वे हैं आत्मा।

पाणिनि और उसका भाषा संस्कार

पाणिनि व्याकरण—पाणिनि इस युग की महान् विभूति है। इसका काल ई० पू० पाचवी शताब्दी का मध्य भाग है । पाणिनि का व्याकरण भारतीय शब्द विद्या का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है । जो इस समय उपलब्ध है। इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थो मे केवल यास्क का निरुक्त ही है, किन्तु उसका क्षेत्र वैदिक अर्थों को विवृत्त करना है। पाणिनि ने अपने समय की सभ्य—शिष्ठ बोलचाल की भाषा की भली भाति जॉच पडताल करके सामग्री जुटाई है, तत्कालीन जीवन का कोई अग ऐसा नही बचा, जिस पर अष्टाध्यायी मे दृष्टि न फेंकी गई हो। भौगोलिक जनपदो और स्थानो, वैदिक शाखाओ और चरणो तथा गोत्रो और वशो के नामो से सम्बन्धित शब्द, जो रात दिन काम मे आते थे, उनकी रूप सिद्धि तथा अर्थों का पाणिनि ने विचार किया है। पाणिनीय अष्टाध्यायी को देखकर इसमे सदेह नही रहता कि उस काल मे संस्कृत बोलचाल की भाषा थी । पाणिनि की शैली की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसने धातुओ से शब्द निर्वाचन की पद्धति को स्वीकार किया है। पाणिनि से पूर्व शाकटायन ने भी यही किया था। परन्तु उसने व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न सभी शब्दो को धातु प्रत्ययो से सिद्ध करने का यत्न किया है । पाणिनि ने मध्यम पथ ग्रहण किया, उन्होने लोक प्रचलित शब्दो को धातु प्रत्यय के झझट से हटाकर उन्हे संज्ञा प्रमाण कहा। लोक मे ऐसे भी शब्द थे जहाँ व्याकरण की कोई बात ही नही चलती, उन्हे उसने यथोपदिष्ठ मान लिया। प्रामाणिकता और शुद्धि की दृष्टि से पाणिनीय अष्टाध्यायी अद्वितीय है। उसमे इस ढाई हजार वर्षो के दीर्घ काल मे बहुत कम फेरफार हुआ है।

यास्क और पाणिनि—यास्क के काल ही मे वैदिक युग समाप्त हो चुका था। नए-नए ग्रन्थ, विचारणीय विषय और शब्द जन्म ले रहे थे । दिग्गज पण्डितो का जमाव हो रहा था। गद्य और पद्य की एक नई प्रभावशाली भाषा शैली, काम्बोज से कच्छ—काठियावाड, दक्षिण मे अश्मक और पूर्व मे कलिंग तक फैल चुकी थी । ठीक ऐसे समय मे पाणिनि ने लेखनी उठाई । और ऐसे परिपूर्ण व्याकरण शास्त्र की रचना अपने समर्थ हाथो से की कि तत्कालीन संस्कृत भाषा की बहुत सी जटिल समस्याओ का समाधान हो गया, और पाणिनीय शास्त्र विख्यात हो उठा।

अष्टाध्यायी—अष्टाध्यायी मे ३९९५ सूत्र है। वे अत्यन्त सक्षिप्त सूत्र शैली मे लिखे गए है। इसी से पाणिनि सूत्रकार प्रसिद्ध हो गए । काशिकाकार कहता है कि

पाणिनि का व्याकरण जब लोक मे फैला, तब उसका प्रमाण मानते हुए—इति पाणिनि-इति पाणिनि की ध्वनि सुनाई पडने लगी। पतजलि पाणिनि को प्रमाणभूत आचार्य कहता है।

पाणिनि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्धो और रूपो को परखा, और अपनी अष्टाध्यायी मे उन्हे स्थान दिया। उनसे पूर्व शब्दो और अर्थो के पारस्परिक सम्बधो की छानबीन नही की गई थी। अष्टाध्यायी का चौथा और पाँचवा अध्याय अर्थ विशिषो को कहने वाली वृत्तियो का अटूट भडार है। गण पाठ उनकी अपनी सूझ थी। ह्विटनी और बर्नेल ने भी यह स्वीकार किया है कि पाणिनि से पूर्व गण पाठ की प्रथा न थी। गण पाठक अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अग है। वह पाणिनि की मौलिक देन है। उसका उद्देश्य यह है कि उन परस्पर भिन्न अनेक शब्दो को—जो किसी एक बात मे मिलते हैं, व्याकरण के किसी एक नियम के अन्तर्गत लाया जाय।

साहित्य विस्तार—पाणिनि काल मे चार वेद, छै अग और उपाग, उपनिषद् ९ अथर्व की इस समय तक विकसित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त वाको वाक्य भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाएँ, १०० यजुर्वेद की, १००० सामवेद की, २१ ऋग्वेद की, इतिहास, पुराण, वैद्यक आदि का साहित्य लिखा जा चुका था। उस पर पाणिनि ने व्यापक दृष्टि डाली।

पाणिनि के पूर्व के व्याकरणाचार्य—पाणिनि से प्रथम अनेक विद्वान् भाषा सस्कार करने का प्रयत्न करते रहे थे। उनके व्याकरण चरणो मे पढाए जाते थे। सबसे प्राचीन व्याकरण ऐन्द्र व्याकरण था। तैत्तिरीय सहिता मे ऐसी अनुश्रुति मिलती हैं। इन्द्र ने देव गुरु वृहस्पति के साथ मिलकर व्याकरण सम्बन्धी नियम स्थिर किए थे। सामवेद के ऋक् तन्त्र नामक प्राप्ति शाख्य मे लिखा है कि ब्रह्मा ने वृहस्पति को, वृहस्पति ने इन्द्र को—इन्द्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी, और भारद्वाज ने वह व्याकरण ऋषियो को सिखाया। पाणिनि ने भारद्वाज का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने भी भारद्वाजीय वार्तिको की चर्चा की है। ऋक्, प्रतिशाख्य मे भी भारद्वाज मत उल्लिखित है। कथा सरित्सागर और वृहत्कथा मजरी के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण के स्थान मे पाणिनि व्याकरण प्रचलित हुआ।

चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा है। उपलब्ध प्रतिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी मे लगभग ६५ ऐसे आचार्यो के नाम आए हैं—जिनके द्वारा उस समय व्याकरण शिक्षा और निरुक्त का विस्तार हुआ। इन सभी का शीर्ष स्थानीय पाणिनि व्याकरण था।

तत्कालीन पठन-पाठन की परिपाटी—उस काल मे पठन-पाठन की ऐसी परिपाटी प्रचलित थी—कि उपनयन सस्कार के बाद विद्यार्थी पहले व्याकरण पढते थे और फिर वे वैदिक शब्दो का बोध करते थे। बाद मे छात्र उच्चारण ही से वेद पाठ करने लगे और वेद से वैदिक शब्दो तथा लोकभाषा से लौकिक शब्दो का बोध पाने लगे। ऐसे लोग व्याकरण पढना ही व्यर्थ समझने लगे थे। इसी से

पाणिनि का यह व्याकरण रचा गया । उसका उद्देश्य अशुद्ध प्रयोगो को हटा कर शुद्ध व्याकरण के नियम निश्चित करना था। यही पाणिनि का भाषा सस्कार था, जिसका परिणाम यह हुआ कि सस्कृत का वह उत्कृष्ट रूप बन गया कि आज ढाई हजार वर्षो से वह अविकृत रूप मे चली आती रही है । इसी से अष्टाध्यायी को शब्दानुशासन शास्त्र कहा गया है। पाणिनि ने मुक्त भाव से अपने से पूर्व के आचार्यो से अपने ग्रन्थ मे सहायता ली है ।

पाणिनि का का जन्म-स्थान—पाणिनि पठान थे। उनका जन्म-स्थान शलातुर था। काबुल और सिन्धु के सगम पर एक स्थान 'ओहिन्द' है । इसे प्राचीन काल मे उद्भाण्डपुर कहते थे । यहाँ से ८ मील उत्तर-पश्चिम मे लहुर गाँव है, यहाँ बहुत से पुराने टीले है । जिनकी खुदाई हुई है, वहा से कुछ मूर्तिया मिली है।' इस समय रेल जहाँ अटक के पुल से सिन्धु पार जाती है, वहा जहागीरा स्टेशन पर उतर कर १२ मील चलने पर लहुर पहुँच सकते हैं । यही लहुर गाव पाणिनि का जन्म स्थान 'शलातुर' है। चीनी यात्री ह्वेनसाग सातवी शताब्दी के आरम्भ मे मध्य एशिया के स्थल मार्ग म आते हुए शलातुर मे ठहरा था। वह कहता है कि शलातुर के लोग पाणिनि शास्त्र को पढते हैं और उसके उदात्त गुणो की प्रशसा करते हैं। वह उसकी एक मूर्ति का भी उल्लेख करता है, जो उस काल मे विद्यमान थी । सिन्धु के पूर्वी किनारे पर शकर-दर्रा (शक्र द्वार) नामक गाव है । वहा से एक खरोष्टी लेख प्राप्त हुआ है। उसमे इस घाट को शलातुर के नाम पर शल-नो-क्रम (शलानोक्रम) कहा गया है।

जीवन वृत्त—कथा सरित्सागर (११ वी शताब्दी) और बृहत्कथा (ग्यारहवी शताब्दी) मे पाणिनि के जीवन वृत्त की कथा है। लिखा है कि पाणिनि आचार्य वर्ष के मन्द बुद्धि शिष्य थे। पढने-लिखने मे पिछड जाने से पाणिनि खिन्न होकर तप करने हिमालय पर गए—वहाँ शिव को प्रसन्न कर व्याकरण प्राप्त किया। बौद्ध ग्रन्थ मजुश्री मूलकल्प मे पाणिनि को नन्द राजा का मित्र लिखा है। राज शेखर ने काव्य मीमासा (नौवी शती) मे इस अनुश्रुति को इस परम्परा मे लिखा है—कि पाटलिपुत्र म शास्त्र-कार परीक्षा होती थी। उस परीक्षा मे वर्ष उपवर्ष, पाणिनि पिंगल, और व्याडि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया। उपवर्ष मीमासा और वेदान्त सूत्रो के भाष्यकार थे। वर्ष उनके भाई तथा पाणिनि के गुरु थे। पिंगल छन्दोविचित के कर्ता थे। इन्हे षड-गुरु-शिष्य ने वेदार्थ दीपिका टीका मे पाणिनि का छोटा भाई कहा हैं। व्याडि पाणिनि के सम्बन्धी थ । उन्होने व्याकरण शास्त्र पर एक सग्रह लिखा था, जो पतजलि ने देखा था तथा प्रशसा की थी।

ह्वेनसाग कहता है—जन्म ही से उनकी सब विषयो मे जानकारी वढी-चढी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर उन्होने साहित्य और बोलचाल की भाषा मे अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगो एव नियमो मे सुधार करना चाहा । उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करे और अशुद्ध प्रयोगो को ठीक करें । उन्होने नेश-

पर्यटन किया। उस समय ईश्वर देव से उनकी भेंट हुई। उन्होंने पाणिनि की योजना पसन्द की और सहायता का वचन दिया। पाणिनि ने उनसे उपदेश ग्रहण कर एकांत स्थल मे जा ग्रन्थ रचा।" · समाप्त होने पर नन्द राजा के पास भेजा—उसने आज्ञा दी कि सम्पूर्ण राज्य मे इसका प्रचार किया जाय। उसने यह भी घोषणा की कि जो कोई इसे समग्र कण्ठ करेगा, उसे एक सहस्र स्वर्ण मुद्रा पुरस्कार मिलेगा। तभी से आचार्यों ने इसे स्वीकार किया और अविकल रूप मे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित करते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरण शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं, और उनकी प्रतिभा भी अच्छी है।

यह अधिक सम्भव है कि पाणिनि ने तक्षशिला विश्वविद्यालय मे शिक्षा पाई हो। तक्षशिला के विद्यार्थी-स्नातक होने के बाद ज्ञान वृद्धि के लिए चारिका (देश-भ्रमण) पर निकलते थे और देश के कला कौशल-शिल्प और रीति रिवाजो पर अनुभव प्राप्त करते थे। इसी प्रकार पाणिनि को देशाटन करते हुए ईश्वर देव से साक्षात्कार हुआ। जिनसे प्रेरणा लेकर वे एकान्त मे चले गए, और अपने मन और बुद्धि की सारी शक्ति इस कार्य मे लगा दी। पाणिनि ने अपना ग्रन्थ समाप्त कर उसे पाटलिपुत्र सम्राट् के पास भेजा। जिसने उसे बहुत सम्मान दिया। पाटलिपुत्र मे उन दिनो शास्त्रकार परीक्षा हुआ करती थी। सम्भव है वे ग्रथ लेकर स्वय वहाँ गए हो और तभी सम्राट् से उनकी मित्रता हो गई हो। उस काल मे पाटलिपुत्र विद्या केन्द्र प्रसिद्ध था।

बौधयान श्रौत सूत्र के महा प्रवर काड के अनुसार पाणिनि वत्स—भृगुओ के अन्तर्गत एव अवातर गोत्र का नाम था। कैयट के मत से 'पाणिनि' के युवा अपत्य की सज्ञा 'पाणिनि' होगी। गाँव के नाम पर पाणिनि शालातुरीय भी कहाते थे। पतजलि ने पाणिनि को एक कारिका मे 'दाक्षी पुत्र' कहा है। दक्षो का सम्बन्ध पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका से सकेत मिलता है कि दक्षो का एक सघ राज्य था, जिसकी अपनी ही बस्ती और अपने ही राज्य-चिन्ह थे। दाक्षिकूल और दाक्षिकूर्ष दो गावो का उल्लेख काशिका मे है।

कात्यायन और उनकी वार्तिका—पाणिनि व्याकरण पर जो विवेचन गन्थ है उनमे काशिका–पदमजरी, महाभाष्य, तथा उसके व्याख्याकार भर्तृहरि–कैयट—नागश आदि के ग्रथ हैं।

कात्यायन—पाणिनि के समकालीन उनके प्रतिस्पर्द्धी आचार्य थे। उन्होने अपनी वार्तिको की रचना मे पाणिनि जैसा ही व्यापक प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न पाणिनि के देश दर्शन के लिए नही, उनके शब्द-शास्त्र के महत्व को प्रकट करने के लिए है। कात्यायन पाणिनि के सबसे बढकर मार्मिक पारखी और व्याख्याकार हैं। वे सबसे भारी वैयाकरण थे। पाणिनि के सूत्रो पर वार्तिक रच कर उन्होने सूत्रो की पृष्ठभूमि का परिचय दिया है। विचारो की समीक्षा भी की है। मतान्तरो पर शास्त्रार्थ भी किया है और दूसरो के द्वारा उठाई हुई सभी टीकाओ का परिमार्जन किया

है। उनके वार्तिको की सख्या ४२६३ है। जो उनके अथक परिश्रम और ज्ञान गरिमा की परिचायक है।

पतञ्जलि और उनका महाभाष्य--पतजलि का महाभाष्य पाणिनि शास्त्र मे सम्बन्धित सबसे बडा शास्त्र है। दृष्टिकोण पतजलि और कात्यायन दोनो का एक है। कात्यायन के वार्तिक पातजल महाभाष्य की कुजी हैं। पतजलि के भाष्य मे दो प्रकार की शैलिया हैं। जहाँ तक वार्तिको का सम्बन्ध है, उन्होंने एक-एक शब्द को समझाने की चेष्टा की है। इस शैली को वह चूर्णिका शैली कहते हैं। जहाँ सिद्धातो की ऊहापोह विवेचना की है, वहा गम्भीर और ओजस्वी ढग से इसमे नागावलोकन किया है। पहिली शैली को चूर्णक और दूसरी को तडक कहते है। भाषा की इन दोनो शैलियो के मध्य सूत्र कात्यायन के वार्तिक है। भाष्य वास्तव मे कात्यायन के वार्तिको पर ही आश्रित है। उन्होने पाणिनि को प्रमाण भूत आचार्य माना है।

पुराणकालीन भारत

(१ हजार ई० पू० से ५ वी शताब्दी तक)

स्मृतियो के पश्चात् भारत का पौराणिक-युग प्रारम्भ होता है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि इनमे अनेको राजाओ के वृत्तान्त है और उनकी शासन-प्रणाली तथा तत्कालीन समाज की रूप-रेखा पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है। पुराण १८ हैं। यथा—विष्णु-पुराण, भागवत्, शिव, नारदीय, गरुड, पद्म, वाराह, ब्राह्म, ब्रह्माड, ब्रह्म वैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन, लिंग स्कन्द अग्नि तमत्स्य और कूर्म। इनके अतिरिक्त उपपुराण भी है। वे हैं—सनतकुमार, नृसिंह, स्कन्द, नारदीय, महेश्वर, दुर्वासिस, कपिल, ओशनरु, वरुण, कालिका, साम्ब, नन्दी, सौर, परन्द शर, आदित्य, भार्गव, वशिष्ठ, ब्रह्माड, मुद्गल, काल्कि, भविष्योत्तर और वृहद्धर्म। इन १८ पुराणो की ऐतिहासिकता का काल भी विवादास्पद है, जहा पुराणो को इतना नवीन माना जाता है वहाँ इनके सूत्रो का ज्ञान अति प्राचीन-ग्रन्थो मे लगनेके कारण यह भी समझा जाता है कि पुराण प्राचीन काल मे भी थे। लोकमान्य तिलक आदि ने पुराणो की रचना का काल ई० सन् की दूसरी शताब्दी माना है, किन्तु भारत मे नन्द वश आदि राजाओ के वर्णन से तथा प्राचीन ग्रन्थो मे पाये गए उनके स्रोतो से यह काल और भी प्राचीन सिद्ध होता है।

प्राचीन ग्रन्थो मे पुराण स्रोत—पुराणो के स्रोत अधिकतर ब्राह्मण-ग्रन्थो मे पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है—"अध्वर्यु स्ताक्ष्यों वैपश्यतो राजेत्वाह पुराणा। वेद सोऽयमिति किंचित् पुराण माचक्षीत।"१

शतपथ ब्राह्मण मे एक और श्लोक है। यथा—

"ऋग्वेदा यजुर्वेद सामवेदोऽथवागिरसः। इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः

सूत्राण्यानु व्याख्यानानि व्याख्यानानि।"२

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद सहिता मे भी लिखा है—

"इतिहास. पुराण च गाथाश्च नाराशसश्च।"३

इसके साथ ही गोपथ ब्राह्मण, सास्यायन और आश्वलायन स्रौत-सूत्र मे भी

---

१ शतपथ ब्राह्मण १२।४।३।१३

२. शतपथ ब्राह्मण १४।६।१।६

३ अथर्व सहिता १५।६

'पुराण वेद' के नाम से एक शास्त्र का उल्लेख आया है। जिसे अश्वमेध यज्ञ के ९ वें दिन अध्वर्यु पाठ करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् और ब्रहदारण्यकोपनिषद् मे भी इस सम्बन्ध मे श्लोक है। रामायण के १६ वे सर्ग के प्रथम श्लोक और बालकाण्ड के नवम् सर्ग के प्रथम श्लोक मे सुमन्त द्वारा पुराण-कथन का वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त महाभारत का एक श्लोक भी ध्यान देन योग्य है—

"सागोपनिषदाञ्चैव वेदाना विस्तरः क्रिया.।
इतिहास पुराणानामुन्मेष निर्म्मितञ्च यत् ॥" १

महाभारत के उक्त श्लोक से तो यही ध्वनित होता है कि महाभारत के सकलन होने से पूर्व पुरातन कथा विषयक-ग्रन्थ विशेष पुराण और इतिहास नाम से प्रसिद्ध थे। सायणाचार्य ने भी लिखा है कि वेदो मे इतिहास और सृष्टि प्रक्रिया के विवरण का नाम पुराण है। शकराचार्य ने लिखा है—'उर्वशी पुरुरवान्न कथोपकथनादि स्वरूप ब्राह्मण भाग का नाम इतिहास और सृष्टि प्रक्रिया घटित वृत्तान्त का नाम पुराण है। अत॰ सिद्ध होता है कि रामायण की रचना के समय तक पुरानी बातो विषयक ग्रन्थ और उपाख्यान विशेष का नाम पुराण था। इसका स्पष्टीकरण 'महाभारत' ने यह लिख कर किया है—"पुराण समुदाय मे मनोहर कथा और बुद्धिमान व्यक्तियो आदि के वशजो के वृतान्त है।२ अमरसिंह ने अमरकोश मे लिखा है—"पुराण पचलक्षणाम्।" पुराणो के पाच लक्षण है। इनमे सृष्टि, वंश विवरण, मन्वन्तर, वर्णन और प्रधान वशो मे उत्पन्न व्यक्तियो का चरित्र है। इन्हे पाचवा वेद भी माना गया है। वैवस्तमनु की कथा से भी इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

पुराणो के रचयिता और उनका काल—पुराणो का रचयिता एक वर्ग नही था। इनके रचयिता सूत, मगध, बन्दी (चारण) आदि शूद्र जातिया और ब्राह्मणवर्ग आदि सभी थे। इन जातियो ने ही मूल रूप मे पुराणो की रचना की और पुराण-कथाओ का अनेक पीढियो से सग्रह करके उनका अध्ययन और वृद्धि की। गुप्त-काल मे ब्राह्मणो ने पुराणो का पुन सस्कार और साथ-साथ उप-पुराणो का विस्तार किया। पुराणो ने ही प्राचीन त्रैवर्णिक की सकीर्ण प्रवृत्ति को लाँघने मे सफलता पायी। पुराणो मे कहा गया है—"स्त्रियो, शूद्रो तथा पतितो और द्विज बन्धुओ को कृतार्थ करने के लिए महर्षि व्यास ने महाभारत लिखा और पुराणो का विस्तार किया।" पद्म पुराण का **एष साधारण पन्थाः साक्षात् कैवल्यसिद्धिदः"** का भावार्थ ही 'सब का मार्ग' है। इसलिए 'पद्म पुराण' (खण्ड ३ अध्याय ५।१०) का कथन है—पुल्कस, श्वपच और अन्य म्लेच्छ जातियाँ अगर हरिसेवक हैं तो वह वन्दनीय हैं और महान् है। इसी पुराण मे अन्य स्थान पर कहा गया है—वर्ण-ब्राह्मण मनुष्य यदि वैष्णव है तो वह भी भुवनत्रय (त्रिभुवन) को पावन करता है। 'श्रीमद्भागवत' के (७।९।१०) के कथनानुसार 'भगवद्भक्त चाण्डाल भी विप्र की तुलना मे श्रेष्ठ है।' अत. पुराणो मे साम्प्रदायिकता

१ महाभारत आदि पर्व ६२।६३
२ महाभारत आदि पर्व पचमोऽध्याय ९ वा श्लोक से

को तिरोहित कर 'हरि को भजे, सो हरि का होई'—सिद्धान्त को अपनाया गया। 'शिव' तथा 'विष्णु' पुराणो के मुख्य देव हैं। यह ऐसे देव हैं, जो भेद-भाव को तनिक भी स्थान न देते हुए सबको पावन करते हैं।

श्री मैकडानल्ड ने पुराणो का काल आशिक रूप मे महाभारत के श्लोको मे और व्यवस्थित रूप मे गुप्त-वश के राजाओ के समय (ई० स० ३५०-६००) उन्हे स्वतन्त्र रूप से प्राप्त हुआ माना है, परन्तु उनका यह मत स्थिर नही,' छान्दोग्य उपनिषद्' 'शतपथ ब्राह्मण' और 'आश्वलायन गृह्य-सूत्र' का 'इतिहास पुराणानि' वाक्य यह सिद्ध करता है कि ई० पू० भी कई पुराण विद्यमान थे। क्योकि आश्वलायन गृह्य-सूत्र का समय बुद्ध से भी पूव का है। इसके अतिरिक्त स्वय महाभारत के अनुशासन पूर्व के चार अध्याय (१४३-१४६) ब्रह्मपुराण (२२३-२६) से लिये गये हैं। पुराण-रचना के तृतीय काल-खण्ड मे अष्टादश या अठारह पुराणो के रूप मे विस्तार हुआ। यह सस्कार गुप्त-काल के पहिले ही हुआ। इस काल मे **मत्स्य, वायु** तथा **ब्रह्माण्ड** पुराणो ने पाण्डवो के बाद के कलियुग के राजाओ से आध्रो के समय तक के (ई० स० १५० के लगभग) वश-वृक्ष का भविष्य-पुराण से स्वीकार किया है। मत्स्य-पुराण का कथन है कि 'आध्र राजा यज्ञ श्री के राज्यारोहण का आज नववां या दसवाँ साल चल रहा है।' इस कथन से उपर्युक्त अनुमान सिद्ध होता है। पुराणो की रचना का चतुर्थ काल गुप्त काल से लेकर, सम्राट् हर्षवर्धन तक आ जाता है। वर्तमान पुराणो का जो रूप दिखाई देता है, वह इसी काल मे बना। उसी काल मे भविष्य-पुराण के भावी काल के राजाओ के वशो के वृक्ष तथा वृत्त पुराणो मे पुन समाविष्ट किये गये। इस काल के अन्तिम भाग मे विष्णु भागवत की रचना हुई।

पुराणो की रचना का पाचवा काल हिन्दू राजाओ के राजत्वकाल का अन्तिम अश है। यह काल ईसा की ६ वीं शताब्दी से लेकर, बारहवी शताब्दी के अन्त तक माना जा सकता है। इस काल मे मूल-अष्टादश (अठारह) पुराणो मे वृद्धि हुई। इसके पश्चात् मुस्लिम-काल और ब्रिटिश-काल मे पुराण साहित्य मे जघन्य मिश्रित दौर चला। इस काल मे मूर्ख और लालची ब्राह्मणो ने पुराणो के शुद्ध रूप को विकृत कर डाला। बाईबिल के आदम और अब्राह्म सम्बन्धी अ श का अनुवाद भी भविष्य-ुराण मे कर दिया गया। फिर भी विगत दो हजार वर्ष का हिन्दू-धर्म का इतिहास पुराणो पर आधारित है। इतिहास-पुराणो ने ही भक्ति-मार्ग की स्थापना की, इन्ही के कारण भक्ति-मार्ग का उदय हुआ। अत यदि पुराणो को हिन्दू-धर्म का धार्मिक अधिष्ठान कहे तो इसमे अत्युक्ति न होगी। भारत की कलाओ तथा ललित-साहित्य का श्रेय भी रामायण, महाभारत और पुराणो को ही प्राप्त है। इन्ही से कालिदास, भवभूति, भारवि, श्री हर्ष आदि सस्कृत के कवियों के विभिन्न नाटको एव काव्यो का जन्म हुआ।

पौराणिक इतिहास—पुराणो मे अन्य बातो के अतिरिक्त देश और विदेश दोनो का इतिहास भी है, क्योकि इनमे वश-वशान्तरो की प्रामाणिक कथाएँ है। पुराणो के अतिरिक्त प्राचीन राजा महाराजाओ के चरित्रो को जानने का साधन केवल रामायण और महाभारत थे। परन्तु रामायण और महाभारत जहाँ ऐतिहासिक प्रकरणो मे अधूरे है, वहाँ पुराण उन छोडी हुई कडियो को जोडते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत के पश्चात् के इतिहास के लिये केवल पुराण ही प्रमाण रूप से ग्राह्य हैं। उदाहरणार्थ पुराणो मे सब मिलाकर महाराजा युधिष्ठिर के समय तक सूर्य और चन्द्रवशी राजाओ के १०० नाम मिल जाते है। इतना बडा वश वृक्ष ससार मे कदाचित् ही किसी जाति का हो। इन राजाओ के नामो के साथ-साथ उनके सूक्ष्म चरित्र भी दिये गये है।

पुराणो के रचयिताओ ने इन वशावलियो की खोज मे भी अथक प्रयास किया है। इन वशावलियो के सूत्र उन्हे यत्र-तत्र सहिताओ से खोजने पडे।

पुराणो मे सामाजिक विवेचन—राज वशावलियो के अतिरिक्त पुराणो मे सामाजिक तत्व भी प्रत्येक प्रकार के भरे पडे। इनमे धर्मशास्त्र, राजनीति, प्रजा-धर्म, आयुर्वेद, व्याकरण, रस, अलकार शस्त्र विद्या (धनुर्वेद), शिल्प-शास्त्र, तक्षण-कला, प्रतिमा निर्माण कला, व्यवहार-प्रदर्शन, स्वप्न, शकुन, छन्द और कोश आदि के अतिरिक्त नैत्यिक दिनचर्या आदि अनन्त ज्ञान भरा हुआ है।

नई परम्परा—पुराणो के अवलोकन से विद्वानो द्वारा एक नयी परम्परा का आभास होता है। पुराणो मे सबसे प्राचीन ब्रह्मपुराण, हैं और उसी मे सबसे पहिले सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन आया है। पश्चात विष्णु, मत्स्य और ब्रह्माण्ड आदि सभी मे वह वर्णन ज्यो का त्यो है। अन्तर है तो केवल एक-दो श्लोक कम या ज्यादा का। इसमे सबसे नई बात '१८' सख्या की परम्परा की है। इस परम्परा का सृजक कोई नही, केवल नियति ही है। जिसने महाभारत काल मे इस परम्परा को जन्म दिया। उदाहरणार्थ महाभारत का युद्ध १८ दिन तक चला। युद्ध मे १८ अक्षौहिणी सेना थी। महाभारत १८ पर्वों मे लिखा गया। महाभारत के अतर्गत 'गीता' के भी १८ अध्याय है। मूल धर्मशास्त्र भी १८ है और पुराणो की सख्या भी १८ है। कतिपय विद्वानो का मत है कि मूल सहिता के १८ वें भाग मे पुराणो का होना कारण विशेष को सूचित करता है। शकराचार्य, बुद्धावतार और जैन-धर्म सम्बन्धी बातें 'पद्मपुराण' मे आने से यह भी ज्ञात होता है कि पुराणो का सम्पादन ई० ५ तक अवश्य चलता रहा अर्थात् गुप्त सम्राटो के समय तक पुराणो के साहित्य का परिमार्जन अवश्य होता रहा।

पौराणिक आचार्य—पुराण-काल मे आचार्य का व्यक्तित्व हीन नही हुआ अपितु और भी महत्व का हो गया। विष्णु पुराण' मे लिखा है—"आचार्य अपने भोजन मे से विद्यार्थियो के अतिरिक्त कुछ भाग दीन-हीन लोगो के लिये भी रख देता था। 'मत्स्य पुराण' ने ऐसा माना है आचार्य वृद्ध हो, लोभी न हो, विनम्र हो, आत्म-ज्ञानी हो और मृदु-स्वभाव वाला हो।

आठवी शती मे आचार्य शकर का आविर्भाव हुआ। शकर से आचार्यों की एक

नई परम्परा का आरम्भ होता है जो भारतीय इतिहास मे पूरे मध्ययुग तक चलती रही । शकर ने आठ वर्ष की अवस्था मे ही पूर्ण पाडित्य प्राप्त कर लिया था और बाल्यावस्था मे ही सन्यास ले लिया था । अत वे अपने युग के सर्वोच्च आचार्य बने और अपने अद्वैतवाद के वेदान्त स्तम्भ के रूप मे विशाल भारत के चारो कोनो पर मठ के रूप विश्वविद्यालयो की स्थापना की तथा भारत का सास्कृतिक विकास करने मे अपने जीवन का समस्त भाग लगाया ।

पौराणिक समाजवाद—वस्तुत पुराण-काल को हम समाजवादी काल कह सकते हैं । पुराणो ने अपने समय मे देश मे बढने हुए जातिवाद और साम्प्रदायिकता को रोकने का भरसक प्रयत्न किया और वस्तुतः पुराणो की रचना का मूल उद्देश्य भी यही था । स्मृतिकारो ने आर्य समाज की दृढता के लिये जितने कठोर उपायो का सृजन किया था, वह राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से भले ही सुदृढ रहे हो, किन्तु धार्मिक दृष्टि से वह अत्यन्त अनुपयोगी थे । सूत्रकाल की कठोरताओ को स्मृतिकारो ने और भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया । इन धार्मिक कर्मकाण्डो की कठोरता का परिणाम ही जैन और बौद्ध सम्प्रदायो का जन्म होना है । पौराणिको ने स्मृतिकारो की इसी भूल को सुधारने का प्रयत्न किया । पौराणिको ने सबसे पहिले सूत्र-काल के शुष्क कर्म-काण्ड के स्थान पर भक्तिरस का एक विलक्षण प्रवाह सामूहिक रूप से समाज मे जातिवाद को दूर कर फैलाना प्रारम्भ किया । इसका परिणाम यह हुआ कि भिन्न देवी-देवताओ की पूजा भी बढी और उनके मन्दिरो का निमाण होना भी प्रारम्भ हुआ । इसके पश्चात् पुराणो मे 'अवतारवाद की आवतारणा हुई । वस्तुत वैदिक ग्रन्थो मे 'देवत्व' का जिस प्रकार आभास है, पुराणो मे उसी का विकास है । पहिले के देवता विशेष, नये रूप मे परिवर्तित हो गये है । उदाहरणार्थ, वेद मे विष्णु सूर्यवाची है और पुराणो मे वे सूर्य से भिन्न एक अत्यन्त शक्तिमान देवता के रूप मे परिवर्तित हो गये हैं । वैदिक विष्णु के तीन पाद मे सम्पूर्ण सृष्टि को आच्छादित करने के भाव को लेकर अवतारो की कथा का विकास किया गया है, जिसमे विष्णु के वामन अवतार की, तीन पग मे पृथ्वी को नापने की कथा है । ऋग्वेद मे 'रुद्र' अग्नि के पर्यायवाची रूप मे प्रसिद्ध हैं और बाद मे युजुर्वेद के सम्पूर्ण अध्याय मे रुद्र की स्तुति है । अथर्व वेद मे (९।२।५) पशुपति नाम आया है । शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।७-१९) मे रुद्र की उत्पत्ति का वर्णन है । इस प्रकार समस्त जनता ने शोभन अलकारो से अपने-अपने देवता का अपने ढग से शृगार किया ।

वेद और पुराणो की समानता—वास्तव मे केवल शैली-भेद को छोडकर विषय भेद मे पुराणो और वेदो मे कोई असमानता नही है । वेद मे जो प्रसग सक्षेप मे वर्णित थे, पुराणो मे वही विशेष आख्यायिकाओ सहित वर्णित हैं । वेदो की शैली जहाँ रूपक-मयी है, वहाँ पुराण-शैली अतिशयोक्तिमयी है । वेद रूपक जिन तथ्यो का उद्घाटन करते है उन्ही तथ्यो का पुराण अपनी विषद् शैली मे वर्णन करता है । वेदो मे स्थल-विशेष पर, उदाहरण रूप मे कतिपय उपाख्यान जगह-जगह दिये गये हैं, पुराणो मे

उन उपाख्यानो को एकत्र करने का प्रयत्न किया गया है। इसी कारण वेद का एक छोटा-सा प्रसग भी पुराणो मे विपद् रूप ले लेता है। पुराणो का विशेष उद्देश्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति की उपासना रहा है। परमात्मा के यह भिन्न-भिन्न सगुण रूप माने गये हैं। सृष्टि मे इनका कार्य-विभाग अलग-अलग है। यहाँ हम ब्रह्मा के स्थान पर गणेश को प्रतिष्ठित हुआ पाते हैं। ईश्वर-भक्ति के विविध रूपो मे नाम-कीर्तन की महिमा सभी पुराणा मे वर्णित है उपनिषदो की उपासना को इस काल के समाज ने कठोर अनुभव किया था, अत पुराणो ने समाज के सामने सगुण उपासना का आदर्श प्रस्तुत किया।

पुराण विश्वकोष—भारतीय पुराणो को यदि विश्वकोश कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। पुराणो मे वर्णित प्रसग मे यह भी ज्ञात होता है कि उस काल मे भारतीय सभ्यता उच्चता क किस शिखर पर थी। तथा भारत अपने ज्ञान-बल के कारण विश्व का सिरमौर बन चुका था। उदाहरणार्थ अग्निपुराण के ३८३ अध्यायो मे अवतारो का वर्णन और रामायण तो है ही, साथ ही मन्दिर-निर्माण की कला, महाभारत की कथा, मूर्ति-पूजा और प्रतिष्ठा, ज्योतिप, धर्म शास्त्र, राजनीति तथा आयुर्वेद आदि शास्त्रो के वर्णन है। छन्द शास्त्रो का निरूपण आठ अध्यायो मे किया गया है। अलकार शास्त्र का विवेचन भी बडा मार्मिक है। व्याकरण की छानबीन भी कई अध्यायो मे है। कोश के विषय मे भी कई अध्याय है। योग—शास्त्र के यम् नियम आदि आठो अगो का वर्णन अत्यन्त सुन्दर ढग से है। अन्त मे अद्वैत-वेदान्त के सार का सकलन है। एक अध्याय मे गीता का भी साराश ह। काल का भी वर्णन है। 'कौमार-व्याकरण' के नाम से एक छोटा सा उपयोगी व्याकरण, 'एकाक्षरकोश' नामक लिंगानुशासन भी दिया हुआ है। अत इसे एक प्रकार का ज्ञान-विज्ञान का कोश तो मानना ही होगा और इसके इस दावे को भी स्वीकार करना पडेगा—

"आग्नेये हि पुराणेऽस्मिन् सर्वा विद्या प्रदर्शिता" ३६।३।५२ इसके अतिरिक्त 'नारदपुराण' के २०७ अध्यायो मे आचार-विचार प्रायश्चित आदि के वर्णनो के अतिरिक्त व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द आदि के वर्णनो के अतिरिक्त सभी पुराणो के विषयो की विस्तृत अनुक्रमणिका भी दी गयी है।

'गरुडपुराण' मे राजनीति का वर्णन बडे विस्तार के साथ दिया गया है। आयुर्वेद के निदान तथा चिकित्सा का वर्णन २६ अध्यायो मे है। बुद्धि के निर्मल बनाने के लिये भी औषधि की व्यवस्था की है। पशु-चिकित्सा का भी वर्णन है। छह अध्यायो मे 'छन्द-शास्त्र' का वर्णन है। इस पुराण का उत्तरखण्ड प्रेत-कल्प कहलाता है। मरने के उपरान्त जीव का क्या होता है, इसका वर्णन भी विस्तार से दिया गया है। 'अग्नि' और 'गरुड'—दोनो पुराणो मे आचार्य कार्तिकेय से लेकर, कात्यायन तक की बाते आ गयी हैं। पाणिनि का वर्णन कही नही है। परन्तु गरुड पुराण मे सर्ववर्मा के सूत्र आने से यह सिद्ध होता है कि पहली शताब्दी मे इसका भी सम्पादन हुआ।

*बल्देव उपाध्याय—"आर्य सस्कृति के मूलाधार" से।

अग्नि पुराण, मे 'नाट्य-शास्त्र' का वर्णन और आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनि के आविष्कार का वर्णन भी यही बताता है कि इसका सम्पादन भी बाद मे हुआ ।

'भविष्यपुराण मे कृष्ण पुत्र 'साम्ब' द्वारा शकद्वीपीय ब्राह्मणो को शकद्वीप मे लाने का वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्णन बडे महत्त्व का है। पारसियो के रीति-रिवाज मगो से बहुत मिलते जुलते है। पारसी साहित्य मे अनेक स्थलो मे मगो के आचार्यों के नाम 'परे-मुर्गी' पाये जाते है।

प्राचीन रूप—पुराण शब्द का अर्थ ही 'पुराना' है । प्राचीन शास्त्र को पुराण नाम से पुकारना स्वाभाविक बात है। पुराण वैदिक साहित्य का अग हैं। पर प्राचीन काल मे वैदिक साहित्य मे ब्राह्मण, आरण्यक, शाखाएँ, प्रशाखाएँ, श्रुति, स्मृति गृह्य तथा श्रौतसूत्र—ये वेदाग कहाते थे तथा उत्तर वैदिक काल मे ब्राह्मण ग्रथ का वेद पर विशेष प्रभाव रहा। इसलिए प्राय ब्राह्मण-ग्रन्थ ही पुराण-ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध किये जाते रहे।

इस प्रकार यह पुराण साहित्य धीरे-धीरे उन्नति करता रहा, एव ब्रह्म सहिता का कलेवर होता रहा, किन्तु साहित्य के इतिहास मे एक समय आया, जब सपूर्ण वैदिक और पौराणिक साहित्य का मूल्याकन किया गया तथा उसे सग्रह करके सुसपादित किया गया। यह कार्य ऋषि व्यास ने किया। उन्होंने जिस प्रकार वेदो का विभाग किया, उसी प्रकार सम्भवत इतिहास और पुराण विषयक अन्य ग्रन्थो का भी सग्रह और सपादन किया।

व्यास ने अपने समय तक के सम्पूर्ण इतिहास ग्रन्थो को मथ कर एव कई वर्ष तक प्रयत्न करके महाभारत नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा था, जिसमे महाभारत के युद्ध काल तक की सपूर्ण बाते आ गयी थी। इसको उन्होने अपने शिष्य वैशम्पायन पैल, सुमत, जैमिनि और शुक्र को पढाया। इसमे जितने भाग मे कौरव व पाडवो के युद्ध का उल्लेख किया गया था, उतने भाग का नाम 'जय' रखा गया था। इसमे से प्रत्येक ने अपनी-अपनी सहिताएँ रची थी एव उनका प्रचार किया था।

पुराण सहिता की रचना के पीछे, उसके प्रचार और विस्तार का कार्य व्यास ने सूत के पिता रोमहर्षण को दिया था। यही कारण है कि प्राय पुराण और इतिहासो को सब जगह सूत जी ही सुनाते देखे जाते हैं। इन प्राचीन पुराणो का स्थान, जब नवीन पुराण सहिता ने लिया, तभी पुराण की परिभाषा भी इस प्रकार बदल दी गयी।—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च,
वशानु चरित चैव पुराण पच लक्षणम् ,

यहा यह भी ध्यान मे रखने की बात है कि वैदिक विद्वान् पहिले भी तथा इस समय भी इन वर्तमान पुराणो को पुराण मानने मे हिचकते थे।

पुराणो का मध्यकाल—पुराण की ब्रह्म-सहिता मे किन-किन विषयो का उल्लेख किया गया था, यह बात जानने के साधन इस समय प्राप्त नही हैं। यद्यपि

कुछ विद्वान् प्रचलित 'ब्रह्म-पुराण' को ब्रह्म-संहिता बतलाते हैं। एवं उसे ही सर्व-प्रथम तथा सबसे पुराना पुराण स्वीकार करने के लिये आग्रह करते देखे जाते हैं, किन्तु उनका यह कथन निराधार है।

१—श्रीकृष्ण-लीला सम्बन्धी वर्णन का जैसा विस्तार इस पुराण में है, वह अत्यधिक कल्पित और आधुनिक है।

२—इसी प्रकार वासुदेव महात्म्य तथा सम्पूर्ण भक्ति विषयक लेख प्राय ज्यों के त्यों 'नारद-पुराण' से उद्धृत और नारद-पुराण सबसे अंतिम पुराण है। विशेष-कर पुरुषोत्तम महात्म्य और जगन्नाथ तीर्थ का वर्णन। इसकी रचना प्राय उसी समय को सिद्ध करती है, जब ११ शताब्दी में उक्त मंदिर बनाया गया था।

३—और भी जितनी घटनाएं हैं वे सब ब्रह्मा के पीछे की हैं और उन्हें भूत-काल की क्रिया में ही लिखा गया है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुराण उन घटनाओं के घटित हो जाने के पीछे किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचा गया।

कहा जाता है कि ब्रह्मा का वह आदिम ब्रह्म पुराण या ब्राह्मपुराण अप्राप्य है जो उन्होंने १ लाख श्लोकों में रचा था।

आदि पुराण ग्रन्थ—अब प्रश्न यह है कि ये पाँच पुराण कौन से थे। इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना सरल नहीं, किन्तु हमारा अनुमान है कि व्यास ने स्वयं वह पुराण लिखा हो, जिसका नाम इस समय 'हरिवंश पुराण' है। वायु और ब्रह्मांड का उल्लेख ऊपर हो चुका है। विशेष दो पुराण में एक एक मत्स्य होना सम्भव है और दूसरा भविष्य, कूर्म या विष्णु में से कोई एक हो सकता है।

ब्रह्मांड पुराण—इसके विरुद्ध एक अन्य पुराण 'ब्रह्मांड पुराण' के नाम से भी मिलता है। जिसके विषय में उसी नारद-पुराण में लिखा है—

ब्रह्मांडश्च चतुर्लक्ष पुराणत्वे न पठ्यते,
तदेवयात्य गदितमत्राष्टादशधा पृथक्।
पाराशर्येण मुनिना सर्वेषामपि मानद॥

ब्रह्मांड-पुराण की श्लोकों की संख्या ४ लाख है तथा उसी चार लाख श्लोकों की संख्या को व्यास जी ने अठारह भागों में बाँट दिया है। प्राचीन ब्रह्म संहिता या ब्रह्मांड-पुराण किसी न किसी रूप में व्यास जी के पश्चात् भी प्रचलित रहा और वह ब्रह्मांड-पुराण के रूप में था, यद्यपि उसकी श्लोक संख्या इस समय १२००० से ८१००० तक बताई जाती है। इस पुराण के चार पादों की श्लोक संख्या का क्रम वही है, जो युगों के वर्षों की संख्या का होता है।

अर्थात्—		
	प्रथम पाद (सतयुग)	४८००
	द्वितीय पाद (त्रेता)	३६००
	तृतीय पाद (द्वापर)	२४००
	चतुर्थ पाद (कलि०)	१२००
	योग	१२०००

इस पुराण के दो सस्करण प्राप्त हैं, एक तो भारतीय और दूसरा वह, जिसे विक्रम की ५वी ६ठी शताब्दी मे अपने साथ भारतवासी वाली जावा आदि द्वीपों को ले गये थे। इस दूसरे सस्करण मे भविष्य राज-प्रकरण नही पाया जाता, किन्तु जनमेजय के प्रपौत्र अधिसीम कृष्ण तक की वशावली दी है। इससे स्पष्ट है कि इस पुराण की रचना उक्त महाराज के समय मे हुई थी, अर्थात् व्यास ने अथवा उसके किसी शिष्य ने इस पुराण को उस समय ब्रह्म सहिता से सग्रह करके पूरा कर दिया था। दूसरी बात यह भी स्पष्ट है कि इस पुराण मे (तथा अन्य सब पुराणो मे भी) भविष्य-प्रकरण समय-समय पर बढाया जाता रहा है। यह बात इस प्रकार स्पष्ट होती है कि अधिसीम कृष्ण तक के राजाओ के साथ भूत-कालिक क्रिया लगाई गई है और आगे भविष्य-कालिक क्रिया। भविष्य राजवश के अतिरिक्त दूसरा, विवादास्पद विषय तीर्थों के महात्म्य और व्रत आदि भी इस पुराण मे हैं, जो अधिकता से पाये जाते हैं।

इनके सम्बन्ध मे आजकल के पौराणिक पडितो के साथ-साथ हमारी भी यही सम्मति है कि इनमे से अधिकाश आधुनिक काल मे रचित हुए हैं। इतना ही नही, सब तिथि, व्रत, कथा आदि बहुत सी बाते और महात्म्य सब पुराणो मे ही आधुनिक हैं।

मत्स्य पुराण—यह पुराण भी प्राचीन है। परन्तु इसका भविष्य प्रत्यक्ष ही बाद की रचना है। इसके अतिरिक्त इस पुराण का बहुत सा स्थल ऐसा है जिसे स्वय सूत ने अपनी ओर से ऋषियो के प्रश्न करने पर कह दिया है। यद्यपि वे बाते मत्स्य भगवान् ने मनु से नही कही थी। वास्तव मे मत्स्य पुराण भी अधिसीम कृष्ण के समय की रचना है और व्यास से भिन्न किसी व्यक्ति ने इसे लिखा है।

वश वर्णन—पुराणो का एक आवश्यक विषय वंश-वशान्तरो की कथा है। पुराणो को छोडकर इस समय पुराने राजा-महाराजाओ के चरित्रो के जानने का साधन महाभारत और रामायण के अतिरिक्त पुराण ही हैं। महाभारत और रामायण जहाँ इस प्रकरण मे अधूरे हैं, वहाँ पुराणो की सहायत बडी उपयोगी है। फिर महाभारत के पश्चात् के इतिहास के लिए तो केवल वे पुराण ही प्रमाण रूप से ग्राह्य हैं।

पुराणो मे सब मिलाकर महाराज युधिष्ठिर के समय तक सूर्य और चन्द्रवंशो के प्राय १०० नाम मिल जाते है। कदाचित् इतना बडा वश-वृक्ष ससार मे किसी जाति मे भी नही पाया जायेगा। इन राजाओ के नाम के साथ-साथ उनके सूक्ष्म चरित्र भी दिये गये है। किन्तु ये पुराण वश किसी प्रकार भी पूर्ण नही माने जा सकते।

पार्जीटर ने पौराणिक राजाओ की एक क्रमबद्ध सूची छपवाई है। श्री पार्जीटर यूरोपियन विद्वान् समाज मे पुराण सम्बन्धी ज्ञान के लिए प्रमाण समझे जाते हैं। किन्तु उनकी यह सूची कितनी अधूरी है, इसका अनुमान पाठक एक बात से ही कर लेंगे। पार्जीटर की सूची मे ययाति को आदि से छठी पीढी मे गिनाया है। यहा इन्होने मनु से वश-पीढियो की गणना की है और चन्द्र को छोड दिया है, जिससे स्पष्ट ही सात के स्थान मे छ पीढी रह गई। किन्तु 'मत्स्य-पुराण' मे इस विषय मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ययाति प्रजापति से दसवें थे। अब प्रजापति चाहे मनु को मानिये, चाहे अत्रि

को अथवा ब्रह्मा को मान लीजिए, किन्तु ययाति तक १० पीढियां अवश्य मिलनी चाहिए। किन्तु इस समय 'मत्स्य-पुराण' मे भी केवल आठ पीढी ही पाई जाती है। वे पीढी ये है—१ ब्रह्मा, २ अत्रि, ३ चन्द्र, ४ , ५ पुरुरवा, ६ आयु, ७ नहुष और ८ ययाति ब्रह्मा के पश्चात् मनु एक नाम और भी बढाया जा सकता है, किन्तु दस नाम किसी प्रकार भी पूरे नही हो सकते।

प्रचलित पुराणो म तीर्थो का महात्म्य, विधि, दिवस और पर्वो के उपलक्ष मे, उपवास करने यथा दान आदि देने का महात्म्य और उनका प्रभाव देवताओ, ऋषियो तथा उनके अवतारो का चरित्र एव उनके जीवन की कथाये, अधिकता से मिलती हैं।

मार्कण्डेय पुराण—इस आपा-धापी मे १२ पुराणो का छाट निकालना परम-कष्ट-साध्य तो है ही, किन्तु सोचना यह है कि क्या पुराण १८ ही थे ? मार्कंडेय-पुराण के सम्पर्क मे व्यास का नाम तक कही नही पाया जाता। अष्टादश-पुराणकर्त्ता ने इस पर जो सम्मति प्रकाशित की है, उसके अनुसार यह भिन्न-भिन्न स्थानो से सग्रह किया गया है, कोई स्वतन्त्र रचना नही है। कुछ भी हो, इसे १८ पुराणो की सूची तथा पुराणकोटि से भी निकाला नही जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि १८ पुराण व्यास के ही बनाये हुए नही है। नारद-पुराण के अनुसार मार्कण्डेय ऋषि को पुराण-सहिता रचने का वरदान मिल चुका था, अत यह सहिता उन्होने रची थी—पुराण महिताकतु दत्तावान् वरमच्युत। (अ० ५ श्लोक ११)

विष्णु-पुराण—विष्णु-पुराण की श्लोक सख्या २३००० बताई जाती है। यह सख्या व्यास के रचे हुए पुराण की है। इस प्रचलित पुराण मे ६ अश तथा प्राय ६ सहस्र श्लोक मिलते हैं। शेष सख्या पूर्ण करने के लिये विष्णु धर्मोत्तर नाम के ग्रथ को भी इनमे मिलाया जाता है, किन्तु तब भी इसकी सख्या १५००० से अधिक नही बढती। ऐसी दशा मे शेष श्लोको के नष्ट हो जाने की कल्पना की जाती है। आज से लगभग २२०० वर्ष पहले शकराचार्य जी ने 'यस्मिन्यस्तमतिन' याति नरक स्वर्गोऽपि यच्चिन्त्यते विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसा ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पक। मुक्तिचे तसि य स्थितो मलधिपा पुसा ददात्यव्यय। कि चित्र यदघ प्रयाति विलय तत्राच्युते कीर्तिते' यह श्लोक उद्धृत करके इसे उक्त पुराण के अन्त का कहा है। इस समय यह इस पुराण के अन्तिम वंश के अन्तिम अध्याय के ६४ श्लोको मे से ५७वा पाया जाता है। उन्होने स्पष्ट ही इसके अनुसार छ अश वाले पुराण को विष्णु पुराण ठहराया है। यही नही बल्कि विष्णु-धर्मोत्तर का उल्लेख करते समय एक और स्थान पर उसे स्वतन्त्र ग्रथ माना है। एक बात और है, विष्णु पुराण की विस्तृत सूची लिखते समय नारद-पुराण के लेखक ने उस भविष्य वश का वर्णन नही किया हैं, जो इस समय इस छ वश वाले पुराण के अग चार अध्याय २१ मे २४ तक मे गिनाये हैं। इन अध्यायो मे शुग, कण्व, गुप्त, शातकर्णी, म्लेच्छ, यवन आदि राजाओ का उल्लेख पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि इस पुराण म भी यह सब कुछ उसी प्रकार उस समय बढाया गया होगा, जैसे मत्स्य पुराण मे यह वृद्धि की गई थी।

अग्नि पुराण—अग्नि-पुराण मे भी ब्राह्मण संस्कृति को सगठित करने एव पौराणिक धर्म स्थापित करने के प्रयत्नो का पूरा पूरा आभास पाया जाता है। महाराज विक्रमादित्य शकारि तक राज वशावली के अतिरिक्त इसमे धर्मशास्त्र, राजनीति प्रजा धर्म, आयुर्वेद, व्याकरण, रस अलकार, शस्त्र विद्या (धनुर्वेद) शिल्प-शास्त्र, तक्षण कला, प्रतिमा-निर्माण कला, व्यवहार प्रदर्शन, स्वप्न-शकुन, छन्द, कोश आदि के अतिरिक्त नैत्यिक दिनचर्या आदि भी कितनी ही ऐसी बाते इसमे दी गई हैं, जिनका सम्बन्ध समाज के जीवन से है। यह सब कुछ रचना अधिकतर उसी प्रकार सग्रह की गई हैं जैसे मत्स्य पुराण का राजनीति प्रकरण या नारदीय पुराण का वेदाग प्रकरण (आगे नारद पुराण के प्रसग मे देखिये) अग्नि-पुराण का स्वर्गादि वर्ग विशिष्ठ-कोष एक प्रकार के अमरसिंह के प्रसिद्ध अमर कोष का सक्षिप्त सस्करण है। श्लोक के श्लोक ज्यो के त्यो यहाँ उद्धृत पाये जाते हैं। आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य शास्त्र, स्थापत्य कला आदि बातें पुराण का विषय नही है, किन्तु जब यह पुराण लिखा गया था (अर्थात् शकारि का शासन समय) उस समय भारत की सस्कृति का पुन सगठन हो रहा था और बुद्ध के सिद्धान्त तथा उनका दर्शन शास्त्र भी भारतीय सस्कृति का अग स्वीकार किया जा चुका था, अत यह सब एकत्रित ग्रथ रूप मे किया जा रहा था। उसी आवेश मे रची हुई कृतियो मे, इस अग्नि-पुराण का भी जन्म हुआ। यही बात गरुड़-पुराण के सम्बन्ध मे भी अक्षरश ठीक है।

श्रीमद्भागवत्—इसकी श्लोक सख्या १८००० कही जाती है, किन्तु गणना करने पर १४०८० बैठते हैं। अनुष्टुप की गणना मे यह १५००० से अधिक किसी प्रकार नही हो सकते। यद्यपि इसके १२ स्कन्ध मिलते है, किन्तु वास्तविक ग्रथ मे प्रथम दो स्कन्ध (२० अध्याय और १२१६ श्लोक) नही गिनने चाहिएँ, क्योंकि वास्तव मे भागवत् तो वही है, जो परीक्षित ने सुना होगा, और महात्मा शुक्र का आख्यान यदि दूसरे व्याख्यान को ठीक माना जाये कि शुकदेव ने यह ग्रन्थ महाराज को सुनाया होगा, तीसरे स्कन्ध से ही आरम्भ होता है।

इस पुराण को ब्रह्म सहिता के अनुसार रचा हुआ कहा गया है और नारद आदि पुराणो की तरह सूत इसे सोनक आदि ऋषियो को सुनाने वाले हैं। महाराज परीक्षित प्रश्न करते गये और उन प्रश्नो के उत्तर देकर शुकदेव जी को उनका समाधान करना पडता था। इन प्रश्नोत्तरो के संग्रह-ग्रथ का नाम ही इस समय भागवत् माना जाता है।

भविष्यत् पुराण—यह कहा जाना असम्भव नही, तो असम्भव जैसा ही है कि किस पुराण का प्रवेश पुराण-कोटि मे कब हुआ। ऊपर जिन पुराणो का उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त पुराने ,कहे जाने वाले पुराणो मे भविष्यत् पुराण का नाम भी लिया जा सकता है। आपस्तव-धर्म सूत्र मे इस पुराण के [illegible] कुछ श्लोक उद्धृत किये गये है। भविष्य पुराण का वर्तमान कलेवर [illegible] ज[illegible]
इस पुराण की श्लोक सख्या प्राय सर्वत्र १४५०० मानी [illegible]

मे २६९७२ श्लोक पाये जाते है। यदि इनमे से भविष्योत्तर खण्ड को एक स्वतन्त्र पुस्तक मानकर उसे अलग भी करदें तो भी १८३७८ श्लोक रहते हैं, जो पुरानी सख्या से ३७२८ अधिक हैं। पार्जीटर का मत है कि राज्यवश का क्रम सर्वप्रथम इसी पुराण मे रक्खा गया था और शेष पुराणो ने इसी से उद्धृत किया हैं। इसके अतिरिक्त, ब्राह्म पर्व मे लिखा है कि सब पुराण १२-१२ सहस्र श्लोको के थे। पीछे स्कन्ध बढकर १ लाख का और भविष्य ५० हजार का हो गया। भागवत् और मत्स्य पुराणो मे स्कन्ध को ८१ हजार तथा भविष्य को साढे चौदह हजार का ही लिखा है। शायद उन ग्रथो मे उक्त सूची मिलाते समय ये ग्रथ इतने ही मिलते होगे।

जैन-धर्म काल में भारतीय सभ्यता का विकास

(८०० ई० पू०)

उत्तर-वैदिक काल मे, जबकि देश पूर्ण रूपेण कर्मकाण्डी वन चुका था और मीमासको का बोलबाला था । ऋग्वेद का घृत-दुग्ध प्रधान यज्ञ बलि-प्रधान हो गया था । अत यज्ञ की विशालता बलि पशुओ की सख्या पर निर्भर हो गई थी । मीमासक पुरोहितो का कर्मकाण्ड अत्यन्त कठोर था । राजा और सामन्त लोग पुरोहितो के हाथ की कठपुतली थे । देवताओ को प्रसन्न करने के लिए भी पशु बलि दी जाने लगी थी । यज्ञ की हिंसा हिंसा नही समझी जाती थी, आचारशास्त्र से लोगो की आस्था उठ गयी थी । आत्मा-परमात्मा के विषय मे तरह-तरह की कल्पनाए की जाती थी । वश-परम्परा जातिगत भेदो मे वटकर फल-फूल रही थी । ब्राह्मण अपने को सर्वोच्च मानते थे । सन्यासी लोगो के अन्दर तपस्या का आडम्बर मात्र रह गया था । तार्किक लोग वाद-विवाद मे फमकर जीवन के कर्त्तव्यो को भूल गये थे । इसी अवस्था मे श्री पार्श्वनाथ ने जैन-धर्म को जन्म दिया और देश के पाखण्ड-वाद ने जैन और बौद्ध धर्म को बढाने मे सहयोग का काम किया ।

जैन-धर्म को बढाने का श्रेय वस्तुत महावीर स्वामी को है । महावीर का जैन-धर्म वस्तुत हिन्दू-धर्म की धार्मिक हिंसा की मर्यादा के विरुद्ध एक क्रान्ति थी। जैनमत जल वायु आदि सब मे जीव मानता है और जीव रक्षा का महत्त्व ही इस धर्म मे सर्वोपरि है । इस धर्म मे 'मनसा वाचा कर्मणा' जीव हिंसा का विरोध किया गया है । वस्तुत महावीर स्वामी और बुद्ध हिन्दू धर्म के तेजस्वी सुधारक थे ।

अन्य सम्प्रदाय—जैनकाल मे मस्करी नामक एक परिव्राजको का सम्प्रदाय भी था । पाणिनि के समय मे इसने पर्याप्त उन्नति की थी । वास्तव मे बुद्ध-काल का 'आजीवक-सम्प्रदाय' और 'मस्करी-सम्प्रदाय'—दोनो एक ही थे । बौद्ध-साहित्य मे आजीवक लोगो के जो मूल सिद्धान्त वर्णित हैं वे मस्करी लोगो के सिद्धान्तो से भिन्न नही है । बौद्ध ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि यह लोग बडे भारी तपस्वी होते थे । वे हठयोग की कठिन से कठिन परीक्षा द्वारा अपनी देह को सुखा दते थे । पचाग्नि मे तपते थे । अपने शरीर पर धूलि या भस्म लगाते थे । 'जानकी-हरण' मे सीता को हरने के लिए रावण 'मस्करी-साधू' के वेश मे ही आया था । इससे ज्ञात होता है कि इस सम्प्रदाय का जन्म रामायण-काल मे ही हो चुका था और इसने अखिल

भारतीय रूप ग्रहण कर लिया था। उदापि कुण्डियानन इस मत का नस्थापक तथा आदि आचार्य माना जाता है।

'आजीवक' का अर्थ है—'जीविका के लिये फिरने वाला।' इस सम्प्रदाय के साधू जीविका के लिये ज्योतिष का आश्रय लेते थे। इस सम्प्रदाय के अस्तित्व का ज्ञान ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थो मे पर्याप्त मिलता है। भगवान् बुद्ध ने अपने समय के जिन प्रभावशाली छह तीर्थ करो का वर्णन किया है, उनमे 'मक्खली गोशाल' भी है। 'मक्खली', भी 'मस्करी' का ही पाली रूप है। गोशाल की ख्याति जैन ग्रन्थो मे विशेष रूप से उल्लिखित है। सातवें स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि उस समय ब्राह्मण, जैनियो के साथ-साथ आजीविक लोग भी समाज के आदर के पात्र थे। विक्रम के अष्टक शतक मे यह सम्प्रदाय अपना स्वतत्र अस्तित्व खो बैठा और शैवो तथा वैष्णवो के सम्प्रदाय मे घुलमिल गया। सम्भवत नागा लोगो की जमातो मे इनका अन्तर्भाव हो गया। 'नियतिवाद' आजीवको का प्रधान सिद्धान्त है और वह बहुत काल से देश का मान्य सिद्धान्त बन चुका है उदाहरणार्थ—"भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" वाक्य आजीवको का प्रतिध्वनि मात्र है।

आजीविको का कोई निजी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अत इनकी स्थिति के ज्ञान के लिए जैन और बौद्ध ग्रन्थ ही आधार हैं। इस सम्प्रदाय मे दो प्रकार के अनुयायी थे—भिक्षु और गृहस्थ। भिक्षु लोग नगे रहते थे, कठिन तपस्या करते थे। भिक्षा न मिलने पर उपवास करते थे। भोजन-छाजन मे अत्यन्त कठोर नियमो का पालन करते थे। वे मद्य-माँस से सर्वथा दूर रहते थे। आजीवक गृहस्थो के आचार भी अच्छे थे। माता-पिता की सेवा प्रधान कर्म था। भोजन मे गूलर, बड, बेर, शहतून तथा पीपल के फलो का परित्याग करते थे। बिना दागे और बिना नाथे बैलो से कृषि करते थे। प्राणी हिंसा से बचते थे। अत इनके और जैनो के सिद्धान्तो मे अधिक अन्तर नही था।

आजीवक लोग आत्मवादी, पुनर्जन्म तथा मोक्ष को मानने वाले दार्शनिक थे। इनका सबसे प्रधान मत था 'नियतिवाद'। इनके मत से जगत की प्रत्येक घटना नियति के वश मे होकर कार्य करती है। 'दीर्घनिकाय' के अनुसार मखली का सक्षिप्त मत है—"सत्वो (जीवो) के क्लेश का कोई हेतु या प्रत्यय नही है। सभी सत्व—सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अपने वश मे नही हैं—निर्बल और निर्वीर्य है। भाग्य और सयोग से सुख-दुख भोगते हैं।" इसीलिये ये विद्वान् आजीवको को दिगम्बर जैनियो से भिन्न नही मानते है, क्योकि बाह्य आचारो के विषय मे उनकी समता स्पष्ट है, परन्तु साम्यप्रतिपादक प्रमाणो की छानबीन करने वाले मुनि कल्याण विजय जी का यह निर्णय यथार्थ प्रतीत होता है कि दोनो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के थे।

भगवान महावीर—महावीर स्वामी का जन्म वैशाली क्षत्र के 'कुण्डल ग्राम मे हुआ। 'वज्जिसघ' की राजधानी वैशाली नगरी का इतिहास अति प्राचीन है। वल्मीकि

रामायण "बालकाण्ड' के अनुसार जब विश्वामित्र के साथ रामचन्द्र जी जनकपुर जा रहे थे, तब रास्ते मे उन्हे वैशाली नगरी मिली थी, उस समय इसका नाम' विशाला' था। इसका निर्माण इक्ष्वाकु के पुत्र 'विशाल' ने कराया था। विशाल की माता का नाम 'अलम्बुषा' था। परन्तु इस विशाला नगरी को बसाने वाले राजा विशालको विष्णु-पुराण ने, इक्ष्वाकु का पुत्र नही माना है। इस पुराण के अनुसार इक्ष्वाकु वश के राजा दिष्ट के पुत्र 'नाभाग' थे, जो वैश्य हो गये थे। इसी नाभाग की २६वी पीढी के तृणविन्दु राजा हुए, विशाल इसी के पुत्र थे। इनकी माता अलम्बुषा थी जो एक अप्सरा थी। वाल्मीकि रामायण मे भी "इक्ष्वाको पुत्र·" का अर्थ इक्ष्वाकु वश की सन्तान है—इक्ष्वाकु के पुत्र नही। राम जब मिथिला जा रहे थे, तब विशाला मे "सुमति' नामक राजा राज्य करता था।

महावीर का जन्म सिद्धार्थ नरेश के यहाँ ६०० ई० पू० हुआ था। उस समय पार्श्व नाथ का जैन धर्म अत्यन्त शिथिल गति से चल रहा था। इन सब का सुधार करके युगान्तर का विचार महावीर के मन मे सदा आया करता था। वैशाली क्षेत्र के कुण्डल ग्राम मे जन्म लेने के कारण वर्द्धमान (महावीर) का नाम 'वैशालिक' भी था। इनकी माता का नाम 'त्रिशाला' था। मध्यकालीन जैन टीकाकारो का कथन है कि महावीर की माता का नाम 'विशाला' भी था, इसलिये वे वैशालिक कहे जाते थे। 'त्रिशाला' के पिता का नाम 'चेटक' था। चेटक की दूसरी कन्या—त्रिशाला की छोटी बहन मगध के सम्राट बिम्बसार को ब्याही थी। जिससे 'अजात शत्रु' का जन्म हुआ था। इस नाते यह महावीर का मौसेरा भाई था। मगध मे महावीर तीर्थंकर के जैन धर्म को प्रश्रय मिलने का यही प्रधान कारण था। उस समय वैशाली मे बड़े-बडे योद्धा—धर्माचार्य, तपस्वी, दिग्गज विद्वान् वास करते थे, जिनमे मह्लवाली, महानाम, सिंहसेनापति, गौश्रृंगी, भद्दकर और सच्चक जैसे महापुरुष थे। जैनो के २४वें तीर्थ-कर महावीर यहा के वशज थे। इनमे से गौश्रृंगी ने ही 'महावन' और 'शालवन' नामक आश्रम बनवाए थे। 'शालवन' मे ही 'कूटामार' शाला थी, जो दुमजिली थी, और भगवान् बुद्ध वैशाली आने पर इसी मे ठहरे थे।

अपने माता-पिता के स्वर्गवासी होने पर महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था मे गृह-त्याग किया। गृह-त्याग के समय मे उनके मन मे केवल एक ही प्रश्न था कि दुःख दूर करने का उपाय क्या है? और वह उपाय व्यवहार मे लाया भी जा सकता है या नही। अपनी १२ वर्ष की तपस्या के उपरान्त उन्होने जिस ज्ञान का अनुभव किया, वह 'केवल-ज्ञान' कहलाया। उनका अपना ज्ञान अनुभव मूलक होने के कारण 'प्रत्यक्ष' और शिष्यो को सुना सुनाया होने के कारण 'परोक्ष' कहलाया। १२ वर्ष तक घोर तपस्या और गहन मनन-चिन्तन करने के बाद वे पूर्ण समदर्शी और मर्मज्ञ हो गये थे। उन्होने अपने धर्म-प्रचार मे देवता एव परलोकवाद को तनिक भी स्थान नही दिया। 'कैवल्य" प्राप्त करने के बीस वर्ष बाद तक वह जीवित रहे, ई० सन के ४७४ वर्ष पूर्व पावापुर मे उनका निर्वाण हुआ।

जैन-धर्म का उदय—वस्तुत जैन धर्म की स्थापना जन साधारण के कल्याण और हिन्दू-धर्म की कुरीतियो को हटाने के लिए हुई। महात्मा महावीर स्वामी ने हिन्दू-धर्म की बहुत सी अच्छी बाते लेकर नए नियमो का सृजन किया और नये-धर्म की रचना की। तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ को इतिहासकार जैन-धर्म का सस्थापक मानते है और अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर महावीर को सशोधक। पार्श्वनाथ श्री महावीर मे २०० पूर्व वर्ष हुए थे, जबकि महावीर स्वामी, महात्मा बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु उनका निर्वाण महात्मा बुद्ध से पहिले हुआ था।

सघ-व्यवस्था—श्री महावीर स्वामी ने अपने धर्म के लिये चार सघ बनाये थे--मुनि, आर्सिका (साध्वी), श्रावक और श्राविका। इन चारो सघो का दृढ सगठन था। इस सघ व्यवस्था की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होने अपनी धर्म-व्यवस्था मे स्त्रियो-पुरुषो को समान सम्मान दिया है उस समय स्त्रियो को वेद पढने का भी अधिकार न था। उन्होने जब सघ स्थापित किया था तब प्रमुख पद एक महिला 'चन्दना' को दिया था। श्रावक सघ और श्राविका सघ की स्थापना के पश्चात् महावीर स्वामी ने इन केन्द्रो की देखरेख का भार मुनियो के सुपुर्द किया। उस समय १४ हजार जैन मुनि थे, १६ हजार आर्यिकाए थी, १ लाख ६९ हजार श्रावक थे और ३ लाख १८ हजार श्राविकाए थी।

चतुर्विध सघ की स्थापना के उपरान्त उन्होने साधिको को त्रिपदी का उपदेश दिया अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। नष्ट और प्रस्तुत रहने वाली वस्तु मे उन्होने नित्यवाद, क्षणिकवाद आदि का समन्वय किया।

जैन-सम्प्रदाय—जैन-धर्म मे मुख्य दो सम्प्रदाय है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। जैन धर्म मे एक सम्प्रदाय से दो कैसे बने—इसका इतिहास नही मिलता। परन्तु यह सत्य है कि यह विघटन किसी घटना विशेष का परिणाम नही-अनेको मतभेदो का परिणाम है। यह सत्य है कि महावीर अधिकाशत दिगम्बर वेश मे रहते थे। आर्यिकाए एव श्राविकाए वस्त्र धारणकरती थी। महावीर के ६८ वष बाद तक तक मत-भेद रूचिभेद के रूप मे रहा। जम्बू स्वामी के बाद, दिगम्बर और श्वेताम्बर की आचार्य-परम्परा भिन्न पड गयी। श्वेताम्बर लोग स्त्री तथा शूद्र को भी मोक्ष के अधिकारी मानते हैं, किन्तु दिगम्बर लोग ऐसा नही मानते। दिगम्बर साधु कमण्डलु और पख को अपने साथ रखते हैं, अन्य कोई वस्तु नही। वे केशो को मुडवाते नही, करते हैं। आहार के समय पात्र के स्थान पर हाथ का प्रयोग करते हैं। आचार के नुनयन बारे मे अत्यन्त कठोर होते है और कांटो को सहन करते हैं।

जैन-धर्म का व्यवहार पक्ष—जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त है--(१) अहिसा, (२) सत्य, (३)अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५)अपरिग्रह अर्थात् निर्लोभ। पतजलि के राजयोग के भी यही स्तम्भ है। जैन-धर्म भ्रातृभाव और सब जीवो मे समानता की शिक्षा देता है।

जैन-धर्म मे ईश्वरवाद---जैन-धर्म का महावाक्य है—''अहिसा परमो धर्म ।

इसके अतिरिक्त जैन-धर्म मे ईश्वर के अस्तित्व पर आस्था नही है। अपितु मुक्तजीव ही परमात्मा कहलाता है। वह तपाये हुए सोने की भाति विशुद्ध दिव्य छवि धारण करता है। अत तीर्थ कर अवगुणो से परे वास्तविक ईश्वर समझे जाते हैं। जैन-धर्म मे ऋषभदेव से लेकर, महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं उनकी विचारधारा मे तीर्थंकरो का पुनर्जन्म नही होता। भिन्न-भिन्न तीर्थ स्थानो मे तीर्थंकरो की मूर्तियाँ हैं, जिनकी पूजा दिगम्बर और श्वेताम्बर अपनी-अपनी पद्धति से करते है।

धार्मिक जैन-साहित्य—जैन धार्मिक साहित्य छ भागो मे विभाजित किया जा सकता है—१ 'द्वादशअग', २. 'द्वादशउपाग', ३ दस प्रकीरण, ४ षट्क्षेद्रसूत्र, ५. चार मूल सूत्र और ६ विविध साहित्य।

द्वादश अंग—पहला अ ग आचारगसुत्त है। (आचाराग सूत्र) है। वस्तुत यह जैन भिक्षुओ की आचार-सारिणी है। इसमे भिक्षुओ को अहिंसा और तपश्चर्या के विविध निर्देष हैं।

दूसरा अग—सूत्र कृदग है। इस ग्रन्थ मे जैनेत्तर धर्मों और मतो की समालोचना है और जैन-धर्म पर किये गये आरोपो का समुचित उत्तर दिया गया है।

स्थानाग—इस ग्रन्थ मे जैन-धर्म के सिद्धान्तो का विशेष वर्णन है।

समवायाग—इसमे भी जैन-धर्म के सिद्धातो का वर्णन है।

भगवती सूत्र—यह जैन-धर्म के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो मे से एक है। इसमे जैन-धर्म के सिद्धान्तो के अतिरिक्त स्वर्ग और नर्क का भी विशेष वर्णन है। जैन-धर्म मे स्वर्ग और नर्क की कल्पना की क्या रूपरेखा है, यह बताया है। हिन्दू-धर्म की भाँति जैन धर्माचार्यों ने भी स्वर्ग की कल्पना आत्मा के सुख के लिए की है। और नर्क की कल्पना कष्ट के लिये। इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी तथा उनके समकालीन धर्माचार्यों की गाथाओ का सकलन भी इस ग्रन्थ मे है।

ज्ञान धर्म कथा—इस ग्रन्थ मे अनेक कथाओ, आख्यायिकाओ तथा पहेलियो द्वारा जैन-धर्म के सिद्धान्तो का विवेचनात्मक वर्णन है।

उवासगदसाओ—इस ग्रन्थ मे उन महान् व्यापारियो की कथाएँ हैं, जिन्होंने जैन-धर्म स्वीकार कर मोक्ष प्राप्त किया था।

अन्तं'कृद्दशः—इस ग्रन्थ मे जैन धर्मावलम्बी उन तपस्वियो का वर्णन है, जिन्होने अपन तन को तपस्यारत करके मोक्ष प्राप्त किया।

अनुत्तरोपपातिक दशः—इस ग्रन्थ मे भी पूर्व ग्रन्थ की भाति ही तपस्वियो की तपस्या और मोक्ष की आख्यायिकाएँ हैं।

प्रश्न व्याकरण—वस्तुत यह धर्म व्याकरण है, जिसमे जैन-धर्म की दस शिक्षाओ और दस निषेधो आदि की विवेचना है।

विपांगश्रुतम्—इस जैन ग्रथ मे मृत्यु के उपरात मनुष्यो के कर्मो के फलाफल का कथाओ द्वारा वर्णन किया गया है।

दृष्टिवाद—यह अ ग (ग्रथ) वर्तमान मे अनुपलब्ध है। जैन लोग दृष्टिवाद

मे चौदहपूर्वा का परिगणन् करते हैं। वस्तुत यह पुराणो की भाति अति प्राचीन काल से प्रथम तीर्थंकर के समय से ही विकसित हो रहे थे। इन चौदह पूर्वा से सयुक्त होकर जैन लोगो का बारहवा अ ग बनता था। यह पूर्वा महावीर स्वामी के बाद आठवें आचार्य स्थूलभद्र के समय तक ज्ञात थे, तदुपरात यह नष्ट हो गये।

द्वादश उपाग—प्रत्येक अग का एक-एक उपाग है। यह निम्न हैं—(१)औपपातिक , (२) राजप्रश्नीय , (३) जीवाभिगम , (४) प्रज्ञापना , (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति , (६) चन्द्र प्रज्ञप्ति (७) सूर्य प्रज्ञप्ति , (८) निरयावली , (९) कल्पवन्तसिका ; (१०) पुष्पिका , (११) पुष्पचूलिका , (१२) वृष्टिदश ।

दस प्रकीर्ण—इसमे जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयो का वर्णन है । इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चतु शरण, (२) सस तारक, (३) आतुर प्रत्याख्यनाम, (४) भक्त परिज्ञा, (५) तन्दुलवैचारिका, (६) चन्द्रवैद्यक, (७) गणिविद्या (८) देवेन्द्रस्तव (९) वीरस्तव, (१०) महाप्रत्याख्यान ।

षटक्षेत्रसूत्र—इन सूत्रो मे जैन श्रमणो के लिये विविध प्रकार के नियमो का दृष्टान्तो द्वारा वर्णन है। छन्द सूत्रो के नाम निम्न हैं—व्यवहार सूत्र, वृहत्कल्प सूत्र, दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, निषिथसूत्र, महानिशीथसूत्र, जित्कल्पसूत्र ।

विविध—इस श्रेणी के अन्तर्गत विविध ग्रथ है, किन्तु उनमे सबसे महत्वपूर्ण नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार है। इनमे विभिन्न प्रकार के विषयो का समावेश है। जैन भिक्षुओ को जिन विषयो का ज्ञान था वह सभी ज्ञान इनके अन्तर्गत आ गया है। इन ग्रन्थो की रूपरेखा विश्वकोश जैसी है। उन ग्रथो पर सैकडो टीकाएँ भी है। इन टीकाओ मे सबसे प्राचीन टीकाएँ नियुक्ति कहलाती है। इनका समय 'भद्रबाहुसुतु केवली' का कहा जाता है। जैन टीकाकारो मे सबसे प्रसिद्ध हरिभद्र स्वामी हुए हैं। इन्होने अनेको धर्म ग्रथो पर टीकाए लिखी हैं। इनके अतिरिक्त शान्तिसूरी, देवेन्द्रगणि और अभयदेव जी ने भी बहुत सी महत्वपूर्ण टीकाएँ लिखी है। प्राय सभी जैन ग्रथ प्राकृत भाषा मे हैं। जैन प्राकृत, आर्य या अर्द्धमागधी नाम से प्रसिद्ध है।

जैन धर्म की शिक्षायें—जैन धर्म की शिक्षाओ का ज्ञान उन ग्रन्थो से होता हैं जो भगवान महावीर के समय के बहुत काल के पश्चात् वल्लभि की महासभा द्वारा सवलित हुआ था । अत जैन धर्म के अनुसार मानव-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष प्राप्ति के लिये मनुष्य किन उपायो का अवलम्बन करे । यह उपाय जन-साधारण और ऋषि-मुनियो के लिये पृथक-पृथक हैं। जिन नियमो का पालन एक मुनि कर सकता है। साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नही कर सकेगा। इसलिए जीवन की इन दोनो स्थितियो मे मुमुक्षु के लिये जो भिन्न-भिन्न धर्म है उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन निम्न प्रकार है—

पाँच अणुव्रत—जैन सिद्धान्तानुसार गृहस्थ (श्रावक) के लिए पाच अणुव्रतो का पालन आवश्यक है ससार चक्र मे रत रहने के कारण उनसे पापो का होना स्वाभाविक है अत उनके लिये अणुव्रतो का विधान किया गया है। इनमे प्रथम है—

'अहिंसाणुव्रत' इस व्रत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मन, वचन और शरीर से किसी प्रकार की हिंसा न करे । परन्तु सासारिक मनुष्यो के लिये पूर्ण हिंसा व्रत धारण करना अत्यन्त कठिन है, अत उनके लिये 'स्थूल अहिंसा का विधान किया गया है । स्थूल अहिंसा का अभिप्राय है कि निरपराधियो की हत्या न की जाय। (२) सत्याणुव्रत—द्वेष, स्नेह तथा मोह के उद्वेग रोककर सर्वथा सत्य बोलने को 'सत्याणुव्रत' कहते हैं । (३) अचौर्याणुव्रत—या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दसरो की चोरी न करना गिरी–पडी अथवा रखी हुई वस्तु को स्वय ग्रहण न कर, उसके स्वामी को दे देना—अचौर्याणुव्रत कहलाता है। (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर स्त्री पर दृष्टि न डालकर अपनी पत्नी मे ही सन्तोष तथा स्त्री के लिए मन, वचन व कर्म द्वारा परपुरुष का समागम न कर अपने पति मे सन्तोष रखना, ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है।

(५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के विना बहुत से धन-धान्य को सग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहलाता है। गृहस्थो के लिये यह तो आवश्यक है कि वे धन-उपार्जन न करें, परन्तु उसी मे लिप्त हो जाना और अर्थ-सग्रह के पीछे भागना पाप है।

तीन गुणव्रत—उपर्युक्त अणुव्रतो के पालन के अतिरिक्त कुछ कठोर व्रत भी हैं, जिनके पालन का जैन-धर्मावलम्बियो को आदेश है। यह कठोर-व्रत जैन धर्मग्रथो मे 'गुण व्रत, के नाम से कहे गये हैं । इनका संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार हैं—(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिये कि कभी-कभी यह व्रत ले ले कि मैं इस दिशा में इसमे अधिक दूर नही जाऊँगा। यह व्रत लेकर निश्चित किए गए प्रदेश मे ही निवास करे—उस परिमाण का उल्लघन न करे। (२) अनर्थदण्ड विरति—मनुष्य बहुत से ऐसे कार्य करता है। जिनसे उसका कोई सम्बन्ध नही होता—ऐसे कार्यों से सर्वथा वचना चाहिये । (३) उपभोग-परिभोग-परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिये कि मैं परिमाण मे इतना भोजन करूंगा, भोजन मे इतने से अधिक वस्तुएं नही खाऊँगा, इससे अधिक अन्य भोग नही करूगा आदि । इस प्रकार के व्रत लेने से मनुष्य अपनी इन्द्रियो का सयम बहुत सुगमता से कर सकता है । इन तीन गुणव्रतो के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत—देशविरति, सामयिक व्रत पोषधोपवासव्रत तथा अतिथि-सविभाग-व्रत हैं । इनका पालन करना भी गृहस्थ लोगो के लिये आवश्यक वताया गया हैं। इन्ही व्रतो को मुनि-पद की ओर अग्रसर होने के साधन माना जाता है।

जैन मुनियो की आचार-सहिता

आर्य वाड्मय मे ऋषि-मुनियो की आचार-सहिता का प्रारम्भ दो रूपो—प्रथम यज्ञ और द्वितीय तपस्या से हुआ। मध्यकाल में भी वैदिक ऋषि का रूप तपस्याचर्या ही रहा। जैन काल मे जैन तपस्वियो की तपस्याचर्या कठोर महाव्रतो से प्रारम्भ हुई। इनके लिये पाच महाव्रतों की आचारसारिणी वनाई गई । इस सारिणी के व्रत हैं—

(१) अहिंसा महाव्रत, (२) असत्य-त्याग महाव्रत, (३) अस्तेय महाव्रत, (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत और (५) अपरिग्रह महाव्रत।

अहिंसा महाव्रत—जैन मुनि के जीवन के लिए इस व्रत का महत्व बहुत अधिक है। किसी भी प्रकार के प्राणी की जानबूझकर या बिना जाने-बूझे हिंसा करना महापाप है। अहिंसाव्रत का भली प्रकार पालन करने के लिये निम्नलिखित व्रत माने गये है—(१) इर्यासमिति —चलते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कही हिंसा न होती हो। अत उन्ही स्थानो पर चलना चाहिये, जहाँ अच्छे मार्ग हो—जीव-जन्तुओ के कुचले जाने की सम्भावना न हो। (२) भाषा समिति—भाषण करते हुए सदा मधुर और प्रिय भाषा बोलनी चाहिये। कठोर वाणी बोलना भी हिंसा माना गया है। इससे शाब्दिक लडाई का भी भय रहता है। (३) एषणा-समिति—मुनि को यह ध्यान रखना चाहिये कि भोजन मे किसी प्राणी की हिंसा तो नही की गई है। (४) आदान-क्षेपणा-समिति—मुनि को अपने धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन करने के लिये जिन वस्तुओ का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमे भी अहिंसा का ध्यान रखना चाहिए। अत जैन मुनि के लिये अहिंसा व्रत अत्यन्त आवश्यक माना गया है। असावधानवश तुच्छ से तुच्छ जीव की हिंसा भी उस के लिये पाप का कारण मानी गयी है।

असत्य त्याग-महाव्रत—सत्य और प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नही बोलना चाहिए। इस व्रत के पालन मे पाच भावनाए अत्यन्त उपयोगी हैं—अनुविम-भाषी—भली प्रकार विचार किये बिना भाषण नही करना चाहिये। (२) क्रोह परिजानाति—क्रोध व अहकार का वेग हो, तब भाषण नही करना चाहिये। (३) लाभ परिजानाति—लोभ के भाव के प्रबल होने पर भी भाषण नही करना चाहिये। (४) भय परिजानाति—भय के कारण असत्य भाषण नही करना चाहिए। (५) हास परिजानाति—हसी मे भी असत्य भाषण नही करना चाहिये।

अस्तेय महाव्रत—किसी दूसरे की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना ही यह व्रत है। इस व्रत का पालन करने के लिये मुनि लोगो को निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए—(१) जैन मुनि को किसी घर मे तब तक प्रवेश नही करना चाहिए जब तक कि अन्दर जाने की गृहपति की अनुमति न मिले। (२) भिक्षा मे जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक ब्रह्म को खिलाकर उनकी अनुमति न ली जाए। (३) जब मुनि को किसी घर मे निवास करने की आवश्यकता हो, तब गृहपति से पूछ ले कि वह घर के किस भाग मे कब तक रह सकता है। (४) गृहपति की आज्ञा के बिना कोई वस्तु न छुए आदि।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन धर्म मे ब्रह्मचर्य व्रत पर भी अत्यन्त बल दिया गया है। जैन-धर्म के अनुसार पर स्त्रियो की ओर देखना भी पाप है। साधु सन्तो का प्रथम कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य का पालन ही बताया गया है।

जैन-साहित्य का निर्माण—महावीर स्वामी के उपदेश सर्वथा मौखिक होते थे, उन उपदेशो को विशेषत विद्वानो ने अपनी विलक्षण स्मृति मे निहित रखा। महावीर निर्वाण की ९वी शताब्दी मे, आर्यस्कन्दिल की अध्यक्षता मे, मथुरा में एक सभा हुई। उसमें बचे अगो की व्यस्वथा की गई। इसके अनन्तर वल्लभी (काठियावाड) में देवर्धि-गणि क्षमाश्रवण के सभापतित्व में सप्तम विक्रमी शती में एक सभा हुई। इसमे फिर से ११ अगो का सकलन हुआ। इसे इसी समय पुस्तक का रूप दिया गया। यह श्वेताम्बरो का आगम है जो छ भागो में विभक्त है। यथा—(१) ग्यारह अंग, (२) बारह उपाग, (३) दस प्रकीर्णक, (४) छ छेद सूत्र, (५) दो सूत्र, (६) चार मूल सूत्र। यह ४५ ग्रथ आगम कहे जाते हैं। इनकी भाषा प्राकृत कहलाती है। दिगम्बरो का आगम इससे भिन्न है। दिगम्बरो क धर्म ग्रन्थो के अतिरिक्त दर्शन, पुराण और इतिहास भी हैं। प्रसिद्ध 'अमरकोश' जैन विद्वान् अमरसिंह कृत समझा जाता है। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य तमिल, कन्नड आदि भाषाओ में भी बिखरा पडा है।

जैन पुराण—हिन्दुओ की पुराण-कल्पना से जैनियो की पुराण-कल्पना नितान्त भिन्न है। जैन धर्मानुसार वही ग्रन्थ पुराण कहलाते हैं, जिनमे पुराण पुरुषो के पुण्य-चरित्रो का कीर्तन किया गया है। जैन-धर्म मे ऐसे पुण्य पुरुष ६३ हैं। इनमे २४ तीर्थंकर हैं। १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९. वासुदेव तथा ९. प्रतिवासु देव हैं।

इन पुराणो में चार पराण मुख्य हैं-- 'रविसेन का 'पद्मपुराण', जिनसेन का 'अरिष्ठनेमिपुराण' (इसे हरिवश भी कहते है) तथा आदिपुराण और गुणभद्र का उत्तरपुराण। इन पुराणो में जैन सम्प्रदाय का समस्त पौराणिक तत्व स्पष्ट है।

(१) आदि पुराण—इस पुराण मे तीर्थकर ऋषभदेव की कथा है। इसमे जम्बूद्वीप और तदन्तगत सभी पर्वतो का वर्णन है। श्रीमद्भागवत मे भगवान् के जिन चौबीस अवतारो की कथा है, उनमे से आठवा अवतार इन्ही ऋषभदेव का है। जिस प्रकार विष्णु के दशावतारो मे बुद्ध नवें अवतार हैं, इसी प्रकार चौबीस अवतारो मे ऋषभदेव जी आठवें अवतार है। श्री शकराचार्य ने शारीरिक-भाष्य के दूसरे अध्याय के पहिले पाद मे अद्वैतब्रह्म का, जगत् सृष्टि के सम्बन्ध मे, जो विचार किया है। जिनसेन ने आदि पुराण के चौथे पर्व मे सुन्दर ढग से उसका खण्डन किया है। कहा है कि सृष्टि अनादि निधन है। अर्थात् न इसका कोई बनाने वाला है और न सहार करने वाला। इससे यह स्पष्ट है कि यह पुराण शकराचार्य के बाद लिखा गया।

(२) पद्मपुराण—जिस प्रकार जैनियो ने ऋषभदेव को अपनाया है, उसी प्रकार 'राम' को भी अपनाया है। इस पुराण मे राम का नाम 'पद्म' दिया हुआ है, किन्तु रामकथा वही है जो रामायण मे है। जैन-पुराण मे राम को जैन ही माना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बौद्ध जातको ने बौद्ध माना है। इस पुराण की रचना महावीर के निर्वाण के १२०० वर्ष बाद हुई। विमलसूरि ने रामकथा का वर्णन अपने 'पउमचरित्र' नामक प्राकृत काव्य मे किया, जो 'पद्मचरित्र' से प्राचीन ही नही, प्रत्युत उसका आदर्श उपजीव्य ग्रन्थ है। इस पउमचरित्र की रचना वीर निर्माण सम्वत् ५३० के आसपास

हुई। इस प्रकार 'पउमचरित्र' 'पद्मचरित्र' से ४७० वर्ष पहिले की रचना है।

(३) **अरिष्टनेमि (हरिवंश) पुराण**—महाभारत के खिल हरिवशपुराण ने, जिस प्रकार कृष्ण के उत्कर्ष का बखान किया है, ठीक इसी प्रकार इस पुराण में भी कृष्ण की कथा दी गई है। कृष्ण द्वारा जरासन्ध-वध, जरासन्ध के नाश के लिए द्रोण, दुर्योधन, दुशासन आदि का कृष्ण के प्रति निवेदन तथा विदुर के समीप कौरव-पाण्डवो के दीक्षा ग्रहण करने की कथा भी है। यादवो द्वारा 'आनन्दपुर' नामक स्थानो मे, जिन मन्दिर स्थापना का भी वर्णन है। काशी, काची, द्राविड, महाराष्ट्र, गान्धारादि सभी देशो मे जैन-धर्म-प्रचार की कथा है। इसमे नरकादि का भी वर्णन है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय,(चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, निर्मूच्छा आदि जो साधुओ के महाव्रत हैं, उनका विवेचन किया गया है और महाभारत की अनेक कथाओ को जैन साचे मे ढाला गया है। इस प्रकार 'अरिष्टनेमिपुराण' मे कौरवो और पाण्डवो का वर्णन है और 'पद्मपुराण' मे रामकथा है। अत इन्हे जैन रामायण और जैन महाभारत मानने मे कोई अत्युक्ति नही।

(४) **उत्तर पुराण**—आदि पुराण को अधूरा छोडकर जिनसेन का निर्वाण हुआ। उसको उनके शिष्यो ने पूरा किया और उत्तर पुराण मे दूसरे तीर्थकरो का जीवन-चरित्र लिखा गया। एक एक तीर्थकर के नाम पर इस पुराण मे एक-एक पुराण बना। इस प्रकार इस पुराण मे, दूसरे तीर्थकर अजितनाथ से लेकर चौबीसवे तीर्थ-कर महावीर स्वामी तक २३ तीर्थकरो के चरित्र, २३ पुराणो के नाम से सगृहीत, इसमे श्रीकृष्ण विखण्डाधिपति और तीर्थकर नेमिनाथ के शिष्य माने गये हैं। वीसवें पुराण 'मुनि सुव्रत' मे जैन मन्दिर मे राम के पूजा करने की चर्चा है। अतएव, जैन पुराणो की यही विशेषता है कि उनमे सर्वत्र जैन-धर्म की शिक्षा की चर्चा है। पश्चात् उपर्युक्त चार पुराणो के आधार पर ही अनेक जैन-पुराण रचे गये, जिनमे एक 'पाण्डव-पुराण' भी है। दक्षिण के जैन-समाज मे, कर्नाटकी भाषा मे भी अनेक पुराण पाये जाते हैं।

दक्षिण मे प्रचार—ईसा की दूसरी शताब्दी तक जैन धर्म की प्रगति अत्यन्त मन्द रही, इसका सबसे वडा कारण यह था कि इस धर्म को राज्याश्रय प्राप्त नही हुआ था। ईसा की दूसरी शताब्दी मे कलिंग के राजा 'दवाखेल' ने इसे राज्याश्रय दिया। इसके वाद इसका प्रचार हुआ। दक्षिण मे इसका प्रचार आन्ध्र, तमिल, कर्नाटक, राज-पूताना, विहार, और उडीसा मे हुआ। दक्षिण मे जैनो ने अपनी पाठशालाएँ खोली, जहा वालको को सबसे पहले 'ओम् नम सिद्धाम्' वाक्य पढाया जाता था। वस्तुत यह उस समय जैनो के नमस्कार का प्रतीक था। उस समय तमिल प्रदेश में पाण्य और चोल राजाओ ने जैन-साधुओ को बडे-वडे दान दिये। उनके लिए मथुरा के पास मठ और मन्दिर वनवाये। अत धीरे-धीरे जैनो में मूर्ति-पूजा का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया और तीर्थकरो की मूर्तियाँ बनने लगी।

ई० सन् की सातवी शताब्दी जैन-धर्म पर दक्षिण मे राजाओ का प्रहार-काल है।

शशाक के सताने के बाद, सुन्दर पण्डया ने भी उन पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिये। यह राजा पहिले जैनी ही था, किन्तु उसकी पत्नी के गुरु तिरुज्ञान समद ने उसे शैव-मत में दीक्षित कर दिया। तब से वह जैनो का शत्रु हो गया। इसके बाद राजराज चोल ने मथुरा के जैन-मन्दिर में शैव मत की मूर्तियाँ रखवा दी। कर्नाटक में पहिले चोल राजाओ ने जैन-धर्म स्वीकार कर लिया था। अत १०वी सदी तक वह वहाँ खूब फला-फूला, परन्तु बाद में वह सब शैव होग ये और उन्होने जैन-धर्म को उखाडना शुरू कर दिया और अपने मन्दिरो से जैन प्रतिमाएँ हटवाकर शैव मूर्तियाँ रखवा दी। जब दक्षिण मे जैन-धर्म का ह्रास हो रहा था, तब पश्चिम मे वह पनप रहा था। राजपूताना, गुजरात और मालवा में इस धर्म की विशेष वृद्धि हुई। यद्यपि यहाँ राजा लोग शैव थे, परन्तु उन्होने जैनो को भी राज्याश्रय दिया। जैनो की इस वृद्धि का कारण वस्तुत हेमचन्द्र आचार्य थे। यह गुर्जरदेव कुमारपाल के गुरु तथा संस्कृत के महापडित थे। कुमारपाल ने इन्ही के कारण जैन-धर्म स्वीकार किया था। इस राजा ने जैन-धर्म की उन्नति के लिए भारी प्रयत्न किया।

बौद्ध-कालीन सभ्यता का विकास

(ई० पू० ५०० वर्ष)

भारतीय सभ्यता के इतिहास मे वस्तुत बौद्ध-धर्म का अपना स्थान है। इसके दो कारण हैं। प्रथम, इस धर्म ने आधे से अधिक एशिया मे फैलकर और राज्य-धर्म का पद प्राप्त कर भारत को सभ्यता का गुरु बना दिया तथा एशिया के समस्त देशो से भ्रातृत्व भाव बढाने मे सबसे अधिक सहयोग दिया। द्वितीय इस धर्म ने विश्व-सभ्यता को शान्ति और सद्भावना के नये साँचे मे ढाला, जिसमे जातिवाद और ऊच-नीच के भाव को स्थान नही था। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्माचार्यो ने अपने अथक परिश्रम से ससार के विज्ञान और दूसरे ज्ञान के भण्डार के लिये विशाल साहित्य का सृजन किया। साथ ही भारत की मूर्तिकला मे कोमलता सुघडता और सौन्दर्य के नवीन भाव भरे।

बौद्धकालीन बिहार (मगध) राज्य—वर्तमान काल मे हम जिसे बिहार राज्य कहते है, बुद्ध के समय उसकी यह रूपरेखा नही थी। उस समय यह प्रदेश कई राज्यो मे बटा हुआ था। इनमे मगध का राजतत्र और वैशाली का गणतत्र दोनो ही शक्ति-सम्पन्न थे। इनके अतिरिक्त भर्ग, अग, अगुत्तराय, कजगल, सुह्य का पश्चिमी-दक्षिणी भाग, पुण्ड्र का पश्चिमी भाग, सीमान्त अल्लकप्प, पिप्पलीकानन और मिथिला नामक राज्य थे। भगवान् बुद्ध के समय केवल 'भर्ग' और 'सीमान्त' के कुछ भागो को छोडकर शेष सभी मगध और वैशाली के अधीन हो चुके थे। वर्तमान पटना और गया क्षेत्र को ही उस समय 'मगध' कहा जाता था। भगवान् बुद्ध के पूर्व इसका नाम 'कीकट-राज्य' था। वर्तमान शाहबाद जिला बुद्ध से पहले 'करुष' नाम से एक स्वतंत्र राज्य था। बाद मे यह 'काशीराज' के अधीन हो गया। परन्तु जब कौशल राज्य ने काशी राज्य पर आक्रमण किया, तब यह कौशलराज्य के अधीन हो गया। इसी शाहबाद के भभुआ और सहसराम प्रमण्डलो का दक्षिणी-पश्चिमी पहाडी भाग, बुद्ध के समयमे 'भर्ग' देश कहलाता था[१]।

बुद्ध के जन्म मे कुछ समय पूर्व मगध के राजा बिम्बसार का विवाह कोशल देश के राजा महाकोशल की कन्या से हुआ। महाकोशल ने अपनी कन्या के स्नानचूर्ण

---

१ मज्झिमनिकाय—२/४/५।

के व्यय के लिए काशी और उसके आसपास के भागो को दहेज मे दे दिया। इस प्रकार शाहबाद का भू-भाग मगध राज्य मे आ गया। उस समय मुगेर और भागलपुर के जिले 'अग' कहलाते थे और भागलपुर का नाम 'चम्पा' था। बुद्ध के समय बिम्बसार ने अग को जीत लिया था। 'अगुत्तराय' गगा के उत्तरी किनारे का भाग (मुगेर जिले से सहरसा तक का भू-भाग) था। वर्तमान सथाल परगना उस समय 'कजगल' कहलाता था। सुह्म प्रदेश के अन्तर्गत बाकडा, मेदिनीपुर और मान भूमि का कुछ हिस्सा तथा हजारीबाग का पूर्वी भाग थे। आज के पूर्णिया और दीनाजपुर उस समय 'पुण्ड्र देश' के नाम से विख्यात थे। छोटा नागपुर के प्रदेश उस समय भी स्वतन्त्र थे यह सीमान्त देश कहलाते थे। मगध राजतत्र की राजधानी राजगृह थी। गगा के उत्तरी भाग मे वैशाली गणतत्र था, यह 'वज्जिसघ' के नाम से प्रसिद्ध था। यह राज्य वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले और सारन जिले मे फैला हुआ था। 'अल्लकप्प' सारन जिले के दक्षिणी भाग मे गगा के उत्तरी किनारे और महानदी के पश्चिमी तथा सरयू के पूर्वी भाग का नाम था। आज इसी का नाम 'अनवल' और 'कोपा' गाँव है जो आस पास ही है। छपरा स्टेशन के बाद ही दूसरा स्टेशन 'कोपा' है। वर्तमान चम्पारन जिले का एक भाग 'पिप्पलीकानन' कहलाता था। उस समय दरभगा जिले का उत्तरी भाग और नेपाल की तराई के एक भाग का नाम 'मिथिला' था। भगवान् बुद्ध के समय अलकप्प, पिप्पली और मिथिला—वैशाली गणतत्र के अधीन थे। मिथिला के अतिम राजा का नाम सुमित्र था, जिसे वज्जिसघ ने हराकर मिथिला को अपने राज्य मे मिला लिया था। उपर्युक्त सम्पूर्ण सयुक्त राज्यों का नाम ही आज 'बिहार' राज्य है। यह बिहार नाम 'बिहारशरीफ' के नाम पर मुस्लिम शासको का दिया हुआ है। इसके पहले इसका नाम 'उदन्तपुरी' था। यहाँ बौद्धो के अनेक मठ और विहार थे, इन्ही के कारण मुसलमानो ने उदन्तपुरी का नाम बिहार रख दिया।

अन्य राज्य—'अगुत्तरनिकाय और ललितविस्तर' के तीसरे अध्याय मे १६ राष्ट्रो की चर्चा है।* इनमे अग तो मगध मे ही आ चुका था। काशी, कौशल और मगध में बटकर तिरोहित हो गया था। मल्ल गणतत्र छोटा-सा देश था। वत्स मे उदयन और अवन्ती मे चण्डप्रद्योत शक्तिशाली शासक थे। कुरु की स्थिति कमजोर थी। बादा जिले मे चेदी था, इसकी भी दशा अच्छी थी। सूरसेन (मथुरा) अवन्ती के अधीन हो गया था। एक राज्य पाचाल्य था; इसकी राजधानी काम्पिल्य थी। इसके अतिरिक्त मत्स्य राज था। गान्धार राज्य था, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। अश्मक प्रदेश दक्षिण भारत मे था।

भगवान् बुद्ध—महात्मा बुद्ध का जन्म 'कपिलवस्तु' के राजा शुद्धोदन के यहाँ ई० पू० ६२३ मे हुआ। शुद्धोदन शाक्य क्षत्रिय थे, जो इक्ष्वाकु के वशज थे। कपिल-

---

* ललितविस्तर।

वस्तु कौशल के उत्तर पूर्व मे और बिहार के पश्चिमोत्तर भाग मे अवस्थित था। वर्तमान मे यह स्थान नेपाल राज्य की तराई मे है और इसका नाम 'तिलौरा कोट' है। यह शाक्य सघ पहिले वज्जिसघ के अधीन था। सिद्धार्थ गौतम ने जब प्रव्रज्या ली, तब यह कौशल राज्य के अन्तर्गत था। इनके पिता शुद्धोदन समृद्ध और कृषकपति अर्द्ध स्वतत्र राजा थे। उनकी प्रजापति गौतमी और मायादेवी नामक दो पत्नियां थी। माया देवी के गर्भ से सिद्धार्थ का जन्म हुआ। उस समय मायादेवी मायके जा रही थी कि रास्ते मे ही 'लुम्बिनी' वन मे सिद्धार्थ का जन्म हुआ। इनके जन्म के सात दिन बाद ही इनकी माता की मृत्यु हो गयी। इनके पिता शुद्धोदन ने अपने श्वसुर के कुल की कन्या 'यशोधरा' से उनका विवाह किया, कुछ दिन बाद ही कपिलवस्तु के 'भरण्डु कालाम' नामक एक सन्यासी के ससर्ग मे आकर उनमे वैराग्य की इच्छा प्रबल हो गयी। इसी का परिणाम यह निकला कि जब इनको पुत्र-लाभ हुआ, तब सेवक के सूचना देने पर उन्होने कहा—'राहु जातो बन्धन जातत्ति।" अर्थात् राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ। शुद्धोदन ने जब यह सुना, तब बोले—'ठीक है मेरे पोते का नाम राहुल ही होगा।" इसीलिये सिद्धार्थ के पुत्र का नाम ही राहुल पडा। परन्तु एक दिन चुपचाप **छन्दक** नामक सेवक के साथ, **कन्थक** नामक घोडे पर सवार होकर पत्नी और पुत्र को सोता छोड, गृहस्थ का बन्धन तोडकर उन्होने गृहत्याग कर दिया। प्रव्रज्या के समय सिद्धार्थ ने कौशल देश मे जाकर, अनोमा नदी के किनारे अपने लम्बे बाल काट दिये। राजसी वस्त्र उतार कर काषाय वस्त्र धारण कर लिये। अब सिद्धार्थ गौतम, भिक्षु सिद्धार्थ हो गये। इस समय उनकी अवस्था २९ वर्ष थी और सामने ज्ञान-प्राप्ति का प्रश्न था। उन्होने अपने प्रथम गुरु 'भरण्डु कालाम' से कपिलवस्तु मे ही 'आराद कालाम' का नाम सुना था। भरण्डु स्वय 'आराद' के मत का अनुयायी था। अत ज्ञान के भूखे सिद्धार्थ सच्चे ज्ञान लाभ के लिये 'आराद कालाम' के आश्रम मे आये। इनका आश्रम विहार प्रदेश मे था। परन्तु सिद्धार्थ को यहाँ ऐच्छिक ज्ञान न मिला और वे राजगृह मे आकर "उरुबेला" प्रदेश मे जाकर छ वर्षो तक राजगृहवासी तपस्वियो के द्वारा आचरित कठिन तपस्याओ मे लीन रहे। इसके पश्चात् वे 'गया' चले गये।

बुद्धदेव को जो आरम्भ मे ज्ञान प्राप्त हुआ, वह था कि **दुःख है, दुख. समुदय (कारण)** है। दुख का निरोध है और दुख निरोधगामिनी प्रतिपद (उपाय) है। छै वर्षों की घोर तपस्या के उपरान्त उक्त चार बातो का ज्ञान बुद्ध को प्राप्त हुआ था। भारतीय ऋषि ज्ञान के दृष्टा होते थे, सृष्टा नही। भगवान् बुद्ध भी इन चार आर्य सत्यो के वैसे ही दृष्टा थे। उपयुक्त चार बातो को बौद्ध-धर्म मे चार आर्य सत्य कहा गया है। परन्तु बुद्ध ने इनमे से 'चौथे दु ख निरोधगामिनी प्रतिपद' को आठ अगो वाला कहा है। इन आठो के नाम है—(१) सम्मा दृष्टि (सम्यक् दृष्टि) (२) सम्मा-सकप्पो (सम्यक् सकल्प), (३) सम्मावाचा (सम्यक् वचन), (४) सम्माकम्मनतो (सम्यक् कर्म), (५) सम्मा आजीवो (सम्यक् आजीविका), (६) सम्मावायामो (सम्यक् व्यायाम), (७) सम्मामती (सम्यक् स्मृति), और (८) सम्मा समाधि

(सम्यक् समाध) । इन्ही आठो को अष्टागिक माग कहते है। यही ऐसे मार्ग हैं, जिन पर चलने से निर्वाण प्राप्त हो सकता है। अत इन्हे मध्यम-मार्ग भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इनके आचरण के लिये शरीर को तपस्या आदि द्वारा कष्ट नही देना पडता ।

दुखः—जन्म, बुढापा मरण, शोक, रुदन, अप्रिय का सयोग, प्रिय का वियोग तथा इच्छित वस्तु का प्राप्त न होना दु.ख है। अत दु ख सत्य है। भगवान् बुद्ध आकाश को छोडकर, पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि—इन चार महाभूतो को रूप बतलाते हैं। वैशेषिक दर्शन मे इन्हे 'मूर्त द्रव्य' कहा गया है।

दु.ख समुदाय—काम, भव, विभव इन्द्रिय सुख आदि की तृष्णा ही दु ख समुदाय है इनमे कामतृष्णा जगत् के यावत् भोगो की तृष्णा है, विभक्तृष्णा जीवन(जीने) की तृष्णा ह। विभवतृष्णा पुनर्जन्म प्राप्त करने की तृष्णा है। इन विषयो का ससर्ग या स्मरण भी तृष्णा पैदा करता है। इनमे पचतन्यात्राएँ (रूप, रस, गन्ध और शब्द) भी दु ख समुदाय हैं। इनका उच्छेद ही एकमात्र निर्वाण मार्ग है।

दु.ख विरोध—महात्मा बुद्ध ने इन सारी तृष्णाओ के परित्याग को ही दु खविरोध कहा है। उनका कथन है कि विषय अथवा उनके विचार विकल्प तक की काम-तृष्णा के निरोध हो जाने पर ही उपादान का विरोध होता है। उपादान (पचोपदानमय)के निरोध पर ही उपादान का निरोव होता है और भव-निरोध से ही विभव-निरोध होता है। इन सबका निरोध करना ही बौद्ध-धर्म का मुख्य पराक्रम है। इस दु ख निरोध की नीव पर ही बौद्ध-धर्म के बहुभूमिक प्रासाद खडे किये गये हैं।

दु ख निरोध-गामिनी प्रतिपद (अष्टागिक मार्ग)—उपर्युक्त दु ख निरोध के जो अष्टागिक मार्ग हैं, वे भी आर्य सत्य है। इनके तीन भाग है—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील मे सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म और सम्यक् आजीविका है। समाधि मे सम्यक् व्यायाम, स्मृति और समाधि है। प्रज्ञा मे दृष्टि और सकल्प है।

बौद्धो के सबसे प्राचीन सम्प्रदाय का नाम थेरवाद (स्थविरवाद) है। बुद्ध-निर्वाण के एक सौ वर्ष बाद 'महासधिक' और 'स्थविरवाद नाम से बौद्ध सघ मे दो दल हो गये। मौर्य सम्राट् अशोक के जीवन का अन्तिम भाग आते-आते "वैपुल्यवाद" ने जोर पकड लिया, जिसके आधार पर 'नागार्जुन' (प्रथम) ने शून्यवाद का विस्तार किया। इसी वैपुल्यवाद से मत्रयान, तत्रयान और वज्रयान सम्प्रदाय कालक्रम से प्रादुर्भूत होकर विकसित हुए।

बुद्ध का प्रथम प्रवचन और उनके शिष्य—बौधि गया से बुद्धत्व प्राप्त कर, बुद्ध सारनाथ पहुँचे और अपने पाँच साथियो को शिष्य बनाकर प्रथम धर्मोपदेश दिया। बुद्ध ने कहा—"हे शिष्यो! जिन्होने ससार त्याग दिया है, उन्हे दो बातो से बचने का ध्यान रहना चाहिए। (१) मनोविकार उत्पन्न करने वाली बातो से और (२) कष्टदायक तपस्याओ से। अत इन दोनो को छोडकर मध्य मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। पश्चात् उन्होने अपनी आठ प्रसिद्ध शिक्षाए सुनायी। काशी पहुँचकर उन्होने ६० शिष्य

बनाये और उन्हे अपने उपदेशो का प्रचार करने के लिए विभिन्न राज्यो मे भेजा। इस के बाद बुद्ध गया जाकर उन्होने चार पुरुषो को अपना शिष्य बनाया। इन्ही शिष्यो मे वैदिक धर्म का बडा अनुयायी और दार्शनिक 'काश्यप' भी था। उसी के बुद्ध का शिष्य बनने के कारण १ हजार व्यक्ति तत्काल बुद्ध के शिष्य हो गये। पश्चात् उन्होने राजगृह मे आकर राजा 'बिम्बसार' को उपदेश दिया। अत राजा अपने सेवको के साथ बुद्ध का शिष्य हो गया। बुद्ध कुछ समय वहाँ रहे। वहाँ सारिपुत्त और मौद्गल्यायन नामक दो विद्वान मित्रो को अपना शिष्य बनाया। यह लोग ब्राह्ममुहुर्त मे उठकर धार्मिक चर्चा करते और तत्पश्चात् गर्दन झुकाये हुए ग्यारह घरो के द्वारो पर जाकर ग्यारह ग्रास भोजन लाते।

इसके पश्चात् अपने पिता के निमत्रण पर बुद्ध राजमहल पधारे और वहाँ उन्होने रात भर अपने सिद्धान्तो पर उपदेश किया। परिणाम यह निकला कि प्रात-काल होते ही उनके पुत्र 'राहुल' सहित समस्त श्रोता उनके अनुयायी हो गये। बुद्ध के इस धर्मोपदेश का अत्यन्त सुन्दर वर्णन आरनाल्ड ने अपनी पुस्तक 'लाइट आफ एशिया' (Light of Asia) मे अत्यन्त रोचक ढग से किया है। पुत्र के भी साधु बनने पर बुद्ध के पिता को अत्यन्त क्लेश हुआ। अत भगवान् बुद्ध ने उसी समय यह घोषणा की कि भविष्य मे माता-पिता की अनुमति के विना कोई भी बालक 'भिक्षु' नही हो सकेगा। अपने पिता की मृत्यु से कुछ समय पूर्व बुद्ध एक बार पुन वैशाली गये थे और उनकी सेवा की थी। उस समय बुद्ध की अवस्था स्वय ६७ वर्ष थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त उनकी विमाता प्रजापति गौतमी तथा उनकी पत्नी यशोधरा ने भी बुद्ध धर्म ग्रहण कर लिया। यद्यपि बुद्ध नारी वर्ग को भिक्षुणी बनाने के पक्ष मे नहीं थे, परन्तु गौतमी महल की स्त्रियो तथा अपनी सहेलियो को लेकर स्वय आश्रम गयीं। उन्होने अपने केश स्वय काट डाले। पश्चात् आनन्द के अनुरोध पर उन्होंने महिला वर्ग को भिक्षुणी बनने की अनुमति दे दी। उस समय उन्होने कहा था—"आनन्द, मेरा मत चिरस्थायी होता, किन्तु नारी जाति के प्रवेश के कारण मुझे इसके अब ५०० वर्षो तक जीवित रहने मे भी सदेह है। यह कार्य अच्छा नही हुआ।" बुद्ध की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था मे हुई।

बुद्ध-धर्म का मूलमंत्र—बुद्ध धर्म का मूल मत्र था—बुद्ध शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि। बुद्ध ने अपने शिष्यो को यही उपदेश दिया था कि बुद्ध में, सघ में और धर्म मे यदि उनकी आस्था है, तब उनकी मुक्ति अनिवार्य है। अपने प्रिय शिष्य आनन्द को भी उन्होने यही उपदेश दिया था कि अपने ज्ञान के प्रकाश तुम स्वय हो, अत मेरे बाद तुम किसी अन्य की शरण मत लेना।

बुद्ध सघ—बौद्ध सघ के बराबर बडा सघ किसी धर्म मे नहीं हुआ। बौद्ध सघ के भिक्षुक अपनी आत्मा की उन्नति मे ही सदैव तत्पर रहते थे। इसी कारण इस सघ ने अपने आदर्शों की छाप विश्व भर के धार्मिक सघो पर डाल रखी थी। बौद्ध सघ की

सबसे बडी विशेषता उसका जातिवाद-उन्मूलन था । बौद्ध-सघ के द्वार समस्त जाति के व्यक्तियो के लिये खुले हुए थे। बुद्ध के पूर्व शूद्र जाति के लोग वानप्रस्थी और सन्यासी नही हो सकते थे, किन्तु बुद्ध ने जातिवाद को समाप्त कर दिया। अत बुद्ध-संघ का दिनोदिन विस्तार होता गया।

सघ की आचार-सहिता—बौद्ध भिक्षुओ की आचार-सहिता अत्यन्त कठोर होती थी। प्रत्येक भिक्षु केवल तीन वस्त्रो के अतिरिक्त एक भिक्षा-पात्र, एक करधनी और एक उस्तरा रखता था। हर पन्द्रहवे दिन भिक्षु लोग परस्पर एक दूसरे का मुण्डन कर देते थे। वर्षा ऋतु मे एक ही स्थान पर रहना पडता था। उनका यह चातुर्मास अषाढ की पूर्णिमा से कार्तिक की पूर्णिमा तक चलता था। प्रत्येक भिक्षुक भिक्षा द्वारा ही उदरपूर्ति करता था। भिक्षा के समय उसका मौन रहना अनिवार्य था। बुद्ध ने अपने नियमो के लिये कहा था—"सघ के लिये हमने जो नियम बना दिये हैं वे तुम्हारे लिये गुरु और आचार्य का काम करेंगे।"

बौद्ध धर्म के दार्शनिक तत्व—बौद्ध धर्म के दार्शनिक तत्वो का मिलान, कपिल के 'साख्य' से किया जा सकता है। बौद्ध धर्म ने 'ईश्वर' की सत्ता की कभी मीमासा नही की। बहुत पूछगछ पर केवल इतना ही कहा गया कि वह एक अज्ञात पदार्थ है । इसीलिये कहा जा सकता है कि बौद्ध दार्शनिक तत्व भी उपनिषदो का वह ब्राह्मण दर्शनवाद है, जिसका सिद्धान्त है—अपना आश्रय लो, किसी अन्य का सहारा मत तको।

बौद्ध धर्म समस्त वस्तुओ को आत्महीन, अनित्य और दु खमय मानता है । उसका सिद्धात है कि वासना के क्षय हो जाने से नाम रूप इन्द्र धनुष के रगो की भाति विलीन हो जाते हैं। निर्वाण विशेषता का ही नाम है। निर्वाण दीपक के बुझने को कहते है। राजा मिलिन्द ने नागसेन से जब निर्वाण के बारे मे प्रश्न किया, तब उन्होने उसको बताने मे असमर्थता प्रकट की। वास्तव मे निर्वाण का अर्थ उन गुणो और बन्धनो का नाश हो जाना है, जो मनुष्य को भेदभाव से अनुप्राणित कर, स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करते हैं। निर्वाण की अवस्था मे मनुष्य की सारी वासनायें और आकाक्षाए नष्ट हो जाती हैं। जो अवस्था जीवन मुक्त की होती है, वही निर्वाण-प्राप्त मनु यकी पाई जाती है। अतएव निर्वाण का अर्थ विनाश नही, पूर्णता है।

मौर्य-काल में भारतीय सभ्यता का विकास

भारतीय सभ्यता के विकास की दृष्टि से मौर्य-काल भारतीय सभ्यता का 'स्वर्ण युग' माना जाता है । इस काल मे भारतीय-सभ्यता प्रत्येक प्रकार से फली-फूली और फैली । वस्तुत इस काल मे भारतीय सभ्यता के विकास के कई कारण थे, जिनमे प्रमुख यह भी था कि भारतीय राजतत्र और प्रजातन्त्रो की, मौर्य-काल से पूर्व अस्थिर स्थिति होते हुए भी, सभ्यता की स्थिति को कोई आँच नही पहुँची । प्रत्येक प्रकार का शासक भारतीय-सभ्यता का पुजारी रहा । व्यापार और व्यवसाय को उन्नत करता रहा, जिसके दर्शन हमे बौद्ध-जातक कथाओ मे होते है । वस्तुत मौर्य शासको को जो साम्राज्य मिला, वह भारतीय-सस्कृति को पर्याप्त विकसित कर चुका था, जिसका विस्तार मौर्य-सम्राटो ने किया । मौर्य-सम्राटो की सुन्दर राज्य-व्यवस्था, जिसका वर्णन यूनानी इतिहासकार मैगस्थनीज और चीनी पर्यटक ह्वेनसाग ने किया है, राजनीति के महान् आचार्य कौटिल्य (चाणक्य) के कारण ही सभव हो सकी थी । इस काल मे भारतीय-सभ्यता ने यूनानी-सभ्यता को भी नई दिशा दी थी और रोमन-सभ्यता पर भी अपना प्रभाव डाला था ।

मौर्य-काल से पूर्व राजनीतिक-स्थिति—बौद्ध-काल के समय जितने छोटे-छोटे राज्य थे, उनमे मगध राज्य ने उन्नति की । यद्यपि मगध राज्य मे किसी वश विशेष का राज्य दीर्घकालीन नही रहा, किन्तु साम्राज्य अवश्य दीर्घकालीन हो गया । बौद्ध-काल में मगध की गद्दी पर सम्राट बिम्बसार के दर्शन होते है । यह व्यक्ति एक साधारण माडलीक भद्रिय का पुत्र था । पाली साहित्य मे इसे हर्यंक वशीय कहा गया है । पुराणो मे इसे नागवशीय क्षत्री माना गया है । महाभारत-युद्ध के बाद पश्चिमी भारत मे नागो की शक्ति का विकास हुआ था । उन्ही की एक शाखा पूर्व मे आ गयी थी । ५४३ ई० पू० के लगभग इसने मगध-साम्राज्य की नीव डाली । काशी का प्रात इसे दहेज मे मिलने के कारण इसका राज्य-विस्तार हुआ, जिसका वर्णन हम पहिले ही कर चुके है । अपने राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से इसने लिच्छवि राजा चेटक की बहिन चेल्लना से विवाह किया था । तीसरा विदेह नरेश की कन्या वासवी से विवाह किया था । इसी ने गिरिव्रज को छोडकर राजगृह को अपनी राजधानी बनाया था । इसने अपने राज्य की व्यवस्था के लिए महामात्यो को नियुक्ति की थी और अपने दूत दूसरे राज्यो मे भेजे थे । बौद्ध-धर्म की जडें भी इसी ने जमायी ।

अजातशत्रु—अपने पिता बिम्बिसार को कैद कर ४९१ ई० पू० यह गद्दी पर बैठा। कोशल नरेश प्रसेनजित की पुत्री वाजिरा से उसका विवाह हुआ। इसने अपने कुकृत्य के लिये बुद्धदेव से क्षमा मागी और बौद्ध बन गया। इसी ने सबसे पहिले बुद्ध के मरने पर उनकी अस्थियो पर स्तूप बनवाया और बौद्ध-धर्म की संगीति बुलाई और बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। अजातशत्रु के बाद, जब उदयिन शासक हुआ, तब इसने राजगृह को छोडकर पाटलिपत्र (पटना) को बसाकर अपनी राजधानी बनाया। इसके पश्चात् अनुरुद्ध और मुण्ड नामक शासक और हुए, किन्तु तीसरे शासक—नागदाशक के समय यह राज्य शिशु-नाग वंश के हाथ मे चला गया। अत इस वंश का प्रथम शासक शिशुनाग हुआ। इसने अवन्ति के प्रद्योत राजवंश को समाप्त कर अपने राज्य मे मिला लिया। साथ ही कोशल राज्य को भी समाप्त कर दिया और साथ ही अपनी राजधानी पुन राजगृह ले गया। ४८० ई० पू० इसका पुत्र कालाशोक गद्दी पर बैठा। सबसे पहिले इसी के शासन काल मे बौद्ध धर्म की दूसरी संगीति हुई। इस वंश का अंतिम सम्राट् नन्दिवर्धन हुआ।

नन्द-वंश—इस वंश का संस्थापक नन्दिवर्धन की शूद्रा स्त्री मे उत्पन्न पुत्र महापद्मनन्द था। इस वंश मे नौ शासक हुए जो ९ नन्दो के नाम से विख्यात हैं। महापद्मनन्द को अनेक इतिहासकारो ने नाई भी लिखा है, जिसने नन्दिवर्द्धन का वध कर दिया था। खारवेल के हाथी गुफा के लेख से यह ज्ञात होता है कि यह शासक वीर था। इसने कलिंग पर आक्रमण किया था और एक नहर खुदवाई थी। पुराणो मे भी इसका बहुत वर्णन है। इसका उत्तराधिकारी घननन्द था। यूनानी लेखको ने इसी को (Augrasen) औग्रसेन (उग्रसेन) का पुत्र भी लिखा है। इसके पास असीम सैन्य बल था। यही व्यक्ति सिकन्दर के आक्रमण के समय मगध का सम्राट् था। पुराणो के अनुसार महापद्मनन्द ने यहा २८ वर्ष राज्य किया और उसके पुत्रो ने केवल १२ वर्ष। इन शासको ने अपने शासन के समय जैन-धर्म को बहुत उन्नत किया था।

सिकन्दर के समय राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतवर्ष मे निम्न राज्य थे—(१) **अश्वक**—यह राज्य काबुल नदी के उत्तर मे था। **गौर**—यह पचकोर नदी की घाटी मे था। **उद्यान**—सुवास्तु की घाटी मे, **नीसा**—काबुल और सिन्धु के बीच, **पश्चिमी गांधार**—यह भी उसी के पास। इसकी राजधानी पुष्करावती थी। **पूर्वी गांधार**—यह राज्य सिन्धु और झेलम के बीच था, **उरशा**—यह राज्य पूर्वी गान्धार के उत्तर मे था; **अभिसार**—इसमे कश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग सम्मिलित था, **कैकेय**—यह झेलम और चिनाब के बीच पौरव राज्य था, **ग्लुचुकायन**—यह राज्य कैकेय के पूर्व मे था; **अद्रिज**—यह रावी के पर्वतीय भाग मे था। इसकी राजधानी विम्प्राभा थी। **कठ**—यह एक गणराज्य था, और रावी तथा व्यास के मध्य था, **भगल**—यह कठ के दक्षिण रावी और व्यास के बीच था, **सौभूति**—यह झेलम नदी के पूर्व मे स्थित था, **शिवि**—झेलम और चिनाब के संगम के दक्षिण में था। **क्षुद्रक**—

यह रावी और व्यास के बीच था , **मालव**—रावी और चिनाव के सगम के उत्तर मे था , **क्षत्रि**–रावी और चिनाव के निचले भाग मे था , **शूद्र**—सिन्ध के उत्तरी भाग मे था , **मूषिक**–आधुनिक सिन्ध का मध्य भाग , **प्रोस्थ**–सिन्ध के पश्चिम मे था , **शाम्ब**–मूपिक के निकट था, इसकी राजधानी शेहवान थी , **पटल**—सिन्धु के मुहाने के निकट था , **अम्बस्ठ**—यह चिनाव के निचले प्रान्त मे था । अपनी विजय के दौरान सिकन्दर व्यास नदी तक आया । यही से वह वापस लौटा और तभी से भारतीय और यूनानी सस्कृतियो का परस्पर आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ । सिकन्दर के भारत से लौटने का समय ३२६ ई० पू० है । सिकन्दर का तूफानी आक्रमण भी भारतीय सस्कृति को विचलित नही कर सका अपितु भारतीय दर्शन और शास्त्रो ने यूनानी दार्शनिको के हृदयो पर अपनी छाप अकित करदी । उदाहरणार्थ यूनानी दार्शनिक पाईथैगोरस के आत्मा और पुनर्जन्म आदि के सिद्धात भारतीय दर्शन-शास्त्र की ही देन हैं ।

मौर्य-साम्राज्य—सिकन्दर के आक्रमण के कारण ही भारत मे मौर्य साम्राज्य का जन्म हुआ । मगध सम्राट् घननद की निर्वलता ने भारतीय जनता के मन मे नदो के प्रति घृणा पैदा कर दी और इसका सबसे अविक प्रचार किया तक्षशिला के आचार्य चाणक्य और उनके शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिकन्दर के आक्रमण के समय भी आचार्य चाणक्य ने शक्ति भर राजाओ का सघटन करने का प्रयत्न किया था तथा जनता मे प्रवल प्रतिरोध की भावना भरी थी । मगध सम्राट् से भी पुरु की सहायता कराने का प्रयत्न किया था , परन्तु नन्द शक्तिहीन सिद्ध हुआ और यही कारण चाणक्य द्वारा इस निर्बल शासक का तख्ता पलटने का था ।

३२१ ई० पू० नन्दवश क सम्राट् घननन्द को समाप्त कराकर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को सम्राट् वनाया । चन्द्रगुप्त शाक्यवशी था और प्रसेनजित् के पुत्र विडु-डाम के अत्याचारो से त्रस्त होकर इसका परिवार पिप्लीवन मे अपना छोटा सा राज्य वनाकर रह रहा था । चाणक्य इसका स्वय मत्री और सलाहकार वना और राज्य-सचालन के लिये चाणक्य ने अपना प्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' लिखा जो राजनीति में विश्व के ग्रन्थो में सबसे महत्त्वपूर्ण है ।

चन्द्रगुप्त के समय से अशोक के समय तक मगध की सभ्यता ने पुन पलटा खाया और वह अशोक के समय तक पूर्व वैदिक सभ्यता के आधार पर ही अग्रसर हुई , जिसका प्रमाण उस काल के यूनानी दार्शनिको की पुस्तकें हैं, क्योकि भारतीय दर्शन और भारतीय नाट्य-शास्त्र का अध्ययन यूनान और भारत में उस काल में ही विशेष रूप मे हुआ । अशोक के समय तक मगध में वौद्ध सस्कृति अत्यन्त शिथिल अवस्था में रही । उसे राज्याश्रय तक प्राप्त नही हुआ जैसा कि मगध के पूर्व सम्राटो के समय हुआ था । अत चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से पहिला कार्य ही यह कराया कि यूना-नियो के समस्त राज्यो को जितवा कर उन्हे भारत से वाहर कराया । विदेशियो के प्रति भारतीय स्वतत्रता की यह प्रथम क्राति थी, जिसका नेता चाणक्य था । इसने मगध साम्राज्य की सीमाओ को ईरान तक वढवा दिया था । यूनानी राज्य का स्वामी

सेल्यूकस पराजित होकर अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर चुका था। बौद्धग्रंथ 'महावंश' ने चन्द्रगुप्त को सारे भारतवर्ष का सम्रा ् लिखा है।

वस्तुत सेल्यूकस की पराजय ने ही भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति को सुदृढ किया और भारतीय संस्कृति के विस्तार मे सहायता दी। सिकन्दर के इस सेनापति ने सिकन्दर के भारत और कुछ ईरानी भाग को मिलाकर एक नया साम्राज्य खड़ा कर लिया था और उसे और भी विशाल रूप देने के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया, किन्तु इस समय भारत का मानचित्र बदल चुका था। का-पुरुष आम्भी और शशिगुप्त के स्थान पर एक विशाल सेना के साथ उसके सामने वीर चन्द्रगुप्त मौर्य खडा था। वह भी सिन्धु के उस पार।

अत चन्द्रगुप्त के प्रथम प्रहार मे ही सेल्यूकस ने सन्धि कर ली और सिन्धु के उस पार का सारा प्रदेश(जिसमे एरिया, एराकोशिया, जैड्राशिया और पैरोपेनीसैदाई-अर्थात् वर्तमानकालीन (हिरात, कन्धहार, मकरान और काबुल थे) भेंट स्वरूप दे दिये और साथ ही अपनी लडकी की शादी कर दी। चन्द्रगुप्त ने उपहार मे ५०० हाथी दिये। इसी समय एक यूनानी राजदूत—मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार मे राजदूत बनकर आया। उसने चन्द्रगुप्त कालीन शासन-व्यवस्था का जिसका सचालक वस्तुत चाणक्य था—अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार मे यह राजदूत ३१७ ई० पू० मे आया और ३१२ ई० पू० तक रहा। मेगस्थनीज अपनी पुस्तक 'इडिका' (अप्राप्त) मे लिखता है—'ईसा के पहिले चौथी शताब्दी मे, प्राच्य लोग सबसे प्रबल हो गये है, जैसा कि काव्यकाल मे कुरु, पाचाल, विदेह और कौशल के लोग हो गये थे। मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी जो कि भरापूरा नगर था और ८० स्टडिया अर्थात् ९ मील लम्बा (१ स्टडिया=२०२¼ गज)और १५ स्टडिया अर्थात् लगभग दो मील चौडा था। यह समचतुर्भुज के आकार मे बसा हुआ था। इसके चारो ओर काठ की एक मजबूत दीवार थी। इस दीवार मे तीर चलाने के लिये छिद्र बने हुए थे। दीवार से आगे चारो तरफ गहरी खाई थी। मेगस्थनीज ने लिखा है—"सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना मे ६० लाख पैदल, ३० हजार सवार और ९ हजार हाथी थे। राजा का महल नगर के बीचो-बीच था।"

सेना का वर्गीकरण—सेना मे पहिली श्रेणी के पदाधिकारी, जगी जहाजो के सेनापतियो की सहायता के लिये होते थे। दूसरी श्रेणी उन छकडो की होती थी, जो शस्त्रो को ले जाने के काम आते थे। तीसरी श्रेणी के लोग सफरमैना का काम देते थे। पाचवी श्रेणी युद्ध के रथो की थी और छठी श्रेणी मे हाथी सेना होती थी।

पैदल सैनिक अपनी ऊचाई के बराबर धनुष धारण करते थे। अपने धनुष को वे जमीन पर टेक कर बायें पैर से उसे दबाकर, कमान की डोरी को पीछे की ओर खीचकर तीर छोडते थे। उनके तीर तीन गज लम्बे होते थे। इनके एक हाथ मे बैल के चमडे की ढाल होती थी। सेना की दूसरी पक्ति भाला-बरदारो की होती थी और तीसरी तलवार वालो की। युद्ध के समय भारतीय योद्धा दोनो हाथो से तलवार

चलाते थे। घुडसवारो के पास दो-दो भाले होते थे । उनकी ढाल पैदल सिपाहियो से मोटी होती थी । यह लोग न घोडो के लगाम लगाते थे और न जीन ही कसते थे । परन्तु वह घोडे के शरीर को बैल के चमडे से ढके रहते थे।

युद्ध के नियम—मेगस्थनीज ने जहा भारतीय शासन-व्यवस्था की सुदृढता और भारतीय नागरिको के उच्चादर्शों की चर्चा की हैं । वहाँ सेना के युद्धकालीन नियमो को भी विश्व मे आदर्श बताया है। मेगस्थनीज़ लिखता है—'भारतीय आर्यों के युद्ध के नियम बहुत उच्च थे। युद्ध मे भारतीय योद्धा उस वीर को कभी नही मारता था जो अपने शस्त्र युद्ध-भूमि मे रख देता था अथवा जो बाल खोलकर, हाथ जोडकर दया की प्रार्थना करता था, या जो सामने से भाग जाता था । भयभीत, पागल और नशे की अवस्था मे होने वाले को भी नही मारते थे। जिनके पास शस्त्र नही होते थे, जो वृद्ध होते थे—उनसे युद्ध करना वर्जित था । सैनिक खेतो को नही उजाडते थे। युद्ध के पास ही किसान लोग भी अपना काम करते रहते थे।'

व्यापार-व्यवसाय—मेगस्थनीज़ लिखता है—'यह लोग शिल्प में चतुर हैं । ई० पू० से बहुत पहिले फिनिशिया के व्यापारियो और पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के बाजारो मे भारतीय माल की भरमार होती थी । खानो से खनिज निकाल कर शुद्ध करके उपयोग में लाया जाता था । गहनो का रिवाज़ स्त्री-पुरुष दोनो मे था। सुन्दर कपडे पहिने जाते थे ।' मेगस्थनीज लिखता है—'जब भारतीय खाने बैठते थे, तब सामने मेज रखी जाती थी। ऊपर सोने का प्याला रखा जाता था। उसमे उबले चावल और जौ डाले जाते थे। पश्चात् और खाना।'

चाणक्य का अर्थ-शास्त्र—चन्द्रगुप्तकालीन न्याय और सामाजिक-व्यवस्था का मूलाधार आचार्य चाणक्य का अर्थ-शास्त्र ही था । अत चाणक्य के अर्थ-शास्त्र मे जो कुछ लिखा है, वही उस समय की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था थी ।

चन्द्रगुप्त के बाद—२३ वर्ष शासन करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु हुई और २९८ ई० पू० उसका पुत्र 'बिन्दुसार' गद्दी पर बैठा । तक्षशिला मे इसने अपने पुत्र 'सुषीम' को शासक नियुक्त किया और उज्जयिनी मे अपने छोटे पुत्र अशोक को। परन्तु तक्षशिला मे हुए विद्रोह को न दबा सकने के कारण, अशोक को वहाँ का शासक बनाया गया। सीरिया के राजा एन्टीयोकस सोटर ने डाइमेक्स नामक व्यक्ति को अपना राजदूत बनाकर बिन्दुसार के दरबार मे भेजा था।

अशोक—बिन्दुसार के मरने के बाद, गद्दी न 'सुषीम' को मिली और न दूसरे पुत्र 'तिष्य' को , अपितु सिंहासन पर तृतीय पुत्र—अशोक आसीन हुआ ।

मौर्यकालीन भारतीय सभ्यता—कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र मे चार वर्णो और चार आश्रमो की चर्चा की है । इनके अतिरिक्त उसमे कृषक, गोपाल, रुचिक (भोजनालय के प्रबन्धक) काष्ठक (बढई) आदि के उल्लेख भी हैं। परन्तु यह चारो वर्णो के ही अन्तर्गत आते हैं । मेगस्थनीज़ के अनुसार देश की सारी जन-संख्या सात भागो मे विभक्त थी—दार्शनिक, किसान, ग्वाले, कारीगर, सैनिक, निरीक्षक और

सेल्यूकस पराजित होकर अपनी पुत्री का विवाह चन्द्रगुप्त से कर चुका था। बौद्धग्रंथ 'महावश' ने चन्द्रगुप्त को सारे भारतवर्ष का सम्रा_ लिखा है।

वस्तुत सेल्यूकस की पराजय ने ही भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति को सुदृढ किया और भारतीय सस्कृति के विस्तार मे सहायता दी। सिकन्दर के इस सेनापति ने सिकन्दर के भारत और कुछ ईरानी भाग को मिलाकर एक नया साम्राज्य खडा कर लिया था और उसे और भी विशाल रूप देने के लिये भारत पर आक्रमण कर दिया, किन्तु इस समय भारत का मानचित्र वदल चुका था। का-पुरुप आम्भी और शशिगुप्त के स्थान पर एक विशाल सेना के साथ उसके सामने वीर चन्द्रगुप्त मौर्य खडा था। वह भी सिन्धु के उस पार।

अत चन्द्रगुप्त के प्रथम प्रहार मे ही सेल्यूकस ने सधि कर ली और सिन्धु के उस पार का सारा प्रदेश(जिसमे एरिया, एराकोशिया, जेड्राशिया और पैरोपैनीसैदाई-अर्थात् वर्तमानकालीन (हिरात, कन्धहार, मकरान और काबुल थे) भेंट स्वरूप दे दिये और साथ ही अपनी लडकी की शादी कर दी। चन्द्रगुप्त ने उपहार मे ५०० हाथी दिये। इसी समय एक यूनानी राजदूत—मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार मे राजदूत बनकर आया। उसने चन्द्रगुप्त कालीन शासन-व्यवस्था का जिसका सचालक वस्तुत चाणक्य था—अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरवार मे यह राजदूत ३१७ ई० पू० मे आया और ३१२ ई० पू० तक रहा। मेगस्थनीज अपनी पुस्तक 'इडिका' (अप्राप्त) मे लिखता है—'ईसा के पहिले चौथी शताव्दी मे, प्राच्य लोग सबसे प्रबल हो गये हैं, जैसा कि काव्यकाल मे कुरु, पाचाल, विदेह और कौशल के लोग हो गये थे। मगध साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी जो कि भरापूरा नगर था और ८० स्टडिया अर्थात् ९ मील लम्बा (१ स्टडिया=२०२¼ गज)और १५ स्टडिया अर्थात् लगभग दो मील चौडा था। यह समचतुर्भुज के आकार मे बसा हुआ था। इसके चारो ओर काठ की एक मजबूत दीवार थी। इस दीवार मे तीर चलाने के लिये छिद्र बने हुए थे। दीवार से आगे चारो तरफ गहरी खाई थी। मेगस्थनीज ने लिखा है—"सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना मे ६० लाख पैदल, ३० हजार सवार और ९ हजार हाथी थे। राजा का महल नगर के बीचो-बीच था।"

सेना का वर्गीकरण—सेना मे पहिली श्रेणी के पदाधिकारी, जगी जहाजो के सेनापतियो की सहायता के लिये होते थे। दूसरी श्रेणी उन छकडो की होती थी, जो शस्त्रो को ले जाने के काम आते थे। तीसरी श्रेणी के लोग सफरमैना का काम देते थे। पाचवी श्रेणी युद्ध के रथो की थी और छठी श्रेणी मे हाथी सेना होती थी।

पैदल सैनिक अपनी ऊचाई के बराबर धनुष धारण करते थे। अपने धनुष को वे जमीन पर टेक कर बायें पैर से उसे दबाकर, कमान की डोरी को पीछे की ओर खीचकर तीर छोड़ते थे। उनके तीर तीन गज लम्बे होते थे। इनके एक हाथ मे बैल के चमडे की ढाल होती थी। सेना की दूसरी पक्ति भाला-वरदारो की होती थी और तीसरी तलवार वालो की। युद्ध के समय भारतीय योद्धा दोनो हाथो से तलवार

चलाते थे। घुडसवारो के पास दो-दो भाले होते थे । उनकी ढाल पैदल सिपाहियो से मोटी होती थी । यह लोग न घोडो के लगाम लगाते थे और न जीन ही कसते थे। परन्तु वह घोडे के शरीर को बैल के चमडे से ढके रहते थे।

युद्ध के नियम—मेगस्थनीज ने जहा भारतीय शासन-व्यवस्था की सुदृढता और भारतीय नागरिको के उच्चादर्शों की चर्चा की है । वहाँ सेना के युद्धकालीन नियमो को भी विश्व मे आदर्श बताया है। मेगस्थनीज लिखता है—'भारतीय आर्यो के युद्ध के नियम बहुत उच्च थे। युद्ध मे भारतीय योद्धा उस वीर को कभी नही मारता था जो अपने शस्त्र युद्ध-भूमि मे रख देता था अथवा जो बाल खोलकर, हाथ जोडकर दया की प्रार्थना करता था, या जो सामने से भाग जाता था । भयभीत, पागल और नशे की अवस्था मे होने वाले को भी नही मारते थे। जिनके पास शस्त्र नही होते थे, जो वृद्ध होते थे—उनसे युद्ध करना वर्जित था । सैनिक खेतो को नही उजाडते थे। युद्ध के पास ही किसान लोग भी अपना काम करते रहते थे।'

व्यापार-व्यवसाय—मेगस्थनीज लिखता है—'यह लोग शिल्प में चतुर हैं । ई० पू० से बहुत पहिले फिनिशिया के व्यापारियो और पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के बाजारो मे भारतीय माल की भरमार होती थी । खानो से खनिज निकाल कर शुद्ध करके उपयोग मे लाया जाता था । गहनो का रिवाज स्त्री-पुरुष दोनो मे था। सुन्दर कपडे पहिने जाते थे ।' मेगस्थनीज लिखता है—'जब भारतीय खाने बैठते थे, तब सामने मेज रखी जाती थी। ऊपर सोने का प्याला रखा जाता था। उसमे उबले चावल और जौ डाले जाते थे। पश्चात् और खाना।'

चाणक्य का अर्थ-शास्त्र—चन्द्रगुप्तकालीन न्याय और सामाजिक-व्यवस्था का मूलाधार आचार्य चाणक्य का अर्थ-शास्त्र ही था । अत चाणक्य के अर्थ-शास्त्र मे जो कुछ लिखा है, वही उस समय की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था थी ।

चन्द्रगुप्त के बाद—२३ वर्ष शासन करने के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य की मृत्यु हुई और २९८ ई० पू० उसका पुत्र 'बिन्दुसार' गद्दी पर बैठा । तक्षशिला मे इसने अपने पुत्र 'सुषीम' को शासक नियुक्त किया और उज्जयिनी मे अपने छोटे पुत्र अशोक को। परन्तु तक्षशिला मे हुए विद्रोह को न दबा सकने के कारण, अशोक को वहाँ का शासक बनाया गया। सीरिया के राजा एन्टीयोकस सोटर ने डाइमेक्स नामक व्यक्ति को अपना राजदूत बनाकर बिन्दुसार के दरबार मे भेजा था।

अशोक—बिन्दुसार के मरने के बाद, गद्दी न 'सुषीम' को मिली और न दूसरे पुत्र 'तिष्य' को , अपितु सिंहासन पर तृतीय पुत्र—अशोक आसीन हुआ ।

मौर्यकालीन भारतीय सभ्यता—कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र मे चार वर्णो और चार आश्रमो की चर्चा की है । इनके अतिरिक्त उसमे कृषक, गोपाल, रुचिक (भोजनालय के प्रबन्धक) काष्ठक (बढई) आदि के उल्लेख भी हैं। परन्तु यह चारो वर्णो के ही अन्तर्गत आते हैं । मेगस्थनीज के अनुसार देश की सारी जन-सख्या सात भागो मे विभक्त थी—दार्शनिक, किसान, ग्वाले, कारीगर, सैनिक, निरीक्षक और

अमात्य । अशोक के लेखो मे ब्राह्मण, इम्य (वैश्य) और दास मृतक (शूद्र) का उल्लेख है । मेगस्थनीज़ लिखता है कि उस समय जातियो मे बन्धन था । कोई अपनी जाति या व्यवसाय नही बदल सकता था ।

विवाह-पद्धति—विवाह पूर्णतया शास्त्रीय नियमो के अनुकूल होते थे । वे आठ प्रकार के थे–ब्राह्म (पिता द्वारा वर को कन्या सौंपना), प्राजापत्य (सन्तान हेतु वैदिक पद्धति से विवाह), आर्ष (वर पक्ष से गाय का जोडा लेकर कन्या का पिता, कन्या सहित लौटा देता था), देव (देवो के समक्ष साक्षी करके कन्या का विवाह), असुर (द्रव्य लेकर कन्या का विवाह), गान्धर्व (प्रेम-विवाह, माता-पिता की आज्ञा लेकर), राक्षस (बलात्-विवाह), पैशाच (पैशाचिक-कृत्यो द्वारा) । इनमे उपर्युक्त चार प्रकार के विवाह श्रेष्ठ और चार प्रकार के निकृष्ट समझे जाते थे । विवाह मे दहेज प्रथा प्रचलित थी । उस समय कई अवस्थाओ मे पति-पत्नी को तलाक का अधिकार था । कौटिल्य ने एक स्थल पर कहा है—'यदि कोई पति बुरे आचार का है, बहुत दिनो से परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है, खूनी या अशक्त है—उस स्थिति मे पत्नी पति का त्याग कर सकती है ।' चाणक्य ने स्त्रियो को पति की सम्पत्ति मे भी अधिकारी माना है ।

साहित्य और शिक्षा—इस समय मे साहित्य की समृद्धि पर्याप्त मात्रा मे उच्च-कोटि की हुई । इसमे कौटिल्य का 'अर्थ-शास्त्र' भद्रबाहु का 'कल्पसूत्र' और बौद्ध-ग्रथ 'कथावस्तु' की रचना हुई । पतजलि ने 'कस-वध' और 'बालि वध' नाटको को भी इसी समय की रचना माना है । व्याडि और कात्यायन के व्याकरणो की रचना भी इसी काल मे हुई । व्याडि १००००० ने श्लोको का सग्रह लिखा और पाणिनि के सूत्रो की परिभाषा तथा उत्पलिनी नामक कोश की रचना की । इसी काल में एक अन्य वैयाकरण भगवान् 'कात्य' हुए, जो महावार्तिका के रचयिता माने जाते है । सुबन्धु कवि ने 'वासवदत्ता-नाट्यधारा' की रचना की । जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखक स्वायभव ने 'दशवैतालिक' लिखा । इन महान् साहित्यिक निधियो से स्वत ही यह सिद्ध हो जाता है कि उस काल मे भारतीय शिक्षा का स्तर कितना उच्च हो चुका था ।

शिक्षालय—शिक्षा के विकास के लिये इस समय महान् विश्वविद्यालय बन चुके थे, जबकि प्राय शेष सभ्यताए अविद्या के अधकार से बाहर जाने का प्रयत्नमात्र कर रही थी । इस काल मे सबसे बडा विश्वविद्यालय तक्षशिला का था । इस विश्व-विद्यालय मे कई हजार आचार्य वैद्यक, रसायन और शस्त्र-सचालन से लेकर साहित्य के प्रत्येक विषय की शिक्षा देते थे । इसके अतिरिक्त पाचाल, वाराणसी, पाटलिपुत्र, उज्जैयिनी, राजगृह आदि मे भी विश्वविद्यालय थे । पाचाल परिषद् की विशेषता दर्शन की उच्च शिक्षा देने मे थी । उज्जैयिनी मे आकाशीय-शोध तथा ज्योतिष की उच्च शिक्षा दी जाती थी । वाद-विवाद द्वारा विद्या के विकास की परिपाटी थी । इसके लिये नन्दो से लेकर, बिन्दुसार तक तार्किको को राज्याश्रय मिलता हुआ दिखाई देता है । इन विश्वविद्यालयो को जनता और राजा—दोनो मिलकर चलाते थे ।

लिपि—इस समय सस्कृत का वैदिक रूप प्रातीय बोलियो के सम्पर्क से पर्याप्त बदल चुका था । इसीलिये उस समय की सस्कृत को पाणिनि 'लौकिक' कहता है । अशोक की लिपियो से ज्ञात होता है कि बोलचाल की भाषा प्राकृत थी और इसके उत्तर पश्चिम तथा पूर्व के रूपो मे भी अन्तर थे । जैसा कि मानसेरा, साहबाजगढी और कालसी (देहरादून) के लेखो से विदित होता है। इनकी लिपि भी दो प्रकार की थी। उत्तर पश्चिम की खरोष्ठी, जो दायी ओर से बायी ओर चलती है और जो फारसी की जननी है। पूर्व और मध्यभारत की लिपि ब्राह्मी थी, इसी से देवनागरी को विकास मिला । उस समय का समस्त बौद्धसाहित्य पाली मे लिखा गया । उस समय के साहित्य से ज्ञात होता है कि जनता पर्याप्त साक्षर थी और विद्या केवल ब्राह्मणो के हाथ मे ही नही थी।

कौटिल्य—कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र मे राजा को विधि का सरक्षक ही नही, बल्कि सर्वगुण सम्पन्न पुरुष माना है। प्राचीन परम्परा के अनुसार राजा की शक्ति अगो पर निर्भर थी—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र । परन्तु कौटिल्य ने, सारी शक्ति राजा मे ही बतायी है । कौटिल्य ने लिखा है—"राजसत्ता बिना सहायता के सम्भव नही—अकेला एक पहिया नही चल सकता । अत राजा को चाहिए कि वह मत्रियो की नियुक्ति करे और उनके परामर्श को सुनें ।" इसी आधार पर मौर्य-सम्राटो की सहायता क लिये भी एक मत्रि परिषद् थी । परन्तु राजा उसकी सलाह मानने के लिये बाध्य नही था ।

कौटिल्य ने केन्द्रीय शासन के विभागो का नाम 'तीर्थ' रखा था । यह तीर्थ लगभग १८ थे, जिनमे ग्रामात्य महामात्य, तथा अध्यक्ष होते थे । यथा प्रधानमत्री–पुरोहित, समाहर्त्ता—राज्यकर लेने वाला, सन्निधाता—कोषाध्यक्ष, सेनापति, दण्डपाल—आरक्षकाधिकारी (Police) प्रदेष्टा—विषयो का शासक, अन्तपाल—सीमा रक्षा सम्बन्धी शासक, कर्मान्तिक—उद्योगमन्त्री, युवराज (भावी शासक और विभाग अध्यक्ष), दुर्गपाल—गृहमन्त्री, आटविक—वनविभागाध्यक्ष, प्रशास्ता—राजकीय कागजो का अध्यक्ष । यह अपने कार्यो के लिए स्वतत्र थे, केवल राजा के लिए उत्तरदायी थे । विशेष प्रातो के शासक राजपुरुष होते थे । अन्य प्रातो का शासन महामात्र कर सकते थे । इन प्रदेशो को 'चक्र' भी कहा जाता था । इनके अधिकारियो की पदवी 'राजुक' थी । इन्हे मृत्युदण्ड तक देने का अधिकार था । परन्तु राज्य का गुप्तचर विभाग इन पर भी दृष्टि रखता था ।

जिले का शासन—प्रान्त जिलो मे विभाजित थे, जिन्हे 'जनपद' कहा जाता था । यह जनपद विषय और 'ग्रामो' मे बटे थे । शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम ही था । इसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था । राजा की ओर से नियुक्त यह शासक ग्राम के वृद्धो की सहायता से शासन करता था । दस ग्रामो का शासक 'गोप' कहलाता था । उसके ऊपर 'स्थानिक' का पद था जो जनपद के चौथाई भाग पर शासन

करता था। यह सब अधिकारी केन्द्रीय शासन के अधिकारी प्रदेष्टा और समाहर्त्ता की देखरेख मे कार्य करते थे।

नगर का शासन—नगर के शासन के लिए छै समितियाँ कार्य करती थी। इनमे प्रत्येक मे ५-५ सदस्य थे। इन्हे प्रजा चुनती थी। इनका कार्य औद्योगिक विस्तार, सामग्री की शुद्धता का निरीक्षण, वेतन तथा अन्य श्रमिक कार्य थे। दूसरी समिति विदेशियो की सुविधा के लिए की थी। इससे सिद्ध है कि उस समय भारत का विदेशो से इतना गहरा सम्बन्ध हो गया था कि राज्य को उनकी सुविधा के लिए अलग समिति बनानी पडती थी। यह समिति विदेशियो के मरने पर उनका धन उनके परिवारो को भी भेजती थी। तीसरी समिति का कार्य जन्म-मरण का लेखा तैयार करना था। चौथी समिति—इसका कार्य माल के बिकवाने मे मदद, माप और बाट को ठीक रखना तथा व्यापार पर कर का निर्धारण करना था। पाँचवी समिति माल का निरीक्षण करती, मिलावट न होने देने का ध्यान रखती और पुरानी वस्तु को नया करके न बेचा जाय—यह भी देखती थी। छठी समिति—कर से बचने वालो का ध्यान रखती थी।

न्याय-विभाग—कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र मे न्याय का वर्णन भी विशेष रूप से आया है। उस समय राज्य मे दो प्रकार के न्यायालय थे—(१) धर्मस्थीय, (२) कटकशोधन।

धर्मस्थीय—(दीवानी)—इस अदालत मे तीन न्यायाधीश होते थे। इनकी सहायता के लिए विधि (कानून) जानने वाले तीन ब्राह्मण रहते थे। यह अदालत दीवानी सम्बन्धी मामलो का निर्णय करती थी। अध्यक्ष गवाहियो के बाद ही अपना निर्णय सुनाते थे। इस दण्ड मे अर्थ-दण्ड, कारावास, अगभग, निर्वासन और मत्यु-दण्ड तक शामिल था।

कंटक-शोधन—(फौजदारी)—इस अदालत मे भी तीन न्यायाधीश होते थे और इनका सहायक होता था—जासूस-विभाग। इस अदालत मे फौजदारी सम्बन्धी और राज-द्रोह सम्बन्धी मामलो का निर्णय होता था और दण्ड कठोर दिया जाता था। फैसला जल्दी सुनाया जाता था। अपराध स्वीकार कराने के लिए कठोर यातनाए भी दी जाती थी।

सेना-समिति—मौर्यों की विशाल सेना के लिए भी समितिया बनी हुई थी। मेगस्थनीज ने ऐसी छै समितियो का वर्णन किया है। यथा—नौ-सेना-समिति का कार्य, जल-सेना की देख-भाल था और इसके अध्यक्ष को 'नावाध्यक्ष' कहा जाता था।

यातायात-समिति—यह समिति युद्ध-सामग्री ढोने का कार्य करती थी। पदाति-समिति गज समिति, रथ समिति, अश्व समितिया भी सेना के अपने-अपने अगो के लिए बनी हुई थी।

पुलिस—इसके दो अग थे। प्रकट-पुलिस और गुप्त-पुलिस। गुप्त-पुलिस के लोग, विद्यार्थी, सपेरे, सौदागर, बाजीगर आदि के रूपो मे काम करते थे। एक ही

स्थान पर रहने वाले गुप्तचर 'सस्था' और विभिन्न स्थानो पर सचरण करने वाले 'सचार' कहलाते थे इनका अध्यक्ष महामायत्ररूर्द कहलाता था ।

मुद्रा--कौटिल्य ने मुद्रा के अध्यक्ष को लक्षणाध्यक्ष कहा है । चादी, सोने और तावा—तीनो धातुओ के सिक्के चलते थे । इन पर अर्द्धचन्द्र, मोर अथवा पर्वत के लक्षण होते थे । इन्हे ही मौर्य-चिह्न माना गया है ।

आयकर--भूमि की उपज का चौथा भाग लिया जाता था । इसके अतिरिक्त व्यापार, खानो आदि पर भी टैक्स था । अर्थ-दण्ड और जगलो से भी राज्य को आय होती थी ।

सिंचाई—सिंचाई प्रणाली पर समुचित ध्यान दिया जाता था । मेगस्थनीज ने लिखा है कि अनेक राज-कर्मचारियो की नियुक्ति इसलिए हुई कि वे भूमि की पैमा-यश और उन प्रणालियो की देखभाल करें, जिनके द्वारा नहरो से सिंचाई होती है ।

आर्थिक-जीवन -- देश का आर्थिक-जीवन उस समय अत्यन्त उन्नत था । व्यापार के लिये नदियो का उपयोग होता था । जहाजो और नावो की सुरक्षा के लिय राज्य की ओर से सावधानी बरती जाती थी । कौटिल्य का कथन है—"शत्रु पर आक्रमण करने के आधार वणिक-पथ ही हैं ।" व्यापारियो को विदेश जाने के लिये राज्य की ओर से आज्ञा-पत्र मिलते थे और राज्य के नियमो के अनुसार ही व्यापार होता था ।

यहाँ की कृषि उपज, खनिज सम्पत्ति तथा शिल्पियो की कुशलता की यूनानियो ने भूरि-भूरि प्रशसा की है । कौटिल्य ने कई प्रकार के वस्त्र गिनाये है । उनका कथन है कि जो वस्त्र वग देश मे बनता है वह सफेद और चिकना होता है । पुण्ड्र देश का वस्त्र काला और मणि के समान होता है । काशी और पुण्ड्र के बने सन के वस्त्र बहुत उत्तम होते हैं । मगध, पुण्ड्र और सुवर्ण (असम) देशो मे अनेक वृक्षो के पत्तो और उनकी छालो के रेशो के वस्त्र बनाये जाते थे । मेगस्थनीज ने उनके विषय मे लिखा है—"वे मलमल के फूलदार कपडे पहनते हैं । सिर पर पगडी बाँधते है और चमकीले रगो से रगे हुए वस्त्रो का प्रयोग करते हैं ।" कौटिल्य ने ऊनी वस्त्रो का तथा नेपाल से आने वाले—वर्षा मे भी शरीर को न भीगने देने वाले वस्त्रो का उल्लेख किया है । कौटिल्य ने चन्दन, अगरु आदि की भी चर्चा की है । उस समय काठ और हाथी-दात की वस्तुओ का बडा प्रचलन था । इसके अतिरिक्त पत्थर की वस्तुए भी अत्यन्त आकर्षक बनायी गई थी और उन पर पालिश भी की जाती थी ।

खानो के लिये मेगस्थनीज लिखता है—भारत-भूमि के गर्भ मे सब प्रकार की धातुओ की खानें हैं । इस देश मे सोना-चादी बहुत होता है उनका व्यापार, आभूषण, युद्ध के हथियार तथा साज-सामान बनाने के लिए होता है । चन्द्रगुप्त की पालकी स्वर्ण की बनी थी ।

कौटिल्य ने भी मोतियो, मणियो, हीरो और मूगो आदि का विस्तार से उल्लेख किया है । इस काल मे चिकित्सा-प्रणाली भी सर्वोत्तम थी ।

धर्मराज अशोक

अशोक जिस समय मगध के सिंहासन पर बैठा उस समय मगध साम्राज्य का विस्तार मध्यभारत से लेकर मध्यएशिया तक फैला हुआ था । भारत के दक्षिण पूर्वी और दक्षिण भाग को अपने साम्राज्य में मिलाने के लिए कदाचित् अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया था । दक्षिणी समुद्रतट पर महानदी और कृष्णा नदी के बीच का देश कलिंग कहलाता था ।

कलिंग की विजय अशोक ने की, परन्तु इस रक्तपात से उसके मन मे बडी विरक्ति हुई और उसे युद्ध से घृणा हो गई । उसने निर्णय किया वह अब कभी युद्ध न करेगा । इस समय सुदूर दक्षिण के एक छोटे से भाग के अतिरिक्त समूचा भारत उसके अधिकार मे था । इस छोटे से टुकडे को जीत लेना उसके लिए कठिन न था । पर उसने ऐसा नही किया । अशोक ससार का एकमात्र ऐसा सम्राट था जिसने युद्ध मे विजयी होने पर युद्ध का परित्याग किया । उसने घोषणा की कि कलिंग युद्ध मे जितने आदमी मारे गये या कैद हुए उसका सौवा या हजारवा भाग भी यदि आज मारे जाय या कैदकर लिए जाय तो प्रियदर्शी यह सहन न करेगा । उसने कहा—धर्म से मनुष्य का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और इतिहास साक्षी है कि अशोक ने यह विजय अपने देश मे ही नही—दूर देशो में भी की । पश्चिमी एशिया अफ्रीका और यूरोप मे भी देवानाप्रिय अशोक का नाम अमर हो गया । श्री एच० जी० वेल्स ने अपने ससार के इतिहास मे अशोक को ससार का सर्वश्रेष्ठ सम्राट माना है ।

अशोक केवल मन्त्र पाठ या पूजा पाठ ही को धर्म कृत्य नही समझा था । वह जन-सेवा को सच्चा धर्म समझता था । उसने सारे देश मे कुए खुदवाये । बाग लगाये, अस्पताल स्थापित किये । इस प्रकार उसने ३८ वर्ष राज्य किया, और शान्ति पूर्वक ई० पू० २३२ मे उसकी मृत्यू हो गई । मृत्यु से कुछ दिन पूर्व वह राजपाट छोडकर भिक्षु हो गया था ।

अशोक का परिवार--अशोक मौर्य साम्राज्य के सस्थापक महान सम्राट चन्द्रगुप्त का पौत्र और विन्दुसार का कनिष्ठ पुत्र था । अशोक की माता का नाम 'शुभअगी' था । कोई-कोई उसका नाम 'धर्म-अग्रमहिषी' बताते हैं । अशोक के अनेक भाई थे । उनमे अशोक अपनी प्रतिभा तथा ज्ञान द्वारा सर्वशक्तिशाली हुआ । अशोक का राज-

परिवार बहुत बडा था। उसका उसने सम्राट् होने पर भली भाति पालन किया। अशोक ने अपने पूर्वजो की भाँति 'देवानाप्रिय' को अपना उपनाम बनाया। वह प्रिय-दर्शी और प्रियदर्शिन नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

अशोक के पिता बिन्दुसार ने २५ वर्ष राज्य किया। उसने प्रतापी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य को भलीभाति चलाया। पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के यूनानी राजाओ से उसके अच्छे सम्बन्ध थे। परन्तु अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे उसके राज्य मे सर्वत्र अराजकता फैल गई थी। २५ वर्ष राज्य करने के बाद ई० पू० २२१ मे उसकी मृत्यु हुई और इसी समय अशोक मगध की गद्दी पर बैठा। परन्तु घरेलू झगडो के कारण उसका राज्याभिषेक ई० पू० २६९ मे हुआ।

अशोक की अनेक रानिया थी, जिनमे असन्धिमित्रा, कारुवाली, विदिशा देवी, शाक्य कुमारी महादेवी, पद्मावती और तिष्यरक्षिता प्रमुख थी। असन्धिमित्रा प्रधान रानी थी। अशोक के पाच पुत्र और दो पुत्रिया थी। पुत्रो के नाम–महेन्द्र, उज्जैनी, तिवाला, धर्म विवर्धन और जलोका तथा पुत्रियो का—सघमित्रा और चारुमति था। पौत्र दशलथ, सम्प्रति और सुमन थे। दशलथ अशोक के बाद राज्याधिकारी हुआ।

कलिंग विजय—सिहासनारूढ होने के आठ वष बाद ई० पू० २६१ मे अशोक ने कलिंग को विजय किया। इस युद्ध मे डेढ लाख मनुष्य बन्दी हुए, एक लाख आहत हुए और इससे कही अधिक मारे गए।

कलिंग एक सुसम्पन्न और समृद्ध देश था। सारा प्रदेश उपजाऊ था। वहाँ के ग्राम, नगर हर्षोत्फुल्ल थे। यहाँ के हाथी हृष्ट-पुष्ट और विशाल थे। वे बहुमूल्य होते थे। उस काल मे हाथी सेना ही प्रधान शक्ति समझी जाती थी। इस समृद्धिशाली देश का राजा भी महाशक्तिशाली था। इस राजा के शरीर रक्षको मे ६० हजार पैदल १० हजार सवार था और ७०० हाथी थे।

कलिंग राज्य अशोक के साम्राज्य की अन्तर राजनीति मे कण्टक स्वरूप था। आन्ध्र और परिन्दा के प्रान्त अशोक साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कलिंग राज्य महानदी व कृष्णा के मध्यस्थ तटवर्ती प्रदेश था। वर्तमान उडीसा और मद्रास का अधिकाश उत्तरी भाग इस राज्य के अन्तर्गत था। उन दिनो कृष्णा और कावेरी मण्डल प्रदेश को आन्ध्र कहते थे। अशोक साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी और वर्तमान बगाल का अधिकाश भाग मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। 'परिन्दा' सम्भवतः साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर कदाचित पूर्वी बगाल मे था। इस तरह कलिंग राज्य अन्तर राजनीति में एक कील की भाँति गडा था। जो कभी भी चोड राज्य से गुप्त मन्त्रणा कर सकता था। इसलिए साम्राज्य की कुशलता और एकीकरण के लिए कलिंग विजय अनिवार्य थी।

कलिंग के सम्बन्ध मे चीनी यात्री ह्वेनसाग लिखता है—इस प्रदेश की परिधि दो सौ 'ली' है। इसकी राजनगरी २०ली है। यह प्रान्त खूब उपजाऊ है। यह प्रदेश फफल और लो के वृक्षो से भरपूर है। इस प्रदेश मे सैकडो 'ली' तक विस्तृत फैले हुए

मनोरम वन्य और अटवी जगल हैं। यहाँ बडे-बडे भूरे हाथी पाये जाते हैं। जिनकी पडोसी देशो मे बहुत माँग है । जलवायु कुछ सम और तापपूर्ण है। यद्यपि यहाँ के लोग अधिकतर रूखे और असभ्य हैं , किन्तु वे सत्यवादी और विश्वसनीय हैं। प्राचीन काल मे कलिंग राष्ट्र बहुत घना बसा था, यहा की जनसख्या अगण्य थी । यहा कंधे एक दूसरे से रगड खाते थे। यहा के लोगो के रथो के पहिए आपस मे टकराते थे।

अशोक का साम्राज्य—अशोक का साम्राज्य उत्तर मे हिन्दूकुश तक तथा मकरान बिलोचिस्तान व अफगानिस्तान तक फैला था। काश्मीर और नेपाल उसके साम्राज्य के भाग थे । पूर्व मे आसाम को छोडकर दक्षिण मे मैसूर तक समूचा भारतवर्ष उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। यह साम्राज्य पाच भागों मे बँटा था जिनकी राजधानिया—तक्षशिला उज्जैन, स्वर्णगढी तौसकी तथा पाटलिपुत्र थी। पाटलिपुत्र प्रधान नगरी थी काश्मीर के नगर श्रीनगर की स्थापना अशोक ने ही की थी। नैपाल मे भी उसने एक नगर बसाया था।

साम्राज्य से सम्बन्धित दो प्रकार के सीमान्त राज्य थे । एक वे जो स्वतन्त्र या अर्धस्वतत्र थे। दूसरे वे जो विजित थे। ऐसे राज्यो मे तुरमय (टालमी राज्य) अन्ति गोनस, मग अलिक सुन्दर स्वतंन्त्र राज्य थे। दक्षिण सीमा पर चौड पाण्ड्य सत्य-पुत्र केरल और ताम्रपर्णी राज्य थे । यवन, काम्बोज, भोज पितनिक, आन्ध्र, पुलिन्द राज्य साम्राज्य के अन्तर्गत थे। काम्बोज और यवन काबुल नदी के क्षेत्रो मे हैं। यह काबुल नदी वैदिक 'कुभा' है। यह प्रान्त सैल्यूकस ने सधि मे चन्द्रगुप्त को दिया था। यवन उत्तर-पश्चिमी सीमा पर थे। वे यवन राज्य उत्तर-पश्चिमी सीमा पर कौवन और इण्डस के मध्य काम्बोज और गान्धार के समीपस्थ थे । गान्धार और काम्बोज पूर्वी अफगानिस्तान से सिन्धु नदी तक के पश्चिमी हिमाचल और पश्चिमी पजाब तक फैले थे । वर्तमान कन्धार और काबुल का प्रदेश इसी मे सम्मिलित था । राष्ट्रिक गण काठियावाड मे थे। विदर्भ भोजो का प्रदेश था। पश्चिमी सीमान्त को अपरन्ता कहते थे। सम्राट् ने उन्हे स्वतंत्र किया हुआ था। आन्ध्र के शक्तिशाली राज्य का विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने तक था।

ये सब राज्य पूर्ण आन्तरिक स्वतत्रता प्राप्त थे। अशोक कहता है जब तक ये राज्य धर्म-पथ पर चलेंगे, स्वतत्र रहेंगे। इन प्रान्तो की देखभाल को अन्त.पाल नियुक्त थे और साम्राज्य की सीमा पर सम्राट् ने खास-खास स्थानो पर गढ बनवाये थे।

अशोक के समकालीन राजा—अन्तियोक (यवनराज) तुरमय, अन्तिकिन, मग और अलिकसुन्दर अशोक के समकालीन राजा थे । अन्तियोक सिल्यूकस का पौत्र था। यह सीरिया, बैक्ट्रिया और पश्चिमी एशियाई प्रदेशो का अधिपति था । इसका यवन-साम्राज्य मौर्य साम्राज्य का पडोसी राज्य था। तुरमय मिस्र का द्वितीय टॉलमी फिलाडेल फोस था। अन्तिकिनिया अन्तकिन मैसीडानिया का राजा था। मग या मक मिस्र के राजा टालमी फिलाडेल फौस का भाई था। यह कैरीन का स्वामी था। कैरीन मिस्र के पश्चिम मे है। अलिक सुन्दर एपिरस का राजा था। अन्तियोक

अशोक कालीन उपाधियाँ—अशोक ने अपने पूर्वजो की भाँति 'देवानाप्रिय' को अपना उपनाम बनाया ।* "प्रियदर्शी" तथा "देवानाप्रिय' अशोक की पैतृक उपाधियाँ थी । मुद्राराक्षस नाटक' मे चन्द्रगुप्त को भी 'प्रियदर्शनत्तो" कहा गया है । नागार्जुन गुहालेख मे 'दशलथ' और 'देवाना प्रिय' लिखा है । यह व्यक्ति अशोक का पौत्र था । अशोक काल मे धर्म प्रचारको की उपाधि 'अन्त महापात्र' थी । इनके अतिरिक्त धर्म के अन्य पात्र भी थे, जैसे—धर्म महापात्र, स्त्री अध्यक्ष महापात्र । इनके अतिरिक्त उच्च कर्मचारियो को भी 'महापात्र' कहते थे ।

शासन व्यवस्था—अशोक के शासन की सबसे बडी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होने 'धर्म-ससद्' नाम की एक समिति बना रक्खी थी, जिसके सदस्य, जो वास्तव मे शासक-वर्ग के ही मनुष्य होते थे, सदा इस बात का विचार किया करते थे कि राजधानी मे कहीं अधर्माचरण और व्यभिचार तो नही फैला हुआ है । कोई अन्यायत. कैद की सजा तो नही पा गया । यह समिति धर्म और सच्चरित्रता की रक्षा के लिए बडी चेष्टा करती थी । यह देख कर भला किसको अशोक पर परम श्र ा न उत्पन्न होगी कि वे यहाँ के दुर्बल निवासियो की सुविधा और कल्याण के लिए सदैव यत्नवान् रहते थे ? अशोक की नीति आईने की तरह साफ थी । प्रजा का सच्चा हित करना ही उनका अभीष्ट था । अशोक की शिला-लिपियो मे राज-कर्मचारियो को इस बात का विशेष उपदेश दिया गया है कि वे प्रजा के प्रति किस प्रकार न्याय और धर्म के अनुकूल व्यवहार करें । राज की कर-दर निस्सन्देह चढी-बढी हुई थी, क्योंकि कृषको को अपनी पैदावार का चतुर्थांश राज-कर के रूप मे दे देना पडता था ।

वाणिज्य-व्यापार के प्रसार और नियन्त्रण के लिए राजधानी मे छैः स्थानिक समितिया स्थापित थी, जिनमे पहली का काम कारीगरो के हित की रक्षा करना था, दूसरी का काम विदेशियो पर दृष्टि रखना, उन्हे उचित स्थान दिलवाना, बीमार पडने पर उनकी दवा-दारू का प्रबन्ध करना, मर जाने पर उनके शव-सस्कारादि की व्यवस्था करना, उनकी जायदाद का उचित प्रबन्ध करना और उनके वारिसो और सम्बन्धियो को उनका प्राप्य अश दिलवाना था । कहते हैं कि राजधानी मे रहने वाले सभी विदेशियों पर बडी कडी दृष्टि रखी जाती थी । यह दूसरी समिति उनके यहाँ आने पर अथवा यहाँ से जाने पर इनके सग पहरेदारो को लगा देती थी, जो उनको किसी तरह की अनुचित कारंवाई नही करने देते थे । तीसरी समिति जन्म-मृत्यु का लेखा तैयार किया करती थी । चौथी समिति सभी पदार्थों की बिक्री की दर नियत करती थी और सभी चीजो की माप-तोल का परिणाम निश्चित करती थी । पाँचवी समिति यहा के कला-कौशल का परीक्षण-निरीक्षण करती, उनकी श्रेणी और मूल्य का निर्धारण करती तथा उनके प्रचार और उन्नति की व्यवस्था करती थी । छठी समिति कर-सग्रह और कर-स्थापना का काम करती थी । इसी से पाठक समझ सकते है कि सम्राट को अपने

*आठवा शिलालेख, पाँचवां शिला लेख तथा वैराट का शिलालेख ।

यहा के कला-कौशल और वाणिज्य-व्यापार के विस्तार की कितनी चिन्ता थी।

यद्यपि कलिंग-विजय के पश्चात् सम्राट ने कभी किसी देश पर विजय की इच्छा से चढाई नही की तथापि उन्हे अपने सुविशाल साम्राज्य की रक्षा के लिए एक सुदृढ सैन्य की व्यवस्था करनी पडी थी। उनकी सेना मे छ लाख पैदल, तीस हज़ार घुड-सवार और सत्ताईस हजार गजारोही सैनिक थे। इनके अतिरिक्त बहुत से रथारोही सैनिक भी थे, जो रथ-युद्ध मे अतिशय निपुण थे।

"सम्राट के अधीन सब देशो मे तथा आस-पास के चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र केरल पुत्र, लङ्का के राज्यो मे और यूनानी-राजा ऐन्टिओकस के अधिकृत प्रदेशो मे भी, महामहिम सम्राट की ओर से दो प्रकार की ओषधियो की व्यवस्था की गई है—पहली मनुष्यो के लिए और दूसरी पशुओ के लिए। औषधि के काम मे आने वाली जडीबूटियाँ जो मनुष्यो और पशुओ के समस्त रोगो मे काम आनेवाली है, हर जगह भेज दी गई है और उनके पौधे लगा दिये गए हैं। इसी प्रकार जहा कही ज़रूरत मालूम हुई, वहाँ तरह-तरह के कन्द-मूलो के बीज भेज कर उनकी पैदावार की भी व्यवस्था कर दी गई है। राज-मार्गो के किनारे मनुष्यो के और पशुओ के हित के लिए वृक्ष लगाये और कुएँ खुदवाये गये।।" अशोक के जमाने मे सर्वत्र सुन्दर और पक्की सडके बनवाई गई थी और उनकी मरम्मत का सदा ध्यान रक्खा जाता था। सडको की देख-भाल के लिए बहुत से राजकर्मचारी उनकी ओर से नियुक्त किये गये थे।

अशोक को स्मृति स्तम्भ-निर्माण तथा शिल्प-स्थापत्य के आदर्श स्वरूप बडे-बडे महल-मकान बनवाने का भी बडा शौक था। उनके समय मे राजधानी पाटलिपुत्र की कैसी विचित्र शोभा थी, उनके गगन-चुम्बी सुदृश्य प्रासाद दर्शकमात्र को कैसा आश्चर्यित तथा तृप्त कर डालते थे, उसकी कल्पना करनी भी सम्प्रति असम्भव है। हाँ, इतिहास उसका कुछ-कुछ आभास आज भी दे रहा है। पाँचवी सदी मे फाहियान नामक जो चीनी परिव्राजक भारत-पर्यटन के निमित्त आया था उसने अपने यात्रा-विवरण मे लिखा है—

"नगर के बीचोबीच सम्राट अशोक के बनवाये हुए जो राज-प्रासाद और दरबार-गृह आदि है उनकी रचना सम्राट के नियुक्त किये हुए देवो ने की थी। उन्ही लोगो ने पत्थरो को जोड बटोर कर ऐसे-ऐसे फाटक और प्राचीर बनाये और उनमे तरह-तरह की शिल्प-चातुरी के नमूने भर दिये कि उनकी बनावट ही यह बतला रही है कि मनुष्य के हाथो की ऐसी कारीगरी नही हो सकती।"

इतिहासो मे सम्राट अशोक की महत्ता को जो वर्णन मिलता है वह भारत-वासियो के लिए अतिशय गर्व की सामग्री है। जगत् का शताब्दियो का अर्वाचीन और प्राचीन इतिहास सम्राट अशोक का सानी नही पैदा कर सका। जो सम्राट युद्ध की भीषणताओ और दुष्परिणामो से डर कर देश-विजय से भी हाथ खीच सकता है उसका सानी भला किस देश के इतिहास मे मिल सकता है?

अशोक पूरे प्रजावत्सल नरेश थे। प्रजा का हितचिन्तन ही उनका प्रधान

व्यवसाय था। जहा-तहा आवपाशी का वन्दोवस्त कर उन्होने प्रजा को अनावृष्टि से बचाने का जो सुप्रबन्ध किया था उसे देखकर बडे-बडे यूनानी यात्रियो का भी चकित हो जाना पडा था। न्याय और शासन के नाम पर कोई अधिकारी अनाचार नही करने पाता था। उनके राज्य मे न्याय और शासन का उपयोग प्रजा की सम्पत्ति और समृद्धि की वृद्धि, उद्योग-धन्धो की उन्नति तथा प्रजा की सब तरह से रक्षा करने मे ही होता था। उस जमाने मे भारत के नगरो की जो शोभा-सम्पद् थी वह उन पृथ्वी-पर्यटको की आँखो मे भी चकाचौंध पैदा कर देती थी जो उस समय की सबसे सुन्दर नगरी एथेन्स (यूनान की राजधानी) देख आये थे।

भारत मे सदा से ऐसे ही राजाओ का अधिक आदर होता रहा है जिनके निकट प्रजा का अबाध प्रवेश हो सकता हो। अशोक के पास जाने के लिए भी किसी को रोक नही थी। जो चाहता वही सम्राट् के पास पहुच कर उनसे अपने अभियोग-अभावो की बात कह सकता था। अपने इस गुण से भी अशोक ने अपने प्रजावृन्द की अचल और अटूट राजभक्ति अर्जित कर ली थी।

अशोक ने अपनी प्रजा के लिए धार्मिक शिक्षा का बडा अच्छा प्रबन्ध कर रखा था। वे स्वय बौद्ध-मतावलम्बी थे और उस मत के प्रचार के लिए उन्होने आजन्म भरसक उद्योग किया था। वे सहिष्णुता पर अधिक बल देते थे और धार्मिक विषयो पर वाद-विवाद उन्हे व्यर्थ जान पडता था। कोई भी शिलालेख ऐसा नही है जिसमे सम्राट् ने बौद्ध-धर्म केकिसी मूल सिद्धान्त की व्याख्या न की हो। उनका उपदेश व्यावहारिक जीवन मे धर्मानुसार आचरण करना और कराना था और इसी की पूर्ति के लिए उन्होने सभायें की, नये-नये शासक नियत किये और सब प्रकार की सुविधा का प्रबन्ध किया। धर्म-प्रचार के लिए और धार्मिक क्रियाओ की देख-रेख के लिए अफसर नियत थे।

अशोक की धर्म विजय—अशोक को बौद्ध धर्म मे लाने का श्रेय आचार्य उपगुप्त को है। उन्हे ही अशोक ने अपना आचार्य बनाया था। इसके बाद भी २८वें वर्ष तक अशोक बौद्ध नही हुए। ३०वें वर्ष वे बौद्ध हुए और २॥ वर्ष उपासक रहे। ३३वें वर्ष मे उन्होने बौद्ध-संघ मे प्रवेश लिया और बौद्ध-धर्म की शुद्धि के लिये अपनी अध्यक्षता मे वैशाली मे धर्म-सभा बुलवाकर सघ के आपसी मतभेदो को दूर कराने का प्रयत्न किया। परिणाम अनुकूल न निकलने पर उन्होने मोग्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व मे साठ हजार विरोधी विचारधारा के भिक्षुओ को सघ से निकालकर बाहर कर दिया। इसके पश्चात् धर्म प्रचार के लिय उसने 'धर्म-महापात्र' आदि नियुक्त किये, शिलालेख खुदवाये और भिन्न-भिन्न देशो को प्रचारक भेजे। उसने कश्मीर, महिममण्डल, अपरेतिका यवन देश, हिमालय प्रदेश, महाराष्ट्र, लका, स्वर्णभूमि (पेगू और कौल) मे भी धर्म-प्रचारक भेजे। अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री सघमित्रा को भिक्षु बनाकर लका भेजा, वहाँ उन्होने आजीवन बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। महावश के कथनानुसार अनेक देशो ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

अशोक ने अपने अधीनस्थ सब राजाओ और प्रान्तपतियो को बौद्ध विहार बनवाने की आज्ञा दी तथा स्वय पाटलिपुत्र का 'अशोकाराम' बनवाया । साची के स्तूप और भारहूत स्तूप भी अशोक के बनवाये हुए है । ह्वेनसाग ने ७वी शताब्दी मे अशोक के ८० स्तूप और विहार तथा कश्मीर मे ५०० विहार देखे थे । काफिरस्तान मे उसने १०० फुट ऊँचा स्तूप बनवाया था । जलालाबाद के उपरात और तक्षशिला मे भी बडे-बडे स्तूप थे । सिंहपुर का स्तूप २०० फुट ऊचा था । थानेश्वर का ३०० फुट ऊचा था । प्रयाग, कौशाम्बी, काशी, गया, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, कुशीनगर, सारनाथ, गाजी-पुर, महाशाल, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, ताम्रलिप्त, कलिग, चोल तथा मथुरा आदि मे बडे-बडे स्तूप थे ।

पश्चिमी एशिया मे प्रचार—अशोक ने सीरिया और मिश्र मे चुनचुन कर महान् विद्वान प्रचारक भेजे थे । वह प्रचारक वही बस गये । उनके उपदेशो का प्रभाव वहाँ के जन-जीवन पर अत्यन्त दूर व्यापी पडा । अलेक्जेंड्रिया के **थेरापूटस** और पैले-स्टाईन के **एसिनीज** जो यूनान मे सन्त प्रसिद्ध थे, वह बौद्ध भिक्षु ही थे । वे यूनान मे बौद्ध सिद्धान्तो का प्रसार करते थे । पश्चिम के दर्शन पर उनके विचारो का व्यापक प्रभाव पडा था । अशोक से तीन शताब्दी बाद भी जब **ईसा मसीह** जीवित थे और यहूदियो मे उपदेश दे रहे थे, तब भी बौद्ध ऐमीनीजो का एक बडा दल वहा मौजूद था । सभवत ईसाई धर्म पर बौद्ध धर्म की छाप पडने का यही मुख्य कारण है । उनके वहा रहने और उनकी दार्शनिक गतिविधि का समर्थन इतिहासकार प्लीनी (३३ और ७९ ई०)ने भी किया है ।

सीरिया मे ई० पू० ३ री शताब्दी मे बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था और ईसा मसीह के जन्मकाल मे पैलेस्टाईन मे बौद्ध धर्म ग्रहण किया जा चुका था । ईसा मसीह पर उनके विचारो का व्यापक प्रभाव पड रहा था इसीलिये अनेक विद्वानो की धारणा है कि प्राचीन ईसाई धर्म वास्तव मे एसीनीज लोगो के धर्म का ही एक रूप है । यही कारण है कि ईसाई धर्म की धर्मनीति और सदाचार बौद्ध-धर्म के समान ही है । इसके अतिरिक्त बौद्ध और ईसाई धर्मो की कथा-कहानियाँ, रूपक, व्यवस्था और आदेशो मे भी समानता है । विशेषकर बौद्धधर्म की महायान सम्प्रदाय की अधिकाश बातें उससे मिलती हैं । 'ललितविस्तर' के वर्णन और बाईबिल के वर्णन समान ही हैं । गौतमबुद्ध की भाँति ईसामसीह के भी १२ शिष्य थे । धर्म ग्रहण करने के समय जन्म-सस्कार की प्रथा जान बैपटिष्ट ने ऐसेनीज से ग्रहण की थी । जो ईसा के जन्म के पहले पैलेस्टाईन मे बौद्ध प्रचारक था । जब गैलील मे ईसा एक युवक उपदेशक मात्र थे, तब वह जान बैपटिस्ट की यशोगाथा सुनकर उसके यहाँ गये थे और कुछ दिन उसके पास ही रहे थे । उन्होने जान से 'ऐमीनीज' की बहुत-सी आज्ञाओ और उपदेशो को सीखा और जन्म सस्कार को रीति ग्रहण की । तभी से ईसाई धर्म मे जन्म-सस्कार की एक मुख्य रीति बन गयी । ईसाई लोग बपतिस्मा लेते समय पिता-पुत्र और पवित्र आत्मा को स्वीकार करते हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बौद्ध दीक्षा के समय बुद्ध-धर्म और सघ की

शरण को स्वीकार किया जाता था। यह त्रिवचन ईसाई और बौद्ध सस्कारो मे समान ही हैं।

अशोक का धर्म प्रचार और धर्म साम्राज्य

मज्झिम, काश्यप, मालिका देव, सहस्सदेव इत्यादि	हिमवन्त (हिमालय प्रदेश)
सोन, उत्तर	सावन भूमि (पीगू)
महाधम्मरक्खित	महाराष्ट्र
महारक्खित	यवनदेश
महामहिन्द, इत्तिय, उत्तिय, सम्वल और भद्रसाल	सीलोन

इन देशो के अतिरिक्त अशोक ने भारतवर्ष से बाहर अन्य कई देशो मे भी अपने प्रचारक तथा दूत भेजे थे, जो वहा के राजाओ से मिलकर सद्धर्म का प्रचार करते थे। अशोक की तेरहवी प्रशस्ति मे युद्ध के द्वारा विजय करने की अपेक्षा धर्म के द्वारा विजय प्राप्त करने को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा गया है," . परन्तु देवप्रिय (अशोक) का विश्वास है कि सबसे प्रधान विजय वह है, जो धर्म के द्वारा प्राप्त होती है, और वह विजय देवप्रिय ने प्राप्त की है। यहा अपने साम्राज्य मे और अपने पडोसियो पर जो यहा से छ सौ योजन पर हैं, जहा यवन राज अन्तियोक सीरियानरेश ऐण्डिओकसथिआस रहता है, वहा तक और उस अन्तियोक के भी आगे, जहा चारो, नरेश रहते हैं—अर्थात् वह जिसे तुरमय टालेमी फिलाडेल्फास मिस्र का राजा कहते हैं वह जिसे अन्तिकिनी एण्टिगोनस गोनेटस, मैसिडोनिया का राजा कहते हैं, वह जिसे मक (सिदीन का राजा) मगस कहते है, और वह जिसे अलिकसुन्दर एपिरस का राजा अलेक्ज़ेडर कहते हैं, दक्षिण की ओर तम्बपन्नी (ताम्रपर्णी, लका) तक जहा चोड और पण्ड्र रहते हैं और वहा भी जहा हिडराज रहता है अशोक का धार्मिक साम्राज्य है। विशो, वज्जियो, यवनो, कम्बोजो, भोजो, पितिनिको, आन्ध्रो, पुलिन्दो मे सर्वत्र लोग देवप्रिय के धर्मविषयक उपदेश को मानते हैं। वे लोग भी, जिनके पास देवप्रिय के दूत नही पहुँचते, इनके धर्म का पालन करते हैं, जब उनको देवप्रिय अशोक की धर्मानुकूल आज्ञाओ और शिक्षाओ की सूचना मिलती है, और वे भविष्य मे भी उसका पालन करेंगे .."

इस लेख से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि सम्राट् अशोक का धर्मप्रचार क्षेत्र कितना विश्वव्यापक था। केवल उपदेशको और प्रचारको को ही देशदेशान्तर मे भेजकर अशोक ने धर्म-प्रचार का प्रयत्न नही किया था, बल्कि अपने धार्मिक आदेश उन्होने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य मे शिलालेखो के द्वारा भी जारी किये थे। ये आदेश अथवा प्रशस्तिया कही-कही पर चट्टानो पर खुदी हैं, कुछ गुफाओ की भीतो पर अकित हैं, और कुछ पत्थर के स्तम्भो पर खुदी हैं। ये सब लेख प्राय: ऐसे-ऐसे स्थानो पर रक्खे गये थे, जहा लोग जाते-आते रहते थे। इनके द्वारा धर्म-प्रचार आप ही आप होता रहता था। इन लेखो की भाषा प्राकृत है। पिछले ५०-६० वर्षो मे इस प्रकार

के बहुत से शिलालेखो का पता लग चुका है, जिनका संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे दिया जाता है.—

१ जयपुर-राज्य के वैराट नामक स्थान पर चट्टान पर खुदा हुआ एक लेख मिला है । इसमे सम्राट् अशोक के आत्मचरित्र का कुछ महत्वपूर्ण अंश है । इसमे लिखा है कि बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेने के बाद ढाई वर्ष तक अशोक उपासक के रूप मे रहे, और इस बीच मे धर्म-प्रचार का कोई भी कार्य उनके हाथ से नही हुआ । इसके बाद बौद्धसघ के भिन्न-भिन्न वर्तमान सम्प्रदाय और उनके देवता मिथ्या हैं—इतना लिखने के बाद फिर इस शिलालेख मे उन्होने इसी प्रकार से अपनी प्रजा को धर्म-प्रचार करने का आदेश दिया है।

२ जबलपुर जिले के रूपनाथ नामक स्थान मे है। इस लेख मे भी उपर्युक्त प्रकार से आदेश दिया गया है।

३ शाहाबाद जिले के सहसराम नामक स्थान मे ।

४. मैसूर राज्य के सिद्धपुर स्थान मे ।

५ " "

सबमे प्राय एक ही प्रकार का लेख है । इनके सिवा भाषा का आदेश विशेष महत्वपूर्ण समझा जाता है। यह आदेश सम्राट् अशोक ने अपने शासनकाल के अन्त मे बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियो को सम्बोधन करके लिखा है। सम्राट् अशोक कहते हैं—

"साधुगण आप जानते हैं कि मुझे बुद्ध-धर्म और सघ के प्रति कितना आदर और श्रद्धा-भाव है । भगवान् बुद्ध ने जो कुछ उपदेश दिया है, वही सबसे श्रेष्ठ है । उसके मानने से सद्धर्म चिरस्थायी होगा।"

इसके बाद बौद्धधर्म के सात वचनो के पालन करने का आदेश दिया गया है। वे वचन इस प्रकार है

१. विनय – समुक्कस-विनय प्रशसा, २. अरियवसानि—आर्यों की अलौकिक शक्ति, ३. अनागत भयानि—भविष्य के विषय मे भय, ४. मुनिगाथा—तपस्वियो के गीत, ५ मोनेय्य सुत्त—तपस्वियो का जीवनविषयक सवाद, ६. उपतिस्स पसिन-उपतिष्य के प्रश्न, ७ राहुलोवाद—अर्थात् राहुल का दिया हुआ उपदेश।

अशोक के प्रस्तर लेखो को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है।

१. १४ शिलालेख—इसी श्रेणी मे लघु शिलालेख भी शामिल हैं।

२. ७ स्तम्भ लेख—इसी श्रेणी मे लघु स्तम्भ-लेख भी शामिल है।

३. गुफा लेख—ये सब लेख कुछ आवश्यक फेरफार के साथ तत्कालीन जनता की भाषा—पाली तथा ब्राह्मीलिपि मे अंकित हैं।

१४ शिला लेख—ये लेख एक क्रम से गिनती मे १४ है और भारतवर्ष के ७ विभिन्न स्थानो मे मिले हैं। उन स्थानो के नाम ये हैं—

१. शहबाजगढी (पेशावर-जिले के यूसुफजाई-डिवीजन मे)—जनरल कोर्ट

ने सर्वप्रथम इनकी खोज की थी। यह शिला २४ फुट लम्बी, १० फुट ऊची और १० फुट चौडी है। कनिंघम साहब के मत से प्राचीन बौद्धतीर्थ पोलुश इसी प्रदेश मे स्थित था। सम्भवतः यह स्थान अशोक के यवन-प्रान्त की राजधानी था।

२ मानसेहरा—यह स्थान भी आधुनिक सीमाप्रान्त के अबूताबाद नामक नगर से १५ मील उत्तर मे है। अशोक के लेख यहाँ ३ चट्टानो पर खुदे हुए है। यह स्थान उत्तर-पश्चिम मे स्थित देशो और भारतवर्ष को मिलानेवाले पथ पर स्थित है। अतएव अशोक के धर्मप्रचार के लिए उचित केन्द्र रहा होगा।

३ कालसी—यह स्थान देहारादून के पास और टोस और यमुना के सगम पर स्थित है। कालसी के लेख का पता सर्वप्रथम १८६० ईसवी मे फोरेस्ट साहब ने लगाया था। यहाँ की चट्टान १० फुट लम्बी, १० फुट ऊँची और ८ फुट मोटी है। लेखो से दाहिने हाथ की ओर एक हाथी का चित्र बना हुआ है, जिस पर 'गजतम' लिखा है। इसका सम्बन्ध बुद्ध से है। बौद्धधर्म के विविध चिह्नो मे से हाथी भी एक है। यह चित्र अशोक के बौद्धधर्मी होने का प्रमाण है।

४ गिरनार—यह काठियावाड के जूनागढ नगर से आध मील पूर्व मे है। कर्नल टाड ने १८२२ ईसवी मे यहाँ के शिला-लेख को सर्वप्रथम खोजा था। इसी शिला पर स्कन्दगुप्त और रुद्रदामन के प्रसिद्ध लेख भी खुदे हुए हैं।

५ सोपारा—यह बम्बई के थाना नामक जिले मे है। यहाँ आठवें धर्मलेख का कुछ भाग एक टूटी चट्टान पर लिखा पाया गया है। सम्भवत यहाँ भी और स्थानो की भाँति चौदह लेख रहे होंगे। सुपारा (सुपारक) नाम से प्राचीन समय मे प्रसिद्ध बन्दरगाह था, जिसका वर्णन महाभारत तथा टालेमी और पेरीप्लस की पुस्तको मे मिलता है।

६ और ७ ये दो स्थान धौली उडीसा के पुरी नामक जिले मे और जोगडा मे मद्रास के गन्जाम जिले से १८ मील उत्तर-पश्चिम मे हैं। अशोक के समय मे ये दोनो नगर कलिंग के प्रान्त मे स्थित थे। इन दोनो स्थानो पर चौदह लेखो मे से ११ वाँ, १२ वाँ और १३ वाँ लेख नही है, किन्तु उनके स्थान मे २ भिन्न लेख खुदे हुए हैं, जो इन स्थानो के प्रान्तीय अधिकारियो के नाम भेजे हुए आदेश हैं।

यह बात विचारणीय है कि ये शिला लेख भारत की चतुर्दिक सीमाओ में स्थित हैं और अशोक के महान् साम्राज्य के विस्तार के द्योतक होने के अतिरिक्त सम्राट् की राजनैतिक कुशलता के भी परिचायक हैं। वस्तुतः अशोक का विचार यही रहा होगा कि सीमाप्रान्त के आस-पास रहने वाले लोग भी, जो प्राय राज्य के लिए दुखदायी सिद्ध होते हैं, उसकी धार्मिक और सरल मनोवृत्ति से परिचित हो जाय।

शिलालेखो का विषय—ऊपर कहा गया है कि ये लेख एक क्रम से गिनती में १४ हैं। सक्षेप में प्रत्येक का विषय निम्नलिखित है—

१ यह धर्म-लिपि प्रियदर्शी देवानाप्रिय (अशोक की उपाधियो) ने लिखवाई। यहाँ किसी जीव की हत्या न होनी चाहिए और न कोई यज्ञ ही। पिछले समय में

देवानाप्रिय प्रियदर्शी के रसोई-घर मे सहस्रो जीवो की हत्या होती थी, परन्तु इस धर्म-लिपि के लिखे जाने के समय केवल दो मयूर और एक हरिण मारे जाते है। परन्तु अव से ये जन्तु भी न मारे जायँगे।

२ प्रियदर्शी देवानाप्रिय के साम्राज्य के प्रत्येक स्थान मे और वंदेशिक सामन्तो के राज्यो मे भी चोल, पाड्य, सातियपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णि (लका) तक, यवनराजा अतियक या जो उसके समीपवर्ती राजा है, इन सबके राज्यो मे प्रियदर्शी ने मनुष्यो और जानवरो की चिकित्सा का प्रवन्ध किया है। जहा ओषधियाँ नही थी, वहाँ वे बाहर से मँगवाकर लगवा दी गई है। सडको पर कुएं और वृक्ष मनुष्यो और जानवरो के हित के लिए खोदे और लगवाये गये है।

३ प्रियदर्शी देवानाप्रिय का आदेश है—यह लिपि मेरे राज्यभिषेक से १२वे साल मे लिखी गई। मेरे राजकर्मचारी युक्त राजुक और प्रादेशिक मेरे राज्य मे प्रत्येक ५वे वर्ष पर धर्म का प्रचार करने के लिए भ्रमण करेगे और बतायेंगे कि माता-पिता का आज्ञा-पालन, मित्रो, सम्बन्धियो, परिचितो, ब्राह्मणो और श्रमणो के साथ सत्य अहिंसा, मितव्ययता और सतोष उदारता धार्मिक कृत्य हैं।

४ प्राचीन समय मे धार्मिक कृत्यो की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, किन्तु जब से प्रियदर्शी ने धर्म प्रचार प्रारम्भ किया है, युद्ध के ढोल की ध्वनि धर्म की ध्वनि हो गई है और सर्व जनता को सब प्रकार के धार्मिक प्रदर्शन, विमान, हाथी, अग्नि-समूह इत्यादि दिखलाये जाते हैं। सबमे श्रेष्ठ कार्य धर्म की शिक्षा है। मेरे बाद मेरे पुत्र, पौत्र इत्यादि प्रलयकाल तक धर्म का प्रचार करते रहेगे।

५ पुण्यकार्य का करना कठिन है, किन्तु मैने इस कठिन कार्य को किया है। मैने राज्याभिषेक के १३वें वर्ष मे धर्म महापात्रो की नियुक्ति की, जिनका कार्य धर्म-प्रचार है।

६ पिछले समय मे राज्य-कार्य करने मे शीघ्रता का विचार नही रक्खा जाता था, किन्तु मेरा आदेश है कि आवश्यक कार्य होने पर मुझे तुरन्त ही बताया जाय, चाहे मै कही भी और किसी दशा मे भी क्यो न होऊँ।

७ प्रियदर्शी आदेश करता है कि किसी भी धर्म के मानने वाले किसी भी स्थान मे रह सकते है।

८ प्राचीनकाल मे राजाओ का विहार-यात्राओ से बहुत प्रेम था। आखेट इत्यादि उनके मनोरजन थे। इसके विपरीत प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक से १०वे वर्ष मे सम्बोधि की यात्रा की और उसी का फल यह धर्म-यात्रा है, जिसमे ब्राह्मणो, श्रमणो और वृद्ध पुरुषोकी सेवा की जाती है और उन्हे दान इत्यादि दिया जाता है।

९ बहुत से मनुष्य अनेक प्रकार के अन्धविश्वासजन्य उत्सवो को रोग, विवाह जन्म इत्यादि के अवसरो पर करते हैं विशेषकर स्त्रियाँ तो बहुतसी व्यर्थ की रीतिया बरतती हैं। वास्तव मे यह सब व्यर्थ है। धर्म मगल ही सर्वफलो का देनेवाला है, जिसके अर्थ अहिंसा, दान, आज्ञापालन, सेवको से अच्छा वर्ताव इत्यादि है।

(१०) प्रियदर्शी धर्म को ही सबसे बडा यश समझता है। इसका पालन करने मे एकाग्रता और परिश्रम की आवश्यकता है।

(११) धर्म से अधिक कोई दान नही । पिता, पुत्र, भ्राता, स्वामी, मित्र परिचित और पडोसी सबको सर्वदा धर्म का ही उपदेश करना चाहिए।

(१२) प्रियदर्शी सब धर्मों के अनुयायियो का सम्मान करता है। मनुष्यो को चाहिए कि अपने चित्त को वश मे रक्खें और सब धर्मों का समानभाव मे आदर कर।

(१३) राज्याभिषेक से ८वें वर्ष मे प्रियदर्शी अशोक ने कलिंग को विजय किया। इस युद्ध मे एक लाख पचास हजार मनुष्य बन्दी बनाये गये। एक लाख आहत हुए और इससे कई गुने अधिक मनुष्य घायल हुए। प्रियदर्शी के लिए इस युद्ध का दृश्य बहुत ही दुःख का कारण हुआ और उसके प्रायश्चित्त मे उसने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया । अब जितने मनुष्य आहत हुए उसका सहस्राश भी उसे अत्यन्त व्यथा का कारण होता है । प्रियदर्शी अब धर्म-विजय को सबसे महान् विजय समझता है। उसकी धर्म-शिक्षाओ का अनुसरण राज्यसीमाओ पर स्थित विभिन्न राज्यो के निवासी भी करते हैं। यह धर्मलिपि इसी अर्थ के लिए लिखवाई गई है कि मेरे उत्तराधिकारी शस्त्र-सम्बन्धी विजय को विजय न समझकर धर्म-विजय के लिए ही सतत प्रयत्न करें।

(१४) यह धर्मलिपि-समूह प्रियदर्शी राजा देवानाप्रिय ने लिखवाया। मेरा राज्य अति विस्तृत है । बहुत कुछ लिखवाया जा चुका है और मैं अभी बहुत कुछ लिखवाऊँगा।

कही-कही इन लेखो मे विषय के प्रेम के कारण पुनरावृत्ति कर दी गई है और इस कारण भी कि मनुष्य उन पर आचरण करें।

लघु शिला-लेख—ये दो लेख हैं, जिनमे से पहला उत्तरी मैसूर के सिद्धपुर और ब्रह्मगिरि मे, हैदराबाद रियासत के मास्की मे, सहसराम (शाहाबाद-बिहार) मे, रूपनाथ (जबलपुर) मे तथा बैराट (जयपुर) मे मिला है। दूसरा लेख केवल मैसूर की प्रतियो में शामिल है।

पहला लेख स्वर्णगिरि के महामात्राओ और आर्यपुत्र के द्वारा इसिला के महा-महात्राओ को प्रेषित किया गया है । अशोक का कहना है कि दो वर्ष से कुछ अधिक समय से मै उपासक हू। एक वर्ष तक मैंने धर्मप्रचार का प्रयत्न नहीं किया, किन्तु एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ हैं कि मैं संघ के साथ रहता हू और इस समय मैंने कठिन परिश्रम किया है। सर्व जम्बूद्वीप में मैंने देवताओ को मनुष्यो से मिला दिया है। यह कार्य केवल बडे ही नही, किन्तु छोटे राज्यकर्मचारियो के करने का भी है।

दूसरे लेख का विषय माता-पिता का आज्ञापालन, सर्वप्राणियो के प्रति दया-भाव, सत्य, गुरु के प्रति सम्मान इत्यादि है।—बैराट (जयपुर) मे स्थित एक शिला पर अकित भब्रू नामक लेख बौद्धधर्म-पुस्तको मे से उद्धरित कुछ वाक्यो की महत्ता प्रदर्शित करता है।

२. स्तम्भ-लेख—ये ७ लेख ६ स्थानो पर स्थित स्तम्भो पर पाये गये हैं। वे

स्थान ये है—(१) तथा (२) दिल्ली मे हैं । पहले ये स्तम्भ तोपरा तथा मेरठ मे थे। वहा से फीरोजशाह तुगलक ने उन्हे दिल्ली मे मगवा लिया—जैसा कि उसके समकालीन 'शम्स-ए-सिराज' ने लिखा है। (३) इलाहाबाद मे है । पहले यह स्तम्भ कौशाम्बी मे स्थित था। सभवत अकबर के राज्यकाल मे यह इलाहाबाद के किले मे लाया गया। (४) लौरिया अराराज मे (५) लौरिया नन्दनगढ मे और (६) रामपुरवा मे है। ये तीनो स्थान बिहार के चम्पारन जिले मे है।

(१) इन स्तम्भ-लेखो का विषय इस प्रकार है—धर्म का कार्य करना कठिन है, किन्तु धर्म-प्रेम, आत्म-परीक्षा और उत्साह इस कार्य को सरल बना देते हैं।

(२) धर्म, सुरुचि, दया, उदारता, सत्यता और पवित्रता का पर्याय है। मैंने मनुष्य, पशु-पक्षियो तथा सर्वजन्तुओ के हित के लिए अनेक पुण्य कार्य किये है । यह धर्मलिपि इसलिए अकित करवाई गई है कि दूसरे लोग भी इस पर आचरण करे।

(३) मनुष्य को उचित है कि वह अपने किये हुये कार्यों की पूर्ण परीक्षा करे और कुकर्मो को सदा ध्यान मे रखता हुआ उनसे बचे ।

(४) प्रियदर्शी ने अपने राज्याभिषेक के २६वे वर्ष मे राजुक नामक राजकर्मचारियो को सहस्रो व्यक्तियो का नायक बनाते हुए उन्हे निर्दिष्ट किया है कि राजुको को उचित है कि धर्मपूर्वक न्याय करे और दण्ड प्राप्त बन्दियो को तीन दिन का अवकाश दिया जाता है, जिसमे वे प्रार्थना इत्यादि कर सके और आवश्यक सम्बन्धी लोग न्यायाधीश से विनय कर सकें कि उन्हे मृत्युदण्ड न दे।

(५) प्रियदर्शी देवानाप्रिय के आदेश से कई प्रकार की चिडियां, चीटियां, कछुवे तथा अनेक भाँति के चौपाए इत्यादि बध करने के अयोग्य विज्ञापित कर दिये गये है। वनो मे अग्नि न लगाई जाय । विशेष दिनो के अवसर पर पशुओ को दुःख पहुचाने वाले कार्य न किये जायें । अपने २६वें वर्ष के राज्यकाल मे मैंने २५ बार बन्दियो को मुक्त किया है।

(६) प्रियदर्शी का कथन है कि अपने राज्याभिषेक के १२वें वर्ष से मैंने धर्मलिपियाँ लिखवाई, जिससे सर्वजनो का हित हो । सर्व धर्मो को मैं विविध भाँति से सम्मानित करता हू, किन्तु स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन को मैं विशेष बात समझता हू ।

(७) प्राचीन समय के राजाओ ने धर्म की उन्नति के लिए प्रयत्न किया किन्तु उसका प्रचार सब मनुष्यो मे न हो सका। प्रियदर्शी ने विविध भाँति उपाय धर्म प्रचारार्थ किये जैसे, धर्म की शिक्षा का दान, पुरुषो और राजुको की नियुक्ति जिनका कार्य धर्म-प्रचार है । पुनश्च मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, धर्म-महामात्रो को नियुक्त किया तथा और भी सर्वसाधारण के हित के लिए अनेक कार्य किये ।

इस लेख मे अशोक ने अपने धर्मार्थ किये गये कार्यों का सक्षिप्त विवरण दिया है।

२ गुफा-लेख—ये लेख गया के समीप स्थित 'बराबर' और 'नागार्जुनी' नामक गुफाओ में प्राप्त हुए हैं। बराबर की ४ गुफाओ मे से तीन पर अशोक के लेख

(१०) प्रियदर्शी धर्म को ही सबसे बडा यश समझता है। इसका पालन करने मे एकाग्रता और परिश्रम की आवश्यकता है।

(११) धर्म से अधिक कोई दान नही। पिता, पुत्र, भ्राता, स्वामी, मित्र परिचित और पडोसी सबको सर्वदा धर्म का ही उपदेश करना चाहिए।

(१२) प्रियदर्शी सब धर्मों के अनुयायियो का सम्मान करता है। मनुष्यो को चाहिए कि अपने चित्त को वश मे रक्खें और सब धर्मों का समानभाव मे आदर करें।

(१३) राज्याभिषेक से ८वें वर्ष मे प्रियदर्शी अशोक ने कलिंग को विजय किया। इस युद्ध मे एक लाख पचास हजार मनुष्य वन्दी वनाये गये। एक लाख आहत हुए और इससे कई गुने अधिक मनुष्य घायल हुए। प्रियदर्शी के लिए इस युद्ध का दृश्य बहुत ही दुख का कारण हुआ और उसके प्रायश्चित्त मे उसने धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। अब जितने मनुष्य आहत हुए उसका सहस्राश भी उसे अत्यन्त व्यथा का कारण होता है। प्रियदर्शी अब धर्म-विजय को सबसे महान् विजय समझता है। उसकी धर्म-शिक्षाओ का अनुसरण राज्यसीमाओ पर स्थित विभिन्न राज्यो के निवासी भी करते हैं। यह धर्मलिपि इसी अर्थ के लिए लिखवाई गई है कि मेरे उत्तराधिकारी शस्त्र-सम्बन्धी विजय को विजय न समझकर धर्म-विजय के लिए ही सतत प्रयत्न करें।

(१४) यह धर्मलिपि-समूह प्रियदर्शी राजा देवानाप्रिय ने लिखवाया। मेरा राज्य अति विस्तृत हैं। बहुत कुछ लिखवाया जा चुका है और मैं अभी बहुत कुछ लिखवाऊँगा।

कही-कही इन लेखो मे विषय के प्रेम के कारण पुनरावृत्ति कर दी गई है और इस कारण भी कि मनुष्य उन पर आचरण करें।

लघु शिला-लेख—ये दो लेख हैं, जिनमे से पहला उत्तारी मैसूर के सिद्धपुर और ब्रह्मगिरि मे, हैदराबाद रियासत के मास्की मे, सहसराम (शाहाबाद-विहार) मे, रूपनाथ (जबलपुर) मे तथा बैराट (जयपुर) मे मिला है। दूसरा लेख केवल मैसूर की प्रतियो में शामिल है।

पहला लेख स्वर्णगिरि के महामात्राओ और आर्यपुत्र के द्वारा इसिला के महा-महाश्राओ को प्रेषित किया गया है। अशोक का कहना है कि दो वर्ष से कुछ अधिक समय से मैं उपासक हू। एक वर्ष तक मैंने धर्मप्रचार का प्रयत्न नही किया, किन्तु एक वर्ष से कुछ अधिक हुआ हैं कि मैं सघ के साथ रहता हू और इस समय मैंने कठिन परिश्रम किया है। सर्व जम्बूद्वीप मे मैंने देवताओ को मनुष्यो से मिला दिया है। यह कार्य केवल बडे ही नही, किन्तु छोटे राज्यकर्मचारियो के करने का भी है।

दूसरे लेख का विषय माता-पिता का आज्ञापालन, सर्वप्राणियो के प्रति दया-भाव, सत्य, गुरु के प्रति सम्मान इत्यादि है।—वैराट (जयपुर) मे स्थित एक शिला पर अंकित भब्रू नामक लेख बौद्धधर्म-पुस्तको मे से उद्धरित कुछ वाक्यो की महत्ता प्रदर्शित करता है।

२. **स्तम्भ-लेख**—ये ७ लेख ६ स्थानो पर स्थित स्तम्भो पर पाये गये हैं। वे

स्थान ये है—(१) तथा (२) दिल्ली मे है । पहले ये स्तम्भ तोपरा तथा मेरठ मे थे। वहा से फीरोजशाह तुगलक ने उन्हे दिल्ली मे मगवा लिया—जैसा कि उसके समकालीन 'शम्स-ए-सिराज' ने लिखा है। (३) इलाहाबाद मे है । पहले यह स्तम्भ कौशाम्बी मे स्थित था। सभवत अकबर के राज्यकाल मे यह इलाहाबाद के किले मे लाया गया। (४) लौरिया अरराज मे (५) लौरिया नन्दनगढ मे और (६) रामपुरवा मे है। ये तीनो स्थान बिहार के चम्पारन जिले मे है।

(१) इन स्तम्भ-लेखो का विषय इस प्रकार है—धर्म का कार्य करना कठिन है, किन्तु धर्म-प्रेम, आत्म-परीक्षा और उत्साह इस कार्य को सरल बना देते हैं।

(२) धर्म, सुरुचि, दया, उदारता, सत्यता और पवित्रता का पर्याय है। मैंने मनुष्य, पशु-पक्षियो तथा सर्वजन्तुओ के हित के लिए अनेक पुण्य कार्य किये हैं । यह धर्मलिपि इसलिए अकित करवाई गई है कि दूसरे लोग भी इस पर आचरण करें।

(३) मनुष्य को उचित है कि वह अपने किये हुये कार्यों की पूर्ण परीक्षा करे और कुकर्मो को सदा ध्यान मे रखता हुआ उनसे बचे ।

(४) प्रियदर्शी ने अपने राज्याभिषेक के २६वे वर्ष मे राजुक नामक राजकर्मचारियो को सहस्रो व्यक्तियो का नायक बनाते हुए उन्हे निर्दिष्ट किया है कि राजुको को उचित है कि धर्मपूर्वक न्याय करे और दण्ड प्राप्त बन्दियो को तीन दिन का अवकाश दिया जाता है, जिसमे वे प्रार्थना इत्यादि कर सके और आवश्यक सम्बन्धी लोग न्यायाधीश से विनय कर सकें कि उन्हे मृत्युदण्ड न दे।

(५) प्रियदर्शी देवानाप्रिय के आदेश से कई प्रकार की चिड़ियां, चीटियां, कछुवे तथा अनेक भाँति के चौपाए इत्यादि वध करने के अयोग्य विज्ञापित कर दिये गये है। वनो मे अग्नि न लगाई जाय । विशेष दिनो के अवसर पर पशुओ को दुख पहुचाने वाले कार्य न किये जायें । अपने २६वें वर्ष के राज्यकाल मे मैंने २५ बार बन्दियो को मुक्त किया है।

(६) प्रियदर्शी का कथन है कि अपने राज्याभिषेक के १२वें वर्ष से मैंने धर्मलिपियाँ लिखवाई, जिससे सर्वजनो का हित हो । सर्व धर्मो को मैं विविध भाँति से सम्मानित करता हू, किन्तु स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन को मैं विशेष बात समझता हू।

(७) प्राचीन समय के राजाओ ने धर्म की उन्नति के लिए प्रयत्न किया किन्तु उसका प्रचार सब मनुष्यो मे न हो सका। प्रियदर्शी ने विविध भाँति उपाय धर्म प्रचारार्थ किये जैसे, धर्म की शिक्षा का दान, पुरुषो और राजुको की नियुक्ति जिनका कार्य धर्म-प्रचार है । पुनश्च मैंने धर्म-स्तम्भ स्थापित किये, धर्म-महामात्रो को नियुक्त किया तथा और भी सर्वसाधारण के हित के लिए अनेक कार्य किये ।

इस लेख मे अशोक ने अपने धर्मार्थ किये गये कार्यों का सक्षिप्त विवरण दिया है।

२ गुफा-लेख—ये लेख गया के समीप स्थित 'बराबर' और 'नागार्जुनी' नामक गुफाओ में प्राप्त हुए हैं। बराबर की ४ गुफाओ मे से तीन पर अशोक के लेख

हैं। इनमे कहा गया है कि ये गुफाये अशोक ने राज्याभिषेक के १२वें वर्ष मे आजीवको के निवास करने के लिए दान मे दी । ये लेख अशोक की धर्म-सहिष्णुता का ज्वलत प्रमाण हैं, क्योकि आजीवक लोग बुद्ध के धर्म के मानने वाले नही थे।

ऊपर अशोक के शिलालेखो का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। कहने की आवश्यकता नही है कि ये लेख इस सम्राट् को केवल एक कुशल राजनीतिज्ञ ही नही सिद्ध करते, वरन् उसको ससार के महापुरुषो और धर्मोपदेशको मे एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना देने के लिए भी पर्याप्त हैं। इस जमाने मे जब ससार के प्रमत्त और लोलुप राष्ट्रो ने युद्ध, हिंसा, अस्त्र-शस्त्र और अत्याचार को एक राजनैतिक 'आर्ट' का रूप दे दिया है, अशोक की धर्म-लिपियो की मधुर ध्वनि जिसने आज से २००० वर्ष पहले सभ्य ससार को सुख और शाति का सन्देश तथा अभयदान दिया था, एक विस्तृत स्वप्न की सुखद स्मृति-सी प्रतीत होती है । क्या यह स्वप्न कभी फिर सत्य होगा ?

प्राचीन भारत मे सार्वजनिक सभाएँ और मत्रि-परिषदें

उत्तर-भारत मे वैदिक काल से ही जन-समुदाय का शासन-कार्य परिषदों-द्वारा चलता था। ऋग्वेद के दसवें मडल मे सभासदो के मतैक्य का उल्लेख है। अथर्ववेद के भी कई स्थानो मे सभाओ की कार्यवाही पर प्रकाश डाला गया है । किसी कार्य विशेष के लिए अथवा अवसर-विशेष पर जब सभा बैठती थी तब वह समिति का नाम धारण करती थी । आवश्यकता पडने पर राजा का वर्णाधिकार भी इन्ही समितियो को प्राप्त होता था । पर सभा और समिति मे कुछ वास्तविक भेद था अथवा नही, इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानो मे मतभेद है । लड्विग का अनुमान है कि सभा ब्राह्मणो तथा अन्य मान्य व्यक्तियो का तथा समिति सर्वसाधारण का समुदाय थी। 'जिमर' का मत सबसे निराला है। उसके विचार से सभा एक ग्रामीण सस्था थी और राजा के वहाँ जाने पर वह उसका सभापति मनोनीत करता था। पर प्रोफेसर मैकडानल्ड ने सभापति-निर्वाचन की बात अप्रामाणिक सिद्ध की है और कहा है कि सभा और समिति मे कोई स्पष्ट अन्तर नही था । मैकडानल्ड का मत ही मान्य है। राजा की उपस्थिति सभी सभा-समितियो मे अपेक्षित थी और इसमे सन्देह नही कि राजा और सभा-समितियो का मतैक्य साम्राज्य की सुख-समृद्धि के लिए सर्वथा अपरिहार्य था।

पुरातत्व के प्रसिद्ध अनुसधान-कर्त्ता हैप्किस ने अमरीका की ओरियन्टल सोसायटी के पत्र मे उपलब्ध प्रमाणो-द्वारा सिद्ध किया है कि रामायण और महाभारत के युग मे इन सभा-समितियो के अनेक रूप थे और इनका कार्यक्षेत्र बडा विस्तृत था । उन्होंने इनके अधिकारो की एक सूची प्रकाशित की थी। ये कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका तो थी ही, साग्रामिक समस्यायें भी हल करती थी। कभी तो ये न्यायालयो की तरह तथ्यातथ्य का निर्णय करती थी, कभी राजकीय दरबार का काम करती थी और कभी सामाजिक सघ का स्वरूप धारण कर आमोद-प्रमोद मनाती थी । पर

साधारणतः जन-साधारण के बहुमत का दिग्दर्शन कराना ही इनका उद्देश्य था। इन सभाओ की मंत्रणा-प्रणाली बहुधा संशय ग्रस्त है । राजा को सभा के मतामत का ज्ञान किस प्रकार होता था, यह भी अनिश्चित है। सभासद प्रत्येक प्रस्ताव का स्वतंत्र रूप से अनुमोदन अथवा विरोध करते थे अर्थात् वोट की प्रथा प्रचलित थी या नहीं, यह भी संदिग्ध है । पर मताधिक्य का नियम प्राचीन हिन्दुओ को अनवगत नही था और चाणक्य कहता कि हैसीमा-प्रातीय विवाद का निर्णय वैमत्य (द्वैधीभाव) के समय ग्रामीण सस्थाएं बहुमत (बहुत्व शून्य) के द्वारा करती थी तथा मंत्रि-परिषद् मे भी मताधिक्य का ही प्राधान्य रहता था। अतएव सहज मे ही अनुमान किया जाता है कि सार्वजनिक सभाओ (popular Assemblies) मे भी सख्याधिक्यता ही अपेक्षित रही होगी । इन सभाओ की सभापति-निर्वाचन-प्रणाली भी अज्ञात है, पर सम्भवत अवस्था, चरित्र और सद्गुणो को देखकर ही निर्वाचन होता होगा ।

शिशुनाग-राजवंश का षष्ठमाधिपति पितृहन्ता अजातशत्रु बडा प्रतापी था । वह पार्श्ववर्ती वृज्जिक देश को अपने हस्तगत करना चाहता था। पर उसके बलाबल का ठीक निर्णय न कर पाया था । अतएव उसने अपने मन्त्री 'वर्षकार' को वज्जिको का सामर्थ्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए बु देव के पास भेजा। उस समय उस मुक्तात्मा ने अपने प्रधान शिष्य आनन्द को संबोधित करके कहा था कि जब तक वे लोग सम-भाव से एकत्र हुआ करेंगे, जब तक उनकी सभाओ के कार्य अविरोध रूप से सम्पन्न हुआ करेंगे और जब तक देश-शासन सहानुभूति पूर्ण सहयोग से चलता रहेगा तब तक उनके अध पात की आशंका नही की जा सकती और उनकी उत्तरोत्तर उन्नति का ही समय जानना चाहिए। बुद्धदेव का यह कथन सभा-समितियो की प्रतिष्ठा का द्योतक, उनकी उपयोगिता का सूचक और प्राधान्य का परिचायक है।

पर इस मंगलमय संस्था के गौरव का भी क्रमश अवसान होता गया और अन्तत सामाजिक व्याघातो और निरंकुश अधीश्वरो की स्वेच्छाचारिता के कारण वह प्रथा लुप्त हो गई। इसके ह्रास और नाश के तीन कारण बतलाये जा सकते है— वर्णविभागकृत सामाजिक वैषम्य, शासित प्रदेशो का पूर्वापेक्षाकृत भौमिक विस्तार और एकाधिपतियो का असाधारण अधिकार । समाज मे जब जाति-भेद का पूर्ण विकास, विस्तार और संवर्धन हो चुका तब वह राष्ट्रीय ऐक्य का अन्तक और विद्वेष, वैषम्य, तथा पार्थक्य का जनक सिद्ध हुआ और क्रमश राष्ट्रीय संस्थाओ का संहार करके धर्मशास्त्रागत औद्योगिक तथा साम्प्रदायिक संस्थाओ की सृष्टि करने लगा। उस समय तक प्रतिनिधि-प्रेषण-प्रथा का प्रादुर्भाव नही हुआ था, अतएव जैसे-जैसे राज्य की सीमा-वृद्धि होती गई वैसे वैसे दूर दूर से प्रजाजनो का आकर सार्वजनिक सभाओ मे सम्मिलित होना कष्टप्रद और असंभव सा जान पडने लगा। अत सभा की अविरल बैठके कम पडती गईं और फिर बन्द हो गई । राजाओ की स्वेच्छाचारपरायणता के कारण क्रमश इन सार्वजनिक सभाओ का स्थान राज-सभाओ और मन्त्रि-परिषदो ने ग्रहण किया।

राज-सभा की बैठक प्रतिदिन हुआ करती थी। यही सर्वोपरि न्यायालय था। प्रजा के दु खनिवेदनो को सुनना तथा यथोचित क्लेशनिवृत्ति और बाधा-निराकरण का उपाय करना ही इसका मुख्य कर्त्तव्य था। कभी-कभी राज्य-शासन विधि का गुरुत्तर प्रश्न भी इसी राज-सभा मे हल होता था और देश को अधिकाधिक समृद्धिशाली बनाने की युक्तियाँ भी यही सोची जाती थी। पाञ्चाली का पाणिग्रहण करके जब पाण्डव अपने द्यूत अपहृत राज्य के पुनर्लाभ की कामना करने लगे तब धृतराष्ट्र ने अपनी राज-सभा मे ही पाण्डवो से सन्धि करके शाति स्थापन की इच्छा प्रकट की थी।

युवराज, मन्त्रिवर्ग तथा मुख्य प्रकृति पुरुषगण बलाधिप, न्यायाध्यक्ष तथा सामन्तगण, राजपरिजन तथा अन्य कुलीन जन - यही राजसभा के सदस्य होते थे। स्थायी सदस्यो के अतिरिक्त कतिपय सत्कुलसभूत विशिष्टजन भी निमन्त्रित किये जाते थे। नीतिवाक्यामृत का अनुशासन है कि जो राज-पुरुष न हो तथा जिन्हे निमन्त्रण पत्र न मिला हो उन्हें राजसभा मे भूलकर भी न जाना चाहिए। शत्रु-मित्र-समदर्शी सद्‌वंशज, शक्तिशाली, नृपानुरक्त तथा मानवीय निर्बलताओ का दमन कर कर्त्तव्यपथ पर अविचल रहने वाला व्यक्ति ही राजसभा का सभासद् अथवा सभाध्यक्ष होने योग्य समझा जाता था। सभामडप मे प्रत्येक सभासद् अपने निर्दिष्ट स्थान पर ही बैठता था। सभासदो के विनीत व्यवहार, मर्यादा, सभ्यता और शिष्टाचार पर विशेष ध्यान दिया जाता था। चाणक्य ने सभामडप मे सभासदो के पारस्परिक हास्य-प्रलाप को गर्हित और सदाचारविरुद्ध बतलाया है। सभासदो को एक दूसरे के भाषण के बीच मे रोक-टोक करने का अधिकार प्राप्त न था। वाक्यापक्षेपन सभा नियम के विरुद्ध था। मत प्रदान के लिए राजाज्ञा साधारणत अपेक्षित थी, परन्तु सकटकाल मे चाणक्य कहता है कि राजा को सदा मगलकारी उपदेश देना प्रत्येक सभासद् का एकान्त कर्त्तव्य है। राज्य के लाभालाभ का ध्यान रखते हुए, अन्य सभासदो के मतामत की परवाह न करके, सत्यनिष्ठा और सदाचार के अनुकूल अपना मत पूछे जाने पर स्पष्ट रूप से प्रदान करना चाहिए। असत्य, प्रत्ययातीत, अप्रमाणभूत, अथवा अपने सम्मान-जनक, तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद-मर्यादा के अनुपयुक्त कोई बात सभासद् को न कहनी चाहिए। स्वय अपमानित होकर भी पदच्छिद्रान्वेषण करना अश्रेयस्कर ही समझा जाता था। अस य, अप्रत्यक्ष, अश्रद्धय अनृत, इन चार प्रकार के भाषणो को चाणक्य ने निन्द्य, कुत्सित, वीभत्स्य, और गर्हित बतलाया है। शुक्रनीति का यह मत है कि सभासदो का वाक्य-विन्यास प्रिय, तथ्य और पथ्य होना चाहिए। राज-सभा की कार्य-प्रणाली अन्य सभाओ की अपेक्षा कुछ भिन्न थी। अमात्यो के उपदेशानुसार सभा के सामान्यतः व्यापक मत का केवल अनुमान ही लगाकर राजा कार्य-निर्णय करता था। अवसर विशेष पर राजसभा में दाम्भिक आडम्बरो का सविधान किया जाता था। खाडवप्रस्थ की नव निर्मित राजधानी मे राज-प्रवेश के समय युधिष्ठिर की राजसभा का अलौकिक आयोजन बडा आडम्बरपूर्ण किया गया था। अनेक लब्धप्रतिष्ठ तपोधनो, शक्तिशाली अधीश्वरो और पराक्रमी सामन्त-गणो ने उस लोकोत्तर राज-सभा की श्रीवृद्धि की थी।

जब सार्वजनिक सभाओ का स्थान राज-समितियो ने ग्रहण किया, तब विशेषत मन्त्रियो के द्वारा ही काम होने लगे और मन्त्रियो की परिषद् भी एक सहकारी सस्था बन गई। सोमदेव सूरि ने नीति-वाक्यामृत मे और चाणक्य ने अर्थशास्त्र मे इसका नाम मत्री-परिषद् कहा है, पर कादम्बरी मे इसका उल्लेख मन्त्रमण्डल के नाम से किया गया है। इस मन्त्रि-परिषद् अथवा मन्त्रि मण्डल मे राज्य के सब महत्त्वपूर्ण विषयो की पूरी छानबीन होती थी। उच्च राज-पुरुषगण तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग भी इसके सदस्य होते थे। सदस्यो की सख्या समयानुसार परिवर्तित हुआ करती थी। चाणक्य, राज्य के आवश्यकतानुसार, सख्याबाहुल्य के पक्ष मे था, पर उशना के मत से २०, बृहस्पति के मत से १६ और मनु के मत से १२ ही सदस्य पर्याप्त थे। मन्त्रि-मण्डल के ये सदस्य अपना मत लिख कर प्रदान करते थे और प्रत्येक लिपिबद्ध परामर्शपत्र की पूर्ण आलोचना की जाती थी। 'षट्कर्ण भिद्यते मन्त्र' के अनुयायी अबुलफज़ल ने आईने अकबरी मे हिंदूशासन-प्रणाली के प्रसग पर इस विषय का उल्लेख करते हुए कहा है कि अनुशासक अमात्य को अविकत्थन, विचार-दक्ष, नृपति-परायण, उदार-चरित, अप्रमादी और विक्रान्त होना चाहिए। पर इतने उच्च गुणोपेत विरले ही होते हैं, अतएव महत्त्वपूर्ण राजकीय विषयो पर बहुत लोगो से विमर्श करना श्रेयस्कर नही है। प्राचीन हिन्दू शासक नियन्त्रित मन्त्रणा का मूल्य जानते थे और इसीलिए प्रधानमत्री के अतिरिक्त इने-गिने ज्ञानवृद्ध दूरदर्शी लोगो से ही परामर्श किया करते थे। अबुलफजल का कथन युक्तियुक्त है। पर इसमे सन्देह नही कि शासन मे निरकुशता परिहार्य और मन्त्रणा सदा सुखदा और कल्याणकारी समझी जाती थी। विशालाक्ष ने मन्त्रणा सभाओ की उपयोगिता सिद्ध करते हुए कहा है कि शासन की बागडोर किसी निरवग्रह नृपति के हाथ मे अविपन्न और सुरक्षित नही रह सकती।

चाणक्य ने राज्य-शासन व्यवस्था मे प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और तर्क साध्य, इन तीन समालोच्य विषयो का समावेश किया है। अतएव प्रमाणभूत और पूर्णत असदिग्ध सिद्ध करने के लिए, विवादास्पद विषयो मे मत विपर्य्यय के समय सन्देह निराकरण के लिए आनुषगिक विषयो को यथासाध्य तर्कसिद्ध करने के लिए तथा गुहानिहित पर प्रकाश डालने के लिए मन्त्रणा की आवश्यकता होती थी। यो तो मन्त्रिपरिषद मे प्राय सभी राजसम्बन्धी विषयो पर विचार होता था पर मुख्यत महत्वपूर्ण कार्यों का आरम्भिक उपक्रम करना, कार्य विशेष के लिए वस्तु, निर्देश, पुरुष नियोग तथा, देशकाल निश्चित करना, अनागत विपत्ति का यथोचित प्रतीकरण तथा सब प्रयास सुखान्त हो—इसका उपाय करना ही उनका मुख्य कर्तव्य था। थोडे व्यय मे ज्यादा काम कर दिखाना ही 'सोमदेव' ने परिषदो की वास्तविक सार्थकता की महत्वपूर्ण पहचान बतलाई है।

बृहस्पति-सूत्र मे मत्री परिषद् की कार्य-प्रणाली इस प्रकार कही गई है—"पूर्व स्वामिना कार्यनिवेदन, यत् पुनर्यथाक्रमे एकैकश मत श्रोतव्यं।" अर्थात् पहले सभापति

आलोच्य विषय कह सुनावे और तब प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग मत सुना जाय। अन्तत कार्यक्रम निर्णय के विषय मे चाणक्य ने कहा है कि—"यत् भूयिष्ठव्रुयुस्तत् कुर्य्यात" अर्थात् मताधिक्य के अनुसार काम होना चाहिए।

आलोच्य विषय तथा मन्त्रि-परिषद् का निर्णय अमात्यो को गुप्त रखना पडता था और भेद न खुलने पावे, इसका पूरा-पूरा बन्दोबस्त किया जाता था। किसी-किसी विषय पर वाद-विवाद बहुत देर तक होता रहता था, पर निरर्थक विवाद के विरोधी चाणक्य ने अर्थशास्त्र मे कहा है कि—"न दीर्घम् मन्त्रयेत्"—अर्थात् बहुत देर तक परामर्श करना उचित नही और परिषद् मे जो बात निश्चित हो जाय उसे कार्यरूप मे शीघ्र ही परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। मन्त्रि-परिषद् का अधिकार बडा विस्तृत था। शासन-कार्य मे इसका स्थान सर्वश्रेष्ठ था। चाणक्य ने कहा है कि 'मन्त्र सम्पदा हि राजा नीयते' और व्यवहार मे भी यही कहा था। प्रत्येक नूतन आदेश के लिए परिषद् की अनुमति आवश्यक थी और समय पडने पर राजा के चुनने का अधिकार भी इसे ही प्राप्त था।

सार्वजनिक सभाओ, राज सभाओ और मन्त्रिपरिषदो का उपर्युक्त वर्णन उत्तर-भारतीय राज्यो से ही सम्बन्ध रखता है, पर इससे यह न समझना चाहिए कि दक्षिण भारत मे इनका अभाव था। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले दक्षिण-भारत के केरल-राज्य मे पाँच राज्य कार्यकारिणी सभाएँ थी। एक सार्वजनिक सभा थी, जो प्रजामत को प्रकट करती थी और राजा को स्वेच्छाचारी होने से रोकती थी। दूसरी पुरोहितो की सभा थी, जो राज्य के लिए मगलकर होमयज्ञादि धर्म-कार्य करती रहती थी, तीसरी ज्योतिषियो की सभा थी, जो सब कामो के लिए शुभ-मुहूर्त का निश्चय किया करती थी, चौथी मन्त्रियो की सभा थी, जो राज-कर वसूल करती थी और धर्माधिकरण का काम करती थी और पाँचवी वैद्यो की सभा थी, जो प्रजा की स्वास्थ्य रक्षा का उपाय किया करती थी।

शासित से मतानुसार शासन करना ही शासक के सौष्ठव की पराकाष्ठा है। इतिहास के आदिकाल से ही इन सार्वजनिक तथा मन्त्रणा सभाओ की स्थिति यही प्रमाणित करती है कि इस देश मे सदा से प्रजा के मतामत का ध्यान रखते हुए निरंकुशता त्याग कर तथा विचार-दक्ष अमात्यो से उपदिष्ट कराकर ही राजा देश शासन करता था।

स्मृतिकालीन भारतीय सभ्यता का विकास

(ई० पू० २ से १७वीं शदी तक)—दार्शनिक-काल के पश्चात् भारत मे स्मृति-काल का आरम्भ हुआ। वस्तुत इतिहास की दृष्टि से यह काल 'शु ग-काल' है। यह सत्य है कि स्मृति-साहित्य भी अत्यन्त प्राचीन है। उसका आधार भी प्राचीन भारतीय वाङमय ही है। परन्तु 'शु ग-काल' मे अर्थात् बौद्ध-जैन धर्म से पहिले देश की राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारधारा के अनुसार देश के सामाजिक ढाचे को विदेशी विचार-प्रहार से बचाने के लिए स्मृति-साहित्य की रचना की गई। यही कारण है कि स्मृतियो की व्यवस्थाओ मे दो प्रकार के विचार ही अधिक पाये जाते है—[१] समाज की रक्त-शुद्धता का प्रयत्न और [२] धर्म के प्रति अगाध आस्था। इसीलिए प्राय समस्त सामाजिक मान्यताओ को स्मृतिकारो ने आर्थिक या राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित न करके धार्मिक दृष्टिकोण से उन्हे मान्यता प्रदान की है। और यह मान्यता भी समाज के किसी वर्ग विशेष के लिए न होकर, सम्पूर्ण समाज के लिए है। यही कारण है कि स्मृतियो मे समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये आचार सहिता का वर्णन है। अत स्मृति-काल मे भारतीय-समाज को नई और कठोर व्यवस्थाओ मे बाँधने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि वेदो की मर्यादा और प्रतिष्ठा सर्वोपरि है, तथापि स्मृतियो मे धर्मशास्त्र, नागरिक-शास्त्र और राजशास्त्र प्रमुख रूप से होने के कारण, इनकी उपयोगिता और महत्त्व बहुत अधिक है।

वेदो मे 'मनु' का नाम और चरित्र आया है—वह अतीत और अनागत, सभी मनुओ का है, न कि मनु नामक किसी व्यक्ति विशेष का। प्रत्येक मन्वन्तर मे मनु हुआ करते हैं—ऐसा बोध कराना ही उसका तात्पर्य है।

यह स्मृतियाँ २० हैं। यथा मनु, अत्रि, विष्णु हस्ति, याज्ञवल्क्य, उशनस, अगिरस, यम, आपस्तम्ब, सम्बत्त, कात्यायन, ब्राहस्पति, पराशर, व्यास, शख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप और वशिष्ठ।

स्मृतियो के स्रोत—'कल्प' नामक वेदाग के अन्तर्गत धर्मसूत्र नामक अश है। यही धर्मशास्त्र कहलाता है और इसे ही 'स्मृति' भी कहते है। सहिताओ के अनुशीलन से समाजशास्त्र के अनेक पहलुओ पर भी प्रकाश पडता है, जैसे कि विवाह और उसके प्रकार, पुत्रो में दाय-भाग की स्थिति तथा पुत्रो मे विभिन्न भेद और धन-विभाग, श्राद्ध

और 'स्त्री-धन' के विषय मे अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का परिचय हमे प्राप्त होता है। परन्तु यह समस्त विवरण, एक स्थान पर एकत्रित न होकर, विभिन्न स्थानो पर उल्लिखित मत्रो से पाया जाता है, वस्तुत धर्मशास्त्र मे इनका विशाल भण्डार है। इतिहास पुराण और कतिपय धर्मशास्त्रो मे बहुसख्यक स्मृतियो तथा उप-स्मृति ग्रन्थो का उल्लेख है, परन्तु आज उनमे से अधिकाश अप्राप्य है । जो उपलब्ध हैं, वे अधिकाश खण्डित हैं। जो दस-बारह स्मृतितॉ पूर्णतया उपलब्ध हैं, वे अनेक कारणो से विकृत हो गई है। अस्तु, विशिष्ट अर्थ मे स्मृति शब्द से धर्मशास्त्र के उन अमूल्य ग्रन्थो का बोध होता है, जिनमे प्रजा के लिए उचित आचार-व्यवहार और समाज-शासन के निमित्त नीति, सदाचार सम्बन्धी नियम स्पष्टतया दिये रहते हैं। हिन्दुओ के षोडस सस्कारो [उपनयन विवाह, श्राद्ध आदि] का विशिष्ट वर्णन इन स्मृतियो मे पाया जाता है।

स्मृतियो का विषय—स्मृतियो के विषय प्रधानतया तीन हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित । आचार के अन्तर्गत चारो वर्णों के कर्तव्यो और कर्मों का विधान है। गृहस्थ का कर्तव्य, आश्रमो के प्रति उसका व्यवहार, वानप्रस्थ और सन्यास-काल का जीवन तथा दैनिक आचार-व्यवहार की मीमासा की गई है । इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारियो के रहन-सहन, कर्तव्य और व्यवहार के अतिरिक्त राजाओ के कर्तव्यो का भी वर्णन है।

स्मृतियो का दूसरा विषय 'व्यवहार' है। वर्तमान मे इसी का नाम विधान या कानून है। इसके अन्तर्गत दीवानी, फौजदारी—सभी कानून आ जाते हैं। फौजदारी कानून के दण्ड और उनके विभिन्न प्रकार, साक्षी और साक्षियो के प्रकार, शपथ, अग्नि-शुद्धि, व्यवहार की प्रक्रिया, न्यायकर्ता के गुण तथा न्याय-पद्धति आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त सीमा का निर्णय, सम्पत्ति का विभाजन, दाय भाग के अधिकारी, दाय का अश, कर-पद्धति की व्यवस्था आदि भी वर्णित है। 'प्रायश्चित' खड मे धार्मिक तथा सामाजिक कृत्यो के अतिरिक्त, उसकी अवहेलना से लगने वाले पापो का वर्णन है।

मनुस्मृति—स्मृतियो मे मनुस्मृति सबसे प्राचीन है। यह स्मृति सूत्र रूप मे दार्शनिक-काल मे भी मौजूद थी। उस समय सूत्रकार भी इसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते थे। परन्तु वर्तमान मनुस्मृति बौद्ध-काल से पूर्व 'छन्दबद्ध' रूप मे लिखी गई और वह भी स्वतन्त्र विचारधारा के अनुसार। यही कारण है कि मनुस्मृति मे प्राचीन वैदिक विचारधाराओ को भी तिरोहित कर दिया है। समाज की प्राय प्रत्येक प्राचीन मान्यता का मनु ने खुलकर सम्पादन ही नही किया, अपितु पूर्णरूपेण सशोधन भी किया है। यही कारण है कि मनु ने वैदिक-कालीन स्त्रियो की स्वतन्त्र सत्ता को अपनी व्यवस्था मे पूर्णरूपेण समाप्त कर दिया। उसने स्त्रियो के आदर और वह भी विशिष्ट आदर—पूजा पर तो बल दिया , किन्तु दाय-भाग मे उनके भाग को अत्यन्त कम कर दिया। स्थान-स्थान पर मनु ने नारी की स्वतन्त्रता के स्थान पर, उसके पतिव्रत-धर्म पर ही बल दिया है। मनु का इन्ही सामाजिक व्यवस्थाओ को कालान्तर मे भी समाज-

शास्त्र मे बराबर स्थान मिलता चला गया। स्मृति मे २६९४ श्लोक और १२ अध्याय है। महाभारत के शान्ति पर्व मे आई हुई समाज-व्यवस्था को इसमे अपनाया गया है। इस स्मृति के अध्यायो मे समस्त समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र और मानव धर्मशास्त्र का सागोपाग वर्णन है।

वास्तव मे मनुस्मृति दार्शनिक-काल और बौद्ध-काल की मध्यवर्ती कडी है तथा इसमे शुग-सातवाहनो के राज्यकाल की समाज-व्यवस्था का सीधा सच्चा चित्रण है। प्राचीन काल मे जो धर्म सूत्र किसी न किसी प्रकार की वैदिक शाखा से सम्बन्धित रहते थे, उस प्रकार मनुस्मृति किसी भी वैदिक शाखा से सम्बन्धित नही है। उसे हम न आर्यो की विचारधारा के अनुकूल पाते है, न ही उत्तर कालीन पौराणिक विचारधारा के। वास्तव मे वह उस काल की समाज-व्यवस्था पर प्रकाश डालती है। जिस समय बौद्ध-सम्पर्क मे वैदिक आर्यो का धर्म छिन्न-भिन्न हो चुका था और कुछ बदलती हुई परिस्थितियो मे फिर से आर्य धर्म की स्थापना का प्रयत्न किया जा रहा था, जो तत्काल ही विदेशी आक्रान्ताओ के भारतीयकरण से कुछ नया ही रूप धारण कर गया था।

हम पहिले ही लिख चुके है कि यह स्मृति पहिले सूत्र रूप मे थी और ज्ञात होता है कि दार्शनिक-काल मे उसका मान बहुत था। दूसरे सूत्रकार भी उसे बडे सत्कार की दृष्टि से देखते थे। परन्तु वर्तमान मनुस्मृति बौद्ध-काल मे छन्दोबद्ध लिखी गई है। इससे बौद्ध काल के जन जीवन और रीतियो का ही पता अधिक लगता है। इस स्मृति मे एक विशेष बात यह है कि इसके रचयिता आचार्य मनु ने प्राचीन सूत्रकारो की अनुकरण पद्धति की उपेक्षा कर अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने तत्कालीन आर्यों के लिए स्वतन्त्र नियम बनाये हैं। यही नही यह स्मृति पौराणिक काल के धर्म-शास्त्रो से भी मतभेद रखती है, क्योकि उसने पौराणिक 'त्रिदेव' को नही माना। वह मूर्ति-पूजा को पाप समझता है। डाक्टर 'बुहलर' का मत है कि यह स्मृति मसीह के उपरान्त पहिली शताब्दी मे लिखी गई है, परन्तु यह सिद्ध नही होता।

मनु की वर्ण-व्यवस्था—मनु के विचारो को कसौटी पर कसने से केवल यही ज्ञात होता है कि मनु का ध्येय भारतीय समाज को निरन्तर ज्ञानवान् और प्रतिभावान् बनाना था। अत मनु ने प्रत्येक बुराई को बुराई बताया है। मनु ने आर्यकालीन वर्णाव्यवस्था को स्वीकार तो अवश्य किया, परन्तु मनु ने भी कर्म को तिरोहित नही किया। यही कारण था कि उनकी व्यवस्था को प्रत्येक जाति के व्यक्ति ने मान्यता दी है। मनु ने विद्याहीन ब्राह्मणो की भी अत्यन्त निन्दा की है और उन्हे दान तक के लिए कुपात्र बताया है। मनु ने स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य और शूद्र जन्मतः नही माने जा सकते, कोई भी नीच वर्ण का व्यक्ति अपने गुण तथा प्रतिभा के बल पर, उच्च वर्ग का अधिकारी है। इसी प्रकार उच्च-वर्ण का व्यक्ति अपने कुत्सित कर्मों के कारण नीचे के वर्ण मे आ सकता है। मनु ने स्पष्ट लिखा है—

'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जात मेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥—मनु० १०।६५

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र को। इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य को भी जानो। अत मनु काल मे भी शूद्र अस्पृश्य नही समझे जाते थे और न ही मनु ने उन्हे ऐसा ही कहा है। उन्हे भी समाज के अन्य वर्णों के ही समान माना जाता था। उनसे रोटी-बेटी का व्यवहार चलता था। मनु ने अपने सामाजिक विधान मे लिखा है—

'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशस्मृते।
ते चा स्वा चैव राज्ञाश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन ॥

—मनु० ३।१३

अर्थात् शूद्र की स्त्री शूद्रा ही हो, वैश्य व्यक्ति की स्त्री वैश्य तथा शूद्रा हो और ब्राह्मण की स्त्री ब्राह्मणी, क्षत्रिया तथा शूद्रा हो। इस पकार मनु काल मे शूद्र की कन्या अन्य उच्च वर्णो से व्याही जाती थी। इसमे किसी प्रकार का दोष नही माना जाता था। किन्तु शूद्र का ब्राह्मण-कन्या से विवाह हेय समझा जाता था। शास्त्र के मत से अनुलोम विवाह तो मान्य था, किन्तु प्रतिलोम विवाह (ऊचे वर्ण की कन्या का नीच वर्ण के साथ विवाह) मान्य नही था तब भी अनेक प्रतिलोमज सन्तानें अपने सदाचार और तपस्या के कारण ब्रह्मर्षियो द्वारा सम्मानित हुई हैं। प्रतिलोमज रोमहर्षण सूतपुत्र ने नैमिषारण्य मे शौनकादि ऋषियो को भागवत की कथा सुनाई थी। श्रीधर-स्वामी ने अपनी टीका मे उन्हे 'प्रतिलोमज' कहा है। परन्तु प्रतिलोमज होने से रोमहर्षण का स्थान नीचा नही हो गया था। * इसके अतिरिक्त मनु ने शूद्रो के साथ खान-पान का भी समर्थन किया है। मनु ने लिखा है--

सवत्सरे पतित पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्नतु यानासनाशनात् ॥'

—मनु० ११।१८०

अर्थात् एक वर्ष तक पतितो के साथ मिलकर यज्ञ करने, पढने और योन सम्बन्ध करने से मनुष्य पतित हो जाता है। परन्तु एक आसन और एक यान पर बैठने तथा सहभोज करने से पतित नही होता। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पाचवी शताब्दी तक भी भारत मे जातिभेद नही था। शूद्र, पतित और अछूत नही थे। वह वेदादि शास्त्र पढते थे। द्विज उनके हाथ का और घर का बनाया हुआ भोजन करते थे। साथ-साथ उनकी कन्याओ से विवाह भी करते थे। इस प्रकार शूद्र उचित व्यवसाय करते हुए आत्मोन्नति करते थे। यही कारण था कि उस काल मे जितने भी विदेशी आये, वह भारतीय समाज मे घुलमिल कर भारतीय सभ्यता के पृष्ठ-पोषक बन गये। श्री शाम शास्त्री का कथन है कि बौद्ध और जैन-धर्म का वैराग्य-प्रधान मत और कृच्छ्राचार ही इनके कारण हैं। ऊँचे वर्ण के लोगों ने जीव-हिंसा छोड़ दी थी, किन्तु शूद्रो ने नही छोडी थी। इसलिए शूद्रो के हाथ का अन्न निषिद्ध हुआ। आज भी जगन्नाथपुरी तथा

* भारत मे जातिभेद पृष्ठ संख्या ९०।

श्री वदरीनारायण मे अन्न-जल के स्पर्श का विचार नही है । वस्तुत भारतीय सभ्यता का आदि काल से ही यह मत रहा है कि समस्त मनुष्य जाति को एक आर्यभक्त परिवार समझा जाय और समाज का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्ति विशेष की बुराई को भी अपनी ही समझे । वस्तुत स्पृश्यता का विचार ही क्रूरतापूर्ण है । अत जो भी समाज ऊच-बुराई नीच के भेदो पर आश्रित होता है, उसका विनाश ही होता है और ऐसी सभ्यता कभी नही पनप सकती ।

मनु कालीन नारी-समाज—मनु ने अपने आचार और नीति-शास्त्र मे तत्कालीन नारी-समाज की सामाजिक व्यवस्था को भी स्थान दिया है । वस्तुत उस युग मे विश्व की किसी भी सभ्यता मे नारियो का कोई स्थान नही था । विदेशी आक्रमणो के कारण भारतीय समाज की व्यवस्था भी हिल चुकी थी । अत भारतीय सभ्यता को अनैतिकता से वचाने के लिये मनु ने नारियो के सम्बन्ध मे विशेष नियम वनाये । इन नियमो मे विवाह-व्यवस्था, परिवार की सम्पत्ति मे नारी का भाग तथा उसकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति का स्पष्टीकरण किया गया है । परन्तु नारी सम्वन्धी अपनी सभी व्यवस्थाओ मे उन्होंने नारी के पतिव्रत धर्म पर ही अधिक वल दिया है । वस्तुत मनु ने उस काल के समाज की व्यवस्था का मूल मन्त्र नारी की स्थिति को माना है । यदि परिवार मे नारी की स्थिति सुखी है और वह चरित्रवान् है तव परिवार स्वत ही सुख-समृद्धि को प्राप्त होगा, अन्यथा दुराचारिणी स्त्रियो के कारण कलह से पीडित परिवार भ्रष्ट होते जायेंगे और समाज नैतिकता का शिकार होगा । मनु की इस नारी सम्वन्धी मान्यता से विदित होता है कि उन्होने अनाचार की पराकाष्ठा से पीडित हो कर समाप्त होने वाली प्राचीन मेसोपोटामिया और वेवीलोनिया सभ्यता की कहानियो और उनके इतिहास का गहन अध्ययन किया था और उन्ही के आधार पर नारी सम्वन्धी अपने विचार निश्चित किये थे । अत मनु ने वेदकालीन, वर और वधू की स्वतत्र स्वयवर प्रथा को समाप्त कर, विवाह के लिये आठ नियमो को मान्यता दी और विवाह की आयु को कम कर दिया । अत उन्होने स्पष्ट घोषणा की—

अष्टवर्षा भवेत् गौरी, नव वर्षा च रोहिणी ।
दश वर्षा भवेत् कन्या, अत ऊर्द्धवं रजस्वला ॥

अर्थात् मनु ने मान्यता दी कि रजस्वला कन्या का जो व्यक्ति विवाह नही करता, वह भी नर्क का भागी वनता है । मनु ने अपने जातिगत विचारो के आधार पर शूद्र को शूद्र की कन्या से और वैश्य को वैश्य, तथा शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को शद्र, वैश्य तथा क्षत्रिय कन्या से और ब्राह्मण को समस्त वर्णों की कन्याओ से विवाह करने की आज्ञा दी है । विवाह के अयोग्य केवल वह कन्याए मानी गयी हैं, जो निरोग न हो अथवा जिनके अन्दर वैवाहिक सुख के चिह्नो का अभाव हो । वस्तुत वर और वधू के शारीरिक शुभ-लक्षणो को रामायणकाल मे ही भारतीय सस्कृति मे मान्यता दी जा चुकी थी, जिसका हमने अपनी इसी पस्तक मे 'रामायण कालीन सभ्यता के विकास' मे उल्लेख किया है । अत मनु ने सुलक्षणा कन्या के लक्षणो के सदर्भ मे

लिखा है—"सुलक्षण कन्या सटे हुए दातों वाली, कोमल और छोटे रोमो वाली, हस और गज के समान सदैव गमन करने वाली, नीचे नयनो वाली तथा मृदुभाषिणी होनी चाहिये।"

मनु ने इन्ही लक्षणो से युक्त कन्याओ से विवाह की आज्ञा दी है। इसके विपरीत उन कन्याओं से विवाह करने का निषेध किया है, जिनके नाम नक्षत्रो, वृक्षो, पहाडो, पक्षियो तथा सर्प आदि के नाम पर रखे गये हो। अर्थात् जिनके नामो से भयकरता प्रकट होता हो। जो सुन्दर अगो वाली न हो, जिनके शरीर पर कड़े और लम्बे वाल हो तथा कर्कशा स्वभाव की हो।

मनु ने अपने ग्रथ मे उस काल के ८ प्रकार के हिंदू विवाहो—यथा ब्राह्म, देव विवाह प्रजापत्य-विवाह, असुर-विवाह, गाधर्व-विवाह, राक्षस-विवाह और पैशाच-विवाह, का उल्लेख किया है, किन्तु उन्होने शुद्ध सामाजिक विवाह—ब्राह्म और देव-विवाह को ही माना है, जिसमे वर और वधू का अग्नि और पुरोहितो के साक्ष्य मे विवाह हो और कन्या का पिता अत्यन्त श्रद्धा और विश्वास के साथ अपनी कन्या के लिये चुने गये पति को शुभ आदेशो, उपदेशो और कामनाओ सहित कन्यादान करे। इसके अतिरिक्त राक्षस-विवाह जिसमे कन्या का बलात् अपहरण किया जाता था और पैशाच-विवाह, जिसमे कन्या से अचेतावस्था मे बलात्कार द्वारा विवाह किया जाता था, मनु ने निन्दनीय माना है। अत मनुकी विवाह-मान्यता उस समय की समस्त विवाह-मान्यताओ से श्रेष्ठ थी।

पति-पत्नी का कर्तव्य—विवाह के उपरात मनु ने पति-पत्नी के कर्त्तव्यो का वोध भी कराया है। मनु ने पतियो को बार-बार चेतावनी दी है कि घर मे पत्नी की स्थिति 'रानी' के समान होनी चाहिए। आभूषणो तथा वस्त्रो से नारी की पूजा की जानी चाहिये। जो घर ऐसा नही करता अथवा जिस घर की स्त्रिया सुखी नही हैं, वह घर नर्क के समान है। यही तक नही, मनु ने बहु-विवाह का भी घोर विरोध किया है और पत्नी को तलाक देने का भी समर्थन नही किया, क्योकि मनु ने नारियो का जीवन पिता पति और पुत्रो के जीवन के साथ संलग्न किया है। अर्थात् कुमारावस्था मे वह पिता के संरक्षण मे रहकर जीवन-यापन करने वाली मानी गयी हैं। युवावस्था मे पति का उनको सरक्षण प्राप्त है और वृद्धावस्था मे पुत्रो द्वारा सरक्षित हैं। अतः तलाक का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे विवाह की अनुमति भी पति को मनु ने उस अवस्था मे दी है, जबकि पत्नी वन्ध्या हो, दुसाध्य रोग से पीडित हो, घात करने वाली हो तथा अर्थनष्ट करने वाली हो आदि।

पति के साथ-साथ मनु ने पत्नी के भी कर्त्तव्य बताये हैं। सबसे पहिले मनु ने उसके पतिव्रत धर्म पर वल दिया है। मनु ने "स्त्रियो के लिये पति ही परमेश्वर है" के सिद्धात का अवलम्बन करने का आग्रह नारियो से किया है। अत उनके पृथक् जप-तप पर भी मनु ने वल न देकर, उन्हे पति-सेवा द्वारा ही मुक्ति का अधिकारी माना है। उन्होंने पत्नियों को तलाक का अधिकारी भी उसी स्थिति मे माना है, जबकि

पति दु साध्य रोग का रोगी हो, नपुन्सक हो, उसे घर से बाहर गये कई वर्ष व्यतीत हो चुके हो और दो साल से पत्नी के गुजारे का कोई अवलम्बन न हो।

दाय-भाग—मनु ने पति के भाग मे पत्नी का भाग पृथक् नही माना। मनु का कथन था कि जब दोनो का तत्र एकाकार हो जाता है, तब पत्नी का पृथक् अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। अत पत्नी के भाग के अधिकारी पुत्र ही माने गये है और माता को पुत्रों का सरक्षण प्राप्त होता ही है। इसके साथ ही वैवाहिक-भेंटो तथा दहेज को मनु ने पत्नी की सम्पत्ति माना है और स्वेच्छा से उसके उपभोग की आज्ञा दी है। असहाय अवस्था मे ऐसी महिलाओ को राज्य द्वारा सरक्षण प्राप्त था।

दाय भाग के सम्बन्ध मे कुछ ही फेर के साथ प्राय· सभी स्मृतिकारो के विचार समान हैं। मनु ने दाय भाग के विभाजन के लिये अपना पुत्र (औरस) अपनी स्त्री से, क्षेत्रजपुत्र (गोद लिया हुआ), दत्तक-पुत्र (माना हुआ पुत्र), कृत्रिम-पुत्र (गुप्त सयोग से उत्पन्न-पुत्र) तथा गूढज (त्यागा हुआ पुत्र) को पिता की सम्पत्ति मे बरावर का अधिकारी माना है। इसके अतिरिक्त वालिका का पुत्र (कानीन), गर्भवती स्त्री का पुत्र (सहोदर) दो वार विवाहिता स्त्री का पुत्र (पौनर्भव), नियुक्त कन्या का पुत्र (पुत्री का पुत्र), स्वय दिया हुआ पुत्र (स्वयदत्त), मोल लिया हुआ पुत्र [क्रीत] भी वशज मानकर सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है। बोधायन, गौतम और वशिष्ठ ने भी अपनी स्मृतियो मे इन्हे ही मान्यता दी है। वशिष्ठ ने शूद्र स्त्री से तथा अनैतिकता से उत्पन्न पुत्र को भी पिता की सम्पत्ति का अधिकारी माना है। वशिष्ट का भी कथन है कि इनमे भी कोई उत्ताराधिकारी न होने पर स्त्री के साथ आये हुए पुत्र को भी अधिकारी बनाया जा सकता है। उस समय की दाय विभाग की व्यवस्था से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल मे महाभारत कालीन नियोग की भी पद्धति थी। महाभारत के इस वाक्य 'कन्या कुल को दी जाती है'—का वर्णन मनु ने भी किया है। इसी का विरोध 'आपस्तम्ब' ने अपनी स्मृति मे किया है। उसका कथन है कि प्राचीन समय की बातें आजकल के समाज के लिये उपयुक्त नही हैं। अत पत्नीको पुत्र उत्पन्न करने के लिये अन्य व्यक्ति को नही देना चाहिये। इस तरह विवाह की प्रतिज्ञा कर पति-पत्नी—दोनो नर्क मे जाते हैं।+ आपस्तम्ब नियोग-प्रथा का ही नही, वेद का भी विरोध करता है।

सामूहिक-परिवार प्रथा—स्मृति-काल तक भारत मे सामूहिक परिवार प्रथा के दर्शन होते हैं। मनु के अतिरिक्त 'गौतम-स्मृति' से भी इसकी पुष्टि होती है। उस समय पिता के पश्चात् बडा पुत्र पिता का स्थान लेकर परिवार का उत्तरदायी बनता था। परन्तु गौतम-काल मे बटवारा-प्रथा ने समाज मे अपना स्थान बनवा लिया। गौतम का कथन है—पिता की सम्पत्ति का बटवारा हो जाना, इसलिये अच्छा है कि इससे आत्मीय योग्यता मे और कर्म करने मे वृद्धि होती है *। अत गौतम ने बडे पुत्र को

+आपस्तम्ब स्मृति २।१०।२६।

* गौतम २८।४

सम्पत्ति का २०वा भाग, कुछ पशु और एक गाडी को हिस्से से अधिक दिलाने की आज्ञा दी है। मझले-पुत्र को हिस्से के अतिरिक्त घटिया पशु और छोटे को पशु, अन्न, वर्तन, मकान, छकडा आदि दिलाने की बात कही है। वशिष्ठ बडे पुत्र को दो हिस्से, शेप पुत्रो को एक-एक हिस्सा अथवा माता को बँटवारा करने और उसे मान्यता देने की आज्ञा दी है। इनके अतिरिक्त 'बोधायन' सब पुत्रो को बरावर हिस्सा देने का समर्थन करता है। यदि यह पुत्र भिन्न जातियो की स्त्रियो से उत्पन्न हुए हो, तव जाति के क्रम के अनुसार वह उन्हे चार-तीन, दो और एक भाग दिलाता है।(२।२।३।१०)। परन्तु आपस्तम्ब विवाद द्वारा ज्येष्ठपुत्र को प्रमुखता देने का समर्थक है और अधर्मी पुत्र को भाग देने का विरोध करता है। साथ ही गौतम, वशिष्ठ और बोधायान ने स्त्री के पास आभूषणो का उत्तराधिकारी उसकी लडकी को माना है। इसके अतिरिक्त मम्मिलित सम्पत्ति, नावालिग की सम्पत्ति, धरोहर और स्त्री की सम्पत्ति राजा की थी। (वशिष्ठ १६) वशिष्ठ ने व्यवस्था दी थी कि राजा या तो विधवाओ का पालन करे अथवा उनकी सम्पत्ति लौटा दे। (वशिष्ठ १६।२।६)। गौतम का कथन है जो मनुष्य पागल हो, नावालिग हो, उसकी सम्पत्ति भोगने वाले को दे दी जाय। यदि श्रोतियो, योगियो और राज्य कर्मचारियो द्वारा भोगी जाय, तब उचित है। गौतम ने कहा है—पशु, भूमि और स्त्रिया दूसरे के अधिकार मे रहने पर भी मालिक का अधिकार छूट नही जाता। इसके अतिरिक्त, पिता से मिली हुई, मोल ली हुई, गिरवी की सम्पत्ति विवाह के उपरान्त स्त्री को पति के वर सास-श्वसुर से मिलने वाली, दान की, साझेदारी की, मजदूरी की सम्पत्ति १० वर्ष तक भोगने वाले की हो।

सम्पत्ति के कानूनी अधिकार—स्मृति-काल मे साम्पत्तिक कानून अत्यन्त व्यवस्थित वनाये गये थे। सम्पत्ति-कानून तीन प्रकार का था—दस्तावेज, गवाही और कब्जा। यही प्रमाण अधिकार के लिये भी माने जाते थे। खेतो मे गाडी के घूमने लायक जगह छोडना अनिवार्य था। मकानो के वीच तीन फुट का चौडा रास्ता छोडना जरूरी था। पडोसियो की साक्षी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी। विरोधी गवाहो से पहिले कागज-पत्रो पर विश्वास किया जाता था। यदि कागजो मे भी गडबड हो तो गाव के वृद्ध लोगो की गवाही प्रामाणिक मानी जाती थी। उस समय न्याय के लिये शिल्पकारो और व्यापारियो की पचायतें होती थी। (वशिष्ठ १६)।

राजधर्म और राज्याधिकार—प्राय सभी स्मृतियो मे राजा के प्रजा के प्रति कर्तव्यो का निर्देश है। राजा को न्यायकारी और प्रजा-पालक होने का आदेश दिया गया है। इसी राजधर्म के अन्तर्गत स्मृतिकारो की न्याय-व्यवस्था भी है। इनमें कृषि, कानून, सम्पत्ति-कानून, ब्याज-कानून, उत्तराधिकार-कानून और बटवारा-कानून तथा फौजदारी और धर्म-सम्बन्धी सभी कानून शामिल हैं। कृषि और उसके कर के लिये व्यवस्था थी कि जमीन का ठेका लेने पर, यत्न और परिश्रम से खेती की जाय, ऐसा न करने पर समस्त अनाज लिया जा सकता था। खेती का नौकर यदि काम छोट देता था, तब उसका दण्ड कोडे था। इसी प्रकार अकारण काम छोडने पर चरवाहे को भी

मालिक वाडे मे वन्द कर उसे दुर्बल कर सकता था। यदि राजा के जगल मे ऐसे पशु घुस आयें तो मालिक को दण्ड दिया जाता था। यदि चरवाहे की मौजूदगी मे ऐसा होता था, तव दण्ड का भागी चरवाहा होता था। यदि खेत घिरे हुए न हो, तव उनमे से घास, फूल और लकडी ली जा सकती थी।

ब्राह्मण यदि ब्राह्मण की हत्या करे, गुरु पत्नी को बुरी दृष्टि मे देखे, किसी ब्राह्मण का द्रव्य चुराये, तव राजा उसके ललाट को गर्म लोहे मे दाग कर निकाल सकता था। यदि कोई नीच व्यक्ति ब्राह्मण की हत्या करे, तव कानून उसकी सम्पत्ति जब्त करता था और वह फांसी का भागी होता था। (बोधायन १८।१६)

व्यभिचार के लिये दोषी को जाति के अनुसार दण्ड दिया जाता था। व्यभिचारी ब्राह्मण को देश निकाले की सजा दी जाती थी। शूद्र व्यभिचारी को प्राण दण्ड दिया जाता था। गाली देने पर उसे अग-भग का दण्ड मिलता था। क्षत्री के ब्राह्मण को गाली देने पर सौ कार्षापण दण्ड, वैश्य यदि ब्राह्मण को गाली दे, तव १५० कार्षापण दण्ड, यदि ब्राह्मण क्षत्री को गाली दे तव ५० कार्षापण, वैश्य को गाली दे, तव २५ कार्षापण और शूद्र को गाली देने पर कोई दण्ड नही था। (गौतम १२।४५) प्राण-दण्ड को क्षमा करने का अधिकार केवल राजा को था। अन्य अपराधो मे गुरु-पुरोहित, राजकुमार आदि भी क्षमा प्रदान कर सकते थे। वशिष्ठ का कथन है कि प्रत्येक प्रकार का आक्रमणकारी अर्थात् आततायी, आग लगाने वाला, लुटेरा, भूमि और स्त्री छीनने वाला, भले ही वेदो और शास्त्रो का भी ज्ञाता हो, आत्मरक्षा करने वाला उसे मार सकता है। (वशिष्ठ ३।१५।१८)।

न्याय प्रकरण मे झूठे गवाहो को भी दण्ड दिया जाता था और उन्हे पापी वताकर निन्दित किया जाता था।

ब्याज की दर—व्याज की दरो के विषय मे समस्त स्मृतिकारो की मान्यताए अलग-अलग थी। साथ ही ऋणी मृतक के उत्तराधिकारी का ऋण चुकाना अनिवार्य था। परन्तु व्यापार के लिये, जमानत के लिये, अधर्म और दण्ड के लिये लिया गया ऋण उत्तराधिकारी नहीं चुकाता था। (गौतम १२।४०-४१)। वशिष्ठ ने व्याज की दर बीस कार्षापण के लिये प्रतिमास पाँच माशा नियत की है। इसी का समर्थन गौतम ने किया है। भाषाकार 'हरदत्त' का कथनहै कि इसका अर्थ यह है कि उस समय १। रुपया सैकडा व्याज की दर थी। गौतम का कथन है कि जब मूल द्रव्य के बराबर व्याज हो जाय, तब व्याज नही लिया जाना चाहिये। सोना जितना दिया जाय, दूना लिया जा सकता है। अन्न तिगुना। जिन वस्तुओ को तोलकर बेचा जाता है, उन्हे आठ गुना तक भी लिया जा सकता है।

मनुस्मृति के प्राचीन टीकाकार मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट, नारायण-सर्वज्ञ, राघवानन्द, मणिराम दीक्षित तथा रामचन्द्र हैं।

याज्ञवल्क्य-स्मृति—वस्तुत इस स्मृति के रचयिता याज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद के

द्रष्टा अथवा वृहदारण्यक उपनिषद् के ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य नही हैं। वह मूल याज्ञवल्क्य की शिष्य परम्परा मे कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति है, क्योकि वैदिक याज्ञवल्क्य और स्मृतिकार याज्ञवल्क्य मे हजारो वर्षों का अन्तर है। यह स्मृति १००० श्लोको और तीन अध्यायो मे विभक्त है—आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय और प्रायश्चिताध्याय। इस स्मृति के कानूनो को मनु से अधिक मान्यता मिली है। इस स्मृति की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे विधवा को दायभाग की अधिकारी माना गया है। इस स्मृति का रचना काल १०० से ३०० ई० के मध्य है। इसके अनेक टीकाकार हुए जिनमे विज्ञानेश्वर प्रथम हैं। इन्ही की ठीका का नाम 'मिताक्षरा' है, जिसे आजकल भी न्यायालय मे विशेषता दी जाती है। इसी के आधार पर हिन्दू-कानून व्यवहृत होता है। ज्ञानेश्वर ने अपने पूर्व के टीकाकार विश्वरूप की 'बालक्रीडा' नामक टीका से सहायता ली। अन्य टीकाकार हैं—अपरार्क, कुलमणि, देवबोध, धर्मेश्वर, रघुनाथ भट्ट, शूलपाणि तथा मित्रमिश्रा। इनमे अपरार्क का ग्रन्थ मिताक्षरा से बहुत बडा है। पुराणो के धर्म सम्बन्धी अशो का भी इसमे उद्धरण है। इनके अतिरिक्त अन्य स्मृतिया मध्य-कालीन हैं और उनमे समय-समय पर हेर-फेर होते रहे; अत उनसे केवल उन कालो की सामाजिक व्यवस्था ही जानी जा सकती है।

वानप्रस्थ स्मृति और सूत्र-काल

स्मृति और सूत्र-काल मे वानप्रस्थी जीवन—स्मृति और सूत्र-काल मे वानप्रस्थ जीवन रामायण और महाभारत काल की अपेक्षा कठोर कर दिया गया। विविध प्रकार के यज्ञो को वानप्रस्थी जीवन मे प्रतिष्ठा मिली। मनु ने वानप्रस्थी मुनियो को गृहस्थी लोगो से भिक्षा माँगने की सुविधा तो दी, परन्तु ऐसा भिक्षा-भार आठ ग्रास से अधिक नही रक्खा। वनवासी अपना बनाया नमक भी खा सकता था। वानप्रस्थी सुख का कोई भी साधन नही जुटा सकता था। उसे वृक्ष की जड को ही अपना स्थान बनाकर भूमि पर सोना चाहिए। एक बार भोजन करना चाहिए।* इसके पश्चात् धीरे-धीरे भोजन छोडनेका विधान प्रचलित हुआ। वानप्रस्थी मुनियो के लिए पहिले जो आश्रम मे रहने की सुविधा थी, वह धीरे-धारे शून्य हो गई। पहिले ऋषि अपने शिष्यो के साथ अपने आश्रम मनोरम पर्वतो और रमणीक वनो तथा नदियो के तटो पर बनाते थे। उनके जीवन में जो प्रकृति प्रदत्त सौरभ वृद्धि थी, वह परवर्ती-काल मे लुप्त-प्रायः हो गई। ऐसी स्थिति मे मुनी-जीवन का स्तर पहिले जैसा ऊँचा न रहा और मुनि-जीवन का उद्देश्य एक-मात्र तप होकर रहा। साधारण सामाजिक व्यक्ति का उनसे सम्पर्क कम होता गया। यह सत्य है कि प्राचीन युग मे भी घोर तपस्या करने वाले मुनि थे, किन्तु वे मुनि आश्रमवासी थे और उसी सभ्यता के निर्माण मे उनका योग रहा।

राजाओ के द्वारा तपस्वियो के लिए तपोवन बनाने का विधान मिलता है। यह तपोवन लगभग १ मील लम्बे-चौडे होते थे। इन तपोवनो का समुचित सरक्षण होता था, जिससे वह पशुओ द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते थे।

---

*मनुस्मृति ६।१२, ६।२६।६।१९-३१ आदि।

भारतीय राजदर्शन और चीनी राजदर्शन

भारतीय राज्यदर्शन का इतिहास सभवत सबसे अधिक पुराना है । यूनान मे नगर-राज्यो की स्थापना तो ईसा के जन्म के सात सौ वर्ष पूर्व हुई थी, लेकिन भारत मे नगरराज्य इसके बहुत पहले स्थापित हो चुके थे। सर्वप्रथम ऐत्तरेय ब्राह्मण मे भारतीय गणराज्यो का जिक्र मिलता है । उससे प्रतीत होता है कि आर्यावर्त मे उत्तर, पश्चिम और दक्षिण मे गणराज्य थे । पाणिनी की अष्टाध्यायी के गणपाठ मे पश्चिमोत्तर तथा उत्तर-पूर्व के अनेक गणराज्यो के नाम मिलते हैं । महाभारत में भी अनेक गणराज्यो के नाम दिये गये हैं । जैन तथा बौद्ध साहित्य तो गणराज्यो के नामो से भरे पडे हैं । इन सबसे विदित है कि भारत मे गणराज्यो की स्थापना का इतिहास २००८ शती ईसा पूर्व से भी अधिक पुराना है । गणतन्त्र राज्यो की यह प्रणाली ईसा के पश्चात् पाचवी शती तक बनी रही । यूनान नगर-राज्यो को एक साम्राज्य मे देखने की कल्पना करता ही रह गया, लेकिन भारत मे नगर-राज्यो का विकास अपनी सीमाओ को लाघता हुआ साम्राज्यो तक पहुँच गया । ई० सन् पूर्व चार वर्ष पहले यूनान के नगर-राज्य जब परस्पर लडते हुए अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे, तब भारत मे गगा-यमुना की घाटी मे सभवत. ससार का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित हो चुका था और द्रुत गति से भारतीय इतिहास के स्वर्ण-काल की ओर चरण रखता चला जा रहा था ।

भारत ने राजदर्शन के विकास मे सक्रिय भाग लिया । भौगोलिक दृष्टि से भारत इतना विस्तृत और समृद्ध देश है कि इसमे बाहर से आने वाली अनेक जातियाँ आकर बस सकी और अपना बौद्धिक विकास कर सकी । यह सत्य है कि भारत मे कोई साम्राज्य बहुत अधिक दिनो तक स्थिर नही रह सका, लेकिन यह बात तो यूरोप के बारे मे भी लागू होती है ।

हिन्दू राजदर्शन के इतिहास की सबसे बडी विशेषता सभवत यह है कि उसमे समन्वय, सामजस्य एव अनुपात पर सबसे अधिक बल दिया गया । सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखना और इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि का रखना भी भारतीय साम्राज्य के शासको की विशेषता थी । धर्म को ऊँचा माना गया है, लेकिन उसे जीवन के व्यक्तिगत पक्ष तक ही सीमित रखा गया । पर-धर्मावलबियो की हत्या करना भारतीय राजदर्शन के इतिहास मे अभूतपूर्व है । पुरोहितो को और ऋषियो को राज्य सर्वाधिक मान देता

था, लेकिन वे धर्म के नाम पर शासक के दैनिक राज्य-कार्य मे कभी भी हस्तक्षेप नही किया करते थे । मैकियावली की भाँति शासक और शासितो के लिये भारतीय धर्म-प्रवक्ताओ ने आचार और नैतिकता के दो धरातल कभी निर्धारित नही किये ।

भारतीय या हिन्दू विचारक, मानव स्वभाव की दुर्बलताओ को समझते थे । वे इन निर्बलताओ पर सयम और अनुशासन से विजय प्राप्त करने के प्रबल पक्षपाती थे। वे राज्य का और राजा का यह कर्तव्य यह मानते थे कि वह मानव-स्वभाव की दुर्बलताओ के शमन एव दमन की व्यवस्था करता हुआ व्यक्ति को उच्चतर मानवीय मस्तिष्क की अभिव्यक्तियो की ओर लेता चले । शमन कार्य के लिये भी उन्होने वल-प्रयोग के औचित्य को ही सिद्ध किया है । शठ व्यक्ति को अधिक शठता करके ही दवाया जा सकता है—यह सिद्धान्त भी उन्होने अनेको बार निर्धारित किया । इसमे उनकी व्यावहारिक दृष्टि परिलक्षित होती है ।

इतना होते हुए भी राजा को विधियो, नैतिक एव आचारशास्त्र की परम्पराओ एव प्रथाओ से मुक्त नही किया गया । भारतीय राजदर्शन मे ऐसे उदाहरण हैं जहाँ जन-हित की अवहेलना करने वाले तथा सामाजिक रीतियो और नीतियो का निरादर करने वाले राजाओ को भी हटा दिया गया है । राजा के विरुद्ध क्राति करने का अधिकार प्रजा को दिया गया था । 'शुक्र' नीति मे हमे उन सब नियमो का उल्लेख मिलता है जो राजाओ को प्रजा के ऊपर शासन करते समय पालन करने पडते थे ।

राजा की शक्तियाँ अपरिमित थी । इसकी कल्पना इसी वात से की जा सकती है कि राजा का शब्द ही कानून या विधि माना जाता था , न्याय के मामलो मे उसका फैसला अतिम होता था । सारे राज्य-कार्य को तथा प्रशासन को उचित ढग से चलाने का उत्तरदायित्व राजा पर ही हुआ करता था । लेकिन हिन्दू राजा अपने पद-भार को वडा गुरुत्तर मानते थे और साथ ही उसके खतरो से भी परिचित थे । यही कारण है कि वे प्रजा के प्रतिनिधियो से बरावर सलाह लेते रहते थे । हिन्दू विचारको ने निरकुश एव स्वच्छन्द राजा के स्थान पर सयमित तथा सीमित राजशक्ति की कल्पना की थी । प्राचीन गणराज्यो की शासन-प्रणाली से जिसमे राजा, उसका मन्त्रिमडल, जनपद, मतदान तथा गभीर विचार के द्वारा ही अपनी प्रजा पर राज करते थे, यह बात एकदम स्पष्ट हैं । प्रजातन्त्रवादी समानता और वधुत्व के जिस सिद्धात का नारा १७वी शताब्दी मे फ्रांस की राज्यक्रान्ति के दौरान मे लगाया गया—वह समानता और बधुत्व का सिद्धान्त बुद्ध की शिक्षाओ के कारण पांचवी शताब्दी में भारत में तथा इसके बाद भारत द्वारा विश्व भर मे सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त कर चुका था ।

हिन्दू राजदर्शन की एक विशेषता यह भी थी कि उसने 'शातिवाद' का समर्थन किया । आचार-नीति ने हिंसा को बुरा वतलाया और वल-प्रयोग को अच्छा नही माना और इसी की स्वाभाविक उपसिद्धि के रूप मे सेनादि को भी कम महत्व दिया, लेकिन कभी-कभी राजा को सैन्य-वल प्रयोग की भी निश्चित सलाह दी गयी । हर स्थिति का सामना करने के लिये तैयार रहने की शिक्षा भी राजा को दी गयी । राजा के लिए

कूटनीति और शठता का औचित्य भी सिद्ध किया गया । चाणक्य की शिक्षाएँ इस सबंध मे उल्लेखनीय है ।

चीन का राजदर्शन—हिन्दू राजदर्शन के विकास के साथ ही साथ लगभग उसी गति एव बल से चीन मे भी राजदर्शन का उत्थान हुआ है। चीन तथा भारत के हिन्दू-राजदर्शनो मे अन्य पौर्वात्य देशो के राजदर्शनो की तुलना मे कही अधिक समानता है। भौगोलिक दृष्टि से चीन का भू विस्तार भारत से भी अधिक तथा जनसख्या भी भारत से अधिक रही है। चीन की बृहत् सीमाओ पर लुटेरो के बराबर आक्रमण होते रहे और उनमे से कुछ तो चीन मे आकर बस भी गये, लेकिन चीन पर कोई विदेशी शक्ति लम्बे समय तक अपना आधिपत्य नही रख सकी। आन्तरिक अशान्ति और ऊहापोह से चीन मुक्त रहा। केन्द्रीय साम्राज्य सत्ता तो रही किन्तु वह इतनी सशक्त कभी नहीं हो सकी कि स्थानीय स्वतन्त्रताओ का अपहरण कर ले या विचारो की भिन्नता का दमन कर दे। यही कारण है कि विभिन्न विचारो के उदगाम्न ने वहाँ की संस्कृति को कल्पनातीत रीति से समृद्ध बनाया है। विचार-स्वातन्त्र्य और सहिष्णुता चीन के राजदर्शन की विशेषता रही है। वहाँ की सामाजिक स्थिति मे वृद्धो को सर्वत्र मान्य माना गया है जिसके परिणामस्वरूप अनुभवी विचारको के विचार—वे चाहे जिस विषय पर हो, सदैव आदरपूर्ण ढग से देखे जाते रहे हैं। इस भावना ने चीन के राजदर्शन के इतिहास को जीवित बनाये रखने में बडी सहायता प्रदान की है । चीन के विचार-दर्शन का स्वर्ण-काल ईसा के जन्म से १वी और ३सरी शताब्दी के बीच का है। वहाँ के सबसे अधिक प्रसिद्ध और ख्यातिलब्ध विचारको मे कनफ्यूशियस, मेनशीयस, मोह-ती और स-ओ-त्से आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मानव-प्रकृति के सबंध मे विचार—चीन के दार्शनिको के विचार मानव प्रकृति या स्वभाव के सबंध मे भी बडे ही सुलझे हुए हैं। जहा वे एक ओर मानव-स्वभाव की उच्चता तथा उन्नति की आकाक्षा से परिचित थे—वही वे यह भी जानते थे कि प्रकृतित मनुष्य की बुद्धि सयम और अनुशासन के अभाव मे उर्ध्वगामिनी भी हो सकती है। वे यह जानते थे कि प्राचीन शासको ने आचार-शास्त्र, नैतिक-शास्त्र एव विधि-सहिता आदि की रचना मानव-प्रकृति की दुर्बलताओ के उन्मूलन के लिये ही की। यह विचार सुन त्से का था, लेकिन मेनशीयस कहा करता था कि "मनुष्य भली बातो की तरफ ठीक उसी प्रकार बढता है, जिस प्रकार ढाल की ओर।" मेनशीयस की यह उक्ति मानव-स्वभाव की सहज शुभ-बुद्धि की ओर इगित करती है।

मोहती ने ई० पू० सन् ५०० से ४२० तक सार्वभौमिक बधुत्त्व के धर्म को नि सृत किया था।

मेनशीयस ने राज्य में सबसे अधिक महत्व प्रजा की ओर इसके बाद धर्म को तथा सबसे कम महत्व राजा को दिया था। मेनशीयस समाजवादी एकता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्त्तक था। उसका कहना था, सब मनुष्य समान हैं और राजा का धर्म है कि वह अपने सगीत, पार्क तथा आमोद-प्रमोद की सुविधाओ का जनता के साथ

मिलकर उपभोग करे। यह सिद्धान्त प्रजा की शक्तिमत्ता और आधुनिक लोक सप्रभुता की ओर सकेत करता है। पच-परमात्मा का यह सिद्धान्त चीन मे भी प्रचलित रहा है। 'जनता-जनार्दन की इच्छा ही ईश्वर की इच्छा है'—यह सिद्धान्त चीन मे युगानुयुग से माना जाता रहा है।

चीन में भी भारत की भाति राजा को दण्डित करने की प्रथा प्रचलित थी। वहा धर्म-पुरोहित अस्थायी रूप से राजा को नजरबन्दी में भी बुराइयो के सुधरने तक रख सकता था।

युद्ध को चीन के विचारको ने बर्बर सभ्यता का प्रतीक बतलाया है। युद्ध-कला तथा सामरिक कुशलता को चीन के इतिहास मे बहुत अच्छी दृष्टि से नही देखा गया है। इसका पाश्चात्य शक्तियो ने तथा पडोसी जापान ने अनुचित लाभ भी उठाया है। लेकिन आधुनिक काल मे चीन की रणकौशल विद्या ने बड़ी उन्नति की है और वहा एशिया के अच्छे सेनापतियो ने जन्म लिया है।

चीन के राजदर्शन का निष्कर्ष उसकी मौलिक उदारता तथा प्रगतिशीलता मे निहित है।

भारत में शक सभ्यता का विकास

भारतीय सभ्यता के विकास मे 'शक-सभ्यता' का भी अपना विशेष स्थान है । इसी शक जाति ने भारत मे आकर, कुषाण-पल्लव आदि नाम रखे और कुछ दिनो तक अपनी संस्कृति को पृथक् रख कर, भारतीय संस्कृति मे घुल-मिल ही नही गये, अपितु भारतीय संस्कृति को इन्होने यथा-शक्ति सभी दृष्टियो मे विकसित किया ।

शक संस्कृति का उद्गम और विकास

शक- जाति का मूल-स्थान मध्य एशिया का सडवाग था । जहां पर इनके भाषा-भाषी यूचियो ने, उन्हे भगाकर अपना कब्जा कर रखा था । अत इन्ही यूचियो पर १७४ ई०पू० चीन से पराजित होकर शको ने आक्रमण किया । उस समय शक लोग ग्रीक वाख्त्रियो के पास सीस्तान मे जमे हुये थे । यूनानी मिथ्रदात (द्वितीय) ईरानी के सेनापति मोने पल्लव ने १२४ ई० पू० मे १७५ ई० पू० तक लगातार आक्रमण किये । फलत शको को अपने सीस्तान को छोडकर, सिन्ध और विलोचिस्तान की ओर भागना पडा । अत इन्होने सिन्ध को जीत कर, सौराष्ट्र, अवन्ती और मथुरा तक अपना नया राज्य स्थापित कर लिया तथा 'क्षहरात-वशी' अपने नेता **मोग** के नेतृत्व मे ७७ ई० पू० के आस-पास गाधार और कपिशा को भी विजय कर लिया । उस समय वाख्त्रिया पर यूची लोगो का शासन जम चुका था और इन्होने **वामियान** को अपनी राजधानी बना रखा था । अधिकाश विद्वान् यूचियो को भी शको का कबीला ही मानते हैं । उसी आधार पर क्षहरात को ही केवल शक कबीला नही मानते, अपितु तुखारी, जिससे कुषाण-वश की उत्पत्ति हुई, वह भी शको का ही एक कबीला ही माना जाता है । इसी तुखार-शासन के कारण वाख्त्रिया का नाम भी तुखार पडा था । इनके अतिरिक्त पार्थिवो (पल्लवो) को भी शको का ही कबीला माना गया है ।

अस्तु, मोग ने, सिन्ध से उत्तर की ओर बढ़ कर, गाधार को अपनी राजधानी बनाया । उस समय के इसके सिक्को पर केवल "**राजा मोग**" लिखा रहता था, परन्तु पीछे "राजाधिराज महामोग" लिखा जाने लगा । मोग पजाब मे केवल झेलम तक ही बढ सका । इसके आगे मिनान्दर के पुत्र और पौत्र पजाब के कई भागो पर अब भी शासन कर रहे थे । इसके बाद, रावी से यमुना तक के भाग पर कुणीद्र, यौद्धेय तथा आर्जुनायन आदि लोगो के स्वतन्त्र गणराज्य थे । ६० ई० पू० के आस-पास मथुरा

तक शक बढ आये। सभवत सौराष्ट्र और अवन्ती की विजय के बाद, शको ने मथुरा को जीता। इसका महाक्षत्रप रजुवल राजुल था। अत राजा (मोग) के ५८ ई० पू० मर जाने के बाद इसने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया जो ४० ई० पू० के बाद तक शासन करता रहा। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी सोदास हुआ, जिसने १० ई० पू० के आस-पास तक शासन किया। वैसे मोग के बाद, शक, शासन छिन्न-भिन्न हो चुका था। मोग के सिक्को पर "वसीलेउस् मउग्रोस्" लिखा रहता था। जिस सिक्के पर मोग का नाम है, उस पर 'हर्मेयस' का नाम भी है। सभवत, वह ग्रीक-वाख्त्री का राजा हो और मोग के गाधार लेने पर दोनो मे कोई समझौता और मित्रता हो गई हो, जिसका यह परिणाम हो। अत मोग के मरने के बाद कपिशा और गाधार पर पल्लवो ने अपना अधिकार कर लिया। यह लोग ईरान के सासानी वंश के समय पर्याप्त शक्तिशाली हो गए थे। ईरान मे रहने के कारण ही यह लोग वहाँ की शासन-विधि से अच्छे परिचित हो गये थे और क्षत्रप-महाक्षत्रप के पदो तथा अधिकारो से भी परिचित हो चुके थे। अत मोग के मरने के बाद पश्चिमोत्तर भारत पर इन्होंने अपना पजा फैला दिया। भारत मे इनके अस्तित्व और राजवश का ज्ञान इनके सिक्को से ही हुआ है।

ईरान मे इन्होंने, २५६ ई० पू० से २२६ ई० तक शासन किया। इस बीच मे इनके राजाओ की सख्या २६ हो चुकी थी। इन्होन सेल्यूक (ग्रीक) राज्य का स्थान बड़े सघर्ष से लिया। ईसवी सन् के बाद इन्होने भारत के बहुत से राजवशो के साथ अपने विवाह सम्बन्ध किये और अन्त मे राजपूत बन कर भारत की प्राचीन क्षत्रिय जातियो मे घुल-मिल गये।

विवाह-सम्बन्धो के कारण ही पल्लव सातवाहनो के सम्बन्धी बने। इन सातवाहनो की एक शाखा (इक्ष्वाकु) धान्य कटक (जि० गन्तूर) मे शासन कर रही थी। इन्होने ई० पू० दूसरी-तीसरी सदी मे बिहार के श्रीपर्वत और दूसरे स्थानो पर बौद्ध-स्तूप बनवाये थे। इनके शिला-लेखो और मूर्तियो से ज्ञात होता है कि उज्जैन के शको के साथ इनके वैवाहिक सम्बन्ध थे। इन्ही के उत्तराधिकारी दक्षिण के पल्लव राजा थे, जिन्होंने ३री सदी मे काची मे अपना शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था। उनका यह राज्य बाद में ४ शताब्दियो तक कायम रहा और उसने भारतीय कला और साहित्य के विकास में वही भाग अदा किया जो उत्तर भारत मे गुप्तो ने किया। हिन्देशिया तथा कम्बोडिया की कला और सस्कृति मे मुख्य हाथ इन्ही का था। इनके सिक्को से ही इनके राजाओ का पता चला है। जिनमे मुख्य हैं—

बोनान और स्पलहोर ७ से १५ ई० तक, **स्पलरिश** १६ ई०, **अय** १७ ई० **आर्यलिस** १८ ई० तथा **गुदफर** २५ ई० । यह वशावली जो सिक्को के आधार पर कायम की गयी हैं, सदिग्ध है। वस्तुत यह नाम पारसियो के राजाओ के हैं, जो अपने सिक्को को यूनान और भारत मे ढलवाते थे। उदाहरणार्थ ७ से १५ ई० तक बनान या बोनान नामक १६ वें पार्थिव राजा का नाम है, जिसके भाई का नाम स्पलहोर

था। स्पलहोर के सिक्के के एक ओर लिखा रहता है—'वसीलेउस् वसीलेउन" और दूसरी ओर "महाराज भ्रातम ध्रमिग्रस स्पलहोरस ।" इससे यह ज्ञात होता है कि स्पलहोरस वोनान का भाई ही था । वोनान के सिक्को पर एक ओर तथ की ग्रीक लिपि मे "राजाओ का राजा वोनान" लिखना भी उसे सारे पार्थिव साम्राज्य का शासक सिद्ध करता है और उसके भाई स्पलहोर का केवल 'महाराज-भ्रातृ' लिखा जाना, उसे युवराज या राजकुमार सिद्ध करता है।

पल्लवो के सिक्के—भारतीय पल्लवो ने अपने सिक्को पर उसी प्रकार ग्रीक लिपि, देवताओ और पदवियो का अनुकरण किया, जैसा मोग ने किया था । इनके कुछ सिक्के चौकोर भी हैं, जिनमे एक ओर ग्रीक देवता हेरकल की मूर्ति और ग्रीक लेख होता है और दूसरी ओर ग्रीक देवी पल्लस की मूर्ति होती है। स्पलहोर के कुछ सिक्को पर, उसके पुत्र स्पलगदम का भी नाम 'प्राकृत-भाषा मे अकित मिलता है। स्पलहोर की तरह स्पलगदम को भी सिक्के पर ध्रमिग्रस अर्थात् धार्मिक लिखना, उसके बौद्ध मतावलम्वी होने का सूचक है। इन सिक्को पर 'प्राकृत भाषा' खरोष्ठी लिपि मे लिखी हुई है, जो कि भारत मे सम्राट अशोक के समय म ही प्रचलित थी।

पल्लवो का पश्चिमोत्तर भारत से सम्बन्ध और यूनानियो की नकल की प्रवृत्ति इतनी प्रबल थी कि उन्होने सौराष्ट्र और अवन्ति जैसे ब्राह्मी-लिपि के क्षेत्र मे भी पहुँच कर, ग्रीक लिपि का प्रयोग अपने सिक्को पर किया।

वोनान का दूसरा भाई स्पलहोर था, जो वोनान के बाद राजा बना था। इसके एक सिक्के मे अय का नाम भी मिलता है, जिससे मालूम होता है कि जिस तरह वोनान स्पलहोर, स्पलगदम, और वोनान से स्पलरिश का सम्बध था, उसी तरह का सम्बन्ध 'अय' से 'स्पलरिश' का रहा होगा । स्पलरिश के सिक्के पर त्रिशूलधारी राजा की खडी मूर्ति है। सिक्के के एक ओर ग्रीक अक्षरो मे राजा की उपाधि और स्पलरिश का नाम लिखा हुआ है। दूसरी ओर ग्रीक देवता 'जेडस' की सिंहासन पर बैठी मूर्ति तथा खरोष्ठी लिपि मे लेख है, जिसमे लिखा है—"महरजस महतस स्पलरिश ।" सभव है स्पलरिश वोनान के आधीन न रह कर स्वतत्र शासक बन गया हो । इस अकेले नाम वाले सिक्के के अतिरिक्त उसका दूसरा सिक्का भी मिलता है, जिसमे एक ओर ग्रीक लिपि मे 'स्पलरिश' का नाम खुदा रहता है और दूसरी ओर खरोष्ठी मे 'अय' का नाम अकित है। इन सिक्को मे एक ओर राजा घोडे पर सवार है और दूसरी ओर उसकी मूर्ति के साथ 'अय' का नाम रहता है। जिसका अर्थ है अय, इसके समय तक युवराज-मात्र था, जब अय स्वतत्र शासक बन गया, तब उसकी घुडसवार मूर्ति के साथ ग्रीक-लिपि मे उसकी राजोपाधि और नाम रहता है और दूसरी ओर किसी ग्रीक देवी-देवता की मूर्ति के साथ खरोष्ठी मे 'महरजस रजरजस महतस अयस" लिखा रहता है। किसी सिक्के पर एक ओर 'मोअ' का नाम और दूसरी ओर 'अय' का नाम भी उत्कीर्ण देखा जाता है । निस्सन्देह अय ने मोअ के सिक्के के एक ओर अपने नाम का ठप्पा लगवा दिया है।

'अय' के दस प्रकार के चादी के और कई प्रकार के तांबे के सिक्के मिले हैं । इन दोनों पर यूनानी देवी-देवताओ की प्रधानता पार्थियो के फिलहेल (यवन-पुत्र) के भाव को प्रकट करती है । कुछ और सिक्को के कारण अय का उत्तराधिकारी अयलिश बतलाया जाता है । जिससे एक नये पल्लव राजा द्वितीय 'अयस' का अनुमान होता है। इसके राज्यपाल अश्ववर्मा के सिक्के के एक ओर घोडे पर सवार हाथ मे चाबुक लिये राजा की मूर्ति तथा अन्य भद्दे यूनानी अक्षरो मे उपाधि के साथ 'अय' का नाम है और दूसरी ओर यूनानी देवी पल्लस की मूर्ति तथा खरोष्ठी लिपि में "इन्द्रवर्मपुत्रस अस्प वर्मस स्मतगस जयतस'" लिखा है । यूनानी शासन-काल मे प्रदेश के शासक को 'स्मते-गोस" कहते थे । सेल्यूक साम्राज्य में ६२ स्मतगोस थे । पल्लव सिक्को पर यह प्रथा देखने मे आती है कि उनके एक ओर उसका चित्र उपाधि सहित नाम होता था और दूसरी तरफ युवराज अथवा राज्यपाल का नाम अंकित होता था । किन्तु अब पल्लव पूरी तरह भारतीय बन चुके थे । उनके नाम इन्द्रवर्मा तक रखे जाने लगे थे । काला-न्तर मे दक्षिण के पल्लवो मे तो 'वर्मा' राजाओ की उपाधि ही हो गयी थी । यह अभी भी त्रिवाँकुर-कोचीन के राजाओ के साथ देखी जाती है ।

जिस अतिम पल्लव राजा को कुषाण कुजुल ने हराकर, अपने वश की स्था-पना की उसका नाम पकारे कहा जाता है । ईरानी पार्थिव-वश का २२वा राजा पकारे २७७ ई० के आसपास हुआ जिसका और अर्दवान चतुर्थ का सघर्ष रहा । इसके पहले पकारे प्रथम हुआ, जो अर्दवान(१६-४२ ई० का)ही दूसरा नाम या प्रतिद्वन्द्वी रहा होगा। प्रो० राखालदास बनर्जी का मत है कि गुन्दरफर नामक व्यक्ति कनिष्क और हविष्क के समय [७८-१५२ ई०] राज्य करता था । गुरफन्दर के सिक्को पर एक तरफ राजा की मूर्ति ग्रीक लिपि मे उपाधि सहित नाम तथा दूसरी तरफ 'पल्लस' या 'ज़ेउस' की मूर्ति खरोष्ठी मे 'महरजस रजतिरस देवव्रतस गुदफरस" लिखा होता है । बाद के सिक्को पर उसके भाई 'अथाग्नि' और भाई के पुत्र 'अवगद' के भी नाम हैं, जो युवराज या उसके छत्रप रहे । इसके अतिरिक्त **सनवर** तथा **पकुर** आदि पल्लव शासको के भी सिक्के मिले हैं ।

कुषाण (२५-४२५ ई०)—भारत मे पल्लव-वश का उच्छेद कुषाणो ने किया और पल्लवो की सस्कृति के भारत मे आर्य सस्कृति से घुलमिल जाने के बाद, कुषाण अपनी नयी सस्कृति लेकर आये ।

कुषाण-सस्कृति के संस्थापक—कुषाण-सस्कृति के संस्थापक भी कबीले ही थे। वे वस्तुत शक लोगो की वंशवेलि के ही थे । भारत आने से पहिले पाच शक कबीले, गाधार और कपिसा के उत्तर के पहाडो मे रहते थे । इनमे कुषाण कबीला अपने सर-दार कुजुल के नेतृत्व मे भारत की ओर बढा । भारत आकर यह भी अपनी संस्कृति के अस्तित्व को पृथक न रखकर, भारतीय सभ्यता के रग मे ही रग गया । फिर कुषाण-सस्कृति के सस्थापको मे **कुजुल, कदफिस, विमकदफिस, कनिष्क, वशिष्क, कनिष्क (द्वितीय) हुविष्क, वासुदेव और पिरो** मुख्य हुए ।

कुजुल (२५ ई० से ५० ई० तक)—कुजुल के भारत आने के समय कपिसा (कावुल) मे ग्रीक राजा 'हरमेयस' का शासन था जो पल्लवो के निर्बल होने के समय स्वतत्र शासक बन बैठा था। बाद मे 'कुजलकदाफिस' ने इसे हराकर अपना क्षत्रप बना लिया। सभवत इसीलिये दोनो के सिक्को पर एक दूसरे के नाम है। 'हरमेयस' के सिक्के पर उसके नाम के साथ कुजुल का नाम है और कुजुल के सिक्के पर ग्रीक अक्षरो मे, 'वसिलेउस, कुषानो कोजोली कदफिजोयुम' लिखा रहता है। उस तरफ हरमेयस का आधा शरीर भी अकित है। दूसरी तरफ ग्रीक देवता 'हेरकेल' की आकृति है तथा खरोष्ठी लिपि में "कुजुल कसम कुषाण यवगस ध्रमठिदस" लिखा रहता है। यह भी सभव है कि ग्रीक राजा हरमेयस का कुजुल क्षत्रप यवगू हो। यह मध्य एशिया के तुर्क राजकुमारो या सूवेदारो की भी उपाधि थी। परन्तु यह निश्चित है कि यह व्यक्ति कुषाण-वशी था। 'ध्रमठिदस' पाली 'धम्मिय' का ही प्रयोग है जो बौद्ध राजा अपने लिये प्रयोग करते थे। ईसा की प्रथम शताब्दी मे बौद्ध-धर्म और भारतीय लिपि का प्रचार मध्य एशिया के लगभग सभी भागो मे हो गया था। इसका कारण यह था कि समस्त मध्य एशिया मे भारतीय लोग पर्याप्त सख्या मे जाकर बस चुके थे। एक प्रकार से मध्य एशिया से पजाब तक आर्य भाषा-भाषी लोग ही रहते थे। इसीलिये वहाँ के लोग भी अपने नाम भारतीयो के नामो जैसे ही रखने लगे थे। इसीलिये कुषाणो के यवगू का बौद्ध होना भी आश्चर्य की बात नही।

अस्तु, कुजुल के बाद के सिक्को पर से हरमेयस के नाम का लोप हो जाता है और उसके स्थान पर शिरस्त्राण पहिने राजा का सिर या दूसरे सकेत के साथ ग्रीक भाषा और लिपि मे कुजुल का नाम लिखा मिलता है तथा बैठे हुए राजा का चित्र, ऊँट या देवता आदि के चित्र के साथ "कुषाण यवगुस ध्रमठिदस" या "महरजस महतस कुषाण" के साथ "कुजुल कुश महरयस रजतिरजस यवगुस ध्रमठिदस" लिखा मिलता है। अत. इस व्यक्ति का जीवन अपने कुल और शासन को स्थापित करने मे ही व्यतीत हुआ।

विम कदाफिस (५०-७८ ई०)—इस व्यक्ति के नाम के कई उच्चारण है, जिन मे विमके ओयम मुख्य हैं। चीनी इतिहासकार इसे ही सर्वप्रथम भारत मे गया मानते है। अर्थात् इसी ने अपने राज्य को गान्धार से भारत की ओर बढाया था। बिहार से ख्वारेज्म तक फैले हुए कनिष्क के विशाल भारतीय राज्य के विस्तार में इसी विम का हाथ था। विम के शासन की एक महत्वपूर्ण घटना यह है कि इसी ने सबसे पहिले सोने का सिक्का चलाया था। यह रोमन सिक्के के आधार पर १२० ग्रेन का था। उस समय भारत का व्यापार रोम, अफ्रीका, चीन, जापान तथा हिन्देशिया के द्वीपो के साथ बहुत होता था। यह व्यापारी लोग अधिकतर माल के बदले माल लाते थे।

सिक्को मे परिवर्तन—कुषाण विम के समय ही कुषाण-कालीन सिक्को की आकृति और भाषा मे भी अन्तर आया। यह अन्तर ही यह स्पष्ट करता है कि कुषाण वस्तुतः बहुत पहिले ही भारतीय सस्कृति को अपना चुके थे, क्योंकि विम के सिक्को

पर यूनानी देवता की मूर्ति न होकर, भारतीय देवता 'शिव' की मूर्ति है। किसी-किसी पर राजा के नाम के साथ 'महिश्वर' भी लिखा मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह बौद्ध मतावलम्बी न होकर "शैव" था। इसके सिक्को पर एक ओर मुकुट शिरस्त्राण-धारी राजा, हाथ मे गदा और शूल लिये खड़ा है। ग्रीक लिपि मे "बसिलेउस विमक-दफिसस" उत्कीर्ण है और दूसरी ओर "महरजस राजाधिरजस सर्व लोग इश्वरस महिश्वरस विमकदफिसस" लिखा है। इसके दूसरे तांबे के सिक्को पर, लम्बी टोपी और लम्बा लवादा पहिने राजा खड़ा हुआ है। उसके दाहिनी ओर यज्ञ-कुण्ड है। राजा के बायें हाथ मे परशु है। इस तरफ ग्रीक लिपि मे "वसिलेउस वसिलेउन सेतरमेगस विमकदफिस" लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर नन्दी के साथ त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति के साथ खरोष्ठी लिपि मे लिखा रहता है, "ईश्वरस महीश्वरस विमकदफिसस"। अत यह सिद्ध हो जाता है कि तरिम उपत्यका (तुपार-देश) सभवत ईसा से भी पहिले हिन्दू धर्मावलम्बी था।

कनिष्क—(७८-१०६ ई०)—इसी विम का उत्तराधिकारी भारत ही नही, अपितु एशिया भर का महान् सम्राट् कनिष्क हुआ। कनिष्क के राज्यभिषेक के समय से ही उस प्रसिद्ध सन् का प्रारम्भ होता है, जिसे आज 'शक-शालिवाहन सम्वत्" कहते हैं। शालीवाहन, सातवाहन का रूपातर है, जो एक समय आंध्र राजाओ की पदवी वन गया था। सातवाहनो और शको का सघर्ष भी रहा और परस्पर विवाह-सम्बन्ध भी रहा। सम्भवतः बाद मे इसीलिये शकशालिवाहन और शकसातवाहन दोनो परस्पर एक जैसा रूप लेकर बढे।

कनिष्क जहाँ सम्राट् अशोक की भांति उदार हृदय और धर्म-भीरु राजा था, वहाँ वह योद्धा और कुशल शासक भी था। वह भी बौद्ध मतावलम्बी था। सारनाथ मे उसके राज्य के तीसरे वर्ष (८१ ई०) का एक अभिलेख मिला है। जिससे जान पडता है कि गद्दी पर बैठने के तीसरे वर्ष ही वह सारे ही उत्तर भारत का सम्राट् बन गया था। ख्वारेज्म की मरुभूमि (कराकुम) से भी कनिष्क क समय के नगर मिले हैं और इसी कारण ईसा की प्रारभिक तीन शताब्दियो की सस्कृति को **'कुषाण-संस्कृति'** कहा जाता है। **अयस-कला, जिल्दिक और तोप्रक-कला** के ध्वसावशेष इसी काल के हैं। यहाँ से प्राप्त वस्तुओ मे कनिष्क के सिक्के भी हैं। रूसियो द्वारा १९४९ ई० की खुदाई से वहाँ तीसरी शताब्दी के महत्वपूर्ण भित्ति-चित्र भी मिले हैं। एक कमरे मे तो कुषाण कारीगरो के बनाये हुए इतने धनुष-बाण और हथियार मिले हैं, जिनके कारण उसे उस काल का शस्त्र-सग्रहालय कहा जा सकता है। इन पुराने कुषाण-कालीन खण्डहरो मे, सभव है उस समय के लेख भी मिलें, क्योकि उससे कुछ पीछे के चमडो पर लिखे बहुत से लेख खुदाई से मिल चुके हैं। यदि कनिष्क के मनो सिक्के हमारे उत्तर प्रदेश के जिले आजमगढ़ मे मिल जाते हैं तो कनिष्क के लेख पेशावर, रावलपिंडी, बहावलपुर रियासत, मथुरा, श्रावस्ती, सारनाथ और कौशाम्बी मे भी

मिले है । अत सम्भव है, कराकुम और किजलकुम की मरुभूमि भी कनिष्क के इतिहास के जानने मे और सहायक हो ।

कनिष्क के राज्य-काल का निर्णय उसके उत्तराधिकारियो के लेखो द्वारा ही किया गया है।

कनिष्क के लेख—कनिष्क के लेख अनेको स्थानो पर पाये गये है। परन्तु मथुरा और साची मे शक सम्वत २४ और २८ के जो दो अभिलेख मिले हैं, जिनमे कनिष्क के बजाय 'वसिष्क' का नाम है, जिसका अर्थ है कि १०२ और १०६ ई० मे कुषाणो का राजा वसिष्क था । इसके अतिरिक्त पेशावर के 'आरा' नामक स्थान से ११९ ई० का भी एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसमे वसिष्क पुत्र महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क के राज्य का ४१ वर्ष लिखा हुआ है । इसमे यह तो ज्ञात होता है कि कनिष्क ने ४१ वर्ष राज्य किया, किन्तु यह सिद्ध नही होता कि कनिष्क, वसिष्क का पुत्र था । इसके अतिरिक्त १०९ और १४२ ई० के हुविष्क के लेख भी मिले है । इससे ज्ञात होता है कि हुविष्क और वसिष्क, कनिष्क के क्षत्रप थे । अथवा वसिष्क और हुविष्क के मध्य कनिष्क नाम के किसी दूसरे व्यक्ति ने राज्य किया, क्योकि कनिष्क ने लगभग २३ साल तक राज्य किया था । उसका अंतिम वर्ष १०१ ई० था ।

चीन से युद्ध—कनिष्क का चीन के साथ भी युद्ध हुआ । अपने दूत द्वारा कनिष्क ने चीन से ब्याहने के लिये एक सुन्दर राजकन्या मागी थी । उस समय चीन मे हानवश का शासन था । चीन सम्राट् ने कनिष्क के दूत को जेल मे डाल दिया । इसी बिना पर चीन और कनिष्क का युद्ध छिड गया । पामीर और हिमालय के रास्तो से कनिष्क सेना लेकर गया, किन्तु हार गया । दूसरी बार कनिष्क ने पुन: हमला किया और चीन को पूर्णरूपेण परास्त कर, तरिम उपत्यका और उसके आसपास के चीन के करद राजाओ को अपने आधीन कर लिया । इस लडाई मे कनिष्क को चीनी सेना ही नही, उसके सहायक तुर्कों, वुसुनो, हूणो और खताइयो तक की सयुक्त शक्ति को परास्त करना पडा था । अत बधक के तौर पर कनिष्क चीन के कई राजकुमारो को पकड कर लाया और उन्हें कपिसा (कोहदामन) मे स्थान बनाया गया था, जिसे 'शे-लो-क बिहार' कहते थे । ह्वेन-चाँग ने अपनी भारत यात्रा मे ७वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे उसे दखा था । पूर्वी पजाब (जालधर) के इलाके मे उन्हे जागीर दी गयी थी, उसका नाम ही चीन-मुक्ति (चीन जिला) पड गया था । ह्वेन-चाँग के जीवन-चरित्र के लेखक हुई-ली ने लिखा है—"राजकुमारो ने बिहार बनवाकर, उसकी मरम्मत के लिये, इतना रुपया गाड कर रख दिया था कि उसे प्राप्त कर ह्वेन-चाग ने विहार की पुन मरम्मत करा दी थी ।

कनिष्क की राजधानी—कनिष्क की राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) थी । इसके पूर्व गाधार के इस नगर को किसी ने प्रधानता नहीं दी थी । गाधार की प्रसिद्ध नगरी और राजधानी तक्षशिला थी, जो कि वर्तमान मे पाकिस्तान मे रावलपिंडी जिले मे, कालासराय रेलवे स्टेशन के पास शाहजीदीढेरी के नाम से मौजूद है । गाधार का

प्राचीन देश काबुल से रावलपिंडी तक था। पुष्कलावती (चारसद्दा) को ग्रीक राजाओं ने कुछ समय तक अपनी राजधानी अवश्य बनाया था, किन्तु कनिष्क के समय पाटलिपुत्र का वैभव पुष्पपुर को मिल गया। इसका कारण यह था कि सिक्यांग की पूर्वी सीमा से लेकर, पार्थिव (ईरानी) सीमा तक का चीन का सारा रेशम-पथ कनिष्क के हाथ मे था। फरगाना और सोग्द के समरकन्द आदि व्यापारिक नगर भी उसके हाथ मे थे। सोग्द नदी के किनारे बसा हुआ वर्तमान कस्बा कुशानिया भी यही सिद्ध करता है कि कुषाणो ने इस भूमि को समृद्धशाली बनाने का प्रयत्न किया था। कश्मीर मे भी कनिष्क ने कनिष्कपुर नाम से एक नगर बसाया था, जिसका कल्हण ने 'राजतरंगिणी' मे उल्लेख किया है। तक्षशिला मे बसाया उसका नगर आज का 'सिरसुख' है।

व्यापार का विकास—कनिष्क ने हर संभव उपाय से व्यापार का विकास किया। भारत से ईरान और चीन तक कारवाँ माल ले जाते थे। पूर्वी देशो के साथ जलपोतो से व्यापार होता था। इनके अतिरिक्त प्रादेशिक व्यापार के लिये छोटी-बडी सभी प्रकार की नदियो का उपयोग किया जाता था। आजमगढ जिले मे मगई (मार्गवती) जो गाजीपुर जिले मे गगा मे जाकर मिलती है, इस छोटी-सी नदी के दाहिने किनारे पर स्थित शिसवापुर के ध्वसावशेष, जहाँ पर कनिष्क के सिक्के बहुत बडी संख्या मे मिले हैं, इस बात का प्रमाण है कि एक समय यह नगर अच्छा व्यापारिक केन्द्र था और कनिष्क शासन छोटी-छोटी नदियो तक का प्रयोग भी व्यापार के लिये करता था।

कनिष्क-काल की मूर्ति-कला—कनिष्क के राज्य काल मे व्यापार के अतिरिक्त मूर्तिकला को भी प्रोत्साहन मिला। 'बुद्धदेव' की प्रथम मूर्ति कनिष्क के समय ही बनी, जिसके चीवर के चुन्नट और केश-विन्यास पर ग्रीक प्रभाव स्पष्टदिखायी देता है। अत बाख्त्री ग्रीक-कला को गाधार भारतीय शैली मे परिणत करने का काम कनिष्क के शासन मे ही हुआ। ग्रीक और पल्लव शासन-काल से ही मथुरा क्षत्रपो की राजधानी चली आयी थी। तक्षशिला, पाटलिपुत्र और दक्षिण के व्यापार-पथ भी यहाँ आकर मिलते थे। साथ ही बुद्ध भगवान् स्वय मथुरा आकर रहे थे। अतः बौद्धो के 'सर्वास्तिवाद' सम्प्रदाय, जिसका कि कनिष्क अनुयायी था, प्रधान केन्द्र मथुरा ही था। इसी धार्मिक प्रसग को लेकर मथुरा कुषाण वास्तुकला और मूर्तिकला की अति समृद्ध नगरी बन गयी।

कनिष्क द्वारा बौद्ध-धर्म का विकास—बौद्ध-धर्म के विकास मे अशोक के बाद, कनिष्क का योग रहा। पाटलिपुत्र जीतने पर वह अपने साथ 'अश्वघोष' को ले गया। इसी व्यक्ति के लिखे हुए "बुद्धचरित" और "सौंदरनन्द" नामक दो महाकाव्य हैं। स्कृत मे 'बुद्धचरित' खण्डित मिलता है, किन्तु उसके चीनी और तिब्बती अनुवाद पूर्ण है। "सारिपुत्र प्रकरण" (नाटक) की भी खण्डित सस्कृत प्रति तरिम उपत्यका के रेगिस्तान से मिली है और उनके एक दूसरे नाटक "राष्ट्रपाल" का भी पता लगता है, यद्यपि न उसका मूल प्रति कही मिली है और न अनुवाद ही किसी भाषा में प्राप्त

हुआ है। जिस प्रकार मथुरा की कला के रूप मे गांधार-कला भारतीय रूप मे विकसित हुई, उसी प्रकार अश्वघोष के नाटको के रूप मे 'ग्रीक नाटको' का भी भारतीयकरण हुआ था।

कनिष्क की विद्वान् मण्डली मे, अश्वघोष से भी प्रमुख स्थान **पार्श्व वसुमित्र** का था। वसुमित्र की अध्यक्षता मे कनिष्क ने बौद्धो की एक बडी सगीति, बौद्ध पिटक के सशोधन और सग्रह के लिये बुलाई थी। यह सगीति कश्मीर उपत्यका (कुडलवन विहार) मे बैठी थी। जिसके प्रमुख पार्श्व और अश्वघोष थे। इसी समय सर्वस्तिवाद के अतिम रूप मूल सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक का पाठ-निर्णय और सग्रह हुआ था। मूल-सर्वस्तिवाद के विनय-पिटक का अनुवाद तिब्बती-सग्रह (कन्जर) मे मिलता है, चीनी भाषा का मूल तथा उसका भाष्य (विनय-विभाषा) भी प्राप्य है। विनयपिटक भारत के बुद्धकालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। उसके भाष्य के रूप मे बनी विनय—विभाषा तो और भी सामाजिक-जीवन पर प्रकाश डालती है। कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर को ही चौथी सदी मे वसुबध तथा उनके अग्रज **असग** को पैदा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह दोनो ही भाई प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक रहे हैं।

इसी समय ग्रीक और भारतीय विचारो के मिलन का सुन्दर समागम हुआ। कनिष्क के समकालीन आचार्यों मे आयुर्वेद शास्त्र के विधाता **चरक** भी हैं।

कनिष्क के सिक्के—कनिष्क के सिक्के बिहार से लेकर अरील सागर तक मिले हैं। कनिष्क के सिक्के के अग्रभाग पर लम्बा कोण, नुकीली टोपी, घुटनो तक का शको जैसा जता पहिने तथा भाला और अकुश लिये कनिष्क की मूर्ति अकित है, जिसपर ग्रीक लिपि और भाषा मे "वैसीलियोस वैसीलियोन शाओननो शाओ कनिष्को कुषाणो" लिखा रहता है। इसके पृष्ठभाग पर हेरकल, सेरापी आदि ग्रीक देवी-देवताओ अतशी (अग्नि) जैसे ईरानी देवताओ मित्र(सूर्य) जैसे देवताओ का बुद्ध की मूर्ति के साथ ग्रीक मे देवताओ के नाम अकित हैं। उसने अपने पहिले राजाओ का अनुकरण करके खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा को सिक्को पर स्थान नही दिया, ग्रीक भाषा और लिपि का ही प्रयोग किया, इसका कारण सभवत यूनानियो के साथ उसके व्यापार का विस्तार था।

वसिष्क—(१०१ ई० से १०६ ई० तक)

इस शासक के दो अभिलेख मथुरा और साची से मिले हैं। अल्पकाल तक शासन करने के कारण इसके सिक्के भी नही मिलते।

कनिष्क द्वितीय—कुषाण राजधानी से नातिदूर आरा गाव से प्राप्त ११६ ई० एक सिक्के के अनुसार इसका काल वसिष्क और हुविष्क के मध्य (१०६ ई०से १२० ई०) माना जाता है।

हुविष्क—(१२० ई० से १५२ ई० तक)

कनिष्क की भाँति यह भी शक्तिशाली सम्राट हुआ। इसका एक शिलालेख शक सम्वत् २८ (१०८ ई० का) गिरधरपुर जिला मथुरा के एक कुए से मिले खम्बे पर उत्कीर्ण है। यह कुआ ८४ जैन मन्दिर और गिरधरपुर के डिह के बीच मे पडता है। यह लेख मथुरा म्युजियम मे है। इस लेख में एक दान का उल्लेख है, जिसमे देवपुत्र शाही हुविष्क तथा जिनके वह प्रिय हैं, उनके पुण्य के लिये रुकमानपुत्र खरामलेरपति वकनपति ने ११०० पुराण (सिक्को) की अक्ष्यनिधि इसलिये स्थापित की कि प्रतिमास शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुण्यशाला मे १०० ब्राह्मणो को भोजन कराया जाय। इसने मथुरा मे एक बौद्ध-विहार और चैत्य भी बनवाया था। कश्मीर मे अपने नाम से नगर बसाया था जो हुष्कपुर, उष्कुर (जकूर)के नाम से मौजूद है। उसके अभिलेख १०६ से १३९ ई० तक के मिलते हैं।

इस शासक के तावे और चाँदी के सिक्के मिले है, जिनके अग्र भाग पर राजा का चित्र, ग्रीक, लिपि मे नाम और उपाधि अकित है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर भारतीय देवी-देवताओ की मूर्तिया अकित हैं। इसके एक सिक्के पर हाथी पर सवार, सर पर मुकुट धारण किये हाथ मे शूल लिये, देवपुत्र का चित्र है और पृष्ठ भाग पर किसी देवता की खडी मूर्ति है।

वासुदेव—(१५२ ई० से १८६ ई० तक)

वासुदेव के समय तक, शक पूर्णरूपेण भारतीय हो चुके थे। यह इस शुद्ध भारतीय नाम से ही स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इसके पूर्वाधिकारी हुविष्क के समय से भी पहिले यह बौद्ध धर्म छोडकर, शैव-धर्म ग्रहण कर चुके थे, क्योकि जहाँ पहिले शक-शासको के सिक्को पर बौद्ध-चित्र मिलते हैं, वहा हुविष्क के किसी सिक्के पर बुद्ध का चित्र नही मिलता। न ही इनके पूर्व स्थान ख्वारेज्म और सोग्द मे पूजित नाना देवी का चित्र मिला है। इसके विपरीत, शिव, विशाख आदि की मूर्तियाँ उसके सिक्को पर मिली हैं। सम्भवत हुविष्क के ब्राह्मण-धर्म ग्रहण करने के कारण ही इसके उत्तराधिकारी का नाम वासुदेव पडा

इस शासक ने लगभग २४ वर्ष तक राज्य किया। इसके लेख भी १५२ ई० से लेकर १७६ ई० तक के मिले हैं। इसके अधिकाश सिक्के पंजाब मे और लेख मथुरा जिले मे मिले हैं।

मध्यएशिया पर भारतीय कुषाणो का शासन तीसरी शताब्दी के अन्त तक रहा, जिसके नगरो के अवशेष तोप्रक-कला, थक्केपरसान और लघु कवात-कला के ध्वसावशेषो के रूप मे शताब्दियो तक किजिलकुम के बालू मे ढके रहकर, अब बाहर आये हैं। उस समय ग्रीक वाख्त्रिया, सोग्द और पामीर मे भी कुषाणो का शासन था। कुषाण अपने मूल स्थान के नाम से तुखारी भी कहे जाते थे। इस समय इनकी

उस भूमि का नाम 'तुखारिस्तान' है । अरब इतिहासकारो ने इसका यही नाम अपने ग्रन्थो मे लिखा है ।

भारत मे प्राप्त सिक्को से यह भी ज्ञात होता है कि वासुदेव और कनिष्क नाम के और भी कई शासक हुए है । अतिम कुषाण शासक किदार के नाम से पुकारे जाते थे । यह 'कुषाण-शाह' के नाम से सासानियो के अधीन थे । प्रधान कुषाण शाह की राजधानी पेशावर मे थी । इसने कश्मीर तथा पजाब को जीतकर अपने राज्य को बढाया था और सासानियो से स्वतत्र हो गया था । परन्तु इसके सिक्के सासानियो की नकलमात्र ही है । इनके एक ओर राजा की आधी मूर्ति और ब्राह्मी अक्षरो मे राजा का नाम खुदा हुआ है । इसकी पगडी मुकुट की भाति बँधी है । बाल बिखरे हुए हैं । मुख पर दाढी नही है । नाम 'किदार कुषाण' लिखा है । सिक्के के पृष्ठभाग पर, अग्नि-कुण्ड के दोनो ओर दो परिचारक खडे दिखाई देते हैं ।

कुषाणो का यह सबसे अतिम राजा था ; क्योकि देश मे गुप्तो की शक्ति बढ चली थी । अत इनके अवशिष्ट राजा पिरो को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ ई० मे हराया । हारकर वह अपने प्राचीन स्थान की ओर चला, परन्तु वहा शापूर से हारा । अत उसने ईरान के सासानियो की अधीनता स्वीकार करली ।

कनिष्क-काल मे भारतीय सभ्यता का विकास—भारतीय सभ्यता के विकास मे कनिष्क ने जीवन भर सहयोग दिया । यह सम्राट् प्राय सभी धर्मों के प्रति उदार था, किन्तु उसने अपना व्यक्तिगत धर्म, 'बौद्ध-धर्म' मान लिया । इसके सिक्को पर ग्रीक ईरानी और हिन्दू देवताओ की आकृतियाँ तथा उनके नाम ग्रीक भाषा मे खुदे मिलते हैं । अपने बौद्ध होने पर इसने बौद्ध सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिये ५०० बौद्धो की एक धर्म-सगीति बुलाई । इसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की । इनमे बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तो का स्पस्टीकरण किया गया और इन भाष्यो को ताम्रपत्र पर खुदवाकर एक स्तूप मे रख दिया गया ।

मूर्ति-कला का प्रारम्भ—कनिष्क-काल मे बौद्धो द्वारा मूर्ति-कला का प्रारम्भ हुआ और गुप्तकाल तक यह विश्व की श्रेष्ठ मूर्ति कला से भी आगे बढ गया । कनिष्क और गुप्तकाल के मध्यभारत की मूर्ति कला पर विशाल साहित्य का सृजन हुआ । इस का मुख्य कारण यह था कि भारतीय मूर्तिकला मनोरजनार्थ वासनामयी कला न होकर, धर्ममयी थी । अस्तु, कनिष्क के समय तक बौद्ध-लोग केवल बुद्धदेव के उपयोग मे आने वाली वस्तुओ की ही पूजा किया करते थे, उनकी मूर्ति का निर्माण नही हुआ था । परन्तु अब बुद्ध देव की मूर्तिया बनाना प्रारम्भ हो गया । अत मानवबुद्ध, मूर्ति रूप मे आने पर देव हो गये । इसका एक कारण यह भी था कि बुद्धाचार्य यह अनुभव कर रहे थे कि जनता-जर्नादन के लिए, हिन्दुओ की भाँति बौ देवता भी ऐसा होना चाहिए जिनके सामने वह अपना सुख-दु ख रो सकें । अत· हीनयानो के बौद्ध सिद्धान्तो के परिशीलन को महायानियो ने विस्तृत रूप दिया और बुद्ध की मूर्ति के साथ ही धार्मिक

हुविष्क—(१२० ई० से १५२ ई० तक)

कनिष्क की भाँति यह भी शक्तिशाली सम्राट हुआ। इसका एक शिलालेख शक सम्वत् २८ (१०८ ई० का) गिरधरपुर जिला मथुरा के एक कुए से मिले खम्बे पर उत्कीर्ण है। यह कुआ ८४ जैन मन्दिर और गिरधरपुर के डिह के बीच मे पडता है। यह लेख मथुरा म्युजियम मे है। इस लेख में एक दान का उल्लेख है, जिसमे देवपुत्र शाही हुविष्क तथा जिनके वह प्रिय है, उनके पुण्य के लिये रुकमानपुत्र खरासलेरपति वकनपति ने ११०० पुराण (सिक्को) की अक्ष्यनिधि इसलिये स्थापित की कि प्रतिमास शुक्ल चतुर्दशी के दिन पुण्यशाला मे १०० ब्राह्मणो को भोजन कराया जाय। इसने मथुरा मे एक बौद्ध-विहार और चैत्य भी बनवाया था। कश्मीर मे अपने नाम से नगर बसाया था जो हुष्कपुर, उष्कुर (जकूर)के नाम से मौजूद है। उसके अभिलेख १०६ से १३९ ई० तक के मिलते हैं।

इस शासक के तावे और चाँदी के सिक्के मिले है, जिनके अग्र भाग पर राजा का चित्र, ग्रीक, लिपि मे नाम और उपाधि अकित है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर भारतीय देवी-देवताओ की मूर्तिया अकित हैं। इसके एक सिक्के पर हाथी पर सवार, सर पर मुकुट धारण किये हाथ मे शूल लिये, देवपुत्र का चित्र है और पृष्ठ भाग पर किसी देवता की खडी मूर्ति है।

वासुदेव—(१५२ ई० से १८६ ई० तक)

वासुदेव के समय तक, शक पूर्णरूपेण भारतीय हो चुके थे। यह इस शुद्ध भारतीय नाम से ही स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त इसके पूर्वाधिकारी हुविष्क के समय से भी पहिले यह बौद्ध धर्म छोडकर, शैव-धर्म ग्रहण कर चुके थे, क्योकि जहाँ पहिले शक-शासको के सिक्को पर बौद्ध-चित्र मिलते हैं, वहा हुविष्क के किसी सिक्के पर बुद्ध का चित्र नही मिलता। न ही इनके पूर्व स्थान ख्वारेज्म और सोग्द में पूजित नाना देवी का चित्र मिला है। इसके विपरीत, शिव, विशाख आदि की मूर्तियाँ उसके सिक्को पर मिली हैं। सम्भवत हुविष्क के ब्राह्मण-धर्म ग्रहण करने के कारण ही इसके उत्तराधिकारी का नाम वासुदेव पडा

इस शासक ने लगभग २४ वर्ष तक राज्य किया। इसके लेख भी १५२ ई० से लेकर १७६ ई० तक के मिले हैं। इसके अधिकाश सिक्के पजाब मे और लेख मथुरा जिले मे मिले हैं।

मध्यएशिया पर भारतीय कुषाणो का शासन तीसरी शताब्दी के अन्त तक रहा, जिसके नगरो के अवशेष तोप्रक-कला, थक्केपरसान और लघु कवात-कला के ध्वसावशेषो के रूप मे शताब्दियो तक किजिलकुम के बालू मे ढके रहकर, अब बाहर आये हैं। उस समय ग्रीक वाख्त्रिया, सोग्द और पामीर मे भी कुषाणो का शासन था। कुषाण अपने मूल स्थान के नाम से तुखारी भी कहे जाते थे। इस समय इनकी

उस भूमि का नाम 'तुखारिस्तान' है। अरब इतिहासकारों ने इसका यही नाम अपने ग्रन्थों में लिखा है।

भारत में प्राप्त सिक्कों से यह भी ज्ञात होता है कि वासुदेव और कनिष्क नाम के और भी कई शासक हुए हैं। अंतिम कुषाण शासक किदार के नाम से पुकारे जाते थे। यह 'कुषाण-शाह' के नाम से सासानियों के अधीन थे। प्रधान कुषाण शाह की राजधानी पेशावर में थी। इसने कश्मीर तथा पंजाब को जीतकर अपने राज्य को बढ़ाया था और सासानियों से स्वतन्त्र हो गया था। परन्तु इसके सिक्के सासानियों की नकलमात्र ही हैं। इनके एक ओर राजा की आधी मूर्ति और ब्राह्मी अक्षरों में राजा का नाम खुदा हुआ है। इसकी पगड़ी मुकुट की भांति बँधी है। बाल बिखरे हुए हैं। मुख पर दाढ़ी नहीं है। नाम 'किदार कुषाण' लिखा है। सिक्के के पृष्ठभाग पर, अग्नि-कुण्ड के दोनों ओर दो परिचारक खड़े दिखाई देते हैं।

कुषाणों का यह सबसे अंतिम राजा था; क्योंकि देश में गुप्तों की शक्ति बढ़ चली थी। अतः इनके अवशिष्ट राजा पिरो को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ ई० में हराया। हारकर वह अपने प्राचीन स्थान की ओर चला, परन्तु वहाँ शापूर से हारा। अतः उसने ईरान के सासानियों की अधीनता स्वीकार करली।

कनिष्क-काल में भारतीय सभ्यता का विकास—भारतीय सभ्यता के विकास में कनिष्क ने जीवन भर सहयोग दिया। यह सम्राट् प्रायः सभी धर्मों के प्रति उदार था, किन्तु उसने अपना व्यक्तिगत धर्म, 'बौद्ध-धर्म' मान लिया। इसके सिक्कों पर ग्रीक ईरानी और हिन्दू देवताओं की आकृतियाँ तथा उनके नाम ग्रीक भाषा में खुदे मिलते हैं। अपने बौद्ध होने पर इसने बौद्ध सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये ५०० बौद्धों की एक धर्म-संगीति बुलाई। इसकी अध्यक्षता वसुमित्र ने की। इसमें बौद्ध-धर्म के मूल सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया और इन भाष्यों को ताम्रपत्र पर खुदवाकर एक स्तूप में रख दिया गया।

मूर्ति-कला का प्रारम्भ—कनिष्क-काल में बौद्धों द्वारा मूर्ति-कला का प्रारम्भ हुआ और गुप्तकाल तक यह विश्व की श्रेष्ठ मूर्ति कला से भी आगे बढ़ गया। कनिष्क और गुप्तकाल में मध्यभारत की मूर्ति कला पर विशाल साहित्य का सृजन हुआ। इस का मुख्य कारण यह था कि भारतीय मूर्तिकला मनोरञ्जनार्थ वासनात्मकी कला न होकर, धर्मनयी थी। अस्तु, कनिष्क के समय तक बौद्ध-लोग केवल बुद्धदेव के उपयोग में आने वाली वस्तुओं की ही पूजा किया करते थे, उनकी मूर्ति का निर्माण नहीं हुआ था। परन्तु अब बुद्ध देव की मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ हो गया। अतः मानवबुद्ध, मूर्ति रूप में आने पर देव हो गये। इसका एक कारण यह भी था कि बुद्धाचार्य यह अनुभव कर रहे थे कि जनता-जनार्दन के लिए हिन्दुओं की भाँति बौद्ध देवता भी ऐसा होना चाहिए जिसके सामने वह अपना सुख-दुःख रो सकें। अतः हीनयानों के बौद्ध सिद्धान्तों के परिशीलन को महायानियों ने विस्तृत रूप दिया और बुद्ध की मूर्ति के साथ ही धार्मिक

विधि-विधान तथा दन्तकथाओ (थेरी गाथाए आदि) के अतिरिक्त अनेको देवताओ—बुद्ध तथा बोधिसत्वो की कथाए भी गढी गयी।

कनिष्क-काल तक भारत मे मध्य एशिया से आये शक, यूची तथा ग्रीक सभी भारतीय संस्कृति के उपासक होकर उसके उन्नायक बन चुके थे । यूनानी सिक्को पर धर्मचक्र का चिन्ह और प्राकृत-भाषा का प्रयोग इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

शक महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात का नासिक मे एक गुहा लेख है, जिसमे लिखा है—"राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जमाता, दीनाक के पुत्र तीन लाख गायो का दान करने वाले वार्णासा नदी पर सोने का दान करने वाले तथा तीर्थ बनाने वाले, देवताओ और ब्राह्मणो को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे सात लाख ब्राह्मणो को खिलाने वाले धर्मात्मा उषवदात ने गोवर्धन मे अरश्मि पर्वत पर एक गुहा बनाई ।" इसके अतिरिक्त मथुरा के महाक्षत्रप सोडास के समय एक शक महिला ने जन-मूर्ति की स्थापना थी । कुषाण-वश के सस्थापक कुजुल ने (कनिष्क का बाबा) अपने सिक्को पर "सच क्रमथितस सत्यधर्म स्थि तस्य" पद लिखा मिला है । इसका उत्तराधिकारी 'वैमो' भी शैव था, वह सिक्को पर 'माहेश्वर' शब्द का प्रयोग करता था । कनिष्क और हुविष्क—दोनो बौद्ध रहे; किन्तु वासुदेव शैव हो गये ।

शुंग-काल में भारतीय सभ्यता का विकास

(१८५ से ७२ ई० पू० तक)

कला और साहित्य की दृष्टि से भारत का शुंग-काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुत इस काल मे राजनीतिक उलट-फेर भी काफी हुए। इस काल मे एक ओर 'ब्राह्मण-धर्म' पुन शक्तिशाली हुआ और दूसरी ओर अशोक के पश्चात् मौर्यवंश मे कोई शक्तिशाली राजा न होने के कारण, शक और कुषाण आदि जातियां पनपती रही। अत मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को सेना के सामने ही मार कर, सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने इस वंश की स्थापना की। इस शुंग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र के बारे मे इतिहासकारो मे विभिन्न मतभेद है। बाण ने अपने 'हर्षचरित्र' मे इसे दुष्ट और अनार्य लिखा है। * पाणिनि के एक सूत्र से यह ब्राह्मण वंशीय ज्ञात होता है। अस्तु हर्ष के समय मे ही यूनानियो ने आक्रमण किया। पतजलि ने अपने महाभाष्य मे लिखा है कि यवनो ने साकेत, और माध्यमिका (चित्तौड के निकट का नागरी नामक स्थान) को घेरा। 'गार्गी संहिता' के अनुसार साकेत मथुरा और पाचाल को पराजित करके यवन कुसुमध्वज पहुच गये, परन्तु वह टिक न सके, उन्हे वापस लौटना पडा। इसी घटना के संकेत हाथीगुफा अभिलेख मे भी है। अस्तु, इस राजा ने जीवन भर ब्राह्मणवाद को बढावा दिया। और कुछ बौद्ध-मठ भी बनवाये। इस वंश मे कुल १० राजा हुए। इन राजाओ के शासन-काल तक यूनानी भी बौद्ध और वैष्णव हो चुके थे, क्योंकि शुंग-वंश का ९वाँ राजा भागवत था। तब तक शुंग शक्तिशाली थे। इस शासक के शासन के १४वें वर्ष मे तक्षशिला के यवन राजा अतिलिक्दिस (Antial Kidas) के राजदूत दियन के पुत्र हेलियाडोरस ने विदिशा मे विष्णु के नाम पर ११३ ई० पू० एक स्तम्भ खडा कराया था। इस वंश का १०वा राजा देवभूति था। विष्णु-पुराण मे लिखा है कि इसे वासुदेव नामक मंत्री ने मारकर राज्य पर कब्जा कर लिया। हर्षचरित्र मे राजा के मारने की विधि का भी वर्णन है। अत इस वंश का शासन ११२ वर्ष रहा, पश्चात् वासुदेव ने नये वंश की स्थापना की।

कण्डव-वंश—(७२ ई० पू० से २८ ई० पू० तक)

इस ब्राह्मण शासक के समय तक उत्तरापथ विदेशियो के हाथ मे आ चुका था। इस वंश मे कुल चार राजा हुए और लगभग ४५ वर्ष इनका शासन रहा और इस समय मे इन्होंने वैदिक-धर्म की यथोचित उन्नति की। परन्तु २८ ई० पू० आन्ध्र राजा सिमुक ने इस वंश के अन्तिम राजा को समाप्त कर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया

---

* हर्ष पृष्ट ९८ निर्णय-सागर संस्करण।

सातवाहन-राज्य—आन्ध्रवंशी इस सातवाहन-राज्य का उल्लेख 'ऐतरेय-ब्राह्मण' मे आया है। दक्षिण मे आर्यों के बसने का वर्णन हम पहिले ही कर चुके हैं। मेगस्थनीज और प्लीनी ने इन्हे विन्दुसार के समय तक मौर्यों के आधीन बताया है; परन्तु सैनिक दृष्टि से यह अत्यन्त शक्तिशाली थे। अत अशोक के पश्चात् अपनी राजधानी श्रीककुलम से यह बाहर निकले और महाराष्ट्र तक फैल गये। अन्त मे अपने राज्य की राजधानी इन्होने प्रतिष्ठान—पठन को बनाया और इधर आकर सातवाहन (जिनका वाहन सिंह है) कहे जाने लगे। २८ ई० पू० सिमुक ने मगध-राज्य पर अधिकार किया। इस वश मे सिमुक के अतिरिक्त कान्ह अथवा कृष्ण और सातकर्णी प्रसिद्ध राजा हुए। इसके पश्चात् इसके दो पुत्र—शक्ति और वेदश्री के समय जब उनकी विधवा मा सरक्षिका थी, शको ने दूसरा आक्रमण किया (ई० पू० ७८ के लगभग) और महाराष्ट्र मे आकर अपने एक नये वश 'क्षहरात' की स्थापना की। अत क्षहरातो और शको मे सघर्ष चलता रहा। परन्तु साथ ही साहित्य का विकास भी चलता रहा।

साहित्य-सृजन—इस वश मे शातकर्णी और गौतमीपुत्र शातकर्णी के बीच 'हाल' नामक एक राजा हुआ। यह भाषा प्राकृतिक भाषा का अत्यन्त प्रख्यात कवि था। इसका लिखा हुआ ग्रन्थ "गाथा सप्तशती" है, जिसमें सात सौ पद हैं। यह **शृंगार-रस** का मुक्त काव्य है। इसकी सभा मे विद्वानो का बाहुल्य था। इसके दरबारी "वृहत्कथा" के लेखक गुणाढ्य थे। दूसरे सस्कृत व्याकरण 'कातम' के लेखक सर्ववर्मन जैसे विद्वान थे। इसी समय महर्षि पतजलि ने 'महाभाष्य' बनाया। यह गोडा के निवासी थे और पुष्यमित्र शुंग के पुरोहित थे। कथा साहित्य मे 'पचतत्र' भी इसी काल की रचना है। वाल्मीकि रामायण मे उत्तरकाण्ड भी इसी काल मे जोडा गया। आचार्य सुमति भार्गव ने मनुस्मृति का सकलन भी इसी समय किया। भारतीय दर्शनो का रूप भी इसी काल मे बहुत कुछ ठीक किया गया।

काव्य और नाटक—महाकवि भास भी इसी काल का मगध का निवासी था। इसने कण्ववश के शासन-काल मे १३ नाटको की रचना की। इनमें 'स्वप्न वासव दत्तम' 'चारूदत्तम', 'प्रतिभानाटकम्' 'कर्णभारम्' 'उरू भगम्' तथा 'बालचरितम्' प्रमुख हैं।

वैदिक परम्परा का पालन करने वाले यह शासक अश्वमेध-यज्ञ भी करते थे। इन्होने स्थान-स्थान पर गुहा लेख भी लिखाये थे। नासिक का गुहा लेख (१३० ई०) गौतमीपुत्र शातकर्णी की माता गौतमी बलश्री ने लिखाया था। इस राजा को वेदो का पूर्ण ज्ञाता और वेदो का आश्रय भी कहा गया है। शको को इसने कई बार परास्त किया। साथ ही शक क्षत्रपो से इनके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गये, क्योकि शक भी आर्य धर्म स्वीकार कर चुके थे। उज्जैयिनी के क्षत्रप रुद्रदामन ने अपनी लडकी का विवाह वशिष्टपुत्र पुलोमावी से किया था। यह भी एक आश्चर्य की घटना है कि आर्यों द्वारा परित्यक्त एक दक्षिण जाति ने ही आर्य धर्म का स्वय ही प्रचार नही किया, अपितु विदेशी शको को भी आर्य बनाकर भारतीय सभ्यता को नवीन रूप दिया। २२५ ई० मे यह वश राज्य से निर्मूल कर दिया गया।

कुषाण-काल में भारतीय सभ्यता का विकास

कुषाण लोग वास्तव मे मध्य एशिया की यू० ची० जाति की शाखा थे। अपनी विभिन्न शाखाओ मे यह मध्य एशिया मे ही विभक्त हो चुके थे। इन्ही की एक शाखा भारत मे आक्रमणकारी की हैसियत मे आयी। इसी शाखा का सरदार 'वैमो फैड-फाइसस' था और इसी का उत्तराधिकारी कनिष्क था।

वर्ण-व्यवस्था—इस काल मे वैदिक-कालीन वर्ण, व्यवस्था प्राय समाप्त हो चुकी थी और शक्, यूची, यूनानी आदि अति प्राचीन जातियो के पुन भारत मे लौटने के कारण, एक नई सस्कृति उत्पन्न हो गयी थी। शु ग-काल मे इनको भारतीय समाज मे दीक्षित करने की समस्या सामने आयी थी, जिसका हल स्मृतिकारो ने निकाल लिया था। अत स्मृतिकारो ने इन्हे पुन क्षत्रिय ही मानने की व्यवस्था दे दी थी।इनमें इनके कुछ पुरोहित ब्राह्मण बन गये थे। मुल्तान के सूर्य मन्दिर के पुजारी शक ब्राह्मणो का होना, उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है। जातिवाद विकृत रूप ग्रहण न करले, इसी लिए मनु ने पुन वैदिक-कालीन घोषणा की कि 'जाति जन्म से नही, कर्म से होती है।' अत शु ग-काल को ही हम भारत का 'स्मृति-काल' भी कह सकते हैं।

साहित्यिक-प्रगति—इस काल मे साहित्यिक प्रगति को राज्यीय सबल पर्याप्त मिला और वह बहुत् फली-फूली। सबसे बडी विशेषता इस काल मे यह हुई कि सस्कृत भाषा पुन साहित्यिक भाषा बन गयी। बौद्ध और जैन ग्रन्थो मे भी प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा ने ले लिया। दार्शनिक अश्वघोष ने सस्कृत भाषा मे 'बुद्धचरित्र' महा-काव्य इसी समय लिखा। 'सूत्रालकार' तथा 'सौन्दरानन्द' भी इसी की रचनाएँ हैं। सूत्रालकार का केवल चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' भी इसी काल मे लिखा गया। इसी काल मे भारतीय नाट्य-शास्त्र और यूनानी नाट्य-शास्त्रोकी शैली का भी परस्पर आदान-प्रदान हुआ।

वैद्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक' और 'सुश्रुत' इसी समय लिखे गये। चरक कनिष्क का समकालीन था। सुश्रुत का नागार्जुन ने सम्पादन किया था। नागार्जुन एक कुशल वैद्य और से रासायनिक था। ज्योतिष मे 'गार्गी-सहिता' भी इसी काल की कृति है। कनिष्क के समय त्रिपिटिक व्याख्या लिखी गयी। इनके अतिरिक्त आर्य रक्षिक ने, जो वज्रस्वामी के शिष्य थे, जैन सूत्रो को अग और उपागो मे विभक्त किया।

कला—मौर्य-काल मे कला की जिस रूपरेखा का प्रारम्भ हुआ था, जिसे अशोक ने नया जीवन दिया था, इस युग मे और भी विकसित हुई। विदिशा, भारहूत, साची और अमरावती के केन्द्रो मे स्तूपो, विहारो और चैत्यो के रूप मे हरा-भरा पाते है। शुग-काल के मूर्तिकार बडे सिद्धहस्त थे। यह लोग काठ को छोडकर, पत्थर की मूर्ति बनाने लगे थे।

बौद्ध-स्तूप—सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म को श्रीलका, जावा, सुमात्रा और चीन तक मे फैलाया था। कनिष्क ने मध्यएशिया मे उसकी जडें जमा दी। उस समय तक मध्य एशिया की प्राय सभी जातियाँ बौद्ध-धर्म मे दीक्षित हो चुकी थी। दूसरी ओर भारत मे तीव्र गति से बौद्ध चैत्यो का निर्माण हो रहा था। साची का बौद्ध-स्तूप इसी काल की कृति है। इसके ऊपर पत्थरो की उकेरी हुई मूर्तियाँ तथा अनेक बौद्धधर्म सम्बन्धी दृश्य हैं। शुग-काल मे कई स्तूपों के तोरण और वेदिकाए बनी। भारहूत का स्तूप भी शुग काल मे बना। शुगो के दो सामन्त थे—(१) अहिछत्र के राजा इन्द्रमित्र, (२) मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र। इन दोनो की रानियो के नाम बोध गया के मन्दिर की वेदिका पर खुदे हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह वेदिक भी उसी समय की है। साची स्तूप के दक्षिण तोरण पर सातवाहन राजा सातकर्णी का नाम खुदा हुआ है। सभव है, इसका निर्माण मौर्यकाल मे ही प्रारम्भ हो गया हो। अमरावती स्तूप दूसरी शताब्दी का है। आन्ध्रो ने उसकी वेदिका बनवाई थी। पूना के समीप थाना का स्तूप भी ई० पू० का है।

स्तूपो के अतिरिक्त बौद्ध-चैत्यो (पूजा-गृह) का भी निर्माण मौर्यकाल में प्रारम्भ हो गया था और कनिष्क-काल तक यह विशाल रूप ले चुके थे। परन्तु शुग-काल तक बुद्ध की मूर्तियो के दर्शन नही होते। इससे सिद्ध होता है कि उस काल तक बुद्ध की पूजा का प्रारम्भ नही हुआ था, पूजा का प्रारम्भ कुषाण-काल मे हुआ।

गान्धार-कला—भारतीय मूर्ति-कला ने इस समय एक नया मोड लिया—नयी शैली भी अपनायी। इसी कला का नाम 'गाधार-कला' है। इस समय गान्धार बौद्धो का प्रधान केन्द्र हो गया था और वहा जनता अधिकतर यवन थी। जब बौद्ध-धर्म मे महायान शाखा फलने-फूलने लगी, तब उन्होने भारतीय दृष्टिकोण से यूनानी देवी-देवताओ के अनुकरण मे मूर्तियाँ बनायी। इस शैली के अनुसार जो मूर्तिया बनाई गयी उनमे यूनानी वेश-भूषा, शृगार और सजावट को प्रमुखता दी गयी। मूर्तियो में बोधिसत्वो की मूछें बनाना यूनानी शैली का ही अनुकरण है, क्योकि हमारे देश मे देवताओ के मूछें नही बनाई जाती थी। उदाहरणार्थ उस समय सारनाथ और मथुरा मे जो मूर्तियाँ बनायी गयी, उनमे मूछे नही हैं। स्मिथ और मार्शल का कथन है कि यवनो ने ही सर्वप्रथम गान्धार मे बुद्ध की मूर्ति बनायी थीं। परन्तु कुमार स्वामी और हैवैल इस मत का समर्थन नही करते। उनका कथन है कि भारत मे जैन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ पहिले से ही मौजूद थी। इन्ही का अनुकरण बौद्ध-धर्म की शाखा-महायान के आचार्यों ने किया।

धार्मिक-विकास—शुंग और कनिष्क-काल मे भारती धर्म-व्यवस्था मे नई-नई शाखाओ का प्रस्फुटन हुआ। पहिले यज्ञो मे अहिंसा आदि के विरोध के लिये हिन्दू-धर्म से जैन सम्प्रदाय बना। उसी के साथ लगभग उन्ही आदर्शो पर और वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता से उकताई हुई जनता से, तथा जातिवाद के उन्मूलन और 'ब्राह्मणवाद' के विरोध के लिये बौद्ध-धर्म की एक और शाखा हिन्दू-धर्म मे निकली। साथ ही इन दोनो के मुकाबले मे आर्य धर्म से दो और पौराणिक शाखाएँ फूटी। यह थी—भागवत और शैव सम्प्रदाय नामक शाखाए।

भागवत सम्प्रदाय—मथुरा के पास वृष्णि लोग कृष्ण की पूजा करने लगे थे। 'विष्णु का अवतार मानकर उन्होने कृष्ण की मूर्तिया बनायी। इस धर्म मे यज्ञो का विरोध न था, वरन् उनकी जटिलता को सरल कर दिया गया था। उनके इष्टदेव कृष्ण थे। वह परम योगी थे। सुदर्शनधारी कृष्ण सत्पुरुषो के रक्षक और दुष्टो के सहारक थे। अत शक्तिशाली देव कृष्ण के मन्दिर बनने लगे और ज्ञान का स्थान भक्ति-भावना ने ले लिया। धर्म के इस नये स्वरूप ने विदेशियो तक को प्रभावित किया, जैसा कि भेलसा के यूनानी हेवियोडोर के स्तम्भ से स्पष्ट है। हिन्दू-धर्म के इस नये धर्म का पृष्टपोषण करने के लिये भागवत पुराण रचा गया।

शैव-धर्म—इस धर्म का प्रारम्भ अति प्राचीन-काल से ही हो चुका था। सिन्धु-सभ्यता मे इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते है। परन्तु इस धर्म के लोकरूप के प्रवर्तक आचार्य लकुलेश थे। पुराणो मे इन्हे शिव का अवतार कहा गया है। यह गुजरात के भरु-कच्छ के समीप उत्पन्न हुए थे। इन्होने "पचाध्यायी" नामक पुस्तक लिखी। यह धर्म ई० पू० की प्रथम शताब्दी तक भली-प्रकार जम चुका था। पतजलि के महाभाष्य मे शिव-भागवतो की चर्चा है। यह लोहे का एक त्रिशूल लिये रहते थे। शैव लोगो ने भागवतो की भाँति शिव और रुद्र को आदि देव मानकर लकुलेश को उनका अवतार माना। प्रारम्भ मे इनके पुजारी 'शिवभागवत' 'लाकुल' 'माहेश्वर' तथा 'पाशुपत' कहे गये। कालान्तर मे इस सम्प्रदाय से भी विभिन्न सम्प्रदायो का जन्म हुआ। इस धर्म को भी विदेशियो ने माना और सिक्को पर स्थान दिया।

हेरोडोट्स ने प्राचीन जर्मनी स्कन्धनाभ (स्वीडन-जर्मनी आदि सहित) के लोगो का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि शैव-धर्म ई० पू० से हजारो वर्ष पहिले यूरोप मे फैल चुका था। हैरोडोट्स ने लिखा है—इन लोगो का देवता नसई था, त्रिशूलधारी था और मृगचर्म पर आसीन रहता था। उसकी 'हर कुलिस' नाम से पूजा होती थी। जर्मन लोगो मे अपने नाम से पूर्व 'हर' शब्द लगाने की पद्धति भी इसी कारण पडी।' हेरोडोट्स के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यह देवता केवल शिव ही थे। हेरोडोट्स ने अपने इतिहास मे जर्मनी मे कृष्ण और बलराम की पूजा का भी विपद् वर्णन किया है। इसका अर्थ भी यही है कि वहा शैव-धर्म के साथ-साथ भागवत-धर्म भी अपनी जड जमा चुका था।

शैव-धर्म पर ११ अध्यायो मे वृहद् ग्रन्थ 'भुवनकोष' है। भुवन-कोष का अर्थ

है, सृष्टि का ज्ञान । इसके अतिरिक्त "तत्व ह्यम हाज्ञान" शैव-धर्म के तत्वो की विशद् व्याख्या करने वाला ग्रन्थ है । इसमे आरम्भ मे सस्कृत श्लोक और पश्चात् कविता मे उनकी व्याख्या करते हुए दर्शन को जन-जीवन तक पहुचाने का प्रयत्न किय गया है ।

शैव-धर्म और दर्शन के सम्पादित ग्रन्थो मे "वृहस्पतितत्व' शैव-दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ है । उक्त ग्रन्थ मे भटार ईश्वर, देवगुरु वृहस्पति को उपदेश के रूप मे विभिन्न तत्वो, शृष्टिक्रम, मोक्ष के विभिन्न उपायो तथा योग आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है । इसके अतिरिक्त ताडपत्रों शक और उसके परवर्ती काल मे लिखे गये, सैकडो शैव-धम सम्वन्धी लेख भी सुलभ हैं ।

'वृहस्पतितत्व' मे तीन भिन्न शैवमतो का उल्लेख है—शैव, पाशुपत और अलेपक । इस ग्रन्थ मे दिये गये चौथे लेख मे वृहस्पतितत्व का दूसरा नाम 'शिव-तत्व' भी दिया गया है । 'शैव' और पाशुपत' सर्वदर्शन सग्रह में उद्धृत हैं, परन्तु अब तक किसी भी सस्कृत के कोष मे 'अलेपक' शव्द नहीं मिला । अलेपक के अर्थ है 'निर्लेप' । कश्मीर शैव-दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ—"तन्त्रालोक" के १३वें पटल के ३०५वें श्लोक मे भैरवो के अन्तर्गत 'वैमल' शैव हैं । समानार्थ के आधार पर सम्भवत यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ' अपेलक" का तात्पर्य वैमलो से ही हो *। ग्रन्थ का धारण इस प्रकार है—"भिन्न-भिन्न प्रकार के शास्त्र हैं । उनमे भिन्न प्रकार के मोक्ष मार्गों का उल्लेख है । इसका क्या कारण है । इसका कारण मनुष्य की भिन्न-भिन्न योनिया हैं । पुनर्जन्म का कारण वासनाए हैं, जो अच्छे बुरे कर्मों को करने के लिए प्रेरित करती हैं ।

शासन-प्रणाली—इस काल मे शासन-प्रणाली अलग-अलग थी । राजतत्र की प्रणाली मे मन्त्रिपरिषदें होती थी । पतंजलि के महाकाव्य मे पुष्यमित्र की सभा का भी वर्णन है । कालीदास के नाटक 'मालविका अग्निमित्र' मे अग्निमित्र की अमात्य परिषद् का उल्लेख है । गिरनार के शिलालेख मे भी मन्त्रिसचिव का उल्लेख है । इनके अतिरिक्त 'जनपदो' का शासन पौर और जनपद सभाओ द्वारा होता था । गिरनार के लेख मे ऐसे ही 'जनपद' का उल्लेख आया है । खारवेल के गुहा लेख मे भी इनकी चर्चा की गयी है ।

आर्थिक-विकास—इस काल में देश का आर्थिक विकास अत्यन्त उन्नत था । व्यापार के क्षेत्र मे श्रेणियो का महत्व अधिक था । यह श्रेणिया वैको का कार्य भी करती थी और व्यापारो का सगठन भी करती थी । इनकी चर्चा स्मृतिकारो ने भी की है । विदेशियो के आवागमन वढने के कारण उस काल मे विदेशी व्यापार भी वहुत नढ गया था । पश्चिम तट के व्यापारी रोम, अरब और मिस्र से व्यापार करते थे ।

*डा० सुदर्शना देवी सिंघल का लेख ।

लाल सागर और नील नदी के रास्ते एक भारतीय व्यापारी सोमन का यवन भाषा मे एक लेख उपलब्ध हुआ है। रोम के साथ भारतीय व्यापार इतना उन्नत हो चुका था कि रावलपिंडी, कन्नौज प्रयाग, मिर्जापुर आदि स्थानो मे रोमन सिक्के पर्याप्त मिले हैं। भारत से रोम को मोती, मणिया, औषध-सामग्री, गर्म मसाले, रेशमी तथा सूती वस्त्र भेजे जाते थे। उस समय एक सेर काली मिर्च का मूल्य वहाँ दो दीनार था। पश्चिम तट पर केरल उस समय व्यापार का मुख्य केन्द्र था। पूर्व की ओर श्रीलंका मलाया, जावा, सुमात्रा तथा स्याम, हिन्दचीन और चीन से व्यापार होता था।

गुप्त-काल में भारतीय सभ्यता का विकास

(२७५ ई० से ५१० ई० तक)

गुप्त-काल से पूर्व—रामायण-काल के पश्चात् भारतीय सस्कृति के उत्थान के दो काल— मौर्य काल और गुप्त-काल भारतीय भूमि पर अपनी कीर्तियो के लिये विशेष प्रसिद्ध हैं । मौर्य-काल के पश्चात् गुप्त-काल ही एक ऐसा समय है जिसमे भारतीय सस्कृति की बहुमुखी प्रगति हुई । परन्तु गुप्त-काल को सस्कृति के विकास मे उस काल से सम्बल मिला जो मौर्यो और गुप्तो के मध्य का काल था । इसी काल को इतिहास मे अन्धकार युग'(Dark age), 'भारशिव-युग' और 'नाग-युग' कहा गया है, जिन्होने 'सातवाहन-साम्राज्य' के समय अपने गणराज्य खडे करके 'शैव-वाद' को साहित्य तथा तक्षण-कला आदि सभी दृष्टियो से विशेष प्रोत्साहन दिया था ।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार शिव के इन पुनीत भक्तो ने कुषाणो से सत्ता छीनी थी और विदिशा, पद्मावती कान्तिपुरी तथा मथुरा मे अपने राज्य स्थापित किये थे । उस समय मध्य भारत मे वाकाटको का राजकुल भी उन्नति कर रहा था और उस कुल के नाग-कुल (भारशिव) से अच्छे सम्बन्ध थे । इसका प्रमाण यही है कि वीरसेन नामक नाग राजा, जिसने कुषाणो से सत्ता छीनी थी और उन्हे उत्तर प्रदेश से भगाया था, वाकाटक राजा प्रवरसेन के पुत्र गौतमी पुत्र से हुआ था । इस व्यक्ति ने वाराणसी (काशी) मे दशाश्वमेघ घाट पर दस अश्वमेध यज्ञ किये थे । इन नागो (भारशिवो) का वर्णन समुद्रगुप्त के प्रयाग-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है । उसमे नाग सेन, गणपति नाग और नागदत्त के नाम हैं । शिव के उपासक इन नागो ने अनेक शिव मन्दिर और हजारो शिव-मूर्तिया बनवायी थी ।

गुप्त-काल की वश-वेलि—गुप्त-काल का संस्थापक 'श्रीगुप्त' नामक व्यक्ति है । श्रीगुप्त के पश्चात् 'घटोत्कच गुप्त' नामक व्यक्ति का नाम आता है । इन दोनो राजाओ की पदवी केवल 'महाराज' मिलती है । अत यह स्पष्ट है कि यह तब तक केवल राजा मात्र थे, महाराजा नही थे । इनका समय २७५ ई० से ३०० ई० तक है ।

चन्द्रगुप्त (प्रथम)—इस वश का सबसे प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त (प्रथम) हुआ । डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि चन्द्रगुप्त(चण्डसेन)को पाटलीपुत्र—कोट-कुल के राजा सुन्दर वर्मन ने गोद लिया था, परन्तु जब राजा के पुत्र उत्पन्न हो गया, उसका आदर नही रहा । अत. चन्द्रगुप्त ने लिच्छवी–वश की राजकुमारी कुमारदेवी से

विवाह कर, लिच्छिवियो की सहायता से मगध राज्य पर आक्रमण किया और सुन्दर वर्मन को मार दिया । राजा का लडका कल्याण वर्मन दक्षिण को भाग गया, किन्तु जनता ने उसे बुला कर ही राजा बना दिया । कुछ दिन बाद चन्द्रगुप्त ने राज्य पुन छीन लिया । चन्द्रगुप्त के लिच्छवी राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह करने की पुष्टि उसके सोने के सिक्को से भी होती है । उसके सिक्को पर एक ओर रानी को कंकड देते हुए राजा की आकृति बनी है तथा दायी और बायी ओर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के नाम अकित है । सिक्के के पृष्ठ भाग पर सिहवाहिनी दुर्गा की आकृति तथा 'लिच्छवय' लिखा है । भविष्य पुराण मे गुप्तो के राज की सीमाओ के सकेत मे लिखा है--

"अनु गग प्रयाग च साकेत मगधास्तथा ।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्त वशजा. ।।"

इस राजा ने अपने सिंहासनारूढ (३२० ई०) होने पर, गुप्त सम्वत् के नाम से एक सम्वत् चलाया ।

समुद्रगुत (३३०-७५ई०)—चन्द्रगुप्त का यह छोटा पुत्र—समुद्रगुप्त अपनी विजयो के कारण भारत का नैपोलियन माना जाता है । साथ ही यह महान् कवि भी था । चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त के मध्य मे 'काच' नामक एक और व्यक्ति, जो चन्द्रगुप्त का भाई था, राजा बना । इसके भी सिक्के मिलते हैं । कुछ इतिहासकार इसे चन्द्रगुप्त का बडा लडका मानते हैं और कुछ समुद्रगुप्त का ही यह प्रथम नाम मानते है । परन्तु 'काच' नाम के सिक्के से यह समुद्रगुप्त का नाम नही हो सकता —भाई अधिक सम्भव है । समुद्रगुप्त के सिक्के छै प्रकार के है । यह लम्बा-चौडा सम्राट् एक सिक्के पर पीठिका पर आराम से बैठा वीणा बजाते दिखाया गया है । इनके अतिरिक्त प्रयाग के स्तम्भ लेख पर उसके दरबारी कवि 'हरिषेण' ने उसे उच्च कोटि का कवि भी लिखा है और उसने अपने लिए 'कविराज' शब्द चुन लिया था । इस वीर और विद्वान् राजा ने अपना राज्य कितना बढाया था और कितने राजाओ को परास्त किया था, इसका उल्लेख भी उक्त प्रशस्ति मे है । उसके अनुसार नाग-वश (भरशिव) और वर्मनो के समस्त राज्यो को इसने गद्दी पर बैठते ही समाप्त कर दिया था । इनके पश्चात् विन्ध्य के समीप के आटविक राज्य को समाप्त कर दक्षिण की ओर मुह किया । दक्षिण मे जो राज्य जीते, उन्हे लौटा दिया । महाकवि कालिदास ने इस प्रकार की विजयो को अपने 'रघुवश' मे 'धर्म-विजय' कहा है ।

अपने साम्राज्य को विशाल बनाकर, चन्द्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ किया । लखनऊ के सग्रहालय मे उत्तरी अवध से प्राप्त घोडे की एक पत्थर की मूर्ति है, जिस पर प्राकृत भाषा मे 'समुद्रगुप्तस देव धम्म' अकित है । यह समुद्रगुप्त के उसी अश्वमेध-यज्ञ का स्मारक है । इतिहासकार 'स्मिथ' ने इसे सुयोग्य, विद्वान्, कवि, गायक और उद्भट सेनानी तक लिखा है ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य)—(३७५ ई० से ४१४ ई०)समुद्रगुप्त के बाद उसकी दत्तदेवी नामक रानी से उत्पन्न यह व्यक्ति गद्दी पर बैठा । इसके बारे मे कहा

जाता है कि यह अपने भाई रामगुप्त को मारकर गद्दी पर बैठा था और उसकी विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से इसने विवाह कर लिया था। इस कहानी का आधार इतिहासकारो ने विशाखादत्त के (अप्राप्य) नाटक 'देवीचन्द्र गुप्तम' को बनाया है और साथ ही हर्षचरित, राजशेखर की काव्य-मीमासा और राष्ट्रकूट राजा अमोघ वर्ष का ताम्रपत्र इस घटना का कुछ हेर-फेर के साथ समर्थन करते हैं, किन्तु चन्द्रगुप्त के चरित्र से यह सम्भव नही लगता, क्योकि गुप्त-काल मे यह सम्राट सबसे अधिक लोकप्रिय रहा।

इस शासक ने सबसे पहिले गणराज्यो को समाप्त किया। इनमे कुपाण और अवन्ति के महाक्षत्रप-मद्र और खरपटिक स्वतन्त्र थे। इनके पश्चात् इसने नागो और वाकाटक राज्य से अपनी मित्रता प्रारम्भ की। कुबेर नामक नाग-कन्या से विवाह कर इसने नागो को अपना मित्र बनाया। इस समय मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र का शासक रुद्रसिंह नामक शक क्षत्रप था। ३८८ ई० मे चन्द्रगुप्त ने इसे परास्त किया। उदयगिरी के लेख से यह स्पष्ट है। इसके बाद, इसके अभियानो ने चारो ओर तीव्र प्रगति की और राज्य की सीमाओ को पश्चिम मे सौराष्ट्र से पूर्व मे बगाल तक, उत्तर मे पजाब से दक्षिण मे विंध्याचल तक फैला दिया। राज्य की समुचित व्यवस्था के लिये अयोध्या और उज्जैन को भी उप-राजधानियाँ बनाया।

दरबार के नव-रत्न—गुप्त राजाओ मे विक्रमादित्य सबसे विद्वान् और न्याय-प्रिय शासक, तो था ही साथ ही वह विद्वानो का आदर भी सबसे अधिक करता था। सौभाग्य से उस काल मे भारत मे विद्वानो के एक बड़े समुदाय ने ऐसे स्थानो पर जन्म लिया था, जिनमे से अधिकाश विक्रमादित्य के नव-रत्न बने थे। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध चीनी पर्यटक फाहियान भी इसी के दरबारियो मे से एक था और वह १५ वर्ष (३९९-४१४ ई०) तक भारत मे घूमता भी रहा था। चन्द्रगुप्त के दरबारियो के नव-रत्न थे—कालिदास, अमरसिंह, धन्वन्तरि, विशाखदत्त, सुवन्धु, घटखर्पर, क्षपणक, वैताल और वीरसेन। दसवा विद्वान् फाहियान् को माना जा सकता है। फाहियान ने उस समय के भारत का वर्णन अपने यात्रा-ग्रन्थ मे किया है। यह व्यक्ति मध्य एशिया के रास्ते से भारत आया था और भारत मे घूमकर तथा ज्ञान प्राप्त करके, जल-मार्ग से जावा आदि होता हुआ चीन लौटा था। वही जाकर उसने अपना यात्रा-वर्णन लिखा।

अपने यात्रा-वर्णन मे फाहियान लिखता है कि पाटलीपुत्र मे अशोक का महल, उस समय भी ज्यो का त्यो बना हुआ था। नगर में दो विशाल विहार थे, जिनमे से एक 'हीनयान' वालो का और दूसरा 'महायान' वालो का था। इनमे से प्रत्येक मे सात-सात हजार भिक्षु रहते थे। इनका कार्य बाहर से आये विद्यार्थियो को शिक्षा देना था। फाहियान लिखता है—बाजारो मे मास तथा मद्य की दुकानें नही हैं। लोग सुअर तथा मुर्गी नही पालते। वह प्याज तथा लहसुन का भी प्रयोग नही करते। चाण्डाल समाज से बहिष्कृत हैं। वे आखेट कर सकते हैं। मास बेच सकते हैं। वे नगर से बाहर रहते हैं। नगर मे आने पर वह लकडी बजाकर शब्द करते हैं, जिससे लोग उनके स्पर्श से सावधान हो जाय।

धर्म के बारे मे फाहियान लिखता है—यह धर्म (अच्छा धर्म बौद्ध-धर्म) बगाल तथा पजाब मे हराभरा है। मथुरा मे २० विहार है। परन्तु मध्यदेश मे यह धर्म लोकप्रिय नही है। वहा नगरो तक मे भी बौद्ध मठ नही है। मध्यप्रदेश मे ब्राह्मण धर्म का बोलबाला है। राजा स्वय वैष्णव है। परन्तु दोनो धर्मो मे विरोधाभास नही, मेल है।

गुप्त-शासन-व्यवस्था के बारे मे फाहियान लिखता है–'प्रजा समृद्धिशाली और सुखी है। उमे अधिक कर नही देना पडता। न उसे घरो मे ताला लगाना पडता है। प्रजा-जन कही भी आने जाने, बसने और व्यापार करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अपराधी अपने अपराधानुसार आर्थिक दण्ड पाते है। शारीरिक यातनाये (दु ख) कम दिया जाता है। प्राणदण्ड नही है। देशद्रोह के अपराध मे अग-भग आवश्यक है। भूमिकर सिक्को मे लिया जाता है। राजकर्मचारी वेतन पाते हैं।

कुमारगुप्त (महेन्द्रादित्य)—चन्द्रगुप्त (विक्रमारदित्य) और ध्रुवदेवी की सन्तान कुमारगुप्त ४१५ ई० मे गद्दी पर बैठा और इसने ४० वर्ष तक राज्य किया। 'मन्दसौर' के शिलालेख मे इसे चारो समुद्रो की चचल लहरो पर राज्य करने वाला लिखा है। दूसरे देशो मे दूर-दूर तक प्राप्त इसके सिक्को से भी यही सिद्ध होता है कि इसने अपना राज्य दूर-दूर तक बढा लिया था। इसके सिक्को पर अश्वमेध यज्ञ का चिह्न यह बताता है कि इसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। इसके एक सिक्के पर घोडे की आकृति है और चवर लिये रानी खडी है तथा "अश्वमेध महेन्द्र" लिखा है।

स्कन्दगुप्त के गाजीपुर जिले मे भितारी लेख से ज्ञात होता है कि इसके अतिम दिनो मे इस पर सकट आये थे और यह सकट थे—'हूण' आक्रमण। इन आक्रमणो का सामना कुमारगुप्त की ओर से राजकुमार स्कन्दगुप्त ने किया। हूणो का सेनानी पुष्यमित्र था।

हूण-आक्रमण—४५० ई० में टिड्डी दल की भाँति गुप्त-साम्राज्य पर हूणो ने प्रबल आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त ने पुन उनका सामना किया और ससार के इन दुधर्ष विजेताओ को मार भगाया। इस बीच कुमारगुप्त की मृत्यु हो चुकी थी। अत अपनी विजय का सदेश स्कन्द गुप्त ने अपनी माता को सुनाया। उक्त लेख से यह स्पष्ट है।

स्कन्दगुप्त (विक्रमादित्य) (४५५ ई० से ४६७ ई० तक)—इसके समय मालवा और उज्जैयिनी—दोनो इसके राज्य मे थे। जूनागढ वाले लेख मे लिखा है कि इसने सौराष्ट्र का गोप्ता, नियुक्त करने के लिए अनेक शासको के गुण-दोषो को देखा था। इसी व्यक्ति ने 'सुदर्शन-झील' का पुनरुद्धार कराया था। इस झील को चन्द्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था तथा अशोक ने इसकी मरम्मत कराई थी और नहरे निकाली थी। इसके टूटने पर रुद्रदामन ने इसे ठीक कराया था। गुप्त सम्वत् १३६=(३२०+१३६)=४५६ ई० मे इस झील का वह बाध फिर टूट गया। अत पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने अपार धन व्यय करके इसे बनवाया। इसी की स्मृति मे चक्रपालित (मत्री स्कन्दगुप्त) ने गुप्त सवत ४५८ ई० मे वहा विष्णु मन्दिर बनवाया।

यह व्यक्ति विष्णु का भक्त अर्थात् वैष्णव था। परन्तु इसने किसी धर्म पर

आघात नही किया। कहौभ शिलालेख से भी यही सिद्ध होता है। उक्त शिलालेख से ज्ञात होता है कि 'मद्र' नामक एक व्यक्ति ने, जो ब्राह्मणो, गुरुओ और परिव्राजको के प्रति अत्यन्त दयालु था, जैन तीर्थंकरो की पाँच मूर्तिया स्थापित करायी थी। यह सम्राट् छात्र-धर्म का अनुयायी था और अपने युवराज काल से ही यह कठोर जीवन यापन करने का अभ्यासी हो चुका था। इसे अपने सारे जीवन भर हूणो से लडना पडा। इस समय हूण उत्तर-पश्चिम मे वडे प्रवल हो चुके थे। और भारतीय सीमान्तो पर वसे नगरो के जलाने और उजाडने का उन्होने वही रवैया अपना रखा था, जो रवैया इनके पूर्वजो ने चीन के साथ अपनाया था। इन्ही हूणो के साथ लडते हुए स्कन्दगुप्त की मृत्यु भी हुई।

पुरगुप्त—(४६७ ई०)—यह स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था। इसके सिक्को पर प्रकाशदित्य और विक्रम की उपाधिया मिलती हैं। इसके समय गुप्त साम्राज्य विखरना प्रारम्भ हो गया था। सैदपुर भीतरी मे, जहाँ स्कन्दगुप्त का स्तभ खडा है, वहा से प्राप्त एक मुहर पर गुप्त राजाओ की वशावलि मिली है। परन्तु इसमे स्कन्दगुप्त का नाम नही है। इसलिये यह ज्ञात होता है कि दोनो भाइयो मे मेल नही था।

नरसिंहगुप्त वालादित्य—पुर गुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंह गुप्त गद्दी पर बैठा। इसने केवल चार वर्ष राज्य किया।

कुमार गुप्त, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त—कुमार गुप्त की माता का नाम महालक्ष्मी था। सारनाथ के एक लेख मे उसका यही नाम है। यह लेख गुप्त सम्वत् १५४ अर्थात् ४७३-७४ ई० का है। मन्दसौर का लेख इसी काल का है। इसके शासन-काल मे रेशम के जुलाहो की श्रेणी ने दशपुर के सूर्य मन्दिर का उद्धार कराया।

कुमार गुप्त के बाद, बुद्धगुप्त राजा हुआ। इसने गुप्त वश की गिरती हुई अवस्था को सुधारा और ४७६ से ४९४ ई० तक राज्य किया। इसके पश्चात् 'भानुगुप्त' गद्दी पर बैठा। इससे हूणो ने मालवा छीन लिया। इसका प्रमाण यही है कि मातृविष्णु बुद्धगुप्त का सामन्त था। परन्तु उसका छोटा भाई धन्यविष्णु हूणराज तोरमाण का माण्डलिक था। ५१० ई० के 'एरण' के लेख से विदित होता है कि अर्जुन के तुल्य भानुगुप्त के साथ उसका सेनापित गोपराज एरण मे आया और शत्र से लडकर वीरगति को प्राप्त हुआ। यह युद्ध भी हूणो से ही हुआ था। भानुगुप्त का शासन ४९५-५१० ई० रहा। भानुगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का सूर्य अस्त हो गया। कुछ सिक्के और मुहरो से जिन राजाओ के नाम मिले हैं, वे राजा नगण्य हैं।

गुप्त-कालीन सभ्यता

सुख-समृद्धि का प्रतीक तथा धार्मिक सहिष्णुता का काल होने के नाते ही गुप्त-काल को भारत का 'स्वर्ण-युग कहा जाता है। गुप्त सम्राटो ने प्रजाहित को सदैव दृष्टि मे रखा। इस वश के किसी भी सम्राट ने दम्भपूर्ण शासन कभी नही किया। उनके सुयोग्य शासन में विद्या-व्यापार और कला-कौशल ने विशेप उन्नति की। उनके

शासन का ज्ञान हमे ताम्र पत्रो, शिला-लेखो और चीनी यात्रियो के लेखो से मिलता है। गुप्तो के अधीनस्थ सामन्त ही, उनके दूर-दूर के प्रान्तो का शासन करते थे और उन्हे कर आदि दिया करते थे।

राजा का पद—गुप्त-काल मे सारी सत्ता का केन्द्र राजा ही होता था। पिता अपनी योग्य सन्तान मे से अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करता था। यह सम्राट् लोग बहुत-सी उपाधिया धारण करते थे। यथा--महाराजाधिराज, परममहारक, परम दैवत, चक्रवर्ती, सम्राट्, विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य आदि। राजा के कार्या मे सेना, शासन तथा न्याय प्रमुख थे। युद्ध के समय राजा स्वय यु करता था।

मन्त्रिपरिषद्—गुप्त सम्राटो के शासन-काल मे भी मत्रीपरिषदो के दर्शन होते हैं, परन्तु मन्त्रियो के कार्य अलग अलग होने क सकेत नही मिलते। फिर भी इनमे सन्धि विग्रहिक (Minister for Peace and war) अक्षपटलाधिकृत (Minister for official Papers) रणभाण्डागारिक (Minister for in war) इत्यादि थे। समस्त केन्द्रीय शासक अनेक भागो मे विभक्त था। इनके अध्यक्ष 'अमात्य' 'कुमारामात्य' आदि थे। इस काल मे राजा की भाति मन्त्रि का पद भी वशानुगत था जैसा कि हम पर्णदत्त तथा चक्रपालिक के विषय मे देखते है। शासन की दृष्टि से समस्त गुप्त साम्राज्य इकाइयो मे बटा हुआ था। सबसे बडे भाग—प्रान्त-देश या भुक्ति कहलाते थे। इन प्रान्तो के शासक **भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक, महाराज**, अथवा **राजस्थानीय** कहलात थे। प्रान्तो मे छोटा भाग "प्रदेश" कहलाता था। इससे छोटा "विषय" कहलाता था, जिसका शासक 'विषय-पति' होता था। शासन की सबसे छोटी इकाई "ग्राम" था, जिसका प्रबन्ध पचायत के हाथ मे था। उस समय सरपच को 'ग्रामिक' 'योजक' अथवा 'महत्तर' कहते थे।+

गुप्त-काल का स्थानीय शासन—गुप्त शासन पद्धति के अनुसार विषय की राजधानी मे विषयपति की शासन-सचालन सहायता के लिए एक समिति होती थी इस समिति के सदस्य निम्नलिखित होते थे—(१) नगर श्रेष्ठित (बैंको का प्रमुख), (२) सार्थवाह (व्यापारिक काफलो का मुखिया), (३) प्रथम कुलिक, (कारीगरो का मुखिया), (४) प्रथम कायस्थ (लेखक), (५) पुस्तपाल (भूमि के मूल्य का निर्धारण करने वाला)।

शासन व्यवस्था के विभाग—गुप्त-शासन व्यवस्था मे कई विभाग थे। इनमे राजस्व विभाग प्रमुख था, क्योकि इसमे आय के कई साधन थे। भूमि की पैमायश कराई जाती थी और उसके मालिको तथा भूमि का ब्यौरा रखा जाता था। उस समय भूमि की कई किस्मे थी। यथा—खिल (परती भूमि), नाल (खेतिहर भूमि), वस्तु (बस्ती की भूमि), अग्रहस्त (बिना जुती हुई भूमि), अप्रदा(वह भूमि जिससे शासन को आय

+अफगानो मे यह शब्द अब भी चलता है।—लेखक

*दामोदरपुर ताम्रपत्र—आधार।

न हो । जैसे दान, श्मशान आदि की भूमि) । किसानो से उपज का १/३ भाग लिया जाता था । यह कर राज्य के कोषागार मे जाता था । इसके बाद राजा के व्यक्तिगत उपयोग के लिये एक 'उपरिकर' भी लिया जाता था । इसके अतिरिक्त प्रजा से धान्य-कर (अनाज के रूप मे), हिरण्य कर (सोने के रूप मे) शुल्क-कर,(व्यापारिक चुगी), गौम्भिक (जगल कर)आदि थे । इनके अतिरिक्त राज्य की आय न्याय शुल्क, अर्थदण्ड तथा पराजित राजाओ के करो से भी होती थी ।

गुप्तकालीन न्याय—गुप्तकालीन न्याय विभाग अत्यन्त सुदृढ होता था । न्याय के लिये तीन प्रकार के सार्वजनिक न्यायालय थे और अतिम तथा चौथा न्यायालय राजा का होता था । इनमे 'कुल', 'श्रेणी' और 'गण' न्यायालयो मे जनता के द्वारा ही न्याय होता था और साधारण मामले निपटाये जाते थे । सर्वोपरि न्यायालय राजा का था । इसमे एक प्रमुख अधिकारी रहता था जो वैशाली की मुहर के अनुसार विनय, स्थिति, स्थापक अर्थात् नियम और व्यवस्था स्थापित करने वाला कहलाता था । व्यवहार (Civil) सम्बन्धी न्याय का 'नारद-स्मृति' मे विशद् वर्णन है । फाहियान के अनुसार उस समय अपराध कम होते थे और दण्ड कोमल दिया जाता था । शारीरिक यातनाओ के दण्ड नही थे ।

लोकोपकारी विभाग—गुप्तो के इस विभाग द्वारा प्रजाहित के कार्य किये जाते थे । इसी विभाग द्वारा चिकित्सा के लिये नि शुल्क अस्पताल थे तथा शिक्षा के लिये विद्यालय थे, जिनमे अधिकाश मे विद्यार्थियो को मुफ्त भोजन भी दिया जाता था । गुप्तो द्वारा बनवायी गयी धर्मशालाए, मन्दिर और दानपत्रो से यह सिद्ध होता है कि गुप्त लोग उदार और प्रजापालक थे ।

सुरक्षा व्यवस्था—गुप्त शासन मे सुरक्षा व्यवस्था भी सुदृढ थी । यही कारण था। कि इन्होंने हूणो को अनेक बार पराजित किया । प्राप्त लेखो मे हमे उनकी चतुरगिणी सना का विवरण मिलता है । उनकी सेना का सेनापति "सन्धि विग्रहिक" होता था । उसके अधीन महासेनापति, महादण्डनायक, बलाधिकृत, रणभाण्डागारिक भट्टाश्वपति आदि थे। इनके अतिरिक्त नागरिक सुरक्षा के लिये आरक्षक विभाग था । इसका सबसे बडा अधिकारी दण्डपाशाधिकारी था । उसके आधीन चोरोद्धरणिक, दाण्डिक दण्ड-पाशिक तथा गुप्तचर विभाग होता था । मजुमदार ने गुप्तो की इसी शासन व्यवस्था को प्रजा के सुख की कु जी माना है* ।

गुप्तकाल की आर्थिक प्रगति—गुप्तकालीन भारी-भारी स्वर्णालकार तथा भारी सोने और चादी के सिक्को से उस युग की समृद्धि का सजीव चित्र स्पष्ट है । परन्तु गुप्तकालीन वैभव के इससे भी सुन्दर चित्र शूद्रक, 'द्वारा मृच्छ कटिक' मे हैं । उनमे गुप्तो के अनोखे महल, महलो मे रखी हुई सोने की चिडिया, रत्नजटित गृह के फलक स्फिटिक मणि से बनी हुई खिडकियो के वर्णन भी महत्वपूर्ण हैं ।

व्यापारिक प्रगति—गुप्तकाल मे व्यापारिक प्रगति का विकास अत्यन्त उन्नत

---

* Classical Age Page—347

था। चीन सहित अफ्रीका और यूरोप के देशो मे व्यापार होता था। रिज डेविस ने गुप्तकालीन व्यापार के लिए लिखा है—"जल और थल—दोनो मार्गो मे व्यापार होता था। मसाले वाले द्वीपो को भारतीयो ने अपना उपनिवेश बना लिया था।"

भारतीय व्यापार की प्रगति का सकेत फाहियान की वापसी मे पहिले भी मिल चुका है। फाहियान जिस विशाल यान से चीन लौटा था। उसके बारे मे लिखा गया है कि वह यान व्यापारिक वस्तुओ—कपडे, मसाले, चाँदी तथा अन्य बहुमूल्य रत्नो से भरा हुआ था। उस जहाज मे दो सौ से अधिक मनुष्य थे और एक जीवन रक्षक नौका इस पोत के पीछे बन्धी हुई थी।

व्यापार को प्रगति देने के लिये गुप्तकाल मे कई व्यापारिक सघ बने हुए थे। यह सघ जनता और व्यापारियो के लिये बैंको का काम भी देते थे। 'निगम', 'श्रेणी' और गणो द्वारा व्यापार पर नियत्रण होता था। परन्तु उस समय मुख्य व्यवसाय कृषि था और कृषि के लिए सिंचाई का प्रवन्ध तालाबो, कूपो झीलो और झीलो मे निकाली गयी नहरो द्वारा होता था। अन्य व्यवसायो मे जहाज और नौका बनाने के कारखाने, लोहे की वस्तुओ के बनाने के कारखाने थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ वाले लेख मे लिखा है—"आर्तो दरिद्री व्यसनी, कदर्यो, दड्यो न वा भृगपीडित स्यात्।" अर्थात् कोई भी व्यक्ति साम्राज्य मे दुखी व दरिद्री न था। इतिहासकार सर जान मार्शल का कथन है—"गुप्तकाल भारतीय बुद्धि का पुनर्जागरण और सच्चा पुनरुत्थान बतलाता है। यह बुद्धि, कुशलता उस समय की वास्तुकला, ज्ञान तथा विचार, सभी मे परिलक्षित है। वस्तुत भारतीय कला के इतिहास मे, उनकी वास्तु तथा मूर्तिकला अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता तथा सर्वांगीण सौदय और विचार के लिए सर्वोत्तम सिद्ध है। उन्हे देखकर हमे प्राचीन यूनान और रोम की कृतियो का स्मरण हो आता है।"

गुप्तकालीन समाज—गुप्तकालीन समाज व्यवस्था मे भी मुख्यत चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ही प्रमुख थे। अस्तु इनमे तब तक अनेक शाखाएँ—उपशाखाएँ उत्पन्न होकर फल-फूल रही थी। इन्ही उप-जातियो मे शक, कुषाण और हूण भी आकर घुलमिल गये थे। इस काल मे अन्तर्जातीय-विवाह का दौर-दौरा भी चल रहा था। स्वय स्कन्दगुप्त का विवाह एक नाग जाति की कन्या से तथा उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह रुद्रसेन (द्वितीय) से हुआ था। शुगकाल की भाँति इस काल मे भी पूर्व वैदिक धर्म और सस्कृति को पुनरुर्जीवन मिला। बौद्ध-धर्म इस काल मे विदेशियो का धर्म-शृगार बनकर भारत से बाहर ही फैल रहा था। अत: इस काल मे भारतीय समाज का सगठन पुन प्राचीन भारतीय आदर्शों के अनुरूप किया गया। परन्तु इस काल की धार्मिक शृखला को कठोरता से शृखला बद्ध नही किया गया। इसका प्रमाण यही है कि ब्राह्मण लोग भी कर्मकाण्ड के अतिरिक्त व्यापार, भवन निर्माण-कला तथा सेना मे कार्य करते हुए पाये जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्री भी सैनिक होने के अतिरिक्त व्यापारी भी थे। शूद्र भी व्यापार, कृषि, शिल्पकार्य आदि करते थे। उस समय चाण्डाल अवश्य अछूत थे जो नगर के बाहर रहते थे। दान का उस

समय बहुत महत्त्व था। दान ब्राह्मणों, मन्दिरों तथा मन्दिरों के पुजारियों आदि को दिया जाता था।

उस समय का समाज शाकाहारी था। चीनी यात्री का कथन है—"समस्त देश मे न कोई अधिवासी हिंसा करता था, न मदिरा पीता था और न लहसुन और प्याज ही खाता था।"

वेशभूषा—गुप्तकाल तक भारतीय वेश-भूषा पर विदेशियों का काफी प्रभाव पड़ चुका था। शकों के लम्बे कोटों और पायजामों का प्रयोग होने लगा था। गुप्त-कालीन सिक्के इस वेश-भूषा के प्रत्यक्ष प्रमाण है। परन्तु धोती, चादर और पगड़ी का रिवाज भी ज्यों-का-त्यों था। उत्सव आदि के अवसरों पर लोग अधिकतर विदेशी वस्त्र पहनते थे। सामान्य तथा सूती वस्त्रों का प्रयोग होता था।

गुप्तकालीन महिला-समाज—गुप्तकाल मे महिलाओं के उपनयन तथा वेदादि पढने का प्रचलन कम हो गया था। इस समय नारी-सम्मान की भावना समाज मे अवश्य बहुत थी और वे कहीं भी आ जा सकती थी, परन्तु विद्या की दृष्टि मे उनमे हीनता आती जा रही थी। विलासिता बढ रही थी, इसका प्रमाण गुप्त-कालीन मूर्तियां हैं। दाय-भाग मे विधवा को पुत्रों के बराबर अधिकार मिलता था। गुप्त-काल मे सती होने का केवल एक प्रमाण मिलता है। ५१० ई० मे गोपराज की पत्नी सती हुई थी। उस समय की मूर्तिकला, चित्रों और सिक्कों से नारी समाज के शृंगार पर भी पर्याप्त प्रभाव पडता है। उस समय अनेक प्रकार के आभूषण बनते थे। उस समय भी स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। अजन्ता के चित्रों से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल मे भी पावडर और लिपस्टिक का प्रयोग होता था।

गुप्तकालीन आमोद-प्रमोद—गुप्तकाल मे पाँच प्रकार के उत्सवों का वर्णन मिलता है—(१) समाज गोष्ठी उत्सव, (२) पूजा के लिए सामूहिक-यात्रा, (३) साथ-साथ जलपान-यात्रा, (४) उद्यान-भ्रमण, (५) सामूहिक खेल। फाहियान ने लिखा है—"पाटलिपुत्र मे तथा अन्य जनपदों मे प्रत्येक वर्ष रथ यात्रा होती थी। अन्य मनोरंजनों मे पशु-युद्ध, आखेट, चौपड और जुआ भी थे।

गुप्तकालीन वास्तु-कला—गुप्त लोग वास्तु-कला प्रेमी ही नहीं थे, अपितु वह इस विद्या के ज्ञाता भी थे और विद्यालयों मे अन्य विद्याओं के साथ-साथ शिल्प-शास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। शिल्प-कला मे हिन्दू-पद्धति को ही स्थान दिया जाता था। अत गुप्तकालीन वास्तुकला (४ वी और ५ वी सदी के मन्दिर) मे इसके दर्शन भी स्पष्ट रूप से होते हैं। उदाहरणार्थ कानपुर जिले का भितरगाँव का मन्दिर ईंटों का बना है और इसकी छत शिखर-युक्त है। गुप्त-काल मे ही इन चोटियों का बनना प्रारम्भ हुआ था। दूसरा मन्दिर है झाँसी जिले के देवगढ स्थान पर दशावतार का। इसमे भी हिन्दू-पद्धति की सभी बातें प्राप्य है। गर्भ-गृह के खम्बों पर मूर्तियां बनी हुई है। चौखट पर कमल की आकृति है। यहीं अनन्तशायी विष्णु की प्रतिमा है।

भूमरा का शिव मंदिर—यह मध्यप्रदेश के नागौर राज्य मे खण्डहरावस्था मे है।

इसके द्वार के खम्बे के दाहिनी ओर मगर युक्त गगा तथा बायी ओर कच्छप-युक्त जमा की दर्शनीय मूर्तिया है। दक्षिण का कपोतेश्वर का मन्दिर भी चौथी सदी का ही है।

बौद्ध वास्तु-कला—गुप्तो की उदारवृत्ति के कारण गुप्त-काल मे बौद्ध-वास्तु कला का भी विकास हुआ। राजगिरि और सारनाथ के स्तूप उसी काल की कृतिया हैं। सारनाथ का स्तूप धमेख स्तूप कहलाता है, यह १२८ फुट ऊचा है। इसके चारो दिशाओ मे चार तम्भ हैं, जिनमे बुद्ध की मूर्तिया हैं। इसके ऊपर के पत्थर बेल-बूटो से सजे है, पर डठल सहित कमल तथा रेखाओ की अनेक आकृतिया बनी है। इनके अतिरिक्त अजन्ता की १९वी गुफा भी इसी काल मे बनी। इसका समर्थन डा० त्रिपाठी ने भी किया है अजन्ता की कलाकृतिया इतनी सजीव, निर्दोष तथा तक्षण-कला की विशेष शुद्ध कृतियाँ है कि उनके सामने समस्त ससार की तक्षण-कला फीकी है। इनके अतिरिक्त भेलसा के पास उदयगिरि स्थान पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की बनाई हुई गुफाए भी है, इन गुफाओ के दरवाजे के खम्भो तथा दीवारो पर अनेक मूर्तिया बनी हुई है, उनमे विष्णु तथा दुर्गा की मूर्तिया भव्य है। इस गुफा के बायी तरफ बाराह अवतार की विष्णु की एक बडी मूर्ति बनी है, जिसमे विष्णु एक बाराह को दबाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त इस काल मे अनेक स्तम्भ बने। दिल्ली का स्तम्भ भी इसी काल मे बना।

गुप्तकालीन मूर्तिकला—गुप्त-काल मे मूर्तिकला अपने उच्च शिखर पर थी। उस काल मे मूर्तिकार आन्तरिक और बाह्य—दोनो भावो को अपनी कलाओ मे लक्षित करते थे। यही कारण है कि इस काल की मूर्तियो मे गम्भीरता के भाव अधिक सजीव हो उठे हैं। इनमे अधिकाश मूर्तिया धर्मो से सम्बन्धित हैं। गुप्तकाल मे तक्षण-कला के तीन मुख्य केन्द्र थे—सारनाथ, मथुरा और पाटलिपुत्र। इन केन्द्रो मे अधिकाश बुद्ध की मूर्तियाँ बनी। इनमे खडे हुए बुद्ध की मूर्ति, सारनाथ की उपदेशक भाव वाली बैठी हुई मूर्ति और सुल्तानगज की ताँबे की ७ फुट ऊची मूर्ति उस काल के आध्यात्मिक भावो पर अच्छा प्रकाश डालती है। इसके अतिरिक्त उस काल मे चिकन और पारदर्शक वस्त्रो वाली बुद्ध की मूर्तियाँ गान्धार मे भी बनाई गयी। इनमे भवो के मध्य टीका और केश दायी ओर घूमे हुए है। परन्तु गुप्त-काल मे टीके का लोप हो गया। इस काल की मूर्तियो का वक्ष स्थल भी बहुत प्रभावशाली दिखाई देता है। गुप्त-काल से पूर्व इनका प्रभा-मडल (Halo) अलकार से रक्षित होता था। गुप्त-काल से पूर्व गाधार मे भूरे पत्थर की और मथुरा मे लाल पत्थर की मूर्तियाँ बनाई जाती थी, परन्तु गुप्त-काल मे चुनार के श्वेत पत्थर का उपयोग किया गया। सारनाथ के सग्रहालय मे धम चक्र प्रवर्तन मुद्रा वाली बुद्ध मूर्ति को हैवेल महोदय ने गुप्तकाल की तक्षण-कला का सर्वोत्तम नमूना कहा है। इसमे बुद्ध के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के भाव लक्षित है। इसके अतिरिक्त इस समय बुद्ध की अभय (भय से मुक्त करने वाली)। वरद् (वरदान देने वाली) और भूमि-स्पर्श मुद्राए भी बनाई गयी। मथुरा की महावीर की पद्मासन-युक्त

मूर्ति भी इसी काल मे बनाई गयी। इस मूर्ति के आसन के बीच मे एक चक्र बना हुआ है तथा बनने का समय भी अंकित है।

इस काल की अधिकाश हिन्दू मूर्तिया अधिकतर अधोवस्त्र पहने है। उदयगढ मे विष्णु की मूर्ति मुकुट-धारिणी है और गले मे हार शोभित है। देवगढ मे शेषनाग पर सोते हुए विष्णु की मूर्ति मे पैरो के पास लक्ष्मी बैठी है और नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा की मूर्ति है। इसके ऊपरी भाग मे शिव, इन्द्र आदि देवो की मूर्तियां है। इनके अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओ की भी मूर्तियां है।

स्मृतिकालीन बौद्ध-साहित्य

जिस समय स्मृतिकार समाज को धार्मिक और कर्तव्यपरायणता के सूत्र मे आबद्ध करने के लिए स्मृति-ग्रन्थो की रचना कर रहे थे, उस समय बौद्ध लेखक भी शान्त नही थे। बौद्ध दार्शनिको द्वारा उस समय विपुल-मात्रा मे विभिन्न विषयो पर साहित्य का सृजन हो रहा था। इस साहित्य मे ज्योतिष, नाटक, विज्ञान, थेरी गाथाएँ, चिकित्सा-शास्त्र आदि सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित था जो भारत और भारत से बाहर मध्य-एशिया तक मे लिखा जा रहा था। इस काल मे बौद्ध-धर्म मे बडे-बडे विद्वानो ने जन्म लिया और बौद्ध-धर्म के ज्ञान के भण्डार को अपने साहित्य से परिपूर्ण किया।

नागार्जुन और उसका साहित्य— इस काल मे उत्पन्न बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का विशेष रूप से महत्त्व है। इस व्यक्ति ने बौद्ध-धर्म की प्रत्येक प्रकार से सेवा की। १७५ ई० मे नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। पहिले उसने हिन्दू दर्शनो का अध्ययन किया। इसके पश्चात् उसने श्रीपर्वत (कोडा-गुन्टूर) को अपना निवास बनाया। इस व्यक्ति को आन्ध्र के राजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६५-१९६) ने भी सहायता दी। अत नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका, युक्तिषष्टिका, प्रमाण विध्वमन, उपाय कौशल्य, विग्रह व्यावर्तिनी आदि ग्रन्थ लिखे। अतिम ग्रन्थ व्यावर्तिनी मे उसने वस्तु-शून्यता प्रमाणित की है कि वस्तुओ मे कोई स्थिर तत्व नही है—वह विछिन्न प्रवाहमात्र है। नागार्जुन को कारिका शैली, का आचार्य माना जाता है। इसने अपने तीन ग्रन्थ उक्त शैली मे ही लिखे हैं। इस शैली मे पद्य जैसी व्यवस्था और सूत्र जैसी सक्षिप्त भाषा होती है। इन कारिकाओ की व्याख्या भी उसने स्वय की है। उसका कथन है— 'जो शून्य को समझता है, वह सभी अर्थों को समझ सकता है। प्रतीत्व-समुत्पाद को समझ सकता है और वही आर्य सत्यो को समझ सकता हैं और पश्चात् तृष्णा, निरोध तथा निर्वाण आदि की प्राप्ति कर सकता है।" शून्य से नागार्जुन का अभिप्राय यह है कि विश्व और उसकी सभी जड-चेतन वस्तुए किसी भी अचल तत्व से सर्वथा शून्य हैं। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद के दो अर्थ किए हैं। अर्थात् (१) प्रत्य से उत्पत्ति—सभी वस्तुएँ कारण से उत्पन्न होती हैं। (२) सभी वस्तुए क्षण भर बाद नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार उत्पत्ति प्रवाहमय है। इसे ही 'मध्यम-मार्ग' कहता है। वह कहता है कि बुद्ध न आत्मवादी थे और न भौतिकवादी।

इसी से उनका मार्ग माध्यमिक (बीच) का है। नागार्जुन का कथन है कि उत्पत्ति-स्थिति और विनाश है—उसकी परमार्थ सत्ता कभी नही मानी जा सकती। कर्ता और कर्म के सम्बन्ध मे वह कहता है—सत् रूप से क्रिया नही होती, अत कर्म को कर्ता की आवश्यकता नही। इसी भाति कर्ता को कर्म की आवश्यकता नही। अत नागार्जुन का शून्यवाद, ससार को शून्य मानकर, उसकी समस्याओं के अस्तित्व से इन्कार करता है।

असग—बौद्धधर्म के दूसरे दार्शनिक असग थे। इनका जन्म ३५० ई० मे पेशावर के एक पठान ब्राह्मण के घर हुआ था। 'वसुवन्धु' उनका छोटा भाई था। यह व्यक्ति योगाचार दर्शन का प्रथम आचार्य था। इसकी पाच कृतियो का पता चला है यथा—महायानोत्तर तन्त्र, सूत्रालकार योगाचार-भूमि वस्तु सग्रहणी, योगिसत्र और पिटकाव वाद। इसमे प्रथम तीन चीनी और तिब्बती भाषाओं मे अनूदित है। 'योगाचार भूमि' विशाल ग्रन्थ है, वह सत्रह भूमियो मे विभक्त है। इसमे अनेक तर्को, विषयो, विज्ञानों और दार्शनिक प्रश्नो की विवेचना है। यह ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे है।

यह व्यक्ति क्षणिक विज्ञानवादी था। उसने सूत्रो की भाषा-शैली अपनायी। उसके विचार मे जगत का कोई कर्ता या सहारक नही है। आत्मा कुछ नही है। असंग ने तर्कशास्त्र को हेतुविधा कहा है तथा उस पर विस्तृत विवेचना की है। वह ईश्वर के अस्तित्व को नही मानता। यज्ञो और वर्णो के ऊँच नीच भाव का विरोधी है। वह परमाणु को भी नित्य नही मानता।

वसुवन्धु—यह व्यक्ति बौद्ध-दर्शनो का महापडित था। इसके अधिकाश ग्रन्थ नष्ट हो गये है। इसका अभिधर्म-कोष प्रौढ ग्रन्थ है। वह सर्वास्तिवाद पर एक विवेचन है। वसुबन्धु ने स्वय उस पर भाष्य रचना की है, जो तिब्बत से प्राप्त हुआ है। इन्होने न्यायवाद विधान पर एक ग्रन्थ भी लिखा। यह चन्द्रगुप्त [द्वितीय] के शिक्षक भी रह चुके थे।

दिगनाथ—यह वसुवन्धु के शिष्य थे और न्यायशास्त्र के आचार्य थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायमुख' है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'प्रयाण समुच्चय' है। यह ग्रन्थ केवल तिब्बती भाषा मे उपलब्ध है। इसी भाषा मे इस पर महावैयाकरणी काशिका विवरण पजिका के कर्ता जिनेन्द्र बुद्धि (७०० ई०) की टीकाए है। इनका जन्म काजीवरम् के पास 'सिहविक्रम' नामक ग्राम मे ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इन्होने 'नागदत्त' नामक बौद्ध भिक्षु से बौद्ध दर्शन पढे। पश्चात् यह उत्तर भारत मे आकर वसुवन्धु के शिष्य हो गये।

धर्मकीर्ति—बौद्ध-धम के इस विद्वान् का जन्म लगभग ६०० ई० मे, उत्तर तमिल मे तिरुमलै नामक ग्राम मे हुआ था और नालन्दा आकर विज्ञानवादी दार्शनिक धर्मपाल के शिष्य हो गये। इन्होने आचार्य ईश्वरसेन से दिगनाथ का 'न्याय-तर्क' पढा। इन्होने बौद्ध-दर्शन और बौद्धप्रयाण शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे। जिनमे सात मूल ग्रन्थ और स्वय की टीकाओ का पता चला है। तिब्बती भाषा मे बौद्ध न्याय के ग्रन्थ अधिकाश इन्ही के हैं।

धर्मकीर्ति का 'प्रमाण वार्तिक' ग्रन्थ, दिगनाथ के 'प्रमाण समुच्चय' की व्याख्या ही है। इस पर अनेक विद्वानो की टीकाए है। इन्होने केवल प्रमाण' पर ही सात ग्रन्थ लिखे। इन्होने ब्राह्मणो की भाँति जैन सिद्धान्तो का भी खण्डन किया है।

नागसेन—पजाब (हिमाचल प्रदेश) के कजगल ग्राम मे १५० ई० पूर्व एक ब्राह्मण के घर इनका जन्म हुआ। प्रारम्भ मे घर पर ही वेदाध्ययन किया। पश्चात् बौद्ध भिक्षु 'रोहण' के शिष्य बनकर, बौ -साहित्य पढा। इसके पश्चात् अश्वगुप्त के शिष्य बने। अश्वगुप्त ने उन्हे अशोकाराम विहार मे पाटलिपुत्र भेज दिया, जहाँ उन्होंने धर्म रक्षित से तत्व ज्ञान सीखा और पिटिको का अध्ययन किया। उन दिनो सागल का राजा यूनानी मिलिन्द था। इस विद्वान् राजा की शास्त्रार्थ मे बडी रुचि थी। अत सघ के आदेश से नागसेन मिलिन्द से मिलने के लिए सागल पहुँचा। वहाँ नागसेन और मिलिन्द के जो प्रश्नोत्तर हुए उन्हे ही नागसेन ने 'उपलभ्यपाली मिलिन्द-पच' ग्रन्थ मे छै अध्यायो मे लिखा। चीनी भाषा मे इनका अनुवाद हुआ है। इन प्रश्नो से प्रतीत होता है कि नागसेन भारतीय दर्शनो के साथ-साथ यूनानी दर्शनो का भी विद्वान् था।

मध्य एशिया की सभ्यता

इतिहास की दृष्टि से मध्य एशिया की सभ्यता का अपना अलग स्थान है। एक समय इस सभ्यता ने, एशिया के प्राय सभी देशो को ग्रस्त किया, यूरोपियन देशो को रौंदा। इसकी बर्बर बाढो मे बडी-बडी जातियाँ और नगर लिपट कर अपना अस्तित्व खो बैठे। शनै.-शनैः इनकी यह बाढें भी दूसरी जातियो की लहरो मे विलीन होती गयी और जो अपने स्थान पर ही जमी रही, अथवा थोडी-बहुत दूर जाकर पुन॰ अपने केन्द्र-स्थल के आसपास मडराती रही, उन्होने नयी जातियो और नयी सभ्यता को जन्म दिया। मध्य एशिया की नयी सभ्यता के सृजक-खानो और हूणो मे से जो लोग आर्य-वशावली को खोजते हैं, उत्खननो से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन बर्बर-जातियो मे न सभ्य आर्यों की कभी उत्पत्ति हुई थी और न ही आर्य जातियाँ, उनसे भी ऊपर (रूसी साइबेरिया आदि) से आकर मध्य एशिया आती हुई एशिया के अन्य देशो मे फैली, क्योकि मध्य एशिया मे कही भी आर्यो के जीवन के अवशेष उपलब्ध नही। इसके विपरीत मध्य एशिया मे मानव का विकास यूरोप के अतिम हिमयुग से बाद मे ही हुआ, जबकि एशिया के अन्य भागो मे उससे पहिले हो चुका था। यही कारण है कि मध्य एशिया की 'बर्बर-सभ्यता' को सभ्य बनने मे भी पर्याप्त समय लगा।

मध्य एशिया की सभ्यता का पर्यवेक्षण—मध्य एशिया के उत्तरापथ पर प्रारभ मे शक जाति का निवास था। इन्ही के वशज मसगित, कग, अलान थे और उन्ही की वश बेलि मे यूची, तुखार और ब्रू-सुन थे। ई० पू० द्वितीय शताब्दी मे शको की भूमि पर हूण फैलने लगे और जैसे-जैसे शताब्दियां बीतती गयी, उनके वशजो, अवारो जुजूनो और तुर्कों के अनेक कबीले शक वशजो का स्थान ले, इस भूमि को तुर्क भूमि मे बदलने लगे। किन्तु इस समय भी तरिय उपत्यका शक-वशी तुखारो और भारतीय राजाओ के हाथ मे थी। इसी कारण वहाँ प्राकृत-भाषा और भारतीय लिपि की प्रधानता थी। भारतीय बौद्ध-धर्म, यहाँ सार्वजनिक धर्म था। कुछ व्यापारी लोग ईरान के मानी और जरथुस्त्री धर्म को भी मानने वाले थे। फिर भी सभी धर्मों के मानने वालो मे बडा प्रेम था। इसका प्रमाण यही है कि मुसलमानो ने जब इनका सफाया किया, तब सभी धर्मों के सन्तो ने एक जगह ही प्राण दिये थे और मुसलमानो ने सभी का सर काट दिया था। अस्तु तरिय-उपत्यका के नगर पहिले तुर्कों के आधीन

रहे। ६९२ ई० मे तुर्कों से तिब्बतियो ने छीन लिये। कारगर, खोतन, अक्सू से लगा कर नेपाल और कश्मीर सीमान्तो तक तिब्बती बढ आये थे।

७ वी सदी के अन्त तक सप्तनद से भी शक लगभग साफ हो चुके थे। परन्तु यहाँ का भी धर्म बौद्ध धर्म ही था। ईरानी लोग जरथुस्त्र धर्म की अपेक्षा मानव-धर्म के अनुयायी थे। तुर्क खान लोग पहिले अग्नि पूजक थे। इसके बाद बौद्ध मतावलम्बी हो गये थे। यहाँ उस समय तुर्क और सोग्द लोग रहते थे। उन्ही का स्थान कालान्तर मे कज्जाक और किरगिजो ने लिया।

सप्तनद के उत्तरी भाग मे पहिले मसागत लोग बसते थे। इनसे पहिले इनके पूर्वज कग और अलान रहते थे। पश्चात् यह भूमि भी हूणो और उनके वशज अवारो और तुर्कों के हाथ मे चली गयी। तुर्क यहा इतने प्रबल हो गये कि हूणो को पश्चिम की ओर भागने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न रहा। उस समय वहा बुल्गार, अवार और खजार नामक कई हूण कबीले रहते थे। खजारो ने कैस्पियन सागर को अपना नाम दिया जिसे मुसलमानो ने खजार समुद्र की जगह खिजिर समुद्र बना दिया। बुलगारो का नाम रूस की बडी नदी वोल्गा ने ले लिया। इसके बाद अवार लोग भी अपने से पूर्व गये हूण लोगो के पास हगरी मे पहुच गये। आज उसी मध्य एशिया मे तुर्क वशज तुर्कमान, उजबेक, किरगिज और कज्जाक बसते हैं, जो पहिले मुसलमान थे और अब साम्यवादी हैं। मध्य एशिया के कुछ भाग पर चीन का भी अधिकार ह और कुछ पर ईरान और अफगानिस्तान का।

कुषाण-संस्कृति—ईसा से ३सरी से ५वी शताब्दी तक की सस्कृति कुषाण सस्कृति हैं। इसके प्रारम्भ के साथ कगो का वैभव नष्ट हो जाता है। इस समय कगो की बनवाई हुई नहरें टूटने लगती है। अत उनके नगरो को रेगिस्तान निगलने लगता है, केवल मिट्टी की दीवारे बची रहती है। रेगिस्तान और वर्षा की कमी के कारण, किजिलकुम की मरुभूमि ने इन नगरो की बहुत सी वस्तुओ को सुरक्षित रखा, जिसस इनकी सस्कृति की जानकारी हो सकी। इन लोगो के बहुत से सिक्के, मूर्तियो के अतिरिक्त चमडे पर लिखे इनके कग भाषा के लेख भी मिले हैं। यहाँ पक्के परसन मे एक पुराने मन्दिर का ध्वसावशेष भी मिला है, जो सम्भवत अग्नि--पूजको का है। ५वी सदी के बाद, १०० वर्षो के लगभग यहाँ और कोई सस्कृति रही। इस सस्कृति क चिन्ह बेकुर्त—कला तथा तोशिक कला मे मिले हैं। अरब विजेताओ के सम्पर्क मे यही सस्कृति आयी। यही दसवी शताब्दी मे ख्वारेज्म का प्रसिद्ध विद्वान् अबूरेहा अलबरूनी पैदा हुआ।

मध्य एशिया का पाषाण-युग—प्राय प्रत्येक देश की सभ्यता, नदियो की तलहटियो और जहां पर पानी का सुभीता हुआ, उन पर्वतो की उपत्यकाओ म ही फूल-फली है। अत. मध्य एशिया की सभ्यता का विकास भी सरदरिया की उपत्यका, सोग्द, तुषार (मध्य वक्षु उपत्यका), ख्वारेज्म, अराल और पव की उपत्यकाओ मे ही हुआ और वही से मानव-जाति के अन्तिम पाषाण-युग के अवशेष भी मिले हैं।

इन अवशेषो का काल ७ हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है । उस समय इन उपत्यकाओ मे बसे हुए मानव, हरियाले स्थानो पर पशु चराते थे, मैदान मे कृषि भी करने लगे थे और अपने व्यवहार मे हाथ मे बनाये (बिना चाक) मिट्टी के बर्तनो का प्रयोग करते थे ।

सभ्यता मे परिवर्तन—यही समय वस्तुत पत्थर-युग के मध्य एशियाई मानव की सभ्यता मे परिवर्तन का है । इस परिवर्तन मे उसने यत्र-तत्र न घूमकर एक स्थान पर जमकर, रहना प्रारम्भ किया । अत यहाँ परिवारो ने अपने छोटे-छोटे ग्राम बनाये । अपना आखेट जीवन कम करके कृषि कर्म प्रारम्भ किया । फलत पहिले, जहाँ पत्थरो से मनुष्य जगलो मे शिकार करता फिरता था और स्त्रियाँ पशु-पालन का कार्य करती थी, अब पशु-पालन और कृषि-कार्य का भार स्त्रियो के हाथो से पुरुषो ने ले लिया । अत पाषाण-युग की मातृसत्ता का स्थान पितृसत्ता ने ले लिया । अपना कृषिकर्म इन्होने गेहू और जौ की खेती मे प्रारम्भ किया । अपने पहाडो की उपत्यकाओ मे इन्हें गेहू और जौ के बीज मिले । इन्ही कुदरती तौर पर जमे गेहू और जौ के पेडो को यह पर्वती उपत्यकाओ मे अपने पशुओ को चराया करते थे और स्वय शिकार करके पेट भरा करते थे । लद्दाख की घाटियो मे जगली गेहूँ और चने के खेत अब भी मिलते हैं, जिन्हे लोग अपनी बकरियो को चराया करते हैं ।

प्रारम्भिक कृषि उपकरण—वैज्ञानिक लोगो का अनुमान है कि पहिले अनाज की खेती भी मनुष्य ने अपने पशुओ के चारे के लिए की । इन बीजो को वह स्वय भी खा सकता है, इसका ज्ञान उसे बाद मे हुआ । इस ज्ञान के प्राप्त होने पर वह केवल शिकार पर ही निर्भर नही रहा । वरन् मौसम की प्रतिकूलता, शिकार के न मिलने और शिकार के समय के खतरो से भी उसे मुक्ति मिल गयी । इस समय का मानव अपने पत्थर के हथियारो के साथ-साथ नुकीली लकडी के हथियारो का भी प्रयोग करने लगा था । वह अपने पत्थर के हथियारो से पेडो से मोटे टहने तोडकर उन्हे चकमक के हथियारो से नुकीला बना लेता था । अतः पहिले उसने अपने पत्थर के कुदाल को लकडी के डंडे मे बाँधकर बारिश से गीली हुई जमीन को खोदकर कृषि करना प्रारम्भ किया । इसके बाद उसने अपने फावडे को लम्बा रूप किया, यही उसका पहला हल हुआ । जिसमे खीचने की सुविधा की दृष्टि से चकमक के फलक को नुकीला और सकरा किया गया । इसे पहिले आदमी ने खीचा, बाद मे धीरे-धीरे पशुओ से खिचवाने की परिपाटी चली । कुछ जगहो मे हल का आविष्कार और भी बाद मे हुआ । इन लोगो ने जगल के कुछ भेडो को जलाकर उसकी राख मे अन्न के दाने मिलाकर खेती शुरू की, जैसे कि अब भी असम आदि राज्यो के आदिवासी करते हैं ।

अपनी फसल को इन्होने पहिले जड से उखाडकर, उसे डडो से पीट पीट कर दाने निकाले । यह प्रथा बहुत दिनो तक जारी रही । इसके बाद मुडी हुई लकडी मे चकमक पत्थर के तेज धार वाले टुकडे लगाकर फसल काटने का हसिया (दरात) बनाया गया । इसके बाद फसल को खाने के रूप मे प्रयोग करने की आवश्यकता पडी ।

इन लोगो ने अबीसीनिया (इथोपिया) के दानाकील जाति के लोगो की भाति पहिले अन्न के दानो को सूखा या भिगोकर चबाया । उसके बाद, पत्थर की शिलाओ मे छेद कर ओखली बनाई गयी, जिसे लम्बे पत्थर से कूटा गया । ११वी—१२वी सदी तक तिब्बत की घुमक्कड जातियाँ भी ऐसी ओखलिया और डडे साथ रखती थी । यही चक्की का आदिम रूप था । पहिले यह लोग अन्न के दानो को भूनते, बाद मे बारीक कूटकर सत्तू बनाकर खाया करते थे । यही कारण है कि पाषाण-युग के उपकरणो मे जहाँ पत्थर की कुल्हाडिया, हसिया और हथौडे तथा ओखली मूसल आदि मिलते है, वहा चक्की कही नही मिली । केवल 'अनौ' की खुदाई से एक तदूर जैसी भट्टी मिली है, हो सकता है वह रोटी पकाने का तन्दूर न होकर, अनाज भूनने का ही उस समय का भाड हो । अत यह सर्वविदित है कि मानव ने रोटी पकाने का ज्ञान बहुत काल बाद प्राप्त किया , अन्यथा वह अन्न का सत्तू बनाकर ही खाता रहा ।

पशु पालन—यह लोग अपने आखेट काल मे ही कुत्ते को पहिले ही पालतू बनाकर अपने शिकार के कार्य मे सहायक कर चुके थे । उसके बाद, घोडा, भेड, गाय तथा हरिण आदि पशु पालतू बनाये गये । इनसे मानव ने कृषि आदि का काम लेना तो बहुत बाद मे शुरू किया, पहिले तो इन्हे मास के लिये ही पालतू बनाया । इसी तरह ऊँट, जगली गदहो और भैसो को पालतू बनाया गया ।

खाने-पीने के बर्तन—प्रथम पत्थर युग मे ही मनुष्य को आग का ज्ञान हो चुका था, किन्तु वह उस पर केवल मास भून कर ही खाता था । इसके पश्चात् उसे उस पर मिट्टी के बनाये बर्तन पकाने का भी ज्ञान हुआ । परन्तु यह ज्ञान उसे हजारो वर्ष बाद प्राप्त हुआ । वह भी किसी जाति विशेष के आविष्कार के कारण न होकर अपनी आवश्यकता के अनुरूप परिवार का समझदार व्यक्ति मिट्टी का बर्तन बनाकर उसे आग पर तपाकर मजबूत बना लेता था, परन्तु उस पर चित्रकारी करके सजाने का रिवाज नही था । यह रिवाज उस समय प्रचलित हुआ जिस समय बर्तन चाक पर बनने लगे अर्थात् बर्तन बनाना एक साधारण बात हो गयी और उसके पश्चात् श्रम-विभाजन जातिगत हो गया यानी बर्तनो के बनाने के लिये भी कुम्हारो की एक जाति अलग बन गयी । अत अन्तिम पाषाण-युग का मानव अपने हाथ से ही मिट्टी के बर्तन बनाता था । प्राय सभी परिवारो मे ऐसे बर्तन बनाने की कला मे एक-दो मनुष्य दक्ष हो गये थे ।

हथियार और औजार—प्रथम पाषाण युगीन मानव के हथियार अधिकतर हड्डी के होते थे, 'किन्तु द्वितीय पत्थर-युग मे इनका स्थान चकमक पत्थर ने ले लिया था । इस चकमक की प्राप्ति के लिए भी उसे कम कष्ट नही उठाना पडता था । चकमक खरिया मिट्टी की खानो की ऊपरी पपडी से उन्हे प्राप्त होता था, जिन्हे पत्थर की कुदाल से काफी गहरा खोदकर प्राप्त करना पडता था । यह खाने भी प्रत्येक जगह सुलभ नही थी । अत इस मँहगी वस्तु को प्राप्त करने के लिए कभी कभी बडे शिकार से पत्थर का टुकडा बदल लेते । कभी कभी बदले मे कुछ खालो या अपनी कोई कीमती वस्तु भी देकर बदल लिया जाता था । छीना-झपटी भी होती हो, तब भी आश्चर्य

नही। इस पत्थर के घिसने से इसी मे चमक और धार पैदा नही हो जाती, वल्कि यदि पत्थर इससे घिसा जाय, तब वह भी धारदार वन जाता है। अत उस समय इससे लोग दुहरा काम लेते थे। अर्थात् इससे घिसकर पत्थरो को तेज करके उसके भी हथियार बनाते थे और इसके भी। इनके अतिरिक्त उस समय लकडी और पशुओ के सीगो के भी हथियार बनाये जाते थे और यह पेड काटने से लेकर, लकडी की वस्तु बनाने तक मे सहायक थे।

मध्य-एशिया के पाषाण युग के अवशेष—मध्य एशिया के अतिम पाषाण-युग के अवशेष कई स्थानो पर प्राप्त हुए हैं; किन्तु यह अवशेष अनो मे, १९०३ मे अमेरिकन पुरातत्ववेत्ता राफेल पम्पेली को वहुतायत मे मिले। यह स्थान ईरान और रूस की सीमा पर स्थित कोपेत-दाग पर्वतमाला से थोडा हटकर उत्तर मे है। इस व्यक्ति ने यहा के ध्वसावशेषो की खुदाई के अतिरिक्त अश्कावाद के कूप मे नल गलवाकर, भूमि स्तरो की जाच की थी। कूप की इन मिट्टी की विभिन्न परतो से ही यह पता चला था कि मध्य एशिया का जलवायु परिवर्तनशील रहा है। अनो मे तीन जगह खुदाई की गयी थी। एक कूर्गान (उत्तरी डीह), यह स्थान आस-पास की भूमि से ३० फुट उचा है। यहा प्रथम और द्वितीय पाषाण-युग के अवशेष मिले। ज्ञात हुआ कि पाषाण-युग के अन्तिम दौर मे लोग कच्ची ईटो के आयताकार मकान बनाकर रहते थे। घरो की छते फूस की होती थी। पश्चात् वर्षा के कम होने के कारण मिट्टी की छतें बनाई जाने लगी। इसका अर्थ स्पष्टत यही है कि आज से ६ हजार वर्ष पूर्व मध्य एशिया मे वर्षा अधिक होती थी और जलवायु तर था। अत वहा बीमारियों की वहुतायत और मनुष्य जीवन की अल्पायु का होना भी स्वाभाविक ही है। अत. जिस समय वहाँ का मनुष्य कच्ची ईटो की दीवारें बनाकर रहता था, उस समय भारत मे मोहन-जो-दडो और हडप्पा (वर्तमान पाकिस्तान) तथा महिष्मति के लोग पक्की ईटो के सुन्दर मकान बनाकर रहते थे।

सभ्यता मे सुधार—अनो के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओ से ही यह ज्ञात होता है कि शनै -शनै मध्य एशिया की सभ्यता सुधार की ओर बढ रही थी। उदाहरणार्थ यह लोग अपने मिट्टी के वर्तनो पर ज्यामितीय चिन्ह बनाते थे। मिट्टी की तकली पर ऊन कातना उन्होने सीख लिया था, अत शनै-शनै खाल का स्थान ऊन का कपडा ले रहा था, किन्तु सिलने के लिये अभी भी हड्डी के सुए का ही प्रयोग करते थे। उस समय तक इन्हे तीर, भाले डेला फेंकने की गोफिया का ज्ञान नही था। अत शिकार और लडाई-झगडो मे डडो और पत्थर के औजारो का प्रयोग करते थे। छोटे-बच्चो को यह अपने घरो मे ही खोदकर गाड देते थे। बडे मुर्दो को आगन या घर के बाहर गाडते थे। मृतक के पास खान-पान की चीजो का रखना भी अनिवार्य था। सभवत कभी-कभी वच्चो की बलि भी दी जाती थी और उन बच्चो को विशेष रूप से घरो मे गाडा जाता था। वच्चो को घरो मे गाडने की प्रथा प्राचीन रोमनो मे भी [illegible]

द्वीप की जन-जातियो मे अब भी है । पम्पेली की खुदाई मे वहाँ, जहा बच्चो की समाधियाँ, शिकार के औजार तथा आखेट किये गये पशुओ की हड्डिया मिली, वहा पालिश किये बर्तन, गुडिया आदि नही मिले । धातुओ की सभी प्रकार की वस्तुओ का वहाँ अभाव था तथा मनुष्य द्वारा की गयी चित्रकारी के भी दर्शन कही नही हुए । पम्पेली की यह वस्तुए २५ फुट की गहराई मे मिली थी, अत उन्होने इस पाषाण-काल को ईसा से ६ हजार वर्ष पूर्व माना, जबकि अन्य विद्वान् केवल ५ हजार वर्ष पुराना मानते हैं । इसके बाद ही वहाँ पशुओ को पालतू बनाने का क्रम प्रारम्भ हुआ । साथ ही बर्तनो को रगीन बनाकर उनमे भी सुधार किया गया । इसी काल मे अर्थात् पूर्व समय के दो हजार वर्ष बाद लगभग ३ हजार ई० पू० मनुष्य ने ताबा धातु का हल्का प्रयोग करना शुरू कर दिया था । अत पत्थर के छुरे का स्थान तांबे के छुरे ने ले लिया ।

उस समय सम्भवत ख्वारेज्म का विशाल रेगिस्तान भी नही था । इसका प्रमाण यही है कि रूसी पुरातत्ववेत्ताओ ने वहाँ लगभग २०० बस्तियो का पता लगाया है । १९४९ ई० के रूसी शोध-अभियान मे लगभग ८० चर्मपत्रो पर लिखे अभिलेख, उस भाषा मे मिले हैं, जो समाप्त हो चुकी है ।

मध्य एशिया का ताम्र-युग—जितने वर्षो मानव पाषाण युग मे रहा, इतने दिन किसी भी धातु के युग मे नही रहा । धातु-युग मे मनुष्य सबसे पहिले ताम्र-युग मे आया, किन्तु एक साथ न आकर अलग-अलग देशो मे अलग-अलग कालो मे आया । जहाँ भारत और मिस्र आदि मे ताँबे का ज्ञान मनुष्य को पहिले हुआ वहाँ मध्य एशिया के लोगो को बहुत पीछे हुआ । मध्य एशिया के लोगो को यह ज्ञान केवल ईसा से १५०० वर्ष पूर्व ही हुआ । इसके ७-८ सौ साल बाद वहाँ पीतल-युग का प्रारम्भ हुआ, किन्तु ताम्र-युग से पीतल-युग मे आने के लिए बहुत से देशो के लोगो को इतना भी समय नही लगा, उन्हे इस धातु का ज्ञान ताँबे के साथ ही हो गया । प्रारम्भ मे मिट्टी मिली धातु को कोयले की दो परतो के बीच मे तेज आँच मे तपाकर, साफ किया जाता था । बाद मे उस साफ धातु को पीट-पीटकर, पत्तर आदि बनाये जाते थे । इसी क्रिया ने धीरे-धीरे भट्टी का स्थान लिया । इस भट्टी के चारो ओर छेद करके थोथे बास की नलियो से कोयलो को फूका जाता था । यह मानव के वैज्ञानिक-ज्ञान का प्रथम चरण था, जब उसने ताबे को, उसके मिट्टी के साथियो—सल्फेड, सिलिफेट आदि हल्के तत्वो से अलग करके ठोस तांबा अलग कर लिया । परन्तु तब तक भी यह प्रथम वैज्ञानिक इसे चकमक पत्थर का ही चमकीला भाई मानते थे । ताबे का ताबा नाम तो बहुत काल बाद पडा । प्राचीन सस्कृत और पाली ग्रन्थो मे तांबे और लोहे को अलग-अलग नामो से न पुकारा जाकर, लोहे के नाम से पुकारा गया है ।

इसी समय धातु को पिघलाने वालो का एक स्वतन्त्र-पेशा धातु पिघलाना अर्थात् लुहारगीरी का काम बन गया । जिसने कालान्तर मे अन्य व्यवसायो और व्यापार पद्धति को जन्म दिया । एक ओर जहाँ कुछ लोगो का काम कच्ची धातु की तलाश करके लाना रहा, वहा लुहारो का काम उसे साफ करके, उसका उपयोग हथियार आदि

बनाने के लिए था। इस प्रकार पत्थर के हथियारो, हल के फलको तथा शिकार करने के छुरो आदि का स्थान तांबे के उपकरणो ने ले लिया। इन उपकरणो मे सम्पादन का कार्य अन्य सभ्यता के लोगो ने किया। उदाहरणार्थ भारतीय, मिस्री और क्रीट द्वीप के निवासी तथा ईरानी उस समय तांबे के युग को बहुत पीछे छोड आये थे और जिस समय मध्य एशियाई जगली जातिया ईरान आदि पर अपने तांबे के हथियार लेकर धावे बोलती थी, उस समय वह लोहे के तीर, भालो और बर्छों से लडने लगे थे। तांबे का प्रयोग वह बर्तनो आदि के रूप मे अथवा धनिक लोग अपने किवाडो, मन्दिरो के देवालयो की छते बनाने आदि के काम मे करते थे। मध्य एशिया की यह जगली जातियाँ उस समय दो सभ्यताओ के सम्पर्क मे आ रही थी, पहिली सभ्यता भारतीय—आर्यों की थी जो ईरान मे अपना साम्राज्य खडा कर चुकी थी—आर्योनियन लोगो की थी। दूसरी चीन देश के लोगो की पर्याप्त विकसित सभ्यता थी।

व्यापार की प्रारभिक अवस्था—अन्य देशो की भाँति मध्यएशियाई लोगो के सामने तीन वस्तुए आयी। एक पशु-पालन, जिसमे आखेट भी सम्मिलित किया जा सकता, है, दूसरा कृषि-कर्म और तीसरा धातु की वस्तुए। इन्ही तीन वस्तुओ ने अनिम व्यापार की अवस्था, वस्तुओ की अदल-बदल के रूप मे स्थापित की। जिसका शनै-शनै विकास होता गया।

सामाजिक-व्यवस्था का प्रारम्भ—तांबे के युग मे आकर ही यहा भी सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भ हुई। छोटे-छोटे परिवार वाले ग्रामो मे परिवार का एक वृद्ध व्यक्ति मुखिया बनाया गया। जिसकी आज्ञा-पालन करना परिवार के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था। इस ताम्र-युग मे आस-पास के देहात जन के नाम से सगठित हुए और उन्होने अपना एक मुखिया चुना। यह मुखिया ही बाद मे, यूथो का सरदार बना और उसके पश्चात् इसी ने राजा का रूप लिया। उस समय भी इन जनो मे परस्पर लडाइया होती थी, और जिस जाति का जन हारता था, उसका पूर्ण विनाश कर दिया जाता था। गुलामी की प्रथा का ज्ञान न होने के कारण, एक जाति दूसरी का विनाश कर दिया करती थी।

विवाह-प्रथा—उस समय कोई व्यवस्थित विवाह-प्रथा नही थी। एक जन की स्त्रियाँ, उस जन के सभी पुरुषो की पत्निया, होती थी। बच्चे माता की सन्तान थे। वह समय मातृसत्ता प्रधान था। पत्नी पर एकाधिकार की प्रथा का प्रारम्भ व्यवस्थित खेती और लडाइयो मे पकडी गयी, पराजितो की स्त्रियो के कारण हुआ। इसी समय से यहा दास-प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी। इन्ही लोगा से धीरे-धीरे श्रम कराया जाने लगा। जिसने कुछ समय बाद ही सामन्त-प्रथा और पूजीवाद को जन्म दिया।

भारतीय सभ्यता से सम्बन्ध——मध्यएशिया के अनो और ख्वारेज्म मे तांबे के युग के अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सभ्यता का भारतीय सभ्यता-मोहन-जो-दडो और हडप्पा से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। और मोहन-जो-दडो की मातृ देवी की मिट्टी की मूर्तिया वहा भी बनाकर पूजी जाने लगी थी। साथ ही अब बर्तन भी चाक पर बनते थे। और उन पर पशुओ, मनुष्यो तथा पक्षियो के चित्र

बनाये जाते थे। साथ ही ताबे के तीर भी बनने लगे थे। परन्तु अनौ और ख्वारेज्म मे एक ही जाति के लोग होते हुए भी, विकास की दृष्टि से अलग-अलग रहे। सम्भवत अनौ के लोगो की भाँति ख्वारेज्म के शिकारी अथवा मछियारा जाति के लोग भारत आदि की विकसित सभ्यता के सम्पर्क मे तो आये ही नही, अनौ मे रहने वाले अपने बधुओ से भी बचते रहे, इसी कारण इनका सामाजिक ढाँचा देर से विकसित हुआ। उदाहरणार्थ इस सभ्यता के लोगो ने पीतल के बर्तन बनाना भी अब से लगभग २७०० वर्ष पूर्व साखा, जबकि भारतीय समाज अपनी सामाजिक व्यवस्था को प्रत्येक प्रकार से पूर्ण कर, धार्मिक वैज्ञानिक तथा सामाजिक साहित्य का सृजन कर रहा था। ख्वारेज्म के उत्खनन से उपलब्ध तेगिककला और अमीराबाद के ध्वसावशेष इस बात के प्रमाण है कि ७ वी ई० पू० तक यहाँ लोग पक्की ईटो का मकान बनाना तक नही जानते थे। अलबत्ता उत्तरापथ मे प्राप्त मिनसून सस्कृति के लोगो की कब्रो मे रखे पीतल के छूरो, आभूषणो, तलवार और कुल्हाडो से यह सिद्ध होता है कि यह लोग पीतल बनाना जान गये थे और ताँबे का स्थान पीतल ने लेना प्रारम्भ कर दिया था। इसी जाति को शक जाति की पूर्वज बताया जाता है और इन्ही की एक शाखा को आर्य। अर्थात् रूसी इतिहासकारो का मत है कि मध्यएशिया के ताम्र युग मे अनौ, ख्वारेज्म से सप्तनद तक वहाँ मुन्डा-द्रविड जाति की प्रधानता थी। पीतल युग मे आर्यो और शको के पूर्वज सारे उत्तरापथ और दक्षिणपथ मे फैले। पीतल युग मे इनकी शाखायें मध्य एशिया छोड गयी और इसके बाद पुन अपने पूर्वजो की भूमि मे लौट आयी। इसके लिए उन्होने प्रमाण यह दिया है कि अल्ताई से सिक्यांग तक फैले, मुन्डा-द्रविड जाति के अवशेष बोल्गा के उत्तर के वनखण्डो मे रहने वाली कौमी, वाल्तिक के पूर्वी तट पर बसने वाली एस्तोनी और फिनलेंड मे बमने वाली फिन जाति के रूप मे पाते है। किसी समय का लेनिनग्राड और मास्को का भू-भाग उसी जाति का था फिन भाषा का द्रविड भाषा से सम्बन्ध भी इसी बात की पुष्टि करता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। पहली बात तो यही है कि मुन्डा जाति के लोग दक्षिण भारत के रहने वाले थे और उनकी सस्कृति ईसा से ३ हजार वर्ष पूर्व स्वस्थ हो चुकी थी, जैसा कि उत्खननो से स्पष्ट है। उस समय मध्य एशिया का मानव नितान्त पाषाण-युग मे पडा था। दूसरी बात यह है कि यदि मध्यएशिया से यह जातियाँ भारत आती, तब पहिले पजाब तक आ सकती थी न कि सीधे दक्षिण पहुँचती, जबकि पजाब और दक्षिण के बीच मे सागर था और उस समय सागर के दोनो ओर जातियाँ बसने के चिन्ह विद्यमान हैं। तीसरी बात यह है कि मध्य एशिया के कथित आर्यो को, उनके निवास स्थान मे कही भी प्रकृति की पूजा करते नही पाया जाता। भारत मे आकर एकाएक ही वह कैसे इतने सुसस्कृत नागरिक बन गये। यदि भारतीय आर्यों की पूजा-विधि के प्रारम्भिक कालक्रम तथा उनके मन्त्रो की रचना के काल का निर्धारण किया जाय, तब वह समय ईसा से लगभग ७ हजार वर्ष पूर्व का बैठता है, उस समय मध्यएशिया का मानव सम्भवत पशु-तुल्य जीवन ही व्यतीत कर रहा था। सबसे अधिक विचार-

णीय बात यह है कि मुन्डा लोगो की भाषा और उनके रीति-रिवाज ज्यो के त्यो अभी भी अफ्रीकी देशो, अण्डमान निकोबार तथा फिलपीन की कई जातियो मे इसीलिए पाये गये हैं कि उस समय अफ्रीका और एशिया जुडे हुए थे। तब क्या इसका अर्थ यह लगाया जाय कि रूस आदि से आकर मुन्डा जाति के लोग दक्षिण भारत मे बसते हुए अफ्रीका तक फैल गये ? अत यह युक्तियुक्त धारणा नही।

मध्यएशिया की जातियां

प्राचीनकाल अर्थात् पाषाण, ताम्र और पीतल युगमे मध्य एशिया मे बहुत सी आदिम जातियाँ पर्वतो की उपत्यकाओ, नदियो की गोदियो और सागर तट पर बसी हुई थी। एक-दूसरे से लडते-झगडते यह दूसरे राज्यो पर भी आक्रमण करती थी। कभी उस आक्रमण मे यह लडाई मे नष्ट हो जाती थी, कभी विजयी हो कर वही बस जाती थी और आस-पास की जातियो मे घुल-मिल जाती थी। इन जातियो मे शक सीथियन जो वस्तुत शकोके ही भाई-वन्द थे, हूण*और गाथा मुख्य हैं। इन्होने यूरोप मे जहा यूनान और रोमन साम्राज्य पलटा वहा ईरान आदि का भी पर्याप्त भाग हडप कर वहा बस गये। हूण लोगो ने भारत, चीन और थाई देश तक धक्के मारे। परन्तु भारतमे वह अपनी पृथक् सत्ता समाप्त कर यहा की जातियो मे ही घुल-मिल गये। मध्य एशिया के शेष बचे जो आक्रामक होकर बाहर नही गये वह भारतीय बौद्ध-धर्म के प्रकाश मे बौद्ध बने और उसके पश्चात् १०वी शताब्दी मे अरब से उठने वाली इस्लाम-धर्म की आँधी की लपेट मे आकर मुसलमान बने। तब यह गोर आदि नामो से पुकारे जाने लगे। भारत के मुगल-सम्राट् भी इन्ही लोगो केवश के थे।

शक-जाति

डेन्यब (युनाई नदी) से अल्ताई पर्वत माला तक फैली हुई, जाति को शक और उस

---

* भारतीय वाङ्मय के अनुसार भारतवासी बहुत समय से हूणो से परिचित थे जिस समय वशिष्ठ जी और विश्वामित्र का युद्ध हुआ, उस समय अन्य जातियो के साथ हूणो ने वशिष्ठजी की सहायता की थी।

"चिवुकाश्च, पुलिन्दाश्च, चीनान् हुनान् सकेरलान्।
ससर्ज फेनत. सा गौर्म्लेच्छान् बहु विधानपि।"

—महाभारत आदि पर्व

इसके अतिरिक्त रघुवंश के चौथे सर्ग मे भी लिखा है कि रघु ने दिग्विजय के समय हूणो को परास्त किया था। यथा—

"तत्र हूणावरोधाना भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोल पाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्।"

स्थान को प्रारंभिक **शकास्थान** * या शकद्वीप कह सकते है । परन्तु ई० पू० तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे, ईरान के पूर्वी भाग मे शको के निश्चित रूप से बस जाने पर इस भाग को **शकास्तान** कहा जाने लगा, परन्तु अपने मूल स्थान मे अब भी शक बसे हुए थे। वहा से इनका पलायन ४थी शताब्दी मे मगोलिया से आये हूणो के अत्याचारो से हुआ और अवशिष्टो का सफाया शको की ही **गाथ** नामक एक शाखा ने कर दिया, जो काला सागर के किनारे बसती थी। इन भागे हुए शको ने यूनानी राज्य और भारत मे कई सौ वर्ष तक घुसपैठ जारी रखी। इस समय तक भी यह लोग अपना घुमक्कड जीवन अपनाये हुए थे।*

सामाजिक-जीवन—शको का सामाजिक-जीवन भी प्रारम्भ मे **नगर-राज्य** की भाँति ही था । उनका सरदार ही सभवत राजा था । दारा (प्रथम) के शको पर ५१३ ई० पू० आक्रमण करने से भी १ हजार वर्ष पहिले उनके राजा अथवा सरदार का उल्लेख यूनानी इतिहासकारो ने किया है । ई० पू० चौथी शताब्दी मे इनके एक नगर राज्य का नाम **सर्वमात** (सत्मात) यह सिद्ध करता है कि इनके पारिवारिक जीवन मे **मातृ-सत्ता** प्रधान थी । लडाइयो मे स्त्रिया भाग ही नही लेती थी, अपितु कभी-कभी सैन्य-सचालन भी करती थी। अपने सौंदर्य के लिए शक सुन्दरिया सब देशो मे प्रसिद्ध थी।

वेशभूषा—इनकी वेश-भूषा की रूपरेखा का ज्ञान इनकी मथुरा और अमरावती से प्राप्त दूसरी तीसरी शताब्दी की मूर्तियो और इनके सिक्को से होता है। यह लोग सर पर नुकीली टोपी पहनते थे । कमर पर लम्बा चोगा पहना जाता था और पायजामे के बाद लम्बे बूट पहिनते थे। कमर मे कमरबन्द बाँधते थे और उसमे तलवार लटकाते थे। इनकी नाक लम्बी और बाल श्वेत होते थे ।

देवी-देवता—शक लोग सूर्य के उपासक थे। इसका प्रमाण यूनानी इतिहासकार तो है ही, साथ ही मथुरा आदि मे रखी इनकी सूर्य की विशाल मूर्तियाँ भी है। उस समय रूस तक की सभी जातियां ईसाई-धर्म अपनाने तक सूर्य की ही पुजारी थी। यह लोग सूर्य को "स्वलियु" कहते थे। सूर्य की मूर्तियो को भी इन्होने अपने ही जैसे लम्बे बूट पहिनाये हैं । इनके सूर्य देवता का पिता दिब्रू और माता अपिया (आधी-पृथ्वी थी) अत दिबू वैदिक (द्यौ) और **अपिया** भी उनकी पूजनीया थी। इनके एक देवता पक नाम के थे। जिन्हे **ईरानी बग** और आर्य **भग** कहते थे । अत यह अपने सरदार को पकपूर ही कहते थे। चन्द्रमा को यह अरतिम्पत नाम से पूजते थे। इनकी एक देवी **वृन्दू** नाम की थी ।

---

* "कश्यमाना निवोधध्व शाकद्वीप द्विजोत्तमाः ।
जम्बूद्वीपस्य विस्ताराद्द्वीगुणस्तस्य विस्तरः ।" **मत्स्य पुराण**

यहाँ प्रसिद्ध **वक्षु नदी** को उक्त पुराण मे **इक्ष्वनदी** लिखा है । ग्रीक इतिहासकारो ने इसे **शाकताइ** और सिखिया नाम से पुकारा है ।

बर्बर जीवन—इन लोगो का जीवन अत्यन्त बर्बर था। मांस और प्याज तो इनका मुख्य भोजन था ही, साथ ही यह रक्त-पान भी करते थे। यह आदत हूणो मे भी पाई जाती थी। युद्ध के समय शत्रु का खून पीना और विरोधी सरदार या सेनापति का सर काटकर उसकी खोपडी का कटोरा बनाकर रख लेना, आम बात थी।

नारी-समाज—नारियो को पर्याप्त स्वतन्त्रता होते हुए भी इनके वैवाहिक-जीवन की किसी प्रथा का आभास नही मिलता। इनकी कब्रो की खुदाई से यह अवश्य ज्ञात होता है कि जहा इनके मृत सरदारो के साथ खाने-पीने और पहिनने की वस्तुओ के अतिरिक्त घोडे आदि भी दफनाये जाते थे वहा कम से कम एक मुख्य स्त्री और बादियाँ भी गाडी जाती थी। इनके सरदारो की कब्रें अल्ताई पर्वत माला और काकेशस मे मिली है। इनकी साधारण कब्रो मे भी खानपान की चीजें और बर्तन भी रखे जाते थे। यही पद्धति इनकी दूसरी शाखा खस जाति मे भी थी खसो की कब्रें लद्दाख और कुमाऊँ के बीच मे बहुत पायी गई हैं। मुर्दे को गाडने के साथ-साथ शको मे मुर्दा जलाने की प्रथा भी थी। उसमे भी स्त्री को जलना पडता था। ९वी शताब्दी तक रूस मे भी यही प्रथा थी। एक अरब पर्यटक ने मृतक के साथ स्वय जीवित स्त्री को जलते देखा।

वस्तुत अन्तिम सस्कार की यह पद्धति, सीथियनो और हूणो मे भी थी और शको की दूसरी जाति शाखा खसो मे भी थी। इस खस जाति का वर्णन यूनानी इतिहासकार **टालेमी** ने भारत की पर्वतीय जाति के रूप मे किया है। मध्य एशिया की नही। राहुल साकृत्यायन ने, गिलगित, कश्मीर, नेपाल और काशगर के निवासियो को खस मानते हुए नेपाली-भाषा का प्रमाण दिया है कि नेपाली-भाषा का नाम **खस-कुरा** (खस-भाषा) है। इन्हे तरिम उपत्यका के आदिवासी मानते हुए उत्तर एशिया मे इनका बढ़ाव माना है। इनके मूल स्थान से इन्हे हूणो ने भगाया था।

रूसी पुरातत्ववेत्ताओ ने १९५३ ई० मे अल्तायी पर्वतमाला (साईबेरिया) की पाजरीक घाटी मे इन्ही लोगो के सरदार की कब्र को खोला था, जो प्रारम्भ से ही बर्फ मे दबी हुई थी, अत. उसके अन्दर का सामान भी ज्यो का त्यो सुरक्षित मिला है।

इस हरीभरी सुन्दर घाटी के बर्फ से ढके पाच टीलो को उन्होने खोला था। पहिले इनके ऊपर जमी बर्फ को गर्म पानी से पिघलाया गया। बर्फ पिघलने पर लकडी का बना एक तहखाना मिला, जो एक बिना खिडकियो के घर के समान था। इसके अन्दर की चीजो पर भी बर्फ जमी हुई थी। बर्फ के हटाने पर वहाँ से अब से २५०० वर्ष पहले के लगभग समय की वस्तुए प्राप्त हुई। इनमे चमडे को चोबकारी के कार्य से युक्त वस्तुएँ, रेशम और फनर के बने महिलाओ के कपडे, योद्धा के शिरस्त्राण थे जो न गले थे, सडे थे ज्यो के त्यो मौजूद थे।

इसके बाद उन्हे देवदारु की लकडी की बनी शव-पेटिका मिली इसमे एक खास सरदार और उसकी पत्नी के शव थे। सरदार का रग सावला और गालो की हड्डियाँ कुछ उभरी हुई थी। स्त्री का शरीर श्वेत तथा कद ठिगना और कोमलता की

आभा से युक्त था। दोनो शवो पर मसाला लगाया हुआ था। सरदार के सीने और कधो पर गोदना गुदा हुआ था। इस गोदने का चित्र एक परदार गृद्ध था, जिसकी शक्ल बिल्ली जैसी थी। दूसरा बाज जैसी चोच वाला एक हिरन था और तीसरा चित्र किसी बिल्ली-बिलाव की मात्र दुम थी। उस समय इस प्रकार गोदने वीर साहसी तथा सरदारो के ही गुदे होते थे। दोनो शव बिल्कुल ताजे थे।

इस शव-पेटिका के अतिरिक्त तहखाने से एक फैल्ट का बहुत बडा कालीन मिला। इसके बीच मे समृद्धि की देवी का एक चित्र बना था जो अपने हाथो मे जीवन वृक्ष को थामे हुए थी। उसके सामने काले बालो वाला घुडसवार खडा था। कालीन के चारो ओर तेज रग के फूलो की बेल बनी हुई थी। इस नम्दे के कालीन के पास ही एक मखमली कालीन भी मिला। इस कालीन पर घुडसवारो, शेर के शरीर और बाज़ की चोच वाले विचित्र जन्तुओ और हरिणो क चित्र बने थे। इस कालीन के डिजाइन से ही खस योद्धा के दफनाने के समय की जानकारी पुरातत्ववेत्ताओ को मिली। इस मखमली कालीन पर अकित घुडसवार की आकृति, ईरानी सिक्को और ईरानी खडहरो से प्राप्त, ईरानी आर्य राजाओ से मिलती हुई है। इन खण्डहरो का समय भी ई० पू० छठी शताब्दी ही है। यहाँ एक चीनी आईना भी मिला।

इस तहखाने के पीछे लकडी की एक दीवार थी। उस दीवार को भी तोडा गया। उसके पीछे १४ सुन्दर घोडे खडे दफनाये हुए थे। इन घोडो पर नक्काशी के काम और सोने के पत्थर से युक्त जीने थी। विभिन्न रगो से युक्त लबादे और रेशम की बनी हुई बागे थी। अस्तु इस घाटी से प्राप्त बस्तुओ ने शक-सस्कृति के इतिहास का एक बन्द पृष्ठ खोल दिया। उसी से यह ज्ञात हुआ कि मध्यएशिया की शक सभ्यता कितनी विकसित हो चुकी थी।

जाति शाखायें—शक जाति भी कई उपजातियो और कबीलो मे विभक्त थी। दारा के बहिस्तान के अभिलेखो मे तीन शक जनपदो का उल्लेख आया है। उनके नाम है—तिग्राखौदा, होमवर्क तथा त्याई। परन्तु उनके स्थानो का कुछ पता नही चलता। रूसियो की नई खोजो से यह ज्ञात हुआ है कि इनका मसागित् नामक एक जनपद जिसका अर्थ महाशक होता है, यक्सर्त नदी से ख्वारेज्म तक फैला हुआ था। इस जनपद के रहने वालो के सभी हथियार तथा औजार पीतल की धातु के बने होते थे। वैवाहिक पद्धति मे अभी तक भी यूथ-विवाह प्रणाली को अपनाये हुए थे। इनका दूसरा जनपद था—सकरौका—इनकी भूमि सोग्द के उत्तर मे थी और यह दारा के समय ईरानी राज्य के अन्तगत थे। दाहे नामक एक उपजाति इनकी पहाडो मे बसी हुई थी और यह भी ईरानी राज्य की सीमा तक पहुच गये थे। एक अन्य उपजाति थी 'वुसुन-यूची जिसका चीन के साथ विशेष सम्बन्ध रहा।

मध्यएशिया के शक और बौद्ध धर्म

यह निर्विवाद मत है कि भारत से बौद्ध-धर्म का विस्तार सब से पहिले मध्य-

की बस्ती छोडकर चौथी शताब्दी तक 'लो-लन्' मे वसे रहे। वस्तुत यह उनका भ्रम है; क्योकि चौथी शताब्दी मे ही शक भारत आये थे। इनमे तीन लेख रेशम के कपडे पर भी मिले है। १५० ई० से पूर्व चीन मे रेशम के कपडे पर ही लिखाई होती थी। निया के यह लेख लगभग तीसरी शताब्दी के हैं। इनमे तीन राजाओ के नामो का उल्लेख है। सभी नामो के साथ 'देवपुत्र' 'शब्द' लगा है तथा महाराजाधिराज की उपाधि है। यह उपाधिया पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के उन अभिलेखो की उपाधियो से मिलती हैं, जिन्हे भारतीय कुषाण राजा धारण करते थे।

शक-भाषा और साहित्य—पूर्वी मध्य एशिया के उत्तरी भाग मे दो प्रकार की 'तुखारी-भाषा' थी, जिसका सम्बन्ध सस्कृत भाषा से था। दक्षिणी भाग मे जो भाषा बोली जाती थी, वह शक भाषा थी। इसकी लिपि के कई रूप थे और यह गुप्त अक्षरो मे लिखी जाती थी। इनमे सीधी रेखा वाली लिपि भारतीय थी। तिरछी और घसीट (Cursive) अक्षर पूर्वी तुर्किस्तान के थे। 'गाडफे हस्तलेख' शक भाषा का था, जो गुप्ताक्षरो मे लिखा गया था। स्टाइन को अभियान मे इस भाषा के और भी वहुत से लेख मिले हैं। इन लेखो को वर्लिन विश्वविद्यालय के अध्यापक लेन्मान ने पढा और जापानी विद्वान् वतनवे ने उनकी सहायता की। स्टाइन को दूसरे अभियान मे तुनह्वाग मे इस भाषा की वहुत सी पुस्तकें—कुडलियाँ मिली। इन कुडलियो ने शको को भारतीय सिद्ध करने मे बडी सहायता दी, क्योकि इनकी भाषा भी सस्कृत भाषा की अपभ्रश भाषा ही पाई गई और सस्कृत तथा शक भाषा मे 'वज्रच्छेदिका' एव 'अपरिमितायुः सूत्र' लिखे मिले। प्राप्त उइगर पुस्तक की पुष्पिका मे इस भाषा को 'कुइ-सन्' भी लिखा है। यह पुस्तक भी तुखारी से उइगर भाषा मे अनूदित हुई थी और तुखारी मे कुइ-सन् से तथा कुइ सन् मे भारतीय भाषा से। कुशान (यू-ची) इसी भाषा को अपने व्यवहार मे लाते थे। भारतीय ग्रन्थो का शक भाषा मे कितनी सख्या मे अनुवाद हुआ था, इसका प्रमाण यही है कि खण्डित सूची मे ६१ से ७० ग्रन्थो के नाम हैं। जिनका स्पष्ट आशय यह है कि सत्तर से अधिक ग्रन्थ अनूदित हुए। उदाहरणार्थ 'सुरगम समाधि', 'सघात सूत्र', 'विमलकीर्ति निर्देश', 'सुवर्ण प्रयास' और 'वज्रच्छेदिका' का अनुवाद शक भाषा मे 'वज्रच्छेका नशयें प्रज्ञा-पारम्यमस मास्ये' नाम से किया गया। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के शकानुवाद का भी कुछ अश मिला है। इस प्रकार अन्य भारतीय ग्रन्थो के अनुवादो के अश भी शक भाषा मे मिले है।

शक भाषा मे अनूदित ग्रन्थो में केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नही थे, चिकित्सा ग्रन्थ भी थे। इनमें मुख्य था—रविगुप्त कृत वैद्यक का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सिद्धसार-शास्त्र'। इस ग्रन्थ में कृमियो के विशद् वर्णन सहित प्राय सभी रोगो का निदान और चिकित्सा का वर्णन है।

शक मास और वर्ष—शक लोग अपने शुभाशुभ कार्य भी विशेष तिथियो में करते थे। शक भाषा के हस्तलेखो में अधिकाश सम्वत् मास और तिथियाँ दी हुई हैं;

किन्तु शक सम्वतो के बारे मे कोई निर्णय नही हो सका । शक साहित्य में तिथियाँ और सम्वत् निम्न प्रकार लिखा जाता था—

"सी—सु ग्रि पुह्मे मास्ति २० स्ये हडे—(यह सूत्र पचम मास बीसवें दिन मे) सहैचि मल्य दसम्ये मास्ते ८ हडे पूर्वभरिपनक्षत्रि (महैची साल, दसवें मास, आठवे दिन पूर्व भाद्र नक्षत्र मे) । शक लोगो मे मण्डल और महैची वर्ष का नाम था और बारह मासो के नाम यह थे—

१ स्काईवार (स्काईवारी), २ च्वमज (चुवाभज), ३ मू ञ, ४ रव माज (रव सा) ५ इनद्यज, ६० ञाइञ (ञाइ), ७ तेरि, ८ कञ, ९ पाञि, १०. सत्र (चञ), ११ इज, १२ वाग्ज ।

शक भाषा और भारतीय भाषा—शक भाषा और भारतीय भाषा मे अधिक अन्तर नही था । उदाहरणार्थ "बुद्धपिटक भद्रकल्पसूत्र" को शक भाषा मे "बुद्ध पिटै भद्रकल्प्यमुन्त्र" लिखा गया है और तथागतोष्णीशू मितातपत्रानाम अपराजिता महाप्रत्यगिरा" को शक भाषा मे "तथागतोष्णीश सिधातपत्रम नामा पराजित महाप्रत्यगिरा" लिखा है । मध्य एशिया के शको को 'आर्य-शक' ही कहा गया है । इनके दूसरे साथी जो यूरोप पहुँच गये थे, वह भाषा की दृष्टि से भी दूर होते चले गये । उदाहरणार्थ मध्य एशिया के शक 'सौ' को 'शत' बोलते थे और इनसे दूर (यूरोप की ओर जाने वाले), सौ को 'केन्त' कहते थे । अत मध्यएशिया के शको को 'शतम्' वश का कहा गया और दूसरो को केन्तम' वश का । अत शको की जो जाति कसू तक फैल गयी वह शतम् वश की थी । परन्तु यह एक आश्चर्यजनक बात है कि मध्य एशिया मे प्राप्त एक तुखारी भाषा केन्तम् लोगो की भी मिली है । इस चिरविलुप्त केन्तम् भाषा के कितने ही अधूरे ग्रन्थ यहाँ उत्खनन से प्राप्त हुए है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि दोनो भाषा-भाषी शक जातियो का परस्पर गहरा सम्बन्ध रहा । आना-जाना ही नही, बल्कि दूसरी भाषा के लोग भी यरोप से आ-आकर इनके पास रहे । अभिप्राय यह है है कि दोनो की आबादी मिली-जुली रही । परन्तु भाषा की दृष्टि से शक भारत से अधिक दूर कभी नही गये । उदाहरणार्थ—

संस्कृत भाषा	शक भाषा
मास	मास्ते
अवीची	अविश
द्वीप	द्विप्
(संस्कृत शब्द 'ग' का शक भाषा मे 'क' हो गया)	
कलियुग	कलियुक्
गगा	गक्
मार्गफल	मार्कफल
रूप	पू

सस्कृत भाषा	शक भाषा
अजलि	अचलीयि
अमात्य	अमाश्
राम	रामे
लक्ष्मण	ल्याम्य
दसग्रीव	दसग्रीवे
लका	लाक
चत्वारिशत्	ष्त्वराक्
पचाशत्	प्याक्
षष्ठि	शक्-शक्
सप्तति	शक्तुक्
अश्वगधा	अश्वकता
अपामार्ग	अपमार्क
तगर	तकरु
मधु	मतू
विडग	वीरक

(शक भाषा मे 'ज्ञ' शब्द का 'क' हो गया)

ज्ञान	क्नान (पश्चिमी यूरोप मे इसी से 'क्नौन' शब्द बना)

('श' और 'स' का भी शक भाषा मे 'क' हो गया)

अष्ट	ओक्ध
विशति	विंकी
दूत	द्वितीय
सुमतिदारिकापृच्छा	सुमतिधाकपृच्छ
सूर्यगर्भत्रिशतिका	सूर्यगर्भत्तृश्शतिय
तत्वदर्शनसूत्र	त्त्विदर्शनासूत्र
सुवर्णोत्तमपृच्छा	स्वर्णोत्तमपृच्छ
एक	श
द्वे	वे
त्री	त्रि
पञ्च	पञ्ा
षट्	शक
सप्त	श्पद्ध
अष्ट	ओकस

संस्कृत शब्द	शक शब्द
नव	वू
दश	शक्
एकादव	शक्शपि
द्वादश	शक्वेपि
८० (अशीति)	ओक्तुक्
९० (नवति)	नुवुक्
१०० (शत)	कन्धु
१००० (सहस्र)	कत्त
१०००० (दश सहस्र)	तुमा
कोटि	कोरि
पितृ	पितर
मातृ	मातर
अस्ति	अस्ते

इनके अतिरिक्त शक राजाओ के नाम भी भारतीय नामो के अनुरूप ही है। यथा—वगुसेन, नदसेन, षमसेन, शितक, उपजिव, अगच, चु पनिन, फूम्मसेव, पितेय, सजक, सूचम आदि।

शक-कालीन बौद्ध साहित्य की खोज—मध्यएशिया की सभ्यता का ज्ञान वस्तुत वहाँ से प्राप्त शक-कालीन बौद्ध-साहित्य से ही हुआ है। सन् १८७० ई० मे लेफ्टिनेन्ट बावर को भोजपत्रो पर लिखा हुआ एक हस्तलेख और कुछ मुद्राएँ कुचार मे एक भट्टी सी इमारत की जड से प्राप्त हुयी। यह इमारत उक्त भूमिगत नगर से सटी हुई बाहर की तरफ थी। १८९१ ई० मे डा० हर्नेल ने पढकर इस पुलिन्दे की भाषा सस्कृत बतलाई। वस्तुत यह गुप्ताक्षरो मे समुद्रगुप्त के समय चौथी सदी के उत्तरार्ध मे लिखा गया था। इसके बाद रूसी विद्वानो का ध्यान इधर आकर्षित हुआ और काशगर के रूसी कौंसिल जनरल पेत्रोव्स्की को तुरन्त ऐसे अभिलेखो की खोज करने की आज्ञा दी गयी। फलत १८९१ ई० मे इन्होने पर्याप्त साहित्य खोज निकाला, जिन्हे डा० सेर्ज् ओल्देनवुर्ग ने पढकर प्रकाशित किया।

रूसियो के बाद ब्रिटिश सरकार भी मैदान मे आयी और उसने कश्मीर, लद्दाख तथा काशगर मे स्थित अपने अधिकारियो को लेखो की खोज की आज्ञा दी। फलत ले (लद्दाख) के मोरवियन मिशन के पादरी वेवर द्वारा १८९१ ई० मे बहुत से लेख खोज निकाले गये, जिन्हे 'वेवर हस्तलेख' नाम दिया गया। इन्हे एक काबुली व्यापारी ने 'कुइगर' नाम के ध्वसावशेषो से खोदकर प्राप्त किया था। उसे यहा खजाना मिलने की आशा थी। इनमे ९ पुस्तके और ३६ पन्ने थे। कुइगर ले और यारकन्द के रास्ते पार चीनी तुर्किस्तान की सीमा के थोडा ही भीतर है। इसके बाद काशगर के ब्रिटिश एजेण्ट मेकटनी को वहा से और हस्तलेख क मिले, जिन्हे उन्होने कश्मीर के रेजिडेण्ट टेलुवोट के पास भेज दिया। इनके बाद दिलदार खान नामक एक अन्य व्यक्ति को कूचा

नगर से बहुत से लेख प्राप्त हुए जिन्हे बावर, मेकर्टनी और रूसी कौंसल जनरल ने खरीद लिया । मेकर्टनी के लेखो मे से कुछ तालपत्रो पर लिखे थे, कुछ भोज-पत्रो पर कुछ कागजो पर ।

नवम्बर १८९५ ई० मे डा० हर्नल के पास शिमला के वैदेशिक विभाग ने लद्दाख के सयुक्त कमिश्नर कप्तान गाडफ्रे के द्वारा कुछ और प्राप्त हस्तलेख भेजे । यह लेख भी कूचा से ही खोदकर निकाले गये थे और व्यापारियो ने चुपचाप वेचे थे । यह व्यापारी चीनी थे, किन्तु उन्होने चीन सरकार के डर से अपने नाम गुप्त रखे थे । अगस्त १८९७ ई० मे डा० हर्नल ने इन्हे पढ कर एक लेख लिखा और उसे उसी वर्ष सितम्बर मास मे होने वाली पेरिस की एकादश अन्तरराष्ट्रीय प्राच्य-विद्या काग्रेस के सामने पढा । इसी बैठक मे फ्रेंच विद्वान् सेनार्त ने एक और हस्तलेख भोजपत्र के प्राप्त होने की घोषणा की जो खरोष्ठी लिपि मे लिखे 'धर्मपद' का एक अश था । जिसे फ्रेंच-यात्री देरिन् ने १८९७ ई० मे खोतन मे पाया था । सेनार्त की घोषणा ने काग्रेस की इण्डो-यूरोपियन शाखा मे हलचल मचा दी, क्योकि खरोष्ठी लिपि मे अब तक जो लेख मिले थे, वह पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे मिले थे । देखने से ज्ञात हुआ कि वह बौद्धो के धर्मग्रन्थ 'धम्मपद' के किसी विशेष संस्करण के अश हैं । यह पाली-भाषा मे लिखे हुए थे जो अशोक के शिलालेखो की पाली भाषा से अधिक मिलती-जुलती थी । प्रो० ओल्डेनबुर्ग ने उसी सभा मे बताया कि इसके कुछ भाग सटपीटसवर्ग भी पहुच चुके हैं ।

१८९८ ई० मे सेनार्त ने छोटे चित्रको के साथ 'धर्मपद' का एक विवेचनापूर्ण सस्करण "जर्नल आब्यियातीक" मे छपवाया । इसके बाद अप्रैल १८९९ ई० मे कप्तान डी० जी ने काशगर से ७२ पन्नो का एक लेख भेजा, जिसे डा० हर्नल ने अप्रैल १९०० मे छपवाया । जिस समय यूरोप के विद्वान इन लेखो पर अनुसन्धान कर रहे थे, उन्ही दिनो (१८९६ ई०) स्वीडन के विद्वान् स्वेनहैडन तकलामकान कूचा की मरू भूमि मे जाच-पडताल कर रहे थे । उन्होने खोतन के आस-पास से कितनी ही बुद्ध की मूर्तिया और लेखो के टुकडो का सग्रह कर लिया था । इन सब से पहिले १८६५ ई० मे, मि० जानसन ने मध्य एशिया के ध्वसावशेषो के बारे मे 'राजकीय भौगोलिक सभा' मे लिखा था । १८७० ई० मे भारत सरकार द्वारा यारकन्द भेजे गये फोरसेट ने भी गोबी की मरुभूमि के भूमिगत नगरो के बारे मे लिखा था, किन्तु उससे उतना ध्यान आकृष्ट नही हुआ था । पश्चात् रूसी और ब्रिटिश विद्वानो ने गोबी और तकलामकान की मरु भूमि के बारे मे लिखा था कि वहा बहुमूल्य सास्कृतिक वस्तुओं की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु उस समय भी, सरकारी स्तर पर कोई देश सजग नही हुआ था ।

जर्मन, रूस और जापान मे—कूचा की साहित्यिक खोज मे जर्मनी और जापान ने भी भाग लिया, जबकि रूस पहिले ही ले चुका था । जर्मन दलो को तुखारि–भाषा मे 'जातको' और अवदानो से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से खण्डित पत्र मिले । इनमे 'प्रातिमोक्षसूत्र' के कितने ही खण्डित पत्र भी कूचा की भाषा मे लिखे मिले । 'नगरोपम

' का कुछ भाग रूसी लोगो को मिला जो लेनिनग्राड म्युजियम मे है और जापानी
ंचार्य काउण्ट ओतानी को आयुर्वेद ग्रन्थ के कुछ हिस्से मिले। यह शार्दूलविक्रीडित
ो मे लिखा हुआ था और इसका सिद्धात भारती ग्रन्थ 'चरक' तथा 'सुश्रुत' से
ाता था। परन्तु यह सब साहित्य द्वितीय तुखारी भाषा मे लिखा हुआ है । इसके
ारिक्त इस भाषा के ग्रन्थ है—'प्रत्यीयममुत्पाद', 'स्मृत्युपस्थान', 'शक्रप्रश्न', 'महा-
निर्वाण', 'उदानवर्ग' और उसकी टीका तथा करुणापुण्डरीक आदि।

प्रथम तुखारी भाषा के ग्रन्थ—इस भाषा मे भी अनूदित और मौलिक दोनो
ार का ही साहित्य है । परन्तु है प्राय सभी बौद्ध-धर्म मे सबधित। अधिकतर
स्तिवादी त्रिपिटक ग्रन्थो के अनुवाद और कुछ काव्य तथा नाटक, उदानवर्ग, स्तोत्र'
मातृचेटक का 'अध्यर्धशतक' है। मौलिक रूप से इस भाषा मे अधिकतर अनूदित
ो की भूमिकाएँ लिखी गयी और वह भी लिपिक और अनुवादक के नामो के निर्देश
रूप मे । इनके अनूदित ग्रन्थ हैं—पुण्यवन्त जातक, इसका आधार हैं 'महावस्तु'
: 'भद्रकल्पावदान'। परन्तु अनुवाद मे स्वतन्त्रता बरती गयी है । इसके अतिरिक्त
ंशूर की 'जातक माला' का अनुवाद हुआ। उसके 'उन्मादयन्ती' जातक के कुछ पन्ने
ा हैं। 'दिव्यावावदान' ग्रन्थ का भी अनुवाद हुआ था। उसके भी कुछ पन्ने प्राप्त
हैं। 'षडदन्त जातक' का तुखारी अनुवाद पाली 'छद्दन्त-जातक' से सर्वथा भिन्न
ौर जातक माला के 'हस्तिजातक' से भी भेद रखता है । इसके अतिरिक्त 'मृग-
ा जातक' का अनुवाद 'मुकफल्क्' जातक के नाम से हुआ।

अन्य ग्रन्थो मे रामायण, ज्योतिष, वैशेषिक, न्याय, कर-शास्त्र और आयुर्वेदिक
ो के भी भाग मिले हैं । काव्यो मे अश्वघोष 'सौन्दरनदक' के पाचवे छठे सर्ग के
अवशेष मिले हैं। साथ ही 'नन्दप्रभराजन्' नाटक के अश भी तुखारी भाषा मे मिले
एक अन्य ग्रन्थ 'नन्दविहारपालन' मे बुद्ध के अनुज नन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी
कथा है। इनके अतिरिक्त 'मैत्रयसमिति' नाटक और बुद्ध-जीवनी के भी कुछ अश
ा हैं। मैत्रेय समिति नाटक के लेखक वैभाषिक आर्यचन्द्र थे। यह नाटक सत्ताईस
ो मे है। अनेक लेखक आर्यचन्द्र को इसका लेखक न मानकर, केवल अनुवादक मानते
यह सारा ही ग्रन्थ बौद्ध सम्बन्धी दन्तकथाओ से भरा हुआ है।

हूण सभ्यता

तुर्क और मगोल लोगो के पूर्वज हूणो से एक समय सारा एशिया और यूरोप थर्राता था। इनकी दृष्टि जिस राज्य पर पडी, उसका विस्तार होते अधिक समय नही लगता था। कालान्तर मे इन हूणो ने कई उप-जातियो को जन्म दिया, जो इतिहास की विशेष जातियां बनकर नयी सभ्यताओ की सस्थापक बनी। इनकी कई लहरे दूसरी जातियो की लहरो मे भी विलीन हो गयीं, जैसा कि भारत मे हुआ। यहाँ की विशाल आर्य सभ्यता ने इन्हे भी हजम कर लिया। दूसरी ओर इनका मूल-स्थान आज चीन और सोवियत-सघ मे शामिल है। रूसी किरगिजिया मे 'नरीन् के उत्खनन से, जहाँ शको के मिट्टी के कटोरे तथा धातु के वाणो के फलक मिले हैं, वहाँ इस्सि-कुल सरोवर के किनारे त्यूप नामक स्थान से भी उनकी कुछ चीजें प्राप्त हुई हैं। इनकी कब्रें भी कज्जाक गणराज्य के 'बेरका' नामक स्थान से मिली हैं, जिनका काल २५०० वर्ष पूर्व का निर्धारित किया गया है। वही इलीपत्यका की खुदाई से शको के पीतल के वाण फल भी मिले हैं। इनके पीतल के वाण फलक पूर्वी यूरोप से बेकाल और मचूरिया तक मिले हैं।

निवास स्थान—इनका निवास-स्थान वर्तमान मगोलिया मचूरिया तथा उत्तर साइबेरिया के भूभाग थे। वही इनके विशाल चरागाह थे। वैसे इनका मुख्य पेशा पशुपालन से अधिक चीनी नगरो को लूटना था। इनके अतिरिक्त चीनी इतिहासकारो ने 'तु ग-हू' नामक एक और इनकी पडोसी जाति का वर्णन किया है, जिनके अधिकारी **किन्तन** और मचू जाति के लोग हुए। चीनी लोग हूण कबीलो को **ह्यू'गनू** कहते थे।

राजनीतिक-प्रणाली—हूण लोग भी अपने छोटे-छोटे नगर राज्य बनाकर रहते थे। प्रत्येक नगर का शासक एक सरदार होता था, परन्तु वहाँ राजतत्र अथवा एकतत्र प्रणाली न होकर प्रजातत्र प्रणाली प्रचलित थी। उनका सरदार भी डिक्टेटर नही हो सकता था और न स्वतत्र राजा। समूचे कबीले अथवा नगर को **ओर्दू** कहा जाता था।

सामाजिक जीवन—हूणों का सामाजिक जीवन भी लगभग शको की भाँति ही था। इनका भी मुख्य भोजन, दूध और दूध से बनी चीजें और माँस था। यह भेड के ऊन का नम्दा भी बनाते थे, परन्तु पहिले प्राय खालो को ही पहिनने का रिवाज

था जो धीरे-धीरे ऊनी कपडो मे बदलना शुरू हो गया। योद्धाओ का समाज मे विशेष मान था। इसलिये छोटे-छोटे बच्चो को ही घुडसवारी और तीरन्दाजी सिखाई जाती थी। परन्तु वृद्धो की सेवा का भाव इनमे नही था। अवसर उन्हे मुफ्त खिलाने को बजाये, मार देते थे। पिता की स्त्रियो को भी बेटे पत्नी बना लेते थे। इसलिए विधवा की समस्या इनके यहाँ थी ही नही। युद्ध के लिये इनके हथियार तीर, बर्छे और तलवारे आदि होते थे। इनके कई नगर-राज्यो का परस्पर सगठन भी होता था और इस सगठन का शासक **शान-यू** (राजा) होता था।

२५० ई० पू० तक इनका कार्य केवल उत्तरी चीन की लूटमार ही रहा। इन्ही से रक्षा करने के लिये **चिन-शी-हागती** ने (२५५-२०६ ई०पू०) **चीन की महादीवार** के कितने ही भागो को एक रक्षा-पक्ति के रूप मे निर्मित कराना प्रारम्भ किया और हूणो को चीन से निकालना शुरू किया। इस दीवार के बनाने मे उसने ५लाख आदमी लगा रखे थे। जो प्राय गुलाम थे।

हूणो का सगठन—जिस समय (२५० ई० पू०) चीन राजाओ द्वारा महाचीन को एकता के सूत्र मे गूथा जा रहा था, ठीक उसी समय हूणो के कबीलो ने भी अपना सगठन करना प्रारम्भ कर दिया और कई कबीलो ने मिलकर **तूमन शान-यू** नामक एक योद्धा व्यक्ति को अपना सरदार (शान्-यू) चुना। कई सदी पहिले हाँग-हो नदी के मोड पर इनके एक कबीले ने जमकर रहना प्रारम्भ कर दिया था। इन्ही के कारण उस प्रदेश को ओर्युस कहते थे। परन्तु यह चीन राज्य के अन्तर्गत आ चुका था। अत तूमन ने **शान-यू** बनते ही अपने प्राचीन खानो के कारनामो को तेज किया और आसपास की लूटमार के बाद अपने पूर्वजो के प्रदेश ओर्दूस को भी लूटमार कर, अपने पशुओ के लिये चरागाह के रूप मे परिवर्तित कर दिया। अत यह पुन कानसू के निवासी यूचियो के पडोसी बन गये।

माउदन—अपने पिता तूमन को बाण से मारकर, १८३ ई० पू० यह शान-यू बना। शान-यू बनते ही इसने पहिले अपने परिवार का ही सफाया किया। केवल एक परिवारी स्त्री को छोडकर, सभी व्यक्तियो का कत्ल कर दिया। इसके समय तक **यू ची** और **तुगस** भी सगठित हो चुके थे। अत गोबी के रेगिस्तान मे दोनो मे युद्ध हुआ जिसमे **यू-ची** पराजित हो गये। इनमे कुछ दास बना लिये गये और शेष मगोलिया के इधर-उधर भाग गये, जहाँ वह बाद मे पुन सगठित होने लगे। इसके बाद इसने यूची सगठन को छिन्न-भिन्न करने का निश्चय किया। काफी दिन तक लडाई चलने के बाद, १७४ ई० पू० यूचियो को भी अपने निवास स्थान कोकोनोर और लोबनोर को छोडना पडा। उस समय चीन मे **वेन-ती** (१६६-५६ ई० पू०) का शासन था। अत इसने चीनी सम्राट् को भी दीवार पार करने की धमकी दी।

हूणराज्य की स्थापना—अपनी इन्ही विजयो के कारण माउदून ने एक सगठित राज्य की नीव डाल दी। यह राज्य पूर्व मे **कोरिया** से **बल्काश** तक, उत्तर मे बेकाल

सामाजिक स्थिरता—शासन-शक्ति की स्थिरता के साथ-ही-साथ हूणों में सामाजिक स्थिरता भी आई और उनमें धनी और कुलीन, [illegible] श्रेष्ठ की स्थिति भी पैदा हो गई। शान-यू का कुल सर्वश्रेष्ठ समझा जाने लगा। इस शान-यू की रानी, जिसकी पदवी हुन-ची होती थी, हूणों के [illegible] कुल में से ही ली जाती थी।

उत्सव—हूणों में नववर्षोत्सव बड़ी धूमधाम से मेले लगाकर मनाया जाता था। इस मेले में शान-यू अपने पितरों, देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों आदि को प्रसन्न करने के लिए बलियाँ दिया करता था। इसके बाद शरद ऋतु में दूसरा उत्सव मनाया जाता था। इन दोनों उत्सवों में सामाजिक और धार्मिक सम्मेलन भी होते थे। शान-यू धार्मिक कृत्य करता था, जिनमें सूर्य और चन्द्रमा की पूजा मुख्य थी। व्यायाम और दूसरी तरह के खेल भी होते थे। इनके सारे कार्य चन्द्रमास की तिथियों से होते थे।

दण्ड-व्यवस्था—हूणों में अपराध कम होते थे। फिर भी दण्ड व्यवस्था कठोर थी। इनके दण्डों में मृत्युदण्ड भी शामिल था और अंग-भंग भी। किसी की सम्पत्ति की हानि करने वाले व्यक्ति को परिवार सहित दास बनना पड़ता था।

युद्ध-कौशल—इनका युद्ध-कौशल भी अद्भुत था। लड़ते-लड़ते यह हार कर भागने लगते थे। इसके बाद पीछा करने वालों पर यह तुरन्त पलटकर आक्रमण करते थे। इसी प्रकार के आक्रमणों से इन्होंने चीन को तंग कर रखा था। शासी में कई लाख चीनी सेना के साथ हूण-शान-यू माउदून ने चीन सम्राट् को घेर लिया था। इस समय घेरा उठाने की शर्तों के कारण चीन को हूण सम्राट को अपनी एक राजकुमारी, रेशम के थान रत्नों से भरी पेटियां, चावलों के बोरे और अंगूरी शराब सम्राट को भेंट में देनी पड़ी थी। पश्चात् भी चीनी सम्राट इस लालच से हूणों को राजकुमारियां देते रहे कि चीनी राजकुमारी से उत्पन्न राजकुमार चीन का पक्षपाती हूण सम्राट रहेगा।

लेखन-कला—यह लोग चर्मपत्रों पर लिखते थे। लिखाई का काम जन-साधारण में न होकर राजकीय कार्यों के लिए होता था। हूण सम्राटों की लम्बी-चौड़ी

उपाधियो से भी यह स्पष्ट है कि यह लोग पर्याप्त शिक्षक भी होते जा रहे थे। उदाहरणार्थ हूण सम्राट की उपाधि के शब्द थे—"शान-यू जेंगी, पृथ्वी-पुत्र, सूर्य चन्द्र समान।"

दास-प्रथा—हूणो मे भी दास-प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। उनके यहाँ भी दास युद्धो से ही प्राप्त होते थे। इनसे अधिकतर यह लोग पशुओ के चराने और रखवाली का काम ही लिया करते थे।

(ची-यू १६२ ई० पू० से १२६ ई० पू० तक)—३६ वर्ष तक राज्य करने के बाद, माउदून का पुत्र ची-यू जब हूणो का शान-यू बना, तब चीन दरबार की ओर से उसे भी एक राजकुमारी सहित अन्य भेंटे भेजी गई। इस बार राजकुमारी के साथ एक चीनी हिजडा भी भेजा गया। यह जल्दी सम्राट का विश्वासपात्र बन गया। अत इसने हूणो को सदैव चीन के प्रति आक्रामक बनाये रखा। अत ७ साल बाद इसने भी चीन पर आक्रमण कर दिया। सधि की शर्तो मे महादीवार से उत्तर की सारी भूमि चीन को हूणो को देनी पडी। इसने अवशिष्ट यूची जाति का भी उनके नगरो से सफाया कर दिया और वह वक्षुनदी पर कुछ वर्षो ठहरकर कुछ **सोग्द** उपत्यका मे जमे, जहाँ ग्रीक वाल्थी के राजा हेलियोक के मरने पर उसके राज्य को दबा लिया।

हूणो के दुर्दिनो का प्रारम्भ—चीनी सम्राट् वू-ती के समय मे ही हूणो के बुरे दिन आने प्रारम्भ हुए। अत ची-यू के मरने के बाद, वू-चेन नामक उसका लडका शान-यू बना और चीन की ओर से अन्य भेंटो के साथ एक राजकुमारी भी आई, किन्तु वूती ने इसे छल से मारने का षड्यत्र रचा। इस षड्यत्र के असफल होने पर हूणो ने पुन चीन मे लूटमार प्रारम्भ करदी।

वू चेन के बाद **ईचिसे** (११७ ई० पू०) नामक उसका भाई शान-यू बना। इसने भी पहिले तो लूटमार शुरू की परन्तु बाद मे चीनी सम्राट् वू-ती के इस पर आक्रमण होने लगे। इन आक्रमणो से लाखो हूण मारे गये। लाखो उनके मवेशी छिन गये और छिन गई वह भूमि **(कासू)** जो इन्होने यूचियो से छीनी थी।

कासू को हूणो ने अपना नगर-राज्य बनाकर एक सरदार के सुपुर्द कर दिया था। इस नगर राज्य की राजधानी **चाँग-पे** नामक नगर था। इस नगर की विजय के समय चीनी सेनापति को हूण सरदार के पास से सोने की एक मूर्ति मिली, जिसकी पूजा हूण सरदार किया करता था। इस मूर्ति की खोज-बीन से ज्ञात हुआ कि स्वर्ण प्रतिमा **भगवान्-बुद्ध** की प्रतिमा थी। सभवत यह मूर्ति उन्हे तरिम उपत्यका मे रहने वाले यूचियो से मिली हो। क्योकि अशोक के समय मे यहा तक बौद्ध-धर्म फैल गया था।

यूचियो को निमत्रण—सम्राट् वू ती ने हूणो के विनाश के लिये यूचियो को आमत्रित किया कि वह अपनी पुरानी भूमि मे आकर बस जाये। उधर से वे हूणो पर आक्रमण करे और इधर से हम करेंगे। इस निमत्रणपत्र को लेकर चीनी सेनापति चाग क्यान स्वय गया था। परन्तु रास्ते मे ही इसे हूणो ने बन्दी बना लिया, जो

गये । हूणों ने [illegible] पर आक्रमण किये और [illegible] हजार हूण [illegible] बनाये, जिनसे दासों जैसा काम लिया और शेष [illegible] का पद प्रशस्त कर लिया । वस्तुतः चीन की इन विजयों का कारण हूणों [illegible] की छिन्नभिन्नता भी थी । दूसरा कारण शान यू बनने के लिये आन्तरिक [illegible] और झगड़े थे । इसीलिये चीन उन्हें दबाता भगाता और बढ़ता रहा और अन्त में फरगाना तक का सारा मध्य एशिया चीन के हाथ में चला गया । १०वें शान यू हू-लू-कू (९८-८७ ई० पू०) जब हूणों में गृह-युद्ध चल रहा था, चीन ने एक और आक्रमण किया परन्तु इस आक्रमण में चीन फिर हूणों से पराजित हुआ और सन्धि की शर्तों में हूण शान-यू ने अपनी पहिली भेंटों के अतिरिक्त प्रति वर्ष एक नई चीनी राजकुमारी १० हजार ममूरी चमड़े और १० हजार रेशम के थान मांगे । उस समय शान-यू की मां बीमार थी, शकुन शास्त्रियों ने बताया कि देवता बलि चाहता है । उस समय चीन का एक सेनापति स्यान-वी किसी कारण भागकर हूण-दरबार मे चला आया था, उसी की बलि दे दी गयी

पराभव की बेला—५९ ई० पू० से ३१ ई० पू० तक खू गन जा हूणो का १४वां शान-यू था । इसके समय मे षड्यन्त्र गृह-युद्ध खूब भड़के । परिणाम यह हुआ कि मचूरिया से इसीग्रल तक हूण राज्य मे एक के स्थान पर पाच शान-यू बने और खू-गन-जा का भाई ची-ची ही उसका प्रबल शत्रु बन गया । फलत दोनो भाइयो मे गृह-युद्ध छिड गया । कराकोरम के युद्ध मे चीची बुरी तरह हारा । इसके बाद खू-गन-जा ने अपने दूसरे विरोधी वो-यान पर आक्रमण किया । इस लडाई मे वो-यान ने आत्महत्या करली ।

इन लडाइयो से निपटकर खू गन्-जा ने हूण-परिषद् के सामने चीन की अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव रखा जो पर्याप्त वादविवाद के पश्चात् स्वीकार कर लिया गया और चीन को सूचना भेज दी गयी । चीन ने इस प्रस्ताव के उत्तर मे अपनी शर्तें पेश की । जिनमे मुख्य यह थी कि शान यू का राजकुमार अमानत के तौर पर चीन दरबार मे रहे । इसे स्वीकार कर लिया गया और चीन दरबार मे एक राजकुमार भेज दिया गया । अगले वर्ष अर्थात ५१ ई० पू० स्वय हूण सम्राट् ने चीन दरबार मे

आने की इच्छा प्रकट की। उस समय चीन का सम्राट् **स्वेन-ती** (६३ ई० पू० से ४८ ई० पू० तक) था। हूण सरदार की इच्छा पूरी की गयी। दरबार में उसका शानदार स्वागत किया गया। उसे सब दरबारियों से उच्च माना गया। सम्बोधन में भी उसे नाम न लेकर बार बार मित्र ही कहा गया। अन्त में उसे भेंट दी गयी। जिनमें सोने की मुहर, राजकीय रथ, घोड़े, राजकीय तलवार थी। कुछ दिन के बाद, उसे विदा किया गया।

ची-ची ने भी चीन की अधीनता स्वीकार की हुई थी और उसका लड़का चीन सम्राट् का प्रतिहार बना हुआ था, किन्तु जो सम्मान खू-गन-जा के दूतों का होता था, वह इसके दूतों का नहीं होता था। साथ ही भेंट भी इसे कम मिलती थी। फलत इस, अपने लड़के को वापस बुला लिया और उसके साथ आये चीनी दूत का सर काट दिया। चीन दरबार को विश्वास हो गया कि ची-ची से युद्ध अनिवार्य है। इसीलिये चीन सम्राट् ने **खू गन-जा** को बुलाकर अनाक्रमणात्मक संधि की। पश्चात् शपथ के तौर पर, शान-यू ने एक घोड़े की बलि दी और यूचियों के राजा की खोपड़ी में घोड़े का खून भरकर तथा सोना डालकर चीनी सम्राट् के साथ एक-एक घूँट दिया।

इस संधि के बाद, जब ची-ची समरकन्द के शक राजा की सहायता के लिये वूसुनों के विरुद्ध युद्ध करने गया, वहां वह मारा गया।

खू-गन-जा का पुन. स्वागत--३३ ई० पू० चीनी सम्राट् **वेयू न्-ती** ने खू-गन-जा का दरबार में बुलाकर पुन स्वागत किया और इस बार की भेंट में उसने अपने महल की सबसे सुन्दर रमणी चाउ चुन् (प्रभावती) भेंट की। चीनी महल में नियम था कि महल की स्त्रियों के चित्र बनाकर, शाही चित्रकार **माउ** सम्राट् को दिखाता था। उन हजारों में वही स्त्री सम्राट् की नजरों में चढ़ती थी, जिसका चित्र सुन्दर हो। अत इस चित्रकार को महल की स्त्रियां हर प्रकार से सन्तुष्ट रखा करती थीं। चाउ चुन सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी, किन्तु माउ को सन्तुष्ट नहीं कर सकी थी, अत सम्राट् की दृष्टि में उसके चढ़ने का अवसर ही कभी नहीं आया और वह महल में एक उपेक्षित ईंट की भाँति पड़ी रही। इसीलिये वह हूण सरदार को भेंट में दी गयी। भेंट देते समय सम्राट् ने प्रथम बार उसका सौंदर्य देखा और जैसे ही हूण सम्राट् अपनी भेंट लेकर विदा हुआ, चीन सम्राट् ने माउ की हत्या की आज्ञा दे दी।

परस्पर झगड़ों का प्रारम्भ—चीन के मित्र दक्षिण के शान-यू खू-गन-जा की मृत्यु और उसके एक साल बाद, उत्तर के शान-यू इसके भाई ची-ची की मृत्यु के बाद हूणों के दलों में एकता तो हुई नहीं, झगड़े और बढ़ गये खू-गन-जा की मृत्यु के बाद, क्रमश उसके पाँच बेटे शान यू बने परन्तु २०वें शान-यू के उत्तराधिकार के प्रश्न पर झगड़ा हुआ। इनमें एक शान-यू का लड़का था और दूसरा उसका भतीजा। अतः दोनों ने अपने को शान-यू घोषित कर दिया। अत पहिले जैसी स्थिति आ गई और खुली लड़ाई शुरू हो गई। इसमें उत्तरी शान-यू हारकर ३०० मील और पीछे चला गया। उसके कुछ बाद दिन उत्तरी दल के पांच सरदारों तथा शानयू के भाई ने ३० हजार परि-

वारो को लेकर दक्षिण वालो पर चढाई करदी । इस लडाई में पाचो सरदार मारे गये । इस लडाई मे चीन ने हस्तक्षेप किया और दक्षिण वालों को दक्षिण चले जाने की आज्ञा दी । अत वह लिन चाऊ के इलाके मे चला गया और इन्ही लोगो ने तीन शताब्दी बाद चीन मे नये राजवश की स्थापना की ।

इस लडाई के बाद भी चीन की स्थिति दोनो हूरण राजाओ को प्रसन्न रखने की रही और दोनो ही चीन मे लूटमार भी करते रहे । परन्तु दोनो दलो मे वैमनस्य वढता ही रहा । अत इसका बल घट रहा था और इनके विरोधी मचूरिया के घुमडक्कड अपनी शक्ति बढा रहे थे । अत उत्तरी हूरण राज्य चारो ओर से घिरकर अपनी शक्ति समाप्त कर रहा था । यही कारण था कि यह अपने स्थान से उखड कर, कुछ ईतिश नदी की ओर बढकर वू-सुनो की भूमि हथियाने लगे, कुछ डेन्यूब की ओर चल दिये । १७७ ई० पू० मे चीनी सम्राट् स्यान पी ने आक्रमण करके इनका पूरी तरह सफाया ही कर दिया । अलबत्ता दक्षिणी हूण १६० ई० तक किसी न किसी तरह अपना अस्तित्व कायम रखे रहे और उनका शान-यू चीन दरबार का सामन्त बना रहा । परन्तु १७७ई० मे तत्कालीन शानयू और चीन की फिर लडाई हुई और यह इनकी अतिम लडाई ही थी । इसमे चीनी भी हारे और शान यू भी मारा गया । इसके वाद शान-यू का लडका गद्दी पर बैठा, जिसे मारकर एक चीनी सेनापति शान-यू बन गया । इसके वाद हूरण राजवश का नाम ही लुप्त हो गया और स्यान-पी के नाम से तु ग-हू लोग आगे आये । १६५ ई० मे यह भी एक अपना राज्य कायम कर चुके थे और कुछ दिन वाद ही चीनी सम्राट् को मारकर स्वय गद्दी पर बैठ चुके थे । हूरणो की लडाई इन्ही के चीनी राजा से हुई थी । ४थी शताब्दी के अन्त तक इन्होने चीन मे अपने राज्य को कायम रखा । बाद मे इन्ही के वश की तोबा जाति के लोगो के हाथ मे चीन का शासन चला गया । तोबा जाति का तीसरा राजा ताउ-बू-ती था जिसने वे ई वश की स्थापना की तोबा वश की ही शाखा उनकुरन थी जिन्होने ज्वेन-ज्वेन राज्य की ३६४ ई० पू० के लगभग स्थापना की और त्यानशान से कोरिया तक नये राज्य की नीव डाली । इन्ही के वशज कालान्तर मे तुर्क हुए ।

कूचा का इतिहास और पुरातत्व

मध्य एशिया के इस स्थान का वर्णन भारतीय वाङमय मे पर्याप्त आया है। वराहमिहिर ने अपनी 'वृहत्सहिता' मे यहा की जातिया—शक, शूलिक, और कुशिक जाति का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त पुराणो मे भी कुशद्वीप का वर्णन आया है। चीनी-सस्कृतकोष मे इसे 'कूचिन' लिखा गया है। आजकल इसे 'कूची' और 'कूचा' कहते है। "सौराम" भी पहिले इसी राज्य मे था। यह स्थान अशोक के राज्य का भी एक भाग रहा है। इसकी पुष्टि 'अशोकावदान' नामक ग्रथ के चीनी अनुवाद से भी होती है। 'प्राक्तन इतिहास' (१४०-८७ ई० पू०) मे इसकी सख्या ८१ हजार लिखी है। इतिहास की दृष्टि से ई० पू० ६५ मे 'वयाचिन' यहा का राजा था, जिसने वू-सुन राजकुमारी से विवाह किया था। यह वू-सुन लोग शक जाति की ही एक शाखा थे और इलीउपत्यका मे रहते थे। चीनी इतिहासो मे इसकी राजधानी प्रचीर तीहरी थी। 'मत्स्यपुराण' का उद्धरण देते हुए अलबरूनी ने शकद्वीप के पास कुशद्वीप का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पर्याप्त विद्वान् 'कुषाण' शक की उत्पत्ति भी कूचा से ही मानते हैं। प्रमाणास्वरूप वह कुषाण राजा की उपाधि—'कोशानो सोनानो सख' अर्थात् कुषाणो के शाहो का शाह और "कुषाण-शाह" को कुशानो शाह अर्थात् कुशो का शाह मानकर उन्हे इसी स्थान का माना है। इसके अतिरिक्त सूत्रालकार के चीनी अनुवाद मे कनिष्क को कुश (कु-श) जाति का ही बताया है। साथ ही 'महाराजक निकलेख' के तिब्वती अनुवाद मे भी कनिष्क को कुश-जाति मे ही उत्पन्न हुआ बताया गया है। इस प्रकार कुषाण-शको का मूल स्थान कूचा ही सिद्ध होता है। जरफशा के तट पर (वर्तमान उजवेकिस्तान) कोशानिया नाम की एक जाति अब भी बसी हुई है। हस काल मे उत्तर की ओर से आने का यही एक मार्ग था। इसी मार्ग से चीन का रेशम आता था और इसी मार्ग से चीनी यात्री भारत आदि आते जाते थे।

बौद्ध धर्म का प्रचार—कूचा मे व्यवस्थित रूप मे बौद्ध-धर्म का प्रचार ई० पू० २री शताब्दी मे ही हो चुका था। और तीसरी शताब्दी तक आते-आते यह स्थान मध्य एशिया मे बौद्ध-धर्म का विशेष केन्द्र हो गया। यहा एक हजार मन्दिर और विहार थे, जिनमे पूजा-पाठ के अतिरिक्त शिक्षा भी दी जाती थी। ३८३ ई० मे यहा का राजा बौद्ध मतावलम्वी 'पो-च्वेन' था। वस्तुत कूचा का प्रत्येक राजा अपने नाम से

पहिले 'पो' शब्द का प्रयोग राजा 'पोको' के समय मे ही करने लगे थे। ४६ ई० मे यादकन्द के राजा ने कूचा पर आक्रमण किया था, परन्तु हूणो की सहायता से राजा असफल रहा और जनता की राय से 'चेंग्-तेन्' नामक व्यक्ति राजा बनाया गया था। इसके बाद कूचा के राजा 'कियान' ने काशगर को जीता, किन्तु कुछ समय बाद ही चीनी सेनापति याड-चान् ने आक्रमण किया और कियान के पुत्र 'पो' को गद्दी पर बिठाया। यह युवक चीन मे ही उस समय शिक्षा पा रहा था। तभी से अन्य राजा भी अपने नाम के आगे 'पो' शब्द लगाने लगे।

यहा के विद्यालय के बाद, कूचा के विद्यार्थी भारत मे शिक्षा के लिये आते थे। कुमारजीवि यही के बौद्ध आचार्य थे। ३५० ई० मे ७० हजार चीनी सेना ने यहा आक्रमण किया और उपर्युक्त व्यक्ति 'पो-च्वेन' को राजा बनाकर कुमारजीवि को अपने साथ ले गयी, उन्होने चीन मे जाकर अनेक भारतीय ग्रथो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। ४५० ई० मे चीनियो ने पुनः आक्रमण करके कूचा को रौद डाला। उस समय कूचा का राजा सू-ची-पो (सुजीव) था। उसी समय पश्चिमी तुर्क भी शक्तिशाली हो गये थे। अत कूचा का राजा स्वय चीन दरबार से मैत्री करने गया। परन्तु ६१८ ई० मे चीन शक्तिहीन हो गया और तुर्क और भी प्रबल हो गये। अत चीन को छोडकर कूचा के राजा ने तुर्कों से मित्रता करली। यही समय य्वेन-चाड की यात्रा का था। ६४८ ई० में इस पर 'स्रोग-चन्-गम्पो' नामक तिब्बती राजा ने आक्रमण किया और ८वी सदी तक यहाँ तिब्बतियो, उइगरो और तुर्कों का बोलबाला हो गया। अत राजा की 'पो' उपाधि समाप्त होकर कागान (खा कान) और अन्त मे केवल 'खान' ही रह गयी।

कूचा की संस्कृति और पुरातत्व—कूचा के उत्खनन से पूर्व कूचा निवासियो को भारतीय सभ्यता से बिल्कुल पृथक् माना जाता था। इसके बाद भी जब वहा के उत्खनन से, कुछ चित्र मिले, तब भी उन्हे भारतीय सभ्यता से पृथक् ही माना गया। इन चित्रो मे स्त्री-पुरुषो के भूरे बालो और नीली आखो तथा वेश-भूषा को सम्बोधित कर यूरोपियन इतिहासकार 'लेकाक' ने उनका सम्बन्ध अपने यहा की मध्ययुगीन सभ्यता से जोडने का प्रयत्न किया। इनकी वेश-भूषा में फूल-पत्तीदार लम्बे कोट यूरोपियन जैसे ही थे। परन्तु इस समान वेश-भूषा को देखकर उन्हे जितना आश्चर्य हुआ था, उससे अधिक आश्चर्य उन्हे उनकी भाषा, रीति-रिवाज और नृत्य-कला को देख कर हुआ। इनकी नृत्य-कला भारतीय थी। चीनी लेखको ने इनके सगीत को भारतीय माना है, जिनका प्रदर्शन अनेक अवसरो पर चीन दरबार मे भी हुआ था। इसके अतिरिक्त इनके राजाओ के नाम पूर्णत भारतीय थे और वह भी सस्कृत शब्दो मे ओत-प्रोत थे।

कूचा से प्राप्त अभिलेखो के अनुसार 'स्वर्णत्रुस्पे' (स्वर्णपुष्प) नामक राजा यहाँ य्वेनचाड के समय था। एक अन्य प्राप्त लेख मे "दानपति कूचीश्वर" कुचिमहाराज नाम आया है। स्वर्णबुम्पे नाम वस्तुत तुखारी भाषा का है। फीजिल नामक स्थान से

'लेकाक' को 'सघकर्म' का एक हस्तलेख मिला था, उसमे एक राजा का नाम 'वसुयश' लिखा हुआ है। सस्कृत के प्राप्त लेखो मे कूचा के राजाओ को—'कूचीश्वर' 'कूचि-महाराजा,' 'कौचेय' और 'कौचेय-नरेन्द्र' लिखा हुआ है।

चीनी-यात्रियो का वर्णन—इस नगरी और विशेषकर यहा के बौद्ध-धर्म का वर्णन चीनी-यात्रियो ने विशेष रूप से किया है। 'फा-शीन' ४०० ई० मे यहा आया। तु ग-हान और कूचा के मार्ग मे उसे कितने ही घुमक्कड लोगो के काफिले मिले। इन काफिलो मे सस्कृत जानने वाले विद्वान् भी थे और बौद्ध सन्त भी थे। कूची मे उसने ४ हजार हीनयानी बौद्ध साधु देखे। फा-शीन ने लिखा है—'यहाँ के लोग अतिथि-सत्कार का महत्व नही समझते।' परन्तु फा-शीन के इस कथन मे सत्यता प्रतीत नही होती, क्योकि इनके बीस साल बाद 'किपिन्' (काबुल) के भिक्षु 'धर्ममित्र' यहाँ बीस साल रहे थे। वे यहा से ४२४ ई० मे तुनह्वाङ गये थे। कुमारजीवि के साहित्य से ज्ञात होता है कि कुमारजीवि से पहिले यह हीनयान का गढ था, किन्तु कुमारजीवि के बाद महायान का केन्द्र बन गया। कूचा की रानी अ-किये थी। मो-ती के लिये चन्द्र-गर्भ-सूत्र की व्याख्या करते हुए कुमारजीवि ने लिखा है—'भिन्न-भिन्न स्थानो मे प्रकट रूप से बुद्धो का जन्म हुआ। उनमे ९९ कूचा मे, २५ बालुका (अक्सू मे), ६० वारा-णसी मे, २० कपिलवस्तु मे, २२५ चीन मे, २६ उद्यान मे, १०० पुष्पपुर मे, १८० भोट (तिब्बत) मे और १० बुद्ध गान्धार मे जन्मे। कुमारजीवि ने उक्त ग्रन्थ का अनु-वाद नरेन्द्रयश ने ५६६ ई० मे किया।

६३० ई० मे स्वेन-चाङ यहा आया। उसने लिखा है—"कूचा की लम्बाई पूर्व से पश्चिम १००० ली और चौडाई उत्तर-दक्षिण ६०० ली है। राजधानी १७-१८ ली थी।" अपने विवरण मे स्वेन-चाङ ने लिखा है—'यहा की लिपि लगभग भारतीय ही है। गीत-वाद्य मे कूची बडे चतुर हैं। वर्तमान मे यहा सौ विहारो मे ५ हजार भिक्षु रहते हैं। जो सभी हीनयानी हैं। परन्तु वह महायान-सूत्रो को भी मानते हैं। कूचा के भिक्षु अपनी पुस्तको को भारतीय भाषा मे लिखते हैं। मोक्ष के नियमो का कडाई से पालन करते है। भिक्षु लोग त्रिकोटिपरिशुद्ध मास ग्रहण कर लेते हैं। यात्री ने लिखा था—"वहा राजधानी से चालीस ली उत्तर मे दो विहार थे, जिनमे दो अत्यन्त सुन्दर बुद्ध मूर्तिया थी। वह मनुष्य की शिल्पचातुरी से परे थी। यह मूर्तिया ९० फुट से भी ऊची थी। स्वेन-चाङ ने भी पचवार्षिक मेले की बात लिखी है। यह मेला दस दिन लगता था। मेले के समय राजा-प्रजा छुट्टी मनाते थे। लोग धर्मोपदेश सुनने के अतिरिक्त कोई काम नही करते थे। प्रत्येक विहार अपनी मूर्ति को सजाकर और रथ पर बिठाकर शोभा-यात्रा निकालता था। बाद मे सब रथ साथ हो जाते थे और नदी के किनारे आश्चर्य विहार मे पहुचते थे।" चीनी यात्री 'ऊ-कु ग' की भारत यात्रा [७८७-७८८] के समय वहा का शासक पो-हान था। चीनी भिक्षुक पु डरीक विहार मे ठहरा था। इसके बाद कूचा का इतिहास शनै शनै इस्लामीकरण मे विलीन होता चला जाता है। लेकाक के वर्णन से इस्लामीकरण का रोमाचित

पहिले 'पो' शब्द का प्रयोग राजा 'पोको' के समय मे ही करने लगे थे। ४६ ई० मे यादकन्द के राजा ने कूचा पर आक्रमण किया था, परन्तु हूणो की सहायता से राजा असफल रहा और जनता की राय से 'चेंग्-तेन्' नामक व्यक्ति राजा वनाया गया था। इसके बाद कूचा के राजा 'कियान' ने काशगर को जीता, किन्तु कुछ समय बाद ही चीनी सेनापति याङ-चान् ने आक्रमण किया और कियान के पुत्र 'पो' को गद्दी पर विठाया। यह युवक चीन मे ही उस समय शिक्षा पा रहा था। तभी से अन्य राजा भी अपने नाम के आगे 'पो' शब्द लगाने लगे ।

यहा के विद्यालय के बाद, कूचा के विद्यार्थी भारत मे शिक्षा के लिये आते थे। कुमारजीवि यही के बौद्ध आचार्य थे । ३५० ई० मे ७० हजार चीनी सेना ने यहा आक्रमण किया और उपर्युक्त व्यक्ति 'पो-च्वेन' को राजा वनाकर कुमारजीवि को अपने साथ ले गयी, उन्होने चीन मे जाकर अनेक भारतीय ग्रथो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। ४५० ई० मे चीनियो ने पुनः आक्रमण करके कूचा को रौंद डाला। उस समय कूचा का राजा सू-ची-पो (सुजीव) था । उसी समय पश्चिमी तुर्क भी शक्तिशाली हो गये थे। अत कूचा का राजा स्वय चीन दरबार से मैत्री करने गया। परन्तु ६१८ ई० मे चीन शक्तिहीन हो गया और तुर्क और भी प्रबल हो गये । अत चीन को छोडकर कूचा के राजा ने तुर्कों से मित्रता करली । यही समय स्वेन-चाङ की यात्रा का था। ६४८ ई० में इस पर 'स्रोग-चन्-गम्पो' नामक तिब्वती राजा ने आक्रमण किया और ८वी सदी तक यहाँ तिब्बतियो, उइगरो और तुर्कों का बोलबाला हो गया। अत राजा की 'पो' उपाधि समाप्त होकर कागान (खा कान) और अन्त मे केवल 'खान' ही रह गयी।

'लेकाक' को 'सघकर्म' का एक हस्तलेख मिला था, उसमे एक राजा का नाम 'वसुयश' लिखा हुआ है। सस्कृत के प्राप्त लेखो मे कूचा के राजाओ को—'कूचीश्वर' 'कुचि-महाराजा,' 'कौचेय' और 'कौचेय-नरेन्द्र' लिखा हुआ है।

चीनी-यात्रियो का वर्णन—इस नगरी और विशेपकर यहा के बौद्ध-धर्म का वर्णन चीनी-यात्रियो ने विशेष रूप से किया है। 'फा-शीन' ४०० ई० मे यहा आया। तु ग-हान और कूचा के मार्ग मे उसे कितने ही घुमक्कड लोगो के काफिले मिले। इन काफिलो मे सस्कृत जानने वाले विद्वान् भी थे और बौद्ध सन्त भी थे। कूची मे उसने ४ हजार हीनयानी बौद्ध साधु देखे। फा-शीन ने लिखा है—'यहाँ के लोग अतिथि-सत्कार का महत्व नही समझते।' परन्तु फा-शीन के इस कथन मे सत्यता प्रतीत नही होती, क्योकि इनके बीस साल बाद 'किपिन्' (काबुल) के भिक्षु 'धर्ममित्र' यहाँ बीस साल रहे थे। वे यहा से ४२४ ई० मे तुनह्वाङ गये थे। कुमारजीवि के साहित्य से ज्ञात होता है कि कुमारजीवि से पहिले यह हीनयान का गढ था, किन्तु कुमारजीवि के बाद महायान का केन्द्र बन गया। कूचा की रानी अ-किये थी। मो-ती के लिये चन्द्र-गर्भ सूत्र की व्याख्या करते हुए कुमारजीवि ने लिखा है—'भिन्न-भिन्न स्थानो मे प्रकट रूप से बुद्धो का जन्म हुआ। उनमे ९९ कूचा मे, २५ वालुका (अक्सू मे), ६० वाराणसी मे, २० कपिलवस्तु मे, २२५ चीन मे, २६ उघान मे, १०० पुष्पपुर मे, १८० भोट (तिब्बत) मे और १० बुद्ध गान्धार मे जन्मे। कुमारजीवि ने उक्त ग्रन्थ का अनुवाद नरेन्द्रयश ने ५६६ ई० मे किया।

६३० ई० मे स्वेन-चाङ यहा आया। उसने लिखा है—"कूचा की लम्बाई पूर्व से पश्चिम १००० ली और चौडाई उत्तर-दक्षिण ६०० ली है। राजधानी १७-१८ ली थी।" अपने विवरण मे स्वेन-चाङ ने लिखा है—"यहा की लिपि लगभग भारतीय ही है। गीत-वाद्य मे कूची बडे चतुर हैं। वर्तमान मे यहा सौ विहारो मे ५ हजार भिक्षु रहते हैं। जो सभी हीनयानी हैं। परन्तु वह महायान-सूत्रो को भी मानते हैं। कूचा के भिक्षु अपनी पुस्तको को भारतीय भाषा मे लिखते हैं। मोक्ष के नियमो का कडाई से पालन करते है। भिक्षु लोग त्रिकोटिपरिशुद्ध मास ग्रहण कर लेते हैं। यात्री ने लिखा था—"वहा राजधानी से चालीस ली उत्तर मे दो विहार थे, जिनमे दो अत्यन्त सुन्दर बुद्ध मूर्तिया थी। वह मनुष्य की शिल्पचातुरी से परे थी। यह मूर्तिया ९० फुट से भी ऊची थी। स्वेन-चाङ ने भी पचवार्षिक मेले की बात लिखी है। यह मेला दस दिन लगता था। मेले के समय राजा-प्रजा छुट्टी मनाते थे। लोग धर्मोपदेश सुनने के अतिरिक्त कोई काम नही करते थे। प्रत्येक विहार अपनी मूर्ति को सजाकर और रथ पर बिठाकर शोभा-यात्रा निकालता था। बाद मे सब रथ साथ हो जाते थे और नदी के किनारे आश्चर्य विहार मे पहुचते थे।" चीनी यात्री 'ऊ-कु ग' की भारत यात्रा [७८७-७८८] के समय वहा का शासक पो-हान था। चीनी भिक्षुक पु डरीक विहार मे ठहरा था। इसके बाद कूचा का इतिहास शनै शनै इस्लामीकरण मे विलीन होता चला जाता है। लेकाक के वर्णन से इस्लामीकरण का रोमाचित

वू-सुन-सम्राट्—चीनी ग्रन्थो मे इनके कई राजाओ के इतिहास का उल्लेख है। जिनमे मुख्य हैं—**गुन मो, ग्यन-च्युई-मी, उग-गुह, क्वान-वान्, चुह ली-मी और इ-ची-मी**। यह सभी राजा चीनी राजकुमारियो के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। ७३ ई० म इनके स्थान-तरिम-उपत्यका पर भारतीय कुषाण-सम्राट् कनिष्क का अधिकार था और यह उसी की प्रजा थे। ४३६ ई० के बाद, चीनी ग्रन्थो से इनके नाम का पूरी तरह लोप हो जाता है।

तुर्क जाति और उसकी सभ्यता

सभ्यता और सस्कृत के इतिहास मे तुर्क जाति का भी अपना विशेष स्थान रहा। इसकी सभ्यता की छाप एशिया ही नही, यूरोप तक पर पडी है। भारत मे तो इस जाति ने अपना शासन स्थापित करके, मूल भारतीय आर्य जाति से बहुत कुछ लिया और दिया है और अन्त मे इसी जाति के कारण इस महादेश के दो टुकडे भारत और पाकिस्तान के नाम से हुए। यह जाति यदि भारत न आती, अथवा अपने आने के समय से २-३ सदी यदि पहिले आती, जबकि यह बौद्ध मतावलम्बी थे, तब आसानी से भारतीय महादेश को जातियो मे घुलमिल जाते, किन्तु ऐसा नही हुआ। यह तब आये, जब नये-नये मुसलमान बने थे और नये मुसलमानो मे मजहबी कट्टरपन पुराने मुसलमानो से भी ज्यादा था। अतः अपने इसी कट्टरपन के कारण यह भारतीय सस्कृति मे घुलने के बजाय, अपनी सभ्यता और सस्कृति को, इस देश की सस्कृति से पृथक् ही रखे रहे और अन्त मे इसी के नाम पर १४ अगस्त १९४७ ई० को इनका नेता मुसम्मदअली जिन्ना, इस देश के तत्कालीन शासक अग्रेजो से देश के दो टुकडे कराने मे सफल हो गया।

तुर्क संस्कृति के सस्थापक—चीनी ग्रन्थो के अनुसार तुर्क लोगो की जाति एक हूण कबीले से उत्पन्न हुई, जिसका प्रारम्भिक नाम **अस्सेना** था। इनका यह नाम संभवत इसलिये पडा कि यह **सान** पर लोहा बनाने का काम किया करते थे। इस तरह यह मध्य एशिया के लुहार थे। उस समय यह अल्ताई पर्वतमाला के दक्षिण मे रहते थे। इससे पहिले यह चीन के ल्याग नामक क्षेत्र मे रह चुके थे। यह लोग शिर-त्राण जैसी नुकीली टोपी पहना करते थे, जिसके कारण यह दुर-पी कहे जाने लगे उसीका अपभ्रश तुरुष्क या तुर्क हुआ। ५४६ ई० मे इनकी पडोसी अवारों की जाति निर्बल हो रही थी। अत इनके सरदार तुमिन ने अपने को स्वतत्र घोषित कर दिया और अपने को जाति का खान या खाकान घोषित कर दिया जो हूण सम्राट् शानयू शब्द का ही पर्यायी है। यह उपाधि पहिले अवारो के राजा ने धारण की थी। इसके पश्चात् तुर्क सम्राटो की उपाधि यही रही। भारत मे आकर भी जब मुगल खान, शहशाह और शहशाहेआलम बन गये, तब भी यह उपाधि विशेष रही। लेकिन इसके पश्चात् आम मुसलमान भी खान साहब बन गये। इस शब्द को मंगोलो ने भी अपना लिया था।

अस्तु, तु-मिन—इलिखान बन गया, जिसका अर्थ है जनो का राजा। इलखान

बनने के बाद इसने और भी कई उपाधियाँ धारण की । अपनी रानी को भी इसने **खो-ह्ो तुन्** की उपाधि प्रदान की जो बाद मे **खा-तुन** बन गयी और भारत मे सभी मुसल्मानो के खान शब्द की तरह स्त्रियो के आगे भी **खातुन** शब्द लगाया जाता है। इस समय इसका कबीला हाइह्वाग के उत्तर मे था । चीनियो ने इन्हे **तुइक्** लिखा है । ५५३ ई० मे यह व्यक्ति अपने कबीले की शक्ति बढाकर मर गया।

विवाह-प्रथा—इनकी विवाह प्रथा भी विचित्र थी । यह लोग अपने मुर्दों को वसन्तकाल मे कब्रो मे दफनाते थे । उस समय सभी स्त्री-पुरुष वहा मौजूद होते थे । अत जिस युवक को लडकी पसन्द आ जाती थी, घर लौटने पर उसके माता-पिता को सन्देश भेज देता था जिसे माता-पिता स्वीकार कर लेते थे । यही रिवाज **स्यान-पी** जाति मे भी था।

बौद्ध-धर्म का प्रवेश—ई० पू० २सरी शताब्दी मे ही तरिम उपत्यका मे बौद्ध-धर्म पहुँच चुका था और हूणो सहित इन सभी वर्बर जातियो मे फैलता जा रहा था। यही से ५८ ई० तक वह चीन मे भी जा पहुचा था। तत्कालीन हानवंशी चीनी सम्राट् मिंग ने, अपने दूत बौद्ध ग्रन्थ और भिक्षुओ को लाने के लिये भारत भेजे थे । अत **कश्यप मातग** और **धर्म-रत्न** नामक भिक्षु बहुत से बौद्ध ग्रन्थ और मूर्तियाँ लेकर, चीन की राजधानी **लोयाग** पहुचे थे । बौद्ध-धर्म का ही प्रभाव था कि इन वर्बर लोगो के अन्दर भी सभ्यता का अकुर उगने लगा था।

५-० ई० मे तुर्कों के **तोबाखान** ने भी बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया। तोबा को बौद्धधर्म का उपदेश उसके कबीले द्वारा बन्दी बनाये गय, एक भिक्षु ने दिया था। अत बौद्धधर्म मे दीक्षित होते ही तोबा खान ने एक विहार बनवाया । तोबा ने बौद्ध ग्रथो को लाने के लिये **ची वश** की राजधानी **होनान** मे अपना दूत भेजा था। बाद मे इसने कई स्तूप भी बनवाये और उत्सव भी कराये, परन्तु इसे धर्मात्मा समझकर ची-वश का राजा जब इसकी शरण मे आया, तब चाऊ-वश द्वारा अपनी कन्या देते ही, इसने उसे उसके दुश्मन चाऊ लोगो के हवाले कर दिया।

प्रारम्भिक-राजनीति—तोबा खान के समय तक इन लोगो मे राजतत्र की प्रणाली नही थी, अपितु जनतत्र था। अत. खान का चुनाव कबीले द्वारा ही होता था, चाहे वह पूर्व खान का पुत्र हो या अन्य कोई व्यक्ति हो। कबीले के निर्णय से खान को पदच्युत भी किया जा सकता था और दूसरा व्यक्ति खान बनाया जाता था। इनके बाद उप खान होते थे, जो राजा परिवार के होते थे और अपने भाग के स्वतत्र शासक भी होते थे।

धार्मिक स्थिति—प्रारम्भिक काल मे तुर्कों का अपना कोई धर्म नही था और न ही धर्म सम्बन्धी कुछ विचार थे । वे अब तक हूणो के रीति-रिवाजो को अपनाये हुए थे और उन्ही के अनुसार भूत-प्रेतो मे आस्था रखते हुए मृतको का श्राद्ध आदि भी करते थे। भारतीय बौद्धधर्म ई० पू० २सरी शताब्दी मे जब यहा पहुचा, तब सबमे पहिले हूणो ने उसे अपनाना शुरू किया और सम्भवत उन्ही के द्वारा वह कोरिया

और कोरिया से जापान पहुँचा। अत अपने उत्थान की वेला मे तुर्कों ने भी बौद्धधर्म अपना लिया । परन्तु साथ ही यह बौद्धधर्म पर आधारित मानी धर्म का भी आदर करने लगे थे।

तुर्क सभ्यता के प्रारम्भिक मूलाधार—तुर्क-सभ्यता के, मूलाधारों मे सबसे पहिले उन भारतीयो का नाम लिया जा सकता है, जो 'देखते ही तीर मारो' के सिद्धात को मानने वाले इन वर्बर लोगो मे धर्म वृक्ष की शाखा लेकर पहुचे थे । अत उन धर्म प्रचारको से इन्हे धर्म ही नही, भारतीय राजनीतिक ज्ञान भी प्राप्त हुआ । इसके विपरीत सदियो तक चीन के सम्पर्क मे रहने पर भी इन्होने अपनी सभ्यता मे तनिक भी विकास नही किया । न ही अपने रहन-सहन मे परिवर्तन किया और न ही वेश-भूषा मे। भारतीयो के सम्पर्क मे आने के साथ-साथ यह ईरानी आर्यों के सम्पर्क मे भी आये। उनकी सभ्यता का इन पर अवश्य प्रभाव पडा। कार चोर्वा का काम, कालीन बनाना तथा मिट्टी के बर्तनो को चित्रित करना निश्चय ही इन्होने ईरानियो से सीखा। प्रथम खान तूमिन के समय मे ही इनका तुर्क राज्य अल्ताई से प्रारम्भ होकर, प्रशात महासागर और कृष्णसागर तक पहुच गया था। सुचाव नामक इनका व्यापारिक नगर था।

ईरान और उसकी सभ्यता

सभ्यताओ के विकास के इतिहास मे, ईरान की प्राचीन सभ्यता का महत्त्व इसलिये अधिक माना जाता है कि भारत की आर्य सभ्यता और ईरान की सभ्यता मे सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से इतना साम्य पाया गया है कि विश्व की इन दोनो प्राचीन सभ्यताओ को पृथक्-पृथक् नही माना जा सकता। यह एक ही मूल की दो शाखाएँ है, जिन्होने कालान्तर मे परिस्थितियो के अनुसार अपने सामाजिक मार्गों मे परिवर्तन किया। पारसियो के महापुरुष जरथुस्त्र ने ईरान को "एर्याना—वैंजो" कहा है, जिसका अर्थ है—आर्यों का प्राचीन निवास-स्थान। सभवत जरथुस्त्र के कथन के आधार पर ही यूनानी इतिहासकार स्ट्रेबो ने, इसे 'एरियाना' लिखा और आगे चलकर यही एरियाना, ईरान हो गया। भारतीय वाङ्मय मे इसे पारदीय देश भी कहते हैं। पारसी जाति आदि काल मे आर्यों से पृथक् होकर वहाँ वसी थी।

मैक्समूलर कहते है—"यह बात भौगोलिक प्रमाणो से सिद्ध हो चुकी है कि पारसी लोग फारस मे आवाद होने से पहले, भारत मे आबाद थे। उत्तर भारत से आकर ही पारसियो ने अपना उपनिवेश बसाया था। वे अपने साथ भारत की नदियो के नाम ले गये। उन्होंने सरस्वती के नाम पर **हरहवती** और सरयू के स्थान पर **हरयू** नाम रखा। वे अपने साथ शहरो के भी नाम ले गये। उन्होंने **भरत** के नाम पर **फरत** नाम रखा और वही फरत—फर्स कालान्तर मे **यूफरत** हो गया। उन्होने भूपाल (न) को वेविलन और कासी को **कास्सी** (Cassoı) तथा **आर्यन** को **ईरान** नाम से प्रसिद्ध कर दिया। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि ईरानी भारतीय आर्यों की शाखा हैं।

प्रारम्भिक-स्थिति–ईरान की प्रारम्भिक-स्थिति एक सुदृढ राज्य जैसी नही थी। प्राचीन यूनान की भाँति यह भी नगर-राज्यो मे विभक्त था। इन नगर राज्यो के स्वतत्र शासक थे, जो समय-समय पर एक-दूसरे से लडते-झगडते रहते थे। असुर सम्राट् **सलमसर** ने इसके एक भाग को **"पर्सुआ"** कहकर पुकारा है। उत्खनन के अनुसार, ८३७ ई० पू० **सलमसर** ने यहाँ अभियान किया था। उस समय सलमसर के समय का 'पर्सुआ' कुर्दिस्तान की पहाडियो मे आवाद था। वहाँ छोटे-छोटे सत्ताईस स्वतत्र नगर राज्य आवाद थे। यहाँ के रहने वाले **मीडिया** या **मीडिस** जाति के थे। इन्ही की दूसरी शाखा **मदाई** और तीसरी **अमादाई** थी।

Chıps from a German works home Page–235

इन जातियो मे मीडिया जाति सबसे बलवान थी और उसने अपनी जाति के नाम पर ही मीडिया राज्य की स्थापना की थी। इसी राज्य के एक प्रान्त का नाम, 'पर्स' था। वर्तमान मे उसका नाम फर्स था 'फर्सिस्तान' है। कालान्तर में उसी के आधार पर इस देश का मीडिया नाम समाप्त हो गया और फारस, पारस, प्रशिया तथा पर्सिश्रा नाम पडे। और यहाँ के रहने वाले पारसी कहे जाने लगे। जब उन्होंने अपनी जाति की रूपरेखा को लिपि-बद्ध करना प्रारम्भ किया, तब उन्होने आर्य होने के नाते अपने देश को "एर्याना वैजो" लिखा और आगे चलकर वही ईरान हो गया।

भौगोलिक-स्थिति—ईरान का प्राचीन साम्राज्य, जो लगभग २७ सूबो या उप-राज्यो मे फैला हुआ था, इतना विशाल हो गया था कि उसके एक ओर **मेसोपोटामिया** की दजला नदी और दूसरी ओर भारत की सिन्धु नदी थी। इसके दक्षिण मे फारस की खाडी, उत्तर मे कैस्पियन सागर तथा 'सर' और 'आमू' नदियाँ थी। इसके चारो ओर की पर्वतमालाओ की ऊँचाई लगभग १० हजार फुट है। कुछ चोटियाँ १४ और १५ हजार फुट तक भी ऊँची है। इन्ही पर्वत श्रृखलाओ मे 'दमबन्द' का ज्वालामुखी पर्वत है और वर्फ से ढकी रहने वाली 'कोहे काफ' या कोहे बाबा की चोटियाँ हैं। पर्वतीय प्रदेश के इधर-उधर रेगिस्तान हैं, जिसमे रेगिस्तान का एक भाग अलबुर्ज पहाड के सारे महाप्रदेश को दो भागो मे विभाजित करता हुआ **मेकरान** तक ८०० मील तक फैला हुआ हैं। लेकिन इसी रेगिस्तान मे कई हरी-भरी उपजाऊ उपत्यकाएं भी हैं। इन्ही उपत्यकाओ मे एक समय **ऐलाम** राज्य बसा हुआ था। उस समय आज का अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान (पाकिस्तान) भी इसी ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इसी की राजधानी सूसा को सम्राट् बहुत पसन्द करता था और साल मे एक बार यहाँ आकर रहता था।

सत्ताईस राज्यो के इस विशाल देश मे, एक छोर से, दूसरे छोर तक सड़कें बनी हुई थी। जिनमे **सूसा** से **सार्डिस** तक बनी हुई सडक की लम्बाई लगभग १५०० मील थी। दूसरी सडक सूसा से सिन्धु नदी तक बनाई गई थी। इन सडको पर व्यापारिक काफलो के लिये चार-चार मील दूर पर सरायें बनी हुई थी। इनमे यात्रियो के ठहरने के अतिरिक्त डाक ले जाने वाले घोडे भी मौजूद रहते थे और सैनिक भी। नदियो को पार करने के लिये जगह-जगह पुल बने हुए थे और नावें थी। इसीलिये **मिस्र** और **ईरान** का रास्ता सुगम करने के लिये दारा ने लाल सागर और नील नदी को एक नहर खुदवा कर मिलवा दिया था। इसी नहर के कारण भूमध्यसागर या लाल सागर मे सम्बन्ध जुड गया था। कालान्तर मे यह नहर समाप्त हो गई, लेकिन स्वेज-नहर को जन्म दे गयी।

जल-वायु—पारसियो के धर्म-ग्रन्थ 'जन्दावस्था' मे जगलो आदि के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि इस देश का जलवायु आज जैसा पहिले शुष्क नही था, उचित अवसर पर वर्षा होने के कारण हरियाली पर्याप्त थी। धीरे-धीरे भूमि का क्षरण होता गया और छोटे-छोटे रेगिस्तान बढते गये तथा अर्ध सभ्य जातियो के आक्रमणो के

कारण नगर उजडते गये। नदियो और नहरो की कमी के कारण जलवायु शुष्क हुआ और हरियाली लुप्त होती चली गई। अत पहाडी भू-खण्डो की बहुतायत और बढे हुए रेगिस्तानो ने यहाँ के जलवायु को कठोर बना दिया। गर्मियो मे गर्मी भी कठोर होती है और सर्दियो मे सर्दी भी कठोर पडती है।

वेश-भूषा और निवासी—यहाँ के निवासी भिन्न-भिन्न जातियो के थे। राजमहलो और नागरिक जीवन सम्बन्धी खुदाई से जो चित्र आदि उपलब्ध हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि पारसी लोग जो आर्य जाति के थे, शरीर से हृष्ट-पुष्ट और गोरे रग के थे। उनका शरीर गठीला और आकृति भव्य थी। वे लोग अधिकाशत दाढिया रखते थे और सिर पर पगडी बाधते थे तथा पैरो मे चप्पल सदृश खुले हुए जूते पहनते थे। कभी-कभी सोने के जूते भी पहने जाते थे।

वेशभूषा मे पुरुष वर्ग लम्बा अगरखा पहनता था, जिसके नीचे पतले बनियान पहने जाते थे। अपने इस अगरखे को भी यह कमर-बन्द से बाधते थे। शरीर के किसी भाग को खुला रखना उस समय असभ्यता समझा जाता था। अलकार और प्रसाधन-सामग्री का उपयोग स्त्री-पुरुष दोनो करते थे। युद्ध काल तक स्वय सम्राटो की प्रसाधन-सामग्री की पेटी साथ रहती थी। बडे लोग सरो पर मुकुट बाधते थे, हाथो पर बाजूबन्द बाधते थे।

स्त्रियो की वेश-भूषा भी पुरुषो के अनुरूप ही थी। दोनो की पोशाको मे केवल इतना भेद था कि स्त्रियो का चोगा, उनके सीने को बिल्कुल ढका रखता था और पुरुषो का खुला हुआ रहता था। पाजामा दोनो पहनते थे। इसी भाति कर्ण-फूल भी कानो मे दोनो पहनते थे, अगूठी पहनने का प्रचलन था जो सोने और पत्थर दोनो की होती थी। आखो मे सुरमा लगाना और कधे पर तुरीण तथा हाथ मे धनुष लेकर चलने का आम रिवाज़ था।

मुख्य पेशा—आम जनता का मुख्य पेशा कृषि था और कृषि-कर्म की सराहना ही पारसियो के धर्मग्रन्थ **जन्दावस्था** मे की गई है। भारत मे प्रचलित 'उत्तम खेती, मध्यम बान, निषध चाकरी, भीख निदान' की भाति जन्दावस्था ने कृषि-कार्य को सर्वोत्तम माना है। जन्दावस्था का कथन है कि अहुरमज्दा देवता केवल कृषि करने वाले व्यक्तियो से ही प्रसन्न रहते है। कृषि के लिये जमीदार-पद्धति प्रचलित थी। उस समय बडे-बडे जमीदार गुलामो से भी खेती कराते थे। जमीदार लोग किसान को मजदूरी के बदले उपज का १०वा भाग देते थे। भूमि की जुताई के लिये हल का प्रयोग किया जाता था, जिसे बैल खीचते थे। जमीन की सिचाई के लिये नहरें भी थीं। उपज मे गेहू को प्रमुखता प्राप्त थी। दूसरा स्थान जौ को प्राप्त था। शराब का व्यसन घर-घर था। सेना को भी शराब पिलाकर लडाया जाता था।

स्त्रियो की सामाजिक-स्थिति—भारतवर्ष तथा अन्य बहुत-से देशो की भाति विवाह का दायित्व यू तो माता-पिताओ पर ही था, किन्तु थाईलैंड आदि एशिया के पूर्वी देशो और मिस्र मे कई सौ वर्ष तक प्रचलित नियम के अनुसार, वहा बहिन और

भाई से भी विवाह होता था और यह समाज मे बुरा नही माना जाता था। यही बात नही, बहुधा भी अगर तो पिता-पुत्री और माता-पुत्र तक मे विवाह हो जाते थे। उस समय समाज मे बहु-पत्नी प्रथा प्रचलित थी। अनेक पत्नियो के अतिरिक्त रखैल भी भी रखी जाती थी। सम्राट के महल मे पत्नियो, रखैलो और दासियो मे भी रहते थे। सम्राट लोग अपनी इन नारियो को युद्ध-स्थल पर भी ले जाते थे। इन लडाई आदि पर जो स्त्रियाँ विधवा हो जाती थी, वह अपनी ओर से लडके से ही शादी कर लेती थी। दूसरे शब्दो मे, उत्तराधिकार के अनुसार पिता के मरने के बाद, उसकी समस्त सम्पत्ति पुत्र की होती थी और चूंकि स्त्रियाँ आदि भी उस समय व्यक्ति की सम्पत्ति समझी जाती थी, अत वह स्वत: ही पुत्र की भी स्त्रियाँ बन जाती थी। यहा पर मगनी बचपन मे ही हो जाती थी, १५-१६ साल बाद विवाह होता था।

इसके साथ ही साथ ईरानी लोग अपने जीवन को अत्यन्त कठोर और सयम से व्यतीत करते थे। वेश्यावृत्ति को यहा बेबीलोनिया की भाति आदर की दृष्टि से नही देखा जाता था। उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। साथ ही अप्राकृतिक दुराचार आदि के लिये यहाँ मौत की सजा दी जाती थी। जन्दावस्था मे इस पाप को प्रायश्चित् से भी परे बताया है। इसके अतिरिक्त युवक और युवतियो का, विवाह न करके ब्रह्मचारी रहना, समाज मे नैतिक दृष्टि से हीन समझा जाता था। इसीलिये उनके धर्मग्रन्थ मे भी गृहस्थ-जीवन को सबसे अच्छा बताया गया है। कहा गया है कि अहुरमज्दा की दृष्टि मे वही लोग सुखी हैं, जो विवाहित होकर गृहस्थ-जीवन यापन करते हुए अपने कुल पुरोहितो, स्त्रियो, बच्चो तथा अपने पशुओ के कर्तव्य-पालन करते हुए कर्म करके धर्म और पवित्र अग्नि की श्रीवृद्धि करते हैं।

जरथुस्त्र-काल तक आते आते नारी के अधिकारो मे काफी वृद्धि हो गई थी। उस समय ईरान मे पर्दे का प्रचलन नही रहा था, स्त्रियाँ खुले मुख घूम-फिर सकती थी। वह अपनी स्वतत्र सम्पत्ति की स्वामिनी तो होती ही थी, पति की मृत्यु के उपरान्त पुत्र के वयस्क न होने की अवस्था मे उसके कार्यों को स्वय करती थी, भले ही वह कृषि-कर्म हो, दुकानदारी हो अथवा व्यापार हो, परन्तु शनै:-शनै स्त्रियो की सामाजिक-स्थिति हीन होती गई और सम्राट् डेरियस के कार्य काल के पश्चात् स्त्रियाँ पुनः पर्दे के अन्दर वन्द हो गई। हाट-बाजार मे उनका खुले मुख बाहर जाना समाप्त हो गया। सम्पन्न परिवारो की स्त्रियाँ बाहर जाते समय पालकी मे जाती थी, जो चारो ओर रगीन मोटे कपडे से ढकी रहती थी। पर-पुरुषो से उनका बातचीत करना समाप्त हो गया। विवाहित अथवा विवाह योग्य स्त्रियो का अपने पिता तथा भाई आदि से भी बातचीत करना बुरा समझा जाने लगा। सक्षेप मे, पौराणिक-काल मे भारत मे जो नारियो की स्थिति थी, यहाँ भी वही थी। और समाज मे नारी-जाति के अधिकारो सम्बन्धी जो व्यवस्था भारतीय स्मृतिकारो ने प्रतिपादित की थी, वह आशिक सम्पादन के साथ यहाँ स्वीकार कर ली गई थी। उस समय के ईरान का सामाजिक-जीवन बिल्कुल भारतीय जन-जीवन के अनुरूप ही चल रहा था। अर्थात् उस समय समाज मे नारी का

दर्जा गौण हो चुका था। यही कारण है कि जितने भी ईरानी शाहो के प्राचीन महलो के अवशेष मिले हैं, उनकी भित्तियो आदि पर किसी भी नारी का नाम या चित्र उत्कीर्ण नही है। परन्तु उस काल मे राजदरबारो मे राजमहिषियो का पर्याप्त प्रवेश था।

उस समय रानियो और रखैलो की निगरानी के लिए हिजडो को रखने का प्रचलन था। यह हिजडे यदा-कदा रानियो से मिलकर उत्तराधिकार के लिए षड्यत्र रचते रहते थे। महलो के जीवन को विलासी बनाने मे भी इनका सहयोग रहता था।

उस समय भी समाज मे पुत्री से अधिक पुत्र को ही महत्त्व दिया जाता था और उसी के जन्म की कामना की जाती थी। अधिक पुत्रो के पिता राज्य की ओर से सम्मानित होते थे। भारत मे आर्य-कालीन युग मे भी पुत्रो की ही कामना अधिक की जाती थी। वैदिक देवता इन्द्र से याज्ञिक जहाँ पुत्र प्राप्ति की कामना करता था, वहाँ पुरोहित भी विवाह आदि के अवसर पर यजमान को दस-पुत्रो का पिता होने का आशीर्वाद देता था। भ्रूणहत्या के लिए भारत मे भी नारी के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था थी और ईरान मे भी ऐसी महिला की हत्या की जाती थी।

पुरुषों का सामाजिक-जीवन—ईरानी पुरुषो का सामाजिक-जीवन धर्म की मान्यताओ से परिपूर्ण था। अपने पशुओ मे ईरानी लोग सबसे अधिक आदर गाय का करते थे, उसे उन्होने अपनी पूजा मे स्थान दिया हुआ था। गाय के पश्चात् बैल का स्थान था और उसके पश्चात् कुत्ते को महत्त्व दिया जाता था। कुत्ते को परिवार के सदस्य के अनुरूप ही भोजन दिया जाता था। पारसी-धर्म ग्रन्थ **जन्दावस्था** मे भी कुत्ते को खराब भोजन देने वाले के लिए दण्ड की व्यवस्था है। भारतीय धर्म-ग्रन्थ महाभारत मे कुत्ते को धर्म रूप के नाम से पुकारा गया है जो पाडवो के हिमालय पर गलने जाने के समय धर्मराज युधिष्ठिर के साथ गया था। कुत्ते के पश्चात् मुर्गे और ऊदबिलाव को विशेष सरक्षण प्राप्त था। ऊदबिलाव के मारने पर बेत का दण्ड दिया जाता था।

देव-अभ्यर्थना अथवा मन्दिर मे जाने से पहले, स्नान करके शरीर की शुद्धि कर लेना आवश्यक समझा जाता था। भारत मे जिस भाँति धार्मिक विधि-विधान ब्राह्मणो द्वारा सम्पन्न कराने की प्रथा प्रचलित हुई थी, और कालान्तर मे इस नाम की एक विशिष्ट जाति ही बन गई जिसका कार्य कर्मकाण्ड कराना तथा शिक्षा आदि देना था, उसी भाति ईरान मे भी 'मग' नामक लोगो की एक जाति थी, जिसका कार्य जनसाधारण के धार्मिक कृत्यो को पूर्ण कराना था। यह लोग ज्योति, जल, वायु तथा गाय की पूजा करते थे और फल-फूलो, सुगधित पदार्थो तथा बैल, भेड, गधो और घोडो की बलि दिया करते थे। मृतक के शव को मोम मे लपेटकर गाडने का नियम था। उस काल की कब्रें अभी तक अच्छी अवस्था मे पाई गई हैं।

वस्तुत ईरानी समाज और भारतीय आर्य समाज के रीति-रिवाज कुछ बातो को छोडकर एक जैसे ही थे। मृत्यु के बारे मे उनका विश्वास था कि आत्मा एक पुल से होकर गुजरती है। यदि आदमी पापी होता है तब गहरे अधकार मे गिरकर यात-

नाए पाता है, यदि पापी नही होता, तब पुल पारकर स्वर्ग चला जाता है, जहाँ उन्नत उरोजवाली कुमारियाँ उसका स्वागत करती है। वास्तव मे यह आर्यों के स्वर्ग और नर्क की ज्यो की त्यो मान्यता थी, केवल वैतरणी के स्थान पर ईरानी आर्यों ने उसे एक पुल का नाम दे दिया था।

प्रमोदी-जीवन—ईरानी लोग खुशमिजाज, उदार और महानुभूतिपूर्ण हृदय रखने वाले थे। यह लोग परस्पर मिलते समय आलिगन करके एक दूसरे के होठो का चुम्बन करते थे। परन्तु होठ के चुम्बन की परिपाटी अपनो से छोटो के लिए थी। बडो का अभिवादन झुककर ही करते थे। यह लोग नृत्य और गीतो मे प्रेम करते थे। इनके वाद्य-यत्रो मे सितार, बाँसुरी, ढोलक तथा लोहे के पत्तो से बना 'पखावज' था।

विलासिता की पराकाष्ठा—धीरे-धीरे ईरान मे नैतिकता का पतन होने लगा और पुरुष विलासी बनते गये। सम्राट् स्वय राजदण्ड लेकर स्वर्ण सिंहासन पर बैठता था जिसके ऊपर मोतियो की झालर लगी छतरी तनी रहती थी। इसके अतिरिक्त धनिक वर्ग के लोग पीने के पानी के लिए सोने के लोटो और गिलासो का प्रयोग करते थे। खाने-पीने मे इनके यहा पर्याप्त शुद्धता बरती जाती थी। भोजन केवल एक समय दोपहर को करते थे। रात को फलो का आहार होता था। स्वास्थ्य के नियमो के पालन करने का यहाँ रिवाज था। परन्तु बाद मे यह सब नियम भग हो गये। अत ईरान मे पतन की लहर चल पडी। अमीर लोगो ने अपने बैठने के स्थानो तक को सोने-चादी से सजाना शुरू कर दिया। सैनिक और सेनापति तक युद्ध स्थल तक पर स्त्रियो को साथ ले जाने लगे। वर्क की पोशाकें तथा गलीचे और कालीनो का शौक बढा। शराब का प्रयोग घर-घर होने लगा। सोने के प्याले हाथ मे लेकर, शराब पीकर नृत्य देखना अमीर लोगो का प्रमुख व्यसन हो गया। यही कारण था कि विलासी 'ईरानी' यूनानियो का आक्रमण नही रोक सके और चार लाख सेना साथ रहते हुए भी दारा सिकन्दर के सामने से भाग गया।

सम्राटों का रहन सहन—ईरानी सम्राटो का रहन-सहन बडे ठाट-बाट का होता था। विलासिता भी इनमे पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। सम्राट् का लिबास गुलाबी रग की अचकन, पायजामा होता था और सर पर मुकुट लगाता था। ईरान के उत्खनन से सम्राटो की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमे सम्राट् को कानो मे बाले लटकाये, सर पर मुकुट धारण किए, हाथो पर बाजूबद बाधे दिखाया गया है। वह एक सिंहासन पर बैठा है। उसके एक हाथ मे कोई फल है तथा हाथ मे राजदण्ड है। अपने अवकाश के समय सम्राट् मनोरजन के कार्य करता था। वह या तो लकडी पर चित्रकारी करता था अथवा अपने महल मे जाकर रानियो के साथ चौसर आदि खेलता था। इन लोगो को साहित्यिक मामलो मे कोई दिलचस्पी नही थी, क्योकि सम्राट् लोग स्वय पढे लिखे नही होते थे। साहित्य के नाम पर उनका कार्य केवल पूर्वजो की कथाएँ सुनना भर था।

महल मे सम्राज्ञी को विशेषाधिकार प्राप्त थे, वह सैकडो दास-दासियो की

स्वामिनी होती थी। उसका अपना आय-कर विभाग होता था। महलो मे षडयन्त्र भी काफी चलते थे। रखैलो के पद तथा अधिकार साम्राज्ञी की कृपा पर निर्भर थे महल का शासन प्रबध आमतौर से हिजडो के हाथ मे रहता था। यह परिपाटी कालान्तर मे तुर्क और मुगल आदि सम्राटो के महलो मे भी रही। ईरान मे तो हिजडो का बाहुल्य इतना हो गया था कि सामन्त और धनिक लोग सभी रखैले और हिजडे रखने लगे थे। राजदरबार मे सबसे अधिक सम्मान सेनापति का होता था। उसके पश्चात् मुख्य बवर्ची और मुख्याधिकारी हिजडे को सम्मान मिलता था। इनके बाद मुसाहिबो, शिकारियो, गवैयो तथा राजदूतो आदि को सम्मान मिलता था।

भोजन—भोजन मे मास का प्रयोग अधिक होता था। शाही लगर से नित्य प्रति १५-२० हजार व्यक्ति भोजन पाते थे। परन्तु सम्राट् अपना भोजन एकान्त मे करता था। सोने-चाँदी के बर्तन खाने-पीने के काम मे व्यवहृत किए जाते थे। सोते समय सम्राट पेट भरकर शराब पीता था।

सम्राट् का शिकारी-विभाग अलग था, उसमे बडे-बडे खूँखार कुत्ते पाले हुए थे। आमतौर से सभी जानवरो का शिकार घोडे पर चढकर ही किया जाता था। शिकार के समय तीर की अपेक्षा छुरो का प्रयोग अधिक किया जाता था।

दण्ड व्यवस्था—यहाँ प्रारम्भ मे दण्ड-व्यवस्था पुरोहितो के हाथो मे थी। उसके बाद परिवर्तन किया गया और देहातो मे मुकद्दमे निपटाने का काम पचायतो को सौंपा गया। वहाँ फैसला न होने पर नगर-न्यायालय मे फैसला किया जाता था। उसके बाद मुकद्दमे की अपील सुनने का अधिकार उच्च न्यायालय को था। सर्वोच्च न्यायालय राजदरबार होता था, जहाँ सम्राट् स्वय न्याय करता था। राजधानी मे सात-न्यायालय थे। मुकदमो मे सहायता देने के लिए कानून समझने वाले मुशी भी पैदा हो गये थे, वह मुशी आज के वकीलो के पेशा-पूर्वज थे।

न्यायालयो का कार्य ईमानदारी से पक्षपात रहित होकर बिना रिश्वतखोरी के न्याय करना था। यदि न्यायकर्ता पर पक्षपात अथवा रिश्वत का आरोप सिद्ध हो जाता था, तो उसे प्राणदण्ड दिया जाता था।

अपराध की धाराओ मे, अपराध और उनके लिए दण्ड पृथक् पृथक् थे। गहन अपराधो मे, जैसे सम्राट् की किसी वस्तु का प्रयोग करना, जिसमे महल की रानियाँ और रखैलें भी शामिल थी, पत्थर मार-मारकर या दो पत्थरो के बीच दबाकर हत्या की जाती थी। राजपरिवार के व्यक्ति के असतुष्ट होने पर उल्टे लटका कर फासी दी जाती थी। चोरी के अपराध मे अग-भग किया जाता था। रिश्वतखोर और देशद्रोही की खाल खीच ली जाती थी। व्यभिचारी की हत्या फासी देकर की जाती थी। राज-धर्म के विपरीत मृतक-सस्कार करने पर भी मौत की सजा दी जाती थी। साधारण अपराधो के लिए कोडे मारने का दण्ड था, यह दण्ड प्रति कोडे के हिसाब से जुर्माने मे भी बदल दिया जाता था।

शासन-प्रबन्ध की रूपरेखा—ईरान के स्वेच्छाचारी प्रभुसत्ता-सम्पन्न सम्राट के

सामने सारी प्रजा 'दास' थी। सम्राट के कुल और उसके कुलों के गोत्र वाले लोगों का परिवार मे अधिक मान होता था। वह पूर्व सूचना के बिना भी सम्राट के पास महल मे जा सकते थे।

ईरानी साम्राज्य का शासन, समस्त राज्य को सूबो मे विभाजित करके होता था। यह सूबेदार या गवर्नर उस समय क्षत्रप कहलाते थे। मध्य-काल की शासन प्रथा के अनुसार उस समय भी सभी क्षत्रप राजपरिवार के ही व्यक्ति होते थे। इन्ही के साथ एक-एक सेनापति की नियुक्ति की जाती थी। वह अपनी सेना सहित इनके साथ राज्य मे रहता था। परन्तु वह केवल सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी था। इनके साथ ही एक और भी स्वतन्त्र इकाई होती थी, वह इकाई ऐसे एक सचिव की थी जो क्षत्रप और सेनापति की कार्यवाहियो पर दृष्टि रखे। इन तीनो के कार्यों पर भी सम्राट का गुप्तचर-विभाग अपनी दृष्टि रखता था और इनके कार्य-कलापो की रिपोर्ट सम्राट को देता था। इस प्रकार सम्राट इन तीनो के सम्मिलित षडयन्त्र से सुरक्षित रहता था। इन गुप्तचरो के प्रधान को यह अधिकार प्राप्त होता था कि वह साम्राज्य के किसी भी राज्य मे जाकर किसी भी अधिकारी के कागज-पत्रो की जांच-पडताल करे। कई सम्राटो ने अपने विश्वस्त कर्मचारियो से विष द्वारा क्षत्रपो की हत्याए, इनकी रिपोर्टो पर कराई। यह कुत्सित कर्म सम्राट लोग उस समय कराया करते थे, जिस समय किसी क्षत्रप के प्रति उन्हे विद्रोही हो जाने या शत्रु से मिल जाने का सदेह होता था।

लेखपाल—भूमि का हिसाव-किताव रखने के लिए पटवारी (लेखपाल) और कानूनगो आदि होते थे। शाही कर देने के पश्चात्, जो वचता था उसे ये अधिकारी वर्ग मिल-बाँटकर खा जाते थे। यह अपने उद्यान, दुर्ग और विशाल महल तक वनवा लेते थे। राज्य को कर के रूप मे प्रत्येक प्रान्त से सिक्को के अतिरिक्त, खाद्यान्न, विभिन्न वस्तुओ तथा पशु-पक्षी और हिजडे व स्त्रिया तक भी भेजी जाती थी। दान और भेटे क्षत्रपो की होती थी।

उदाहरणार्थ ईरानी राज्य को उसके अरवी प्रान्त से, ५ हजार टैलेंट वार्षिक नकद मिलता था तो १॥ लाख मनुष्यो के साल भर तक खाने के लिए गल्ला मिस्र से भेजा जाता था। ८०० सोने का सिक्का(टैलेट)भी आता था। इसी प्रकार वेवीलीन से १हजार सिक्का और ७००युवक हिजडे प्रतिवर्ष आते थे। एशियामाईनर से दो हजार सिक्के आते थे तो आर्मीनिया से घोडे आते थे। सम्राट डेरियस के शासनकाल मे (३३३ ई०पू०) जव सिकन्दर ने आक्रमण किया था, तव उसके खजाने से २ लाख स्वर्ण के सिक्के वरामद किये थे। उस समय सभी प्रान्तो को यह अधिकार प्राप्त था कि वह चाहे किसी भी भाषा का प्रयोग करे, कैसा भी रहन-सहन रखे और अपने सिक्के किसी भी धातु के ढालें। सम्राट को अपना उत्तराधिकारी चुनने की स्वतन्त्रता थी।

सम्राट् के अधिकार—ईरानी सम्राट के अधिकार अत्यन्त विस्तृत थे। वह अपने एकमात्र विशाल साम्राज्य का अधिपति था। वह अपने को क्षश्र अर्थात् क्षत्री कहता था। राज्य की समस्त सेना का सेनापति वही होता था। यूनानी लोग उसे

बादशाह के नाम से पुकारते थे। परन्तु वह अपने को शाहो का शाह—शहशाह कहता था। उसकी इच्छा ही कानून थी। वह अपनी तीरन्दाजी आदि के शौक मे किसी भी बडे-से-बडे अधिकारी या व्यक्ति की हत्या तक कर सकता था। कभी ऐसा भी समय आता था कि दरबार पर हिजडे सवार हो जाते थे। कभी हिजडो पर मुसाहिब हावी हो जाते थे। दरबारी लोग भी अपनी जमीदारियो के स्वतन्त्र शासक थे। वे व्यक्तिगत-सेना भी रखते थे।

ईरान की सिक्का-प्रणाली—ईरान की सिक्का प्रणाली वस्तुत भारतीय सिक्को की सफल नकल है। आरम्भ मे ईरान का व्यापार वस्तुओ के विनिमय के आधार पर चलता था। सम्राट डेरियस (दारा) के समय भारतीय सिक्को की नकल प्रारम्भ हुई। भारत मे उस समय चांदी, सोने और तॉबे—तीनो धातुओ के सिक्के चलते थे। उस समय 'निष्क' नाम का भारतीय सिक्का ’५० ग्रेन वजन का होता था। डेरियस ने अपने 'डेरीक' का भार १३० ग्रेन रखा था। इस बादशाह ने अपने सिक्के पर अपना भद्दा-सा चेहरा भी अकित कराया और उसका नाम भी अपने नाम पर ही रखा। इसके पश्चात् इनका वडा सिक्का टैलेट था। यह ३ हजार 'डेरीक' के बराबर होता था। चॉदी के सिक्के का भार लगभग ८४ ग्रेन होता था। इसका नाम 'सिंगलोस' था। सोने के टैलेंट की भॉति चादी का भी टैलेंट होता था। यह ६ हजार चादी के सिंगलोस के बराबर होता था और ३०० सोने के 'डेरीक' के बराबर माना जाता था। ईरानी साम्राज्य मे अधिकतर यही सिक्के चलते थे। यह लोग तॉबा या अन्य धातु के सिक्के नही ढाल सके।

ईरानियो का भाषा विज्ञान

ईरानियों की भाषा 'जन्द-भाषा' है, जिसमे उनका धर्म-ग्रन्थ **जन्दावस्था** लिखा गया। यह सस्कृत-भाषा की अपभ्रश भाषा है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारत से ईरानी आर्य उस समय बाहर गये, जब भारत मे वेद-कालीन भाषा का स्थान सस्कृत ले ही नही चुकी थी, अपितु उससे भी अपभ्रश भाषाओ के रूप तैयार होने लगे थे। अत **जन्दावस्था** की भाषा वेद-भाषा तो है ही नही, सस्कृत-भाषा का भी अपभ्रश रूप है। उदाहरणार्थ **जन्दावस्था** मे **व्रिजग्रा** और **चथ्वरिजग्रा** पद आये हैं। परन्तु वेद मे यही **द्विपद** और **चतुष्पद** कहे गये हैं। भाव समान होते हुए भी शब्द योजना बिल्कुल पृथक् हैं। अर्थात जन्द मे जघा के स्थान पर **जग्रा** शब्द आया। **वेद** मे उसी के लिए **पद** शब्द लिखा गया है। इसके अतिरिक्त **द्वि त्रि** 'जघा' का जग्रा और **चत्वारि** का **चथ्वारे** हो गया। यह सब होने मे भी निश्चय ही दीर्घ काल लगा होगा। उदाहरणार्थ **जन्दावस्था** का एक श्लोक है—

'**यथा अहु वईर्यो अथा रतुश अशात् चित् हचा वहेउश दजदा मनंहो श्वयो थ्निनम् अहेउम मजदाई रव्थ्रेम चा आहुराई आइम द्रिगुब्यो ददात् वास्तरेम नमसेते** अहुरा मजदा थ्रीश्ची पगे अन्याइश दाम।

उक्त श्लोक मे यथा, अथ, चित्त, मन, क्षत्रेम, वा ददात् और नमस्ते आदि शब्द सस्कृति-भाषा के तो अवश्य है, परन्तु अपभ्रश दशा में है। इसके अतिरिक्त शेष शब्द तो इतनी विगडी हुई दशा मे हैं कि उससे यही पता नही चलता कि यह आर्य-भाषा के शब्द है भी या नही।

शब्दो का तुलनात्मक-विवरण

सस्कृत शब्द	जन्द	अर्थ
	(संस्कृत शब्द स जन्द-भाषा मे ह हो गया)	
असुर	अहुर	परमेश्वर
सोम	होम	वनस्पति
सप्त	हप्त	सात
सेना	हना	फौज
	सस्कृत शब्द ह जन्द मे ज हो गया)	
हस्त	जस्त	हाथ
होता	जोता	हवन करने वाला
आहुति	आजुति	आहुति
बाहु	वाजु	हाथ
अहि	अजि	सर्प
	(सस्कृत शब्द ज जन्द मे ज हो गया)	
जानु	जानु	घुटना
वज्र	वज्र	मेघ-वज्र
अजा	अजा	बकरी
जिह्वा	हिज्वा	जबान-जीभ
	(सस्कृत शब्द श्व जन्द मे स्प और क हो गया)	
विश्व	विस्प	ससार
अश्व	अस्प	घोडा
श्वसुर	कुसुर	ससुर
स्वप्न	कन्फ	सपना
	(सस्कृत शब्द भ, घ और छ जन्द मे फ, ज और ज हो गये)	
गृभ	ग्रिफ्त	पकडना
गोमेध	गोमेज	खेती, भूमि-सुधारना, शाव
छन्द	जन्द	अथर्ववेद
	(ज्यो के त्यो शब्द)	
पशु	पशु	जानवर

उक्षन्	उक्षन्	बैल
यव	यव	जौ
धायु	वायु	हवा
वैद्य	वैद्य	वैद्य
इषु	इषु	बाण
रथ	रथ	गाडी
गान्धर्व	गान्धर्व	गाने वाला
अथर्वन	अथर्वन	यज्ञ—ऋषि
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक
इष्टि	इष्टि	यज्ञ

उपर्युक्त तालिका से सिद्ध हो गया कि जन्द, वेद-कालीन भाषा न होकर, सस्कृत भाषा का अपभ्रश है। इस भाषा मे छ, **ध, भ** आदि की ध्वनियाँ लुप्त हो गयीं **स** के स्थान पर **ह** और **स्व** के स्थान पर **क** आ गया। कालान्तर मे जन्द के शब्द **फारसी** भाषा मे भी आ गये। जैसे जन्द मे हजूह्र शब्द का फारसी मे 'हजार' हो गया।

फारसी-भाषा और सस्कृत—ईरानी की पश्चात् की भाषा फारसी है। इस फारसी भाषा को भी सस्कृत की अपभ्रश-भाषा ही माना जा सकता है। जिस प्रकार सस्कृत की अमभ्रश भाषा हिन्दी है, उसी प्रकार फारसी भाषा की अपभ्रश भाषा उर्दू है। यही कारण है हिन्दी मे सस्कृत के शब्द अधिक हैं और उर्दू मे फारसी के शब्द अधिक हैं।

उदाहरणार्थ—

सस्कृत शब्द	**फारसी शब्द**	**अर्थ**
तनु	तन	शरीर
जानु	जान	घुटना
बाहु	बाजू	हाथ
अगुष्ठ	अगुश्त	उगली
हस्त	दस्त	हाथ
पाद	पा	पैर
शिर	सर	सिर
पृष्ठ	पुश्त	पीठ
दन्त	दन्दा	दाँत
नाभि	नाफ	नाभि
गला	गुलू	गला
ग्रीवा	गरेबा	गर्दन
वदन	बदन	शरीर
भ्रू	अब्रू	भौंह

चर्म	चिरम	चमडा
अश्व	अस्प	घोडा
मेष	मेश	भेड
खर	खर	गधा
उष्ट्र	उश्तर-शुतर	ऊंट
गौ	गाव	गाय
मूष	मूश	चूहा
शृगाल	शगाल	सियार
कृमि	किरम	कीड़
काक	जाग	कौव्वा
एक	अकन्	एक
द्वि	दो	दो
चत्वारि	चहार	चार
पञ्च	पच	पाँच
सप्त	हफ्त	सात
अष्ठ	हश्त	आठ
नव	नौ	नौ
दश	दह	दस
शत	सद	सौ
सहस्र	हजार	हजार
पितर	पिदर	पिता
मातर	मादर	माता
भ्रातर	बिरादर	भाई
दुहितर	दुख्तर	पुत्री
श्वसुर	खुसुर	ससुर
विधवा	बेवा	विधवा
आप	आब	पानी
वात	वाद	हवा
पुरोहित	फरिश्ता	दूत
तारा	सितारा	तारा
ताप	ताव	गर्मी
आप-ताप	आफताव	सूर्य
मास-तास	माहताव	चन्द्र, मास
मास	माह	महीना
मेघ	मेह	वादल

चक्र	चर्ख	चक्कर-आसमान
क्षीर	शीर	दूध
शर्करा	शकर	शक्कर
ताम्बूल	तम्बूल	पान
कर्पूर	काफूर	कपूर
गोधूम	गन्दुम	गेहूँ
माष	माश	उडद
शालि	शाली	धान
मिश्री	मिसरी	मिश्री
चन्दन	सन्दल	चन्दन
शाखा	शाख	डाली
क्षत	खत	घाव
श्वेत	सफेद	उज्ज्वल
शलाका	शलाख	सलाई
नमः	नमाज[1]	प्रणाम
अधिकार	अख्तियार	अधिकार
वीक्षण	वीन	देखना
दरिद	जरद	पीला
प्रमाण	पैमाना	नाप
आपत्ति	आफत	दुर्घटना
छाया	साया	छाह
भार	वार	बोझा
विष्ठर	बिस्तर	बिछौना
अहम्	अम्	मैं
त्व	तो	तू
इदम्	ई	यह
अस्ति	अस्त	यह
नास्ति	नेस्त	नही
कृणु	कुन	कर

इस भाषा मे प्राय' समस्त टवर्ग स घ छ भ य और घ की दो सूरतें हुईं। अर्थात् कही क्ष का ख, भ का फ आदि विकृत आवाजें हुई और दूसरे टवर्ग स छ आदि का लोप हो गया। अत फारसी भी मूलभाषा न होकर सस्कृत भाषा की अपभ्रश ही है।

शिक्षा—ईरानी शिक्षा-शैली भी भारतीयो की भाँति थी। वहाँ भी धार्मिक

---

१ म के विसर्ग का हकार होकर उसका ज हो गया और नमज होकर नमाज वन गया।

शिक्षा का प्रचलन था और बच्चो को उसे कठस्थ कराया जाता था। बच्चो की शिक्षा अधिकतर पुजारियो के द्वारा मन्दिरो मे या धर्मगुरुओ के घर पर हुआ करती थी। 'वेद पढने के अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य है' भारत की इस भ्रान्त धारणा का प्रचलन ईरान मे भी था। अत सम्भ्रान्त और कुलीन परिवार के बच्चो को ही शिक्षा का अधिकारी माना जाता था। शिक्षा के लिए अलग-अलग पद्धतिया प्रचलित थी। राजपुत्रो को राजनीति तथा राजपाट करना सिखाया जाता था। अन्य पदो के अधिकारियो के पुत्रो को भी उन्ही के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी। परन्तु सैनिक सेवा प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य थी। इस शिक्षा का प्रारम्भ बच्चे की पन्द्रह वर्ष की आयु से प्रारम्भ होता था, जैसे कि भारत मे गुरुजन अन्यान्य विद्याओ के साथ अपने छात्रो को तीरन्दाजी आदि अनिवार्य रूप से सिखाते थे, लगभग यही प्रचलन ईरान मे था। इस काल मे छात्रो को कठोर जीवन-यापन करने के लिए विवश किया जाता था। उन्हे ऋतुओ की उपेक्षा करनी पडती थी तथा अनेक साहसिक कार्य भूखे प्यासे रहकर अथवा रूखा-सूखा खाकर या जगली फलो से उदरपूर्ति करके करने पडते थे। निम्न श्रेणी के बच्चो को तो सैनिक-शिक्षा के अतिरिक्त दूसरी शिक्षा दी ही नही जाती थी। अत वह बेचारे जीवन मे सैनिकमात्र ही बन पाते थे।

साहित्य और विज्ञान—साहित्य और विज्ञान की दृष्टि से ईरानी सभ्यता सदैव हीन ही रही। अत वहा न साहित्य की समृद्धि हुई और न ही किसी प्रकार की कला फली फूली। इसका प्राय सभी समय राजनीतिक झगडो, प्रपचो अथवा युद्धो मे ही व्यतीत होता था। अत चिन्तनशील होने का इन्हे अवसर ही नही मिलता था। यही कारण है, जहाँ भारत के आर्यो ने अपनी चिन्तनशीलता द्वारा अध्यात्मवाद, मानव मनोविज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान आदि के अनुसन्धान से जगत को चमत्कृत कर दिया था और जिनके साहित्य के अनुशीलन द्वारा यूनानी विद्वान चमक उठे थे, वहा ईरानियो के विद्वानो का अभाव ही रहा और वहाँ मननशील समाज की कभी रचना हुई ही नही। हाँ, परवर्ती-काल मे ईरान ने कुछ श्रेष्ठ कवियो को अवश्य जन्म दिया।

भारत के ऋषि जहाँ रोगो के निदान के लिए एक ओर जडी-बूटियो का अनुसन्धान कर रहे थे, तथा साथ ही धातुओ को विभिन्न बूटियो के रस मे फूंक-फूंककर दीर्घजीवी तथा सदैव तरुण रहने के अनुसधान कर चुके थे और मिस्री हकीम अपनी सर्जरी-कला का दुनिया मे डका बजा रहे थे, वहाँ ईरानी रोगियो का इलाज पुरोहित गण्डे तावीज और झाड-फूक से करते थे। सम्राट जारक्सस द्वितीय के समय यहाँ वैद्यो और जर्राहो के दर्शन होने प्रारम्भ हुए। उनकी समितियाँ बनी और राज्य के विधान मे उनकी फीस आदि नियत की गई।

चिकित्सा-पद्धति के लिये स्कूल नही थे। यह शिक्षा भी गुरुओ द्वारा होती थी। चिकित्सा-विद्या सीखने के लिये युवक को किसी वैद्य या जर्राह के यहा तीन-चार साल रहना पडता था। पश्चात् उसे अपनी औषधि का प्रयोग उन व्यक्तियो पर करने की

आज्ञा दी जाती थी जो महायज्यो को न मान कर अन्य देवी-देवताओ को पूजते थे। यदि वह उनकी चिकित्सा मे सफल हो जाते थे, तब जरथुस्त्र के अनुयायियो की चिकित्सा की आज्ञा दी जाती थी, अन्यथा नही। यही आज्ञा **जन्दावस्था** मे दी गई है कि विरोधियो के इलाज मे असफल होने पर, जरथुस्त्र के अनुयायियो की चिकित्सा न करने दी जाय।

स्थापत्य और वास्तु-कला—स्थापत्य की दृष्टि से ईरानी-भवन विशाल और सुन्दर बनाये जाते थे, जिनके आगे बगीचा होता था। कमरे के अन्दर के फर्श को दरियाँ या ऊनी कालीन बिछाकर सजाया जाता था और अलमारियो मे भारत आदि से मगाये फूलदान रखे जाते थे।

वास्तुकला की दृष्टि से ईरानी कारीगर बहुत दक्ष था। ईरानी सम्राट साईरस, डेरियम प्रथम जारक्सस प्रथम और द्वितीय के महलो के खण्डहर इस बात के प्रमाण है कि ईरानी वास्तुकला अपने ढँग की उन्नत शैली थी। इस शैली की विशेषता पत्थर की तराश और जडाई थी। भवनो और समाधियो मे सगमरमर से लगाकर साधारण पत्थर तक व्यवहार मे लाया जाता था और उसे विभिन्न मसालो के अतिरिक्त धातुओ तक से जोडा जाता था। उडीसा का भी एक मन्दिर इसी प्रकार बिना मसाले की चिनाई के पत्थरो को लोहे के तारो से कसकर बनाया हुआ मिला है।

ईरान का राजवश—ईरानी राजवश का उदय भारतवर्ष की आर्य शाखा के लोगो से हुआ और वे बहुत समय तक अपने को आर्य कहकर गर्वित होते थे। प्रमाण के लिए ईरानी सम्राट डेरियस प्रथम का 'नक्शे-ए-रुस्तम' शिलालेख को लिया जा सकता है। सम्राट डेरियस ने अत्यन्त स्वाभिमान के साथ अकित कराया है—"**मैं पारसी, पारसी की सन्तान, आर्य तथा आर्यवशोद्‌भूत हूँ**।" अत ईरान के व्यवस्थित इतिहास और उसके राजवशो का व्यौरेवार पता ई०पू० ९वी शताब्दी से लगता है। इसी से अनुमान होता है कि आर्यवश की कौरव (कालान्तर मे कुरश और पश्चात् कुरैशी) तथा मीड आदि शाखाए ईसा से लगभग २ हजार वर्ष पूर्व वहाँ पहुँच चुकी थी और इन्होने ईरान की हरी-भरी उपत्यकाओ मे खेती-बाडी करना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय कुदरिस्तान की पहाडियो मे 'परसुआ' जाति और मैदान मे भीड और कौरव जातियाँ बसती थी। वस्तुत इन जातियो की शाखाएँ खुरासान, बलख और समरकन्द तक फैली हुई थी। मीड जाति एक स्वतन्त्र जाति थी, जिसका पेशा कृषि था और यह छह कुलो मे बटी हुई थी। इन्ही छह कुलो के कारण इसकी शक्ति एक अच्छी शक्तिशाली राज्य के समान थी। असीरिया के सम्राटो ने कई बार अपनी विशाल सेना भेजकर इस जाति को कुचलने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता न मिली। असीरियन सेनाए आती, सारे कुल मिलकर उनका मुकाबला करते, लडाई होती, उनमे काफी मीड मारे जाते और गुलाम बनाकर असीरिया भी ले जाये जाते, परन्तु कुछ दिन बाद यह अपना पुन वही रवैया अपना लेते। अत ७०० ई० पू० तक यह अपने सरदारो की छत्रछाया मे रहकर अपना शासन चलाते रहे। परन्तु

७०९ वर्ष ई० पू० इन्होंने द्योक नामक एक व्यक्ति को राजा बनाया। जिसने ६५५ ई० पू० तक राज्य किया। इसने ७०८ ई० पू० अपनी राजधानी एकबटाना (हमदान) को बनाया। इस नगर मे कई नगरो से रास्ते आकर मिलते थे और यह अलवद पहाड की उपजाऊ मनोरमघाटी मे है।

बेबीलोन राज्य और एलाम राज्यो से असीरिया साम्राज्य का युद्ध होता रहता था। दूसरी ओर यह मीड राजा असीरिया के सम्राट को चुपचाप कर और भेटें भिजवाकर प्रसन्न करता रहता था और अपनी जाति के सगठन मे लगा रहकर अपनी शक्ति बढाता जाता था। साथ ही अपने सगठन को मजबूत बनाकर वह ईरान की शेष जातियो को भी अपने अधीन करता रहा। असीरिया ने उसकी इस कार्रवाई का कभी विरोध नही किया, परन्तु जब इनकी शक्ति काफी बढ गयी, तब इन्होने सीधे असीरिया पर आक्रमण कर दिया। इस लडाई मे इनका राजा द्योक मारा गया।

द्योक का उत्तराधिकारी हुवक्षत्र (६५० ई० पू०) नामक व्यक्ति हुआ, जिसने असीरिया की हार से सबक लेकर, अपनी सेना का पुन सगठन किया और एलाम के अनजान प्रान्त को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। अपनी सेना मे इसने विशेष परिवर्तन यह किया कि पैदल सेना के अतिरिक्त घुडसवारो की एक शक्तिशाली सेना बनाई। जब हुवक्षत्र के पास घुडसवारो की विशाल सेना हो गई तब उसने असीरिया पर आक्रमण किया और असीरिया की राजधानी निनवे को घेर लिया। प्रथम इसके कि यह असीरिया को जीतता, इसे वापस आना पडा, क्योकि जिस समय इसकी सेना निनवे को घेरे पडी थी, इनके मीडिया राज्य पर सीथियन लोगो ने आक्रमण कर दिया। लडाई मे सीथियन जीत गये। दोनो मे (६३३ ई० पू०) सधि हो गई। लेकिन कुछ समय बाद ही सीथियन लोगो के सरदारो का मीड लोगो के कत्ल कर दिया और शेष को अपने देश से भगा दिया।

इसी बीच असीरिया मे अशाति और राजपरिवार मे गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया। जिस समय यह गृह-युद्ध अपनी चरमसीमा पर था, ईरानी सेना ने असीरिया पर पुन आक्रमण किया और निनवे को जलाकर असीरिया साम्राज्य की कमर तोड दी। हुवक्षत्र को ही बहुत से इतिहासकारो ने स्याक्षरस लिखा है। बाद मे इसने सारडिया नगर पर भी धावा बोला, किन्तु कर्मकाण्ड को मानने वाले इस व्यक्ति ने अपनी सेना इसलिये लौटा ली कि आक्रमण करते ही सूर्यग्रहण शुरू हो गया था।

हुवक्षत्र के मरने के बाद, इसके दो लडको ने राज्य बाट लिया। इनमे इसका एक लडका श्वेतवेगु अन्जान प्रान्त का राजा बन बैठा और दूसरा तिष्पेक्ष फर्श प्रान्त का। इस तरह हुवक्षत्र वश दो राजकुलो मे बट गया। डेरियस महान् के एक शिला लेख से भी यही विदित होता है। उसमे डेरियस ने लिखाया था—"मुझसे पहले मेरी जाति के आठ सम्राट और हो चुके हैं।" हुवक्षत्र के यह दोनो उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। दोनो ही चरित्रहीन, आरामतलब और काहिल थे। इस काहिली का परिणाम यह निकला कि इन दोनो ही राज्यो पर क्रमवार साइरस (कौरव) वशी

सरदार ने आक्रमण कर दिया और ईसा से ५५० वर्ष पहले इस मीड वश का अन्त कर दिया। ईरान के इस नवयुवक बहादुर सम्राट की तुलना नैपोलियन बोनापार्ट से की जाती है। यह जितना बहादुर था, उतना ही उदार हृदय भी था। अत इतिहासकारो ने इसे साईरस महान् के नाम से सम्बोधित किया है।

कुरश लोग भी आर्य जातिकी एक शाखा ही थे और यह भी यहाँ कई वशो मे विभक्त थे। जिनमे 'पसारगडी' नामक वश प्रमुख माना जाता था। इसी वश मे 'हख-मानिश' नामक एक कुटुम्ब था। साईरस कुरश इसी वश का व्यक्ति था, जिसने ईरान मे विशाल साम्राज्य स्थापित करके अपने वश को इतिहास प्रसिद्ध बनाया। सबसे पहले यह ईरान के छोटे-से प्रान्त 'अनजन-प्रान्त' का राजा बना। इस प्रान्त का शासक स्याक्षरस (हुवक्षत्र) का लडका श्वेतवेगु, जिसे अस्टागीस भी लिखा गया है। यह समय ईसा से ५ ९ वर्ष पूर्व था। अपने शासन के ९ वे वर्ष इसने हुवक्षत्र के उत्तरा-धिकारियो से उनका राज्य छीनकर मीड वश को समाप्त करके विशाल ईरानी साम्राज्य की नीव डाल दी।

हखमानिश वश का साईरस महान् (५५० ई० पू० से ५२९ ई० पू० तक)

५५० ई० मे यह व्यक्ति मीड राजवश का अन्त करके ईरान का राजा बना। पहले इसने ईरान की सारी जातियो को एक करके उनमे से योग्य व्यक्ति चुन एक विशाल सेना खडी की। इसके बाद इसने चारो ओर हाथ-पैर फैलाने शुरू किए। सबसे पहले इसने लीडिया राज्य पर (४४६ ई० पू०) आक्रमण किया। लीडिया के राजा **क्राइसस** ने यूनानियो की सहायता से मुकाबला किया, किन्तु अपनी राजधानी **सारडिस** मे राजा हार गया। राजा ने हारकर जीवित भस्म होने की तैयारी की, परन्तु कौरव नरेश ने उसे अपना अनुचर बन्धु बनाकर छोड दिया। इसके पश्चात् इसने क्रमवार यूनानियो के भूमध्यसागर स्थित द्वीपो को जीतना शुरू कर दिया और साथ ही **बलख, समरकन्द** और **मकरान** आदि प्रदेशो पर भी अपना अधिकार कर लिया। इसकी बढती हुई विशाल सेना की लहरो मे (५३९ ई० पू०) समस्त बेबीलोन राज्य विलीन हो गया।

इस राजा की सेना ने जहाँ भी आक्रमण किया, कत्लेआम या आगजनी नही की। यही उस समय उसकी पर्याप्त उदारता थी। इसने समस्त यहूदी बन्दियो को भी रिहा किया। बेबीलोनिया के 'मर्दक-देवता' के मदिर और 'यरूशलम' के मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया। अपने अभियान-काल मे इसने सभी धर्मों के देवस्थानो को आदर की दृष्टि से देखकर उन्हे क्षति नही पहुँचाई।

मृत्यु—इस महान् सम्राट् की मृत्यु ईसा से ५२८ वर्ष पूर्व उस समय हुई, जिस समय चारो ओर बजती हुई इसकी विजय-दुन्दभी के मध्य ही **मस्सजेती** नामक एक अर्द्ध सभ्य जाति ने इसके राज्य पर आक्रमण कर दिया। यह जाति मध्यएशिया की जेहूँ नदी के किनारे रहती थी। सम्राट् इसी जाति से लडता हुआ मारा गया।

सम्राट् कम्बुजिया (५२८ ई० पू० से ५२२ ई० पू० तक)

साइरस कौरव (कुरश) के पश्चात् उसका क्रूर पुत्र कम्बुजिया गद्दी पर बैठा। अंग्रेज इतिहासकारो ने इसका नाम 'कैम्बीसीस' लिखा है। सभवत' यह यूनानियो का भाषा-अनुवाद है, जिसकी उन्होने नकल की है। ईरानी सम्राट साईरस के दो लडके थे, इन मे बडा कम्बुजिया था, जो प्रारम्भ मे हिस्टिरिया का रोगी, अत्यन्त क्रूर और क्रोधी स्वभाव का था। दूसरा लडका वरदिया था। साईरस ने अपने जीवन काल मे ही इसे वैक्ट्रिया, पार्थिया आदि कई प्रान्तो का शासक वना दिया था। यूनानियो ने इसे ही स्मेर्डीस के नाम से लिखा है। अस्तु, कम्बुजिया ने गद्दी पर वैठते ही पहला कार्य यह किया कि अपने भाई की हत्या करा दी। इसके पश्चात इसने अपने पिता के चरण-चिह्नो पर चलने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। अत ईरानी साम्राज्य को वढाने के उद्देश्य से इसने बद्दू और यूनानी लोगो की सहायता लेकर ५२६ ई० पू० मिस्र पर चढाई की और मिस्र के मेम्फीस नगर पर अधिकार कर लिया। अपनी क्रूर प्रकृति के अनुसार इसने मिस्र की जनता से तो बर्बर व्यवहार किया ही, साथ ही उनके धर्म की मखौली उडाते हुए उनके देवता **अविस** (नन्दी वैल) की छाती मे कटार घुसेड कर उसे मार डाला। साथ ही फेरो राजाओ के पिरामिडों को भी खुलवाना शुरू किया, जिनमे से सभवत वह एक-दो उप-पिरामिडो को ही खुलवा पाया था कि पागल हो गया।

अपने पागलपन के दौरान मे शासन के इसने जितने भी कार्य किये, वह पागलपन के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। भारत के मुहम्मद तुगलक की भाँति इसने भी अनेक हत्याएँ और उल्टे कार्य किये। सबसे पहले इसने अपनी रानी—रोक्सा का वध किया। यही रानी पहिले इसकी सगी वहिन थी। किसी बात पर क्रोधित होकर इसने उसके पेट मे ठोकरें मार-मार कर उसकी हत्या कर दी। इसके साथ ही इसने अपने पुत्र **प्रक्षेस्पस** की भी हत्या कर दी।

इसके बाद इसने अपनी विशाल-वाहिनी **कार्येज** जीतने के लिए भेजी जो रेगिस्तान मे ही नष्ट हो गई। इसके बाद एक सेना **न्यूबिया** विजय करने के लिए रवाना की। यह सेना भी मार्ग की कठिनाइयो के कारण लौट आई। इन असफलताओ ने इसके पागलपन को और बढा दिया। अत क्रोधित होकर उन सभी ईरानी कुलीन वशीय सेनानायको को मरवा डाला, जिनकी कमान मे यह सेनाएँ गई थी और वापस आई थी। उस समय लीडिया का सम्राट् क्राईसस भी दरवार मे एक सामन्त की हैसियत से रहता था। साईरस सदैव उसका आदर एक अच्छे मित्र की भाँति करता था, इसने उसकी भी हत्या की आज्ञा दे दी। उसके वाद अपनी आज्ञा वापस ले ली और इस उपलक्ष्य मे एक विशाल उत्सव मनाया। परन्तु उत्सव के पश्चात् उन सभी अधिकारियो का कत्ल करा दिया, जिन्होंने राजाज्ञा मे विलम्ब किया था।

इन सब घटनाओ के उपरान्त इसका मन ईरान से उकता गया और इसने मिस्रमे ही रहना प्रारम्भ कर दिया। वहाँ रहते इसे कई वर्ष हो गये। अत इसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर गोमत नामक एक व्यक्ति ईरान का राजा वन वैठा। इसने

अपने को कम्बुजिया का छोटा भाई वरदिया वताया, जिसे कम्वुजिया ने मरवा दिया था। गद्दी पर वैठते ही इसने जरथुस्त्र-धर्म को समाप्त करना शुरू कर दिया। ईरान के सात अमीरो का दल, कम्बुजिया के पहले ही विरुद्ध था। इन्होने उसके कुप्रशासन-से खिन्न होकर विद्रोह किया हुआ था। अव इसके विरुद्ध भी विद्रोह कर दिया। यह समाचार जव कम्वुजिया को मिला, तव उसने उदास होकर आत्महत्या कर ली। इन सात विद्रोही अमीरो ने अपने मे से एक व्यक्ति को ईरान का राजा चुना। यह व्यक्ति था दारा जो कालान्तर मे सम्राट् दारा या डेरियस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिस समय गोमत के वारे मे कुरेश लोगो को पता चला कि यह वरदिया नही है, तव उनमे खलवली मच गई और उन्होने कुरश वश के ही एक व्यक्ति को इस व्यक्ति का कत्ल करने के लिए तैयार किया। यह व्यक्ति वही सात मे से एक चुना हुआ राजा दारा था, जिसने सिक्ष्याहुवती के किले मे गौमत का वध कर दिया। इसके कत्ल के वाद ही दरयवाश (दारा) गद्दी पर वैठा, जिसे इतिहासकारो ने सम्राट डरियस (प्रथम) लिखा।

दरयवाश (दारा) अथवा सम्राट् डेरियस प्रथम
(५२२ ई० पू० से ४८५ ई० पू० तक)

जिस समय दारा गद्दी पर वैठा, उस समय समस्त ईरानी साम्राज्य मे अराजकता मची हुई थी, परन्तु दारा वीर और पराक्रमी योद्धा था, वह कुरश और कम्वुजिया की सेना मे वीस वर्ष तक रह चुका था, इसलिए उसने शीघ्र ही राज्य से विद्रोह करके अलग हुए राज्यो को पुन विजित करना प्रारम्भ कर दिया। मिस्र और लीबिया के शासको ने उसकी आधीनता से इकार कर दिया था, असीरिया अर्मेनिया आदि मे विद्रोह के झण्डे ऊचे उठ रहे थे, इन सभी को उसने अत्यन्त कडाई से दवा दिया। अपना आतक जमाने के लिए इसने तीन हजार बेवीलोनियनो को सूली पर चढा दिया।

सीथिया, मीडिया, पार्थिया, असीरिया पर अपनी पुनर्विजयो के विवरणो को चिरस्थायी रखने के लिए इसने एक शिला पर अकित कराकर वेहिस्तान के रेगिस्तान मे स्थापित करा दिया। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि दारा अथवा डेरियस प्रथम का ईरानी साम्राज्य वलख और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से लेकर, भूमध्य सागर के तट तक फैला हुआ था। उससे राज्य की आमदनी ४० करोड रुपये थी। ससार भर मे उस समय इतना वडा साम्राज्य दूसरा कोई नही था।

विजयों का सिलसिला—दारा ने अपनी सेना की शक्ति वढा ली थी और उसे शिक्षित भी अच्छे ढँग से किया था, पर तु वह उसका सगठन सुन्दर न कर सका। उसने अपनी विशाल सेना लेकर अफगानिस्तान पार करते हुए भारत मे सिन्धु नदी तक आया और सारे प्रदेश को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। इसके वाद, इसने सीथिया राज्य (दक्षिणी रूस से डैन्यूव नदी तक), पर इसलिए आक्रमण किया, ताकि वहाँ की सोने की खानें हाथ लग जाये और फालतू सैनिक काम पर भी लगे रहे।

दारा यह जानता था कि वहाँ के लोग अत्यन्त क्रूर और लडाकू है, परन्तु फिर भी उसने एक लाख सेना लेकर सीथिया पर चढाई कर ही दी। यूरोप की भूमि पर एशिया के विजेता का यह पहला कदम था।

काले सागर के किनारे डैन्यूब नदी तक उसकी सेना बढती गई। यूनानियो ने कही-कही प्रतिरोध किया। परन्तु वह निरर्थक ही रहा। सीथियन लोगो ने पीछे हटने की नीति अपनाई और वह पीछे हटते-हटते पहाडियो मे जा छिपे। सेना को रसद मिलना कठिन हो गया। परन्तु फिर भी ईसा से ५१२ वर्ष पहिले दारा ने 'थ्रेस' पर अपना अधिकार कर लिया।

जिस समय दारा इस लम्बी लडाई मे उलझा हुआ था, उसी समय यूनानियो ने मिस्र को विद्रोह के लिए भडकाया। इस षडयन्त्र मे वेवीलोनिया भी शामिल हो गया। यूनानियो की कारवाहियो से चिढ कर दारा ने, सीधे यूनान पर आक्रमण कर दिया। जल और स्थल दोनो ओर से वह सेनाएँ लेकर बढा, परन्तु मेराथान के मैदान मे (४९० ई० पूर्व) यूनानियो की विजय हुई, दारा भाग निकला।

एक ओर जहाँ यूनानी लोग अपनी विजय से प्रसन्न थे, वहाँ दूसरी ओर दारा अपनी पराजय से दु खी होने के वजाय, उल्टे उत्साहित था और इसी उत्साह मे आकर उसने फिर विशाल सेना का सगठन किया, किन्तु ४८५ ई० पू० उसकी मृत्यु हो गई। इसमे सन्देह नही, ईरान के इतिहास मे दारा अपना नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखा गया है। दारा ने कुरश से भी ज्यादा नाम पैदा किया। अपनी राजधानी पर्सिपलस को उसने विशाल महलो, सडको और उद्यानो से भली प्रकार सवारा था।

दारा का शासन-प्रबन्ध—दारा केवल अपनी विजयो के लिए ही महान् नही है, अपितु वह शासन प्रबन्ध मे भी महान् था। इसी ने भारत के स्वर्ण सिक्के निष्क की नकल कराकर अपने यहाँ भी सिक्को का प्रचलन प्रारम्भ किया था। इससे पहिले ईरान मे कोई सिक्का नही था। इसके समय मे व्यापारिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। इसने अपने शासन-प्रबन्ध मे कई नई मान्यताओ को जन्म दिया था। उदाहरणार्थ इसने अपने समस्त साम्राज्य को वीस क्षत्रपियो अथवा सूबो मे विभक्त किया था, जिनके शासक क्षत्रप अर्थात् वर्तमान राज्यपाल या गवर्नर होते थे। दारा के इन सूबो मे थे—मिस्र, फ्लिस्तीन, सीरिया, लीशिया, लीडिया, फ्रीजिया, आओनिया, केपाडोशिया, सिलीशिया, आर्मेनिया, असीरिया, काकेशस, वेवीलोनिया, मीडिया पर्शिया, अफगानिस्तान (वर्तमान) विलोचिस्तान, सिन्धु के पश्चिम तटवर्ती प्रदेश, सोगडियाना और वैक्ट्रिया। इसके अतिरिक्त मध्यएशिया की छोटी-छोटी जातियो के छोटे-छोटे कई राज्यो को भी उसने अपने छोटे सूवे वना लिया था। ईरान के इतिहास मे छत्रपो का शासन, सिक्का प्रणाली और न्याय विभाग का निर्माता वस्तुत सम्राट दारा (प्रथम) ही हुआ। प्रत्येक सूवे से इसे भारी आमदनी थी।

विभिन्न राजधानियाँ—दारा ने अपनी ग्रीष्मकालीन और शीतकालीन राजधानियाँ अलग-अलग वना रखी थी, जैसे गर्मियो मे सूसा, अन्य समयो मे पसरगडी या

पार्सीपोलिस यही पूर्वजो की राजधानी थी। परन्तु सम्राट को सूसा ही प्रिय थी। दारा ने अफगानिस्तान और मिस्र तक को सडको से जोडा हुआ था। सूसा मे सभी सूवो की सडके मिलती थी, इन्ही के कारण सिकन्दर को ईरानी साम्राज्य समाप्त करने मे भी वहुत सहूलियत मिल गई थी।

सेना का सगठन—ईरान मे सैनिक-शिक्षा अनिवार्य विपय था। वच्चे के १५ वर्ष की आयु मे आते ही, यह शिक्षा प्रारम्भ करदी जाती थी और जव युद्ध होता था, तव आम लामवन्दी अपनाकर पन्द्रह से पचपन वर्ष के सभी व्यक्तियो को युद्ध सेवा के लिए वुला लिया जाता था। अत ईरान के सभी सम्राट शक्तिशाली सेना खडी करने के प्रयत्न मे लगे रहते थे। ईरानी सेना की शक्ति का आभास इसी से लग जाता है कि सम्राट् जेरक्सीज के समय, ईरानी सम्राट् के पास १८ लाख सेना मौजूद थी। इस सेना को दस-दस हजार सैनिको की टुकडियो मे वाटा गया था। इस सेना का सवसे श्रेप्ट भाग सम्राट् के महल के पास रहता था। अधिकाँश सेना शान्ति वनाये रखने के लिए सूवो की राजधानियो मे रहती थी।

दारा (डेरियस) की सेना मे भी पहिली श्रेणी उसकी अगरक्षक सेना की थी। इसमे दो हजार पैदल और दो हजार घुडसवार थे। यह सभी सम्राट् के निकटवर्ती परिवारी होते थे। शान्ति के समय इनका कार्य आठ-आठ घटे की ड्यूटी के अनुसार सम्राट् के महल की रक्षा करना होता था और युद्ध-काल मे यह सम्राट् की रण-भूमि मे रक्षा करते थे।

सम्राट की इस मीड-कुरश अगरक्षक-सेना के पश्चात् 'अमरदी' सेना का नम्वर आता था। यह दस हजार सैनिको की एक शक्तिशाली सेना थी। इसके भी सारे अफसर ईरानी ही होते थे। इसके पश्चात साम्राज्य के विभिन्न भाँगो के मिलेजुले लोगो की सेनाएँ थी। इन लोगो के लडाई के ढँग और शस्त्र भी भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के थे। मुख्य शस्त्र धनुष-वाण, वर्छे, वल्लम, मुगदर, छोटी तलवारे, फर्शे और छुरे आदि ही होते थे। परन्तु शरीर पर कवच और सर पर धातु का शीर्ष त्राण होता था और रक्षा का तीसरा साधन एक हाथ मे ढाल होती थी। पैदल सेना और अश्व सेना के पश्चात् तीसरी सेना रथारूढ होती थी। इस सेना के सैनिक धनुष-वाण और तलवार—दोनो से लडते थे। युद्ध-काल मे इस सेना के लिए जहाँ रसद आदि ढोने को हाथियो और ऊटो के काफले चलते थे, वहाँ सेना के मनोरजन के लिए गायक, वेश्याएँ, हिजडे भी चलते थे और चलती थी रखैलो की पालकियाँ। सक्षेप मे जिस साज-वाज के साथ गाता-वजाता हुआ मुगलो का लश्कर कही आक्रमण करने के लिए जाया करता था, ईरानियो का उससे भी अधिक शान से जाता था, परन्तु ईरानी सेना मे मुगलो के लश्कर से भी अधिक अनुशासन हीनता थी और यही कारण ईरान की पराजय का भी हुआ, क्योकि सम्राट दारा तृतीय (डेरियस तृतीय) को सिकन्दर ने ३३३ ई० पू० ईसस के मैदान मे परास्त कर समस्त ईरानी साम्राज्य को यूनान मे मिला लिया। अस्तु, ईरान सम्राट के पास थल सेना के अतिरिक्त जल-सेना

भी थी, किन्तु ईरानी कभी भी कुशल नाविक नही बन सके, अत सम्राट की १२०० जलपोतो की सेना का सचालन, फिनिश और यूनानी लोग ही करते थे। यह भी ईरान की हार का कारण ही बने।

बेहस्तून व दारा के शिलालेख—दारा (डेरियस) प्रथम की विजयो और उसके कार्यकाल तथा विजयो का ज्ञान उसके बेहस्तून के शिलालेख और उत्कीर्ण चित्रों से हुआ है। उसी से यह भी ज्ञात हुआ है कि उसके समय मे ईरान मे कौन-कौन-सी भाषाएँ प्रचलित थी। दारा द्वारा यह शिला लेख एक ४ हजार फुट ऊँची पहाडी की चोटी पर उत्कीर्ण कराये गए थे। **करमशा** से **हमदान** की ओर जिन बिखरी हुई पहाडियो का सिलसिला चला गया है, उन्ही पहाडियो की चोटियो पर यह शिलालेख पाये गए हैं। यह शिलालेख तीन भाषाओ मे लिखे हुए है। इनमे एक भाषा पारसी है, दूसरी एलाम राज्य की, जिसकी राजधानी **सूसा** नगरी थी, उन लोगो की है और तीसरी भाषा बेबीलोनिया वालो की है।

इन शिल्प-चित्रो और लेखो को सबसे पहिले रोमन इतिहासकार डायोडोरस सी कुलस ने, ई० की प्रथम शताब्दी मे देखा था। दारा के इन लेखो को पहले उसने उसकी पत्नी सेमीरामीस का लिखा हुआ मान लिया था। इन मूर्तियो मे जो अब भी सुरक्षित हैं, दाढी वाली दारा की मूर्ति है। उसके इधर-उधर खडी हुई दो मूर्तियाँ, सभवत' उसके शेष अधिकारियो या अगरक्षको की है और शेष मूर्तियाँ उन व्यक्तियो की हैं, जिन्हे उसने जीता था अथवा जिन्होने उसके गद्दी पर बैठते समय विद्रोह किया था और दारा ने उन्हे पुन विजित किया था। ऐसे विजितो की ६ मूर्तियाँ हैं। इन विद्रोही राजाओ और सरदारो के हाथ रस्से से बधे हुए है। उनके नाम भी वही नीचे दिये गए हैं।

दारा के पैर के नीचे, जिसे उसने अगूठे से दबा रखा है और जो हाथ ऊपर क्षमा याचना कर रहा है, वही गोमत है, जो बरदिया के नाम से गद्दी पर बैठा था और जिसे दारा ने सबसे पहिले मारा था।

दायाँ-हाथ ऊपर उठाकर दारा अहुरमज्दा की मडराती मूर्ति का अभिवादन कर रहा है। शिलालेख मे जहाँ सम्राट की उपाधियो का वर्णन है, वहाँ साम्राज्य-विस्तार की कहानी का भी उल्लेख है और बरदिया की हत्या तथा गोमत के गद्दी पर बैठने और उसकी हत्या का भी वर्णन है। उसके पश्चात विद्रोह के दमन का वर्णन है और अन्त मे, अपने उत्तराधिकारियो को दुष्टो से सावधान रहने का उपदेश देने के अनन्तर पाठको को इन चित्रो और लिपि की रक्षा करने का आदेश देने के बाद, अन्त मे घोषणा करता है—"अगर तू स्मृतिफलक और मूर्तियो को देखकर भी नष्ट करता है या तेरा वश अपने समय तक उन्हे सुरक्षित रखने का प्रयत्न नही करता, तो भगवान अहुरमज्दा तेरा निधन करे, तेरा वश निर्मूल हो जाय और जो कुछ तू करे—भगवान अहुरमज्दा उसे नष्ट कर दे।"

ईरानियो की भाषा को पहिले तीन व्यक्तियो ने पढा। सबसे पहिले सर हेनरी

रालिमन ने, उनके पश्चात एल० डब्ल्यू किंग तथा श्री आर० सी० थाम्पसन ने। 'हिस्ट्री ऑफ परशिया" नामक अपने इतिहास मे श्री पर्सी साईक्स ने इन्ही का उल्लेख किया है। वस्तुत इस त्रि भाषी शिलालेख के पढे जाने से ही ईरान के इतिहास का सही ज्ञान हो सका, यह उसकी एक कुजी सिद्ध हुए।

प्रथम आर्य सम्राटों—(मीडों) की देन—इतिहास की दृष्टि से, ईरान के प्रथम आर्य सम्राटो साईरस आदि ने ईरान साम्राज्य की आधार शिला रखने के अनन्तर भी वहुत कुछ दिया। पसरगडी मे इस सम्राट की मूर्ति और मजार भी है। इन्ही लोगो ने अपने भारत के आर्य भाइयो की भाँति प्रथम एक ईश्वर अहुरमज्दा और एक वेद-जन्दावस्था को मानकर जरस्थुत्र के धर्म को राज्यव्यापी वनाने का प्रयत्न किया। भाषा और लेखन की दृष्टि से इन्होने मिट्टी की ईंटो और खुरचनेवाले चाकू को छोड-कर चमडे पर कलम से लिखने का आविष्कार किया। साम्राज्य के लिए व्यवस्थित विधान-सहिता वनाई।

कला-कौशल की दृष्टि से, इनके **पसरगडी** के भवनो के अवशेषो को लिया जा सकता है। यह अवशेष **सूसा** के पास पोसवर घाटी मे पाये गये है। यह पसरगडी ही आर्यन साईरस की राजधानी थी और यही पर उसकी सगमरमर की समाधि वनी हुई है। यह समाधि-भवन ३५ फुट ऊँचा, १४० फुट लम्बा और ११६ फुट चौडा है, जो सात चवूतरो के ऊपर वनाया गया है। प्रारम्भ मे इस भवन के पत्थरो को धातुओ के पत्तरो से जोडा गया था, जिन्हे लुटेरो ने वाद मे निकाल लिया था। इस भवन के चारो ओर पहिले स्तभ थे उनके अवशेष अव भी है। इसका प्रवेशद्वार अत्यन्त सकडा था। साईरस के इस मज़ार के निकट चूने के पत्थर का वना हुआ स्तभ है, जिस पर पख युक्त एक मूर्ति है और एक लेख अकित है। लेख की लिखावट, मूर्ति का चेहरा और मुकुट स्पष्टत आर्यो जैसे है, परन्तु बनावट पर असीरिया सभ्यता की नकल है। श्री साईक्स ने इसे साईरस की पख वाली मूर्ति वताया है। अनुमान है कि साईरस के मरने के वाद, उसे भी देवताओ मे स्थान देकर पूजा शुरू करदी गई है। लेख मे लिखा है—"मैं हूँ सम्राट साईरस हुक्मनीशी।" ईरानी लोग इसके मज़ार को बहुत काल तक सुलेमान की माँ का मज़ार के नाम से पुकारते रहे। तीसरा खण्डर 'तख्ते सुले-मान' नामक एक चवूतरे का है, जो ३०० फुट लम्बा एक पहाडी पर बना हुआ है। इसे साईरस ने वनवाया था या और किसी ने पूरी खोज-वीन नही हो सकी। श्री साईक्स भी इस के वारे मे ज्यादा जानकारी उपलव्ध नही कर सके।

सम्राट् अक्ष्यर्ष अथवा जारक्सस (४८५ ई० पू० ४६५ ई० पू० तक)

दारा के मरने के वाद, **अक्ष्यर्ष** अथवा जारक्सस गद्दी पर वैठा। यह युवक दारा की पुत्री **अटोसा** का वेटा था और दारा (डेरियस) ने अपने जीवन-काल मे ही इसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। यह इतिहास प्रसिद्ध सम्राट अत्यन्त दुर्वल चरित्र का व्यक्ति था। इसके गद्दी पर वैठते ही ईरानी साम्राज्य मे विघटन प्रारम्भ

हो गया था। जनता की प्रवृत्ति विलासिता की ओर बढ चली थी। अत उनके रहन-सहन मे भी तडक-भडक अधिक शामिल हो गई। शराब का प्रचार घर-घर था। इन्ही सब का परिणाम यह हुआ कि ईरानी समाज के अन्दर से वीरता के तत्त्व लोप होने आरम्भ हो गये। उनमे नित नये आक्रमण करने का साहस समाप्त हो गया। परन्तु दारा की सुगठित सेना अब भी अक्ष्यर्ष के पास मौजूद थी। उस समय इस सेना की सख्या लगभग २४ लाख थी। हेरोडेट्स के अनुसार इस सेना मे जहाँ साम्राज्य के अन्य भागो के लोग थे, वहाँ शक, भारतीय और इथोपियन (अबीसीनियन) भी थे। १७ लाख पैदल सेना के अतिरिक्त १ हजार रथा-रोहण और घुडसवार सेना थी और ५ हजार जल सेना थी। यह सेना तो वह थी, जिसने यूनान पर किये गये आक्रमण मे भाग लिया था। इसके अतिरिक्त रिजर्व और साम्राज्य के सूबो मे रखी जाने वाली सेना भी अलग थी। सैनिक लोग बरछी, धनुष और कुल्हाडियाँ आदि लेकर लडते थे और सर पर कासे आदि के शीर्षत्राण धारण करते थे। शरीर पर कवच भी रहता था। भारतीय सैनिक रुई के कोटो से ही कवच का काम ले लिया करते थे। अत अक्ष्यर्ष (जारक्सस) अब भी ईरान का महान सम्राट था। मथारान के मैदान मे हुई यूनानियो के सामने दारा की हार से, सैनिक शक्ति पर कोई प्रभाव नही पडा था, किन्तु मथारान के मैदान मे (४९० ई० पू०) दारा की हार होते ही मिस्री जनता ने चुपचाप अपनी शक्ति बढा ली और जैसे ही दारा मरा और अक्ष्यर्ष गद्दी पर बैठा, उसके अगले साल ही इन्होंने विद्रोह करके मिस्र की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। ४८४ ई० पू० मिस्र के विद्रोह के बाद, हारे थके बेबोलीनिया ने भी अपनी जातियो को सगठित करके, दूसरे साल विद्रोह कर दिया। अत अक्ष्यर्ष (जारक्सस) ने सबसे पहले मिस्र के विद्रोह को दबाया, उसके बाद, बेबीलोन को इस तरह कुचला कि इस बार बेबीलोन का नामोनिशान ही दुनिया के नक्शे से उड गया। इन दोनो से निपटकर उसने यूनान की ओर कूच कर दिया।

यूनानी इतिहासकार हेरोडेट्स ने यूनान पर हुई इस चढाई को अत्यन्त महत्त्व दिया है। इस स्थल पर हेरोडेट्स ने लिखा है कि ईरान की यह आक्रमणकारी सेना शरद ऋतु मे लीजिया पहुँचकर रुक गई। उसने जाडा वही बिताया और वसन्त ऋतु आने पर आक्रमण किया। इस सेना की शक्ति को हेरोडेट्स ने लगभग २३ लाख बताया है। सारे देशो के लोगो की मिली-जुली सेना मे भी सेनापति लगभग सभी ईरानी थे। भारतीयो को इसने जगली गधो के रथो पर चढकर लडने वाले लिखा है। अरबो की ऊँट सेना का भी वर्णन है और एक ऐसी जाति के लोगो को लिखा है, जो रस्सी का फन्दा दूसरे व्यक्ति के गले मे डालकर लडते थे। जहाजो की शक्ति केवल १२०० बताई है, इनमे कुल २०००० नाविक बताये हैं जो फीजिशियन थे। सम्भवतः हेरोडेट्स ने अतिशयोक्ति से काम लिया है। वास्तव मे इस सेना की शक्ति दो लाख से अधिक किसी भी इतिहासकार ने नही मानी।

अस्तु, यूनानियो ने अपने नगर राज्यो को सघबद्ध करके ईरानी सेना का

सामना करने का निश्चय किया। ईरानी इजीनियरो ने हेलस्पाण्ट की खाडी पर नावो के दो पुल बाँधकर सारी सेना को खाडी पार करा दिया। अन ईरानी सेनाए सीडोंनिया और थैसाली पर अधिकार करती हुई, वढती चली गई। बीच मे यूनानियो ने कही प्रतिरोध नही किया। इसलिए ईरानी सेना ने मध्य यूनान के कई नगर राज्यो पर अपना अधिकार कर लिया।

ईरानी सेना की इस वाढ को यूनानी सेना ने **थर्मापल्ली** की घाटी पर (४८० ई० पू०) रोका। इस घाटी की रक्षा के लिए अपने ७ हजार स्पार्टा के वीरो के साथ यूनानी सेनापति लियोनेदिस खडा था। परन्तु लडाई मे उसकी हार हुई और अपनी समस्त सेना सहित वह मारा गया। दूसरी ओर जब इस घाटी की हार का समाचार यूनान की जल सेना को मिला, तब उसका सेनापति **यूरोवियाडीस** भी अपनी जल-सेना लेकर भाग खडा हुआ, गोकि उस समय ईरानी बेडा भयकर तूफान मे फँसा हुआ था और उसका लाभ उठाकर ही वह ईरानी वेडे को परेशान कर रहा था तथा लगभग ३५ ईरानी जहाजो को गिरफ्तार भी कर चुका था। अत ईरान की विजय-वाहिनी ने आगे वढकर एथेन्स पर अधिकार कर लिया।

हार का प्रारम्भ—एथेन्स विजय के वाद भी, ईरानी यूनान पर स्थायी अधिकार न रख सके। यूनानी नगर राज्यो की जल-सेनाओ ने सयुक्त होकर, सलामीस की खडी मे ईरानी जल-सेना से टकराना निश्चत किया। यह स्थान उन्होंने इसलिए चुना था कि यहाँ ईरानी जल वेडा सकरा स्थान होने के कारण, अपनी गतिविधि के लिए घूम फिर नही सकता था। अत सलामीस की खाडी मे दोनो वेडो की टक्कर हो गई। यूनान के फुर्तीले वेड़े ने ईरानी वेडे के २०० जहाजो की को डुवा दिया, जबकि उसके केवल ४० जहाज डूवे। इसके वाद रातो-रात ईरानी वेडा भाग खडा हुआ।

जगी वेडे की इस पराजय का प्रभाव सम्राट पर भी बुरा पडा और **एटिका** होते हुए उसने अपनी सेना को पीछे लौटने की आज्ञा दे दी। यूनानियो को ज्यादा सर न उठाने देने के लिए केवल ३० हजार सेना उसने सार्डिस मे छोड दी। लौटती हुई इस ईरानी सेना पर, **कैरियन्थ** मे पडी हुई स्पार्टा की सेना ने, इसलिए आक्रमण नही किया, क्योकि जब वह उसके पास से गुजर रही थी, सूर्य-ग्रहण शुरू हो चुका था।

अन्तिम-युद्ध—सम्राट ,अक्षयर्ष ने दूसरे साल अर्थात ४७९ ई० पू० यूनान पर पुन चढाई की। ईरान और यूनान का यह युद्ध वस्तुत अन्तिम और निर्णायक युद्ध था, जिसने ईरानियो की कमर तोड दी थी। इस युद्ध मे यूनानी सेनापति **मर्दोनियस** की कमान मे, लगभग दो लाख फौज थी। इसके साथ ही १५ हजार जल-सैनिको का एक वेडा भी था तथा ५० हजार यूनानी लोगो की सेना भी, जो उसके यहाँ नौकर थे, मदद के लिए सुरक्षित थी।

ईरान की इस सेना का सामना 'जेनका प्लाटी' के मैदान मे, हेलास की १ लाख सेना से हुआ। ईरानियो ने तीन चौथाई यूनानी सेना साफ कर दी, परन्तु दुर्भाग्य से उनका सेनापति **मर्दोनियस** मारा गया। इसी मे ईरानी मेना मे खलवली

मच्च गई। हार का दूसरा कारण ईरानी जल वेडे का समय पर न पहुँचना भी था, उसके कारण युद्ध की रूपरेखा को बदलना पड़ा था। अत एथेन्स और स्पार्टा के बचे-खुचे सैनिको ने हताश ईरानी सेना पर तेजी से आक्रमण कर दिया। उस समय ईरानी सेना दोनो यूनानी सेनाओ—एथेन्स और स्पार्टा के बीच मे आ गई, जिसे यूनानियो ने काट डाला। इस सेना मे केवल ३ हजार व्यक्ति बचे अथवा वह ४० हजार सेना बच गई, जिसने लडाई मे भाग नही लिया था। यह यूनानी लोगो की सेना ही थी और इसका सेनापति अर्तबिजास नामक व्यक्ति था।

अस्तु, इस लडाई ने यूनानियो के हौसलो को बढ़ा दिया और ईरानियो की कमर तोड दी, क्योकि ईरान की पैदल सेना की समाप्ति जिस समय हो रही थी, उसी समय ईरान का जल-बेडा भी आ पहुँचा। फलस्वरूप **सलामिस** के जल-युद्ध मे यूनानियो ने इसे भी नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और समुद्र पर अपना कब्जा कर लिया। इसी समय उन्होने अपने देश को ही फारस-साम्राज्य की दासता से मुक्ति नही दिलाई, बल्कि एशिया मे उसके स्थान पर अपना पैर जमाना भी प्रारम्भ कर दिया। इस समय फारस साम्राज्य की अवस्था लगभग वैसी हो चली थी, जैसी भारत मे मुगल साम्राज्य की औररगजेव के बाद होनी प्रारम्भ हुई थी। इस जल-युद्ध की तुलना स्पेन और ब्रिटेन के उस जल-युद्ध से की जा सकती है, जबकि स्पेन के राजा फिलिप ने अपना विशाल बेडा इग्लैण्ड पर चढा दिया था। ईरानी बेडे की भाँति फिलप का यह बेडा भी पहिले तूफान मे फँस गया था, उसके बाद अस्तव्यस्त बेडे पर ब्रिटेन के बेडे ने आक्रमण करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ईरानी बेडे की भाँति स्पेनिश बेडे के जहाज भी भारी-भरकम थे और वह हल्के-फुल्के ब्रिटिश बेडे के जहाजो की भाँति समुद्र मे घूम-फिर नही सकते थे। फलत आक्रमण करना तो अलग स्पेनिश जहाज उनके हमलो को ही नहीं रोक पाते थे। अत इगलिश चैनल मे ब्रिटिश जल-बेडे से अपनी दुर्दशा कराकर स्पेनिश बेडा भी उसी तरह भाग निकला था, जिस तरह ईरानी बेडा। दूसरा कारण यह भी था कि स्पेनिश मल्लाही कला मे ईरानियो से कुछ ही ज्यादा योग्य थे। ब्रिटिश मल्लाहो और यूनानी मल्लाहो जैसी योग्यता उनमे नही थी।

ईरान की हार के कारण—ईरान की हार के कारणो मे, जहाँ सबसे बडा कारण उसका भारी-भरकम जल-बेडा हुआ और उसका समय पर न पहुँचना हुआ, वहा स्थल सेना इसलिए हुई कि उसमे राष्ट्रीयता और जातीयता—दोनो का ही अभाव था। यूनानी नगर राज्यो मे **स्पार्टा, एथेन्स थेशाली** और **कौरियन्थ**, प्रमुख नगर राज्य थे और यूनान पर दूसरो के आक्रमण के समय, इन्ही राज्यो के सेनापति सभी राज्यों की सेनाओ के सेनापति बनकर मुकाबला किया करते थे, परन्तु उस समय इनकी सामाजिक विचारधाराएँ इतनी क्षुद्र थी कि वह राष्ट्रीयता पर हावी हो जाया करती थी। उदाहरणार्थ स्पार्टा की राजनीति पर भविष्यवक्ता छाये रहते थे। अत शासक युद्ध मे तभी भाग लेते थे, जब भविष्यवक्ता शकुन विचार कर आज्ञा देते थे। और यह आज्ञाएँ आसानी से नही मिलती थी, कभी-कभी तो महिनो शकुन-विचार मे ही

टल जाते थे। अत वह किसी लडाई मे भाग लेते थे और किसी मे नही। लडाई मे भाग लेते हुए भी यदि सूर्यग्रहण आदि अपशकुन दिखाई देता, तव लडाई से हट भी आते थे या सेना लडने ही नही जाती थी। तव भी यूनान के अन्य नगर राज्यो मे ऐसी वात नही थी।

ईरान की हार का प्रथम कारण उसकी सेना का पहाडी स्थानो की लडाई मे अभ्यस्त न होना भी रहा। उसके सैनिक मैदानी लडाई के ही शूरवीर ज्यादा थे। दूसरा कारण, इन 'अमर सैनिको' मे उच्च कोटि के हथियारो का अभाव था, क्योकि यूनानी, तीरो की अपेक्षा तलवार का अधिक प्रयोग करते थे और वह भी पैदल विना घोडो या रथो पर चढे हुए, वहाँ ईरानी सेना मे पत्थर के फलको तक के हथियार थे। ईरानियो की पराजय का दूसरा कारण था, उनके साम्राज्य का दूर-दूर तक विस्तार। पर्याप्त सुव्यवस्था के होते हुए भी यूनान (हेलास) ईरानी राजधानी से वहुत दूर पडता था। अत उसे अधीन रखना आसान नही था। यही कारण था, मिस्र और यूनान मे अधिकतर विद्रोह चलते रहते थे।

इन सव कारणो से भी अधिक प्रवल कारण था अक्ष्यर्प (जारक्सस) का भीरु और विलासी जीवन। वह स्थिर मति और दृढ स्वभाव का व्यक्ति नही था। उसके अन्दर वह धैर्य और साहस नही था जो साईरस और दारा के अन्दर था। सम्राट साईरस ने यूनानी साम्राज्य के सभी उपनिवेश, जो एशिया माईनर मे थे—ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिए थे। दारा ने भी ईरानी साम्राज्य की सीमाओ को यूनान तक वढा दिया था। इनके वाद अक्ष्यर्प ने भी एथेन्स को दो वार जलाकर तथा एटिका को रौदकर यूनान के अधिकाश नगर राज्यो पर अधिकार कर लिया था, परन्तु इस अन्तिम युद्ध ने उसे इतना निराश कर दिया कि उसने पलटकर आक्रमण करने का विचार सदा के लिए त्याग दिया और अपनी आक्रमक नीति को त्याग कर प्रतिरक्षा की नीति अपना ली। इसी नीति का अनुकरण इसके पश्चात इसके उत्तराधिकारियो ने किया। दूसरी ओर यूनानी आत्मरक्षा की नीति त्यागकर, आक्रमक नीति की ओर अग्रसर हुए। ईरान को जल-युद्ध मे हराकर निरन्तर ईरानी साम्राज्य की सीमाओ पर आक्रमण करने शुरू कर दिए। अक्ष्यर्प उनको रोकने मे इसलिए भी असफल रहा, क्योकि उसकी दुर्बलता का लाभ दरवारी लोगो ने उठाना प्रारम्भ कर दिया और नित्य नये षडयत्र रचे जाने लगे। इन षडयत्रो का केन्द्र केवल दरवार ही नही था सम्राट् का महल भी था। वहाँ पर हीजडो ने उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर षडयन्त्र रच रखे थे। अत स्थिति यहाँ तक विषम हो गई कि दरवार के वाहर और महलो तक मे खुली हत्याएँ की जाने लगी थी। यही कारण था कि अक्ष्यर्ष (जारक्सस) की मृत्यु के पश्चात से सम्राट दारा (डेरियस) तृतीय तक, आठ सम्राट गद्दी पर वैठे, लेकिन इतिहास मे केवल तीन ही प्रसिद्ध हुए। अस्तु, इन्ही षडयन्त्रो के समय ४६५ ई० पू० अर्तवनुस (आर्टा वेनस) नामक एक दरवारी ने अक्ष्यर्ष की गर्दन काट दी।

अर्तक्षत्र अथवा आर्टा जारक्सस (प्रथम) (४६५ ई० पू० से ४२५ ई० पू० तक)

अक्ष्यर्ष की मृत्यु के पश्चात अर्तक्षत्र अथवा (आर्टा जारक्सस) गद्दी पर बैठा। इस लम्बी भुजाओ वाले व्यक्ति को बडा शूरवीर समझा जाता था। आशा थी कि ईरान की खोई हुई कीर्ति को यह योद्धा पुन वापस लायेगा और ईरानी साम्राज्य की बढती हुई अराजकता समाप्त हो जायेगी। परन्तु विद्रोहियो पर इसका कुछ भी प्रभाव नही पडा। इसके गद्दी पर बैठने के दूसरे वर्ष ही अर्थात् सन ४६२ ई० पू० इसके भाई विश्तक्षत्र ने विद्रोह कर दिया। ईरानी साम्राज्य मे यह क्षत्रप था। अपनी सेना लेकर इसने राजधानी पर चढाई का दो बार प्रयत्न किया, किन्तु परास्त होकर भाग गया। उसके बाद यह कहाँ गया—कुछ पता नही।

मिस्र का विद्रोह—अर्तक्षत्र के भाई के विद्रोह के दो साल बाद अर्थात ४६० ई० पू० से ४५६ ई० पू० तक मिस्र मे विद्रोह चलता रहा। इस विद्रोह मे यूनानियो ने अपनी जल और स्थल, दोनो सेनाओ से मिस्र की सहायता की। इस ऐतिहासिक सच्चाई का प्रमाण यही है कि मिस्री-विद्रोहियो के अतिरिक्त पकडे गये सैनिको मे ६ हजार यूनानी सिपाही भी थे, जो पकड कर **सूसा** लाए गये थे। मिस्र के विद्रोह के कुचले जाने के सात साल पश्चात अर्थात ४४९ ई० पू० ईरान और यूनान मे एक सधि हुई। इस सधि के अनुसार ईरानियो ने समस्त यूनानी सिपाहियो को रिहा कर दिया और 'डेलाओ-सघ' मे सम्मिलित सभी यूनानी नगर राज्यो को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार कर लिया। साथ ही इन राज्यो ने ईरान को कर देना स्वीकार कर लिया। इस सधि पर यूनानियो की ओर से **कैलियास** नामक व्यक्ति ने और दूसरी ओर स्वय सम्राट ने हस्ताक्षर किये थे। यह सधि भी **सूसा** नगरी मे सम्पन्न हुई थी।

दारा द्वितीय अर्थात् (डेरियस द्वितीय) (४२५ ई० पू० से ४०५ ई० पू० तक)

अर्तक्षत्र (आर्टा जारक्सस) की मृत्यु के उपरान्त उसका लडका दारा द्वितीय (डेरियस) गद्दी पर बैठा। इसकी प्रधान मत्राणी थी, इसकी रानी पर्सेटी और तीन हिजडे। उस समय भी ईरानी साम्राज्य मे जगह-जगह विद्रोह हो रहे थे। अत इसने गद्दी पर बैठते ही लीडिया, मेसोपोटामिया के पश्चिमी प्रदेश तथा मीडिया आदि का विद्रोह शान्त किया, परन्तु मिस्र को स्वतन्त्र होने से वह नही रोक सका और न ही उसकी विशाल सेनाएँ कर्दोच (वाहिस्तान) के लोगो को स्वतन्त्र होने से रोक सकी। कर्दोच जाति के विद्रोह के दमनार्थ भेजी हुई ईरानी सेनाएँ पहाडियो की घाटियो मे ही नष्ट हो गयी।

लीडिया का छत्रप तिस्सा फार्नेस उन दिनो ईरानी राजनीतिमे प्रमुख भाग ले रहा था, उसने अपनी सेना मे काफी यूनानी भर रखे थे। कई बार उसने हाथ-पैर मारे लेकिन वह भी लीडिया को स्वतन्त्र नही करा सका और न दारा का कुछ अधिक हित ही कर सका। दारा इस समय अत्यन्त कडाई से काम ले रहा था वह अपने दामाद तेरीसुकमस को भी राज-विद्रोह के अपराध मे सपरिवार मृत्यु-दण्ड दे चुका

था, परन्तु कर्दोचो के विद्रोह को दबाने मे नष्ट हुई उसकी सेना के कारण उसकी सारी शूर-वीरता धरी ही रह गई और ४०५ ई० पू० दारा द्वितीय की जीवन-लीला भी समाप्त कर दी गई।

अरतक्ष्यर्ष अथवा आर्टा जारक्सस द्वितीय (४०५ ई० पू० से ३५९ ई० पू० तक)

दारा द्वितीय के उपरान्त, उसका पुत्र अरतक्ष्यर्ष अथवा आर्टा जारक्सस द्वितीय गद्दी पर बैठा, इस **अर्त** नाम के व्यक्ति को ही 'अर्सेस' भी लिखा गया है। दारा द्वितीय का यह बडा लडका था, छोटा साईरस था। इसका राज्य-भिषेक सूसा की बजाय पसरगडी मे ही किया गया। वही इसके भाई साईरस ने इसकी हत्या करने का भी प्रयत्न किया, किन्तु षडयत्र विफल हो गया और इस षडयत्र का नायक लीडिया का छत्रप तिस्साफार्नेस पकडा गया तथा मारा गया। साईरस को राजमाता पर्सटी के बीच मे पडने से प्राण-दान देकर देश निकाला दे दिया। अत वह एशिया माईनर की ओर चला गया। वहाँ जाकर उसने एक विशाल सेना का सगठन किया। उसकी इस सेना मे यूनानियो के अतिरिक्त एशिया के सभी देशो के सिपाही थे और सेनापति था क्लियर्कस नामक एथेन्स का एक वीर। और इसी सेनापति की भूल से साईरस की सेना की पराजय भी हुई। क्यूनाक्स के मैदान मे ४०१ ई० पू० साईरस और ईरान के सम्राट की सेना की टक्कर हुई, सेना का सचालन स्वय सम्राट कर रहा था। साईरस की सेना प्रचण्ड रूपसे ईरान की शाही सेना का सहार कर रही थी। सम्राट और साईरस का आमना-सामना हुआ। साईरस ने सम्राट को घायल कर दिया। वह घोडे पर टिका न रह सका और गिर गया। परन्तु तभी एक भाला साईरस की आँख पर लगा और वह भी गिर गया। उसके गिरते ही एक ईरानी सिपाही ने झपटकर उसकी गर्दन काट दी। साईरस की सेना कुछ पकडी गई, कुछ भाग गई।

इसके पश्चात स्पार्टा वालो ने ईरान को कर देने से इकार कर दिया और अपना जहाजी बेडा ईरानी बेडे पर हमला करने के लिए भिडा दिया, किन्तु (३९४ ई० पू०) छत्रप फरना बजाज ने इस जहाजी बेडे को हरा कर भगा दिया। स्पार्टा के बेडे के हारने के पश्चात स्पार्टा राज्य का दूत एन्ताल काईतास राज्य की ओर से सधि करने सूसा आया।

इस सधि के अनुसार साइप्रस द्वीप का नगर राज्य और क्लेजोमिनी ईरानी साम्राज्य के मातहत मान लिये गये। दूसरी ओर ईरान के सम्राट की ओर से यूनान के अन्य राज्यो को स्वतन्त्र मान लिया गया। इस सधि-पत्र मे ईरान ने अपने मित्र एथेन्स राज्य को भी लाभ पहुँचाया। उदाहरणार्थ यूनान के नगर राज्य लेमनस एकोरस को एथेन्स के हवाले कर दिया गया। इस सधि के होते ही'स्पार्टा के साथ हुई पहली सधि रद्द मान ली गई।

इसके बाद मिस्र के ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत होने वाले भाग ने तथा

कर्दोच जाति ने पुन विद्रोह कर दिया, परन्तु दोनो ही विद्रोहो को ईरानी सेना ने कुचल दिया।

उदारनीति—ईरानी सम्राटो मे यह व्यक्ति अत्यन्त उदारनीति का और विचारक प्रवृत्ति का था। साम्राज्य के प्रत्येक भाग के धर्मावलम्बियो का यह समान आदर करता था। इसी कारण इसने यूनान के सूर्य देवता (मिथ्र) तथा उनकी देवी अनीती की स्वय भी उपासना कर राज्य की जनता के समक्ष एक उदाहरण पेश किया था। जबकि इन देवताओ की पूजा करना ईरान के जरथुस्त्र-धर्म के एकदम विपरीत बात थी। सम्राट ने इन दोनो ही देवताओ के मन्दिर भी बनवाए और उनकी मूर्तियाँ भी बनवाई। अपने शिलालेखो मे भी उसने इनका वर्णन किया है।

यूनान पर आक्रमण करने की अपेक्षा इसने यूनानी देशो से मित्रता बनाए रखने की ही नीति अपना ली थी। इन देशो से अपना दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया था। यह दौत्य सम्बन्ध भी इतना गहरा हो गया था कि यूनान के नगर-राज्यो के बादशाह अपने घरेलू और पारिवारिक झगडो के फैसलो के लिए भी ईरान के शाह को ही अपना पच मानकर, अपने दूतो को भेजा करते थे। ३७२ ई० पू० स्पार्टा का दूत एन्ताल काईतास सम्राट के दरबार मे इसी तरह के एक राज्यीय झगडे को लेकर आया था। ३६७ ई० पू० केबेरा नगर निवासियो का एक डेपूटेशन और उसी साल एथेन्स का राजदूत सम्राट के पास अपने फैसले को लेकर आये थे।

यह सब कुछ होते हुए भी स्वय ईरानी परिवार के अन्दरूनी झगडे पुन बढने लगे। वस्तुत इन झगडो के मुख्य कारण थे, उत्तराधिकारियो के हक। ईरानी सम्राट अपने महलो मे ईरानी बेगमो के अतिरिक्त मिस्री और यूनानी रानियाँ भी अवश्य रखते थे और यही रानियाँ अपने पुत्रो को गद्दी पर बिठाने के लिए हिजडो से तथा दरबारियो से मिलकर षडयन्त्र रचा करती थी या उनके षडयन्त्रो मे भाग लिया करती थी। अत अरतक्षयर्ष द्वितीय के महल मे भी षडयन्त्र का सूत्र-पात हुआ। उसकी यूनानी रानी स्तेतीरा से तीन पुत्र थे। दारा, (डेरियस) ओक्स और अरीयस्पेश। इस रानी को राजमाता ने जहर देकर मरवा दिया। माता के मरते ही तीनो पुत्रो ने गद्दी के लिए उत्पात प्रारम्भ कर दिये और इन्ही उत्पातो से खिन्न होकर सम्राट बीमार पडा और अन्त मे मर ही गया।

अरतअक्षयर्ष तृतीय या (जारक्सस तृतीय) (३५८ ई० पू० से ३३८ ई० पू० तक)

अरत अक्षयर्ष द्वितीय का छोटा लडका ओक्स परिवारी झगडो मे बाज़ी मार ले गया और अरत अक्ष्यर्य तृतीय (जारक्सस तृतीय) के नाम से ईरान की गद्दी पर बैठा। इसके गद्दी पर बैठते समय भी साम्राज्य मे जगह-जगह विद्रोह प्रारम्भ हो गये। सिन्धु और पजाब के भाग जो ईरानी साम्राज्य के अग बने हुए थे, स्वतंत्र हो गये। उस समय यह आन्तरिक विद्रोहो को दबाने मे लगा हुआ था। गद्दी पर बैठते ही इसने पहला कार्य यह किया कि अपने भाइयो सहित अपने समस्त शत्रुओ का वध कर दिया।

इसके पश्चात अपने हिजडे सेनापति वेगास के साथ सेना लेकर मिस्र पर चढाई कर दी और ३४२ ई० पू० मिस्र को पुन ईरानी साम्राज्य का अंग वना लिया। फिर भी कैस्पियन सागर के कई तटीय क्षेत्र ईरानी दासता से अपने को मुक्त करने मे सफल हो ही गये। इसके शासन-सूत्र का सचालक वेगोस नाम का यह हिजडा ही था। इसी कारण समस्त उच्च पदाधिकारी क्षत्रप और दरवारी मम्राट के शत्रु हो गये थे। परिणाम यह निकला कि दरबार मे षडयन्त्र रचा जाने लगा। इसके प्रथम कि दरवार के षडयन्त्रो का कुछ परिणाम निकले वेगास ने साम्राट की हत्या कर दी और उसके पुत्र आर्तेस को गद्दी पर विठा दिया।

आर्तेस या (आर्सेस) (३३८ ई० पू० से ३३६ ई० पू० तक)

ईरानी साम्राज्य की अराजकता के दौरान मे, इसे गद्दी पर विठाया था। परन्तु यह व्यक्ति केवल दो वर्ष तक ही शासक रह सका। हिजडे सेनापति वैगोस ने इसकी भी हत्या कर दी। हत्यारे ने केवल इसे ही जहर देकर नही मारा, वल्कि इसके पुत्रो और भाईयो को भी मौत के घाट उतार दिया। साथ ही दारा द्वितीय के पौत्र को दारा तृतीय के नाम से गद्दी पर बिठा दिया। इसी इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के समय सिकन्दर ने ३३० ई० पू० दारा को तीन वार युद्धो मे परास्त कर समस्त ईरानी साम्राज्य को यूनान मे मिला लिया।

दारा तृतीय अथवा (डेरियस तृतीय या डेरियस कोडोमेस) (३३६ ई० पू० से ३३० ई० पू० तक)

वैगोस हिजडे ने दारा तृतीय को भी अराजकता के समय ही गद्दी पर विठाया था। कठोर प्रकृति का व्यक्ति होने के कारण, दारा ने अपने साम्राज्य को कठोरता से ही सभालने का निश्चय किया। अत सबसे पहिले दारा ने अपने हितचिन्तक हिजड़े वैगोस का ही कत्ल कराया। उसके वाद, **मैसोडोनिया** के राजा **फिलिप** का वध **पसिनास** नामक व्यक्ति से ३३६ ई० पू० कराया क्योकि फिलिप सदैव ही ईरानी साम्राज्य के प्रति विद्रोह करता रहता था।

मकदूनिया अथवा मैसीडोनिया राज्य और उसका शासक फिलिप

आर्य जाति की एक शाखा, जो ईरान से भी आगे वढकर यूनान तक पहुँची थी, उसने यूनान के उत्तर मे एक पहाडी क्षेत्र को अपना निवासस्थल वनाया था। शारीरिक गठन से चुस्त और परिश्रमी इन लोगो ने पहाडियो के आसपास की सारी भूमि को खोदकर कृषि योग्य वना लिया। जो आदमी कृषि कर्म से नही लग सके, उन्होंने पशु-पालन आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे यह लोग सगठित रूप से अपने व्यापार-व्यवसाय को वढाने मे भी सफल हो गए। और इन्होंने मैमोडोनिया नामक अपने एक नगर राज्य की नीव डाल दी। प्रारम्भ मे यूनान के अन्य राज्यो के नागरिक इन लोगो

को हेय दृष्टि से देखते थे, परन्तु कालान्तर मे इसी जाति ने यूनान को एक व्यवस्थित राज्य के रूप मे ही जन्म नही दिया, अपितु ससार का उस समय का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य बना दिया, जिसने यूनान को ही नही अपितु ससार को नये विचारक नये कलाकार और नये इतिहासकार तथा दार्शनिक दिये।

अस्तु, इस देश का राजा (ई० पू० ३५० से ३३६ ई० पू० तक) फिलिप नामक एक व्यक्ति था। इसकी सगठन शैली अद्भुत थी। इसी ने अपनी सारी जाति को एक सूत्र मे बाँध रखा था। इसीलिए वह सदैव अपने मीडिया राज्य को एक विशाल साम्राज्य के रूप मे परिवर्तित करने के मनसूबे बाँधा करता था। ३३७ ई० पू० अर्थात उसके मरने से केवल एक साल पूर्व ही यूनान-सघ हेलास ने उसे सब की सेनाओ का सेनापति बना दिया, परन्तु सेनापति बनने के एक साल बाद, ही दारा ने उसकी हत्या करा दी।

फिलिप की हत्या के बारे में यह भी कहा जाता है कि उसकी हत्या दारा ने न कराकर, स्वय उसकी परित्यक्त पत्नी ओलिम्पास ने कराई थी। सिकन्दर का जन्म इसी रानी से हुआ था।

सिकन्दर महान् अलैक्जैडर अथवा अलिकसुन्दर
(३३६ ई० पू० से ३३२ ई० पू० तक)

इस इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति के कई नाम थे, परन्तु इतिहासकारो ने अधिकतर इसे सिकन्दर के नाम से ही सम्बोधित किया है। अपने पिता की मृत्यु के बाद ३३६ ई० पू० यह मकदूनिया की गद्दी पर बैठा। अपने पिता फिलिप की भाँति सिकन्दर मे भी जनता के सगठन की अद्भुत क्षमता थी। अत इस युवक ने अपने पिता के छोडे हुए कार्य को पूरा करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहिले इसने यूनान के समस्त नगर राज्यो को एक झण्डे के नीचे लाकर एक राज्य के रूप मे उन्हे खडा कर, उनके अन्दर जाति-भावना की अपेक्षा देश-भक्ति की भावना और साम्राज्यवाद की आकाक्षा भरनी शुरू की। यूनान के सेनापति लोग जो ईरानी शाह या उसके क्षत्रपो के क्रीत दास बने हुए थे, उन्हे निकाल बाहर किया।

सिन्दर के इन्ही सुधारो का लाभ दारा ने उठाया। उसने यूनान के सेनापतियो को भडकाकर सिकन्दर के विरुद्ध विद्रोह करा दिया। अत यूनान के सभी राज्यो ने मकदूनिया राज्य से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर पुन अपनी पृथक् स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

इस विद्रोह का सचालन थीबिया वालो ने किया। यह घटना उसके गद्दी पर बैठने के एक साल बाद अर्थात् ३३५ ई० पू० ही हो गई। अत सिकन्दर ने अपनी सेना लेकर, यूनान पर चढाई कर दी। सिकन्दर के इस आक्रमण को थीबिया वालो ने रोका। परन्तु अधिक समय तक वह सिकन्दर की सेना का सामना न कर सके और परास्त हो गये। थीबिया के हथियार डालते ही यूनान के अन्य राज्यो ने बिना लडे ही, सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली।

सिकन्दर का विजय अभियान—यूनान को पुन एक करके और थीविया को परास्त कर दूसरे साल अर्थात् ३३४ ई० पू० सिकन्दर अपने विजय-अभियान की ओर अग्रसर हुआ। इस समय इसकी सेना मे सवसे अधिक सैनिक इसके राज्य मकदूनिया के ही थे, क्योकि वह इसी की जाति के थे। अत विश्वास-पात्र भी समझे जाते थे। और उनकी अपेक्षा यूनान के अन्य राज्य के सैनिको की सख्या कम थी। कुल मिलाकर सिकन्दर के प्रथम विजय-अभियान मे उसके पास ३२ हजार पैदल, २० हजार घुड-सवार तथा १६० जगी जहाजो का वेडा था। अस्तु, यूनान के देवी-देवताओ और अपने पूर्वज **हेराकुलीज** को वकरो आदि की वलि चढाकर सिकन्दर आगे वढा।

ईरानी सेना से प्रथम टक्कर—३३४ ई० पू० सिकन्दर की विजय-वाहिनी की, प्रथम टक्कर, ग्रेनीकस नदी के मुहाने के पास हुई। यह नदी मार्मोरा सागर मे गिरती है। उस समय ईरानी सेना मे २० हजार ईरानी घुडसवार थे और २० हजार यूनानी पैदल सिपाही थे। यूनानी, फिनिक्स मल्लाहो से लैस २५० जगी जहाजो का वेडा था। यूनानी सैनिको का सेनापति मिथ्रेदेत्स अर्थात मिथ्रेदेट्स था और यही जल वेडे का भी सेनापति था। यूनानी सैनिको की कमान मेमनोन नामक व्यक्ति के हाथ मे थी। सिकन्दर ने अपनी घुडसवार सेना के वीच मे पैदल सैनिको को किया और ईरानी सेना पर आक्रमण कर दिया। छोटे-छोटे हथियारो से लडने वाली ईरानी सेना लम्वे-लम्वे भालो से लडने वाली सिकन्दर की सेना के सामने अधिक न जम सकी। लडाई की गति तेज होते ही सिकन्दर ने ईरानी सेनापति **मिथ्रेदेत्स** को मार दिया, परन्तु यहाँ वह ईरानी सेना से घिर गया। उस समय स्थिति ऐसी हो गयी थी कि सिकन्दर की प्राय सारी ही सेना ईरानियो से घिर चुकी थी। यदि कुछ देर वाद, नदी पार करके सिकन्दर की शेष सेना न आती, तव शायद इस युद्ध का रूप ही दूसरा होता और सदियो तक ईरानी साम्राज्य का अन्त नही होता। यूनानी सदियो तक गुलाम रहते। परन्तु सिकन्दर की इस सेना ने जो ग्रेनीकस नदी पार कर आई थी, ईरानी सेना पर टूटकर युद्ध का पासा ही पलट दिया। घिरी हुई यूनानी सेना, घेरा तोडने मे सफल हो गई। यूनानियो के लम्वे वर्छो ने ईरानी घुडसवारो को भागने के लिये विवश कर दिया। इसके पश्चात ईरान के यूनानी सैनिको को जो पैदल सेना के सिपाही थे, सिकन्दर की सेना ने समाप्त कर दिया। ईरान की इस पैदल सेना मे केवल २ हजार व्यक्ति बचे थे। नदी का तट ईरानी घुडसवारो और यूनानी सैनिको की लाशो से पटा हुआ था। इनका सेनापति भाग चुका था।

इस युद्ध से निपटकर सिकन्दर सीधा आगे वढा और **सार्डिस** पर अधिकार करके लीडिया राज्य को अपने अन्तर्गत कर लिया। लीडिया का क्षत्रप उन दिनो स्वय लीडिया का स्वतन्त्र शासक होने का स्वप्न देख रहा था। अत वही वहाँ की सेना का सेनापति भी वना हुआ था। सिकन्दर ने उसकी सारी योजना धूल मे मिला दी। सेनापति का पद इससे छीन लिया गया और नाममात्र का क्षत्रप उसे रहने दिया। शेष राज्याधिकारियो का चयन भी सिकन्दर ने स्वय ही किया।

यूनानी उपनिवेशों की वापसी—लीडिया पर अधिकार करने के पश्चात सिकन्दर ने अपने यूनानी प्रदेशों को ईरानी साम्राज्य से निकालने का कार्य प्रारम्भ किया। एशिया-माइनर के सब उपनिवेश पर्याप्त समय से ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अपने उपनिवेशों को ईरानी साम्राज्य से स्वतन्त्र कर सिकन्दर ने, ईरान के यूनानी सेनापति मेमनोन के प्रदेश—हैलीकारनेसस पर धावा बोल दिया। परन्तु यहाँ ईरानी सेनापति ने 'घर-फूँक-नीति' का अनुसरण किया और नगर को पूरी तरह से बरबाद कर, राज्य के दूसरे हिस्सों में सेनापति पहुँचकर सिकन्दर से लड़ने की तैयारी शुरू करदी। परन्तु सिकन्दर ने मेमनोन से लड़ने का विचार त्याग दिया और आगे बढ़ गया। अतः सिकन्दर की विजयवाहिनी एशियाई समुद्र के नगरों को पार करती हुई और वहां पर सैनिक शासन स्थापित करती हुई, आगे बढ़ती ही चली गई। मार्ग में ईरान के किसी सूबे के किसी शासक ने उसे नहीं रोका। ३३३ ई० पू० ईरान का यूनानी सेनापति मेमनोन भी मर गया। अतः सिकन्दर और भी निश्चिन्तता से आगे बढ़ा।

दूसरी टक्कर—ईरानी सेना से सिकन्दर की दूसरी टक्कर, ईसस नगर से कुछ दूर नदी के किनारे ही हुई। दो मील चौड़ी एक घाटी में बसे हुए इस नगर के दक्षिण-पश्चिम में इस्कन्दरान की खाड़ी है। एक ओर पहाड़ है और उसी के पास नदी बहती है। सम्राट दारा ने ६ लाख सेना लेकर, सिकन्दर को यहां पुनः रोका। उस सेना के अतिरिक्त दारा के पास २० हजार सेना सुरक्षित रूप में आवश्यकता पड़ने पर सहायता के लिये और भी थी। दारा की सेना भी मिली-जुली जातियों की ही थी। लगभग सभी क्षत्रपियो के व्यक्ति शामिल थे। इनमे भारतीय सिपाही भी थे। दारा का युद्ध कालीन खेमा सेना के मध्य भाग मे लगा हुआ था।

सिकन्दर ने नदी की दाहिनी ओर पहुँचकर, ईरानी सेना पर आक्रमण किया। ईरानी सेना ने नदी पार करती हुई यूनानी सेना पर आक्रमण किया। घमासान लडाई हुई, किन्तु सिकन्दर के सैनिक नदी पार करने मे सफल हो गये। दारा लडाई के परिणाम की प्रतीक्षा किये विना ही भाग गया और उसके भागते ही ईरानी सेना के भी पैर उखड गये। सिकन्दर की सेना ने ईरानी सेना का काफी पीछा किया। दारा के खेमे से कई करोड सोने के सिक्के सिकन्दर के हाथ लगे। सिकन्दर की इस वढती हुई सेना ने दमिश्क मे आकर सम्राट दारा की पत्नी, उसकी दो लडकियो और राजमाता को गिरफ्तार कर लिया। इस वार दारा ने सिकन्दर से समझौते का प्रयत्न भी किया, किन्तु उसे सफलता न मिली। सिकन्दर ने दारा की वडी लडकी स्तेतीरा से शादी करली।

टायर और मिस्र पर अधिकार—इस युद्ध ने सिकन्दर का हौसला और बढा दिया। उसने अपनी सेना को **फिनिशिया** पर आक्रमण की आज्ञा दे दी। सिकन्दर की विजय-वाहिनी ने, फिनिशिया की राजधानी **टायर** नगर पर घेरा डाल दिया, परन्तु यहाँ सिकन्दर को इतनी सस्ती सफलता नही मिली, जितनी उसे विगत दो युद्धो

मे मिल चुकी थी। अत लगातार सात महीने तक टायर निवासी सिकन्दर से लडते रहे, किन्तु ८ वें महीने ३३२ ई० पू० वे हताश हो गये और **टायर** पर सिकन्दर का अधिकार हो गया।

टायर पर सिकन्दर के अधिकार का समाचार जैसे ही असीरिया और मिस्र को मिला, तैसे ही उन्होंने भी अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करदी। सिकन्दर ने भी अपनी इस विजय से लाभ उठाया और पहिले मिस्र को, उसके पश्चात असीरिया को जा दबाया। अब यह दोनो ईरानी साम्राज्य से निकलकर, यूनानी साम्राज्य मे शामिल हो गये। सिकन्दर ने मिस्रियो पर अपनी उदारता प्रकट करने के लिए, एक ओर प्रशासन मे अधिकतर मिस्री भर्ती किये, दूसरी ओर मिस्री देवताओ का आदर करके मिस्र के पुरोहित वर्ग को अपनी ओर कर लिया।

निर्णायक युद्ध—मिस्र और असीरिया पर अपनी विजय-पताका फहराने के पश्चात सिकन्दर ने उस निर्णायक-युद्ध को जीता, जिस मे दारा ४ लाख सेना साथ होते हुए भी भाग निकला और उसका ससार मे सबसे विशाल साम्राज्य—फारस साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया तथा सिकन्दर विश्वविजय के स्वप्न लेकर भारत-विजय के लिए चला था। इस युद्ध मे सिकन्दर ने **गौगमेल** मे ईरानी सेना को परास्त किया।

नावो के पुल बनाकर सिकन्दर ने फरात नदी को पार किया। इसके पश्चात दजला नदी को पार कर असीरिया (वर्तमान अथुरिया) पहुँचा। यहाँ निनवे शहर के खण्डहरो के पास, अरवेला से लगभग ७० मील दूर, **गौगमेल** मे दारा की सेना से निर्णायक युद्ध हुआ। दारा (तृतीय) यहाँ एक विशाल सेना सहित पहिले से ही मौजूद था। इस समय भी दारा की सेना मे विभिन्न जातियो के सिपाही थे। इस बार विशेषता यह थी कि उसकी सेना मे तलवारो से सज्जित रथ भी थे और कुछ हाथी भी थे, जिन्हे उसने सेना मे सबसे आगे रखा था। यह हाथी और रथ सभवत किसी भारतीय योद्धा के मस्तिष्क की उपज थी, क्योकि उस समय भारतीय नरेश युद्धो मे इसी प्रकार के रथो और मस्त हाथियो का प्रयोग किया करते थे। स्वय पुरु ने सिकन्दर से जब युद्ध किया था, तब उसकी सेना मे भी पहिली पक्ति मे हाथी थे और दूसरी मे रथ थे। विगत युद्ध की भाति इस बार भी दारा का खेमा सेना के मध्य भाग मे था, जिसकी रक्षा के लिए, उसके परिवारी तथा ईरान के विशेष 'अमर-सैनिक' तैनात किये गये थे। उनके चारो ओर पैदल तथा पैदलो के बाजुओ पर घुडसवार सेना थी।

चार दिन तक सिकन्दर और दारा की सेनाएँ आमने-सामने पडी रही। केवल सात मील की दूरी होते हुए भी, किसी ने एक दूसरे पर आक्रमण नही किया। सभवत इस बीच सिकन्दर ने अपनी सेना को युद्ध के लिए व्यवस्थित किया। इस युद्ध मे सैन्य सचालन के लिए उसने अपने पिता की सैन्य-पद्धति का अनुसरण किया। अर्थात अपनी १५ फुट लम्बे बर्छो से लडने वाली सेना की १६ पक्तियाँ बनाई और उनके पार्श्वो पर घुडसवारो को तैनात किया, ताकि पैदल सेना के सिपाहियो को तलवारो

से युक्त ईरानी रथ अधिक नुकसान न पहुँचा सके। और यही हुआ भी। दारा के आक्रमण मे देर करने का लाभ सिकन्दर ने उठाया। उसने समतल मैदान से हटकर ऊवड खावड जगह पहुँचकर ईरानी सेना को ललकारा। ईरानी सेना के पृष्ठ भागो पर यूनानी घुडसवारो ने आक्रमण कर दिया। पैदल सैनिक ईरानी रथो के आगे बढने की प्रतीक्षा मे रुके रहे। सिकन्दर ने जो सोचा था, वही हुआ। दारा के रथो ने यूनानी सेना पर आगे बढकर आक्रमण किया। यूनानी सैनिको ने अपने बर्छों से रथो के घोडो को बेंधना शुरू किया। बहुत से घोडो की रासें काट दी गईं। सैकडो रथी, रथो से उतार कर बर्छों से बीध दिए गए। यूनानी सैनिक दौडते रथ के सामने आने से पहिले तो बच जाते और जब रथ आगे बढता, तब उस पर आक्रमण करते थे।

इस घमासान युद्ध के बीच सिकन्दर अपने चुने हुए वीरो को लेकर पुन दारा के खेमे की ओर चला। परन्तु दारा तो न जाने कब का भाग चुका था। अपनी चार लाख लडती हुई सेना को, बिना निर्णायक परिणाम देखे ही, दारा भाग गया। उस समय ईरानी सेना ने, यूनानी सेना के सेनापति **पर्मेनियो** को घर रखा था। अत अपने सेनापति को घेरे से मुक्त करने के लिए सिकन्दर दारा के डेरे की ओर न जाकर अपने सेनापति की ओर चला।

जिस समय वह ईरानी सेना को चीरता हुआ वहाँ पहुँचा, उस समय उसके तीन चौथाई से भी अधिक चुने हुए योद्धा ईरानियो की छुरियो के शिकार हो चुके थे। परन्तु दारा के भागने और सेनापति के मुक्त होने से युद्ध का रग पलट गया। ईरानी सेना के इस बार भी पैर उखड गये। अत ३३१ ई० पू० सिकन्दर ने ईरानी सेना की कमर पूरी तरह से तोड दी।

ईरानी सेना के भागते ही सिकन्दर ने **बेबीलोनिया** और ईरानी सम्राटो के प्रिय नगर **सूसा** पर भी अधिकार कर लिया। यहाँ उसे शाही खजाने से ५० हजार टेलेण्ट हाथ लगे। यहाँ अनेको देवताओं और ईरानी सम्राटो की धातु-मूर्तियाँ भी उसके हाथ लगी, जिन्हे बाद मे एथेन्स भेज दिया गया। इन पर अधिकार करने के बाद, उसने ईरान की सबसे प्राचीन राजधानी **पसरगडी** पर अधिकर किया और उसके बाद, ईरानी साम्राज्य की राजधानी **पर्सिपोलिस** पर। यही ईरानी शाहो का कला पूर्ण महल था। जिसके एक भाग मे दरबार और दूसरे मे खजाना आदि थे। सिकन्दर ने महल की तलाशी ली। महल की सभी बहुमूल्य वस्तुओ को लुटवा लिया। खजाने से १॥ लाख सोने के टेलेण्ट उसके हाथ लगे।

राजधानी अग्नि की भेंट—सिकन्दर के इन अभियानो मे, **थाया** नामक उसकी एक रखैल भी उसके साथ थी। अत जिस सयय सिकन्दर पर्सिपोलिस मे ईरानी सम्राट दारा के महल को देख रहा था, तब उसने कहा—"इसे मकदूनिया नही ले जाया जा सकता?" सिकन्दर के इन्कार करने पर उसने कहा—"तब मेरी आँखो के सामने से तो हटाया ही जा सकता है?" सिकन्दर ने उसकी इच्छा तत्काल पूर्ण की और महल को अग्नि की भेंट कर दिया।

दारा का अन्त—गौगमेल की लडाई से भागकर दारा, पर्सिपोलिस आया। **दमिश्क** मे उसकी पुत्रियो और पत्नी को यूनानी सेना पहिले ही गिरफ्तार कर चुकी थी। अत भागते समय सिकन्दर ने कुछ दूर तक तो उसका पीछा किया, पश्चात पीछा करना छोड दिया। दारा पर्सिपोलिस आकर वहाँ से भी भाग निकला और **बलख** प्रान्त के क्षत्रप के पास पहुँचा। सिकन्दर को प्रसन्न करके, ईरान का सम्राट बनने के लालच मे इस क्षत्रप ने एक सरदार से उसका कत्ल करा दिया। पश्चात दारा के हत्यारे को भी सिकन्दर ने मौत के घाट उतार दिया और दारा के शव को पर्सिपोलिस ले जाकर, अपने हाथ से कफन पहना कर आदरसाहित गडवा दिया। इसके अतिरिक्त यह भी लिखा गया है कि दारा के युद्ध से भागने के बाद, पर्सिपोलिस पहुँचने ही नही दिया गया और उसकी घुडसवार सेना के सेनापति नवर्जनेस, वैक्ट्रिया के छत्रप तथा अरोकोशिया के छत्रपो ने गिरफ्तार करके हत्या करदी। सिकन्दर ने **दमधान** के निकट एक गाडी मे दारा के जख्मी शव को देखा था और पर्सिपोलिस लाकर उसे श्रद्धा सहित गडवा दिया था।

यूनानी साम्राज्य का उत्थान और पतन—सिकन्दर के आक्रमण से ईरानी साम्राज्य का सूर्य अस्त हुआ और यूनानी साम्राज्य को शुभ प्रभात का दर्शन हुआ। सिकन्दर ने समस्त ईरानी साम्राज्य को यूनान मे मिला लिया। अत स्वत ही यूनानी साम्राज्य समस्त मध्य एशिया सहित, भारत मे सिन्धु तट पर बढ गया। अत ई० पू० ३२७ मे एशिया की राजनीति और सभ्यताओ का विकास यूनानियो के हाथो मे चला गया। कही दूसरी सभ्यताओ से यूनानी सभ्यता की मित्रता हुई, कही विरोध हुआ। अत कही यूनान की छाप दूसरी सभ्यताओ पर पडी, कही यूनान पर दूसरी सभ्याताओ की पडी। भारत मे भी यूनानी सभ्यता-विशेषकर साहित्य और मूर्ति-कला आदि का परस्पर पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ। किन्तु ३२३ ई० पू० सिकन्दर के मरते ही, यूनानी साम्राज्य की भी वही दशा हो गई, जो उसने ईरानी साम्राज्य की थी।

पर्सिपोलिश मे कुछ दिन विश्राम कर सिकन्दर भारत की ओर बढा। तक्ष-शिला तक उसके अभियान को कोई नही रोक सका, परन्तु झेलम के किनारे जब **पोरस** से उसकी टक्कर हुई, तव यूनानी सेना के काफी भाग का सफाया हो गया। अत अपने जीवन मे सिकन्दर को पहली बार एक राजा से मित्रता के दर्जे पर सम-झौता करना पडा। यहाँ पर उसे महसूस हो गया कि इस सेना के बल पर विश्वविजय की कल्पना असम्भव है। यदि आगे पराजय मिली तव ईरानी साम्राज्य भी हाथ से निकल जाएगा। अन्यथा वह पाटलीपुत्र पर अवश्य आक्रमण करता। सेना का विद्रोह वहाना मात्र है। अत सिन्धु नदी के रास्ते से **निअर्कस** की आधीनता मे अपनी सेना का आधा भाग फारस की खाडी मे भिजवा दिया और शेष पैदल सेना के साथ वह वेबीलोन पहुँचा। यहाँ ३२३ ई० पू० अधिक शराब पीने के कारण उसकी मृत्यु हुई अथवा किसी सरदार ने इसकी हत्या कर दी। उस समय सिकन्दर की आयु केवल ३२ वर्ष की थी।

यूनानी साम्राज्य का विघटन—सिकन्दर के मरते ही, यूनानी साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। सिकन्दर का परिवार उस समय बेबीलोन में था। वहीं उसकी पत्नी रोक्साना और स्तेतीरा थी, जो दारा की पुत्री थी। रोक्साना उस समय गर्भवती थी। उसने स्तेतीरा की हत्या करा दी। परन्तु रोक्साना की भी इच्छा पूरी नहीं हुई। जैसे ही उसने सिकन्दर के उत्तराधिकारी को जन्म दिया, वैसे ही कैसेंडर नामक एक व्यक्ति ने सिकन्दर के उत्तराधिकारी ही नहीं, उसके सारे परिवार की ही हत्या कर दी।

उस समय सिकन्दर के सेनापतियों में परस्पर युद्ध शुरू हो गया था। प्रत्येक सेनापति यूनान का सम्राट बनना चाहता था। अन्त में समस्त साम्राज्य को परस्पर बाट लेने का फैसला हो गया। इसमें यूनान के सेनापति और प्रसिद्ध इतिहासकार टालिमी ने मिस्र लिया, कैसेंडर, जिसने सिकन्दर के परिवार की हत्या की थी, हेलास (यूनान) और मेसीडोनिया अथवा मकदूनिया लिया। लिसिमेकस ने एशिया माइनर क्षेत्र लिया और सेल्यूकस के हिस्से मे यूनान का भारतीय क्षेत्र आया। परन्तु उस क्षेत्र पर कुछ दिन बाद ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने आक्रमण कर दिया। फलत अपनी कन्या देने के अतिरिक्त सेल्यूकस को कावुल, हिरात, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा मकरान प्रान्त भी उसे देने पड़े। यूनानियो ने इनके नाम क्रमश एरिया, एराकोशिया, ग्रेड्रो-शिया, पैरोपनी सेठी लिखे है।

सूसा मे ईरानी सम्राटों के महलों के अवशेष—सूसा के अनुसन्धान से ईरान के दो प्रसिद्ध सम्राटो—अक्ष्यर्प प्रथम और द्वितीय के महल मिल गये हैं। इन महलो को चमकीले पत्थरो द्वारा सुसज्जित किया गया था।

सूसा के इन महलो मे अक्ष्यर्प द्वितीय का वनवाया हुआ महल अधिक सुन्दर है। यहा से श्री डिडलफाय ने, ईंटो पर बने हुए दो चित्र प्राप्त किये थे, कला की दृष्टि से यह अदभुत माने जाते हैं। इनमे एक चित्र ५ फुट ऊँचा है, जिसमे सम्राट के अ ग-रक्षक अर्थात अमर सैनिक दिखाये गए हैं। यह सैनिक धनुपधारी है। इनके दाडी रखी हुई है, सर के बाज घुंघराले हैं। हाथो मे सोने की मूठ-युक्त बल्लम हैं। पक्ति-वद्ध खडे हुए इन सैनिको की पोशाक, भडकीली है, जो युद्ध-काल की नही मानी जा सकती—दरवारी है।

दूसरा चित्र "Frieze of Iuris" के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें शिकार के लिए उद्यत सिंह के चित्र हैं जो मुंह खोले हुए हैं। यह पेरिस सग्रहालय मे है। इसके अतिरिक्त पारसी लोगो की सील मुहरो की कला भी अद्भुत है। ईरान मे सील मुहरो का प्रयोग प्रचलित रहने से उनकी यह कला अव भी विकसित हो रही है। परन्तु यह सत्य है कि वास्तु-कला, मूर्ति-निर्माण कला, ईंटो पर रगीन चित्रो का निर्माण तथा मेहरावदार मकानो और दीवारो तथा फर्शों पर टाइल लगाने की ही नही, सील मुहरो की कला को भी उन्होंने भारत के मोइन-जो-दडो और महिष्मति तथा हडप्पा वालो से सीखी थी। उनसे भी पहले बेबीलोन वालो ने उत्कीर्ण रेखाचित्र, मोइन-जो-दड़ो

से सीख लिये थे। रगीन ईंटो का प्रयोग भी भारत की ही देन है, क्योकि वर्तनो और मकानो मे उत्कीर्ण चित्र, मृतका मुहरे और मोइन-जो-दडो के भवनो मे मिले टाईल इस बात का प्रमाण हैं। इन सभी को राज्यीय सरक्षण देकर, इन्होने विकसित अवश्य किया।

कुछ इतिहासकारो का यह मत निराधार है कि अशोक स्तभो पर उत्कीर्ण सिंह चित्र तथा धर्मचक्र और पाटलीपुत्र से प्राप्त मौर्य सम्राटो के राजप्रसाद आदि का निर्माण ईरानी कारीगरो द्वारा ही हुआ था, जिसका भ्रम फाहियान को भी हुआ जान पडता है। उदाहरणार्थ पौराणिक नन्दो के महल तव भी ऐसे ही बनते थे।

इनके अतिरिक्त प्राचीन ईरानी साम्राज्य से कुछ मुहरे और अलकार भी प्राप्त हुए है। ओक्सास नदी के तट से सोने की बनी हुई कुछ वस्तुएँ और मुहरे भी प्राप्त हुई है, जो ब्रिटिश म्यूजियम मे हैं। इनमे एक प्राचीन ईरानी रथी का मॉडल भी है जो कला की दृष्टि से कलाकार की उत्तम कृति है। एक ईरानी रानी का नीलम का एक अलकार भी प्राप्त हुआ है। इस पर मीनाकारी की हुई है। एक चादी की वस्तु चक्र सदृश्य है, जो सम्भवत किसी राज्य के अधिकारी या सेनापति की ढाल के ऊपर लगा हुआ था। इस पर सोने का पतला पत्थर चढा हुआ है तथा बीच मे पाच छिद्र हैं। किनारो पर चारो ओर शिकारियो के चित्र हैं जो हिरण तथा खर-गोश आदि का शिकार करते दिखाये गए है। एक अन्य वस्तु सोने का एक पात्र है, जिसकी मूठ पर सिंह का मस्तक बना हुआ है। यह पात्र ईरानी सुनारो की कारी-गरी का सुन्दर नमूना है। साराश यह है कि ईरानी साम्राज्य के कारीगर सोने-चादी की वस्तुओ के बनाने मे भी निष्णात थे। अलकारो का प्रयोग वहा खूब होता था।

पर्सिपोलिस मे सम्राटों के महल और समाधियां—दाराओ के समय मे पर्सि-पोलिस ही अधिकतर उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। अत सूसा से अधिक उन्होंने इसे ही सजाया सवारा। यहा पर प्रथम दारा से लगाकर, अन्तिम दारा तक ने अपने अपने महल बनवाये थे। इसलिए मर्वदश्त की घाटी मे बसे हुए इस नगर को 'महलो का नगर' कहा जाता था। तभी इसके वैभव को देखकर सिकन्दर चकित हो गया था और अपनी उपपत्नी की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति के कारण उसने इन्हे जला डाला था।

पर्सिपोलिस के प्राय सभी महलो को ऊँचे-ऊँचे चबूतरो पर निर्मित किया गया था। इस चबूतरे पर जो सीडियाँ बनाई गई है, वह असीरियन सम्राटो द्वारा बनवाये हुए मन्दिरो की सीडियो की नकलमात्र हैं। इनमे कोई-कोई चबूतरा २० से ५० फुट तक ऊँचा है और उनकी सीडियो की चौडाई पर १० घुडसवार तक बराबर-बराबर जा सकते है।

वर्तमान मे यह ऊँच चबूतरे भी मिट्टी मे दब गये हैं। पसरगडी के चबूतरे की भाँति यह भी चूने के पत्थर के बनाये हुए है। दोनो ओर की सीडियो के मिलान पर, प्रवेश द्वार है और द्वार के दोनो ओर पख वाले बैलो की मूर्तियाँ तथा मनुष्य के सिर

की मूर्तियाँ है । ऐसा ही एक महल अक्षयर्ष का प्राप्त हुआ है, जिसमे उसका उत्कीर्ण एक शिलालेख भी है । शिलालेख मे लिखा है—"मै क्षयर्ष, महान सम्राट, राजाओ का राजा, कई भाषा-भाषी देशो का शासक, महान विश्व सम्राट, दारा (डेरियस) का पुत्र, हुवमनीषी हूँ ।" आगे लिखा है—"क्षयर्ष, महान सम्राट कहता है कि ओर्मुज्द (अहुरमज्दा) की कृपा से, मैने यह प्रवेश द्वार बनवाया है, जिसमे सभी प्रदेश दिखाये गए है ।"

प्रवेश द्वार के दाहिनी ओर अक्षयर्ष का महल बना हुआ है । इसे 'चहिल-मीनार' भी कहा जाता है । महल की ओर जाने वाली दोनो सीढ़ियो की ओर परकोटा लगे है । उन पर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है । इस महल मे संगमरमर के ७२ स्तम्भ थे, उनमे से अब केवल १२ स्तम्भ शेष रहे है । इन स्तम्भो के निम्न भाग घेरे के आकार के है, जिन पर उल्टी पत्तियाँ लगी हुई प्रतीत होती है । सम्राट अशोक के प्रसिद्ध सिंह स्तम्भ का निम्न भाग भी इसी तरह की बनावट का है, जिसे भारतीय-कला मे 'कमल की आकृति' कहा जाता है । इन स्तम्भो के शीर्ष भाग पर दो बैल—कधे-से-कधा मिलाकर बनाये गए है, जिनकी गर्दनो पर महल के शहतीर सहारे के लिये टिकाये जाते थे । यह शहतीर लकड़ी के होते थे । मिस्र और यूनान के स्तम्भो से भी ईरानी महलो के स्तम्भ पतले हैं । अत यह तो कल्पना ही नहीं होती कि यह स्तम्भ पत्थर के होते थे । खिडकियो के फ्रेम तथा दरवाजो की चौखटें काले पत्थर की बनी हुई थी । परन्तु महल की दीवारें ईंटो की बनी हुई थी, जिनके ऊपर रगीन टायल लगाये गए थे । इन टायलो पर पशु-पक्षियो की मूर्तियाँ बनी हुई थी । महल की सभी सीढियाँ और खम्बे चूने के पत्थर के बने हुए थे । इसकी छत पर देवदारु लकडी की कडियाँ थी । १५० वर्गफुट के इस महल को भी सिकन्दर ने फूंक दिया था ।

इसके पश्चात सम्राट दारा (डेरियस) का महल है । यह पहले सम्राट अक्षयर्ष के महल—'चहिल-मीनार' से छोटा है । इसमे कुछ कमरे ही थे । सभवत यह दारा का दरबार-हाल था । यह हाल सौ स्तम्भो पर बना हुआ था । सौ स्तम्भो के इस हॉल मे कई सौ व्यक्ति बैठ सकते थे । सिकन्दर ने ईरान की विजय का उत्सव इसी हाल मे मनाया था । इस उत्सव मे उसने अपने सैनिको को भोज देकर, उपहार बाँटे थे । इसके पश्चात इसे भी आग लगवा दी थी । जली हुई छत की राख का ढेर, यहाँ खुदाई से मिला है । इस हाल के उत्तर की ओर एक द्वार का प्रकोष्ठ है, जिस पर मनुष्य मूर्ति बनी हुई है । यहाँ से दो मार्ग, दरबार-हाल की ओर जाते हैं । उनके द्वार भी पृथक्-पृथक् थे । सभवत एक जनसाधारण अथवा मुसाहिबो के लिये था और दूसरा राज-परिवार के व्यक्तियो के लिये । कुछ भी हो, इन पर उत्कीर्ण प्रतिमाएँ ईरानी कारीगरो की प्रखर-कला की उत्तम कृतियाँ हैं । इन्ही मूर्तियो मे से एक मे दारा को सिंहासन पर भी बैठे दिखाया गया है, जिसे प्रजाजन उठाये हुए हैं ।

सम्राटों की समाधियाँ—इन महलो से पश्चिमोत्तर दिशा मे कुछ दूर पर सम्राटो की समाधियाँ हैं । इनमे सम्राट दारा (प्रथम) की समाधी मुख्य है । ईरानी

जनता ने अपने कब्रिस्तानो मे सभवत मिस्र **मस्ताबाओं** (मकबरो) की नकल की है। यह मकबरे काफी बडे-बडे बनाये जाते थे। गहरा खड्डा खोदकर पत्थरो को धडकर ढका जाता था। स्वय सम्राट दारा का मकबरा इतना बडा है कि उसमे आसानी से दस व्यक्ति दफनाये जा सकते हैं। इन मकबरो के अवशेपो मे अब केवल कुछ पत्थर ही शेप रह गए है। दारा के मकबरे के पत्थरो से तीन भापाओ मे लिखा एक शिला-लेख भी प्राप्त हुआ है। उसी से दारा के मकबरे का पता चला। इन मकबरो मे एक विशेपता और है। वह भी मिस्री लोगो की रीति से मिलती-जुलती ही है। मिस्र मे प्रारम्भिक मस्तबाओ को पहाडियो की कन्दराओ मे बनाया जाता था। पश्चात उन्हे पिरामिडो के सामने बनाया जाने लगा। इसी प्रकार ईरानी सम्राटो के मकबरे भी ऊँचाई पर ही बनाए जाते थे और वही जाकर कलाकार उन पर चित्र बनाते थे और सम्राट का परिचय खोदते थे।

ईरान के प्राचीन खण्डहरो से कुछ वस्तुएँ ऐसी भी पाई गई है कि जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय आर्यो ने ही, भारत से ईरान जाकर, साम्राज्य स्थापित किया था, न कि आर्य ईरान से भारत आये थे। प्रारम्भ मे भारतीय आर्यों मे नित्य प्रति यज्ञ करने की प्रथा प्रचलित थी। ईरान मे भी कई अग्नि-कुड अथवा यज्ञ वेदियाँ खण्डहरो से प्राप्त हुई है। प्रारम्भ मे यह लोग अपने देश भारत की भाँति नित्य यज्ञ किया करते थे। उसके पश्चात यज्ञ की अग्नि को ही पवित्र मानकर, उसकी पूजा करने लगे। भारतीय आर्यो के अतिरिक्त, इतिहासो मे वर्णित मध्य एशिया अथवा काकेशस की कथित आर्य शाखाओ को कही भी विधिवत यज्ञ कहता हुआ इतिहासकार नही दिखा सके। अत ईरानियो की अग्नि पूजा, उनका धर्मग्रन्थ 'जन्दावस्ता' और ईरानी सम्राटो का अपने महलो मे 'कमल की आकृति' को विशेप स्थान देना, भारत की आर्य सभ्यता के अ श को स्पष्टत लक्षित करते है।

पारसी धर्म का पुन उदय—दारा तृतीय के पतन के पश्चात जरथुस्त्र के पारसी धर्म की अवस्था भी हीन हो गई। उसको पुन राज्यीय सम्बल सम्राट अर्दशीर सासानी के समय २३१ ई० मे पुन प्राप्त हुआ। इस सम्राट के शासन-कालसे पूर्व ईरान के नगर राज्यो मे चन्द्रमा तथा सूर्य सहित अनेको देवी-देवताओ की पूजा होनी प्रारम्भ हो गई थी। विभिन्न स्थानो पर बनी अग्नि-वेदियाँ नष्ट हो गई थी। अर्दशीर ने पुन जरथुस्त्र के धर्म को राज्य का सरक्षण प्रदान किया और इस धर्म की उन्नति के लिए एक पृथक विभाग खोलकर जनता पर 'धर्म-कर' भी लगा दिया

अर्दशीर ने मागी पुरोहितो का एक अधिवेशन बुलाकर, उनसे पहिले धर्म चर्चा की। पश्चात अधिवेशन मे से सात प्रमुख मागी सन्तो से उसने धर्म चर्चा की। उन्होने अहुरमज्दा के प्रत्यक्ष आदेशो की सम्राट को जानकारी देने के लिए अपने मे से एक व्यक्ति को चुना जो सम्राट के दरबार मे ही सात दिन तक समाधिस्थ रहा। इस बीच मे दरबारी उसकी देखरेख करते रहे। ८वे दिन उसने सम्राट को 'अहुर-मज्दा' के उपदेश सुनाये। पश्चात इन उपदेशो को विद्वानो ने अविकार पूर्ण सत्य माना

और सम्राट ने सन्तो द्वारा तथा अन्य उपायो से इन्हे [illegible] जनता मे प्रचार कराया। इन सन्तो ने भी सम्राट को यथा-शक्ति सहयोग दिया। अत इस समय एक धर्म, एक राष्ट्र और एक सम्राट का आदर्श ईरानी जनता ने अपना लिया। पुरोहितो की राज्य मे तूती पुन बोलने लगी। सम्राट उनके वश मे हो गया। अत उन्होने अन्य मतावलम्बी सन्तो को सम्राट पर जोर डालकर राज्य से बाहर करा दिया।

ईरान का मानी धर्म—जिस समय ईरान मे जरथुस्त्र-धर्म का पुन बोलबाला हो गया था, उसी समय (सन २५० ई०) वहा पर एक व्यक्ति ने मानी का नया धर्म चलाया। यह धर्म ईरान मे ही नही, अपितु पश्चात समस्त यूरोप भर मे फैल गया। इसने ईसाई-धर्म को भी पर्याप्त टक्कर दी। बडे-बडे दार्शनिक और सन्त इस धर्म के अनुयायी हुए। सक्षेप मे यह धर्म, शकराचार्य की भाँति ससार को अनित्य और माया-मोह को मोक्ष मे बाधक मानकर, सन्यासवाद का प्रचार करता था।

अरबी इतिहासकार अलबरूनी ने लिखा है कि इस धर्म के 'प्रवर्तक' मानी नामक व्यक्ति का जन्म २१६ ई० मे हुआ था और ईरानी सम्राट शापूर के ठीक अभिषेक वाले दिन यह राजदरबार मे पहुँचा था, जहाँ इसने नये धर्म के सिद्धान्त सुनाये थे। सम्राट ने प्रभावित होकर, इस नये धर्म-प्रवर्तक लगडे व्यक्ति को अपने दरबार मे स्थान दिया था।

कुछ दिनो के आदर-सत्कार के पश्चात सम्राट ने किसी कारण से असन्तुष्ट होकर, इसे राज्य से निकाल दिया। तब यह भारत, चीन तथा तिब्बत के भ्रमण के लिये चल दिया। परन्तु शापूर की मृत्यु के उपरान्त यह पुन लौट आया। उस समय सम्राट होर्मुज्द सम्राट बन गया था। अत वह भी इसका शिष्य हो गया।

यह सम्राट केवल एक वर्ष ही जीवित रहा, किन्तु इस एक वर्ष मे मानी ने मेसोपोटामिया आदि मे अपने सिद्धान्तो का प्रचार करके, अपने 'मानी-सम्प्रदाय' की स्थापना कर दी थी। सम्राट होर्मुज्द की मृत्यु के पश्चात बहराम (प्रथम) सम्राट बना। उसने इसे आदर देना तो दूर, पकडवाकर मँगवा लिया और खाल खिचवाकर, उसमे भूसा भरवाकर गुदिसापुर नगर के द्वार पर टगवा दिया। यह फाटक अब भी वहाँ 'मानी फाटक' के नाम से विख्यात है।

जरथुस्त्र धर्म और मानी धर्म की तुलना—ईरान के प्राचीन जरथुस्त्र धर्म और मानी-धर्म के सिद्धान्तो मे कोई समानता नही थी। जरथुस्त्र-धर्म लोगो को ससारी रहते हुए भी, उन्हे स्वर्ग प्रदान कराने का आश्वासन देता था। अत वह लोगो को भी ‍छ जीवन अपनाकर, गृहस्थ आश्रम मे ही रहने का उपदेश देता था। परन्तु मानी दूसरा ्य जगत को कोरा मायाजाल मानकर, गृहस्थ-आश्रम से दूर रहने की सलाह ईरानी को अत वह विवाह को भी निन्दनीय बताता था। मानी का सिद्धान्त था कि को सिंहासन अन्धकार के मेल से ही इस असार ससार का जन्म हुआ और प्रकाश तथा सम्राटो मेल ही समस्त बुराई का कारण है। शैतानी वृत्तियो के कारण ही सम्राटो की समाप्ति। इसके बाद प्रकाश का पुन जागरण होगा।

मानी की मृत्यु के पश्चात् भी उसके सम्प्रदाय का अन्त नही हुआ। अपितु वह मध्य एशिया और रोम होता हुआ, फ्रास भर मे फैल गया। ईसाई धर्म-प्रचारक सेण्ट अगस्टाईन भी पहिले, मानी ही धर्म के प्रचारक थे। १२वी सदी मे, जबकि यूरोप भर मे मानी-धर्म के सन्यासी जगलो, पर्वतो की कन्दराओ और रेगिस्तानो के अचलो मे तपस्याएँ कर रहे थे, तब साईमन आदि ईसाई प्रचारको ने इस धर्म के विरुद्ध जिहाद बोल दिया था।

ईरान की धार्मिक मान्यताए और जरथुस्त्र-धर्म

'लाठी-राज' के उस युग मे, जबकि विभिन्न देशो मे धार्मिक व्यवस्थाएँ अव्यवस्थित थी, ईरान मे एक व्यवस्थित धर्म की स्थापना, जरथुस्त्र नामक एक सन्त ने की, थी। उनका वही धर्म कालान्तर मे ईरानी साम्राज्य का राजधर्म बना और 'पारसी-धर्म' के नाम से विख्यात हुआ।

ईरानियों की प्रारम्भिक विचारधारा—ईरानियो की प्रारम्भिक धर्म-व्यवस्थाएँ वही थी, जो भारत मे आर्यो की। भारतीय आर्यो की वैदिक भाषा सस्कृत को लेकर ही, वह ईरान गये थे। कालान्तर मे वही भाषा इनके धर्म ग्रथ **जन्दावस्था** की बनी। ऋग्वेद की भाषा और **जन्दावस्था** की भाषा मे लाक्षणिक अन्तर केवल इसलिए आया कि ऋग्वेद के मत्रो का सृजक केवलमात्र एक ऋषि न होकर, ऋषिमण्डल था। एक एक मत्र पर ऋषि-मण्डल गहन विचार-विमर्श करता था। उसका सम्पादन होता था और भाषा का परिमार्जन होकर, उसे सौष्ठवता प्राप्त होती थी, तब छन्द बनता था। परन्तु ईरान मे यह सब कुछ नही हो पाया। फलत उनके धर्म ग्रथो की भाषा अपभ्रश हो गई।

ईरानी आर्य आरम्भ मे भारतीय आर्यो की भाँति ही प्रकृति के पुजारी थे। यह लोग वैदिक **मित्र—सूर्य** की पूजा, मिथ्र नाम से करते थे। साथ ही अनंती देवी की उपासना, पृथ्वी देवी मानकर करते थे। यह लोग भी यज्ञ करते थे और सोमरस का पान करते थे। सोमरस जिस (नशीली) बूटी मे बनता है, वह कश्मीर और कागडा की पहाडियो मे ही उपलब्ध थी और भारत से मगाई जाती थी। भारतीय आर्यो की भाति यह लोग भी वर्षा के लिए **वरुण और ज्योति** अग्नि की उपासना करते थे। पश्चात प्रजापति के रूप मे **ब्रह्म** और अन्य देवताओ के भी उपासक रहे। इन्ही सबका सम्पादन पारसी धर्म मे हुआ है।

जिस समय ईरानी आर्य भारत से गये, भारतीय आर्य अपने **देव-मण्डल** मे परिवर्तन कर चुके थे। अत उनके इस परिवर्तन से ईरानी अवगत नही हुए और वे पूर्व वैदिकी नियमो को ही अपनाये रहे जिसका प्रमाण उनके धर्म-ग्रथ 'जन्दावस्था' मे स्पष्ट है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के प्रारभिक मत्रो मे '**वरुण**' को '**असुर**' नाम से भी सम्बोधित करके श्रद्धा प्रकट की गई है। भारतीय वाड्मय मे **असु** का अर्थ प्राण है और असु देने वाले को असुर कहा गया है। भारत मे जाकर यह शब्द ही असीरिया

मे असुर देवता बन गया था। पश्चात् इसे विद्युत-सी कड़कवाला और मेघ गर्जन का आकाशीय देवता मानकर अभ्यर्थना की गयी और अन्त मे 'असुर' को दुष्ट प्रकृति वाला दैत्य दानव माना जाने लगा। परन्तु ईरानी आर्य 'असुर' को देवता ही मानते रहे और इसे 'अहूर' नाम से सम्बोधित कर, प्रार्थना, करते रहे। जन्दावस्था मे भी 'असुर' को 'अहुर' ही लिखा गया है। अत पहिले दोनो की विचारधारा एक रही, बाद मे पृथक् हो गयी और देव तथा असुर शब्द एक दूसरे से विपरीत अर्थो मे प्रयुक्त होने लगे। देव का वैदिक साहित्य मे ईश्वर परक अर्थ हुआ और पारसी साहित्य मे राक्षस अर्थ हो गया। इसी आधार पर देवासुर-संग्राम की रचना की गई। देव वैदिक आर्यो का सूचक हो गया, 'असुर' पारसी आर्यो का देवता हो गया। सभव है, यह मतभेद सब के भारत मे रहने पर ही उत्पन्न हो गया हो और ईरानियो के भारत से जाने पर ही देवासुर की कल्पना की गई हो। इसका प्रमाण उनका 'वेन्दीदाद' ग्रन्थ का नाम ही है। वेन्दीदाद 'वि-देवदाद' से बना है। 'वि' का अर्थ है विरोध। देव का अर्थ है वैदिक आर्य। 'दाद' का अर्थ दिया हुआ। अत 'वि-देव-दाद' (वेन्दीदाद) का अर्थ हुआ—देव धर्म के विरोध मे दिया गया। इसी विरोध के कारण वैदिक देव इन्द्र को फारसी साहित्य मे राक्षस लिखा गया। उनके धर्म के अनुसार अहुरमज्द के अन्तर्गत दो शक्तियाँ है स्पेंतामन्यु और अंगिरामन्यु अथवा अहिरमान (वैदिक-अहि) हैं। अंगिरा मन्यु ईश्वर की राक्षसी शक्ति का नाम है। उन्होने इसी शक्ति का इन्द्र को प्रतिनिधि कहा है।

भारतीय आर्यो की भाँति ईरान मे भी देवताओ को 'बलि' देने की प्रथा चली और बाद मे, 'योगी' नामक एक पुरोहित सम्प्रदाय का जन्म भी हो गया, जिन्हे बाद मे मागी कहा जाने लगा। इन्ही मागी पुराहितो से, जरथुस्त्र को कडा मोरचा लेना पडा था। उस समय ईरानियो ने अपने यहाँ अनेको देवी-देवताओ की कल्पना कर ली थी और जरथुस्त्र ने प्राचीन आर्य धर्म का सम्पादन कर, एकेश्वरवाद का प्रचार किया था। **जरथुस्त्र के एकेश्वर** वही आकाश तथा आलोक देवता—भारतीय **असुर** थे जिनका ईरानी नाम अहूर हो गया था। अब इनका पूरा नाम हुआ '**अहूर-मज्द**'। परन्तु देशवासियो द्वारा सैकडो देवी-देवताओ की पूजा होती देखकर अधिक विरोध के भय से इन्होंने अन्य देवताओ को उनके कार्यो के विकास मे सहायक मान लिया।

जरथुस्त्र का जन्म और ज्ञान की उपलब्धि—पारसी धर्म प्रवर्तक जरथुस्त्र का जन्म 'अरियानम् वेहग' (आर्यो का बीज) नामक स्थान मे हुआ। **सर पर्सी** ने अपने ईरानी इतिहास मे, 'अरियानम वेहग' को वर्तमान अजरबेजान प्रान्त मानकर, इस प्रान्त के 'उसमिया' नामक स्थान मे उनका जन्म होना माना है। इनका वास्तविक नाम 'स्पितमा' था। गौतम बुद्ध की भाति इन्हे भी तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त हुई। अतः इनका जरथुस्त्र नाम पडा। जरतसुवर्ण और उश्त्र प्रभा मडित। अर्थात स्वर्ण-प्रभ प्रभा से मडित व्यक्ति।

इनकी जन्म तिथि के बारे मे पर्याप्त मतभेद है। यूनानी विद्वान इन्हे प्लेटो से भी ६ हजार वर्ष पूर्व हुआ मानते हैं। इनके विपरीत पश्चिमी इतिहासकार विलियम जैक्सन उनका समय ई० पू० ६६० ई० पू० से ५८३ मानते हैं। कुछ लेखक उन्हे हिब्रू लोगो के पूर्व पुरुष अब्राहम का साथी मानते हैं।

बाईबिल के अनुसार वह समय ईसा से १९२० वर्ष पूर्व बैठता है। बेबीलोन के इतिहासज्ञ वेरोसस भी उन्हे दो हजार ई० पू० उत्पन्न हुआ मानते है। विल डूराट का मत भी विलियम जैक्सन से ही मिलता-जुलता है। उनका कथन है—"सम्राट विश्तस्य, जिन्हे गुश्तशप भी कहा जाता था, दारा का पिता मान लिया जाय, तब उन का समय ६ठी ई० पू० मानना चाहिए। परन्तु सम्राट विश्तस्य बाल्त्री (बैक्ट्रिया) का सम्राट था। उसके दारा के पिता होने का कोई प्रमाण नही। अत उनका समय अभी तक भी अनिश्चित ही है। भारतीय दन्त-कथाओ मे व्यासजी के ईरान जाकर उनसे शास्त्रार्थ का वर्णन अवश्य आया है। यदि वह घटना सत्य है तो जरथुस्त्र का काल ५ हजार वर्ष बैठता है। **कवरद्दीन यष्ट** के १६वे प्रकारण मे लिखा है कि पारसी धर्म का प्रवर्तक जरथुस्त्र महात्मा गौतम से पहले हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि ईरानियो को गौतम के बारे मे ज्ञान ही नही, अपितु यह नाम ईरान मे काफी प्रचलित था। गौतम का जन्म ईसासे ६०० वर्ष पहले हुआ। अत जरथुस्त्र का बहुत पहिले होना निश्चत ही है।

सर विलियम जोन्स ने एक बार कहा था—"जब मैंने अवस्था के शब्दो का अनुशीलन किया, तब मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उसके दस शब्दो मे से सात शब्द शुद्ध सस्कृत भाषा के हैं।" डॉ० **हाग** का कहना है कि चाहे वेद और जन्दावस्था एक प्रकार के न हो, तथापि उनमे इतना अधिक साम्य है कि जो व्यक्ति सस्कृत का थोडा भी ज्ञान रखता है, वह उसे सरलता से समझ सकता है। जन्दावस्था की छन्द रचना वेदो से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। जैसे छन्द ईरानी गाथाओ मे हैं, उसी प्रकार के छन्द वैदिक मत्रो मे हैं। वैदिक कालीन हिन्दू आर्य थे। जन्दावस्था से ज्ञात होता है कि इस धर्म के अनुयायी भी आर्य ही कहे जाते थे। उनके हिन्दू होने मे भी सन्देह नही।

वैदिक आर्यों की भाति इस धर्म के भी चार वर्ण थे (१) होरिस्तान (पुरोहित), नूरिस्तान (योद्धा), (३) रोजिस्तान (उद्योग और कृषि करने वाले) और मोरिस्तानान सेवा करने वाले अर्थात शूद्र।

पारसियो मे भी आर्यों की भाति यज्ञोपवीत धारण करने का विधान अत्यन्त रोचक है। यज्ञोपवीत को वह "**कुस्ती**" कहते है। वर्णन आता है कि **जरथुस्त्र** ने मज्दा से पूछा—"किस अपराध के कारण अपराधी मृत्यु दण्ड पाने योग्य होता है?" अहुरमज्दा ने उत्तर दिया—"**निकृष्ट धर्म और मत की शिक्षा देने से। जो कोई तीन वसन्त ऋतुओं तक पवित्र सूत्र (कुस्ती) नही धारण करता, गाथाओ का पाठ और पवित्र जल की प्रतिष्ठा नहीं करता इत्यादि।**"

पारसियो मे लडके को "कुस्ती" सातवें वर्ष मे दी जाती थी और यही समय आर्यों मे भी बच्चे को यज्ञोपवीत देने का है। अत स्थान-भेद के उपरान्त भी इस सस्कार की चाल दोनो धर्मों मे चलती रही।

इनका विवाह पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे हो गया था। कुछ समय बाद ही यह गृहस्थी के मायाजाल से ऊब कर तपस्या करने चले गये। पन्द्रह वर्ष तक इन्होने तपस्या की। इसके बाद वह इस विश्वास के साथ घर लौट आये कि दैवी-शक्तियों की प्राप्ति परिवार मे रहकर भी हो सकती है।

विरोध और प्रचार—अपनी धर्मपुस्तक जन्दावस्था मे इन्होंने लिखा है—"मजदाओ सरवारे महरोश्तो।" (गाथा २९। ८) अर्थात केवल मज्दा ही एकमात्र उपास्य देव है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई देवता उपासना के योग्य नही। उनके इन्ही विचारो का ईरान मे विरोध हुआ। केवल उनके एकमात्र भतीजे को छोडकर अन्य कोई व्यक्ति उनका अनुयायी नही हुआ। ईरान का शासकवर्ग और पुरोहित वर्ग—दोनो ही उनके शत्रु हो गये।

कुछ वर्षों बाद बाख्त्री (बैक्ट्रिया) का राजा विश्तस्प उनके इस सिद्धान्त का अनुयायी बना। वह अपने समस्त राज्य कर्मचारियो सहित इनके मत मे दीक्षित हो गया। इस कारण कुपित होकर ईरान के बादशाह ने बाख्त्री राज्य पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध मे ईरानी सम्राट की हार हुई। सम्राट की हार का कारण भी अहुरमज्दा मे विश्वास न होना माना गया। फलत सारे ईरान मे जरथुस्त्र का धर्म फैल गया।

कुछ सौ वर्षों के पश्चात् इस पारसी धर्म की भी वही दशा हुई, जो दशा भारत मे बौद्ध धर्म की हुई थी। इस्लाम की आंधी ने इस धर्म की जडो को खोद डाला। सारा देश मुसलमान हो गया। केवल कुछ लाख ईरानी, ईरान छोडकर भारत के पश्चिमी तट के नगरो में आ बसे। यह लोग सन् ७१७ के लगभग आर्मुज बन्दर से चल दिये। भारत मे काठियावाड-प्रान्त के निकट दिव बन्दर मे आकर वे पहले-पहल उतरे। वहाँ वे कुछ वर्षो तक रहे। परन्तु जब देखा कि हम यहाँ भी शान्तिपूर्वक अपने दिन नही व्यतीत कर सकते तब वे फिर जहाज मे बैठकर दक्षिण की ओर चल पडे। इसके बाद किनारे-किनारे चलकर गुजरात के सजान बन्दर पर आकर उतरे। मार्ग में वे बड़े भारी तूफान मे फँस गये थे। उस समय कुछ भावुक और भक्त पारसियो ने यह मानता मानी कि यदि हम सुरक्षित रूप से जमीन पर जा उतरेंगे, तो अपनी पवित्र अग्नि को, जो बुझ गयी है, फिर विधिपूर्वक प्रज्वलित करेंगे। इस पर थोडी ही देर बाद तूफान शान्त हो गया और आकाश पहले की भाँति स्वच्छ हो गया। उस समय गुजरात मे एक राजपूत राजा राज्य करता था। उसने पारसियो को अपने राज्य मे बसने के लिए आज्ञा दे दी और एक शर्तनामा लिखकर उनके अधिकारो को निश्चित कर दिया। इस शर्तनामे के अनुसार उनको शस्त्र रखने का निषेध किया गया, उनके पहनावे का स्वरूप निश्चित कर दिया गया और यह बात भी जान ली गई कि उनकी धर्म-विधियाँ और सामाजिक उत्सव किस प्रकार मनाये जाते हैं। लगभग सात सौ वर्ष

तक पारसी लोग उस राजा के राज्य मे सुखपूर्वक रहे। इस समय मे उनकी सख्या भी खूब बढी और उनके वैभव की भी वृद्धि हुई। पर उनके दुर्भाग्य ने फिर उनको कष्ट दिया। अहमदाबाद के मुगल-सूबेदार मुहम्मद बेगडा ने सजान प्रान्त के राजा पर चढाई करदी और उसको पराजित करना चाहा। राजा ने पारसी लोगो को शस्त्र देकर युद्ध पर भेजा। पारसियो ने अपने शूर सेनापति आर्देमर की अधीनता मे तीन बार मुगलो की सेना को मार भगाया, पर चौथी बार हारकर पारसियो को सजान-प्रान्त छोडकर भाग जाना पडा। इसके बाद उन्होने नवसारी और उद्वाडा मे अपनी बस्तियाँ बसाई। सन् ७२० मे उन्होंने जो अपनी पवित्र अग्नि सजान मे विधिपूर्वक प्रज्वलित की थी, वह आज लगभग बारह सौ वर्ष से बराबर उद्वाडा मे जल रही है। इसका नाम है सच्चा अग्निहोत्र।

पारसी लोग जिस समय सजान बन्दर मे आये उस समय वहाँ जाडेराना(जय-देव राना) राज्य करता था। उसके राज्य मे बसने के लिए उन्होंने एक प्रार्थनापत्र दिया था। उस प्रार्थनापत्र मे पन्द्रह सस्कृत श्लोक भी थे। इन श्लोको मे पारसियो के मोबेदो (पुरोहितो) ने अपने धर्म और रीति-रिवाज इत्यादि बातो का उल्लेख किया है। इन श्लोको का अनुवाद नीचे दिया जाता है—

(१) जो प्रतिदिन सूर्य, पचमहाभूत और त्रिभुवन की, सुराधीश होरमज्द और नैगमत्रो के द्वारा, त्रिकाल पूजा-अर्चा करते हैं, वे हम शौर्य-वीर्य-धैर्यादि गुणो से युक्त और दयाशील पारसी लोग है।

(२) हम अपने धर्म की आज्ञा के अनुसार हवन, स्नान, ईश्वर चिन्तन, स्वाध्याय, भोजन और मल-मूत्र-विसर्जन, इन सात अवसरो पर मौन धारण करते हैं। हममे से जो सम्पन्न होते हैं वे दानशूर होते है और सुगन्धित काष्ठ, पुष्प तथा स्वादिष्ट, फलो से अग्नि की पूजा करते हैं। ऐसे हम शौर्यवीर्य इत्यादि-इत्यादि।

(३) जो शरीर मे कुर्ता पहनकर उस पर कमर मे ऊनी तागो की पवित्र मेखला धारण करते हैं और सिर पर दुकोनी टोपी लगाते है वे हम गौरवर्ण, धैर्यवान पारसी लोग है।

(४) विवाह-समारम्भ, अन्य उत्सव और सदैव के त्योहारो के दिन हम गायन-वादन इत्यादि से आनन्द मनाते हैं। ऐसे अवसरो पर हमारी कन्याएँ श्रीखड चन्दन और अन्य सुगन्धित द्रव्यो के उबटन शरीर मे लगाती है। हमे अपने धर्म पर, जो कल्याणदायक विधियो से परिपूर्ण है, अटल श्रद्धा है। ऐसे हम गौरवर्ण इत्यादि।

(५) हम अपने घरो को स्वच्छ रखकर उनमे स्वादिष्ट अन्नो का सग्रह करते है। सुपात्र भिक्षुको को हम वापी-कूप-तडागादि का उदक अर्पण करके धन, बसन, इत्यादि से उनका सम्मान करते हैं। ऐसे हम इत्यादि।

(६) सुख-दु ख, भयाभय, ज्ञानाज्ञान, सुगुण-दुर्गुण, न्यायान्याय, आरोग्य-व्याधि, प्रकाशान्धकार, उत्पत्ति-विनाश इत्यादि द्वद्व जिस प्रकार विश्व की रचना मे पाये जाते हैं, वैसे ही परस्पर विरोधी द्वद्व हमारे धर्ममत मे भी है। ऐसे हम इत्यादि।

(७) गोमूत्र को अभिमन्त्रित करके, उसका त्रिवार पान करके हम अपने शरीर की अन्त शुद्धि करते हैं और इस प्रकार अन्त शुद्धि तथा वाह्यशुद्धि कर नेके वाद हम अपनी मेखला फिर धारण करते है। मेखला धारण किये विना जप, ध्यान, होम इत्यादि कर्म करने के लिए हमको अपने धर्म का प्रतिवन्ध है। ऐसा हमारा आचार है। वे हम इत्यादि।

(८) वेश्यागमन का हमारे धर्म मे तीव्र निषेध है। हम अपने पूर्वजो को पूज्य मानकर उनका श्राद्ध करते हैं। अग्नि को अर्पण किये विना हम मास भक्षण नही करते। हमारी स्त्रियाँ अस्पृश्यावस्था और प्रसूतावस्था मे पृथ्वी पर सोती है। हमारे विवाह सुमुहूर्त पर होते है, और गतभर्तृका स्त्रियो को हम शुद्ध नही मानते। ऐसे हम इत्यादि।

(९) हमारी स्त्रियाँ प्रसूत होने के वाद चालीस दिन तक रसोई नही वनाती और स्नान भी नही करती। उन दिनो वे भाषण और निद्रासेवन मे परिमित रहती हैं। ऐसी हमारी जाति उच्च और सर्वमान्य है।

(१०) छ महीने के सूखे हुए काष्ठ हम अग्नि को अर्पण करते है। मलयागिरि-चन्दन, अगर और धूप से हम रोज पाँच वार अग्नि-पूजा करते हैं। अग्नि को हम एक बडे ढक्कन से ढाँककर रखते हैं, जिससे उस पर सूर्य की किरण न पडें। हमारी वासनाए सदा शुद्ध रहती हैं। ऐसे हम इत्यादि।

(११) हम अपने गुरुओ के उपदेश के अनुसार और अपने धर्म की आज्ञा के अनुसार कमर के अन्त मे मेखला धारण करते हैं हमे उसको धारण करने से गगा-स्नान का फल प्राप्त होता है। ऐसे हम इत्यादि।

(१२) हम यश, धर्मभाव और सद्वासना देने वाले होरमज्द प्रभु का ध्यान करते हैं, जिससे हमको अन्न का दुख नही होता। ऐसे हम इत्यादि।

(१३) हम अपनी स्त्रियो को मासिक धर्म के बाद सात दिन मे और प्रसूत होने के वाद एक महीने मे शुद्ध मानते हैं। हम सुन्दर वस्त्र पहनते हैं। ऐसे हम गौर-वर्ण इत्यादि।

(१४) पापक्षालनार्थ हम पश्चात्तापपूर्वक गोमूत्र से स्नान करके नौ दिन तक पचगव्य का सेवन करते है। इसके बाद हम शुद्ध होते हैं। गुरुपदेश हम सदैव ध्यान मे रखते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। ऐसे हम इत्यादि।

(१५) जिस ऋषि ने परमेश्वर की स्फूर्ति से ये विधियाँ मनुष्यमात्र के लिए वतला दी हैं उसी ने ऐसा आश्वासन दिया है कि जो लोग इन विधियो का पालन करेंगे उनका अक्षय कल्याण होगा, और इस वात पर हमारा दृढ विश्वास है कि इन विधियो के पालन करने वालो को स्वर्ग मे स्थान मिला है। उनके लिए भक्त पारसी-जन चन्दन और दाल का आवाहन करते हैं।

राना जयदेव का उत्तर

श्रद्धापूर्वक होरमज्द प्रभ के पन्थ पर चलने वाले लोगो का स्वागत हो!

हो उनकी जाति की वृद्धि हो। उनकी प्रार्थनाओ से उनके पापो का क्षालन हो। लक्ष्मी उनको धनधान्य की समृद्धि देकर उनकी इच्छाओ को परिपूर्ण करे। और जिन शारीरिक और मानसिक गुणो से वे इस समय भूषित हैं, उन्ही गुणो से सदैव भूषित रहे।

अवस्था की भाषा और रूपरेखा—पारसी लोगो का सम्पूर्ण ग्रथ—जन्दावस्था प्रारम्भ मे केवल **अवस्था** नाम से ही विख्यात था। जिसका अर्थ है—मत्र अथवा ज्ञान। कालातर मे इसके मत्रो के साथ गद्यात्मक व्याख्यान जोडे गए, जिन्हे जन्द (छन्द) कहते हैं। अत दोनो भाग मिलकर जन्दावस्था कहलाए। अरब इतिहासकारो के अनुसार मूल अवस्था १२००० बैलो की खालो पर स्वर्णिम अक्षरो मे, २१ भागो मे लिखा हुआ था। इस ग्रथ की भाषा और ईरानी सम्राटो की भाषा मे कोई सामजस्य नही। ग्रन्थ की भाषा ऋग्वेद की भाषा की अपभ्रश भाषा जैसी है। यही नही, दूसरे धर्म ग्रथो—विस्पेरद, वेन्दिदाद तथा यश्त आदि धार्मिक ग्रथो की भाषा भी, ऋग्वेद की अपभ्रश भाषा ही है।

दारा के पतन के समय पर्सिपोलिस के महल मे रखे, इनके सभी मूल खण्ड नष्ट कर दिये गये। केवल एक ही खण्ड या **नस्क** शेष रहा, जिसे 'वेन्दिदाद' के नाम से अलग पुस्तक बना लिया गया। शेष टुकडो को सग्रह करके 'दिनकर' और 'बुन्दाशिह' नामक ग्रथ बनाये गये।

सम्राट् विश्तस्थ ने मूल अवस्था की नकले करवाई थी। जिनमे से एक नकल दारा के पर्सिपोलिस महल मे सिकन्दर ने जलाकर नष्ट कर दी। दूसरी पुस्तक यूनानी उठाकर अपने साथ ले गए थे। जिसके अनुवाद से विज्ञान मे उन्हे काफी सहायता मिली। ईसा की तृतीय शताब्दी मे, असीशीद वश के पार्थिया सम्राट् वोलोजेसस पचम ने, इन सब बिखरे हुए हिस्सो को एकत्र कर मूल अवस्था को वर्तमान रूप देने की चेष्टा की। चौथी शताब्दी मे इसको स्थायी रूप प्राप्त हो गया और ईरानी राज्य का **राज्य-धर्म** पुन वही माना गया, परन्तु ७वी सदी के मुस्लिम आक्रमण से **अवस्था** का यह व्यवस्थित अक भी नष्ट हो गया। उसके पश्चात जो कुछ बचा, उसे पुन. ५ भागो मे पृथक्-पृथक् रूप से भी और सम्मिलित भी एकत्र करके पुस्तके बनाई गई। यह पुस्तके अथवा भाग हैं—(५) **यस्न**—इसमे ७२ भाग अथवा अध्याय है। इनमे ४५ अध्याय मत्रो के है और २७ अध्याय गाथाओ के है। इसके अध्यायो को 'हो' कहा जाता है और इनकी सख्या के आधार पर ही **कुस्ती** मे ७२ ऊन के डोरे लगाये जाते है। इसके भीतर २७ सूक्तो मे विक्त जरथुस्त्र के निजी वचन अथवा उपदेशो को गाथा कहा जाता है। यह ग्रथ यज्ञ पूजा अर्थात पूजा विधान का प्रतिपादित ग्रथ है। (२) **विस्पेरेद**—इसमे मत्रो के ऊपर २४ अध्याय सग्रहीत है। (३) **वेन्दिदाद** इसमे २२ अध्याय या फरगद है। जिनमे जरथुस्त्र की नैतिक शिक्षाओ का सग्रह है। इनमे जरथुस्त्र ने तीन नैतिक सिद्धातो का विशेष प्रतिपादन किया है। यथा १—कृषि और पशु-पालन सर्वोत्तम कार्य बताया। (२) ससार की भलाई बुराई को युद्ध क्षेत्र

बताया है। (३) चार तत्त्वों—वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी को अत्यन्त पवित्र मानते हुए उन्हे अपवित्र न करने की आज्ञा दी है। वास्तव मे इन्ही नैतिक सिद्धान्तो का पारसियो के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पडा। इन सिद्धान्तो ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति को नैतिकता की शृखला से बाँध दिया। अत पारसियो का मूल मंत्र था—'उसी का स्वभाव अच्छा है जो दूसरो के प्रति वह व्यवहार नही करता, जो वह स्वय दूसरो से अपने प्रति न करने की आशा करता है।" अत अवस्था के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य है—शत्रु को मित्र बनाना, शैतान को सत्यवादी बनाना, अपढ को पढाना (४) यस्त इसमे देवदूतो की प्रसशा मे २१ गाथाएँ हैं, साथ ही प्रागैतिहासिक कथाएँ और 'प्रलय' के बारे मे भी सक्षिप्त वर्णन है। (५) खोदी या छोटा अवस्था—इसमे जीवन के भिन्न-भिन्न अवसरो पर की जाने वाली प्रार्थनाओ का वर्णन है।

धार्मिक शिक्षाएँ—**अवस्था** मे स्थान-स्थान पर मनुष्य को दूसरो के प्रति दया और उदारता प्रदर्शित करने की आज्ञा दी है, साथ ही कर्म तथा वचन से ईमानदारी प्रकट करना मनुष्य का गुण माना है। पारसियो को रुपये पर सूद न लेने की आज्ञा दी है। परन्तु उधार लेने वालो को भी उधार को पवित्र वस्तु मानकर लौटाने की आज्ञा है। जरथुस्त्र धर्म को न मानने वालो को कठोर दण्ड देने का विधान है। मुसलमानो की भाँति पारसी धर्म मे भी अन्य मतावलम्बियो को 'काफिर' कहा गया है।

यूनानी इतिहासकार हेरोडेट्स का कथन है—'पारसी लोग अपने को ससार मे सबसे श्रेष्ठ जाति मानते हैं। उनकी धारणा है कि उनके पडौसी देश कुछ सभ्य हो गये है, किन्तु जो देश दूर है, वह नितान्त जगली हैं।"

धार्मिक विधि-विधान—ऋग्वेद मे वर्णित आर्यों के देवता 'इन्द्र' की भाँति ही पारसियो के देवता **अहुरमज्द** माने गये है। इनके सात गुण माने गये हैं। वह प्रकाशयुक्त, स्वच्छ बुद्धि वाला, न्यायपूर्ण, दयालु, सुखी और स्वस्थ जीवन देने वाला अजर-अमर प्रभु है। बैहिस्तून से प्राप्त दारा (प्रथम) के शिलाचित्र मे, अहुरमज्द को एक योद्धा के रूप मे चित्रित किया गया है। जिसका नीचे का अर्द्ध भाग पक्षियो की पूंछ जैसा है। सर साइक्स ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री ऑफ परशिया" मे, अहुरमज्द का यह रूप असीरियन देवता **असुर** से लिया गया बताया है। इस देवता की पूजा के लिए ईरानियो ने असीरियनो की भाति मदिरो का निर्माण नही किया था। वह लोग अग्नि को अहुरमज्द का पुत्र मानकर, अग्नि की ही पूजा करते थे। अत अग्नि की पूजा के लिए पहाडी के ऊपर, शहरो के मध्य भाग मे घरो पर अग्नि की वेदियाँ बना कर पूजा करते थे। अब भी पारसियो के घरो मे (आतस) अग्नि की पूजा की जाती है। पवित्र अग्नि को प्रत्येक घर और मदिर मे प्रज्ज्वलित रखा जाता है। भारतीय आर्यों मे भी अग्नि को देवताओ का दूत माना जाता था। विश्वास किया जाता था कि यज्ञ मे जो बलि या हवि देवताओ को अर्पित की जाती है, वह अग्नि देव के द्वारा ही उन तक पहुँचती है। अत भारतीय आर्य भी अपने घरो मे पवित्र अग्नि को प्रज्ज्वलित रखते थे। आर्य जाति के घरो मे अग्नि प्रज्ज्वलित रखने का कार्य सधवा

महिलाओ के जिम्मे रहता था। ईरानी आर्य भारतीय आर्यो की भाँति सूर्य की भी पूजा मिथ्र के नाम से इस विश्वास के आधार पर करते थे कि यह प्रकाशमान सूर्य देवता अहुरमज्द का ही एक रूप है। अत अहुरमज्द, अग्नि और सूर्य के लिए पशुओ का बलिदान किया करते थे।

देवताओं का बाहुल्य—महात्मा जरथुस्त्र पूर्ण एकेश्वरवादी थे। कर्म मे उनकी आस्था थी। ज्ञान और भक्तिमार्ग के समर्थक वे पूर्ण अद्वैतवादी थे। कुछ लोगो ने भगवान अहुरमज्द के अतिरिक्त उन्हे अहिमान का भक्त भी बताया है, किन्तु उनके सूक्त (येय) इस कथन का खण्डन करते है। परन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके एकेश्वरवाद की भावना ईरानी समाज मे फिर स्थायी न रह सकी। अहुरमज्द के उपासको ने उनके सात गुणो को सात पवित्र आत्माएँ मानकर पूजा करनी आरम्भ कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने उनके दूतो की कल्पना करके भी उपासना करनी शुरू कर दी। दूसरे शब्दो मे प्रकृति के विचित्र प्रतीको को भी यह देवता मानने लगे।

उसका विश्वास था कि पवित्र आत्माएँ और देवदूत मनुष्य को सत्य मार्ग पर ले जाते हैं। इनके साथ ही इनके सात देव या शैतान-विरोधी भी है, जो मनुष्य को पाप कर्म करने के लिए प्रेरित करते है। इन शैतानो का नेता **अहिमन** है। इसका राज्य पाताल लोक या यमलोक मे है। इन्ही के षड्यत्र से उस स्वर्ग का ध्वस हुआ, जिसमे अहुरमज्द ने मानव जाति के पिता को सुरक्षित रखा हुआ था। अत अहुरमज्द और अहिमान मे सदा से ही सघर्ष चलता आया है। यह सघर्ष झूठ-सच, पुण्य-पाप, प्रकाश-अधकार, स्वस्थ-अस्वस्थ का सघर्ष है।

पारसी लोगो का विश्वास है कि दोनो का यह सघर्ष चार युगो तक चलेगा। उन्होने एक युग ४ हजार वर्ष का माना है। इन युगो मे कभी एक युग की विजय होगी, कभी दूसरे की विजय होगी। परन्तु अत मे अहुरमज्द की ही विजय होगी। अहिमन की शक्ति समाप्त हो जायगी। उस समय सभी अच्छे व्यक्तियो की अहुरमज्द से स्वर्ग मे भेट होगी और दुष्ट व्यक्तियो को नर्क मे सडना पडेगा। वहाँ वे विष का आहार करेगे। उनकी कल्पना यही तक नही रुकी। शनै शनै उनकी धारणा हो गई कि भिन्न वस्तुओ के अधिष्ठाता अवश्य ही अलग-अलग हैं। अत शक्तिमान अमेस-स्पन्द और उनके अन्तर्गत यजता अर्थात निम्न देवता भी पूजे जाने लगे।

धर्म-सस्कार—अपनी धार्मिक आस्थाओ के आधार पर ही ईरानी आर्य अपने धर्म सस्कार करते थे। महिलाओ को सदैव सर ढके रहने का आदेश था। तथा बालिकाओ की आयु १५ वर्ष की होने पर, उन्हे **सुदरेह** और **कुस्ती** देना अनिवार्य था। सुदरेह उजले कपडे का बनाया जाता था, क्योकि उजला रग पवित्रता का द्योतक है। इस कारण प्रत्येक पारसी के लिए इसका धारण करना आवश्यक था। इस अवसर पर रेशमी वस्त्र इसलिए धारण नही किया जाता था कि उससे समाज मे असमानता फैलती थी।

कुस्ती धारण करने वाले को निर्दोष माना जाता था। कुस्ती की तीन भावरें

कमर मे बाँधनी पडती थी, जिसका अर्थ हुमता अर्थात् उत्तम विचार, हुक्टा अर्थात् उत्तम वचन और हुवर्तता अर्थात् उत्तम कार्य के भावो को व्यक्त करते थे। कमर मे बाँधने का अभिप्राय यह भी था कि जिस भाँति देश-रक्षा के लिए योद्धा तत्पर रहता है, उसी भाँति धर्म-रक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए। कुस्ती धारण के अवसर पर प्रार्थनाएँ की जाती थी। जिनका लक्ष्य कर्तव्य और धर्म मे आस्था रखकर दृढ रहना था। भगवान अहुरमज्द की दिन मे कई बार आराधना की जाती थी। आराधना से पूर्व हाथ-मुँह धोना अनिवार्य था। उस समय अधिकतर पूजा घर पर ही होती थी। जरथुस्त्र की मृत्यु के उपरान्त मन्दिर भी बनने लगे थे।

वैवाहिक-पद्धति—पारसी समाज मे अविवाहित रहना, निन्दनीय माना जाता था। विवाह पुरोहित द्वारा सम्पन्न होता था। पुरोहित तीन बार घोषणा करता था कि "विवाह इन दोनो की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है।" गवाहो और अविभावको की सम्मति भी तीन बार ली जाती थी। जब तक विवाह सस्कार होता रहता था (या अब भी होता रहता है) तब तक वर-वधू पर चावल (अक्षत) बरसते थे। जो भावी सुख के द्योतक माने जाते हैं। इनमे बहु-विवाह प्रचलित था।

अतिम सस्कार—पारसी लोग नये कपडे को कफन के लिए प्रयोग मे नही लाते थे। शव को पेड पर टागकर पक्षियो को खिलाने की प्रथा थी। शव के लिए स्थान—दोखमा बनाये जाने लगे है।

जन्मजात पुरोहित—पुरोहित वर्ग जन्मजात ही होता था। पुरोहित के पुत्र को "ओस्ते" और कन्या को 'ओस्ती' कहा जाता था। यदि पुत्र रुग्ण न हो, तो पुरोहित बन सकता था। परन्तु उसके लिए अवस्था को कंठस्थ कर लेना अनिवार्य था। पुरोहित बनने के लिए छ महीने तक दीक्षा दी जाती थी। दीक्षा के बाद ही उसे 'ईरवद' अर्थात पुरोहित कहा जाता था। प्रधान पुरोहित को 'दस्तूर' कहते थे। केवल पुरोहित को ही मन्त्रोच्चार का अधिकार था। अनाथालयो को दान देना तथा गरीबो को 'वाज' अर्थात दान देना पवित्र कर्म माना जाता था।

स्वर्ग नर्क की कल्पना—वैसे तो पारसी लोग 'जैसा करेगा, वैसा भरेगा' मत के अनुयायी थे। परन्तु स्वर्ग-नर्क की कल्पना भी उन्होंने की थी। उनके मृत्यु के देवता यम का नाम 'अस्तिविदाद' था। पारसियो का विश्वास था कि इनके चगुल से किसी मानव का बचना कठिन है। एक दिन सभी को मरना है। मरने के पश्चात आत्मा को एक पुल को पार करना होता है। महान आत्माएँ स्वर्ग चली जाती हैं। वहाँ सुन्दर रमणियाँ उनका स्वागत करती हैं। दुष्ट आत्माएँ नर्क मे जाती हैं। अपने पापो का फल भोगने के बाद ही वे स्वर्ग जाती हैं। ऐसी आत्माओ को, यदि उन्होने भलाई का भी कोई कार्य किया होगा। तब भी १२ हजार वर्ष तक नर्क मे रहना पडेगा। ऐसी दुष्ट आत्माओ के निस्तारे के लिए जरथुस्त्र एव उसके तीन पैगम्बर ३ हजार वर्ष की अवधि मे पैदा होकर धर्म प्रचार करेंगे। १२ हजार वर्ष पश्चात जब अहिमन की समस्त शक्तियाँ कुठित हो जाएगी, तब अहुरमज्द आत्माओ का

निर्णय करेगे। सभी आत्माएँ पुन जन्म ग्रहण करेगी। विश्व से सभी प्रकार की बुराई दूर हो जायगी। सत्य का राज्य होगा।

सभवत ईसाइयो के और मुसलमानो के अतिम फैसले के दिन की कल्पना का आधार पारसी धर्म का विश्वास ही है और पारसियो की स्वर्ग-नर्क की कल्पना भारतीय आर्यो की देन है।

राज्य द्वारा सरक्षण—दारा (प्रथम) के समय यह धर्म खूब फूला-फला। परन्तु दारा की उदारवृत्ति के कारण अहुरमज्द की उपासना के साथ-साथ मिथ्र (सूर्य) और अनैता देवी की उपासना भी वढ गई। सम्राट् अक्ष्यर्ष के लेखो मे भी उपर्युक्त देवताओ के नाम पुन लिखे जाने लगे। सूर्य की पूजा इतनी व्यापक हो गई कि लोग अहुरमज्द को भी भूल गए।

जरथुस्त्र की मृत्यु के उपरात प्राचीन पुरोहितवर्ग—मागी—सम्प्रदाय जिन्हे 'बुद्धिमान-जन' भी कहा जाता था, पुन शक्तिशाली हो उठे। इन लोगो का प्रभाव जनता और शासक दोनो पर था, किन्तु यह अपना जीवन अत्यन्त कठोर और पवित्र व्यतीत करते थे। रहन-सहन सरल था। यहाँ तक कि विदेशी लोग भी इन पर श्रद्धा रखते थे। प्रत्येक ईरानी सम्राट् इनका शिष्य होने पर गौरवान्वित होता था। राज-काज मे इनकी सलाह लेना वह अपना अनिवार्य कर्तव्य समझता था।

इन लोगो ने देव-उपासना से लेकर, तत्र-मत्र, नक्षत्र विद्या, भविष्यवाणियाँ स्वप्न-सार सभी पर अधिकार कर लिया था। परन्तु सासानी वश के शासनकाल के समय यह धर्म पुन चमक उठा। उनके पतन के पश्चात इस धर्म का पुन पतन होना प्रारम्भ हो गया और इस वार **सूर्य देवता** की पूजा एक युवा देव के रूप मे की गई जिसके मस्तक पर ज्योतिमण्डल था। सूर्य के इसी रूप की पूजा रोम मे भी की गई। साधारण जनता जरथुस्त्र के आदेशो की अपेक्षा टोने-टोटको मे अधिक विश्वास करने लगी थी। इसके पश्चात मुसलमानी आक्रमण ने इस धर्म की कमर विल्कुल ही तोड दी। अत आज अग्निपूजक आर्य ईरानी या तो १ लाख के लगभग भारत मे है अथवा कही-कही ईरान के फर्स प्रान्त मे उनके दर्शन होते है।

जरथुस्त्र धर्म का समाज पर प्रभाव—जरथुस्त्र धर्म ने ईरानी समाज पर वहुत सुन्दर प्रभाव डाला। ईरानी जनता मे उसने दयालुता और नेक-कर्म करने की विचार-धारा कूट-कूट कर भर दी। मानव-चरित्र के निर्माण मे उसने अपूर्व सहयोग दिया। वस्तुत दरिद्रनारायण की सेवा करके समाज को सगवत वनाना ही उसका ध्येय था। यह सत्य है कि ईरानी सम्राट अपने शत्रुओ के साथ अत्यन्त निन्दनीय व्यवहार करते थे। परन्तु जनसाधारण मे इस क्रूरता का लेशमात्र भी प्रचलन नही था। उनका चारित्रिक गुण सदैव सजग रहता था। ईरानी सम्राट लोग अपनी ओर से कभी सधि भग नही करते थे। एक ईरानी, दूसरे के प्रति कभी शस्त्र धारण नहीं करता था, जैसे कि द्वन्द्व-युद्धो के नाटक रोम सम्राज्य मे होते थे, ईरानी साम्राज्य मे नही हुए। वहाँ कत्लेआम की घटनाएँ राजमहलो मे अवश्य होती रहती थी। ईरानी

समाज की सबसे बडी विशेषता यह थी कि वह दूसरे देश के शासक के सैनिक होकर कभी अपने देशवासियो से नही लडे ।

ईरान का असीशीद राजवंश और उसका शासन-काल (२४८ ई० पू० से २२६ ई० तक)

ईरानी सम्राट दारा तृतीय के ३३१ ई० पू० सिकदर द्वारा पराजित होकर मरने के उपरान्त, समस्त ईरानी साम्राज्य को पहिले तो यूनानी राज्य के अतर्गत सिकदर ने सम्मिलित करके अपने पदाधिकारी नियत कर दिये, परन्तु सिकदर का यह स्वप्न केवल सात वर्ष तक ही चल सका । आठवे वर्ष ही ३२३ ई० पू० भारत से लौटते समय बेबीलोन मे उसकी मृत्यु हो गई और उसके मरते ही यूनानी साम्राज्य का शीराजा बिखर गया । यूनान सहित ईरानी साम्राज्य को भी उसके सेनापतियो ने बाँट लिया । ईरान का अधिकाश भाग पार्थिया प्रात सहित, सिकदर के सेनापति सैल्युकस के हिस्से में आया । उसने अपने राज्य मे क्षत्रपो की ईरानी परपरा कायम रखी, परतु सैल्युकस न दारा ही बन सका और न सिकदर ही । भारतीय सम्राट् चद्रगुप्त मौर्य के साथ एक ही युद्ध मे उसकी सारी शक्ति क्षीए हो गई । फलत अपने जीवन काल तक तो वह चद्रगुप्त का श्वसुर बनकर उसकी मित्रता के बल पर राज्य को सँभाले रहा, किंतु उसके उत्तराधिकारियो मे कोई इतना योग्य व्यक्ति नही हुआ जो उसके राज्य को सँभाले रखता । परिणामस्वरूप यूनानी सैल्युकस से ईरानियो ने पुन २४८ ई० पू० पार्थिया छीन लिया और ईरान मे एक नये ही राजवश की नीव डाल दी । इतिहास मे ईरान का यह राजवश अशीसीद राजवश के नाम से विख्यात हुआ ।

असीशीद राजवश का जन्म—पहिले ही बताया जा चुका है कि भारत मे आर्यों की कई जातियाँ ईरान और यूनान जाकर बस गई थी । ईरान मे बसने वाली आर्यन जातियो मे "दाहि" अथवा "दाहिया" नामक एक जाति भी थी, जो वणिक कहलाती थी ।

इन जातियो ने ईरान मे जाकर व्यापार-व्यवसाय, पशु-पालन और कृषि कर्म-करते हुए अपने नगर राज्य भी स्थापित कर लिए थे । मूलत अक्ष्यर्ष, सम्राट् दारा आदि और इनकी वश-वेलि एक ही थी । कालातर मे वश (गोत्र) पृथक्-पृथक् हो गये और उसी नाम से यह पुकारे गये । उदाहरणार्थ अक्ष्यर्ष सम्राटो का वश हुक्मनीषी वश के नाम से विख्यात हुआ और दाहिया जाति का असीशीद वश के नाम से । स्वयं असीशीद राजवश के सम्राटो ने अपने को भी हुक्मनीष वश की वेलि का ही बताया है । उनके वश का असीशीद नाम पडने का कारण यह भी हो सकता है कि इनका निवास स्थान 'असक प्रान्त' था । इसी कारण इन्हे असीक, असीश नाम से पुकारा गया होगा । पश्चात यही नाम असीशीद हो गया । स्वय सम्राट् आर्त अक्ष्यर्ष द्वितीय का वास्तविक नाम असीशीश था । इसके पिता हिरसैनिया (पार्थिया) के छत्रप थे । छत्रप उन्ही लोगो को बनाया जाता था, जो व्यक्ति सम्राट् के कुल या जाति के होते

थे। भारत मे ईरान को उन दिनो "पारस" नाम से पुकारा जाता था।

अस्तु, दाहिया नाम की यह आर्यन जाति की शाखा कैस्पियन सागर के पूर्व मे, वर्तमान या भूत—तुर्कमान मे रहती थी और सिकदर के आक्रमण के समय इस जाति के लोग दारा की सहायतार्थ लडे थे। इसी जाति के नेता असीशीस ने जो इतिहास मे असीस प्रथम के नाम से विख्यात हुआ, २४८ ई० पू० सैल्युकस के राज्य के एक भाग पर, जिसे वर्तमान मे असाक प्रात कहा जाता है, अपने भाई तिरिदत्त की सहायता से आक्रमण कर कब्जा कर लिया। उस समय सैल्युकस द्वितीय पार्थिया का सम्राट् था। उस अधिकार के पश्चात असीशीस प्रथम ने ईरान मे पुन नये राजवश—असीशीद राजवश की नीव डाली।

इसके अतिरिक्त भारत की एक अन्य आर्यन जाति की शाखा ने वहाँ "आर्मेनियन" प्रात की स्थापना कर दी थी। यह जाति ईसा से लगभग ७०० वर्ष पहिले यहाँ आई थी। उस समय यहाँ नैरी, उरार्त्त तथा मन्नाई आदि जातियाँ बसती थी, जो कभी असुर सम्राटो की अधीनता स्वीकार कर लेती थी और कभी स्वतत्र हो जाती थी। अत आर्यन लोगो ने इन जातियो को परास्त कर आर्येनिया जो बाद मे आर्मेनिया हो गया, नीव डाली और इसकी राजधानी के नगर का नाम "वैन" रखा जो कलातर मे "वन" नाम से विख्यात हुई। सम्भवत यह आर्यन जाति राजा वैन के वश से सबधित रही हो। सम्राट् अक्ष्यर्प ने जिस समय यूनान पर आक्रमण किया था, उस समय यह प्रान्त ईरानी साम्राज्य के अतर्गत था। यूनानी इतिहासकार हैरोडेट्स ने आर्मेनियन लोगो की सेनाओ का भी वर्णन किया है जो कि उस समय यह एक रियासत मात्र थी। दारा के बाद ईरानी साम्राज्य की समाप्ति जब हुई, तब राज्य के अन्य भागो की भाति आर्मेनिया पर भी यूनानियो का अधिकार हो गया, जिसे १३० ई० पू० ईरान के सम्राट् मिथ्रदत्त प्रथम ने छीनकर अपने पार्थिया राज्य मे मिला लिया था और उसका शासक अपने एक परिवारी राजकुमार को बना दिया था। कालान्तर मे यह प्रात भी इतिहास प्रसिद्ध स्थल हो गया।

असीशीद—(२४८ ई० पू० से २४७ ई० पू० तक)

सैल्यूकस के राज्य के एक भाग पर इस व्यक्ति ने केवल एक वर्ष तक ही राज्य किया। एक वर्ष पश्चात उसकी मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारी के रूप मे उसका भाई तिरिदत्त गद्दी पर बैठा।

तिरिदत्त—(२४७ ई० पू० से २१४ ई० पू० तक)

तिरिदत्त द्वितीय से सेल्यूकम द्वितीय ने पार्थिया छीन लिया। तिरिदत्त ने अपना खोया राज्य प्राप्त करने के लिए, सेना के साथ चढाई भी की, परन्तु सफलता न मिली। अत यूनानियो से निश्चित होकर तिरिदत्त ने अपनी राजधानी दारा शहर मे बनाई। इस शहर को दारा ने ही अपवर्त जिले मे बसाया था। तिरिदत्त ने अपने

जीवन काल मे राज्य को बढाने आदि का कोई कार्य नही किया। इसने केवल अपने राज्य मे स्थित बडे-बडे नगरो मे यूनानियो से रक्षार्थ दुर्ग ही बनवाये।

असीशीद तृतीय—(२१४ ई० पू० से १८४ ई० पू० तक)

तिरिदत्त की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र असीशीद तृतीय गद्दी पर बैठा। इसे सेल्युसिद वश के यूनानी सम्राट् एतिओक्स तृतीय से युद्ध करना पडा। यह युद्ध अन्त मे समान समझौता वार्ता द्वारा समाप्त हो गया। दोनो ने एक दूसरे के राज्यो की सीमाओ को स्वीकार कर लिया।

फ्रातिस प्रथम—(१८१ ई० पू० से १७० ई० पू० तक)

असीशीस तृतीय के पश्चात इसका लडका फ्रातिस गद्दी पर बैठा। इसने देमा-वन्द के पास रहने वाली मार्दी जाति को जीतकर, मिडिया रजियाना प्रान्त मे, कैस्पि-यन गेट मे चरक्स नामक नगर बसाया।

मिथ्रेदेत्स अथवा मित्रदत्त (प्रथम)—(१७० ई० पू० से १३८ ई० पू० तक)

यह व्यक्ति इस वश का सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट हुआ। इसने गद्दी पर बैठते ही विजय अभियान आरम्भ कर दिये। फलत वाख्त्रिया (वैक्ट्रिया) से लेकर फरात नदी और कैस्पियन सागर से ईरान की खाडी तक अपना राज्य बढा लिया। उस समय वैक्ट्रिया पर यूनानी सम्राट् देमेत्रियस का शासन था और भारत मे पजाव के आस-पास तक यह राज्य बढा हुआ था। परन्तु यूनानी सम्राट् की स्थिति अच्छी नही थी। इसी का लाभ मिथ्रेदेत्स ने उठाया और उसके पश्चिमी प्रान्तो को अपने राज्य मे मिला लिया। परन्तु इलैमिस प्रान्त को विजय करने के उपरान्त १३८ ई० पू० इसकी मृत्यु हो गयी।

फ्रातिस द्वितीय—(१३८ ई० पू० से १२९ ई० पू० तक)

इस शासक का सारा समय लडाई-झगडो मे व्यतीत हुआ। इसे सैल्युकस वश के यूनानी सम्राट एतिओक्स साईदत्त से वार-वार लडना पडा। परन्तु जिस समय फ्रातिस ने एकवटाना पर आक्रमण किया तव युद्ध मे एतिओक्स घायल हो गया और उसने एक पहाडी से कूदकर आत्म-हत्या कर ली। परिणामस्वरूप फ्रातिस ने दजला नदी के किनारे पर वसे हुए सेल्यूसीद नगर पर धावा वोला और उसे अपने अधिकार मे कर लिया। इसके वाद सेल्यूसीद वश का राज्य ही समाप्त हो गया। ईरान से यूनानी समाप्त हो गये। यूनानी साम्राज्य के भी घुटने टिक गए और उनका स्थान रोमन साम्राज्य ने ले लिया।

ईरान मे नई जातियों की घुसपैठ—जिन दिनो ईरानी और यूनानी साम्राज्य एक दूसरे से टकरा रहे थे, उन दिनो और उससे भी पहिले मध्य एशिया की दूसरी

जातियो मे भी मारकाट मच रही थी। यह जातियाँ परस्पर लडती और हारकर, इधर-उधर भागती थी तथा पडौसी राज्यो पर आक्रमण करती थी। अत ईरानी शासको को भी अब दो शक्तियो से टकराना पडा। एक मध्य एशिया से आई हुई यह अर्द्धसभ्य जातियाँ और दूसरी ओर नवोदित रोमन साम्राज्य।

१६३ ई० पू० शको पर यू-ची आदि जातियो ने आक्रमण किया। यह जातियाँ २०० ई० पू० हूणो से पराजित होकर मध्य एशिया से भाग निकली थी। शको ने इनसे हारकर सीर्दिया तथा वाख्त्रिया (वैक्ट्रिया) पर आक्रमण कर दिया और वहाँ के यूनानी साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट करना शुरू कर दिया। अत फ्रातिस द्वितीय ने एतिओक्स के मरते ही, शको के आक्रमण के भय से अपनी राजधानी को लौट जाने का निश्चय किया और सीरिया पर आक्रमण करने का विचार त्याग दिया। परन्तु रास्ते मे ही इसकी शको के यूथो से टक्कर हो गई और उनसे लडते हुए ही यह मारा गया। राज्य के अधिकाश भाग पर शको ने अधिकार कर लिया।

मित्रदत्त द्वितीय—(१२४ ई० पू० से ८८ ई० पू० तक)

फ्रातिस की मृत्यु के वाद चार साल तक उसके उत्तराधिकार के लिए युद्ध चलता रह था। पाँचवें साल मिथ्रदत्त द्वितीय गद्दी पर बैठा और इसने शको को अपने राज्य से बाहर निकालना शुरू कर दिया। पश्चात यह वेबीलोन की ओर चला और वहा के शासक के विद्रोह को दवा दिया। पश्चात भारत की ओर भी आया, परन्तु यहाँ उसे सफलता नही मिली। इस असफलता का कारण एक यह भी था कि उसे रोमन साम्राज्य से सदैव भय रहता था; क्योकि उसके आधीन आर्मेनिया राज्य पर सदैव रोमन सम्राट की गृद्धदृष्टि रहती थी। इसलिए यह न लम्बी लडाई मे पड सकता था और न अपने राज्य से दूर ही जा सकता था।

उस समय आर्मेनिया मे अर्तवसदीस शासक था। इस शासक ने अपने राज्य को भी ईसस की खाडी से कैस्पियन सागर तक वढा लिया था। अत मिथ्रदत्त को इसके भी विद्रोही होकर स्वतन्त्र होने का डर बना रहता था। यूनानी इतिहासकार स्ट्रेबो का कथन है कि इसी कारण मिथ्रदत्त ने आर्मेनिया के राजकुमार को अपने यहाँ जमानत के तौर पर रखा था।

आर्मेनिया के शासक अर्तवसदीस की मृत्यु के वाद राजकुमार तिग्रेनीस को पार्थिया सम्राट मिथ्रदत्त ने अपने दरवार से मुक्त कर दिया। पहले तो यह कुछ दिनो तक राजा वनकर शात रहा, परन्तु धीरे-धीरे इसने पुन स्वतत्र सम्राट वनने की जोड-तोड शुरू कर दी। अपने कार्य की सिद्धि के लिए इसे किसी सहायक राजा की तलाश थी। वही इसे नही मिल रहा था। अन्त मे इसकी दृष्टि कालासागर के पास स्थित एक छोटे से राजा पर पडी। इसका नाम था पनयस या मित्रदत्त षष्ठ। कालासागर के दक्षिणी तट पर पोन्तस नामक एक छोटा-सा नगर राज्य था। धीरे-धीरे इसके शासक वास्फोरस के राज्य सहित आसपास के प्रान्त जीतकर अपना एक छोटा-सा

राज्य खडा किया। अपने इस कार्य मे यह रोम राज्य का मित्र बना रहा और युद्धो के अवसरो पर उसकी सहायता भी करता रहा। पश्चात इसकी मित्रता आर्मेनिया के राजा तिग्रेनीस से हुई। दोनो को ही एक दूसरे की आवश्यकता थी। अत इस मित्रता की वृद्धि मे पहल आर्मेनिया के राजा तिग्रेनीस ने की और उसने अपनी लडकी क्लिओपेट्रा का विवाह पोन्तस के शासक पनयस से कर दिया। फलस्वरूप पोन्तस के शासक की शक्ति काफी बढ गई। आर्मेनिया उसके हर आडे समय का साथी बन गया। इन्ही सबसे लाभ उठाकर उसने रोम की मित्रता को छोड ही नही दिया, अपितु रोम राज्य के आधीन केपेडोसिया और पैफ्लेगोनिया नामक रियासतो पर अधिकार कर लिया। दूसरी ओर तिग्रेनीस ने अपनी स्वतत्रता की घोषणा कर पार्थिया के कुछ प्रान्तो पर अधिकार कर लिया।

उसकी इस करतूत पर क्रोधित होकर रोम राज्य ने सिलीशिया के शासक लुसियस सुल्ला को हस्तक्षेप के लिए एक बडी सेना सहित भेजा। अत रोमन सेना ने केपेडोसिया ही स्वतत्र नही कराया बल्कि वह आगे बढती चली ही गई और फरात नदी पर पहुँच गई।

रोमन सेना के इस धावे को पहले तो मिथ्रदत्त एक तमाशायी की भाँति देखता रहा, परतु जब उसके पार्थिया साम्राज्य की समाप्ति की भी नौबत आने लगी, तब मिथ्रदत्त ने (९२ ई०) पूर्व रोम साम्राज्य से सधि करने का निश्चय किया और अपने दूत औरबजाज को रोमन आक्रमणकारी सुल्ला के पास भेजा। परतु इस दूत को अपने कार्य मे सफलता न मिली और इसी कारण इसे मिथ्रदत्त की कोपाग्नि का शिकार होकर जान से भी हाथ धोना पडा। परतु सुल्ला भी उसका अधिक नुकसान न करके वापस लौट गया।

सुल्ला की वापसी का परिणाम—सुल्ला की वापसी का परिणाम यह निकला कि आर्मनिया के शासक तिग्रेनिस ने मैसोपोटामिया के उत्तरी भाग तथा मीडिया के कुछ प्रात और पश्चिम मे सेल्यूसीद वश के बचे-खुचे नगरो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया। पार्थी सम्राट मिथ्रदत्त चुपचाप शक्ति-हीन बना देखता ही रह गया। तिग्रेनीस को रोकने का साहस उसे न हुआ।

इसके अतिरिक्त इसके दामाद पोनतस के राजा पनयस मित्रदत्त का भी हौसला बढा और उसने रोम के पेरगमस प्रात पर अधिकार कर यूनान के उन भागो पर भी धावा बोल दिया जो उस समय रोम राज्य के अधिकार मे थे। अत यूनान के केरोनिया स्थान पर रोमन शासक सुल्ला और पनयस की सेना मे लडाई हुई। जिसमे पनयस पराजित हुआ। इसमे पनयस को अपना जीता हुआ भाग तो छोडना पडा, साथ ही सुल्ला को २० युद्धपोत और २ हजार स्वर्ण मुद्राएँ युद्ध के हरजाने के रूप मे देने पडे।

दूसरी बार ७३ ई० पू० पनयस ने फिर आक्रमण किया, किन्तु इस बार भी हार गया और सुल्ला के पीछा करने पर वह आर्मेनिया के सम्राट के पास चला गया, जिसने उसे रोम को सौंपने से इकार कर दिया। साथ ही अपनी कुछ सेना देकर उसे

उसके राज्य की ओर भेज दिया। अत तीन साल बाद भी जब आर्मेनिया और रोम मे इस बारे मे कोई समझौता न हो सका, तब लुसिडीस सुल्ला ने आर्मेनिया पर आक्रमण कर दिया। तिग्रेनीस हार कर पूर्व की ओर भाग गया। परतु सुल्ला अपने सैनिको के हताश होने के कारण उसका पीछा नही कर सका। दो साल इधर-उधर भटकने के बाद इस बार **तिग्रेनीस पनयम** की शरण मे गया। इन दोनो के पुन मिलन का समाचार जब रोम पहुँचा, तब रोम राज्य ने दोनो को ही समाप्त करने का निश्चय किया। अत इस बार सेना-सचालन का मुख्य भार सेनापति **पाम्पे** को (६७ ई० पू०) सौपा गया। इसने एक वर्ष बाद वसत ऋतु मे **पनयस** को जा दबाया। सुल्ला उस सयय भी इसके साथ था। पनयस भागकर तिग्रेनीस के पास पहुँचा। परतु इस बार ससुर ने दामाद को शरण नही दी। परतु फिर भी रोमन सेना तिग्रेनीस की राजधानी पर चढ दौडी। हारकर तिग्रेनीस को सधि करनी पडी और युद्ध के हर्जाने के रूप मे ६ हजार स्वर्ण मुद्राओ सहित अपने कुछ प्रात भी रोमनो को देने पडे।

तिग्रेनीस से निपटकर, रोमन सेना आगे बढी और **कुर-घाटी** मे पहुँच गई। यहाँ यह अल्बानिया वालो को हराकर, फसीस की घाटी की ओर चली। रोमन सेनापति पाम्पे का विचार था कि यही कही रास्ते मे पनयस से भी भेंट हो जायगी। परतु उसकी यह अभिलाषा पूरी नही हुई और लौट चला। इस समय पार्थिया के सिहासन पर **मिथ्रदत्त** के बाद **फ्रातिस** (तृतीय) नामक व्यक्ति सम्राट बन चुका था, जो चुपचाप रोमनो और आर्मेनियनो की लडाइयाँ देख रहा था और पनयस हताश होकर आत्महत्या कर चुका था। लौटते समय रोमन लोगो को प्रसन्नता भरा वह समाचार मिला कि **पनयस मर चुका है।**

चीन से दौत्य सबंध—फ्रातिस (द्वितीय) के समय ही चीन मे हानवश का शासन था और उसके शासको ने एशिया के देशो से अपने दौत्य सबध स्थापित किये थे। उन्होने पार्थिया के सम्राट **मिथ्रदत्त** (द्वितीय) के दरबार मे भी (१२० ई० पू०) अपना दूत भेजा था। इस चीनी दूत ने पार्थियो का 'आनशी' नाम लिखा है। उसने लिखा था कि यहाँ का हर नगर चहारदीवारी से घिरा हुआ है। चावल, गेहू तथा अगूर यहाँ बहुत पैदा होता है। सिक्को के बारे मे उसने लिखा था कि चाँदी के सिक्को पर सम्राट का चित्र होता है। लोग चमडे पर लिखते है। लौटते समय यह दूत **हान-शासक** के लिए सुतुरमुर्ग के अडे ले गये थे। इन अडो के लिए उसने लिखा है—'यह लतूर अर्थात रेगिस्तान मे मिलते हैं।'

फ्रातिस तृतीय (८८ ई० पू० से ६० ई० पू० तक)

मिथ्रदत्त (द्वितीय) के पश्चात् पार्थिया की गद्दी पर फ्रातिस (तृतीय) बैठा। लौटते समय रोमन सेना ने इससे भी सुलटने का निश्चय किया। अत रोमन सेना ने **पार्थिया** राज्य पर आक्रमण कर दिया। उस समय पार्थिया दरबार मे **आर्मेनिया** के राजा **तेग्रेनीस** का लडका शरण लिये हुए था। पार्थिया के राजा ने लडने की बजाय

पुन' रोमनो का अधिकार हो गया।

फ्रातिस चतुर्थ—(३७ ई० पू० से २१ ई० पू० तक)

३७ ई० पू० ओरोदीस के लडके फ्रातिस (चतुर्थ) ने भी अपने पिता का कत्ल कर पार्थिया के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। यह पहला शासक था, जिसने अपने सिक्को पर तिथि अकित की। साथ ही नये नगर **सीफोन** को अपनी राजधानी वनाया। परन्तु अगले वर्ष ही आर्मेनिया की सहायता लेकर रोमन सेनापति **एटोनी** ने पार्थिया पर आक्रमण कर दिया। इस वार रोमन सैनिको ने धनुष-वाण के अतिरिक्त गुलेल से शीशो के गोले फेंके। परन्तु इस वार भी रोमन सेना ही पराजित हुई। एटोनी भाग निकला, जिसका पीछा पार्थियन सैनिको ने किया।

अपनी इस पराजय की खीज ३४ ई० पू० एटोनी ने आर्मेनिया पर उतारी और आर्मेनिया पर आक्रमण करके सम्राट **अर्तविसयस** को गिरफ्तार कर लिया। पश्चात आर्मेनिया राज्य का कुछ भाग **मीडिया** सम्राट को देकर स्वय अपनी पत्नी **क्लिओपेट्रा** को लेकर मिस्र लौट गया। एटोनी के मिस्र लौटते ही पार्थिया ने मीडिया पर आक्रमण करके, वहाँ की रोमन छावनी को तहस-नहस कर दिया और इस लडाई मे आर्मेनिया भी स्वतत्र हो गया। परन्तु इस लडाई मे रोमन लोगो के हाथ फ्रातिस का लड़का लग गया। जिसे उन्होने गिरफ्तार कर रोम भेज दिया।

रोमन राज्य से सधि—लगभग ६ वर्ष पश्चात अर्थात सन २० ई० पू० पार्थिया रोम मे एक सधि हुई जिसमे रोम ने फ्रातिस के पुत्र को मुक्त करके पार्थिया भेज दिया और पार्थिया ने रोमन सैनिको को मुक्त कर दिया। उस समय रोम मे सम्राट **अगस्तस** का शासन था।

इसके पश्चात लगभग २०० वर्ष तक पार्थिया का इतिहास परस्पर लडाई झगडो मे ही व्यतीत हुआ। बहुत थोडे समय के लिए सम्राट लोग गद्दी पर बैठे। कभी वह रोम के आधीन हुए और कभी स्वतत्र रहे।

बोलोजेसस प्रथम—(६० ई० से ७५ ई० तक)

फ्रातिस की मृत्यु के वाद उसका लडका गद्दी पर बैठा। परन्तु राज्य में अशाति व्याप्त रही और कोई योग्य शासक गद्दी पर न वैठ सका। साल-साल दो-दो साल तक ही शासक हुए। इस प्रकार सन ६० ई० तक पार्थिया का भविष्य सकटो मे चलता रहा। सन ६० ई० मे आकर **बोलोजेसस** (प्रथम) नामक एक व्यक्ति गद्दी पर वैठा। इसने पार्थिया राज्य को पुन शक्तिशाली वनाना आरम्भ किया। आर्मेनिया के प्रश्न को लेकर रोम से इसका झगडा भी सदा चलता रहा, जिसका अन्त ६३ ई० मे इस शर्त पर हुआ कि गद्दी पर वोलोजेसस का भाई वैठे, लेकिन राज मुकट धारण करने के लिए रोम आये। आर्मेनिया का प्रश्न सुलझने पर पार्थिया की शक्ति फिर बढ़ गई। परन्तु ७५ ई० मे पार्थिया राज्य मे घुसकर **अलानी** नामक एक खानांवदोश

जाति ने लूटमार प्रारम्भ करदी। अत इस जाति को दबाने मे पार्थिया की शक्ति पुन नष्ट हो गयी और दो साल बाद ही वोलोजेसस की मृत्यु भी हो गई। उसके मरने ही पार्थिया साम्राज्य के पुन कई भाग हो गए।

अर्दवास या अर्तवेनस—(१२०० ई० से २२६ ई० तक)

वोलोजेसस के पश्चात पार्थिया राज्य समाप्तप्राय ही हो गया था। वहाँ के शासको की स्थिति पुन क्षत्रपो जैसी हो गई। २०० ई० तक उसकी यही दशा रही। २०० ई० मे यहाँ **अर्दवान्** नामक पुन एक व्यक्ति रगमच पर आया और इसने पार्थिया की शक्ति को पुन बढाया। २१७ ई० मे रोम राज्य से इसकी भी टक्कर हुई। यह युद्ध **नीसीबीस** के मैदान मे लडा गया, जहाँ रोमन सेना पूर्णरूपेण पराम्त हुई। इस समय फारस का शासक **अर्दशीर** (अर्ताअक्षर्य) था जो पार्थिया के आधीन था। २२६ ई० मे इसने अपनी स्वतत्रता की घोषणा की। इसके विद्रोह को दबाने के लिए अर्दवान स्वय आया, किन्तु युद्ध मे वह पराजित होकर मारा गया और उसका पार्थिया साम्राज्य भी उसी के साथ समाप्त हो गया। अर्दशीर ने उसे फारस राज्य मे मिला लिया।

ईरान का सासनी राजवंश (२२६ ई० से ६६२ ई० तक)

वस्तुत सासानी राजवश का सस्थापक **अर्दशीर** अथवा **अर्तअक्षयर्ष** ही माना जाता है, जिसने **अशीसीद** वश के अतिम शासक पार्थिया नरेश अर्तवेनस या अर्दवान को होर्मुज के युद्ध-क्षेत्र मे २२६ ई० मे समाप्त कर इस वश को समाप्त कर दिया और ईरानी साम्राज्य पुन अपने गौरव को प्राप्त हो गया।

अर्दशीर अथवा अक्षयर्ष (२२६ ई० से २४० ई० तक)

इस वश के शासक भी अपने को आर्य ही मानते थे और अपने वश का सबध भी ईरान के प्राचीन राजवश—**हखमानिश-वश** से ही बताते थे और उनके वश का यह नाम भी, उसी प्रकार पडा, जिस प्रकार भारतीय आर्यों के पूर्वजो के नाम पर अथवा महान लोगो के नाम पर, कुलो के नाम पडे थे। 'फिरदौसी शाहनामा' मे हमारे इस कथन का समर्थन हो जाता है।

अपने शाहनामा मे, **फिरदौसी** ने लिखा है कि उस समय ईरान २४० राज्यों मे विभक्त था। उसने इस वश का सस्थापक **सासान** नामक एक व्यक्ति को बताया है, जिसे दैवी शक्ति प्राप्त हो गई थी।

अस्तु, अर्दशीर ने २२८ ई० मे अपने ईरानी राज्य को बढाने का प्रयत्न किया। इतिहासकार **जाफरी** ने अर्दशीर द्वारा **खुरासान, मर्व, रकीव और बलख** प्राती को जीतने का भी वर्णन किया है। फरिश्ता ने उसके भारत पर आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह हिंदुस्तान मे **सरहिंद** तक पहुँच गया था और वहाँ के शासक जूना से सोना-

चाँदी लेकर लौट आया था। पीतल के एक कुषाणकालीन सिक्के पर एक ओर अग्नि वेदी बनी है, वह इसी की आज्ञा से सिक्को पर बनाई गई बताई जाती है। २३२, २३१ और २२८ ई० मे इसका सघर्ष रोमन सेना से हुआ। इसके पश्चात इसने आर्मेनिया पर अधिकार किया और अत मे पार्थिया को समाप्त कर ईरानी राज्य मे मिला लिया। इस प्रकार ईरानी साम्राज्य को पुन खडा करके २४० ई० मे इसकी मृत्यु हुई। अपनी रुग्णावस्था मे उसने अपने पुत्र **शापूर** को बुलाकर उपदेश दिया था। शापूर से उसने कहा था—**धर्म और सिंहासन को एक समझना। यह दोनो ही एक दूसरे की शक्ति के प्रेरक हैं। जो बादशाह धर्म की चिन्ता नहीं करता, वह अन्यायी होता है। अत तुम्हारा शासन इतना न्यायपूर्ण हो कि प्रजा तुम्हें और हमे आशीर्वाद देती रहे। इसीलिए भगवान ने हमे भेजा है।**

शापूर प्रथम—(२४० ई० से २७१ ई० तक)

अपने पिता अर्दशीर की मृत्यु के बाद यह सिंहासन पर बैठा। रोम के साथ इसका कई वर्ष तक युद्ध चलता रहा, परन्तु २६० ई० मे रोम के साथ हुई लडाई मे इसने रोमन सम्राट **वलेरियन** को बन्दी बना लिया और जीवन भर अपने दरबार मे रखा। इस ऐतिहासिक घटना का उभरा हुआ चित्र **नक्शे-रुस्तम** मे पाया गया है, जिसमे घोडे पर सवार ईरानी सम्राट के सामने रोमन सम्राट झुका खडा हुआ है। इस विजय से एक ओर जहाँ यूरोप मे हलचल मच गई, वहाँ शापूर के हौसले भी बढ गए। अत उसने पहले तो **एशिया माइनर** पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु बाद मे सीरिया और **कैपीडोसिया** को छोड कर चला आया।

पामीर राज्य—रोम और ईरान के मध्य रेगिस्तान मे **ओदेनथस** नामक एक व्यक्ति ने पामीर राज्य के नाम से एक नगर राज्य स्थापित कर लिया था। जिस तरह **ओदेनथस** वीर व्यक्ति था उसी तरह **जैनोबिया** नाम की इसकी पत्नी भी वीर थी। अपनी कार्यवाहियो से यह ईरानी सेना के लिए सरदर्द बना हुआ था। २६३ ई० मे इसने फरात नदी को पार कर **मैसोपोटामिया पर** आक्रमण कर दिया। लडाई मे वह पराजित हुआ। ओदेनथस ने **सीफोन** पर भी घेरा डाल दिया। जिस समय इसने मैसोपोटामिया और सीरिया को जीत लिया, तभी एक सैनिक ने इसकी हत्या कर दी। पति की मृत्यु के दस वर्ष बाद **जैनोबिया** ने मिस्र पर धावा किया और उसे अपने राज्य मे मिला लिया। परन्तु चन्द महीनो बाद ही रोम के सम्राट ओरेलियन से इसकी लडाई छिड गई, जिसमे यह हार गई और रोमन सेनापति ने इसे सोने की जजीर से बाँधकर रोम भेज दिया। शापूर (प्रथम) की २७१ ई० मे मृत्यु हो गई और उस समय **वहराम** गद्दी पर बैठा था। वहराम से रानी ने सहायता मागी, परन्तु उसने नही दी।

शापूर के जनोपयोगी कार्य—अपने जीवन काल मे इस व्यक्ति ने **निशापुर** तथा **विशापुर** नामक दो नगर बसाये। जिसमे निशापुर खुरासान प्रान्त का मुख्य नगर था और विशापुर बुशायार और शीराज के बीच स्थित था। इसके अतिरिक्त **बाँध**

कैसर के नाम से ग्रेनाइट पत्थरो का एक बाँध इसने बनाया। यह बाँध **कारून** नदी की बाढ को रोकने के लिए बनवाया गया था। इस बाँध मे नदी की धारा को एक नहर द्वारा बदल दिया गया। यह नहर अब भी **आबेगर्गर** के नाम से मौजूद है। बहाव को नियन्त्रित करने के लिए इसमे छोटे-छोटे फाटक लगे है। बाँध शुस्तर मे बाँधा गया था। इसी के समय **मानी धर्म** का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् इसी वश का खुरासान का शासक **होर्मुज्द** गद्दी पर बैठा।

होर्मुज्द—(२७२ ई० से २७३ ई० तक)

यह सम्राट् केवल एक ही वर्ष जीवित रहा और इसने 'मानी' धर्म मे दिलचस्पी रखने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही किया।

सम्राट बहराम—(२७३ ई० से २७५ ई० तक)

होर्मुज्द के बाद उसका भाई बहराम गद्दी पर बैठा। इसने मानी धर्म को समाप्त कराकर, पुन पारसी धर्म को प्रतिष्ठित किया। परन्तु यह अत्यन्त निर्बल चित्त का व्यक्ति था। पामीरा की रानी **जेनोबिया** गिरफ्तार होकर, जब रोम दरबार मे पहुँच गई, तब रोमन सम्राट् ओरेलियन ने ईरान पर आक्रमण करने के लिए अपनी सेना का कूच करा दिया। परन्तु बैजयन्तीक मे धोखे से किसी ने सम्राट् की हत्या करदी और रोमन सेना लौट गई। किन्तु २७५ ई० मे बहराम भी मर गया।

बहराम—(द्वितीय)(२७५ ई० से २८२ ई० तक)

यह शासक भी निकम्मा ही था। उस समय रोम मे कैरूस नामक सम्राट् था। उसने इस पर आक्रमण किया और मैसोपोटामिया तथा **सीफोन** पर अधिकार कर लिया। किन्तु तभी एक आँधी के कारण रोमन सम्राट की मृत्यु हो गई और २८२ ई० मे बहराम भी चल बसा। इसकी निर्बलता का परिणाम यह निकला कि ईरानी साम्राज्य मे कई वर्ष तक उथल-पुथल मची रही। सिंहासन के लिए झगडे चलते रहे। इसी बीच **आर्मेनिया** भी स्वतन्त्र हो गया। ईरानी सेना को भगाकर आर्मेनिया के मातहत राजा 'खुसरो' का पुत्र तिरिदत्त स्वतत्र शासक बन बैठा। २९६ ई० तक ईरान मे यही हाल रहा। २९६ ई० मे **नरसीस** नामक व्यक्ति गद्दी पर बैठा।

नरसीस—(२९६ ई० से ३०१ ई० तक)

नरसीस, शापुर (प्रथम) का पुत्र था। इस शासक ने आर्मेनिया प्रान्त पर आक्रमण कर उसे पुन ईरानी राज्य मे मिला लिया और मेसोपोटामिया से भी रोमनो को निकाल दिया। उस समय रोम राज्य भी दो भागो मे विभाजित हो चुका था। एक पूर्वी भाग और एक पश्चिमी। पूर्वी भाग के रोमन सम्राट् **डायोक्लेशियन** ने अपने आधीन **गेलेरियस** को सीरिया पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय

आर्मेनिया के शासक तिरिदत्त ने भी विद्रोह कर दिया। परन्तु नरसीस ने केरी के मैदान मे दोनो शासको को हरा दिया। जिन्होने फरात नदी को तैरकर अपनी जान बचाई। परन्तु २९७ ई० मे रोमनो ने पुन आक्रमण किया और आर्मेनिया मे नरसीस को हरा दिया।

इस युद्ध की सधि स्वरूप ईरान को फरात नदी के पार के ५ प्रात रोम को देने पडे। अत दजला के स्थान पर ईरान की सीमा फरात नदी मानी गयी। आई-बेरिया का प्रात भी रोमनो को मिला। मिडया मे स्थित जेन्था दुर्ग आर्मेनिया को दिया गया। इन्ही सब घटनाओ से खिन्न होकर ३०१ ई० मे नरसीस ने सिंहासन का त्याग कर दिया।

होर्मुज्द (द्वितीय)—(३०१ ई० से ३०९ ई० तक)

इस व्यक्ति ने अपने ८ साल के शासन-काल मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। इसके बाद, इसका पुत्र शापुर महान् गद्दी पर बैठा।

शापुर (द्वितीय)—(३०९ ई० से ३७९ ई० तक)

होर्मुज्द (द्वितीय) का यह पुत्र केवल १६ वर्ष की आयु मे ही सिंहासन पर बिठाया गया।

इस सम्राट के नाम के आगे "महान्" शब्द अकित किया गया है। सासानी सम्राटो मे सबसे अधिक (७० वर्ष तक) समय तक केवल इसी व्यक्ति ने राज्य किया। इसके समय रोम के सिंहासन पर १० सम्राट् आये और गये। परन्तु सभी से इसके युद्ध हुए।

अरबो से युद्ध—(३०९ से ३३७ ई० तक)

सिंहासन पर बैठते-ही सबसे पहले इसे अरबो से लडना पडा। अरबो के दो सगठित यूथो ने बहरीन और मेसोपोटामिया मे रहने वाले अरबो को साथ लेकर फारस पर आक्रमण किया और सीफोन पर अधिकार कर लिया। फारस राज्य के मुसलमान होने से पहले अरबो के साथ यह सबसे बडा सघर्ष था। एक ओर सारी अरब जाति ईरान को समाप्त करने पर तुली हुई थी, दूसरी ओर सारा ईरानी राज्य भी एक हो गया था। ३३७ ई० मे जाकर यह लडाई समाप्त हुई और अरबो की एक बडी सख्या गिरफ्तार कर ली गयी। शापुर ने उनके कधो को छिदवा कर रस्सियो से बँधवाया।

रोम-युद्ध—(३३७ से ३५० ई० तक)

जिस समय ईरान-अरब-युद्ध निर्णायक दौर मे चल रहा था, उस समय रोम मे कान्स्टैनटाइन सम्राट् था। ईसाई लोगो पर ईरान मे हो रहे अत्याचार को आधार बना कर कान्स्टनटाइन ने ईरान पर आक्रमण करने की तैयारी की। परन्तु ३३७ ई०

मे ही उसकी मृत्यु हो गई। अत इस अवसर का लाभ उठाकर शापुर ने आर्मेनिया पर अधिकार कर लिया। ३१४ ई० मे वहाँ का शासक तिरिदत्त मर चुका था। सिहासन के लिए झगडा चल रहा था। अत शापुर ने इसका भी लाभ उठाया। आर्मेनिया बिजय करके शापुर ने उन प्रान्तो पर अधिकार करना शुरू कर दिया, जिन्हे रोम साम्राज्य मे मिला लिया था। इसके वाद शापुर ने रोमनो के किलो पर कब्जा करना शुरू किया। रोम के सिंहासन पर कास्टेनटीयस नामक व्यवित वैठ चुका था। तीसरी वार नीसीवीस नामक रोमन दुर्ग पर जव शापुर घेरा डाले पडा था, रोमन सम्राट् ने ईरान की ओर कूच कर दिया। ३४८ ई० मे सीगारा के युद्ध मे परास्त होकर रोम भाग गया और तुरानी जाति के आक्रमण का समाचार पाकर शापुर भी राजधानी लौट गया।

ईसाइयों की हत्या—सम्राट् शापुर मैसोपोटामिया आदि मे वसे हुए ईसाइयो को रोम राज्य के जासूस और उसी देश के प्रति वफादार समझता था। उसके इस विश्वास का कारण स्पष्ट था। जव भी रोमन साम्राज्य से ईरान की लडाई होती, वह लोग युद्ध में भाग नही लेते थे। अत शापुर ने ईसाइयो पर दुगुना कर लगाया और उसकी वसूली का भार भी विशप लोगो के जिम्मे डाला। परन्तु विशप लोगो ने अपने समाज से इस कर को वसूल करने से इकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सम्राट् क्रुद्ध हो गया और उसने "गुड-फ्राइ-डे" के दिन ३३९ ई० को १०० पादरियो और विशपो को सूसा (ऐलाम राज्य की प्राचीन राजधानी) मे कत्ल करा दिया। साथ ही ईरान मे ईसाइयो का प्रवेश वर्जित कर दिया। यह वर्जन लगातार ४० वर्ष तक जारी रहा। इसके पश्चात् ७ वर्ष तक (३५० ई० से ३५७ ई० तक) शापुर हूणो, यूची वूसेनी और जीलानी जातियो से लडता रहा। इन जातियो को तो उसने मार भगाया, किन्तु इसी मध्य ३५१ ई० मे रोम ने आर्मेनिया पर पुन कब्जा कर लिया।

ईरान रोम द्वितीय युद्ध – (३५९ ई० से ३६३ ई० तक)

३५९ ई० मे **शापुर** ने सीरिया पर चढाई की और **अमीदा** पर अधिकार कर लिया। साथ ही कुछ मास वाद, सिगारा तथा वेजाव्दे पर भी कव्जा कर लिया। रोमन सम्राट् **कास्टेनटीयस** ने इन नगरो को पुन छीनने का प्रयत्न किया भी किन्तु ३६१ ई० मे उसकी मृत्यु हो गई और उसके स्थान पर **जूलियन** रोम का सम्राट् वना। इसने ईरान पर आक्रमण किया और **सीफोन** के उत्तर मे पहुँच कर ईरानी सेना को परास्त कर दिया। परतु सीफोन के दुर्ग मे घुसी हुई ईरानी सेना लडती ही रही। अत सीफोन से हटकर, सम्राट् ने **समादा** मे दूसरा मोर्चा खोला, जहाँ (३६३ ई०) वह मारा गया। इस समय जूलियन की आयु केवल ३० वर्ष थी। जूलियन के स्थान पर जोवियन नामक व्यक्ति को सम्राट् वनाया गया। इसने लडाई पुन शुरू करदी। परतु इस लम्बी लडाई से ईरानी और रोमन दोनों ही थक गये थे। अत दोनो ने संधि करली।

संधि की शर्तें—इस सधि मे पुन प्रदेशो की वदली हुई। नरसीस ने अपनी

संधि से जो प्रांत रोम को दिये थे, शापुर को वह पुन छोडने पडे। रोमनो ने बदले मे अपने मेसोपोटामिया स्थित दुर्ग—नीसीबीस और सिगारा—ईरान को सौंप दिये। आरमनिया की स्वतन्त्र सत्ता मान ली गई। परन्तु रोमन सेनाओ के जाते ही शापुर ने आरमनिया और आईबेरिया (जार्जिया) पर आक्रमण कर ईरानी साम्राज्य मे मिला लिया। इस पर रोम से पुन झगडा आरंभ हो गया और अंत मे ३७६ ई० मे पुन संधि हुई, जिसमे उक्त दोनो देशों को पुन स्वतन्त्र देश मान लिया गया। इसके तीन वर्ष पश्चात् अर्थात ३७९ ई० मे शापुर की मृत्यु हो गई। यह सम्राट् रोम राज्य और हूणो आदि से लडने मे इतना व्यस्त रहा कि न तो कोई जनोपयोगी कार्य ही कर सका और न ही अपने शासनकाल के स्मरणार्थ किसी कृति विशेष का ही निर्माण करा सका। अत इसके काल का कोई शिलालेख अथवा मूर्ति उपलब्ध नही है।

अर्दशीर द्वितीय—(३७९ ई० से ३८३ ई० तक)

शापुर के पश्चात् जो व्यक्ति गद्दी पर बैठा, उसने अपना नाम अर्दशीर (द्वितीय) रखा। अपने समय मे इसने प्रजा पर लगे सारे कर माफ कर दिये। अत इसे उपकारी सम्राट् के नाम से याद किया जाता है।

शापुर तृतीय—(३८३ ई० ई० से ३८८ ई० तक)

इस सम्राट् ने आर्मेनिया प्रांत के बंटवारे के आधार पर रोम राज्य से संधि की। दोनो ने अर्मेनिया को आधा-आधा बाँट लिया। इसके बाद इसने अरबो का दमन किया। इस सम्राट् की पत्थर की एक मूर्ति **कर्मशा** के निकट **ताकिबूरस्तन** नामक स्थान पर पाई गया थी।

बहराम चतुर्थ—(३८८ ई० से ३९९ ई०तक)

इस सम्राट् ने अपने जीवन मे कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया। केवल आर्मेनिया के शासक खुसरो ने विद्रोह किया। परतु वह मारा गया और उसका भाई बहराम शापुर के नाम से गद्दी पर बैठा दिया गया। पश्चात् सैनिको ने बहराम (चतुर्थ) की हत्या करदी।

याज्दगीर्द—(३९९ ई० से ४२० ई० तक)

बहराम चतुर्थ का यह लडका ही ईरान का पहला सम्राट् था, जिसने ईसाई धर्म स्वीकार करके ईसाइयो को प्रचार और गिर्जाघर बनाने की छूट दी। इसी से प्रजा नाराज हो गई। अत उसने पुन जरथुस्त्र धर्म स्वीकार कर पुन ईसाइयो को कुचलना शुरु कर दिया।

बहराम पचम—(४२० ई० से ४४० ई० तक)

याज्दगीर्द के पश्चात् उनका लडका बहराम (पंच) के नाम से गद्दी पर बैठा।

इसने भी ईसाइयो को कुचलने का क्रम जारी रखा। इसीलिए इसका रोम राज्य से युद्ध हुआ। पश्चात् दोनो देशो ने दोनो मतो—जरथुस्त्र और ईसाई धर्म को राजकीय आदर देने के आधार पर समझौता कर लिया। इसके बाद ४२४ ई० मे ईसाई धर्म के भी दो खड हो गये। इनमे एक पश्चिमी सम्प्रदाय और दूसरा पूर्वी सम्प्रदाय। ४२८ ई० मे आर्मेनिया के मातहत राजा को भी हटाकर वहराम ने राज्य को छत्रपी के रूप मे बदल दिया। उसकी स्वाधीनता समाप्त करदी गई।

हूणो से युद्ध—४२८ ई० मे ही बहराम ने हूणो को कुचलने का निश्चय किया और एलबुज की पहाडियो की ओलट मे अपनी विशाल वाहिनी को घुमाकर, उन पर अचानक धावा कर दिया। इस युद्ध मे स्वेत हूणो का खान मारा गया और उसकी पत्नी सहित इसने उनके खेमो से सोना चाँदी आदि लुटवा लिया।

भारत से सबध—इस व्यक्ति ने भारत से व्यापार और मित्रता बढाई। इसी ने ईरानी सगीत और नृत्य के प्रचारार्थ १२ हजार जिप्सी लोगो को भारत भेजा। इस शासक के समय ईरान मे कृषि, कला-कौशल और साहित्य—सभी की उन्नति हुई।

शिकार का शौकीन—यह शासक जगली गधो के शिकार के लिए प्रसिद्ध था। पारसी भाषा मे जगली गधे को **'गुर'** कहा जाता है। इसीलिए यह भी **वहराम 'गुर'** या **गौर** कहलाता था। ४४० ई० मे इस सम्रा् की मृत्यु हुई।

यज्दगिर्द—तृतीय—(४४० ई० से ४५७ ई० तक)

यह सम्राट् वहराम का पुत्र था और ईरान का असफल सम्राट् रहा। न कभी यह हूणो से लडाई मे जीता और न ही रोम के साथ लडाई मे जीता। ईसाइयो पर इसने विशेष अत्याचार किये। कई जगह उनका कत्ल कराया और मैसोपोटामिया आदि से उन्हे निकाल दिया। ४५७ ई० मे इसकी मृत्यु हो गई।

फीरोज—(४५७ ई० से ४८३ ई० तक)

अपने छोटे भाई हौर्मज्द को मारकर यज्दगिर्द का यह बडा लडका सम्राट् बना। अपने जीवनकाल ४८३ ई तक इसका सभी समय हूणो के साथ लडने मे समाप्त हुआ और उनसे लडते हुए ही यह मारा गया।

बल या बोलोजेसस—(४८३ ई० से ४८७ ई० तक)

इसके पश्चात् बल या बोलोजेसस नामक व्यक्ति सम्राट् बना। इसने हूणो से लडने के वजाय उनके खान-खुशनेवाज से सधि करली और उसे टैक्स देना स्वीकार किया। इसने अपने समय मे ईसाइयो को पुन धार्मिक स्वतत्रता प्रदान की।

कवद—(४८७ ई० से ५३१ ई० तक)

यह व्यक्ति सम्राट् फीरोज का लडका था। सम्राट् बल और हूण सरदार

खुशनेवाज के सम्बन्ध विगड गए थे। अत ४८७ ई० मे वल के मरने के बाद हूण सरदार ने फीरोज के लडके कवद को गद्दी पर बैठाया। हूणो के अतिरिक्त उस समय खजार नामक एक जाति (हूणों की एक शाखा) जो वोल्गा और डान नदियो के मध्य मे रहती थी और काकेशस होते हुए कुर घाटी मे घुस आयी थी, सम्राट् के लिए विशेष सरदर्द बन गई। परन्तु इस जाति को सम्राट् ने ईरान से भगा दिया।

भाग्य से सघर्ष—इस व्यक्ति को अपने भाग्य से सव सम्राटो से अधिक सघर्ष करना पडा। यह गद्दी से उतारा गया। जेल मे डाला गया और पुन सम्राट् भी वनाया गया। पहिले इसकी कीर्ति को **हजरत मजदक** नामक एक जरथुस्त्र धर्म का पुरोहित समाप्त कर गया।

इस पुरोहित ने साम्यवादी पद्धति के आधार पर अपने नये सिद्धान्त का यह कह कर प्रचार किया कि "**भगवान अहुरमज्दा ने सभी व्यक्तियो को समान रूप से ससार मे भेजा है। अतः उस समानता का जीवन भर पालन होना चाहिए।**" सम्राट् ने उसके इस विचार को पसन्द किया। अत देश का एक बडा वर्ग उसका शिष्य हो गया। इस वर्ग ने ईसाइयो पर पुन अत्याचार शुरू कर दिए। परिणाम यह निकला कि सेनापतियो और दरवारियो ने मिलकर इसे गद्दी से उतार दिया और इसके भाई **जमास्य** को गद्दी पर वैठा दिया। भाई ने इसे जेल मे डाल दिया। जेल मे यह ४६८ ई० से ५०१ ई० तक रहा। इसके पश्चात यह अपनी पत्नी की सहायता से जेल से भाग कर हूण सरदार के पास चला गया और उसकी सहायता से इसने ईरान पर आक्रमण किया। परन्तु इसके भाई **जमास्य** ने विना लडे ही इसे गद्दी दे दी।

रोम से युद्ध—५०१ ई० से ५३१ ई० का समय इस सम्राट् का द्वितीय शासन काल माना जाता है। इस समय इसने अपनी यह भूल तो सुधार ली कि **हजरत मजदक** को सहायता देना वन्द कर दिया, किन्तु इसे रोम से युद्ध मे पडना पडा। पहला युद्ध दो वर्ष (५०१ ई० से ५०३) तक चला। इसका कारण यह था कि ईरानी सम्राट् **याज्दगिर्द** (द्वितीय) और रोम सम्राट् **थियोडोसियस** (द्वितीय) के मध्य यह समझौता हुआ था कि हूण आदि आक्रामक जातियो को रोकने के लिए **दरबन्द** के पास रखी जाने वाली सेना का आधा खर्च रोम राज्य दिया करेगा। परन्तु ८ वर्ष तक रोम से एक पैसा भी नही मिला। उधर **कोवद** को हूणो को पैसा देना था। अत उसने आर्मेनिया पर आक्रमण कर मर्यादा पर अधिकार कर लिया। परन्तु रोमन सेना ने उसे वहाँ से भगा कर **निसिविस** को घेर लिया। यह सघर्ष दो वर्ष तक चला। इसी वीच श्वेत हूणो के कई यूथ पुन ईरान पर चढ आये। अत कोवद रोम से ७ वर्ष के लिए सधि कर हूणो से लडने के लिए खुरासान की ओर चल दिया। सधि की शर्त के अनुसार रोम ने १ हजार पौण्ड सोना ईरान को सुरक्षा के लिए दिया।

हूणों से युद्ध—कोवद का हूणो से युद्ध लगातार दस वर्ष तक चला, अर्थात् ५१३ ई० मे जाकर समाप्त हुआ। परन्तु कोवद ने हूणो को इतनी बुरी तरह कुचला कि उन्होंने ईरान की ओर आना सदैव के लिए त्याग दिया।

मजदक धर्म का सफाया—५२३ ई० मे इसने अपने धार्मिक गुरु **मजदक** के शिष्यो का भी सफाया कर दिया । अपने पुत्र के राज्याभिषेक के नाम पर उन्हे बुलाकर इसने कत्ल करा दिया । **मजदक** भाग गया ।

रोम से दूसरा युद्ध—सम्राट् कोवद द्वारा रोम से दूसरा युद्ध ५२४ ई० मे शुरू होकर ५३१ ई० मे समाप्त हुआ । इसका कारण यह था कि रोमन सम्राट् ने (दरस) या **दारानगर** मे, **निसिवस** के पास सधि की शर्तो के विपरीत एक किला बनाया । यही किला लडाई का कारण बना । इस युद्ध मे इसने रोमन सेना को पहले आर्मेनिया मे हराया । उसके बाद मेसोपोटामिया मे परास्त किया । परतु दारा की ओर बढती हुई ईरानी सेना को रोमनो ने हरा दिया । इस समय ईरानी सेना का सेनापति **फीरोज मिहरान** नामक एक कुशल सेनापति था । अत ५३१ ई० मे जब केलिनिकस मे भयकर गुत्थम-गुत्था की लडाई हुई, तब ईरानियो ने रोमनो को पुन हराकर दजला नदी के पार खदेड दिया । परतु दुर्भाग्यवश तभी सम्राट् की मृत्यु हो गयी और लडाई समाप्त हो गयी ।

निर्माण कार्य—भाग्य से लडने वाले इस व्यक्ति ने जहाँ हूणो को सदा के लिए ठडा कर दिया, वहाँ इसने दो नगरो का भी निर्माण किया । इनमे एक नगर **गजा** था जो **काकेशस** की पहाडियो मे है और जिसका वर्तमान नाम **एलिजावेतपोल** है और दूसरा नगर **काजेसन** है जो शापुर नगर के निकट है ।

नौशेरवाँ—(५३१ ई० से ५७९ ई० तक)

विश्व के इतिहास मे ईरान के इस सम्राट् का नाम न्यायप्रियता के लिए विशेष विख्यात है । कोवद के इस पुत्र का जन्म एक किसान लडकी से हुआ था । इस लडकी से उन्होंने **निशापुर** मे उस समय विवाह किया था, जिस समय वह हूणो के विरुद्ध युद्ध करने जा रहे थे । अत नौशेरवाँ को सिहासन भी आसानी से प्राप्त नही हुआ । इसके लिए उसे अपने दो सौतेले भाइयो **जामी** और **काऊस** की हत्या करनी पडी थी । यह व्यक्ति युद्ध मे रुचि नही रखता था । अत इसने दो साल बाद तत्कालीन रोम सम्राट **जस्टीनियन** के पास सधि का प्रस्ताव भेजा जिसे रोमन सम्राट् ने स्वीकार कर लिया ।

सधि की शर्तें—इस सधि के अनुसार दोनो देशो मे तय हुआ कि **काकेशस** की पहाडियाँ आदि के दुर्गो की, आक्रमणकारियो से रक्षा के लिए रोम ११ हजार पौंड सोना देगा । बदले मे दारानगर मे बनाया हुआ रोम का दुर्ग रोमनो के अधिकार मे **रहेगा** । जिसमे नियत सख्या मे ही सेना रखी जा सकेगी । **लैजीका** प्रात के जीते हुए **स्थान**, दोनो देश एक दूसरे को लौटा देगे । परन्तु ५४० ई० से ५५४ ई० तक इसी लैजीका प्रात मे रोम और नौशेरवाँ का युद्ध हुआ । इसका कारण अफ्रीका मे रोम की शक्ति से नौशेरवा का भयभीत होना था ।

युद्ध का प्रारंभ—५४० ई० मे नौशेरवाँ ने अचानक ही सीरिया पर आक्रमण कर **'तियोक'** पर अधिकार कर लिया । इस पर रोमन सम्राट् ने उसे सधि की शर्ते

याद दिलायी, नौशेरवाँ लौट आया। परन्तु अपनी वापसी मे वह विजित स्थानो से कर वसूल करता आया। यही कारण बताकर रोमन सम्राट् **जस्टीनियन** ने युद्ध छेड दिया। अत नौशेरवाँ ने काले सागर के रास्ते से जाकर **पेत्रा** के बन्दरगाह पर अधिकार कर लिया और रोम के सरक्षण मे गया हुआ लैजीका प्रात नोशेरवाँ ने ईरानी राज्य मे मिला लिया। रोमन लोग शात हो गये। परन्तु ५४६ ई० मे रोमनो ने **पेत्रा** को लेने के लिए पुन आक्रमण कर दिया। अत **पेत्रा** कभी ईरानियो के अधिकार मे चला जाता, कभी रोमनो के। अत मे ५५४ ई० मे दोनो ते थक कर सधि करली। इस सधि के अनुसार लैजीका प्रात से ईरान ने अपना अधिकार समाप्त कर रोम को सौंप दिया। बदले मे रोम ने ईरान को प्रति वर्ष २० हजार स्वर्ण मुद्राए देने का वचन दिया। **दरबन्त** पर ईरान का अधिकार माना गया। ईसाइयो को ईरान मे धर्म-प्रचार की सुविधा का वचन दिया गया और सधि की अवधि ५० वर्ष नियत की गयी।

हूणो पर आक्रमण—५५४ ई० मे नोशेरवाँ ने **मोकम खान** से मित्रता कर श्वेत हूणो के प्रात पर आक्रमण कर उनके खान को मार डाला और उसके राज्य को आपस मे बाँट लिया। इस बदर-बाँट मे ईरान को बलख प्रात मिला। इसके बाद ५६७ ई० मे तुर्को के साथ लडाई हुई। इसमे तुर्क बादशाह **दोजाबुल** ने नोशेरवाँ के पास अपना दूत भेजकर उससे वैवाहिक सबध स्थापित करने की प्रार्थना की। परन्तु नौशेरवा ने दूत को भी मरवा डाला। इस पर तुर्क और रोमन सम्राटो ने मिलकर ईरान पर आक्रमण किया। ईरान और रोम का तृतीय युद्ध ५७२ ई० मे हुआ परन्तु इस युद्ध मे नौशेरवाँ ने **निसीबीस** से रोमन सेना को भगा दिया। साथ ही सीरिया पर पुन आक्रमण कर अन्तियोक के आस-पास के प्रान्तो को जलाकर खाक कर दिया। इसके बाद ईरानी सेना ने रोमनो के **दारा** दुर्ग को घेर लिया। दुर्ग छिनने से दुखित होकर रोमन सम्राट् **जस्टीनियन** ने गद्दी त्याग दी और काउन्ट **टाईबेरियस** को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसने ४५ हजार स्वर्ण मुद्राएँ देकर नौशेरवाँ से सधि करली। पहिले यह सधि एक वर्ष के लिए की गयी। बाद मे तीन वर्ष के लिए और की गयी और इस बार खिराज के तौर पर ३० हजार स्वर्ण मुद्राएँ प्रति वर्ष देने का वायदा किया गया।

अबीसीनिया की विजय—५७६ ई० मे नौशेरवाँ ने अबीसीनिया को भी अपना मातहत राज्य बना लिया। इस सदी मे अबीसीनिया वालो ने, यमन पर जोरदार धावा बोलकर उस पर अपना कब्जा कर लिया। उस समय अबीसीनिया की हीमारी जाति का एक राजकुमार नौशेरवाँ के दरबार मे शरणार्थी के रूप मे उपस्थित था। उसकी सलाह से नौशेरवाँ फारस की खाडी की राह से **यमन** के बन्दरगाह तक पहुँच गया। उक्त राजकुमार उसके साथ था। इस लडाई मे नौशेरवाँ जीता और अबीसीनिया को मातहत राज्य बना लिया।

नौशेरवाँ का अन्त—रोमनो को हराकर नौशेरवाँ के हौसले बढ चुके थे। अत उसने आर्मेनिया पर आक्रमण किया। परन्तु रोमन सेनापति **मौरीस** भी ईरान पर चढ आया था और मेसोपोटामिया तक पहुच गया था। इस युद्ध मे नौशेरवाँ सीफोन

से भाग गया और कुछ दिन बाद, ५७९ ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

नौशेरवाँ के कार्य—ईरानी सम्राटो मे सभवत नौशेरवाँ ही पहला व्यक्ति था, जिसने भूमि का सर्वेक्षण कराकर टैक्स नियत किया और वह भी सिक्को के रूप मे। साथ ही किसानो को भूमि-सुधार मे भी सहायता दी जाती थी और बीज आदि का भी प्रबन्ध था।

नौशेरवाँ के समय निठल्ला रहना अपराध था। इसी बिना पर उसने मानी के शिष्यो का वध करा दिया था।

नौशेरवाँ ने यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** और **अरस्तू** के ग्रथो का फारसी भाषा मे अनुवाद कराया और उनका अध्ययन भी किया। इसके साथ ही दर्शन तथा चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा के लिए **गुन्दियासपुर** मे एक विश्वविद्यालय की स्थापना की। इसके अतिरिक्त नौशेरवाँ ने '**खुदय**' नामक एक पुस्तक लिखायी जिसमे ईरान के प्राचीन इतिहास और किवदन्तियो को लिखा गया। ईरानी कवि **फिरदौसी** का "**शाहनामा**" वस्तुत इसी पुस्तक पर आधारित है। अपने वश के सस्थापक **अर्दशीर** की राजाज्ञाओ को भी इसी ने प्रकाशित कराया और रोम के कई दार्शनिको को अपने दरबार मे स्थान दिया। **पिलपाई** नाम के भारतीय कहानीकार की कहानियो का फारसी मे अनुवाद कराया। न्याय-प्रियता और साहित्य प्रेम के लिए यह व्यक्ति सभी ईरानी सम्राटो मे विख्यात है। इसकी अनेको कहावते प्रसिद्ध है। बुढिया के झोपडे की कथा जगत्-विख्यात ही है कि राजमहल के लिए बुढिया ने अपने झोपडे को किसी भी कीमत पर देना अस्वीकार कर दिया था। तब झोपडे की जगह ज्यो-की-त्यो छोडकर महल बनवाया गया था। उस महल को देखकर और इसका कोना दबा देख रोम के राजदूत को जब कारण बताया गया, तब वह सम्राट् की न्याय-प्रियता को देख चकित रह गया।

भारत से सम्बन्ध - नौशेरवाँ के समय ईरान और भारत का व्यापार चरमसीमा पर पहुँच गया था। यहाँ से मसाले और कपडे तथा नील आदि ही ईरान नही जाते थे प्रत्युत दोनो देशो का सामाजिक सम्बन्ध भी उन दिनो बढा। कई ईरानी ईसाई भारत की सास्कृतिक यात्रा पर आये और यहाँ के विद्वान् भी वहाँ गये। उन्ही के साथ भारत से शतरज का खेल भी पहुँचा। नौशेरवाँ के दरबार मे भारतीय विद्वानो के पहुँचने के प्रमाण है। स्वय नौशेरवाँ भारतीय दर्शन से बहुत प्रभावित था। परन्तु ईसाई धर्म से उसे आतरिक घृणा थी। अत भारतीय दर्शन के सिद्धान्त सबसे पहिले इसी के समय वहाँ फैले।

नौशेरवाँ का गुरु—**बुजुर्ग महिर** नामक व्यक्ति नौशेरवाँ का बाल्यकाल का गुरू था और इसे ही उसने अपना प्रधानमत्री बनाया। यह व्यक्ति कुशल प्रबन्धक ही नही था, अपितु एक विद्वान् दार्शनिक था। इसीलिए नौशेरवाँ का प्रियपात्र भी था। एक समय दरबार मे इस विषय पर दार्शनिको के मत लिये जा रहे थे कि "**जीवन मे दुख किन बातो से हैं।**" एक यूनानी दार्शनिक का मत था कि मूर्खता और दरिद्रता से भरी हुई वृद्धावस्था से। भारतीय दार्शनिक ने **मानसिक-चिन्ता** को कारण बताया। बुजुर्ग

मिहिर बोला—"**अन्त समय तक मनुष्य द्वारा कोई भलाई का कार्य न करना।**" यही कथन सर्वोत्तम माना गया। इस दार्शनिक पर ईसाई धर्म का प्रभाव होने के कारण बाद मे सम्राट् खुसरो परवेज ने इसका वध करा दिया।

होर्मुज्द (चतुर्थ) - (५७९ ई० से ५८९ ई० तक)

इस सम्राट् का जन्म नौशेरवाँ की उस पत्नी के गर्भ से हुआ था जो तुर्की के सरदार **मोयन खान** की लडकी थी। इसे क्रमवार रोम और तुर्की के कबीलो से लडना पडा। रोम से इसे दो बार लडना पडा। ५८० ई० की लड़ाई मे ईरानी सेनापति मारा गया। ५८८ ई० मे इस पर तुर्क कबीलो ने आक्रमण कर दिया। इस युद्ध मे ईरानी सेनापति **बहराम** ने तुर्कों के खान को मार डाला और उसके बेटे को कैद कर लिया। इसके बाद ५८९ ई० मे बहराम को सम्राट् ने **लैजीका** प्रात पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस युद्ध मे वहराम हार गया। सम्राट ने उसका अपमान किया। परिणाम यह निकला कि अधिकाश सेना ने विद्रोह कर राजधानी **सीफोन** पर आक्रमण कर दिया। यही पर सेना ने सम्राट् को पकड कर मार डाला।

खुसरो पर्वेज—(५८९ ई० से ६२८ ई० तक)

सासानी-वश का यह अन्तिम सम्राट् होर्मुज्द का सबसे बडा लडका था। सेनापति वहराम अब भी विद्रोही बना हुआ था। खुसरो ने इसे पुन बुलाने का प्रयत्न किया। राज्य मे उसे दूसरा स्थान देने का भी लालच दिया गया। किन्तु वहराम स्वय सम्राट् वनने का स्वप्न देख रहा था। अत उसने स्पष्ट ही अपनी यह इच्छा व्यक्त कर दी। इससे चिढकर सम्राट् एक सेना लेकर उसकी विद्रोही सेना को कुचलने के लिए चल पडा। परन्तु वहराम ने गुरिल्ला युद्ध आरभ करके सम्राट् को लौटने पर विवश कर दिया। इसके बाद सम्राट् को राजधानी भी छोडकर **फरात** नदी की ओर भागना पडा। वहराम की सेना अब भी पीछा कर रही थी। अत सम्राट को **सिरसेसियम** पहुँचकर रोम के अधिकारियो की शरण लेनी पडी। अन्त मे रोमन सम्राट् ने सेना की सहायता इस शर्त पर देने के लिए कहा कि **दारा** तथा **मार्टीरोपोलिस** के दुर्ग और आर्मेनिया का ईरान वाला भाग रोम को दिया जाय।

५९१ ई० मे खुसरो ने वहराम की विद्रोही सेना पर दजला नदी के पास प्रहार किया। इस लडाई मे वहराम का सेनापति मारा गया। इसके बाद खुसरो अजरबेजान पहुँचा, यहाँ उसके चाचाओ ने इसके लिए सेना एकत्र कर रखी थी। इसे लेकर वहराम पर पूरी शक्ति से आक्रमण किया गया। इस समय वहराम कुर्दिस्तान की पहाडियो मे अपने मोर्चे लगाये बैठा था। लडाई मे वहराम हार गया और तुर्कों के पास चला गया। इस बीच मे रोमन सरदारो ने राजधानी सीफान आदि से बागी ईरानी सेना का सफाया कर दिया था। अत सम्राट विजयी रूप मे राजधानी **सीफोन** मे आया।

हत्याकाण्ड—राजधानी आकर इसने पहला कार्य यह किया कि अपने विरो-

धियो को फँसाने की योजना बनाई। अगरक्षक के रूप मे इसने ईरानी सेना न रखकर रोमन सेना रखी। बहराम को इसने पुन सेनापति बनाने का लालच देकर बुलवाकर मरवा दिया और बाद मे अपने चाचाओ के सर भी कटवा दिये।

रोम नगरों की लूट—६०२ ई० मे **फोकश**-नामक व्यक्ति ने रोमन सम्राट् मौरीस की हत्या करदी अत ६११ ई० मे इस गडबड का लाभ उठाकर, पर्वेज ने यरुशलम पर आक्रमण कर दिया और हज़रत ईसा के 'क्रास' को उठा लाया जो समस्त ईसाई जगत् मे अत्यन्त पवित्र वस्तु मानी जाती थी। ६१६ ई० मे इसने मिस्र पर आक्रमण किया और मिस्र के बन्दरगाह **सिकन्दरिया** पर अधिकार कर लिया। ६१७ ई० चाल्सीडान पर अधिकार कर लिया जो **बिठीनिया** नदी के तट पर था। रोम सम्राट् ने अपना राजदूत **खुसरो** के पास भेजा। परन्तु उससे कोई लाभ न हुआ। अत अब ईरानी राज्य की सीमा दारा (प्रथम)के समय तक पुन हो गई। इसके बाद ६२२ ई० से ६२७ ई० तक रोमन सम्राट् **हेराक्लियस** का पर्वेज से युद्ध चलता रहा, यह युद्ध विभिन्न स्थानो पर लडे गये और सभी मे ईरानी सेना हारी। उसका सेनापति **सहीन** मारा गया। दूसरा सेनापति **सहरबराज** भी जगह-जगह पराजित हुआ। इसी से क्रुद्ध होकर उसने सेनापति **सहीन** की लाश की बे-इज्जती की और **शहरबराज** को कत्ल करने की आज्ञा दी। इस पर सेना ने विद्रोह कर दिया और सम्राट् को पुत्र सहित एक कोठरी मे बन्द कर दिया। बाद मे दोनो की हत्या करदी।

पर्वेज की महानता—क्रोधी वृत्ति का होने के साथ ही यह सम्राट् बहुत-सी बातो मे महान् भी था। इसकी सबसे पहली महानता धर्म के बारे मे थी। जरथुस्त्र के अनुयायियो के इस अनुरोध पर कि ईसाइयो को भगाया जाय, उसने स्पष्ट इंकार कर दिया था। **शीरीन** नामक इसकी पत्नी स्वय रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की थी। उसने स्वय कई गिर्जाघर और ईसाई मठो का निर्माण कराया था। परन्तु अपने अन्तिम समय मे रोमनो की विजय से क्षुब्ध होकर इसने गिर्जाघरो की सम्पत्ति जप्त करली और ईसाइयो को **नस्तूरी-धर्म** स्वीकार करने पर भी विवश किया था।

कला-कौशल से प्रेम—इस सम्राट् को कला-कौशल से अत्यन्त प्रेम था। साथ ही भावुक भी था। अपनी पत्नी शीरीन, और काले घोडे **शब्दीज** के प्रति उसे बडा मोह था। इतिहासकार **तिवारी** ने इसके वैभव के बारे मे लिखा है—"इस सम्राट् के हरम मे १२ हजार स्त्रियाँ थी। सेना मे ५ हजार ऊँट, घोडे और गधे थे। दरबार मे विद्वानो का एक वर्ग था जो साहित्य का कार्य करता था। सम्राट् सोने के सिंहासन पर बैठता था, जिसके पाये लालमणि के बने थे।" अन्त मे यह शासक क्रूर-वृत्ति का हो गया। साहित्य की समृद्धि इसके समय मे विशेष हुई।

कोवद द्वितीय—(६२८ ई० से ६२९ ई० तक)

यह भी खुसरो का लडका ही था। इसने खुसरो द्वारा लूटे हुए **क्रास** को आदर सहित रोम सम्राट् को वापस कर सधि करली, साथ ही पर्वेज ने जिन व्यक्तियों

को परेशान किया था, उनके प्रति सहानुभूति का व्यवहार कर आर्थिक सहायता भी दी। परन्तु अपने सभी भाइयो का कत्ल करा दिया। परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठे इसे अभी एक वर्ष भी नही हुआ था कि प्लेग की बीमारी से यह मर गया।

यज्दगिर्द (तृतीय)—(६३४ ई० से ६४२ ई० तक)

कोवद के मरने के पश्चात् ईरान मे अराजकता मच गई। हत्याओ और षड्यन्त्रो से सारा शहर त्रस्त हो गया। इस समय फारस के सेनापति **शहरबराज** ने भी शासक बनने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे उसकी ही सेना ने मारकर सडक पर फेंक दिया। अत ६२९ ई० से ६३४ ई० तक वहाँ अराजकता ही मची रही। ६३४ ई० मे इस अराजकता का अन्त हुआ और ईरान के सिंहासन पर एक ऐसा व्यक्ति बैठा जो सासानी वश का निश्चय से ही अतिम व्यक्ति था।

सासानी वश के इस अतिम दीपक पर अरबो के मुस्लिम खलीफाओ ने राज्य जीतने और इस्लाम का प्रचार करने के लिए सयुक्त रूप से भारी आक्रमण किया। "**नहायवन्द की अन्तिम लड़ाई**" के नाम से विख्यात इस युद्ध मे ईरानी सेना पूर्ण रूप से पराजित हुई। यज्दगिर्द बलख की ओर भाग निकला परन्तु मर्व के पास कुछ लोगो ने उसकी हत्या कर दी। इसके साथ ईरान का सासानी वश और जरथुस्त्र धर्म दोनो ही समाप्त हो गये और बाद का ईरानी इतिहास मुसलमानो के हाथो मे चला गया।

सासानी-वश की ईरानी सामाज को देन

ईरान के सासानी-वश ने ईरानी समाज को कला-कौशल और साहित्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ दिया। इन वैभवशील सम्राटो ने जिनकी प्रशसा यूनानी इतिहासकारो और चीनी दूतो तक ने की है, कला-कौशल आदि की दृष्टि से ईरान को बहुत आगे बढाया था। इस कार्य मे सबसे अधिक श्रेय सम्राट् नौशेरवाँ को इसलिये मिला कि उसके सिंहासनारूढ होते समय ईरान मे लूट-खसोट और व्यभिचार का बोल-बाला था। हखमानिश वश के सम्राटो ने भूमि की कोई ठोस व्यवस्था नही की थी। उनके समय किसान से उपज का $\frac{1}{10}$ भाग से $\frac{1}{3}$ भाग तक लिया जाता था और अधिकारियो की लूट-खसोट अलग थी।

नौशेरवां की भूमि व्यवस्था और कर—नौशेरवाँ ने समस्त भूमि का सर्वे कराकर बाँध तथा सडकें बनवायी और बीज आदि देने का प्रबन्ध भी किया। भूमिकर अदा करने के लिये किसानो को छूट भी दी गयी, वह चाहे सिक्के की शक्ल मे अदा करे अथवा अनाज की सूरत मे। किसानो पर अधिकारी अत्याचार न करे, इसके लिये जरथुस्त्र-धर्म के पुरोहितो को देख-रेख करने के लिये नियत किया गया था।

पहलवी भाषा की उन्नति– सासानी सम्राटो ने पहलवी भाषा की विशेष उन्नति की। इस भाषा को इन्होंने राज्य की भाषा बनाया। ईरानी समाज मे इस भाषा का प्रचलन ४थी शताब्दी मे हुआ था और ९वी शताब्दी तक इसका प्रयोग ईरान मे

हुआ। इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमे लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। उदाहरणार्थ रोटी को 'लहमा' लिखा जाता है और 'नान' पढ़ा जाता है। 'मल्कान-मल्का' का शाहशाह पढ़ा जाता है। जन्दावस्था की व्याख्या भी इसी भाषा मे की गयी थी।

पहलवी-भाषा तथा साहित्य—जन्दावस्था के भाष्य के अतिरिक्त इस भाषा मे और भी पर्याप्त साहित्य तथा शिलालेख लिखे गये। परन्तु इस भाषा मे अधिकतर साहित्य धार्मिक ही लिखा गया। इस भाषा मे लगभग ८२ ग्रन्थ लिखे गये। जिनमे 'दिनकर्त' और 'बुन्दाशाह' जैसे गन्थ भी सम्मिलित है। इसी भाषा मे ५वी शताब्दी मे एक उपन्यास भी लिखा गया। जिसका नाम है—'यत्कर-ई-जरीरान' फिरदौसी को अपने 'शाहनामा' मे इसी से काफी सहायता मिली थी। इस भाषा मे शतरज पर भी एक किताब लिखी गयी। सम्राट् अर्दशीर पर भी इस भाषा मे एक किताब लिखी गयी। इसका नाम है—'अर्दशीर-पापकान'। इस ग्रन्थ का जर्मन भाषामे नोल्देके ने अनुवाद किया है। यह पुस्तक छठी शताब्दी मे लिखी गयी है। 'सीस्तान के चमत्कार' भी इसी भाषा मे लिखी गयी। इस युग मे प्रस्तर लिपियाँ तो लिखी गयी, किन्तु कविता-साहित्य पर कुछ नही लिखा गया। उदाहरणार्थ सम्राट् अर्दशीर ने 'नख्श-ई-रजब' के शिलालेख को पहलवी भाषा के दो रूपो मे यूनानी अनुवाद सहित लिखाया था।

भवन-निर्माण और वास्तुकला—सासानी-काल मे वास्तुकला अपने उत्कर्ष के पर्याप्त ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकी थी। उस काल मे बने ईरानी सम्राटो के महल और मदिर इस बात के प्रतीक है। उन्ही की निर्माण-कला का प्रभाव अरबो पर भी पडा। उस समय प्राय सभी प्रकार के भवन चौकोर बनाये जाते थे, जिनके बीच मे मण्डप होता था। इन कमरो के ऊपर गुम्बद होते थे और इनमे कार्निसो और ताको का बाहुल्य होता था। धर्म मदिर भी प्राय इसी प्रकार के बनाये जाते थे।

फीरोजाबाद का महल—सासानी काल का यह राजमहल सबसे प्राचीन (दूसरी सदी) है और भव्य है। यह भवन 'जुर' नामक नगर मे, शीराज के दक्षिण-पूर्वी कोने पर स्थित है। वर्तमान नाम **फीरोजाबाद** है। इस भवन की लम्बाई ३२० फुट और चौड़ाई १७० फुट है। इसके मुख्य द्वार पर एक मेहराबदार हाल ९० फुट लम्बा और ४३ फुट चौडा है। इस हाल के दोनो ओर छोटे-छोटे हाल है। इनके अतिरिक्त गुम्बदनुमा तीन कमरे और बने हुए थे, जिनमे होकर आँगन मे पहुँचा जाता था। आँगन के चारो ओर भी कमरे बने थे। इसी भवन की भाँति सर्विस्तान का भवन है, जो फीरोजाबाद के ही पास है।

नौशेरवाँ-भवन—सम्राट् नौशेरवाँ द्वारा निर्मित इस भवन मे एक स्वर्ण सिंहासन था। इस सिंहासन पर बैठकर, नौशेरवाँ प्रजाजनो को दर्शन देता था। इस भवन के बीच मे अर्द्ध गोलाकार मेहराब है। इमारत चौकोर खम्भो पर बनाई गई है।

खुसरो महल—यह महल अब 'इमारत-ई-खुसरो' के नाम से विख्यात है। 'कस्रे-शीरीन' मे यह जेग्रोज पहाडी के पश्चिम मे है। ७वी सदी मे बनाया गया यह

को परेशान किया था, उनके प्रति सहानुभूति का व्यवहार कर आर्थिक सहायता भी दी। परन्तु अपने सभी भाइयो का कत्ल करा दिया। परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठे इसे अभी एक वर्ष भी नही हुआ था कि प्लेग की बीमारी से यह मर गया।

यज्दगिर्द (तृतीय)—(६३४ ई० से ६४२ ई० तक)

कोवद के मरने के पश्चात् ईरान मे अराजकता मच गई। हत्याओ और षड्यत्रो से सारा शहर त्रस्त हो गया। इस समय फारस के सेनापति **शहरबराज** ने भी शासक बनने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे उसकी ही सेना ने मारकर सडक पर फेंक दिया। अत ६२९ ई० से ६३४ ई० तक वहाँ अराजकता ही मची रही। ६३४ ई० मे इस अराजकता का अन्त हुआ और ईरान के सिहासन पर एक ऐसा व्यक्ति बैठा जो सासानी वश का निश्चय से ही अतिम व्यक्ति था।

सासानी वश के इस अतिम दीपक पर अरबो के मुस्लिम खलीफाओ ने राज्य जीतने और इस्लाम का प्रचार करने के लिए सयुक्त रूप से भारी आक्रमण किया। "**नहायब द की अन्तिम लड़ाई**" के नाम से विख्यात इस युद्ध मे ईरानी सेना पूर्ण रूप से पराजित हुई। यज्दगिर्द बलख की ओर भाग निकला परन्तु मर्व के पास कुछ लोगो ने उसकी हत्या कर दी। इसके साथ ईरान का सासानी वश और जरथुस्त्र धर्म दोनो ही समाप्त हो गये और बाद का ईरानी इतिहास मुसलमानो के हाथो मे चला गया।

सासानी-वश की ईरानी सामाज को देन

ईरान के सासानी-वश ने ईरानी समाज को कला-कौशल और साहित्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ दिया। इन वैभवशील सम्राटो ने जिनकी प्रशसा यूनानी इतिहासकारो और चीनी दूतो तक ने की है, कला-कौशल आदि की दृष्टि से ईरान को बहुत आगे बढाया था। इस कार्य मे सबसे अधिक श्रेय सम्राट् नौशेरवाँ को इसलिये मिला कि उसके सिहासनारूढ होते समय ईरान मे लूट-खसोट और व्यभिचार का बोल-बाला था। हखमानिश वश के सम्राटो ने भूमि की कोई ठोस व्यवस्था नही की थी। उनके समय किसान से उपज का १/१० भाग से १/३ भाग तक लिया जाता था और अधिकारियो की लूट-खसोट अलग थी।

नौशेरवां की भूमि व्यवस्था और कर—नौशेरवाँ ने समस्त भूमि का सर्वे-कराकर बाँध तथा सडके बनवायी और बीज आदि देने का प्रबन्ध भी किया। भूमिकर अदा करने के लिये किसानो को छूट भी दी गयी, वह चाहे सिक्के की शक्ल मे अदा करें अथवा अनाज की सूरत मे। किसानो पर अधिकारी अत्याचार न करे, इसके लिये जरथुस्त्र-धर्म के पुरोहितो को देख-रेख करने के लिये नियत किया गया था।

पहलवी भाषा की उन्नति– सासानी सम्राटो ने पहलवी भाषा की विशेष उन्नति की। इस भाषा को इन्होने राज्य की भाषा बनाया। ईरानी समाज मे इस भाषा का प्रचलन ४थी शताब्दी मे हुआ था और ९वी शताब्दी तक इसका प्रयोग ईरान मे

हुआ। इस भाषा की विशेषता यह है कि इसमें लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। उदाहरणार्थ रोटी को 'लहमा' लिखा जाता है और 'नान' पढ़ा जाता है। 'मल्कान-मल्का' का शाहंशाह पढ़ा जाता है। जन्दावस्था की व्याख्या भी इसी भाषा में की गयी थी।

पहलवी-भाषा तथा साहित्य—जन्दावस्था के भाष्य के अतिरिक्त इस भाषा में और भी पर्याप्त साहित्य तथा शिलालेख लिखे गये। परन्तु इस भाषा में अधिकतर साहित्य धार्मिक ही लिखा गया। इस भाषा में लगभग ८२ ग्रन्थ लिखे गये। जिनमें 'दिनकर्त' और 'बुन्दाशींह' जैसे ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। इसी भाषा में ५वीं शताब्दी में एक उपन्यास भी लिखा गया। जिसका नाम है—'यत्कार-ई-जरीरान' फिरदौसी को अपने 'शाहनामा' में इसी से काफी सहायता मिली थी। इस भाषा में शतरंज पर भी एक किताब लिखी गयी। सम्राट् अर्दशीर पर भी इस भाषा में एक किताब लिखी गयी। इसका नाम है—'अर्दशीर-पापकान'। इस ग्रन्थ का जर्मन भाषा में नोल्देक ने अनुवाद किया है। यह पुस्तक छठी शताब्दी में लिखी गयी है। 'सीस्तान के चमत्कार' भी इसी भाषा में लिखी गयी। इस युग में प्रस्तर लिपियाँ तो लिखी गयीं, किन्तु कविता-साहित्य पर कुछ नहीं लिखा गया। उदाहरणार्थ सम्राट् अर्दशीर ने 'नक्श-ई-रजब' के शिलालेख को पहलवी भाषा के दो रूपों में यूनानी अनुवाद सहित लिखाया था।

भवन-निर्माण और वास्तुकला—सासानी-काल में वास्तुकला अपने उत्कर्ष के पर्याप्त ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकी थी। उस काल में बने ईरानी सम्राटों के महल और मंदिर इस बात के प्रतीक हैं। उन्हीं की निर्माण-कला का प्रभाव अरबों पर भी पड़ा। उस समय प्रायः सभी प्रकार के भवन चौकोर बनाये जाते थे, जिनके बीच में मण्डप होता था। इन कमरों के ऊपर गुम्बद होते थे और इनमें कार्निसों और ताकों का बाहुल्य होता था। धर्म मंदिर भी प्रायः इसी प्रकार के बनाये जाते थे।

फीरोजाबाद का महल—सासानी काल का यह राजमहल सबसे प्राचीन (दूसरी सदी) है और भव्य है। यह भवन 'जुर' नामक नगर में, शीराज के दक्षिण-पूर्वी कोने पर स्थित है। वर्तमान नाम **फीरोजाबाद** है। इस भवन की लम्बाई ३२० फुट और चौड़ाई १७० फुट है। इसके मुख्य द्वार पर एक मेहराबदार हाल ९० फुट लम्बा और ४३ फुट चौड़ा है। इस हाल के दोनों ओर छोटे-छोटे हाल हैं। इनके अतिरिक्त गुम्बदनुमा तीन कमरे और बने हुए थे, जिनमें होकर आँगन में पहुँचा जाता था। आँगन के चारों ओर भी कमरे बने थे। इसी भवन की भाँति सर्विस्तान का भवन है, जो फीरोजाबाद के ही पास है।

नौशेरवाँ-भवन—सम्राट् नौशेरवाँ द्वारा निर्मित इस भवन में एक स्वर्ण सिंहासन था। इस सिंहासन पर बैठकर, नौशेरवाँ प्रजाजनों को दर्शन देता था। इस भवन के बीच में अर्द्ध गोलाकार मेहराब है। इमारत चौकोर खम्भों पर बनाई गई है।

खुसरो महल—यह महल अब 'इमारत-ई-खुसरो' के नाम से विख्यात है। 'कस्रे-शीरीन' से यह जेग्रोज पहाड़ी के पश्चिम में है। ७वीं सदी में बनाया गया यह

महल एक उद्यान के मध्य मे था, जहाँ आजकल केवल खजूर आदि के पेड ही रह गये हैं। जिस समय अरब लेखक वहाँ पहुँचे थे, तभी काफी जगल उग आया था और जगली जानवर भी वहाँ पहुँच गये थे।

इस भवन के सामने एक तालाब था। लकडी की छत के बने इस प्रासाद मे, कई खम्भे लगे थे, जो ईंटो के बने हुए थे। इसके अतिरिक्त खुसरो ने एक महल और बनवाया था, जो मशीता-महल के नाम से प्रसिद्ध है। इस भवन को नाना प्रकार की फूल-पत्तियो के चित्रो मे सजाया गया था। इन चित्रो मे जानवरो के चित्र भी हैं। इस महल का निर्माण भी ७वी सदी मे ही हुआ था।

सासानी-काल की चित्र-कला—सासानी-काल की चित्र-कलाओ के दर्शन पत्थर की शिलाओ और उनके महलो के खण्डहरो की दीवारो आदि पर होते हैं। यह चित्र करमशाह, शापुर आदि स्थानो मे अधिक सजीव हैं। इनमे 'नक्शे-ए-रुस्तम' के चित्र, हखमानिश सम्राटो की कब्रो के नीचे मिले हैं। पहले ईरानी-लोग इन दाढी वाले लोगो को रुस्तम की ही आकृतियाँ समझते थे। १९वी सदी मे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पडा। इन चित्रो की सख्या ७ है। इनमे से एक मे सम्राट् शापुर घोडे पर सवार हैं और रोमन सम्राट् कैदी बना, जमीन पर पडा हुआ है। दूसरा वन्दी मिरियाडिरस है। दोनो के पैरो मे जजीरें हैं। सम्राट के सर पर मुकुट है। दाढी मे गाँठ लगी है। उसके मस्तक के पीछे, तलवार की मूठ और घोडे की पूँछ पर, राजकीय पट पडा दिखायी देता है। सम्राट् सलवार पहने है। यह चित्र २६० ई० का बना है। एक चित्र मे सम्राट् अर्दशीर को राजकीय दण्ड प्राप्त करते दिखाया गया है। अन्य चित्रो मे परस्पर युद्ध के दृश्य हैं।

करमशाह के चित्र—यहाँ पहाड काटकर मेहराबें बनाई गई हैं। बाहर एक अर्धचन्द्र का चित्र बना है। बराबर मे पखवाली विजय की पख-युक्त मूर्तियाँ हैं। यह अलकारो से युक्त हैं। दीवार के ऊपर के चित्र मे, खुसरो को भाला लेते दिखाया गया है। नीचे के भाग मे सम्राट् की आकृति है, मेहराब के दोनो ओर शिकार के चित्र हैं। इन पशुओ और सम्राट् के विभिन्न कार्यों के चित्र हैं। साथ ही गाने-बजाने वालो के भी चित्र हैं। शिकार की इस बहुलता से स्पष्ट है कि ईरानी अधिकतर मासाहारी थे।

सासानी सम्राटों की सैनिक शक्ति—उभरे हुए प्रस्तर चित्रो से सासानी-सम्राटो की सैन्य शक्ति के गठन का भी ज्ञान होता है। इन्होने पार्थिया के सैनिको की वेश-भूषा और शस्त्र दोनो मे परिवर्तन किया क्योकि, पार्थिया की अपेक्षा सासानी घुडसवारो के अस्त्र भारी हैं, शरीर पर भारी कवच है और हाथो मे मजबूत ढालें हैं। साथ ही घोडे भी कवच पहिने हैं। तीरो के अतिरिक्त तलवारो और बल्लमो को भी इन्होने अधिक विशेषता दी थी। यूरोपियन लोगो ने मध्यकाल मे इन्ही लोगो की सैनिक वेश-भूषा को अपनाया। अत सासानी लोगो ने पदाति सेना की अपेक्षा अपनी घुडसवार सेना को अधिक शक्तिशाली बनाया और भारत से हाथी मँगाकर हाथियो की सेना भी बनाई। इन हाथियों को देखकर रोमनो के घोडे भाग खडे होते थे।

शाही खजाची के लिये आज्ञा थी कि वह उसी सैनिक को वेतन दिया करे, जिसे पूर्ण रूप से अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित देख ले। सम्राट् नौशेरवाँ को भी प्रधान सेनापति होने के नाते ४ हजार एक दिरहम मिलता था, एक वार सम्राट् के पास धनुष के दो तार नही थे, जिन्हे प्रत्येक सैनिक के लिए रखना अनिवार्य था, अत सम्राट् को खजाची ने वापस कर दिया और तभी वेतन दिया जव सम्राट डोरियाँ ले आया।

शाही दरबार—सासानी सम्राटो का दरबार, विगत ईरानी सम्राटो के दरबारो से तडक-भडक और शानो-शौकत मे सभी से ज्यादा होता था। उनकी ऐश्वर्य-शालीनता का वर्णन चीनी दूतो ने भी किया है। रोमन सम्राटो ने उनकी वहुत नकलें की थी। दरवारो के वहुत से दृश्य शिल्प-चित्रो के रूप मे भी मिले हैं। इनमे नौशेरवाँ का दरवार और भी ठाठ का था। इसी प्रसग मे नौशेरवाँ के एक कालीन का भी वर्णन किया गया है। यह कालीन ७० फुट लम्बा ६० फुट चौडा था। इस कालीन के मध्य मे एक वगीचा वना हुआ था। इस वगीचे की जमीन सोने की थी। रास्ते चाँदी के थे। हरियाली दर्शाने के लिये पन्नो का प्रयोग किया गया था। झरने श्वेत मोतियो से वनाये गये थे। इसी प्रकार वगीचे मे लगे फूल और फल आदि भी जो पेडो पर लगे दिखाये गये थे, वह हीरो, मणियो तथा अन्य जवाहरातो से वनाये गये थे।

सिहासन और मुकुट—सम्राट् का सिहासन ठोस सोने का, शेर के आकार का और पाये जवाहिरातो के बने होते थे। सम्राट के सर पर भारी मुकुट और हाथ मे राज-दण्ड होता था।

सम्राट् का स्थान और दरबारी—सम्राट् अपने दरवार मे ऊँचाई पर काफी पीछे हटकर पर्दे के अन्दर वैठता था। इतिहासकार **मसूदी** ने लिखा है—"दरवार मे तीन भाग होते थे। पहले भाग मे मुसाहिव, मातहत राजा लोग तथा वडे अमीर और राज-परिवार के व्यक्ति, राजकुमार आदि होते थे, जो सम्राट् के पर्दे से ३० फुट दूर वायी ओर खडे होते थे। दूसरे भाग मे छत्रप, वडे कर दाता आदि अधिकारी होते थे, यह पहली कतार वालो से भी ३० फुट पीछे खडे होते थे। तृतीय श्रेणी सम्राट् का मनोरजन करने वालो यथा नृतको, गायको और विदूषक आदि लोगो की होती थी। यह दूसरी पक्ति के भी पीछे खडे होते थे। सिहासन के दायी ओर रक्षक-दल खडा रहता था। सम्राट् के पास विना वुलाये कोई नही जा सकता था। वुलाये जाने पर भी मुँह पर रूमाल वाँध कर जाना पडता था। सम्राट् के सामने पहुँचकर दरवारी लेट जाता था और तव तक औंधा पडा रहता था, जब तक सम्राट् उठने के लिए नही कहता था।

"सम्राट् लोग शिकार के शौकीन होते। प्राय सभी सम्राटो को वाज पालने का शौक था। शतरज और पोलो मन-वहलाव के साधन वन गये थे, जिन्हे रानियाँ भी खेला करती थी। महल स्त्रियो से भरे रहते थे। उनमे हिजडो का नियन्त्रण रहता था। सम्राटो मे भाई-वहिनो के विवाह का उल्लेख चीनी दूतो ने भी किया है।"

चीन से सम्बन्ध—सासानी-काल मे चीन और ईरान का दौत्य सम्बन्ध काफी वढ गया था। चीनियो ने ईरान का नाम—पो-ज-राज्य लिखा है। चीनी राजदूतो ने

यहाँ पाँच प्रकार के अन्नो की पैदावार के साथ-साथ, यहाँ के सफेद हाथियो, बडे-बडे गदहो और ऊँचे-ऊँचे ऊँटो का भी वर्णन किया है। इन्होने शुतुरमुर्ग और उनके ऊँटो का भी जिक्र किया है। लिखा है। यह पक्षी ऊँटो जैसा ऊँचा होता है, पख होते हैं, दौड सकता है, परन्तु उड नही सकता। अडे रेत मे देता है जो बडे-बडे होते हैं। उस समय के उद्योग-धन्धो के विकास, सिचाई-योजनाओ का भी वर्णन किया गया है। सम्राट् कोवद और नौशेरवाँ के समय जो चीनी राजदूत थे। उन्होने सासानी सम्राटो की भवन-कला का भी वर्णन किया है।

धार्मिक खीचतान—सासानी सम्राटो के काल मे दो नई ऐतिहासिक घटनाएँ घटित हुईं और उन्होने यूरोप के लोगो की धार्मिक-भावना पर गहरा प्रभाव डाला था। इन घटनाओ मे एक थी, ईसाई समुदाय मे परस्पर मतभेद और दूसरी थी **मजदक** नामक एक नये धर्म का देश मे उदय होना, जिसका प्रभाव ११वी और १२वी सदी तक यूरोप-भर मे व्याप्त रहा।

ईसाई मतभेद—ईसाई समुदाय के मतभेद की घटना सम्राट् फीरोज़ के समय 'भगवान के रूप प्रसग' को लेकर घटित हुई। इस घटना के तत्व रोम मे प्रारम्भ हुए थे। अत ईरानी ईसाइयो ने भी इसमे भाग लिया। इस समुदाय के सत नूरी नामक एक व्यक्ति थे, जिन्होने हज़रत ईसा के दो रूप माने—एक ईश्वरीय और दूसरा मानवीय तथा माता मेरी को हजरत ईसा की माता स्वीकार किया, न कि भगवान् की माता। नूरी के इसी सिद्धात का प्रचार **बारसोया** नामक फारस निवासी ईसाई बिशप ने किया और ईरानी सम्राटो ने उसे इसलिये प्रोत्साहित किया, ताकि ईरान स्थित ईसाइयो की शक्ति रोम-राज्य से हटकर ईरान राज्य की ओर हो जाय और यह लोग रोम की जासूसी करना छोड दे। इस सम्प्रदाय ने ईसाई पादरियो को विवाह करने की छूट भी दे दी। इस सम्प्रदाय के पादरी अब भी विवाह करते है। बिशप नही करते। नस्तूरी सम्प्रदाय से क्रोधित होकर रोमन सम्राट् ने ४८९ ई० मे एदेसा स्थित उनके कालेज को तोड दिया। अत बारसोमा ने निसीबीस मे उससे भी बडा कालेज खडा कर दिया। इस कालेज मे धर्म शिक्षा के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। अत इस कालेज के ईरानी स्नातको ने यूरोपियन सस्कृति पर भी प्रभाव डाला।

मजदक का धर्म—हजरत मजदक नामक यह व्यक्ति पारसी धर्म का पुरोहित था। इसका कथन था कि भगवान् ने सबको एक-सा उत्पन्न किया है। न कोई बडा बनाया है, न छोटा। अत जीवन पर्यन्त उसकी यही स्थिति रहनी चाहिए। ईरान के सामाजिक जीवन पर उसके सिद्धान्तो का भी काफी प्रभाव पडा। सन् ४८७ ई० मे तत्कालीन ईरानी सम्राट् कोवद ने इसे बहुत बढाया-चढाया। इसी कारण ईसाई लोगो के षड्यत्रो मे अमीरो और सेनाओ ने फँसकर उसे गद्दी से उतार दिया, परन्तु इसी सम्राट् ने दुबारा गद्दी पर बैठने पर उसके शिष्यो की हत्या कराई और अन्त मे सम्राट् नौशेरवाँ ने उनकी भी हत्या कर दी।

पार्थिया साम्राज्य की शासन-पद्धति

पार्थिया साम्राज्य की शासन पद्धति हखमानिश वंश के ईरानी शासकों से सर्वथा भिन्न थी। वस्तुत राजनीति में यह लोग उनके मुकाबले अत्यन्त अज्ञानी थे। पार्थी साम्राज्य नाम के लिए ११ भागो या प्रान्तो मे विभाजित था, जो पार्थिया सम्राट् को कर देते थे, अन्य सभी मामलो मे वह स्वतत्र थे। इसके अतिरिक्त विजित राज्यो को भी केवल नाम-मात्र के लिये अधीन बनाकर उन्ही राजाओ को राज्य सौप दिया जाता था। बेबीलीन आदि कुछ प्रान्त ऐसे अवश्य थे, जहाँ छत्रप थे। अन्यथा राज्य-भर मे फैले हुए यूनानी नगर राज्य तक स्वतत्र थे। वे भी केवल कर अदा करने भर के लिए परतत्र थे। यूनानियो की भाँति ही यहूदियो के भी वहाँ अपने नगर राज्य थे। आतरिक मामलो मे यह भी स्वतत्र थे और यही नगर राज्य रोमनो से युद्ध के समय उल्टे पार्थिया के विरुद्ध रोमनो को सहायता दिया करते थे।

राज्य सभाएँ—सम्राट् के आधीन दो राज्य सभाएँ होती थी, जिनकी सलाह से सम्राट् शासन करता था। इनमे एक सभा राज्य परिवार के लोगो की होती थी और दूसरी सभा धर्म पुरोहितो की होती थी। सम्राट् के गद्दी पर बैठने से पहिले इनकी अनुमति लेना आवश्यक था। सम्राट् केवल असीशीद वश का ही कोई व्यक्ति हो सकता था। सम्राट् को मुकुट सेनापति पहनाता था। इस व्यक्ति का पद वशानुगत था। मागी पुरोहितो का राज्य भर मे बोलवाला था।

सम्राट् का अधिकार—सम्राट् के अधिकार असीमित थे। उसका शरीर अत्यन्त पवित्र माना जाता था। जन-साधारण की पहुँच सम्राट् तक नही होती थी। लोग केवल हर मदिर मे स्थापित सम्राट् की सोने की मूर्ति का दर्शन कर उसकी पूजा कर लेते थे। सम्राट् स्वय सोने के सिंहासन पर बैठता था। उसके अतिरिक्त मुकुट धारण नही कर सकता था। सम्राट् अनेको स्त्रियो से विवाह करता था, किन्तु महल भर मे **पटरानी** केवल एक ही स्त्री होती थी। महल उपत्नियो और बादियो से भरा रहता था। जिनमे यूनानी, रोमन तथा अन्य देशो की स्त्रियाँ भी होती थी। स्त्रियो को महल मे भी पर्दे मे रहना पडता था। परन्तु महलो मे इन्होने हिजडो को स्थान नही दिया, इसलिए यह हखमानिश वश के सम्राटो की भाँति हिजडो द्वारा सचालित महलो के षडयन्त्रो से बचे रहे।

राज दरबार—पार्थिया सम्राटो का दरबार बडे ठाठ का होता था। इसमे राज्य परिवार के व्यक्तियो, धार्मिक पुरोहितो तथा मुसाहिबो का बोलवाला रहता था। यह सभी लोग, सेनापतियो सहित विलासी जीवन व्यतीत करते थे। प्रसाधन सामग्री का व्यवहार अनिवार्य था। मौसम के अनुरूप सम्राट् का दरबार विभिन्न नगरो मे ऋतुए व्यतीत करता था। जाडे के दिनो मे **मेसोपोटामिया,** गर्मियो मे मिडिया प्रान्त की राजधानी **एकबटाना,** कभी यूनानी लोगो का नगर **सेल्यूसीया** तो कभी अपनी नई राजधानी **रनिस** जो मीडिया, मग्ना तथा पार्थिया को मिलाने वाली सडक पर थी। यहाँ पर इस खानदान के सम्राटो ने आलीशान महल बनवाये थे। अभिप्राय यह है

कि पार्थिया की प्राचीन राजधानी हेकातोमपीलीस मे दरवार वहुत कम समय रहता था।

शाही सैन्य-सगठन –इन सम्राटो के पास अपनी विशाल सेना तो थी, साथ ही युद्ध-काल मे प्रत्येक मातहत राजा को अपनी सेना सहित युद्ध मे आना पडता था। सेना मे पैदल और घुडसवार दोनो होते थे। अधिकतर सैनिक छुरो, वल्लमो और धनुपवाणो से लडते थे। नाविक वेडा इनका कमजोर था। सेना मे अधिकतर घुडसवारो को ही महत्त्व दिया जाता था। उन्हे काफी सजा कर रखा जाता था। युद्ध के समय सैनिक लोहे के चमकीले शिरस्त्राण पहिनते थे।

वेश-भूषा—उस काल की वेश-भूषा का ज्ञान, सिक्को, मूर्तियो और चित्रो से होता है। यह लोग सर पर रिबन वाधते थे और सलवार जैसा पायजामा पहनते थे। अधिकाश लोग दाढियाँ रखते थे। कुछ लोगो ने यूनानियो के सम्पर्क मे आने पर, दाढियाँ मुँडवानी भी शुरू कर दी थी। मूँछें भी साफ कराने का रिवाज पड गया था। इतिहास लेखक गार्डनर ने, असीशीद प्रथम के सिक्के पर चित्रित वेश-भूषा का वर्णन करते हुए लिखा है "सम्राट् के सर पर कोणदार शिरस्त्राण है, जिसमे कान तथा गर्दन की रक्षा के लिये छज्जे बने हैं। इसके चारो ओर जडाऊ अलकार है। जैसा कि यूनानी नरेश धारण करते थे। नरेश के कानो मे वालिया और गले मे हार है। शरीर पर जजीरो का बना कवच है, जिससे पजो तक हाथ और घुटनो तक पैर ढके हैं। इसके ऊपर भी एक लबादा है। पैरो मे फीते वाले जूते हैं।"

देवी-देवता—इनके प्रधान देवता सूर्य थे। जरथुस्त्र-धर्म का यह आदर करते थे। तत्र-मत्र का इनके यहाँ सत्कार होता था। जरथुस्त्र-धर्म के पुरोहितो का विशेष आदर किया जाता था और अपने पूर्वजो की देवताओ की भाँति पूजा की जाती थी। परन्तु सम्राट लोग अन्य धर्मो के प्रति भी उदार व्यवहार रखते थे। यहूदी और ईसाई धर्म के अनुयायियो से उनके यहाँ दुराव नही होता था। सम्राट् बोलोजेसस प्रथम ने जरस्थुस्त्र-धर्म की प्रतिष्ठा को पुन स्थापित करने के लिये आवेस्ता के अवशिष्ट अशो को एकत्र कराकर, उन्हे सकलित कराया। परवर्ती सम्राटो के सिक्को पर, यूनानी देवताओ—जीयस तथा पनलस आदि की मूर्तियाँ भी वनाई गयी हैं। परन्तु सम्राट् लोग मुख्यत मिथ्र देवता के ही पुजारी थे, जैसा कि उनके नामो से सिद्ध है।

कला-कौशल—पार्थिया की वास्तुकला अपनी श्रेष्ठता के किस बिन्दु तक पहुच चुकी थी, इसका प्रमाण, इतिहासकार फीलोस्ट्रेटस द्वारा पार्थिया सम्राटो द्वारा वेवीलोन मे वनाये राजप्रासाद के वर्णन से स्पष्ट है। फीलोस्ट्रेट्स ने लिखा है— "इस राजप्रासाद की छत पीतल की वनी हुई है। स्त्रियो और पुरुषो के लिये अलग-अलग कमरे वने हुए है। द्वारो पर सोने-चाँदी के पत्तर मीनाकारी-युक्त लगे हैं। कालीनो पर यूनानी देवी-देवताओ के चित्र वने है। इन चित्रो मे एथेन्स की तरह, थर्मापोली की लड़ाई आदि के भी चित्र हैं। पुरुषो के लिए वनाये गये एक कमरे की छत आकाश सदृश है। जिममे सितारे वनाने के लिए नीलमो का प्रयोग किया गया है।

वर्णन मे आगे कहा गया है—

"इस कथित आकाश मे जिन देवताओ की पूजा की जाती है, उनकी मूर्तियाँ भी लगाई हुई हैं। इसी कमरे मे बैठकर सम्राट् अपना निर्णय सुनाया करता है। इसमे जादू के चार चक्र भी लगे हुए है, जिनका प्रभाव सम्राट् की बुद्धि पर सदैव पड़ता रहता है। इन्हे देवताओ की जिह्वा कहा जाता है, जिन्हे मागी पुरोहितो ने लगाया है।"

पार्थिया सम्राटो का दूसरा राजप्रासाद दजला-फरात नदियो के बीच मे बसे हात्रा मे बना हुआ था। अमीयानस मार्सीलीनस ने ३६३ ई० मे इसे देखकर, इसका वर्णन इस प्रकार किया था—

"सारा शहर तीन मील के दायरे मे बसा हुआ है, जिसके चारो ओर शहर-पनाह है। इस दीवार मे रक्षा के लिये सैनिको के लिए बुर्ज बने हुए हैं। इस नगर के मध्य भाग मे राजप्रासाद खण्डहर अवस्था मे पडा है। राजप्रासाद के प्रधान भवन मे स त बडे बडे हाल है। जिनका आकार ९०×४० और ३०×२० फुट है। प्रकाश आने के लिए यह खुले हुए है। यह सभी भवन मेहराबदार हैं और खम्भो पर बनाये गये है। सभी हालो पर स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ रखी रहती थी। जिनके निर्माण पर यूनानी-कला की छाप स्पष्ट थी। इनके अतिरिक्त बहिस्तून की पहाडियो पर भी पार्थिया मूर्तिकला के कुछ अवशेष मिले है। जिनके ऊपर यूनानी भाषा मे शिलालेख हैं। यह सभी लडाइयो सम्बन्धी कृतियाँ है।"

पार्थियों की मुद्रा प्रणाली—पार्थिया सम्राटो की मुद्रा को **दिरहम** कहा जाता था, जो चाँदी की होती थी। इन सम्राटो ने सभवत सोने का सिक्का नही चलाया। सम्राट् अशीसीस के सिक्को पर, एक ओर सम्राट् को यूनानी देवता **अपोलो** के मस्तक पर बैठा हुआ दिखाया गया है और दूसरी ओर उसे सिंहासन पर बैठा दिखाया गया है। प्राय सभी सिक्को पर यूनानी भाषा मे सम्राटो की पदवियाँ खुदी हुई है। परन्तु सम्राट् वोलोजेसस पचम, अर्तबानस पचम तथा अर्तवसदीस के सिक्को पर, यूनानी भाषा के अतिरिक्त पहलवी भाषा भी अकित है। सम्राट् अर्तवसदीस के सिक्को पर जो उसकी पदवी अकित है, वह केवल राजा की है। सभवत उसके समय पार्थिया राज्य काफी घट गया था। परतु अन्य सम्राटो ने, वही शब्द अकित कराये जो सम्राट् फ्रातिस ने कराये थे। अर्थात् महान् सम्राट् और मिथ्रदत्त प्रथम ने अपने को सम्राटो का सम्राट् अकित कराया था। दूसरी ओर सम्राट् का चित्र था।

गार्डनर के मतानुसार पार्थिया राज्य के सिक्के दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं। एक वह सिक्के जो चाँदी और ताँबे के हैं, जो यूनानी नगरो मे ढलवाये जाते थे और दूसरे वे सिक्के है जो पार्थिया मे ही ढलते थे। होने यह भी चाँदी और ताँबे के ही थे। सोने के सिक्को की प्रगति यहाँ नही हुई।

प्रमोदी जीवन—पार्थियो के सबध मे ऐतिहासकार **प्लूटार्क** के कथन से दो बातो का पता चलता है। एक तो यह लोग यूनानी भाषा के जानकार थे। दूसरे यह यूनानी नाटको को बडे चाव से देखते थे। अर्थात् मनोरजनप्रिय थे। सगीत और नृत्य मे यह

पर्याप्त रुचि लेते थे । दावतो और शुभ अवसरो पर यह नृत्य आदि करते थे, जिनमे ढोलक और बाँसुरी आदि बजाये जाते थे । मास का विशेष प्रयोग करने के कारण यह शिकार के भी बहुत शौकीन थे । खजूर की बनी शराब का प्रयोग करते थे । परतु चरित्र बुरा नही था । अपने वचन का पालन करते थे और अपने कैदियो के साथ भी दया का बर्ताव करते थे ।

मिस्री सभ्यता की स्थापना और विकास

अन्य देशों की सभ्यताओ की भाति मिस्री सभ्यता का उदय भी 'नील' नदी की हरी-भरी कछारो मे ही हुआ। ईसा से लगभग सात हजार वर्ष प्राचीन इस मिस्री सभ्यता को बहुत-से इतिहासकार अभी तक भी विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता मानते है। उनका विश्वास है कि यही नील नदी जो अफ्रीका के अन्तस्थल मे स्थित **विक्टोरिया न्यानजा और अलबर्ट** नामक विशाल सरोवरो से निकल कर ३६०० मील के लगभग बहती है, मानव को सभ्यता के प्रकाश मे लाने वाली पुनीत नदी है। इसी के किनारे एक दिन मिस्र के आदि मानव ने अपनी बुद्धि तथा कौशल से पशुओ तथा शक्ति के अन्य स्रोतो की सहायता से, अपने जीवन को सुखसमृद्धि की ओर बढाया। यही उसने सर्व प्रथम बैलो के कधे पर जुआ रखकर, खेती करना आरम्भ किया। इसीलिए ससार भर की सभ्यताओ मे सर्वप्रथम मिस्री सभ्यता मे ही **गाय** को पूजनीय माना गया और 'एपिस' अर्थात् गाय की मूर्ति की पूजा का आरम्भ हुआ। उस समय मिस्रियो का मृत्यु देवता "**सेरापीज**" था जिसका आकार बैल की तरह था।

जिस समय यूनानी सभ्यता अपने पूर्ण विकास पर थी, उस समय भी मिस्र की गणना विश्व के सबसे प्राचीन देशो मे थी। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक **प्लेटो** जब एक बार नील नदी के किनारे बने प्राचीन मन्दिरो के दर्शनार्थ गया था, तब उससे थीबी के पुरोहितो ने दर्प के साथ कहा था कि 'हम लोगो की दृष्टि मे तुम यूनानी लोग अभी कल के बच्चे हो।' ऐसे ही यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोट्स ने अपनी मिस्र-यात्रा के बाद लिखा था—"**यूनान के देवी देवताओ की कल्पना मिस्र की नकल मात्र है।**"

केवल यूनानी यात्रियो ने ही मिस्र की प्राचीनता को स्वीकार किया है, ऐसी बात नही, रोमन लोगो ने भी मिस्र की प्राचीनता को स्वीकार किया है। रोमनो के वैभव के दिनो मे उन लोगो का मिस्र मे आना-जाना बिल्कुल इसी तरह लगा रहता था, जैसे कि किसी दूर देश के वासी पराये देश मे किसी तीर्थ-यात्रा के लिए प्रत्येक वर्ष आते रहते हो। रोमन लोगो की यात्रा के प्रमाण **फिली** के मन्दिर की दीवारें हैं, जो खोदखोदकर रोमनो के नामो से भरी पडी है।

वस्तुत मिस्र की प्राचीनता को जितना पुराना इतिहासकारो ने माना है, मिस्र

की प्राचीनता उससे भी कहीं अधिक पुरानी है। १८वीं और १९वीं सदी मे जितनी खोजें हुई, उन्होंने प्राचीन इतिहासकारों के मत को ही नहीं बदल दिया, वरन् नये इतिहासकारो को भी अपने मत पर पुन विचार करने के लिए विवश कर दिया तथा इसीलिए अब यह मानना पड़ता है कि मिस्र मे सिनाथिज युग से भी पहिले, एक प्रागैतिहासिक युग था जिसका पता मिस्र के ऊपरी भाग की सिना रेगिस्तान तथा न्यूबिया के प्रारम्भिक शिलागृहा या ढालसैनो मे उपलब्ध प्रागैतिहासिक काल के अवशेषो से लगता है।

उस काल की मिट्टी की मूर्तियो पर गुदनो के चिह्न हैं तथा मिस्री राजवशो के युग से पहिले के दो रगो मे रगे वर्तन है। इन रगीन वर्तनो के नीचे टेढ़ी-मेढ़ी रेखा है और उनके बीच मे नौकाओं अथवा पशुओं या पक्षियों के चित्र हैं। यह सारे चित्र गहरे लाल रग मे रँगे हुए है। पुरातत्त्ववेत्ता मेगिन के अनुसार ' मिस्र मे ईसा से २० हजार वर्ष पूर्व से चार हजार वर्ष पूर्व तक पत्थर-युग था और लोग नगे घूमते थे। सभ्यता के प्रकाश मे इन्हे लाने का श्रेय आर्य जाति की किसी शाखा को है जो दक्षिण से आई थी; क्योकि उस काल के मिस्री रीति-रिवाजो और भारतीय रीति रिवाजो मे बहुत समानता है, जिनका व्यवहार भारत के आर्य कुलो मे होता था। भारत के पत्थरों के औजार अन्य देशो मे पाये गए पत्थरो के औजारो से अच्छे मिले हैं।

"आर्य जाति की इस शाखा ने ही मिस्र मे आकर, नागरिक सगठन का आरम्भ किया और नवीन सभ्यता की नींव डाली। आरम्भ में इन्होंने जनता को कई पेशों मे विभक्त करके भारत की भाँति छोटे-छोटे राज्य बनाये। ऐसे अनेकों नगर राज्य नील नदी के किनारे-किनारे फैले हुए थे और शनै-शनै वह पेशेवर लोग जातियों के रूप मे आकर परस्पर सम्मिलित होते गये और ऊपरी तथा निचले दोनो मिस्रो मे विभक्त हो गये। अन्त मे ईसा से ७ हजार वर्ष पूर्व 'मीनीज' या मेने' नामक फेरो अर्थात् सम्राट् के आधीन मिलकर एक हो गये। आस्वान बाँध की खुदाई से प्राप्त वस्तुओ ने हमारी इस धारणा को पुष्ट कर दिया है। इन वस्तुओ से ज्ञात हुआ है कि यह सभ्यता भारतीय है और २२ हजार वर्ष पुरानी है। वस्तुत भारतीयो की यहाँ बसने वाली ही एक शाखा पुन भारत लौटकर आई थी, जिसे द्रविड कहा जाता है। यह जो भारतीय धर्म सिद्धान्त ले गई थी, वहाँ से कुछ और साथ ले आई।

मिस्री राजवश—मिस्र पर लगभग ३१ राजवशो ने राज्य किया और उनके शासनकाल मे, मिस्र के सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे बडे-बडे परिवर्तन होते रहे। इनके शासनकाल मे मिस्र अनेको बार अपने पडोसियो का गुलाम बना, उनसे स्वतन्त्र हुआ। कभी आक्रमणकारी के रूप मे किसी पडौसी राज्य को हडपने मे भी सफल हुआ तो कभी किसी बाहरी देश का वर्षों तक उपनिवेश भी रहा। कितने ही युग ऐसे भी आये कि मिस्र मे कोई शासन-सत्ता ही न रही और देश मे वर्षों तक अराजकता चलती रही। मिस्र मे अनेको सभ्यताए बाहर से आईं और उन्होंने शासन भी यहाँ काफी दिनो तक किया; लेकिन वह भी मिस्र की सभ्यता मे अधिक अन्तर

न ला सकी। हाँ, मुहम्मद साहब के बाद मिस्र मे इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि वहाँ की वह सेमेटिक जाति, जो मूर्तिपूजक थी, इस्लाम धर्म मे दीक्षित हो गई और आज सारा मिस्र देश इस्लाम धर्म का अनुयायी है।

मिस्री समाज की प्रारम्भिक-स्थिति—मिस्र के लोग अनाज और माँस मछलियाँ खाते थे। वह मांस सहित ८ प्रकार के भोजन और चौबीस प्रकार के नशीले पेय पदार्थों का प्रयोग करते थे। अमीर लोग फलो की शराबो का और गरीब लोग जौ की शराबो का प्रयोग करते थे। मिस्री बच्चे बारह वर्ष की आयु तक नगे फिरा करते थे। साधारणतया मर्द और औरते पेट से नीचे थोडा सा वस्त्र लपेट लेती थीं। आगे चलकर स्त्रियाँ और पुरुष सीना ढकने लगे और चुस्त कपडो को छोड कर ढीले कपडे पहनने लगे। वहाँ के स्त्री और पुरुष आभूषणो के शौकीन थे। कान छिदवाने का वहाँ रिवाज था। आदमी दाढी मूँछे साफ रखते थे। स्त्रियाँ अपने बालो को तरह-तरह से बनाती थीं और जूडो मे फूलो का प्रयोग करती थी। लोगो को साँडो की लडाइयाँ देखने का चाव था और उस काल के मिस्री मेलो मे साँडो के दगल हुआ करते थे।

कला-कौशल—मिस्री लोग ताँबा और टीन मिलाकर काँसा बनाना जानते थे। हमारे दक्षिण के बारे मे जो यह कहा जाता है कि दक्षिण सीधे पत्थर-युग मे काँसा युग मे आ गया, वहाँ ताँबा-युग नही, उसका कारण भी यही है कि आर्यो की यह कथित द्रविड शाखा मिस्र से लौटने पर काँसे का प्रयोग करती थी। लकडी पर नक्शकारी करना वहाँ के कारीगर अच्छी तरह जानते थे। कुर्सी, पलग, गाडी और नाव आदि यह लोग बना लेते थे। रगीन चमकीले पालिशदार मिट्टी के बर्तन और शीशे की चीज़ें वह बना लिया करते थे।

पहले वह जानवरो की खालो से वस्त्र बनाया करते और उसी मे तरकश और ढाल बनाते थे। पेडो के **रेशों** से चटाइयाँ, रस्से, जूते और कागज बनाना उन्होंने सीख लिया था। उद्योग-धन्धो मे अधिकतर काम कारीगर लोग गुलामो से लेते थे। सिक्को का प्रचलन न होने के कारण मजदूरी और वेतन जिन्सो मे दिया जाता था। अमीर आदमी लेन-देन आदि के मामलो मे धातुओ के छल्लो का प्रयोग करते थे।

इजीनियरिंग का ज्ञान मिस्र वालो को अच्छा था। यहाँ तक कि रोम यूनान और यूरोप के अन्य देश वालो ने अठारहवी शताब्दी तक उनसे इस मामले मे प्रतिस्पर्धा करने का साहस ही नही किया। उनके बनाये हुए विशाल पिरामिड, बाँध, और देव मन्दिर आज भी इस विद्या के पडितो को चुनौती दे रहे हैं।

नारी स्थिति—मिस्री जनता और राजवश मे अपने रक्त को शुद्ध रखने के लिए अपनी बहिनो और लडकियो से शादी करना बुरा नही समझा जाता था। राजाओ और रईसो मे रखैलें रखने का रिवाज था। तलाक-प्रथा का प्रचलन था, लेकिन आगे चलकर इसमे यह परिवर्तन कर दिया गया था कि स्त्री तलाक नही दे सकती थी, पुरुष दे सकता था। साधारणत समाज की स्त्रियाँ बाजार हाट के कार्य मे स्वतन्त्र थी।

जायदाद की उत्तराधिकारिणी प्राय स्त्रियाँ ही बनाई जाती थी। स्त्रियो को प्रत्येक क्षेत्र मे प्रवेश की पूरी स्वतन्त्रता थी। मिस्र मे स्त्रियो की प्यार मे पुरुषो पर कविता स्त्रियाँ किया करती थी और प्रेम आदि के मामले मे भी सदा उल्टा ही हिसाब था। अश्लील-चर्चा करना बुरा नही माना जाता था।

शिक्षा-विधि—शिक्षा-प्राप्ति का साधन करबत्त (मन्दिर) थे। मन्दिरो के बाद विद्यार्थी लोग कचहरियो मे ट्रेनिंग लेते थे। प्रारम्भ मे यह लोग सांकेतिक चित्र-लिपि मे लिखते थे। धीरे-धीरे इन शब्द-चित्रो का आकार छोटा होना चला गया और ईसा के २ हजार वर्ष पहले, उन शब्द-चित्रो ने २४ व्यजनो का रूप ले लिया। मिस्र के उस काल के लेख पाँचवे और छठे राजवंशो के काल मे पर्याप्त लिखे गये जो पिरामिडो मे मिले है। यह लेख पपाइरस-कागज पर लिखे हुए मिले है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। इनकी भाषा मे वैदिक शब्दो की बाहुल्यता है। अत इनकी प्राचीन भाषा वैदिक ही थी, जो क्रमश अपभ्रंश बन गई।

यह भाषा आर्यभाषा की अपभ्रंश तूरानी हो गई। इनके आदिम पुरोहित ड्रूइड कहलाते थे। यह शब्द द्रविड भाषा का है। मिस्र मे मिले एक प्राचीन नाटक मे कन्नड भाषा का एक लम्बा कथोपकथन पाया गया है।

चोरो के देवता को द्वारका मे त्रिविक्रम कहते थे। यह तीन प्रकार के बल दिखाने वाला था। मिस्र के तीन सिर वाले मथयू (बुद्ध) के देवता के समान थे। जिसको हर्मीज ट्रिप्लेक्स कहते थे।

मिस्र मे जाने के लिए भारतीयो को एक छोटा सा पुल पार करना पडता था। जिस प्रकार अफ्रीका और एशिया को स्वेज नहर ने जुदा कर रखा है, इस समय स्वेज नहर के स्थान पर पतला सा सागर था। इस नदी समान सागर को लाँघकर ही आर्यो ने उपनिवेश बसाया। इस विषय मे ब्रूगसवे नाम के विद्वान ने लिखा है—"इतिहास-काल से पूर्व आर्यो ने स्वेज पुल को पार करके, नील नदी के किनारे अपना उपनिवेश बसाया।" 'हिस्टोरीकल हिस्ट्री ऑफ दी वर्ल्ड, मे लिखा है—"इजिप्ट निवासी पणियो की शाखा हैं। यह लोग भारत से पर्शियन गल्फ होते हुए लालसागर के दक्षिणी पान्त नामक देश मे गये। हमारा विश्वास है कि यह भारत के पांड्य देश का नाम है। इन्होने पांड्य और फिनिशिया बसाया। खोपडियो के मिलान से भी यही पता चलता है कि यह आर्य थे। यहाँ नदी का नाम भारतीय वाङ्मय मे नाइल है जो भारत से आने वाले नील के कारण पडा।"

ईरानी सम्राट् दारा (दारायवहु) के प्राचीन शिलालेखो मे सिन्धु और कुशावती (अबीसीनिया) का उल्लेख है। इसी कुशद्वीप की नील नदी का नाम पुराणो मे आया है। उसी वर्णन को आधार मानकर मि० जे० एच० स्पीक ने नील नदी के उद्गम स्थान का पता लगाया था। उन्होने 'नील नदी के उद्गम स्थान की खोज' नामक अपनी पुस्तक मे, पुराण मे वर्णित भौगोलिक वर्णन की प्रामाणिकता की सराहना भी की है।

मिस्र मे दानव नामक जाति रहती थी। यह शब्द भारतीय है। मन, माशा, सिल्क, वजन शब्द भी भारतीय हैं। यहाँ के नाम भी शिव और मेस हैं[1] "मिस्र निवासी अपने को सूर्यवंशी कहते है। सूर्य की पूजा करते है और मनु को अपना मूल पुरुष मानते है।"[2] "उनके पुराने पत्रो से ज्ञात हुआ है कि वे पूर्व जन्म मे विश्वास करते थे। जिससे सिद्ध है कि वे भारतीय थे।

कर्नल वाल्कर कहते है ई० पू० ८ हजार मे भारत से आकर आर्यो ने यह उपनिवेश बसाया। यहाँ आर्य तीन बार पहुँचे। प्राचीनो व नवीनो का मिश्रण होने से इसका **मिस्र** नाम पडा। मिस्र के तीन नाम है—**कमित**, हयि और **मिस्र**। कमित **कुभृत** का अपभ्रंश है। जिसका अर्थ काली मिट्टी है। यह **नील** के कारण पडा। हयि शब्द **अप** का अपभ्रंश है। अप जल को कहते है। मिस्र मिलावट को कहते हैं जो संस्कृत शब्द है।[3]

इन लेखो मे धार्मिक विषय की कविताएँ, कहानियाँ, प्रेमगीत, रणगीत, मंत्र-तंत्र, पत्र तथा स्तुति-गान और ऐतिहासिक वंशावलियाँ आदि शामिल हैं। आयुर्वेद, जर्राही, प्रजनन चिकित्सा और शृंगारिक लेपो के मसालो का उन्हे अच्छा ज्ञान था। शल्य-चिकित्सा के बारे मे उनके लेखो मे ४८ प्रकार के आपरेशनो का उल्लेख मिलता है। संतति-निरोध की औषधियाँ ईसा से १६०० वर्ष पूर्व ही खोज निकाली गई थी।

साहित्य और संगीत की भाँति संगीत और चित्रकला के वह भी अच्छे जानकार थे। वह अपने चित्रो मे कई प्रकार के रंगो का प्रयोग करते थे। इस रंगीन चित्रकला की समानता केवल मात्र चीन को छोडकर अन्य कोई देश नही कर सकता था।

धार्मिक विचार—धार्मिक मामलो मे मिश्र वालो के सदा ही बडे संकीर्ण विचार रहे हैं। उनकी प्रत्येक कृति मे धर्म का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पाया जाता है। उनके देवताओ की वंशवेलि का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि **पृथ्वी, चंद्रमा** तथा **सूर्य** आदि के अतिरिक्त नदी, पेड, पशु-पक्षी आदि मे भी वे देवत्व की भावना मान लेते थे। राजाओ को यहाँ सदा से ही देवताओ की श्रेणी मे रखा जाता था। जीवो मे बकरे, गाय और बैल को बडा महत्त्व दिया जाता था। मिस्र के **फराऊन** जो ताज पहनते थे, उसमे सूर्य का चिह्न होता था। सूर्य की बन्दर के रूप मे भी पूजा होती थी। वह वृक्ष के फल के समान माना जाता था और बन्दर की तरह कूदने वाला। **रा** (अमोन) **ओलरिस, आइरिस हारेस** और **सुलेख** सब देवताओ मे प्रमुख थे। मिस्री राजाओ मे केवल **इखनातोन** ही एक ऐसा शासक था, जिसने **अमोन देवता** और उसको दी जाने वाली पशु-बलि का विरोध किया था। वह केवल सूर्य का उपासक था और एक

१ 'हिन्दी विश्वकोश मे उपनिवेशवाद

2 India in greece P 178

3 Undated Hemetia Writings P 70

एकेश्वरवाद का समर्थक। शेष सारे देवताओ को वह कपोल-कल्पित मानता था। अपने ईश्वर आतोन की आराधना के लिए उसने भक्तिमूलक स्तुतियों की रचना की थी।

भारत की तरह मिस्र मे भी देवताओ को खाद्य-पेय पदार्थ चढाये जाते थे। उनकी सेवा के लिए दास-दासियाँ और पुजारी रहते थे तथा मनोरंजन के लिए देवदासियाँ रहती थी।

मनुष्य की मृत्यु के बारे मे भी उनकी धारणा विचित्र थी। उनका विश्वास था कि स्वर्ग अच्छे कर्मो से नही बल्कि मन्त्र-तन्त्रो से मिलता है। मरने के बाद शव सुरक्षित रखा जाय तो निश्चय ही मनुष्य मरने पर सशरीर स्वर्ग जा सकता है।

राजनीतिक स्थिति—मिस्र का राज्य सगठन अच्छा था। शासन का निरीक्षण, और सेना का नियन्त्रण करना राजा लोग अपना कर्तव्य समझते थे। राजाओ को स्वय अपने बनाव-शृगार का इतना शौक था कि राजा के साज-शृगार की वस्तुओ की देख-भाल के लिए २१ अफसर नियुक्त रहते थे। राज्य-कर्मचारियो मे प्रधानमन्त्री और खजाची का पद सबसे मुख्य था और उन्ही से राजा राज्य की व्यवस्था के लिए सलाह लिया करता था। राजा स्वय राज भर मे घूमकर जनता की दशा देखता और न्याय करता था।

मिस्री राज्य चालीस प्रान्तो मे विभक्त था, लेकिन प्रान्त को प्रान्त या प्रदेश न कहकर 'नाम' कहा जाता था। प्रत्येक नाम का उच्च अधिकारी 'सरू' कहलाता था। यह अधिकारी अपने प्रान्त की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था।

राज्य मे भूमि का हिसाब दो तरह से था। एक भूमि वह, जिसका प्रबन्ध राज्य कर्मचारी करते थे और दूसरी वह भूमि थी, जिसके मालिक जमीदार और राज्य को कर देते थे। सिक्को का प्रचलन न होने के कारण मालगुजारी अन्न, शहद, पशु, वस्त्र, तेल तथा शराब आदि के रूप मे वसूल की जाती थी।

न्याय-पद्धति—न्याय करने के लिए नगरो मे रोज कचहरियाँ लगा करती थी और बडे-से-बडे मुकदमे का फैसला प्राय तीन दिन में सुना दिया जाता था। प्रत्येक मामले की समाप्ति की अन्तिम अवधि दो मास थी। प्रत्येक मामले का फैसला कानून के अनुसार होता था। राज्य के कानून कई बन्डलो मे लिखे हुए न्यायालय मे रखे रहते थे।

मुकदमो की सारी कार्रवाई यहाँ तक कि गवाहो के बयान तक लिखित होते थे। निचली अदालतो के विरुद्ध अपील बडी अदालतो मे होती थी और उनके बाद मन्त्रियो की अदालतो मे भी न्याय के लिए रास्ता खुला था। अपील के लिए अतिम अदालत राजदरबार था।

मुकदमा चलाए बिना किसी व्यक्ति को दड नही दिया जा सकता था। कानून सबके लिए समान था, चाहे कोई गरीब हो अथवा अमीर हो। अपराधियो को अधिकतर अग-भग, निर्वासन, कोडे तथा मृत्युदण्ड दिया जाता था। मृत्युदण्ड

प्राप्त अपराधियो को इतना अवसर वेइज्जती से वचने का अवश्य दिया जाता था कि यदि वह चाहे तो आत्महत्या कर ले। फाँसियाँ खुलेआम दी जाती थी।

खोजबीन—मिस्र की प्राचीनता का पता लगाने का श्रेय **नेपोलियन वोनापार्ट और शेम्पोलिग्रो** नामक उस विद्वान को है जिसने अपनी विलक्षण वुद्धि से, वर्षों का समय लगाकर मिस्र की उस साकेतिक लिपि को पढ डाला, जिसके बारे मे लोगो का विश्वास था कि जादू-टोना सम्वन्धी केवल वेल-बूटे है।

प्रारम्भ मे नेपोलियन की मित्र-मण्डली ने तमाम मिस्र की खोज-बीन की। इस मण्डली मे कई वैज्ञानिक, कई एक भूगोलशास्त्री और कई प्रवृतितत्वो के जानकार थे। इन लोगो ने मिस्र की प्राचीनता के जिन अवशेषो का सग्रह किया, उन्हे एक सचित्र पुस्तक के रूप मे छापा। इसके वाद प्राचीन मिस्र की कुजी के रूप मे राजेटा का शिलालेख मिला जो आजकल लन्दन के म्यूजियम मे है, जिसने प्राचीन मिस्र का द्वार इतिहासकारो के लिए खोल दिया।

यह एक काली पत्थर की तख्ती है जिस पर तीन भाषाओ मे लेख खुदे है। इस लिपि को शेम्पोलियो ने पढा और प्रत्येक शब्द का अर्थ ढूंढ निकाला। इसके वाद पैपिरस कागजो पर लिखे लेखो को पढा गया और पिरामिडो से प्राप्त उन सम्राटो के जीवन-चरित्रो को भी पढा गया जो उनकी मोमियाई के साथ ही रखे गये थे। इस सव ऐतिहासिक साहित्य की मदद से ही मिस्र के प्राचीन ३८ राजवशो का पता चला और उसकी प्राचीनता हजारो वर्ष और पीछे हट गई।

उपर्युक्त शिलालेख पढे जाने के वाद भी इतिहासकारो को मिस्र की इतनी प्राचीनता का विश्वास नही हुआ और उन्होने जव तक प्रथम फेरो मीनीज़ के शाही मकबरे की वस्तुओ को अपनी आँखो से नही देख लिया, तव तक यही धारणा वनाए रखी कि मीनीज़ और उसके परिवार की राजकीय वशावलि केवल मिस्री चारणो के दिमाग की उपज है और यह एक पौराणिक कहानी मात्र है। लेकिन उनकी इस धारणा का उन्मूलन मिस्री विद्वान् **डि मारगन** ने नेगादा मे मीनीज के शाही मकवरे को खोज कर किया।

मीनीज के शाही कब्रिस्तान से जो मुख्य वस्तुएँ मिली, उनमे सवसे महत्त्वपूर्ण पत्थर की कुछ तख्तियाँ भी हैं, जिन पर भावपूर्ण मनुष्यो और पशुओ के चित्र चित्रित है और जो प्रारम्भिक कैल्डियन चित्रो के ढँग की है। पत्थर की इन कला-पूर्ण तख्तियो के द्वारा प्रारम्भिक आदि वशो के लोगो तथा उनकी वेश-भूषा के सम्वन्ध मे वहुत-सी जानकारी मिली।

मिस्र का परामिड-युग मिस्र मे पिरामिड युग का आरम्भ तीसरे राजवश के शासनकाल से हुआ। इमसे पहले मिस्र मे मुर्दे गाडने की प्रथा वहुत कम थी। तीसरे राजवश के काल मे मृत्यु-सस्कार मे जो परिवर्तन हुआ, वह लगभग कुछ परिवर्तनो के साथ अभी तक चलता आ रहा है। इस काल मे मिस्रियो का विश्वास यह था कि मुर्दे को गाडने से जीव-तत्त्व दूसरी दुनिया मे नही जा पायेगा। अतः

वहाँ मुर्दों को कब्रो मे गाडना आरम्भ हुआ और उन्ही कब्रो पर ससार के आश्चर्य-जनक स्तूप—पिरामिड बने । यह सारे पिरामिड सख्या मे लगभग ८० हैं और नील नदी के पश्चिमी ओर ही बने है। जिनमे मुख्य तीनो पिरामिड गिजे के पठार पर एक के बाद एक बने हुए हैं। पिरामिड का काल चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है।

इन दिनो **मैम्फिस** नामक नगर मिस्र की राजधानी थी और यहाँ पर दो प्रकार के मकबरे बनाये जाते थे। एक ये **"मस्तबा"** जो कुलीन घरानो की साधारण कब्रें थी, और दूसरे थे शाही मकबरे जो पिरामिड या पिरामिड की तरह के बनाये जाते थे।

कुलीन लोगो की कब्रगाह-मस्तबा की बनावट एक कोठरी जैसी होती थी, जिसकी अन्दर की दीवारो को मृत-व्यक्ति के जीवन की घटनाओ के चित्रो से चित्रित किया जाता था। इस कोठरी की बगल मे एक और कोठरी बनाई जाती थी, जिसमे मृत व्यक्ति की मूर्ति बनाकर रखी जाती थी। अन्त मे इस कोठरी के नीचे एक गहरी-सी कोठरी खोदी जाती थी, जिसमे मृत व्यक्ति की मोमियाई रखी जाती थी। अन्त मे तमाम कोठरियो मे रेत और ककरीट भरकर सारे रास्ते को छिपा दिया जाता था।

इसके अतिरिक्त गरीब लोगो की मोमियाइयाँ रेगिस्तान मे एक गहरा खड्डा खोदकर दफना दी जाती थी और सम्राटो के लिए पिरामिड बनाये जाते थे।

मृतक की मोमियाई बनाये जाने का उस समय मिस्र भर मे रिवाज था। मृतक की देह को कौन-सा मसाला यह लगाकर रखते थे जिससे शव हजारो वर्षों तक सुरक्षित रहता था, इसका पता आज तक भी वैज्ञानिको को नही लगा। न ही मिस्र मे ऐसी कोई पुस्तक है, जिसमे इस मसाले को बनाये जाने की विधि लिखी हो। हाँ, कुछ पिरामिडो की दीवारो और पेपिरस कागजो पर ऐसे चित्र अकित अवश्य मिले हैं, जिनमे मृतक की मोमियाई बनाते हुए जर्राह लोग दिखाये गए हैं।

इन चित्रो को देखने से शव को सुरक्षित रखने वाले मसाले का तो पता नही चलता, परन्तु उनके ढँगो का कुछ आभास मिलता है। यह जर्राह लोग पहले मृतक को सीधा लिटाकर, उसकी आँतो को शरीर से अलग कर लेते थे और बाद मे शेष शव को अनेको औषधियो से धोते और सुखाते थे। उसके बाद वह कोई लेप सारे शरीर पर करते थे। इसी तरह मनुष्य की मोमियाई बनाने का रिवाज एक समय तिब्बत मे भी था।

इन पिरामिडो मे सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध पिरामिड गीजे (प्राचीन मेम्फिस) मे सम्राट **चिओप्स और मेनकुरे** नामक सम्राटो द्वारा बनवाये गए हैं। इन पिरामिडो पर पहले चारो ओर सगमरमर जडा हुआ था। जिसे मुहम्मदअली आदि अनेक मुसलमान बादशाहो ने उखडवाकर, अपनी मस्जिदो आदि मे लगवा लिया।

इन पिरामिडो मे अन्तिम सम्राट् द्वारा बनवाया हुआ पिरामिड सुरक्षित रूप

से मिला है। अन्य अनेक पिरामिडो को यह समझकर कि इनके अन्दर खजाना गडा हुआ है, डाकुओ और आक्रमणकारियो ने जगह-जगह से तोड डाला और उनके अन्दर की मोमियाई भी निकाल ली। पिरामिडो की इस दुर्दशा मे अरबो का भारी हाथ रहा है उन्होंने भी कई पिरामिडो के अन्दर से बहुत-सी ऐतिहासिक वस्तुएँ निकालकर नष्ट कर दीं। लेकिन गिजे के इस पिरामिड मे लकडी के ताबूत और उसके अन्दर पत्थर के सन्दूक मे मोमियाई ज्यो-की-त्यो सुरक्षित रखी हुई मिली है।

इन पिरामिडो के जिस कमरे मे शव रखा जाता था, उसके पास जाने के मार्ग पत्थरो द्वारा बडे घुमाव के भूलभुलैया जैसे बनाये जाते थे। इन विशालकाय पत्थरो को, जिन्हे देखकर सहसा यह प्रश्न सामने आता है कि जब कि उस युग मे क्रेने नहीं थीं, कैसे और कहाँ से उठाकर लाया गया और यहाँ लगाया गया। कहीं-कहीं इस तरह से पत्थर लगाये गए है कि पिरामिड के ऊपर का शेष सारा भाग इन्ही पर टिका हुआ है।

मस्तबा और पिरामिड दोनो की रूपरेखा बिलकुल एक-सी ही थी। अन्तर केवल आकार-प्रकार और बडे छोटे का ही था। दोनो मे ही पहले पत्थर के सन्दूक के अन्दर मोमियाई को रखकर, समाधि बनायी जाती थी। इसके बाद फिर बाहरी समाधि कक्ष बनाया जाता था। इस समाधि-कक्ष मे मृत व्यक्ति की मूर्ति रहती थी। इसके उपरान्त स्वर्गीय सम्राट् को देवताओ की श्रेणी मे स्थान दिया जाता था और पिरामिड से कुछ दूरी पर राजा का मन्दिर बनाया जाता था। मन्दिर तथा पिरामिड के बीच मे एक छोटा-सा मार्ग बना दिया जाता था। इसीलिए पिरामिडो के आसपास जितने मन्दिर मिलते है, उनमे प्राचीन मिस्री सम्राटो की गाथाओ के चित्रो की ही भरमार अधिक है।

मिस्र के प्राचीन मन्दिर और उनके निर्माता—मिस्र की प्राचीनता के प्रतीक जहाँ उनके पिरामिड है, वहाँ उसके मन्दिर भी कम प्राचीन नही हैं। नील नदी के प्रथम द्वितीय और तृतीय प्रपातो के पास अभी भी प्राचीन मिस्र की मूर्ति-पूजा, स्थापत्य-कला और धार्मिक विचारो के प्रतीक के रूप मे खण्डहर बने खडे है। प्राचीन काल मे मिस्री लोग मन्दिरो मे कितनी श्रद्धा रखते थे, इसका पता इसी बात से चलता है कि **वालाशिया** प्रदेश मे ब्यूनियो नामक स्थान मे एक सोने का कडा प्राप्त हुआ है जिस पर **रूनिक लिपि** मे लिखा है कि यह **गोथ जाति** के मन्दिर के निमित्त है। आस्वान बाँध की खुदाई मे नष्ट होने के लिए इन वस्तुओ को बचाने के लिये उत्खनन कराया जा रहा है।

मिस्र मे पिरामिडो का काल ४ हजार वर्ष पूर्व माना जाता है। अत मन्दिरो का काल भी इतना ही मानना पडेगा, क्योकि जब पिरामिड बनता था तो राजा की मूर्ति पिरामिड से कुछ दूर एक मन्दिर मे रखकर पूजी जाती थी। बाद मे मूर्ति के साथ अन्य देवताओ की मूर्तियाँ भी रखी जाने लगी। उस समय मूर्तियाँ अधिकतर लकडी की बनती थीं।

मन्दिरों की भरमार—मिस्र मे वैसे तो मन्दिरो की अधिकतर भरमार **रामसेज** (द्वितीय) के शासनकाल मे हुई, परन्तु छठे राजवश से ही मन्दिरो का निर्माण आरम्भ हो गया था। इससे पहले तक मन्दिर पिरामिड के पास ही बनाये जाते थे, जैसे कि **अदीवास** और **देरअल बहरी** मे, समाधियो से कुछ दूर मैदान मे नदी के किनारे पर बने हैं। ११वे राजवश तक मन्दिरो मे देवताओ के साथ, राजाओ की भी पूजा चलती रही और कही-कही तो एक ही मन्दिर मे कई-कई राजाओ की पूजा होती थी। अमर्ना का रामसेज प्रथम का बनाया हुआ ऐतिहासिक मन्दिर जो पत्थरो का बना हुआ है, ऐसा ही मन्दिर है।

ऐतिहासिक मदिरो का श्रीगणेश—मिस्र के छठे राजवश मे ईसा से २७३२ वर्ष **पेपी** नामक एक राजा हुआ। उसने मिस्र मे लाल पत्थर का मदिर बनवाया। केवल इस मन्दिर के पत्थरो के लिए ही उसने **असवान राज्य** पर दो बार आक्रमण किया और पत्थरो को ढोने के लिए पाँच नहरे बनवाईं। ६४ वर्ष तक अपने शासन काल मे यह राजा पूरा धार्मिक प्रवृत्ति का रहा और उसके राज्यकाल मे **रॉ** (सूर्य) की पूजा की जाती थी। **रॉ** की पूजा का प्रचलन मिस्र के पाँचवे राजवश २९६५ईसा पूर्व ही आरम्भ हो गया था। इससे पहले इस देवता का लोप हो गया था और **होरस** नामक देवता पूजा जाता था। पाँचवें राजवश ने इस देवता को फिर जीवित किया।

इसी राजवश से मिस्र मे पुरोहितो और पुश्तैनी पदाधिकारी लोगो का प्रचलन शुरू हुआ। छठे राजवश ने अपनी महत्ता के लिए विशाल मन्दिर बनवाने शुरू कर दिये। बीच-बीच मे मिस्र पर विदेशियो का अधिकार भी होता रहा और मन्दिरो का निर्माण रुका रहा।

१५५७ वर्ष ईसा पूर्व मिस्र के १२ वें वश के अन्तिम राजा **आमेनेमहेत** ने **लक्सर** के प्रसिद्ध देवालयो का निर्माण कराया। इस राजा ने **अमोन** नामक देवता की पूजा का प्रचार किया जो कुछ समय के बाद **रॉ** से सयुक्त होकर **अमोन रा** के नाम से मिस्र का प्रमुख देवता माना जाने लगा। इस राजा ने मिस्र राज्य को नील नदी के तीसरे प्रपात तक बढाकर, वहाँ किले और मन्दिर बनवाये तथा मन्दिरो मे मनुष्य के चेहरे की सिंह की मूर्तियाँ बनवाईं। उन मन्दिरो के अवशेष अभी तक मौजूद हैं।

ईसा से १५०१ वर्ष पूर्व मे मिस्र के अठारहवें राजवश मे '**थटमीज प्रथम**' नामक राजा हुआ। इसने मेसोपोटामिया की फरात नदी तक धावा किया और लीबिया को जीतता हुआ, मिस्री राज्य को नील नदी के चौथे प्रपात तक ले गया। इन्ही विजयो की यादगार मे उसने मिस्र की राजधानी **थेबीज** मे कई मन्दिर बनवाये और उनके लिए जागीरें नियत की।

ईसा पूर्व १४४७ ई० मे, मिस्र के सिकन्दर '**थटमीज तृतीय**' ने जो मिस्र का दिग्विजयी राजा माना जाता है, मिस्र के पुराने मन्दिरो और मकबरो की मरम्मत कराकर कई नये मन्दिर भी बनवाए।

मन्दिरों की रूपरेखा—मिस्र के विशाल मन्दिरो के बाहर एक आगन होता था और उसके पास ही पुरोहित का उपासना गृह होता था। मन्दिर के अन्दर एक गर्भ-गृह होता था जो देवता के लिए सुरक्षित होता था। इस गर्भ-गृह मे केवल राजा या राज्यपरिवार के व्यक्ति ही जा सकते थे।

मूर्तियो के प्रारम्भिक काल मे मिस्र मे कोमल धातु की मूर्तियाँ बनाई गई। इनमे अधिकतर मूर्तियाँ लकडी घडकर बनाई गई या चूने के पत्थरो को तराश कर बनाई गई। उन मूर्तियो को बनाने के बाद विभिन्न रगो से रग दिया जाता था। उस समय के मूर्तिकार कोमल वस्तुओ से मूर्तियाँ अवश्य बनाते थे, परन्तु मूर्तिकला मे वह इस कला की पूर्णता को पहुँच गए थे। उनकी बनाई हुई मूर्तियाँ सुडौल और चित्ताकर्षक होती थी और उनकी भावभगी को देखकर मिस्री कलाकारो की आदर्श-वादिता का सहज ही मे आभास हो जाता था।

इनके अतिरिक्त मिस्री लोगो के कला-पूर्ण जीवन की झाँकी मस्तबाओ की दीवारो पर रगबिरगी चित्रकारी या नक्काशी द्वारा बनाये गए, उभरे हुए चित्रो मे भी मिलती है। इन मस्तबाओ की दीवारे वस्तुत मिस्री लोक-जीवन की सच्ची और जीती-जागती झाँकियाँ है। इन्ही भित्ति-चित्रो मे हमे उस काल की बडी-बडी मूर्तियो के निर्माण, उनके स्थान परिवर्तन और उनके स्थापन का पता चलता है। उन्ही पर बने चित्रो से मिस्र के सामाजिक ढाँचे का पता चलता है। उन चित्रो मे जहाँ उच्च श्रेणी के लोगो को सुरापान और विविध प्रकार के मनोरजनो मे जीवन व्यतीत करते हुए दिखाया गया है वहाँ कृषको को हल चलाते और मछुवो को नदी मे मछ-लियो का शिकार करते दिखाया गया है।

इस चित्रकला मे लोगो के दैनिक-व्यवहार यथा अनाज पीसना और उससे भोजन बनाना भर ही शामिल नही, अपितु मृत-सस्कार और मृतक के प्रति शोक प्रदर्शित करने के लिऐ विलाप आदि के चित्र, देवताओ की पूजा और लडाई के चित्र भी हैं। कही-कही दाम्पत्य जीवन की झाँकियाँ भी चित्रित की गई है, जिन्हे देखकर उस काल के स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाले पुरुषो के दर्शन होते है, जो अपने शासन भर को अपने ऊपर देवताओ द्वारा सौंपा गया एक भार मात्र समझते थे।

मन्दिरो के प्रारम्भिक काल मे, मन्दिरो मे जितने स्तभ बनाये जाते थे वह कमलनाल के आकार के होते थे जिनके मुडेर कलियो के आकार के होते थे। पिरा-मिड काल मे जितनी मूर्तियाँ बनी उनकी सुन्दरता पर पूरा ध्यान दिया गया, लेकिन मिस्री कला मे कही भी अश्लीलता के दर्शन नही होते।

मिस्री-कला की मूर्तियो मे विशालता की दृष्टि से **स्फिंक्स** की मूर्ति का स्थान सबसे ऊपर है। यह विशालकाय प्राचीन मूर्ति है। एक पहाडी को ही मूर्ति बनाकर खडा किया गया है। मूर्ति किस देवता की है, इसके बारे मे अलग-अलग विचार है, जिन मे से कुछ विचार है कि यह **सूर्य** देवता को समर्पित करने के लिए बनाई गई किसी देवता की मूर्ति है। दूसरा विचार है कि यह मिस्र के प्रारम्भ-काल के किसी सम्राट्

की मूर्ति है। सम्भवत उस नृसिंह रूपी सम्राट् की जिसका भान हमे उस काल की मिली पत्थर की काली तख्तियो पर होता है।

इस मूर्ति का एक भाग चूने की चट्टान से बनाया गया है और पत्थर की विशाल शिलाओ द्वारा उसे पूरा किया गया है। इस मूर्ति के सीने पर एक रोमन मन्दिर की गढन है। यह मूर्ति काल के प्रवाह से रेगिस्तानी रेत के नीचे दब गई थी और केवल इसकी गर्दन पर ही ऊपर दिखाई देती थी। इस दशा मे यह मूर्ति सदियो तक पडी रही किन्तु २४० फुट लम्बी और ६६ फुट ऊँची इस मूर्ति को १८१८ ई० मे पूरी तरह से रेत से निकाल कर सुरक्षित कर दिया गया है।

गिजे के पिरामिडो के पास से प्राप्त एक शिलालेख से यह भी ज्ञात हुआ है कि इस मूर्ति का जीर्णोद्धार सम्राट् **थिम्रोप्स** महान् ने भी एक बार कराया था।

इस मूर्ति के अतिरिक्त पिरामिडो के आस-पास और भी अनेको प्राचीन देव मन्दिर हैं, जिन्हे उत्तरकाल के राजवशो द्वारा थीबी मे बनवाये गए मन्दिरो के प्राक्‌रूप कहा जाता है।

मूर्तिपूजा मे परिवर्तन—जब ग्यारहवे राजवश के शासनकाल मे मिस्र की राजधानी मेम्फिस से बदलकर थीबीज़ चली गई तो मिस्रियो की पूजा-विधि और कला-कौशल मे भी परिवर्तन आ गया। इस काल मे मृत राजाओ की आत्माओ के चित्रों का बनाना और उनकी पूजा करना। प्राय बन्द हो गया और उनका स्थान देवी-देवताओ के भक्तिपूर्ण चित्रो ने ले लिया। मकबरो की विशालता की ओर ध्यान देने की बजाय, मन्दिरो को विशाल बनाने का श्रीगणेश हुआ और राजा लोग मुख्य मिस्री देवता **ओमान-रा** के दीवान समझे जाने लगे।

इस काल मे भी पिरामिड बनाये तो जाते थे, परन्तु पहले की तरह विशाल न बनाये जाकर, छोटे बनाये जाते थे। साथ ही उनके आगे या कुछ दूरी पर जो मन्दिर बनाये जाते थे, वह विशाल होते थे और उनकी बडी-बडी गैलरियाँ बनाई जाती थी।

इन छोटे पिरामिडो का बनना भी बहुत दिनो तक जारी न रहा और इनके स्थान पर लोगो ने चट्टानो को काट-काटकर समाधि भवन बनाना आरम्भ कर दिया। यह मकबरे अधिकतर पहाडियो पर चट्टानो को काट-काटकर बनाये जाते थे और इनसे सम्बन्धित मन्दिर घाटी मे या सामने के मैदान मे बनाये जाते थे।

पहाडियाँ काट-काटकर बनाये गए इन समाधि स्थानो को बडे अच्छे ढंग से छिपा दिया जाता था। परन्तु फिर भी मानव की अर्थ-लोलुप दृष्टि से वह अछूते न बच सके और जब मिस्र की यात्रा करने के लिए यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स गया, तो उसे वहाँ पर ऐसे बहुत से उजडे हुए समाधि-भवन मिले, जिनके अन्दर से सारा सामान चुरा लिया गया था और पत्थर के सन्दूको से मोमियाई निकालकर पुरोहितो ने एक गुप्त स्थान पर एकत्र कर दी थी। इन मोमियाइयो को ढूंढने का श्रेय भी मिस्री-कलाविद् सर 'गैस्टन मैस्पैरो' को ही है, जिन्होंने इन मोमियाइयो का उद्धार कराया

और आजकल यह काहिरा म्युजियम मे ज्यो-के-त्यो शीशो के सन्दूको मे सुरक्षित रखे हैं।

मैस्पेरो को भी अपने अनुसधान मे पर्याप्त कठिनाई उठानी पडी, क्योकि कभी-कभी समाधि-भवनो को लुटेरो के हाथ से बचाने के लिए, कल्पित शव-गृह भी बनाये जाते थे और ऐसे कई शव-गृह मैस्पेरो को मिले। उन कल्पित शव-गृहो मे से बडी कठिनाई से असली शव-गृह के द्वारो का पता चला और वहाँ से शाही मोमि-याइयाँ मिली।

दे'अल-बहरी और अबीदास मे चट्टानो को काटकर, जो बनाये गये मकबरे मिले है, उन मकबरो के साथ भी मन्दिर मिले है। जो मकबरा जिस राजा का भी है, उसी का मन्दिर भी बनाया गया और उसे देवता-रूप से पूजा गया। ऐसे मन्दिर मकबरो से दूर नदी के किनारे, बहुतायत से बनाये गये। इन मन्दिरो मे कही-कही एक राजा की पूजा न की जाकर, कई पीढियो के राजाओ की पूजा इकट्ठे ढग से की जाती थी और कई-कई राजाओ की मूर्तियाँ एक साथ रख दी जाती थी।

अर्मना के जिस प्रसिद्ध मन्दिर को मिस्र के ग्यारहवे राजवश के अधिष्ठाता **रामसेस** (प्रथम) थे बनवाना आरम्भ किया था और जिसका उत्तरार्द्ध **सेती** (प्रथम) तथा अन्तिम रूप से **रामसेस** (द्वितीय) ने पूरा किया, ऐसे ही कई राजाओ की पूजा का सयुक्त मन्दिर था। इसीलिए यह मन्दिर और नील नदी के पार **कार्नाक** और **लक्सर** के मन्दिर अच्छी दशा मे रह पाये, क्योकि इनके निर्माता जो राजा हुए उनकी पीढियाँ लम्बी चली। अन्यथा मिस्र मे ऐसे राय मन्दिरो के बारे मे यह परि-पाटी थी कि एक पीढी का मन्दिर दूसरी राजपीढी के आरम्भ होने पर या तो बिना मरम्मत के स्वय ही समाप्त हो जाता था अथवा उसे समाप्त कर दिया जाता था और दूसरी राज-पीढी के राजा अपने मकबरो के मन्दिर अलग से नये बनाते थे। परन्तु इन उपर्युक्त मन्दिरो की मरम्मत लम्बी राजपीढियाँ होने के कारण, निरन्तर होती रही। राजा लोग भी मकबरो की सुरक्षा की अपेक्षा अपने राज-मन्दिरो की मरम्मत और सुन्दरता की ओर अधिक ध्यान देने लगे थे।

थीबीज़ के उस गौरवशाली-युग मे जितने मन्दिर बनाये गये, वह स्थापत्यकला की दृष्टि से उत्तम थे और आकार-प्रकार मे भी विशाल थे। यूनानी इतिहासकार **हेरोडोट्स** और **स्ट्रैबो** ने इन मन्दिरो की बनावट और सजावट की अपने सस्मरणो मे भूरि-भूरि प्रशसा तो की ही है, परन्तु अब भी कार्नाक आदि के मन्दिरो के खण्डहरो को देखकर, दर्शक के मस्तिष्क मे यह प्रश्न पैदा हो जाता है कि जब यह नक्काशीदार विशालकाय स्तम्भो से युक्त लम्बे-चौडे, सभा-मण्डप वाला मन्दिर पहले कितना चित्ताकर्षक और दर्शनीय मन्दिर रहा होगा। यदि इन मन्दिरो की स्थापत्य-कला, चित्रकारी और बनावट पर पूरी तरह विचार किया जाय तो एक अच्छी मोटी पुस्तक तैयार हो सकती है।

इन मन्दिरो के बाद जो मन्दिर बनाये गये, उनमे से कितने ही आकार-प्रकार

मे प्राचीन मन्दिरो से विशाल अवश्य रहे, परन्तु न तो उनके निर्माताओ ने उनकी सुदृढता की ओर ही ध्यान दिया और न सुन्दरता की ओर ही। उनकी बनावट मे कही-कही इतनी लापरवाही तक बरती गई कि उनके खम्भो की सिधाई भी अपने क्रम के अनुसार ठीक नही रही और उनकी दीवारे तक टेढी-मेढी हो गई। इन्हे देखकर ऐसा लगता है कि मानो यह मन्दिर जल्दी मे बनाये गये हो और किसी बाह्य आक्रमण या अन्य किसी विपत्ति के कारण निर्माता को यह सब कुछ देखने का अवसर ही न मिला हो। इसीलिए निर्माता के बाद जो उसके उत्तराधिकारी हुए, उन्होने भी उनकी मरम्मत मे पूरी लापरवाही दिखाई, चाहे वह खर्च की अधिकता से हो या अन्य किसी कारण से।

लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से और मन्दिर-निर्माण कला की दृष्टि से यह मन्दिर पूर्ण रूप से उपेक्षणीय नही हैं। इन मन्दिरो की दीवारो पर उभार कर जो भित्ती-चित्र बनाये गये हैं, वह प्राचीन मिस्री-चित्रकला का एक ऐसा सजीव उदाहरण हैं, जैसा कि ससार भर मे अन्यत्र नही मिलता। इन चित्रो मे अन्य एक विशेषता है उनके रगो की। हजारो वर्ष बीत जाने पर भी उनके रग अभी तक जैसे-के-तैसे हैं और उनकी चमक-दमक मे लेशमात्र भी अन्तर नही आया है। यह सतह उभारकर बनाई गई मूर्तियाँ दो प्रकार की होती थी। एक वह जिसमे मूर्तियो की आकृतियाँ दीवार की सतह से थोडी ऊँची उठी रहती थी और दूसरी वह जिसमे पृष्ठ-भूमि से तो मूर्ति अलग आगे को अधिक उभरी दिखाई देती थी, लेकिन उसका उभडा हुआ उच्चतम भाग दीवार की सतह से नीचा रहता था। इस तरह की बनाई जाने वाली मूर्तियो से एक विशेष लाभ यह था कि बारिश आदि के प्रभाव से मूर्तियाँ सुरक्षित रहती थी। इस तरह की मूर्तियाँ बनाना केवल मिस्री कारीगरो के ही दिमाग की उपज थी।

ऐसी उभरी हुई मूर्तियाँ मिस्र-के **सेत-युग** के मन्दिरो मे बहुतायत से अब भी पाई जाती हैं। अबीदास के मन्दिरो की दीवारे अभी तक भी खण्डहर रूप से खडी हुई केवल अपनी इस अनोखी मूर्तिकला के कारण दर्शको का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। अबीदास के एक ऐसे ही मन्दिर की दीवार पर **सेखमेत** नामक देवता की पूजा करते हुए सम्राट् **सेती** (प्रथम) को दिखाया गया है, जिसे देखकर यह कल्पना भी नही होती कि यह देवता और उसके सम्राट् पुजारी की मूर्तियां इतने वर्षों की होगी।

मिस्री कलाकार जहाँ मन्दिरो मे उभारकर मूर्तियाँ बनाने मे दक्ष थे, वहाँ प्रस्तरकला के भी वह अच्छे पडित थे। उन्होने इन उभरी हुई दीवार मूर्तियो के अतिरिक्त **थडमोज** (तृतीय), **अमेनहोतेप, रामसेज** (द्वितीय), **अखनातोन** और उसकी रानी **नेफरतीती** के शीर्ष भागो की जो मूर्तियाँ बनायी, उन्हे देखकर कला-कौशल सम्बन्धी पूर्णता के ऐसे गुणो का बोध होता है, जो गुण मूर्तिकला की दृष्टि से यूनानियो और रोमनो मे नहीं मिलते।

मिस्री कारीगरो द्वारा निर्मित इन मूर्तियो मे, जो अधिकतर राजवशो की

ही है, गौरवपूर्ण विकार रहित झलक, स्वस्थ-सुडौल माँसपेशियाँ और एक अनोखी सौम्यता का भास होता हैं। राज-मूर्तियो के अतिरिक्त उनके अर्द्ध-देवताओ की मूर्तियाँ भी, जिनमे आगे चलकर उल्लू, वाज, विल्ली, शेर तथा जगलो के अन्य भी अनेको पशु-पक्षी हैं, चाहे वह कितने ही भयानक अथवा खूखार हो, परन्तु मूर्तिकला मे उन हिंसक जीवो को भी शात दिखाया गया है।

मिस्री सामाजिक-जीवन की झलक 'थीवी' के शाही कब्रिस्तान के मकवरो मे मिलती है। उन मकवरो की दीवारो पर की गई चित्रकारी एक प्रकार से प्राचीन मिस्र का चित्रमय इतिहास है। इन चित्रो मे विवाह-समारोह मृतको के सस्कार, नरेशो की विजय—यात्राएँ, चरवाहो के जीवन की झाकियाँ, शाही दरवार की चित्रावलियाँ, क्रीडा भूमि के चित्रो के अतिरिक्त राष्ट्रीय समारोहो, नृत्यकला के चित्र, वच्चो के चित्र तथा पारिवारिक जीवन से सम्वद्ध चित्रो के अतिरिक्त अनेक प्रकार के चित्र है।

इन कब्रो से 'पेपिरस कागज' पर लिखी हुई मृत-आत्माओ की वह पुस्तके भी मिली है, जिन्हे मृतक के पास उपदेश-आदेश आदि लिखकर रख दिया जाता था। मृत-आत्माओ की इन पुस्तको को भी वडे कलापूर्ण ढग से सजाया जाता था। उन पुस्तको मे चारो ओर वेल के स्थान पर, उन चित्रो को चित्रित किया जाता था, जो मृतक को अपने कर्मों के अनुसार फल भुगतने होगे। जैसे अग्नि-परीक्षा, काँटो मे खीचा जाना आदि-आदि। उनके यह विचार, जो उन्होने मृतक पुस्तको मे लिखे या चित्रित किये हैं, भारतीय लोगो की स्वर्ग-नरक की धारणा से मेल खाते है। भारतीय वसन्त की भाँति मिस्र मे **सिस** के उत्सव पर उल्लास मनाया जाता था।

मूर्तिपूजा का वाह्य प्रचार—कालान्तर मे जव मिस्री सेना ने सूडान, **अवीसिनिया** और **न्यूविया** को विजय किया तो उन्होने अपने इन विजित प्रदेशो मे भी अपनी मूर्तिकला का प्रचार किया और मदिर वनवाने आरम्भ किये। पत्थर आदि की कठिनाइयो के कारण उन्हे जव मन्दिरो के निर्माण मे सफलता न मिली, तव उन्होने मूर्तिपूजा के प्रचार और अपने देवताओ को प्रसन्न करने की एक दूसरी विधि अपनाई। यह विधि भी वही थी, जिसका प्रचार एक दिन भारत मे गुफा मन्दिरो के रूप मे हुआ था। अर्थात पहाडियो को काट काटकर मन्दिर वनाना। इन गुफा-मन्दिरो को वहा पर गुफा मन्दिर न कहकर, "स्पिग्रोज" कहा जाता था और उडीसा के गुफा-मन्दिरो की भाति न्यूविया मे ऐसे वहुत से मन्दिर वना डाले गये जिनमे से कुछ अव भी है और अधिकतर "आसवान" वाध के कारण जलमग्न हो गये।

अवूसिम्पवेल का मन्दिर स्पिग्रोज निग्रो जातियो पर विजय की यादगार मे वनाया गया। अवूसिम्पवेल की ६०-६० फुट ऊँची मूर्तियाँ मन्दिर के मुख्य द्वार के दोनो ओर दो-दो वनी हुई है और एक-एक चवूतरे पर आसीन है। इनके साथ ही **अमोन-रॉ** नामक देवता की आराधना करते हुए सम्राट् की उभरी हुई मूर्तियाँ भी हैं। नीरियन साम्राज्य पर विजय के उपलक्ष्य मे रामसेज द्वितीय का 'स्पिग्रोज' वना

गया । रामसेज द्वितीय के मन्दिर के प्रवेशद्वार पर एक ही पत्थर की बनाई गई चार भीमकाय मूर्तियाँ है ।

मन्दिर निर्माण मे रामसेज द्वितीय मिस्र के सम्राटो मे सबसे पहला शासक था जिसने मिस्र भर मे सबसे अधिक कलात्मक मन्दिर बनवाये । उसने अपने साम्राज्य के प्रत्येक नगर मे एक एक मन्दिर बनवाने की राजाज्ञा जारी की थी और यह आज्ञा नये विजित राज्य-न्यूबिया पर और सूडान पर भी लागू की गई थी ।

इसी न्यूबिया मे नील नदी के किनारे इन मन्दिरो के अतिरिक्त और भी मन्दिर है जिनमे मिस्र की रन्तिदेवी के सम्मान मे बनवाया गया, अबूसिम्पबेल का छोटा मन्दिर, एलीफेन्टाइन का मन्दिर, गफि हुसैन का पत्थरो को गढकर और पत्थरो के टुकडो को जोडकर बनाया गया मन्दिर तथा पेरो मे सूर्य का मन्दिर तथा एक छोटा सा पिरामिड है । न्यूबिया क्योकि विजित प्रदेश था शायद इसीलिए वहाँ के मन्दिरो के निर्माण और जीर्णोद्धार आदि मे विभिन्न राजाओ का हाथ रहा । इसीलिए उन मन्दिरो की मूर्तिकला और स्थापत्य शैली एक तरह की शैली न रहकर, खिचडी बन गई । वहाँ लम्पस्कस नामक स्थान से प्राप्त एक चाँदी की थाली पर हाथी दाँत के पायो पर बैठी भारतमाता का चित्र उत्कीर्ण है, जो लगभग तीन हजार वर्ष पुराना है ।

मिस्र की सैत-कला—कई शताब्दी बाद मिस्र पर **अस्सुर** देवता के उपासक असीरिया वालो ने आक्रमण आरम्भ किया । प्रत्येक वर्ष असीरिया वाले आक्रमण करते और मिस्री नगरो पर अधिकार कर लेते थे । मिस्री जनता नील नदी की ओर पीछे हटती जाती थी ।

असीरियनो के लगातार बढने और मिस्रियो के लगातार पीछे हटने से एक दिन स्थिति यहाँ तक आई कि **अस्सुर** देवता के यह उपासक-असीरिया वाले अपने घोडे जुते हुए लडाई के रथो पर सवार होकर, मिस्र की राजधानी थीबी मे प्रवेश करने मे सफल हो गये और मिस्र पूर्ण रूप से असीरिया का गुलाम देश बन गया । अब मिस्र मे नाममात्र के लिए असीरिया का गवर्नर रहा और राजकाज की सारी डोर असीरिया राज्य की राजधानी **निनवे** से हिलाई जाने लगी ।

कुछ काल बाद समय ने पलटा खाया और मिस्र ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त कर लिया तथा मिस्र मे एक नये राजवश का उदय हुआ । इस राजवशी ने सबसे पहला कार्य यह किया कि प्राचीन मिस्र की राजधानी **थीबी** को छोडकर डेल्टा प्रदेश के निकट सैस नामक नगर को राजधानी बनाया । इसीलिए उस काल से बाद की मिस्री कला **सैत-कला** के नाम से विख्यात है । इस राजवश का पहला राजा जिसने मिस्र को असीरिया की दासता से मुक्ति दिलाई थी **सामेटिक्स** था ।

सामेटिक्स के बारे मे कहा जाता है कि उसने अपनी इस महान् विजय की यादगार मे बहुत से स्मारक और मदिर बनवाये थे, लेकिन उनके अवशेष काल के कराल मे जा चुके है और आज केवल एपिस साडो और सेरेफियम की कब्रो के अलावा कुछ नही । हाँ, उस काल की कुछ यादगारे न्यूबिया के पास नील नदी के **प्रथम प्रपात** के पासी-

फिली नामक द्वीप मे अवश्य है, लेकिन 'आसवान' बाँध के कारण सैत-काल के यह मदिर पानी मे पहुँच गए हैं। केवल विशाल मदिरो के उच्च शिखरो को छोडकर प्राय मदिरो के सारे भाग ही पानी मे मौजूद हैं। हाँ, जब कभी नदी का जल हल्का होता है तो कुछ मदिर कुछ दिनो के लिए पानी से बाहर आ जाते हैं। टापू का अधिकाश भाग जलमग्न होने के कारण वहा पर बना आइसिस का विशाल मदिर भी गहरे पानी मे जा चुका है और उसकी सारी दीवारो पर काई जम गई है। यदि बाध मे और भी अधिक परिवर्तन किया गया तो सम्भव है कि अतिम प्राचीन सम्राटो के यह स्मारक किसी दिन ससार की दृष्टि से बिल्कुल ओझल हो जाएँगे।

कला-कौशल मे अन्तर—सैत-काल और टालमियो-काल (सिकन्दर की मृत्यु से लगाकर क्लियोपाट्रा के शासन काल तक) के कलाकारो ने अपनी कला की प्रेरणा तो पुराने मिस्री कलाकारो से ही ली, परन्तु इन की कलाओ मे वह प्राचीन दिव्यता नही आ पाई जो प्राचीन मिस्री कलाकारो की कृतियो मे थी। यद्यपि पहले की निर्विकारता का स्थान अब कोमलता और रमणीयता ने ले लिया था और इनकी मूर्तियाँ पर्याप्त सुरुचिपूर्ण थी। सैतकाल मे राजाओ ने मिस्री कारीगरो से जितनी मूर्तियाँ बनवाई वह अधिकतर लाल ग्रेनाइट, हरे पारफीरी अथवा मगेसिमाक जैसे कडे पत्थरो से बनवाई गई और इनकी भावभगिमाओ मे प्राचीन मूर्तियो की तरह धर्माधिकारियो की भावभगिमाओ की झलक थी, परतु इनकी रचना मे वस्त्रो की सिकुडन का पूर्ण बहिष्कार किया गया था और रूढिवादिता का पालन किया गया था। इसीलिए इस काल की मूर्तियो के वस्त्र अत्यन्त तग है।

सैत युग का कलाकार पशु-पक्षियो की मूर्तियाँ गढने मे भी पटु हो गया था और अपनी चित्र-लिपि को खोदकर, उसके साँचे बनाने मे उसने दक्षता प्राप्त करली थी। इस काल के कारीगरो की मूर्तियो मे एक विशेषता यह अवश्य थी कि वह लोग अधिकतर मूर्तियाँ तो छोटी बनाते थे, परतु वह पत्थर की उन छोटी मूर्तियो मे इतनी कोमलता, मनोहरता तथा अग-प्रत्यग पर कारीगरी इतनी सुघडता से करते थे, मानो वह पत्थर की मूर्ति न बनाकर किसी कोमल धातु की मूर्ति बना रहे हो।

इस काल के शाही मकबरो के सन्दूको मे बद बहुत-सी चीजे सुरक्षित मिली हैं, जो उस काल की कारीगरी का एक जीवित प्रमाण है। पत्थरो के सन्दूको मे बन्द रत्न-जटित आभूषण, अस्त्र शस्त्र, कवच, कुर्सी, चित्रित मेजे, वस्त्र, घरेलू बर्तन और अलबेस्टर नामक पत्थर के चाँदी के सदृश सुन्दर बर्तन भी है, जिनके ढक्कन पशुओ के सिरो की नकल के बनाये गए है।

इनके अतिरिक्त कई एक मकबरो से प्राचीन मिस्री सम्राटो के दैनिक व्यवहार की भी बहुत-सी वस्तुएँ मिली हैं। काहिरा के अजायबघर की सैकडो अलमारियाँ इन्ही प्राचीन मिस्री सम्राटो की वस्तुओ और उनकी मोमियाइयो से भरी हुई हैं। इन प्राचीन वस्तुओ मे कलात्मक काम वाले रत्न युक्त गुबरैले, शिरोवस्त्र, हार, बाजूबद, तावीज आदि हैं जो जेवरो पर सुनारो द्वारा की गई कारीगरी का एक विशेष नमूना हैं।

जिन्हें देखकर आज के आभूषणो पर कारीगरी करने वाले भी दांतो तले उगुली दवा लेते है।

मिस्र के वारहवे राजवश के एक राजा के शिलालेख मे, जिसका अनुवाद मैस्पैरो ने किया था, लिखा है—'चाँदी सोने के काम तथा धातु की कारीगरी और आवनूस, हाथी दात तथा रत्नो की सजावट मे मुझमे और मेरे ज्येष्ठ पुत्र से इस ससार मे कोई वाजी नही मार सकता, यह मेरा चैलेज है।' इस शिलालेख से यह पता चलता है कि मिस्री प्रजाजन ही केवल चित्रकारी मे प्रवीण नही होते थे, अपितु इस विद्या मे जन साधारण की तरह राजा लोग भी दिलचस्पी लेते थे। तूत-अन-खोमान (तूतन खामेन) के मकबरे की खोज जब 'होवार्ड क्वार्टर' ने की तो उन्हें इस मकवरे से राजाओ के व्यवहार मे आने वाली इतनी चीजे मिली कि उन्होने मिस्री कला पर ही केवल तीन ग्रन्थ लिख डाले।

मिस्र का ऐतिहासिक-काल—मिस्र का ऐतिहासिक काल ईसा से ३४०० वर्ष पूर्व अर्थात् अब से ५४०० वर्ष पहले का आँका जाता है। ऐतिहासिक काल का पहला भाग ३४०० वर्ष ईसा पूर्व से २१६० ई० पू० तक रहा। इस पुरातन काल के वाद माध्यमिक राज्यकाल का आरम्भ हुआ जो २१६०वर्ष ईसा पूर्व से १६८० वर्ष ईसा पूर्व तक रहा। तीसरा राज्यकाल १६८० ई० पू० से ९४५ ई० पू० तक रहा। इसके बाद मिस्र पर वाह्य आक्रमणो का दौरदौरा आरम्भ हो गया और ईसा से ६०० वर्ष पहले मिस्र पर ईरान का अधिकार हो गया। ईरान के अधिकार के वाद ईसा से ३३२ वर्ष पहले यूनान के सिकन्दर ने मिस्र पर अपना अधिकार कर लिया। इस ऐतिहासिक काल मे मिस्र मे कुल ३१ राजवशो ने शासन किया, जिनमे चौथा वारहवाँ और अठारहवाँ वश विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए।

प्रारम्भिक राज्यकाल—ईसा से ३४०० वर्ष पूर्व नील नदी के दक्षिणी भाग मे राज्य करने वाले **"मीनीज"** नामक व्यक्ति ने नील नदी के उत्तरी भाग को जीता और एक राज्य को स्थापित किया। **मीनीज** से पहले नील नदी के उत्तर और दक्षिण मे सरदार लोगो के छोटे-छोटे नगर राज्य थे। मीनीज ने इन लोगो को जीता और एक सयुक्त राज्य स्थापित करके **"मेम्फिस"** नामक नगर को र जधानी बनाया। इस राजा ने राज्य का सगठन भी किया और कई नये कानून भी वनाये। इन कानूनो के लिये इसने बताया कि इनको जारी करने की आज्ञा मुझे थोथ नामक देवता ने दी है। **मीनीज** के इस प्रथम राज्य-कुल के दस राजाओ ने राज्य किया जिनमे ईसा से ३१५० वर्ष पूर्व **जीसीर** नामक व्यक्ति मिस्र का राजा हुआ। यह राजा वैद्यक और विज्ञान तथा स्थापत्य कला का भी अच्छा विद्वान था। इसीलिए मिस्र भर मे इसकी ख्याति देवता की तरह फैली। इसी के राज्य काल मे मिस्र मे वैद्यक का प्रचार हुआ और पत्थर के मकान वनने आरम्भ हुए। ससार भर मे सभवत पत्थर का पहला मकान इसी राजा के शासन काल मे **मेम्फिस** मे वना।

जब यह राजा मरा तो इसे **सक्कर** मे दफनाया गया और इसकी कब्र पर

सीढीदार एक मकान बनाया गया, जिसे देखकर अगले राजाओ ने भी बडे-बडे पिरामिड बनवाने आरम्भ किये। इस प्रसिद्ध राजा का मत्री **इमहोतेप** नामक एक व्यक्ति था। वस्तुत वही पत्थर-कला का विशेषज्ञ था और उसी ने सुन्दर तराशदार पत्थर के खम्भो और उभरी हुई चित्रकारी और रंगीन मिट्टी की चीजे बनाने का आविष्कार किया था।

चतुर्थ राजवश—ईसा से ३ हजार वर्ष पूर्व, जैसोर के १५० वर्ष बाद मिस्र मे चौथे राजवश का उदय हुआ। इस वश के आरम्भ तक मिस्र ने स्थापत्य-कला और व्यापार आदि मे अच्छी उन्नति प्राप्त करली थी।

इस चतुर्थ-राजवश का प्रथम राजा **"खीओप्स"** या **"खुफू"** नामक व्यक्ति हुआ। इसी कुफू और अभिमानी स्वभाव के राजा ने १ लाख से भी अधिक मजदूरो को लगाकर **गीजे** मे पहला पिरामिड बनवाया था। इस पिरामिड के बनवाते समय कुछ गुलाम लगाये गये और कुछ नील नदी की बाढ से त्रस्त किसानो को इस काम पर लगाकर उन्हे रोजगार दिया गया।

गीजे का यह विशिष्ट त्रिकोण पिरामिड ४८१ फीट ऊँची तेरह एकड जमीन पर बनाया गया। इसकी लम्बाई और चौडाई ७५५ फीट है। इसके बनाने मे **ढाई-ढाई** टन के लगभग २५ लाख पत्थर लगे है। इनमे कुछ पत्थर ४२०० मन तक के भी हैं।

इस पिरामिड के आस-पास राजमहल, कचहरियाँ, पार्क आदि बनने से मैम्फिस नगर सुन्दर राजधानी बन गया। इस नगरी के अधिकाँश मकान कच्ची ईटो अथवा लकडी के बने थे। परन्तु कला-कौशल दस्तकारी मे यह मिस्र की प्राचीन राजधानी उन्नति के शिखर पर पहुँच गई थी। यहाँ पर सबसे पहले **शीशे** का बनाना आरभ हुआ। सिक्के का तब तक यहाँ प्रचलन नही था। व्यापार जिन्सो के आदान-प्रदान से होता था। माल ढोने के लिए छोटी-छोटी नावे तथा **गधे** प्रयोग मे लाये जाते थे और दैनिक जीवन को चलाने के लिए मिस्र मे सिक्के की बजाय ताँबे के छल्लो का प्रयोग किया जाता। उस काल मे जमीन का मालिक **फेरो** सम्राट् होता था और मालगुजारी अनाज के रूप मे वसूल की जाती थी। समाज तीन श्रेणियो मे बटा हुआ था। इनमे एक श्रेणी स्वतत्र जनता की, दूसरी किसानो की और तीसरी गुलामो की थी। प्रत्येक जाति का एक मुखिया होता था।

इसका उत्तराधिकारी **फेरा खेफरे** नामक व्यक्ति हुआ जिसने ५६ वर्ष तक मिस्र का शासन सुचारू ढग से किया। इस सम्राट् की एक मूर्ति काहिरा म्यूजियम मे रखी है। इसके बाद ही इस राजवश का पतन होना आरम्भ हो गया।

पांचवां राजवश—ईसा से २९६५ वर्ष पूर्व पाँचवे राजवश का आरम्भ हुआ। इस राजवश के तेरह राजाओ ने शासन किया। इस राजवश के राजाओ की अधिक जानकारी तो नही मिलती, परन्तु इस वश के एक राजा **तत्-का-रा-असा-की** के समय की कुछ घटनाओ का उल्लेख **पेपीरस** कागज पर लिखी एक जन्म कुण्डली की

तरह लिखा मिला है। इससे पहले का मिस्र मे कोई भी लिखा हुआ कागज नही है।

इस पाँचवे राजवश के समय धार्मिक मामले मे भी एक विशाल परिवर्तन हुआ। इससे पहले चौथे राजवश तक यहाँ नील के दक्षिणी भाग के रहने वालो मे आकाश के देवता "होरस" की पूजा होती थी, परन्तु पाँचवे राजवंश ने उत्तर वालों के देवता 'रा' अर्थात सूर्य की पूजा का प्रारम्भ कराया और पुरोहितो की एक श्रेणी वन गई तथा शासन कार्य मे भी पदाधिकारियो का चुनाव होने लगा। परन्तु आगे चलकर यह पद पुश्तैनी हो गये और जो भूमि इनके पूर्वजो को दी गई थी, वह भी पुश्तैनी हो गई।

छठा राजवश—ईसा से २९२५ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। इस राजवश मे ईसा से २७३८ वर्ष पूर्व **'पेपी'** नामक एक प्रतिभाशाली राजा हुआ। इस राजा ने अपने राजकाल मे मिस्र मे लाल पत्थरो के मन्दिर वनवाये और पत्थर प्राप्ति के लिए असवान राज्य पर दो वार आक्रमण किया। असवान पर सफलता प्राप्त करने के वाद वहाँ तक पाँच नहरे केवल उसने इसलिए खुदवाई ताकि पत्थरो को लाने मे सुगमता हो सके। वैसे इस राजा ने योग्य मन्त्रियो की सहायता से ९४ वर्ष तक निरन्तर राज्य किया, लेकिन अन्तिम दिनो मे राजपरिवार की और शासन की दशा गिरनी आरम्भ हो गई थी। इसके मरते ही मिस्र पर एक ओर न्यूविया के नीग्रो लोगो का आक्रमण हुआ और दूसरी ओर से **सीरिया** वालो ने आक्रमण कर दिया। मिस्र की राजधानी मेम्फिस खूब लूटी गई। जागीरदार लोग स्वतन्त्र हो गये। लगभग ३०० वर्ष तक मिस्र मे अराजकता का युग रहा और इस युग मे कई राजा गद्दी पर वैठे, उतारे और मारे जाते रहे। उस समय अनेक जगहो पर छोटे-छोटे राजा वनने वालो की सख्या सैकडो तक हो गई। लुटे-लुटाये मेम्फिस नगर पर लगभग चार राजवश और राज कर गए।

ग्यारहवाँ राजवश—ईसा से २१६० वर्ष पूर्व जिस समय मिस्र मे अराजकता का दौर-दौरा आरम्भ था, उस समय थीविया वश का राजा **नेमपेत्र, थेवीज** को राजधानी वनाकर अपना राज्य चला रहा था।

इसी राजा ने पहिले विदेशियो पर प्रत्याक्रमण आरम्भ किये। उसके वाद विद्रोही ज़मीदार दवाये और इसके मरने के वाद इसके उत्तराधिकारी ने रहे-सहे कार्य को पूरा किया। उसने छोटे-छोटे राजाओ का अन्त कर दिया। १६० वर्ष तक इस ग्यारहवें राजवश के राजाओ ने मिस्र पर शासन किया और मिस्र को दासता से मुक्त करके उसे उन्नति की राह पर डाल दिया।

वारहवाँ राजवश—ईसा से २००० हजार वर्ष पूर्व मिस्र के इस सबसे पराक्रमी राजवश का उदय हुआ। इस वश का सबसे पहले राजा **आमेनमहेत** नामक व्यक्ति हुआ। यह व्यक्ति ग्यारहवे राजवश के अन्तिम राजा का मन्त्री था और राजा को गद्दी से उतारकर, स्वय शासक वन वैठा था। इस राजा के शासनकाल में मिस्र की राजधानी 'इत्यतोई' वनी और लक्सर के प्रसिद्ध देवालयो का निर्माण हुआ।

इसी के शासन काल मे 'रा' की वजाज 'अनोन-रा' देवता की पूजा का आरम्भ हुआ। मिस्र का यही पहला राजा था जिसने प्रजापालन करना राजा का पहला कर्तव्य माना। यह जब तक जीवित रहा अपनी राजधानी मे वहुत कम रहा। इसका अधिकाश समय विद्रोहियो के दमन अथवा राज्य के दौरो मे व्यतीत होता था।

तेरहवाँ राजवश—ईसा से १८८७ वर्ष पूर्व इस राजवश का पदार्पण हुआ। इस राजवश मे दो राजा विशेष विख्यात हुए, एक 'सेनसेत तृतीय' और दूसरा 'अमे-नमहेत तृतीत'। इनमे पहले राजा ने न्यूविया पर आक्रमण किया और अपने राज्य को नील के दूसरे प्रपात तक वढाया। इसके वाद जमीदारो का विद्रोह समाप्त करके इसने पैलेस्टाइन के दक्षिणी भाग 'सेकमेम' पर चढाई की। इसी का उत्तराधिकारी **आमेनेमहेत** चतुर्थ हुआ। इसने मिस्री राज्य की सीमा को नील नदी के तीसरे प्रपात तक वढाया और **मोहरिस झील** के पानी को वाँध के द्वारा नील नदी मे डाल दिया। इस कार्य से कृषि को वडा लाभ पहुँचा। फय्यूम मे इसने मनुष्य के चेहरो के शेरो की मूर्तियाँ वनवाई। इसने शासन कार्य जमीदारो के हाथ से निकालकर राजकर्मचारियो को सौंप दिया और मिस्र की खानो की खुदाई का काम आरम्भ कराया।

जिस समय ईसा से १७२२ वर्ष पूर्व इसका सितारा चमक रहा था, तभी अरव की ओर से मिस्र पर आक्रमण होने आरम्भ हो गये और इसके मरते ही इन सेमेटिक भाषा-भाषी अरवो ने मिस्र पर अधिकार कर लिया। उनके आक्रमण के समय असतुष्ट जमीदार वर्ग चुपचाप रहा और मिस्री सेना, रथारूढ तथा कासे की वनी तलवारो और वर्छो के सेमेटिक लोगो के वार न सह सकी।

नये राजवश का आरम्भ—इस नये राजवश का आरम्भ मिस्र मे ईसा से १६८० वर्ष पूर्व हुआ। इस राजवश के सेमेटिक लोगो का राज्य उत्तर मे था और दक्षिण में मिस्री राजा ही इनके आधीन रहकर राज्य करते रहे। मिस्र मे इन लोगो का राज्य २५० वर्ष तक निरन्तर चलता रहा, लेकिन वाद मे अवस्था वदली और थेवीज के एक राजकुमार **सेकेनेवर प्रथम** ने इन लोगो के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाया और वह इस विद्रोह मे मारा गया। विद्रोह की यह अग्नि इसके मरने के वाद भी जारी रही और एक दिन इसी अग्नि मे सेकेनेनरे तृतीय की भी आहुति हो गई। इसका पुत्र 'आइमीज' एक वीर पुरुष निकला और उसने इस क्राति को और भी प्रचण्ड किया। एक दिन इन सेमेटिक लोगो को उनकी राजधानी **'अवरिस'** से निकाल दिया। वाद मे इसी व्यक्ति ने मिस्र के अठारहवे राजवश की प्रतिष्ठा की।

अठारहवाँ राजवश—ईसा से १५५० ई० पू० **'आईमीज'** से इस राजवश का आरम्भ हुआ। इसने आरम्भ मे गद्दी पर वैठते ही न्यूविया पर चढाई की और मिस्र मे मिला लिया तथा जमीदारो और राजकर्मचारियो का कठोरता से दमन किया। उसने जमीदारो से सारी भूमि छीनकर राज्य मे मिला ली और सामन्तशाही का अन्त कर दिया।

अपने घरेलू कार्यो से निपटकर उसने पैलेस्टाइन और सीरिया पर आक्रमण

किया और सारे देश मे सैनिकवाद का प्रचार आरम्भ कर दिया। इसके समय मे मन्दिर निर्माण का कार्य और तेजी से आरम्भ हुआ और पुजारियो की एक ऐसी श्रेणी बन गई जो आगे चलकर राज्य का एक अग ही बन गई।

आईमीज की मृत्यु के पश्चात् और भी कई प्रतापी राजा हुए, जिनमे **आमेन-होतेप** प्रथम भी प्रतापी निकला और उसने न्यूबिया के उत्तरी भाग को जीतकर अपने राज्य मे मिलाया और **मेसोपोटामिया** की फरात नदी तक का प्रदेश जीत लिया।

इसका उत्तराधिकारी **थटमीज प्रथम** हुआ जिसने अपने राज्य को नील के चौथे प्रपात तक बढा लिया। सीरिया पर कर वसूल करने के लिए उसने चढाई की और अपनी विजयो की यादगार के उपलक्ष्य मे वह थेबीज मे आलीशान मन्दिर के निर्माण मे लग गया।

इसके मरने के बाद पुत्र के अभाव मे इसकी पुत्री '**हाशेपसुत**' महारानी बनाई गई। इसका पति **थटमीज तृतीय** यूँ तो एक प्रतापी व्यक्ति था, परन्तु महारानी के शासन-कार्य मे हस्तक्षेप करने को उसकी हिम्मत नही पडती थी।

इसके राज्यकाल मे राज्य की सीमाएँ न बढी और न घटी। मन्दिरो के निर्माण का चाव रानी को बहुत था, इसलिए उसने अपने शासनकाल मे कई मन्दिरो का निर्माण कराया। इस मन्दिर निर्माण के कारण ही मिस्र के पुजारी लोग उसे भी देवी होरस का अवतार मानकर पूजने लगे। ईसा से १४७९ वर्ष पूर्व इस रानी की मृत्यु हो गई और मिस्र की गद्दी पर इसके पराक्रमी पति थटमीज तृतीय का अधिकार हुआ।

थटमीज तृतीय—ईसा से १४४७ ई० पू० यह व्यक्ति मिस्र का राजा बना और मिस्र मे यह अभी तक 'मिस्र का नेपोलियन' के नाम से विख्यात है। यह एक चतुर सेनापति भी था। इसीलिए उसने गद्दी पर बैठने के दो वर्ष बाद ही 'मेगीडो' मे सीरिया की सयुक्त सेना को करारी हार दी, जिसके प्रभाव से अनेक छोटे-मोटे राजा स्वय ही उसके आधीन हो गये। उसने सीरिया पर बाद मे लगातार सात आक्रमण किये। इन विजयो से उसका आतक ऐसा जमा कि सीरिया, असीरिया, मिटानी, खेटा, नहरैन, फोनिशिया और अलाशिया (साइप्रस) की रियासते स्वय ही उसे कर देने लगी। समस्त भूमध्यसागर मे उसके जगी बेडे की धाक जम गई और चारो तरफ से आने वाले अपार धन से बडे-बडे मन्दिर और स्मारक बनाये जाने लगे।

थटमीज जैसा बहादुर था वैसा ही कुशल शासक भी था। उसने अपने शासन का नया विधान बनाया। वास्तविक शब्दो मे यही मिस्र का साम्राज्य निर्माता था।

आमेन होतेप तृतीय—१३७५ ई० पू० थटमीज तृतीय के बाद सीरिया वालो ने विद्रोह कर दिया और मिस्री राज्य से अपने को अलग कर लिया, लेकिन थटमीज के पुत्र और पौत्र उस पर बराबर चढाई करते रहे और अन्त मे थटमीज के पौत्र आमेनहोतेप ने सीरिया वालो को इस बुरी तरह से दबाया कि वह वर्षों तक स्वतन्त्रता का नाम ही न ले सके। अपने ३६ वर्ष के राज्यकाल मे आमेनहोतेप को पुन सीरिया

पर आक्रमण की आवश्यकता नही हुई। इसने वेवीलोन के राजवंश से अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और मिस्र की उन्नति मे लग गया।

इसकी मृत्यु के वाद आमेनहोतेप चतुर्थ मिस्र का राजा वना। यह व्यक्ति क्रान्तिकारी विचारधारा का था और धार्मिक मामलो मे उसके विचार अपने पूर्वजो से सर्वथा भिन्न थे। न उसे मिस्र के देवता **अमोन** के प्रति कुछ श्रद्धा थी और न ही उसे मन्दिरो और पुजारियो का आडम्वर पसन्द था। पुजारियो की जीवन-चर्या, व्यभिचार और देवदासियो, वलिप्रथा तथा देवताओ को दी जाने वाली नर-वलि से उसे घृणा थी। कवि-हृदय होने के कारण उसके विचार कोमल और शुद्ध थे और सामाजिक क्षेत्र मे प्रवल क्रान्ति करने की लालसा उसके मन मे उग चुकी थी। अत उसने एक ईश्वर—'**आतोन**' की पूजा और सारे देवताओ को छोडकर केवल '**रा**' (सूर्य) की पूजा का ही आदेश दिया।

थेवीज नगर की विलासिता से दुखी होकर उसने '**आखेतालीन**' नामक नगर का निर्माण कराया और 'आतोन' के सिवा सभी देवताओ के मन्दिरो के विध्वस की आज्ञा दे दी। इतना ही नही मन्दिरो मे जो उसके पूर्वजो के नाम या चित्र थे, वह भी समाप्त करा दिये गये और मन्दिरो से पुराने देवताओ को निकाल दिया गया। पुजारियो की सम्पत्ति जव्त करली गई। उसने सारा समय इन्ही धार्मिक उधेड-वुनो मे लगा दिया, इसीलिए राजकाज मे ढील पड गई। खजाना खाली हो गया और पुजारियो ने जनता को उसके विरुद्ध भडकना आरम्भ कर दिया। लोगो मे उसे प्रमादी, भीरु और अदूरदर्शी घोपित कर दिया गया, जिसके कारण जनता उससे प्रेम की वजाय घृणा करने लगी और सेना उत्साहहीन हो गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि राज्य पर विदेशी आक्रमणो का सिलसिला प्रारम्भ हो गया और जनता की इस घृणा से दुखी होकर अपनी केवल ३० वर्ष की आयु मे ही यह राजा ससार के वैभव को लात मारकर सन्यास लेकर कही वाहर चला गया।

जव यह राज्य छोडकर चला गया तो मिस्र की गद्दी पर उसके उत्तराधिकारी के रूप मे उसके दामाद को वैठाया गया, लेकिन यह उसी वर्ष मर गया। इसके मरने के वाद '**तूतनखातोन**' को राजा बनाया गया। यह आमेनहोतेप का छोटा दामाद था।

प्रजा को प्रसन्न करने के लिए इसने वर्तमान राजधानी **आखेतातीन** को छोडकर फिर थेवीज को राजधानी वनाया और '**आतोन**' की पूजा की राजाज्ञा वापस ले ली। इस आज्ञा के वापस लेते ही मिस्र के मन्दिरो मे पुजारियो ने प्राचीन देवता अमोन की मूर्तियो को फिर प्रतिष्ठित करना आरम्भ कर दिया। वाद मे इसने अपना वास्तविक नाम वदल कर '**तूतनखामोन**' रख लिया। अपनी प्रजा को **प्रसन्न** करने के लिए इसने राज्य मे भी अनेक सुधार किए, परन्तु जितनी सफलता इसे मिलनी चाहिए थी, उतनी न मिली और कुछ समय वाद उसकी भी मृत्यु हो गई। इसने केवल ५ वर्ष राज्य किया और १३५३ ई० पू० मे इसकी मृत्यु हो गई।

किया और सारे देश मे सैनिकवाद का प्रचार आरम्भ कर दिया। इसके समय मे मन्दिर निर्माण का कार्य और तेजी से आरम्भ हुआ और पुजारियो की एक ऐसी श्रेणी बन गई जो आगे चलकर राज्य का एक अग ही बन गई।

आईमीज की मृत्यु के पश्चात् और भी कई प्रतापी राजा हुए, जिनमे **आमेन-होतेप प्रथम** भी प्रतापी निकला और उसने न्यूबिया के उत्तरी भाग को जीतकर अपने राज्य मे मिलाया और **मेसोपोटामिया** की फरात नदी तक का प्रदेश जीत लिया।

इसका उत्तराधिकारी **थटमीज प्रथम** हुआ जिसने अपने राज्य को नील के चौथे प्रपात तक बढा लिया। सीरिया पर कर वसूल करने के लिए उसने चढाई की और अपनी विजयो की यादगार के उपलक्ष्य मे वह थेबीज मे आलीशान मन्दिर के निर्माण मे लग गया।

इसके मरने के बाद पुत्र के अभाव मे इसकी पुत्री **'हाशेपसुत'** महारानी बनाई गई। इसका पति **थटमीज तृतीय** यूँ तो एक प्रतापी व्यक्ति था, परन्तु महारानी के शासन-कार्य मे हस्तक्षेप करने को उसकी हिम्मत नही पडती थी।

इसके राज्यकाल मे राज्य की सीमाएँ न बढी और न घटी। मन्दिरो के निर्माण का चाव रानी को बहुत था, इसलिए उसने अपने शासनकाल मे कई मन्दिरो का निर्माण कराया। इस मन्दिर निर्माण के कारण ही मिस्र के पुजारी लोग उसे भी देवी होरस का अवतार मानकर पूजने लगे। ईसा से १४७९ वर्ष पूर्व इस रानी की मृत्यु हो गई और मिस्र की गद्दी पर इसके पराक्रमी पति थटमीज तृतीय का अधिकार हुआ।

थटमीज तृतीय—ईसा से १४४७ ई० पू० यह व्यक्ति मिस्र का राजा बना और मिस्र मे यह अभी तक 'मिस्र का नेपोलियन' के नाम से विख्यात है। यह एक चतुर सेनापति भी था। इसीलिए उसने गद्दी पर बैठने के दो वर्ष बाद ही 'मेगीडो' मे सीरिया की सयुक्त सेना को करारी हार दी, जिसके प्रभाव से अनेक छोटे-मोटे राजा स्वय ही उसके आधीन हो गये। उसने सीरिया पर बाद मे लगातार सात आक्रमण किये। इन विजयो से उसका आतक ऐसा जमा कि सीरिया, असीरिया, मिटानी, खेटा, नहरैन, फोनिशिया और अलाशिया (साइप्रस) की रियासते स्वय ही उसे कर देने लगी। समस्त भूमध्यसागर मे उसके जगी बेडे की धाक जम गई और चारो तरफ से आने वाले अपार धन से बडे-बडे मन्दिर और स्मारक बनाये जाने लगे।

थटमीज जैसा बहादुर था वैसा ही कुशल शासक भी था। उसने अपने शासन का नया विधान बनाया। वास्तविक शब्दो मे यही मिस्र का साम्राज्य निर्माता था।

आमेन होतेप तृतीय—१३७५ ई० पू० थटमीज तृतीय के बाद सीरिया वालो ने विद्रोह कर दिया और मिस्री राज्य से अपने को अलग कर लिया, लेकिन थटमीज के पुत्र और पौत्र उस पर बराबर चढाई करते रहे और अन्त मे थटमीज के पौत्र आमेनहोतेप ने सीरिया वालो को इस बुरी तरह से दबाया कि वह वर्षो तक स्वतन्त्रता का नाम ही न ले सके। अपने ३६ वर्ष के राज्यकाल मे आमेनहोतेप को पुन सीरिया

पर आक्रमण की आवश्यकता नही हुई। इसने वेवीलोन के राजवंश से अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और मिस्र की उन्नति मे लग गया।

इसकी मृत्यु के बाद आमेनहोतेप चतुर्थ मिस्र का राजा बना। यह व्यक्ति क्रान्तिकारी विचारधारा का था और धार्मिक मामलो मे उसके विचार अपने पूर्वजो से सर्वथा भिन्न थे। न उसे मिस्र के देवता **अमोन** के प्रति कुछ श्रद्धा थी और न ही उसे मन्दिरो और पुजारियो का आडम्बर पसन्द था। पुजारियो की जीवन-चर्या, व्यभिचार और देवदासियो, वलिप्रथा तथा देवताओ को दी जाने वाली नर-बलि से उसे घृणा थी। कवि-हृदय होने के कारण उसके विचार कोमल और शुद्ध थे और सामाजिक क्षेत्र मे प्रबल क्रान्ति करने की लालसा उसके मन मे उग चुकी थी। अत उसने एक ईश्वर—'**आतोन**' की पूजा और सारे देवताओ को छोडकर केवल '**रा**' (सूर्य) की पूजा का ही आदेश दिया।

थेबीज नगर की विलासिता से दुखी होकर उसने '**आखेतातोन**' नामक नगर का निर्माण कराया और 'आतोन' के सिवा सभी देवताओ के मन्दिरो के विध्वस की आज्ञा दे दी। इतना ही नही मन्दिरो मे जो उसके पूर्वजो के नाम या चित्र थे, वह भी समाप्त करा दिये गये और मन्दिरो से पुराने देवताओ को निकाल दिया गया। पुजारियो की सम्पत्ति जब्त करली गई। उसने सारा समय इन्ही धार्मिक उधेड-बुनो मे लगा दिया, इसीलिए राजकाज मे ढील पड गई। खजाना खाली हो गया और पुजारियो ने जनता को उसके विरुद्ध भडकना आरम्भ कर दिया। लोगो मे उसे प्रमादी, भीरु और अदूरदर्शी घोषित कर दिया गया, जिसके कारण जनता उससे प्रेम की बजाय घृणा करने लगी और सेना उत्साहहीन हो गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि राज्य पर विदेशी आक्रमणो का सिलसिला प्रारम्भ हो गया और जनता की इस घृणा से दु खी होकर अपनी केवल ३० वर्ष की आयु मे ही यह राजा ससार के वैभव को लात मारकर सन्यास लेकर कही बाहर चला गया।

जब यह राज्य छोडकर चला गया तो मिस्र की गद्दी पर उसके उत्तराधिकारी के रूप मे उसके दामाद को बैठाया गया, लेकिन यह उसी वर्ष मर गया। इसके मरने के बाद '**तूतनखातोन**' को राजा बनाया गया। यह आमेनहोतेप का छोटा दामाद था।

प्रजा को प्रसन्न करने के लिए इसने वर्तमान राजधानी **आखेतातोन** को छोडकर फिर थेबीज को राजधानी बनाया और '**आतोन**' की पूजा की राजाज्ञा वापस ले ली। इस आज्ञा के वापस लेते ही मिस्र के मन्दिरो मे पुजारियो ने प्राचीन देवता अमोन की मूर्तियो को फिर प्रतिष्ठित करना आरम्भ कर दिया। बाद मे इसने अपना वास्तविक नाम बदल कर '**तूतनखामोन**' रख लिया। अपनी प्रजा को **प्रसन्न** करने के लिए इसने राज्य मे भी अनेक सुधार किए, परन्तु जितनी सफलता इसे मिलनी चाहिए थी, उतनी न मिली और कुछ समय बाद उसकी भी मृत्यु हो गई। इसने केवल ५ वर्ष [illegible] मृत्यु हो गई।

सन् १६२२ ई० मे इसके मकबरे का पता चला और उसे खोला गया जिसके अन्दर से उसके दैनिक व्यवहार की बहुत-सी वस्तुएँ निकली जिनमे से अधिकाश काहिरा म्यूजियम मे हैं।

तूतनखामोन के इस थेवीज मे वने मकवरे को जव खोला गया और राजा की मोमियाई देखी गई तो मोमियाई पर पहले सात कफन सिलसिलेवार मिले। यह कफन सदूको के हैं, जिन पर सोने की कारीगरी की गई है और काफी तादाद मे सोना लगा हुआ है। ये सन्दूकें इस तरह के वनाई गई हैं कि एक सन्दूक के अन्दर दूसरा सन्दूक आ जाता है। अन्तिम सातवे सन्दूक मे राजा की मोमियाई थी। यह सातो सन्दूक म्यूजियम मे और लाश अभी तक भी उसी थेवीज के मकवरे मे है। इन सात सन्दूको के अतिरिक्त मकवरे मे राजा के वैठने की सोने की कुर्सियाँ, राजा के सोने का, सोने का वना हुआ पलग, रानी की पालकी, सोने तथा अनेक प्रकार के रगीन पत्थरो के आभूषण, राजा के पहनने के कपडे, वर्तन, खाने की रोटियाँ, मिठाई, सुगन्धित द्रव्य आदि वहुत-सा सामान मिला।

यह कब्र वडे विशाल रूप मे बनाई गई थी और उसके अन्दर यह सारे सामान ढग से सजाकर रख दिये गए थे। बाद मे कब्र को मिट्टी से अच्छी तरह से ढक दिया था। यह कब्र विल्कुल सुरक्षित रूप मे जैसी-की-तैसी मिली है।

अठारहवे वश के इस प्रयत्नशील सम्राट्—'तूतनखामोन' का उत्तराधिकारी 'आई' वहुत ही आलसी व्यक्ति निकला, इसलिए राज्य की स्थिति डावाँडोल हो गई और राज्य तथा राजा की गिरती हुई दशा का लाभ आई के ही प्रधानमन्त्री 'होरमदेव' ने उठाया।

होरमदेव—एक कुशल प्रभावशाली व्यक्ति और चतुर सेनानायक था। इसने राज्य-सिंहासन से राजा को हटाकर, विद्रोह का दमन करना आरम्भ किया। पुजारियो और जनसाधारण को प्रसन्न करने के लिए उसने प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया तथा पुजारियो को वडी-वडी जागीरे दी। राजवश से अपना सम्वन्ध स्थापित करने के लिए इसने इखनातोन की वहिन से अपना विवाह किया। अपनी मृत्यु (ईसा पूर्व १३१४ वर्ष पहले) से पहले इसने रामसेज प्रथम नामक व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी वनाया जो मिस्र के वारहवें राजवश का एक व्यक्ति था।

और सेमेटिक लोगो को दवाने के लिए सीरिया पर चढाई की। अपनी विजयो के उप-लक्ष्य मे इसने थेवीज मे कई मन्दिर वनवाये और कई प्राचीन मकबरो का जीर्णोद्धार कराया। ईसा से १३०० वर्ष पहले मिस्र का यह कुशल शासक इस दुनिया से कूच कर गया। सेती प्रथम की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी रामसेज द्वितीय नामक व्यक्ति हुआ, जिसकी एक प्रतिमा इटली के ट्यूरीन म्यूजियम मे रखी है।

रामसेज द्वितीय साहस और वीरता के कार्यों मे अपने पिता सेती से भी वढकर निकला। इसने ईसा से १२९६ वर्ष पूर्व सेमेटिक लोगो के बढाव को रोकने के लिए उन पर प्रत्याक्रमण किया। परन्तु इस युद्ध मे हारजीत का पलडा वरावर रहा और रामसेज लौट आया। उसके लौटने के एक वर्ष बाद ही इन लोगो ने पुन विद्रोह खडा कर दिया और इस वार अपने साथ आसपास की रियासयो को भी विद्रोह मे शामिल कर लिया।

रामसेज ने इन पर फिर आक्रमण किया। इनके साथ रामसेज की लडाई लगातार तीन वर्ष तक चली। अन्त मे ईसा से १२७२ वर्ष पूर्व इन लोगो के साथ सन्धि हो गई। इस सधि के बाद रामसेज ने इनकी राजकुमारी से भी १२५९ ई० पू० विवाह किया। मिस्र ही नही, अपितु ससार के प्राचीन इतिहास मे यह पहला युद्ध है, जिसका पूर्ण वर्णन लिखा हुआ मिलता है और यही पहली सन्धि है जिसकी नियमानु-सार लिखी-पढी की गई।

राजसेज द्वितीय ने मिस्र मे लगभग ६४ वर्ष राज्य किया। इसके अधिकतर बाहरी आक्रमणो मे उलझे रहने के कारण राज्य की आतरिक दशा निर्वल पड गई और राज्य कर्मचारी स्वेच्छाचारी वन गये। पुजारियो का आतक वढ गया और पडौसी रियासतो मे विद्रोह आरम्भ हो गया। ईसा से १२०६ वर्ष पूर्व इसकी अराज-कता के दिनो मे ही मृत्यु हो गई और लगभग २८ वर्ष तक राज्य की अवस्था खराव रही। इस वीच मे कई राजा गद्दी पर वैठे, उतारे गये या मारे गये, परन्तु मिस्र की आतरिक दशा को सुधारने और वाह्य-आक्रमणो को रोकने मे कोई भी समर्थ न हो सका।

बीसवां राजवश - ईसा से ११७८ वर्ष पूर्व से मिस्र के बीसवे राजवश का आरम्भ रामसेज तृतीय से हुआ। गद्दी पर वैठते ही इसने सवसे पहले सेना का नया सगठन किया और अपने समुद्री वेडे को मजवूत वनाया। अपनी सेना मे इसने ईरानी और यूनानी लोगो को भी भरा। सेना सुदृढ करने के वाद इसने पहले सीरिया पर और वाद मे क्रीट टापू पर आक्रमण किया। ११७४ ई० पू० इसने क्रीटवालो के समुद्री वेडे पर आक्रमण किया और उसे तहस-नहस कर दिया।

अपना दूसरा आक्रमण इसने सीरिया के ईजियन लोगो पर किया उस काल मे सीरिया के ईजियन लोगो का समुद्री वेडा वडा शक्तिशाली माना जाता था। ईसा से ११७० वर्ष पूर्व इसने उनके वेडे को भी वरवाद कर दिया। इसने अपना तीसरा

आक्रमण **लीबिया** मे घुस आये उत्तरी अफ्रीका के मेशवेश लोगो के विरुद्ध किया और उन्हे भगा दिया।

रामसेज तृतीय राज्य की सीमाओ को तो अधिक नही वढा सका, परन्तु उसने मिस्री सेना की वीरता की धाक चारो ओर जमा दी। इसी धाक के कारण मिस्र मे आन्तरिक शान्ति भी हो गई और वाह्य आक्रमणकारी भी चुप वैठ गये। व्यापार वढ गया, राज्य-कर आसानी से वसूल होने लगा।

आक्रमणो और प्रत्याक्रमणो के दौर से निपट कर, रामसेज तृतीय की धार्मिक भावनाएँ जागी और उसने विशाल मन्दिरो का निर्माण कराना आरम्भ कर दिया। पुजारियो और मन्दिरो के खर्च के लिए इसने राज्य की उपजाऊ भूमि का सातवाँ भाग दे दिया और ८८ जहाज तथा ५३ कारखाने तथा सैंकडो नगर इन मन्दिरो के आधीन कर दिये।

इन मन्दिरो मे सबसे प्रथम **आमोन** का मन्दिर था, जिसके कई खजाने सोने चाँदी से भरे हुए थे। परन्तु इस धार्मिक उन्माद का परिणाम राज्य के लिए अच्छा न हुआ। लोगो मे आमोद-प्रमोद, मन्दिरो मे देवदासियो की सख्या और व्यभिचार वढ गया तथा राजकर्मचारी और पुजारी इतने स्वच्छन्द हो गए कि उन्होने राजमहल मे भी अपनी धाक जमा ली। ऐसे ही एक षड्यत्र के समय रामसेज जब अपने महल मे सो रहा था, तब उसकी एक नई रानी ने सोते समय उस पर आक्रमण किया जिससे रामसेज घायल हो गया। अपनी उसी घायल अवस्था के समय जव राजद्रोहियो पर मुकद्दमे चल रहे थे, ईसा से ११६७ वर्ष पहले रामसेज की मृत्यु हो गई।

अराजकता का युग—रामसेज की मृत्यु ईसा से ११६७ वर्ष पूर्व से लगाकर, ईसा पूर्व १०९० तक मिस्र मे अराजकता का युग रहा। इस बीच मे अनेको राजा आये और गये। इन आनेवाले राजाओ मे पाँच राजा तो रामसेज के नाम से ही गद्दी पर आये। इस अराजकता के युग मे राजाओ का महत्त्व घटता गया और पुजारियो का वढता गया।

रामसेज नौवें के शासन काल मे तो पुजारियो का वल इतना वढ गया कि राज्य मे रामसेज नौवें की अपेक्षा **'आमोन'** के महन्त का प्रभाव अधिक था।

राजा की इस निर्वलता का प्रभाव वाहरी लोगो पर भी पडा और आन्तरिक राज्य की दशा पर भी। उन्ही दिनो **पैलेस्टाइन** और **सीरिया** स्वतन्त्र हो गये और एक ओर जहाँ देश मे डाकुओ के दलो ने लूटमार शुरू करदी, वहाँ दूसरी ओर वाहर से आक्रमण होने लगे। राजकोष से कुछ धन की आशा न होने पर प्राचीन राजाओ के मकवरे तोडे गये और लूटे गये। मिस्री राज्य केवल नाममात्र के लिए छोटा-सा राज्य रह गया। उस राज्य पर भी अन्त मे ईरानियो ने अधिकार कर लिया और सिकन्दर महान् के आक्रमण तक वह वहाँ राज्य करते रहे।

सिकन्दर का राज्य भी अधिक दिन तक मिस्र पर नही रहा। सिकन्दर के उत्तराधिकारी के रूप मे उसके सेनापति का एक वशज मिस्र पर शासन करता रहा। इसी

वश के राजा के रूप मे **क्लिओपेट्रा** नामक रानी भी वहाँ शासक हुई। यह रानी ससार की सुन्दरियो मे सर्व प्रथम मानी जाती थी।

ईसा से तीस वर्ष पूर्व मिस्र पर रोमनो का अधिकार हो गया। ईसा के ७०० वर्ष बाद, मिस्र पर अरबो ने आक्रमण किया और वह उनके आधीन हो गया। १५१७ ई० मे ओटोमन साम्राज्य के शासक **सलीम** (प्रथम) ने सीरिया, फिलस्तीन और मिस्र पर अधिकार जमा लिया। १७९८ मे नेपोलियन बोनापार्ट ने मिस्र पर आक्रमण किया और अपना अधिकार जमाया। १८०१ ई० मे नेपोलियन अग्रेजो से हारा और मिस्र पर अग्रेजो का अधिकार हो गया। लेकिन यह अधिकार केवल दो वर्ष तक ही रहा। इसके बाद मिस्र पर मुहम्मदअली का अधिकार हो गया और १९५४ ई० अर्थात् शाह फारुख के गद्दी से उतारे जाने तक, इसी अली वश का शासन चला। शाह फारुख के बाद मिस्र का सम्राट् उसका पुत्र ६ वर्षीय **फौद** माना गया और शासन प्रजातान्त्रिक ढँग से आरम्भ हुआ, जिसके वर्तमान क्रातिकारी राष्ट्रपति मुहम्मद नासर हैं।

मिस्र और भारत की वैचारिक समानता—भारत और मिस्र की वैचारिक समानता इतनी है कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक ही सभ्यता के दो भाग पृथक्-पृथक् रह कर भी एक ही विचारधारा के अनुयायी बने। सबसे पहली समानता मिस्र की **प्रलय की कहानी** की है। यह कहानी भारतीय वाङमय मैं वर्णित कहानी के आधार पर ही गढी गयी है। 'बज' का कथन है—"मिस्र मे प्रलय की कहानी इस प्रकार है—एक समय था, जब न पृथ्वी थी और न आकाश था। सब ओर अनन्त जल-ही-जल था। सब कुछ गहरे अन्धकार से ढका हुआ था। वह प्रारम्भिक जल बहुत समय तक इसी अवस्था मे रहा। इस जल मे सब वस्तुओ के मूलतत्व विद्यमान थे, जिनके द्वारा बाद मे सब वस्तुओ तथा ससार की उत्पत्ति हुई। अन्त मे इस प्रारम्भिक जल ने उत्पत्ति की इच्छा व्यक्त की। उत्पति का कार्य कीटाणु या 'अण्ड' की रचना था। इस अण्ड से 'रा' (सूर्यदेव') की उत्पत्ति हुई। इसके प्रकाश की किरणो मे सर्वव्यापक दैवीय-शक्ति विद्यमान थी।[1]

इसी सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वेद मे कहा गया है—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे अप्रकेत सलिल सर्वमा इदम् ॥ ३ ॥

कामस्तग्रे समवर्ताधि मनसो रेत· यदासीत् ॥ ४ ॥ ऋ० १०।११९

अर्थात् तब न सत था, न असत, न वायु था, न आकाश—तब सब ओर गाढ-तम अन्कार था। यह सब वस्तुए इसी गाढतम अन्धकार मे प्रच्छन्न थी। इसी अन्धकार मे सब कुछ बिना पहचान के व्याप्त था। बाद मे 'इच्छा' की उत्पत्ति हुई। यह इच्छा ही उत्पत्ति का व्यापक मूल है। तब केवल प्राय जल ही विद्यमान था। इसी जल मे सब वस्तुए अणु रूप मे विद्यमान थी। सर्वव्यापक की दैवीय शक्ति इस जल के अन्दर व्याप्त थी।

इसके अतिरिक्त उनकी दूसरी समानता है—**मात** (Maat) और ऋतु सम्बन्धी

1 Egiptian Religion by Bagde.

मिस्र लोगो का विश्वास है—"मात, जो कि नियम, व्यवस्था क्रम आदि की देवी हैं, सूर्य को प्रतिदिन समय-समय पर पैदा करती है और नियत समय पर अस्त करती हैं इसमे कभी वाधा उपस्थित नही होती।" श्रीयुत 'वेलिस' का कथन है—"वैदिक साहित्य मे ऋत् ईश्वर की वह शक्ति है, जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड मे व्यवस्था कायम है।[1] ऋग्वेद के दशम मण्डल से उक्त कथन की पुष्टि होती है।" लिखा है-ऋतञ्च सत्यञ्चा-भिद्धात्तपस' - आदि। अर्थात् सृष्टि ने प्रारम्भ मे ऋत और सत्य को पैदा किया। यहाँ ऋत का अभिप्राय ससार के नियमो की स्थिरता और व्यवस्था ही है।

इसके अतिरिक्त भारतीय विचारको का मत है कि ससार के प्रारम्भ मे जब सृष्टि वनी, तब प्रारम्भ मे चार ऋषि उत्पन्न हुए। इन चारो को ही ईश्वर ने एक-एक वेद का ज्ञान दिया। मिस्र की गाथाओ के प्रारम्भ मे भी चार मनुष्यो की उत्पति का वर्णन मिलता है। लिखा है—"रॉ से चार वालको की उत्पत्ति हुई।[2] उनके नाम केव नट, शू और टैफनट थे। इन्ही चारो से मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई।" भारतीय वाड्मय के अनुसार भी ब्रह्मा की उत्पत्ति 'कमल' से हुई। इसी ब्रह्मा ने अग्नि, वायु आदि चार ऋषियो को जन्म दिया।

अमरता मे विश्वास—भारतीय दर्शन साहित्य मे आत्मा को अमर माना गया है। मिस्री लोग भी आत्मा की अमरता मे विश्वास रखते थे। वह आत्मा को का (Ka) कहते थे। उनका विश्वास था कि मृत मनुष्य की आत्मा डूवते हुए 'रा' (सूर्य) के साथ नीचे चली जाती है। मिस्र की प्राचीन पुस्तक 'मृतक की पुस्तक' उनके परलोक सम्बन्धी विचारो पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस पुस्तक मे मृतक के लिए की जाने वाली प्रार्थनाएँ सम्मिलित है। ऐसी पुस्तकें पेपीरस कागजो पर लिखी हुई मिस्री पिरामिडो से मिली हैं।

एकेश्वर वादी—मिस्री लोग एकेश्वरवादी थे। भारतीय वेदान्त की भाँति उनका भी यही विचार था, समस्त देव शक्तियाँ उसी एक ईश्वर के आधीन हैं। श्रीयुत ली पेज ने अपनी पुस्तक मे मिस्री लोगो की जो प्रार्थनाएँ दी है, उनका अर्थ हैं—"मैं आकाश और पृथ्वी का वनाने वाला हूँ। मैंने देवताओ को वह आत्मा दी है, जिससे वह जीवन देते हैं। जव मैं आँखे खोलता हूँ तव रोशनी हो जाती है और जव आँखे वन्द करता हू तव अंधेरा हो जाता है।

"उसी की कृपा से हाथ काम करते है, पैर चलते है, आँखें देखती हैं। देवताओं पुरषो और अन्य प्राणियो के शरीर तथा मुख मे चेष्टा भी उसी की प्रेरणा से होती है। वुद्धि और भाषा, हृदय और जिह्वा सव उसी के फल है। आओ हम उस देवता की प्रशसा करें जिसने आकाश ऊपर उठाया है जो 'नट' की छाती पर अपने प्रकाश

Egiptlian Relegion Badge and the Gosmology of the Rig ved by wallis

2 Ancilnt Egikit from Records by M E monkton jones P 26 and History of Ancient Egiptians by Breasted P 47

मण्डल को फैलाता है, जिसने देवताओ और पुरुषो की सन्तति को पैदा किया है। जिसने सब भूमियो, देशो और सागरो को बनाया है।

"हे सब जड-चेतन के निर्माता ! नियम के चलाने वाले ! देवताओ के पिता ! मनुष्यो के रचयिता ! पशुओ के सृजक, अनाज के स्वामी तथा खेत के प्राणियो के लिए भोजन उत्पन्न करने वाले अद्वितीय एकमात्र स्वामी अनन्त नाम धारी इत्यादि।

एकेश्वरवादी मिस्रियो की यह प्रार्थनाएँ ऋग्वेद के 'हिरण्यगर्भ' सूक्त की स्तुतियो से मिलती-जुलती ही है।

भारत और मिस्र की इस समानता को देखकर ही कर्नल 'आल्काट' ने लिखा है—"हमारे पास यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि आठ हजार वर्ष पूर्व भारत-वर्ष ने कुछ यात्रियो को रवाना किया, जिन यात्रियो ने तत्कालीन इजिप्ट के वासियो को सभ्यता और कलाओ मे दीक्षित किया।" इनके अतिरिक्त इजिप्ट के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता मि० ब्रूम की भी यही सम्मति है। उनकी राय है कि वे लोग इण्डो जर्मन जाति के काकेशस परिवार से सम्बन्ध रखने वाले थे और वे इतिहास के प्रारम्भ काल से बहुत पूर्व स्वेज के उस अन्तर्जातीय पुल को लाघकर नील नदी के किनारे जा बसे थे। इन सब के अतिरिक्त मिस्र निवासियो का कथन है कि वह किसी पवित्र लोक से यहाँ आये थे।[1]

मिस्री-सभ्यता की उत्पत्ति के बारे मे धारणाएँ—मिस्री सभ्यता की उत्पत्ति के बारे मे विद्वानो की धारणाएँ अलग-अलग हैं। श्रीयुत 'वेलिस बज' का कथन है—"मेरी सम्मति मे मिस्र की सभ्यता का विकास पश्चिमी एशिया के पूर्वीय भाग और उससे भी दूरस्थ देश (भारत) से हुआ।" इनके अतिरिक्त इतिहासकार श्री 'ब्जर्नस्ट्रेज्न' का मत है—"भारतीय सभ्यता द्वारा ही मिस्र की सभ्यता का प्रसार हो पाया।" इसके लिए उन्होंने अपने कथन की पुष्टि मे निम्न प्रमाण दिये है—

(१) यूनानी इतिहासकार और दार्शनिक हेरोडेट्स, प्लेटो, सीलन, पैथागोरस, फिलोस्ट्रेट्स आदि लोगो का भी मत है कि मिस्र ने भारत से ही धर्म की दीक्षा ली। (२) अनेक विद्वानो की यही राय है कि मिस्र का धर्म दक्षिण से प्रारम्भ हुआ। मिस्र के प्राचीन मन्दिरो की रचना से भी यही बात सिद्ध होती है। उनकी रचना भारतीय मन्दिरो की रचना से मिलती-जुलती है। दक्षिण मे उस समय भारत के सिवाय कोई ऐसा देश नही था, जिससे मिस्री लोग सभ्यता की दीक्षा लेते। (३) जैसोदस, जूलियस, अफ्रीकेनस और यूसीवियस ने अबीदास और सायस के मन्दिरो के जो पुराने चिह्न सुरक्षित दशा मे हम तक पहुँचाए है, उनमे यह लिखा है कि **मिस्र का धर्म भारत से आया**। (४) हिन्दुओ का इतिहास मिस्र के इतिहास से बहुत पुराना है। इन तथा ऐसी ही अन्य प्रमाणो के आधार पर श्रीयुत 'प्रिन्स' भी इसी परिणाम पर पहुँचे है कि मिस्र ने सभ्यता और धर्म की दीक्षा भारतवर्ष से ही ली थी।

मिस्र सदाचार - मिस्री लोगो के सदाचार के सिद्धान्त भी भारतीय सदाचार

1 The theosophist March 1881

के नियमो से मिलते-जुलते ही हैं इस बात की पुष्टि के लिए यहाँ मिस्री लोगो के सदाचार सम्बन्धी मुख्य-मुख्य नियमो को लिखना अत्युक्त होगा ।

(१) किसी को डराना अनुचित है। (२) गरीबो की सहायता करनी चाहिए। (३) अपने माल पर ही सन्तुष्ट रहो, दूसरो का छीनने का यत्न न करो। (४) पूर्ण मनुष्य के सामने सर झुकाने से ईश्वर प्रसन्न होता है। (५) यदि तुम विद्वान् हो तो अपने पुत्र को भी विद्वान् बनाओ, ताकि ईश्वर प्रसन्न हो। (६) जो तुम पर आश्रित है, उसे प्रसन्न रखो। (७) अगर तुम छोटे से बडे या धनी बन गये, तब दूसरो की रक्षा करो। (८) परमात्मा आज्ञा-पालन करने को ही पसन्द करता है। (९) अच्छा पुत्र परमात्मा की कृपा से प्राप्त होता है।

मिस्री लोगों की वर्ण-व्यवस्था—पादरी रसेल का कथन है कि भारतवर्ष और मिस्री दोनो देशो मे एक समानता बहुत ही स्पष्ट रूप मे पाई जाती है। यह समानता वर्ण-व्यवस्था की। उनका कथन है—"दोनो देशो के निवासी विविध श्रेणियो मे बँटे हुए थे। इन सब श्रेणियो के अधिकार, सम्मान, स्थिति आदि एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। यह वर्ण अपरिवर्तनीय थे। पीढियो तक जाने वाले थे।

"हिन्दुओ का विश्वास है कि ब्राह्मण, ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जघा से और शूद्र पैरो से पैदा हुए।" यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स के अनुसार मिस्री लोग भी प्राचीन काल मे इसी प्रकार चार वर्णों को स्वीकार करते थे। इन्होने भी समाज के चार विभाग किये हैं। पीछे से समाज मे तीन वर्ण सम्मानीय माने जाने लगे। पुरोहित तथा धर्माचार्य, सैनिक, शिल्पी तथा व्यापारी। यह स्पष्ट ही है कि श्रमिक आदि इन तीन वर्णों के अन्तर्गत नही आते। उनका एक चौथा वर्ण मानना ही होगा।[1]

भारतवर्ष मे भी पीछे से समाज मे द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही सम्मानीय थे। शूद्रो को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा। धीरे-धीरे मिस्र मे वर्ण-व्यवस्था के बन्धन बहुत कठोर हो गये थे। यूनानी इतिहासकारो का कथन है—"मिस्र मे एक पेशे वाले लोग, दूसरे पेशे वालो मे शामिल नही किये जाते थे। पुरोहित, सैनिक और किसान भिन्न-भिन्न स्थानो पर रहते थे। इनमे भूमि समान रूप से बटी हुई थी।[2]

सामाजिक-जीवन—प्राचीन मिस्र मे आजीविका का समस्त कार्य पुरुष ही करते थे, स्त्रियो का कार्य घरेलू काम करना था और चर्खा चलाना था। स्त्रियाँ ही कपडा बुनती थी। मनोरजन के साधनो मे मिस्री महिलाओ को सगीत प्रिय था।[3] मुख्य मन्दिर मे देवताओ को बलि देते समय राजा भी पुरोहित के सामने खडा रहता था। पुरोहित देवता की स्तुति करके राजा के स्वास्थ्य तथा राज्य की कुशलता के लिए प्रार्थना करता था। अन्त मे राजा की स्तुति के सम्बन्ध मे भी कुछ वाक्य पढे जाते

1. Ancient and Modern Introduction by Rev Michael Russel,
2 Social Life in Ancient Egypt by W M F Petrie P 11 and 12.
3. Social Life in Ancient Egypt by Patrie P 27, 25, 55

थे। राजा मास भक्षण करता था, इस कार्य के लिए उसकी पशु-शाला थी, परन्तु उस पशु-शाला मे एक भी गाय नही थी। इसका कारण यह था कि मिस्र मे गाय का मास खाना पाप समझा जाता था। मिस्री लोगो के धार्मिक कर्तव्यो मे से एक यह भी था कि देवताओ को अन्न की वलि मे कभी कोताही नही की जाती थी। मास से भी अधिक अन्न को वलि के लिए पवित्र समझा जाता था। पशुओ को चरागाहो से भाग देना बुरा समझा जाता था। मिस्री पुरोहित लोग वहुत साफ रहते थे। वह प्राय पेड के रेशो (सन आदि) से वने कपडे पहनते थे, जिन्हे सदैव उजला रखा जाता था।

भारतीय दर्शन और मिस्री दर्शन—मिस्र के दार्शनिक विचारो से स्पष्ट है कि उन्होंने भारतीय दर्शन-शास्त्रो को ही अपने विचारो का आधार वनाया। 'इजिप्शन' 'रेलिजियन' (EgiPtian Religion) मे उनके दार्शनिक विचार निम्न हैं—

(१) जव यहाँ कोई नही था, तव वह अकेला यहाँ उपस्थित था। (२) ईश्वर एक है, उसी ने समस्त जगत् वनाया। (३) ईश्वर की सत्ता व्यक्त नही होती। कोई मनुष्य उसके स्वरूप को नही जानता। (४) वह अपने प्राणियो मे स्वय एक रहस्य है। (५) ईश्वर सत्य स्वरूप है, सत्य द्वारा ही रहता है। (६) ईश्वर ही जीवन है। इसी के द्वारा मनुष्य जीता है। (७) ईश्वर देव है और देवियो का पिता है और (८) आकाश उसके सर पर आधारित है। पृथ्वी उसके पैरो का सहारा है। इन विचारो मे उपर्युक्त दो प्रमाण 'छान्दोग्य उपनिषद्, पर आधारित है। यथा—"**तस्माद्धयनन्य पर. किचनास। सोम्येदमग्र आसीदमेकमेवा द्वितीयं, तस्मादसत सजायत।**" इसी प्रकार अन्य विचार क्रमश 'कठोपनिषद्, ऋग्वेद, अथर्ववेद, छान्दोग्य उपनिषद्, अथर्व वेद और अन्तिम ऋग्वेद का है।

इसके पश्चात् मिस्री भाषा को लिया जा सकता है। हाथी का एक सस्कृत नाम "इभ" है। प्राचीन मिस्री हाथी दाँत को 'इवु' कहते थे। इन दोनो शव्दो की समानता देखकर ही प्रो० लासेन (Lassen) का कथन है—"सस्कृत के "इभ" तथा मिस्र के "इवु" इन दोनो शव्दो मे इतनी समानता है कि इन्हे एक ही स्वीकार किये विना काम नही चल सकता। निश्चय ही यह नाम भारतवर्ष से हाथी दाँत के साथ मिस्र पहुँचा है।"

इसी प्रकार मिस्र का दूसरा शव्द **अतुम** है। सस्कृत साहित्य मे **आदिम** ससार के प्रथम पुरुष को कहते है। इसका अर्थ है प्रारम्भ मे पैदा होने वाला। मिस्र मे प्रथम उत्पन्न हुए पुरुष को "अतुम" कहते है। यह 'अतुम' शव्द भी 'अदिम' शव्द का ही रूप जान पडता है।

प्राचीन मिस्र की भाषा—प्राचीन मिस्री भाषा के अवलोकन से ज्ञात होता है कि मिस्री भाषा की जननी भी सस्कृत भाषा ही है, क्योंकि ईरान की 'जन्दावस्था' की भाषा की तरह ही मिस्री भाषा मे भी सस्कृत शव्दो की वाहुल्यता है। यथा—

सस्कृत शव्द	**अर्थ**	**मिस्री शव्द**	**अर्थ**
आदि	आरम्भ	आत	आरम्भ
अक	मोडना	अक	मोड़ना

अक्ष	आँख	अख	देखना
अनि	सीमा	अन्नू	सीमा
अन्त	समाप्ति-सीमा	अन्तू	विभाग-सीमा
आप	पानी	आव	पानी
अपूप	पूआ	पूप	रोटी
अर्क	धूप	रेख	गर्मी
अर्म	नेत्ररोग	रेम	रोना
आरूह	चढना	अरू	चढना
असु	श्वास-पानी	अश	गीला
आत्मा	आत्मा	आत्मु	सृष्टि रचयिता—आत्मा
वहु	अधिकता	वहु	देना
भेक	मेढक	हेका	मेढक के सर वाला देवता
दश	काटना	टश	काटना
दाव	अग्नि	देव	अग्नि
दिति	काटना	तत	काटना
कार्पर	लोहार	कार	लोहार
खन	खोदना	कन	खोदना
माता	माता	मत	माता
मन्यु	साहम	मोन	दृढता
नर	मनुष्य	आ	मनुष्य
नाश	नाश	नेश	नाश
नत	झुकना	नत	झुकना
पच	पकाना	पेख	पकाना
चरि	चारो ओर	परि	चारो ओर
पूर	बाढ	पूर	बाहर निकालना
पुष्प	फूल	पुष	फूल
रसना	जिह्वा	रस	जिह्वा
रथ	रथ	उर्त	रथ
सम	साथ	सम	इकट्ठे होना
शान्त	शान्त	स्नातम	शान्त
सत्	सर्वोत्तम	सत्	उत्तम
सेवा	पूजा	सेव	पूजा
शिला	चट्टान	सेर	चट्टान
स्ना	स्नान	सन्ता	स्नान

असीरिया सभ्यता की स्थापना और विकास

दजला नदी के तट पर वेबीलोन से लगभग ३०० मील उत्तर, एक पहाडी स्थान पर कुछ जातियो ने मिलकर जिस नगर-राज्य की स्थापना की थी, कालान्तर मे वह **असीरिया राज्य** के नाम से ससार मे विख्यात हुआ। प्रारम्भ मे सस्थापको ने इस राज्य का नाम अपने देवता **'असुर'** के नाम पर 'असुर' ही रखा था। यहाँ का प्रत्येक राजा भी अपने को 'असुर' का राज्य-सरक्षक ही मानकर ही, शासन करता था। शनै शनै यही 'असुर' नाम असीरिया बन गया।

असीरिया के सस्थापक—असीरिया के सस्थापक कौन लोग थे, इस बारे मे इतिहासकारो मे अभी मतभेद है। कुछ इतिहासकारो का मत है कि उस समय वेवीलोनिया मे **काशी** अथवा **काशाई** नामक जाति शासन कर रही थी और उसी जाति के लोग यहाँ आये थे। कुछ लोगो की धारणा हैं कि ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व **सुमेरिया** के लोगो ने यहाँ आकर, **असुर देवता** का मन्दिर बनाकर एक छोटा-सा नगर राज्य स्थापित किया था। इनके बाद, **मित्तानी** जाति के लोग आये। सुमेर-सभ्यता **सेमेटिक काशाई** और **मित्तानी** जाति के सम्मिश्रण से बनकर, फलनी-फूलनी प्रारम्भ हुई। यही जाति कालान्तर मे **सुमेरियन** जाति के नाम से विख्यात हुई, जो निरन्तर युद्धो मे फसे रहने के कारण कठोर और खूंखार जाति बन गई। अपनी इसी कठोरता के बर्बर प्रमाण इसने दूसरे देशो को निर्दयता से जीत कर दिये। भाषा, लिपि और कला-कौशल का ज्ञान इन्होंने वेबीलोनियन लोगो से सीखा था।

असीरियन जाति की यह परिभाषा केवल एकतरफा ही है। इसलिए कि सुमेर जाति के इतिहास के अनुसधान की अपेक्षा एक इतिहासकार दूसरे का समर्थन करता गया है। इसीलिए भारतीय वाङमय का इस विचारधारा से विरोध है।

भारतीय दृष्टिकोण—भारतीय वाङ्मय के अनुसार असीरिया के सस्थापक भी भारतीय आर्य ही थे। ऋग्वेद मे 'असुर' लोगो का पर्याप्त वर्णन है, इन्हे कठोर उग्र स्वभाव वाला और दस्यु प्रकृति का कहा गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय आर्य 'असुर' को सूर्य देवता मानकर, उसकी पूजा करते थे।

कीथ[1] ने यहाँ सुर्वरदत्त, 'जशदत्त' और 'सुबन्धि' आदि राजाओ के नामो से यह सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे। इन देशो के निवासियो को आर्य 'असुर' कहा करते

1. The early history of Indo—Aryans—by—A Keath,

थे। इसलिये वह अपने नामो के साथ 'असुर शब्द' का प्रयोग करते थे। प्रसिद्ध सम्राट् असुर वणिपाल, नासिरपाल, आदि भी इस कथन के प्रमाण हैं। इनके नामो के साथ 'असुर' शब्द जुडा है। आर्यो ने इन्हे जिस नाम की सज्ञा देकर जाति से वहिष्कृत किया था, वही नाम इन्होंने कायम रखे।

प्रो० ह्यूगो विकलर ने 'एशिया माईनर' के 'वोगजा-कोई' नामक स्थान से सन् १९०७ ई० मे, उत्खनन द्वारा जो आविष्कार किये है, उनका कार्यकाल १४०० ई० पू० का है। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख मे **मि-ति-र, उरू-न, इनु द-र** और **न-स-अत ति इ-अ** ऐसे कई देवताओ के नाम पढे है। यह नाम वैदिक आर्यों के प्रसिद्ध देवता **मित्र, वरुण, इन्द्र और नासात्यों** के नामो के अनुरूप हैं। इसके अतिरिक्त कई फलको पर इसका इतिहास और कई राजाओ के नाम भी है। लिखा है खत्ती (भारतीय छत्री—खत्री) नामक जाति ने १७४५ ई० पू० मे असीरिया का एक बडा भाग जीत लिया था। इन फलको पर खत्ती जाति के राजाओ का नाम इस प्रकार है, जो उन्होंने अपने देवताओ के नामो के आधार पर रखे थे—गदश, कार्रतअश, अन्दुमेतष, मरुनतप, (मरुत), नशत्ति (ना सत्य), सुर्यष (सूर्य), बुगष (भग), मिहतूर (मित्र)।

इसके बाद **असीरिया** मे 'मिट्टानी' नामक जाति शासक वनी। इसने **मिस्र** से अपना राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। **अपसा** आदि स्थानो की खुदाई से इस जाति के कई राजाओ के नाम मिले हैं। इनकी शब्द-रचना और सस्कृत-भाषा की शब्द-रचना मे पर्याप्त साम्य तो है ही, इनके राजाओ के नाम भी भारतीय राजाओ के नामो के अनुरूप है। जैसे दुशरत्त—जो दशरथ का पर्याय है और 'रथ' शब्द का प्रतीक है। सुवदि (सुबधु) स्वरदत्त (ईश्वरदत्त), यसदत्त (यशदत्त) आदि नाम है। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक धर्म १४०० ई० पू० से भी पहिले ही भारत से एशिया मे फैल गया था, क्योकि धर्म और देवताओ का आविष्कार तथा उन्हे मत्रबद्ध करना, हजारो साल का कार्य होता है। विकलर महोदय की भी यही राय है। वह भी इसे भारतीय सभ्यता के विस्तार का ही द्योतक मानते है। यदि यह माना जाय कि भारतीय आर्य एशिया माईनर से पहले ईरान मे आये और कुछ वही रहे, कुछ भारत चले आये, तब सस्कृत शब्द 'सप्ताह' का ईरानी 'हफ्ताह' हो जाने के सदृश्य **नासत्य** का भी भारत मे **नाहत्य** हो गया होता, परन्तु ऐसा नही हुआ।

भारतीय वाङ्मय मे खत्ती जाति के लिए स्पष्ट लिखा हुआ है कि यह 'आर्य' थे और द्रविड भाषा बोलते थे जो सस्कृत भाषा की अपभ्रश है। वैदिक काल मे पतित होकर यह जाति, **किरात** बनकर हिमालय पर गई और **कैलात** नाम धारण करके, उसकी एक शाखा बहुत दिन बाद तातारियो की पूर्वज होकर, एशिया माईनर मे वसी और यही यूरोप की **केल्ट** जाति की जन्मदाता हुई। इसी प्रकार मद्रास के **भल्ल** अफ्रीका मे 'जुलू' हुए और स्वेजपुल (मिस्र) से एशिया माईनर मे आकर, कैल्ट नामक तातारियो से मिलकर, पीले और काले रग को मिलाकर, श्वेत रग की उत्पत्ति करने मे सफल हुए तथा वही वसे हुए आर्यो की शुद्ध भाषा सीखकर **आर्यमणि** (आर्मेनिया)

नामक स्थान को अपना निवासस्थान बनाया। यही से यूरोप मे मनुष्य जाति—आर्य जाति का पदार्पण हुआ। इनकी भाषा आर्य भाषा हो चुकी थी। इसी भाषा के कारण उन्होने **आर्य-नन्द** 'आयरलैंड और **शर्मदेशिया** (सरमेशिया) नाम रखे।

निनवे के उत्खनन से अर्ध पशु, अर्ध पक्षी, अर्ध मत्स्य तथा अर्द्ध मनुष्यो की मूर्तियाँ भी मिली है। इनके भारतीय आर्य होने का दूसरा प्रमाण, इनकी वेशभूषा और परिधान है। उस समय भारत के अलावा एशिया की कोई जाति दाढी मूंछ नही रखती थी। कही केवल दाढी रखी जाती थी, कही केवल मूंछे रखी जाती थी और कही दोनो ही चीजे साफ रखी जाती थी। स्वय वेबीलोनिया मे भी लोगो की यही दशा थी, लेकिन प्रत्येक इतिहासकार ने इन्हे दाढी मूछे रखने वाले और हाथ मे छडी लेकर चलने वाले बताया है। छडी का प्रचलन भी उन दिनो भारत मे ही था। भारत के अतिरिक्त विदेशी इतिहासो मे 'छडी' के दर्शन बहुत कम होते हैं। तीसरा सबसे बडा प्रमाण यह है कि उस काल मे, प्रत्येक जाति का अलग देवता था—जैसे कि वेबीलोनी लोगो का देवता **मर्दक**। अपने देवता की प्रतिष्ठा,के लिए प्रत्येक जाति अपनी जान तक देती थी। तब असीरिया मे पहुँची विभिन्न जातियो ने केवल मात्र 'असुर' को ही अपना देवता मानकर कैसे सन्तोष कर लिया ? इसलिए निश्चित ही यह जाति भारतीय थी। भारत मे उस समय **सूर्य**, **वरुण** और **अग्नि** की अभ्यर्थना की जाती थी। उसी के मानने वाले इन लोगो ने वेबीलोन मे देवताओ के मन्दिर बने देखकर अपने देवता 'असुर' का भी मन्दिर बनाकर पूजा प्रारम्भ की। उस समय भारत मे **कासा-युग** चल रहा था। लोहे का प्रयोग भारत मे भी नही होता था और न ही भारतीय जानते थे। अत कालान्तर मे इस जाति पर भी पडोसी राज्यो की धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियो का प्रभाव पडता रहा। इसी कारण सम्राट् असुरबनिपाल के पुस्तकालय से प्राप्त 'ईट-साहित्य' मे और भी देवताओ मे दर्शन होते है। जिनमे मुख्य हैं—**नर्गल**, अद्दश, नबु, इनुर्त्त आदि। ७०० ई० पू० के असुर राजा **सेन्नानिरिब** के एक लेख से ज्ञात होता हैं कि यहाँ लोग कपास को नही जानते और सूती कपडा भारत से मगाया करते थे। कपास को यह एक प्रकार का **ऊन** कहते थे, जो उनकी राय मे भेड से पैदा न होकर, पेड पर पैदा होता है।

सामाजिक जीवन—असीरिया का समाज मुख्यत दो भागो मे विभक्त था—एक उच्चवर्ग और दूसरा गुलाम। गुलामो की स्थिति यहाँ भी वही थी, जो उस समय अन्य देशो मे थी। परन्तु स्वतत्र लोग तीन भागो मे विभक्त थे। इनमे एक भाग था, 'मरवनूती' लोगो का। इस भाग मे राज्य परिवार और सम्पन्न व्यक्ति थे। दूसरे भाग को 'उम्मीनी' कहा जाता था। इस भाग मे मुख्यत दस्तकार और दूसरे कार्यो के करने वाले कारीगर लोग थे और तीसरे भाग को 'खुशवी' कहा जाता था। इस भाग मे विभिन्न पेशो को करने वाले जन-साधारण लोग शामिल थे।

व्यावसायिक-स्थिति— यहाँ का प्रधान व्यवसाय कृषि था। इस कृषि का सचालन जमीदारी-पद्धति के अनुसार होता था। वेबीलोनिया की भाँति असीरिया कभी भी

व्यापारिक साम्राज्य नही वन सका। लेकिन, कृषि के लिए यहाँ सिंचाई आदि के सभी साधन सुलभ थे। अत पशु-पालन के साथ-साथ यहाँ कृषि द्वारा गेहूँ, जौ, तिलहन और दाले पर्याप्त मात्रा मे पैदा की जाती थी। साथ ही फलो और सब्जियो की पैदावारी भी पर्याप्त थी। साधारण जनता का मुख्य भोजन भी यही था।

दूकानदाराना-पद्धति यहाँ वेबीलोनिया के अनुरूप थी। सोने-चाँदी और ताँवे का यहाँ सिक्का चलता था। यहाँ जो प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि सम्राट् **सेन्नाचिरिव** ने राजकीय मुद्रा के रूप मे ताँवे का सिक्का पहले-पहल चलाया था, जिसे **शेकल** कहा जाता था।

अपने छोटे से व्यापार मे यह लोग धातु की ढलाई, कपडे की रगाई और शीशे के काम मे दक्ष थे। यहाँ पर कई प्रकार की धातुओ की खाने भी थी। जिन का यह उपयोग करते थे। प्रारम्भ मे यह लोग लोहे से परिचित नही थे। ७०० ई० पू० इन्होंने अपने शस्त्रो को **लौह धातु** से वनाना प्रारम्भ किया। तभी इन्हे पालिश और रगाई पद्धति का भी ज्ञान हुआ। वाद मे यह कुर्सी, मेजे आदि भी वनाने लगे।

पारिवारिक स्थिति—यहाँ का पारिवारिक जीवन भी अत्यन्त कठोर था। स्त्रियो को पर्दे मे रखने का यहाँ रिवाज था। जिसका पालन सतर्कता और कठोरता से किया जाता था। शादी के पश्चात् वहुत से लोग ससुराल मे जाकर रहने लगते थे, वहुत-से अपनी पत्नी सहित अपने ही घर वापस आ जाते थे। पत्नी को घर मे भी पति के सामने घूंघट निकाले रहना पडता था। विवाहित स्त्रियो का कार्य केवल घरेलू-कार्य और कशीदाकारी आदि करना था। किन्तु पतिव्रत-धर्म का पालन करना नारी का अनिवार्य कर्त्तव्य माना जाता था। विना पति की आज्ञा के पत्नी कोई भी कार्य नही कर सकती थी। लडकियो, वेश्याओ और देवदासियो के लिए पर्दे का वन्धन मान्य नही था।

कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के अतिरिक्त, वेश्या, दासी अथवा कितनी भी अन्य स्त्रियाँ रख सकता था। स्वय सम्राटो के महल हजारो स्त्रियो से भरे रहते थे। यह महल आवादी से दूर वनाये जाते थे, जिन मे रात दिन षड्यन्त्र चला करते थे। वेश्याओ की यहाँ भरमार थी और इस कुत्सित-कर्म का सचालन भी राज्य के द्वारा ही होता था। वेवीलोनिया के पतन-काल मे वहाँ जितनी विलासिता थी, यहाँ उससे कुछ ज्यादा ही फैल चुकी थी।

प्रत्येक पति को यह अधिकार था कि चरित्रहीनता के कारण अपनी पत्नी की हत्या कर दे। पर्दे का उल्लघन करने आदि पर उसे राज्य दण्ड भी दिए जाते थे। पति के मरने अथवा लडाई मे पकडे जाने पर दो वर्ष तक स्त्री का भरण-पोषण राज्य की ओर से होता था। इसके वाद स्त्री को पुनर्विवाह की छूट थी। इतनी कठोरताओ के उपरान्त भी देश के राजनीतिक-जीवन मे भाग लेने का स्त्रियो को अधिकार था। इसका प्रमाण यही है कि असीरिया के सिंहासन पर **सम्मूरम्मत** और **वकीया** जैसी स्त्रियाँ भी वैठी।

नामक स्थान को अपना निवासस्थान बनाया। यही से यूरोप मे मनुष्य जाति—आर्य जाति का पदार्पण हुआ। इनकी भाषा आर्य भाषा हो चुकी थी। इसी भाषा के कारण उन्होंने **आर्य-नन्द** 'आयरलेंड और **शर्मदेशिया** (गरमेशिया) नाम रखे।

निनवे के उत्खनन से अर्ध पशु, अर्ध पक्षी, अर्ध मत्स्य तथा अर्द्ध मनुष्यो की मूर्तियाँ भी मिली है। इनके भारतीय आर्य होने का दूसरा प्रमाण, इनकी वेशभूषा और परिधान है। उस समय भारत के अलावा एशिया की कोई जाति दाढी मूंछ नही रखती थी। कही केवल दाढी रखी जाती थी, कही केवल मूंछें रखी जाती थी और कही दोनो ही चीजे साफ रखी जाती थी। स्वय वेबीलोनिया मे भी लोगो की यही दशा थी, लेकिन प्रत्येक इतिहासकार ने इन्हे दाढी मूछे रखने वाले और हाथ मे छडी लेकर चलने वाले बताया है। छडी का प्रचलन भी उन दिनो भारत मे ही था। भारत के अतिरिक्त विदेशी इतिहासो मे 'छडी' के दर्शन बहुत कम होते है। तीसरा सबसे बडा प्रमाण यह है कि उस काल मे, प्रत्येक जाति का अलग देवता था—जैसे कि वेबीलोनी लोगो का देवता **मर्दक**। अपने देवता की प्रतिष्ठा के लिए प्रत्येक जाति अपनी जान तक देती थी। तब असीरिया मे पहुँची विभिन्न जातियो ने केवल मात्र 'असुर' को ही अपना देवता मानकर कैसे सन्तोष कर लिया ? इसलिए निश्चित ही यह जाति भारतीय थी। भारत मे उस समय सूर्य, **वरुण** और **अग्नि** की अभ्यर्थना की जाती थी। उसी के मानने वाले इन लोगो ने वेबीलोन मे देवताओ के मन्दिर बने देखकर अपने देवता 'असुर' का भी मन्दिर बनाकर पूजा प्रारम्भ की। उस समय भारत मे **कांसा-युग** चल रहा था। लोहे का प्रयोग भारत मे भी नही होता था और न ही भारतीय जानते थे। अत कालान्तर मे इस जाति पर भी पडोसी राज्यो की धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियो का प्रभाव पडता रहा। इसी कारण सम्राट् असुरवनिपाल के पुस्तकालय से प्राप्त 'ईंट-साहित्य' मे और भी देवताओ मे दर्शन होते है। जिनमे मुख्य हैं—**नर्गल**, अद्दश, नबु, इनुर्त्त आदि। ७०० ई० पू० के असुर राजा **सेन्नानिरिब** के एक लेख से ज्ञात होता हैं कि यहाँ लोग कपास को नही जानते और सूती कपडा भारत से मगाया करते थे। कपास को यह एक प्रकार का **ऊन** कहते थे, जो उनकी राय मे भेड से पैदा न होकर, पेड पर पैदा होता है।

सामाजिक जीवन—असीरिया का समाज मुख्यत दो भागो मे विभक्त था—एक उच्चवर्ग और दूसरा गुलाम। गुलामो की स्थिति यहाँ भी वही थी, जो उस समय अन्य देशो मे थी। परन्तु स्वतत्र लोग तीन भागो मे विभक्त थे। इनमे एक भाग था, 'मरवनूती' लोगो का। इस भाग मे राज्य परिवार और सम्पन्न व्यक्ति थे। दूसरे भाग को 'उम्मीनी' कहा जाता था। इस भाग मे मुख्यत दस्तकार और दूसरे कार्यो के करने वाले कारीगर लोग थे और तीसरे भाग को 'खुशवी' कहा जाता था। इस भाग मे विभिन्न पेशो को करने वाले जन-साधारण लोग शामिल थे।

व्यावसायिक-स्थिति—यहाँ का प्रधान व्यवसाय कृषि था। इस कृषि का सचालन जमीदारी-पद्धति के अनुसार होता था। वेबीलोनिया की भाँति असीरिया कभी भी

व्यापारिक साम्राज्य नही बन सका। लेकिन, कृषि के लिए यहाँ सिंचाई आदि के सभी साधन सुलभ थे। अत पशु-पालन के साथ-साथ यहाँ कृषि द्वारा गेहूँ, जौ, तिल-हन और दाले पर्याप्त मात्रा मे पैदा की जाती थी। साथ ही फलो और सब्जियो की पैदावारी भी पर्याप्त थी। साधारण जनता का मुख्य भोजन भी यही था।

दूकानदाराना-पद्धति यहाँ बेबीलोनिया के अनुरूप थी। सोने-चाँदी और ताँबे का यहाँ सिक्का चलता था। यहाँ जो प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए है उनसे ज्ञात होता है कि सम्राट् **सेन्नाचिरिब** ने राजकीय मुद्रा के रूप मे ताँबे का सिक्का पहले-पहल चलाया था, जिसे **शेकल** कहा जाता था।

अपने छोटे से व्यापार मे यह लोग धातु की ढलाई, कपडे की रगाई और शीशे के काम मे दक्ष थे। यहाँ पर कई प्रकार की धातुओ की खाने भी थी। जिन का यह उपयोग करते थे। प्रारम्भ मे यह लोग लोहे से परिचित नही थे। ७०० ई० पू० इन्होने अपने शस्त्रो को **लौह धातु** से बनाना प्रारम्भ किया। तभी इन्हे पालिश और रगाई पद्धति का भी ज्ञान हुआ। बाद मे यह कुर्सी, मेजे आदि भी बनाने लगे।

पारिवारिक स्थिति—यहाँ का पारिवारिक जीवन भी अत्यन्त कठोर था। स्त्रियो को पर्दे मे रखने का यहाँ रिवाज था। जिसका पालन सतर्कता और कठोरता से किया जाता था। शादी के पश्चात् बहुत से लोग ससुराल मे जाकर रहने लगते थे, बहुत-से अपनी पत्नी सहित अपने ही घर वापस आ जाते थे। पत्नी को घर मे भी पति के सामने घूँघट निकाले रहना पडता था। विवाहित स्त्रियो का कार्य केवल घरेलू-कार्य और कशीदाकारी आदि करना था। किन्तु पतिव्रत-धर्म का पालन करना नारी का अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था। बिना पति की आज्ञा के पत्नी कोई भी कार्य नही कर सकती थी। लडकियो, वेश्याओ और देवदासियो के लिए पर्दे का बन्धन [illegible] मान्य नही था।

कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी के अतिरिक्त, वेश्या, दासी अथवा [illegible] अन्य स्त्रियाँ रख सकता था। स्वय सम्राटो के महल हजारो स्त्रियो से भरे रहते थे। यह महल आबादी से दूर बनाये जाते थे, जिन मे रात दिन षड्यन्त्र चलता [illegible] वेश्याओ की यहाँ भरमार थी और इस कुत्सित-कर्म का संचालन भी राज्य के द्वारा ही होता था। बेबीलोनिया के पतन-काल मे वहाँ जितनी विलासिता थी, यहाँ उससे कुछ ज्यादा ही फैल चुकी थी।

प्रत्येक पति को यह अधिकार था कि चरित्रहीनता के कारण [illegible] की हत्या कर दे। पर्दे का उल्लघन करने आदि पर इसे गम्भीर दण्ड भी [illegible] पति के मरने अथवा लडाई मे पकडे जाने पर दो वर्ष तक स्त्री का [illegible] की ओर से होता था। इसके बाद स्त्री को पुनर्विवाह की छूट थी। [illegible] के उपरान्त भी देश के राजनीतिक-जीवन मे भाग लेने का स्त्रियो [illegible] इसका प्रमाण यही है कि असीरिया के सिंहासन पर सम्मुरम्मत [illegible] स्त्रियाँ भी बैठी।

दास स्थिति—परिवार मे दास की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। बड़े-बड़े परिवारो मे सैकडो दास होते थे। छोटे परिवार मे भी दो चार अवश्य होते थे। यह ऋण चुकाने, खेती-बारी आदि करने के काम मे आते थे। पहचान के लिए इनके कान छेद दिये जाते थे या शरीर पर कोई चिह्न अकित कर दिया जाता था। सम्राट् **सेन्नारिरिब** के एक चित्र मे इन लोगो को गाडी खीचते और कोडो मे पिटते हुए दिखाया गया है। इनका अफसर हाथ मे कोडा लिए हुए है। इससे सिद्ध होता है कि दास की स्थिति इनके यहाँ भी पशु से उत्तम नही थी। दास लोग विजित देशो के कैदी होते थे। वह भी जो राजा की आज्ञा से मारे जाने से बच जाते थे अथवा देवताओ की बलि से बच जाते थे। इनकी स्त्रियो को सैनिको को बाँट दिया जाता था। सुन्दर-सुन्दर स्त्रियो को राजमहल मे दासी रूप मे भेज दिया जाता था।

देवी-देवता—असीरियावासी **सूर्य** के पूजक थे और सूर्य का ही नाम उन्होंने **'अशुर'** अथवा 'असुर' रखा था। सूर्य-बिम्ब के मध्य मे तरकस बाँधे और धनुष ताने व्यक्ति के रूप मे उन्होंने अपने देवता **असुर** की कल्पना की थी। असीरिया राज्य की पताकाओ पर भी यही चिह्न था। उनका यह देवता युद्ध और भयकरता का प्रेमी माना जाता था। राजा स्वय अपने को सूर्य का पुत्र समझता था। असीरियाई सेना को जब भी किसी युद्ध मे विजय मिलती थी, तब असुर देवता को प्रसन्न करने के लिए बहुत से बन्दियो की बलि दी जाती थी। इसी बीभत्स-कृत्य के कारण अन्य देशो के लोगो की श्रद्धा **असुर** देवता के प्रति नही थी। उन दिनो बेबीलोनिया मे **मर्दक** देवता और प्रेम की देवी **ईश्तर** की पूजा होती थी। मिस्र मे प्रेम की देवी का नाम तब **नीनादेवी** था।

कुछ दिनो के लिए बेबीलोन के देवता **मर्दक** भी इनके यहाँ रहे थे। किन्तु रहे असुर के सेवक होकर थे। सम्राट् असुरबनिपाल कालीन एक पत्थर पर उभरे हुए चित्र द्वारा, **मर्दक** देवता **शैतान तिजामत** को परास्त करते हुए दिखाये गए हैं।

भूत-प्रेतो के अतिरिक्त यह लोग छोटे-छोटे और भी देवताओ को मानते थे, लेकिन यह देवता सभी कठोर आकृति और प्रवृत्ति वाले होते थे। सभी के लम्बी-लम्बी मूँछें उगी हुई होती थी। अत इन्हे भी यह टोने-टोटको और जन्तर-मत्रो द्वारा प्रसन्न किया करते थे। इनकी क्रूरता से बचने के लिए गलो मे तावीज़ बाँधने का यहाँ प्रचलन था। इन देवताओ को प्रसन्न करने के लिए यदा-कदा पुरोहित लोग भी प्रार्थनाएँ कराते रहते थे। इनकी धार्मिकता इतना कट्टर रूप लिए होती थी कि उसकी रक्षा के लिए नृशसता और क्रूरता का भी प्रयोग किया जाता था।

वास्तु-कला—असीरियन कलाकारो की कला अत्यन्त भद्दी है। इन्होने थोडी बहुत उन्नति मोटी, भद्दी और बेढगी मूर्तियाँ बनाने मे की थी। परन्तु उभरे हुए रेखा-चित्र बनाने मे इन्होंने अवश्य उन्नति कर ली थी। इनके अधिकाश उभरे हुए चित्र राजाओ के अभियान, उनके शिकार आदि के ही अधिक बने होते थे। अथवा पशु-पक्षियो के चित्र मकानो की दीवारो पर बनाये जाते थे। बालुई अथवा चूने का पत्थर

न होने कारण इनके चित्र और मूर्तियाँ टिकाऊ अवश्य होते थे। खोरसाबाद से **सारगोन** द्वितीय के चित्र मिले हैं तथा निनवे मे **असुरबनिपाल** के शिकार के चित्र मिले हैं।

इन लोगो ने दूसरे देशो को लूटा और इस लुटाई मे जितना भी धन मिला, वह या तो सेना पर व्यय किया अथवा भवनो के निर्माण पर खर्च किया। अत यह लोग अपने भवनो की मजबूती और सुन्दरता पर अधिक ध्यान देते थे। यही कारण है कि इनके भवनो की मेहराबे, बेबीलोनिया के भवनो की कलापूर्ण मेहराबो की टक्कर की तो नही, अपितु मजबूती मे उनसे अधिक मजबूत हैं। फिर भी असुर कारीगर अपने ढँग की कला मे पर्याप्त दक्ष थे। यह कारीगर अपनी वास्तुकला मे ईटो, पत्थरो और सगमरमर का प्रयोग करते थे। मकानो के फर्श भी पत्थरो के ही बनाये जाते थे। छत के अन्दर का भाग प्राकृतिक चित्रो से सजाने मे यह सिद्धहस्त थे और ऊपर का भाग सुनहले पत्रो से मढा जाता था। लकडी पर हाथी दात तथा सुनहले तारो की खिचाई-जडाई का भी इन्हे अच्छा अभ्यास था। उस समय महलो के द्वार पर पत्थर की पशुओ की मूर्तियाँ और दीवारो पर ऐतिहासिक चित्र बनाये जाते थे। **असुरबनिपाल** के महल के द्वार पर एक विचित्र मूर्ति लगी हुई मिली है। यह मूर्ति पखो वाले साड की है। इसका सर असुरबनिपाल के चेहरे के सदृश्य बनाया गया है। शासन करने की मुद्रा मे सम्राट् असुरबनिपाल द्वितीय की भी एक मूर्ति राजदण्ड लिए बलख से मिली है जो ब्रिटिश म्यूजियम मे है। आँखो मे क्रूरता भरे हुए, मौन रूप मे यह मूर्ति राजदण्ड हाथ मे लिए खडी हुई है।

लिपि—लिपि की दृष्टि से इन्होने अक्षरो को सुन्दर और सरल बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया था। परन्तु इस कार्य मे इन्हे विशेष सफलता न मिली। इनके राज्य मे इतिहास अथवा साहित्य की दृष्टि से, जो कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण हुआ, वह था मेसोपोटामिया के साहित्य को पुस्तकालयो द्वारा सरक्षण प्रदान करना, जिसके लिए सम्राट् **असुरबनिपाल** इतिहासकारो की बधाई का पात्र है।

दस्तकारियों का विकास—अपने आक्रमणो द्वारा दूर-दूर से कारीगरो को लाकर, असुर सम्राटो ने अपने यहाँ की दस्तकारी आदि कलाओ को प्रोत्साहित किया। परिणाम स्वरूप छोटे-छोटे उद्योग धन्धे पनपे और नागरिक जीवन सुखमय बन गया। यहाँ पर कारीगरो ने सोने और चाँदी के गहनो को बनाया। पहले स्वर्णहार आदि का प्रयोग राजकुलो की रानी-महारानियो मे हुआ। पश्चात् जन-साधारण मे भी होने लगा। बढई लोग यहाँ जन-साधारण के लिए भी कुर्सी, मेजे, कारनस और पलंग आदि बनाते थे और स्वर्णखचित राज्य-प्रासादो के लिए भी बनाते थे, पत्थर के खिलौने की बनाई का कार्य भी यहाँ चल निकला। पत्थर के खिलौने और मिट्टी के पालिशदार बर्तन बनाने वाले यहाँ बहुत कारीगर थे, किन्तु बेबीलोन वालो की भाँति उन्होने इन्हे चित्रित करना नही सीखा था।

साहित्य और विज्ञान—युद्ध-विज्ञान के अतिरिक्त इनके विज्ञान ने और किसी ओर उन्नति नही की। अत असीरियन लेखो मे सम्राटो के अभियान, शत्रुओ और

विद्रोहियो का हनन शिकारो के वर्णन, भविष्य वाणियाँ, राजाओ और देवताओ के नामो की सूचियाँ तथा देवी-देवताओ को दिये गये विशेष बलिदानो का वर्णन है। अथवा बेबीलोन का इनके यहाँ रखा हुआ सुरक्षित साहित्य है, जिसके सुरक्षित रखने के लिए एक दिन सम्राट् असुरवणिपाल ने यह भविष्यवाणी लिखी थी कि "इसके उठाने वाले का विनाश हो जायेगा।" साथ ही इसकी सुरक्षा और अनुवाद के लिए उसने अपने एक लेख मे गर्व भी प्रदर्शित किया था कि "मैंने **अक्कदीय-भाषा** का लोगो के ज्ञान के लिए अनुवाद कराया।"

फिर भी इनके तन्त्रो-मन्त्रो और इनके देवता असुर से नई सभ्यता को वहुत सहायता मिली। असुर को ही अपना आधार मानकर हिब्रू-जाति ने ईश्वर की 'विशाल' 'कल्पना' की जिसने कालान्तर मे क्रांति और शांति के साधन उपस्थित किए। पश्चात् असुर की पूजा ईश्वर की अखण्डता मे बदल गई।

राजनीतिक-स्थिति—असीरिया वालो ने अपने साम्राज्य का सगठन रोम वालों की तरह से किया था। अत असीरिया का राज्य अन्य राज्यो की तरह छोटे-छोटे राज्यो के टुकडो मे बटा हुआ था। वहाँ पर सारे राष्ट्र का एक ही राजा था। असुर देवता के नाम से उसकी इच्छानुसार यह सूर्य (असुर) का अवतार बनकर राज्य करता था। कोई बडा कार्य करने के लिए असीरिया का प्रत्येक राजा देवता की अनुमति लेता था। अनुमति लेने का ढग यह था कि कोई व्यक्ति देवता के मन्दिर मे उपासना करता और उसी स्थिति मे देवता के आवेश से प्रेरित होकर, वह व्यक्ति राजा को प्रश्नो के उत्तर देता था। राजा प्रजा का सर्वेसर्वा माना जाता था। उसके अधिकार असीमित थे, लेकिन ओझा जैसे लोग राजा पर भी शासन करते थे। राजाज्ञा को लोग देवाज्ञा मानते थे और कर आदि भी यही समझ कर देते थे कि असुर देवता की भेंट कर रहे हैं।

सारा राज्य कई सूबो मे विभाजित था और उसके अधिकारियो का चुनाव स्वय राजा करता था। इन सूबो मे ईरान प्रान्त का गवर्नर—लिम्मू—सबसे बडा माना जाता था और इसका पद भी राजा के बाद दूसरे शासक का समझा जाता। यही गवर्नर राज्य का तर्तनु—सेनापति भी होता था। अन्य गवर्नर इस गवर्नर के आधीन होते थे और उन्हे 'उरसू' कहा जाता था।

प्रत्येक प्रान्त कई 'परवती' अर्थात् जिलो मे विभाजित होता था जिसके मुख्य हाकिम यानी कलक्टर का नाम 'शकनू' था। छोटे जिलो के कलक्टरो का पद **अमलू** था। उनकी सहायता के लिए 'खजनू' आदि (डिप्टी वगैरह) होते थे।

यहाँ के शासन का सारा ढाँचा रोमनो के शासनिक ढांचे से मिलता-जुलता था। यदि किसी प्रान्त मे अराजकता होती थी तो उस प्रान्त की प्रजा को वहाँ से बदलकर दूसरी जगह बसा दिया जाता था और वहाँ पर किसी और प्रान्त की प्रजा भेज दी जाती थी। सारे राज्य मे राजदूतो का जाल विछा रहता था, जिनके भेदिये जगह-जगह समाचारोका सग्रह किया करते और राजा तक प्रत्येक समाचारको पहुँचाया जाता था।

दण्ड व्यवस्था—असीरिया राज्य मे अपराधो के दण्ड वडी कठोरता से दिए जाते थे। वहाँ पर विभिन्न अपराधो के लिए विभिन्न दण्ड थे, जिनमे कोडे लगाना, फासी देना, गरदन काटना, कुत्तो से नुचवाना, जनेन्द्रियाँ काटना, पानी मे डुवाना, पेढ पर लटका देना, हाथ-पैर काटना आदि सभी शामिल थे।

सैनिक-शक्ति—असीरिया की सैनिक-शक्ति वडी बलवान थी। उसकी प्रवलता का कारणए क यह भी था कि असीरियाई सेना के अन्दर धार्मिक भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। असीरिया का प्रत्येक सैनिक शारीरिक दृढता के लिए सदा सतर्क रहता था। असीरिया का प्रत्येक नागरिक सैनिक भी था और उसे किसी भी समय युद्ध के लिए बुलाया जा सकता था। युद्ध पर जाने से वचने का एक उपाय केवल 'सैनिककर' देना ही था। बचाव की दूसरी सूरत यह भी थी कि अपने वदले मे मनुष्य किसी दूसरे देश का आदमी अपनी ऐवज मे लडने के लिए देकर युद्ध से वच सकता था।

सेना मे कुछ सैनिक ऐसे होते ये जो नियमित सैनिक थे और कुछ ऐसे होते थे, जो ट्रेनिग देकर छोड दिए जाते ये और युद्धकाल मे उनका आह्वान किया जाता था। असीरियन सेना दस-दस और पचास-पचास हजार की टुकडियो मे विभक्त रहती थी। इनमे रथारोही, अश्वारोही, पदाति और सफरमैना—चारो ढग की सेनाएँ थी। यह सेना बर्छे, तीर, मुदगर, मुडी हुई तलवार, दरातिया आदि का प्रयोग करती थी। लोहे के घनो से मकानो की दीवारें तोडने, किले मे सुरगे लगाने का भी ज्ञान उन्हे था। इस सेना की सहायता के लिए यदि आवश्यकता पडती थी तो नागरिको की सेना भेजी जाती थी। युद्ध के बाद विदेशी राज्य की लूट का वहुत-सा धन सेना मे बाँट दिया जाता था। इसीलिए शान्ति की वजाय, असीरिया के लोग युद्ध के लिए सदैव तैयार रहते थे। और इसी कारण असीरिया के लोग अच्छे वीर और लडाका वन गये थे। निरन्तर युद्धो का परिणाम उनके मनोभावो पर भी इतना गहरा पडा था कि उनमे क्रूरता, निर्दयना इतनी बढ गई थी कि युद्ध मे वह जिन पराजित शत्रुओ को पकडकर गुलाम बनाते थे, उनके साथ पशुओ का सा व्यवहार करते थे। उन्हे वह शारीरिक दण्ड देना और बेइज्जती करना ही काफी न समझ कर, उन्हे देवताओ तक की वलि चढा दिया जाता था। इतनी क्रूरता और निर्दयता तथा वीरताओ के प्रदर्शन के वाद भी असीरिया साम्राज्य एक दिन नष्ट हो गया और आज उनकी क्रूरताओ और निर्दयताओ की स्मृति ही ससार के इतिहास मे मौजूद है।

पतन का कारण—असीरिया राज्य के पतन के भी लगभग वही कारण हुए जो मेसोपोटामिया की सभ्यता के विनाश के हुए ये। अर्थात मेसोपोटामिया वालो से अधिक इन लोगो के अन्दर क्रूरता भर गई थी। मानवता और उसका आदर इस साम्राज्य मे स्वप्न जैसी वाते थी। स्त्रियो का आदर इस राज्य मे कभी हुआ ही नही, इसलिए यहाँ मनुष्यो का मानसिक वल क्षीण होकर दुराचार और व्यभिचार का वोलवाला हो गया और अन्तिम सवमे वडा कारण यह हुआ कि सम्राट् असुर-वणिपाल के अतिरिक्त उनके मरने के वाद, कोई अन्य दूसरा राजा उसके समान शक्ति-

शाली नही हुआ। अत असुरवरिणपाल के मरते ही सूबो मे विद्रोह फैल गया। गवर्नर लोग स्वतन्त्र बन गए। उनके स्वतन्त्र होते ही साम्राज्य बिखर गया। व्यापार और शासन अस्तव्यस्त हो गया, आपसी लडाइयो मे देश के योद्धाओ का पर्याप्त-मात्रा मे निधन हुआ। वीरता और देश-प्रेम के समाप्त होते ही राष्ट्र शत्रुओ के धावो को न रोक सका। फलत राष्ट्र के साथ-ही-साथ असुर के विशाल मन्दिर तक धूल मे मिला दिये गये।

असीरिया के शासक

डिगलथ पिल्लेसर प्रथम—(१११५ ई० पू० से ११०२ ई० पू० तक)

असीरिया साम्राज्य के कुल कितने शासक हुए, उन सबो का इतिहास मिलना तो बहुत कठिन है क्योकि राजतन्त्र की स्थापना से पहले यहाँ जातियो के नेता ही राजा के समान माने जाते थे। ऐसे नेता यहाँ की जातियो मे कितने उत्पन्न हुए इस बात का कोई पता नही चलता। परन्तु बहुत खोजबीन के बाद यहाँ के ऐसे नेताओ मे '**डिगलथ पिल्लेसर**' का नाम मिलता है। १११५ ई० पू० मे यह राजा की हैसियत से गद्दी पर बैठा। इस वीर व्यक्ति ने ६२० शेर स्वय अपने हाथ से मारे थे और **खत्ती** आदि कुल मिलाकर चालीस जन-जातियो पर विजय प्राप्त की थी। इसी व्यक्ति का लोहा **ऐलाम** वाले तक मानते थे, क्यो उसने बेबीलोनिया मे दो बार जाकर, अपनी विजय पताका फहराई थी। अपने एक शिला लेख मे इस क्रूर शासक ने लिखा है—"मैंने कम्मू के निवासियो पर विजय प्राप्त की। उनके शहरो को जीतकर आग की भेंट कर दिया।"

यही तक नही उसकी सेना ने कई बार अपना आतक काले सागर से भूमध्य सागर तक स्थापित कर दिया था और इन विजयो मे जो धन मिला, वह अधिकतर देवताओ के मन्दिरो के निर्माण मे लगाया। इसी ने बेबीलोन को लूटा और जीता था। किन्तु १३ वर्ष बाद इसके भाग्य का चमकता सितारा अस्त होना आरम्भ हुआ। बेबीलोन ने उस पर आक्रमण किया और राज्य छीनकर असीरिया की राजधानी 'असुर' से वह उसके देवताओ तक को उठा ले गए। इसी लज्जा के कारण ईसा से ११०२ वर्ष पूर्व इस महान् शासक **डिगलथ पिल्लेसर प्रथम** की मृत्यु हो गई। डिगलथ पिल्लेसर के मरने के बाद यहाँ २०० वर्ष तक अराजकता का दौर-दौरा रहा और इसी अराजकता काल मे यहाँ के लोगो ने ईसा से ९११ वर्ष पूर्व 'अददनिरारी' नामक व्यक्ति को अपना राजा बनाया।

अददनिरारी (९११ ई० पू० से ८८४ ई० पू० तक)

इसने गद्दी पर बैठते ही डिगलथ पिल्लेसर की खोई कीर्ति को पुन अर्जित करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले इसने पश्चिम के कुछ नगर राज्यो को अपने राज्य मे मिला लिया। फलत असीरिया की घटी हुई सीमा पुन बढ़ चली। इसके पश्चात्

इसने मन्दिरो का उद्धार और व्यापार-व्यवस्था को सुदृढ करने का प्रयत्न किया। साथ ही सामाजिक दशा को भी सुधारने का प्रयत्न किया।

असीदन सीरपाल—(८८४ ई० पू० से ८५९ ई० पू० तक)

अददनिरारी की मृत्यु के पश्चात् ८८४ ई० पू० मे इसका पुत्र असीदन सीरपाल गद्दी पर बैठा इसने सर्वप्रथम असीरिया की सैनिक शक्ति का पुनर्गठन किया और अपनी सैनिक शक्ति के बल पर आस-पास के नगर राज्यो को जीतकर, अपने राज्य की सीमाओ को भूमध्यसागर के पूर्वी तट तक बढा लिया। इस क्रूर शासक ने अपनी क्रूरता को डिगलथ पिल्लेसर से भी कई गुना बढा लिया था। किसी भी विजित शासक से दया का वर्ताव करना तो इसने सीखा ही नही था। यह प्रत्येक विजित राजा या सरदार की आँखें निकलवा कर लूट के माल के साथ-साथ उसके महल की स्त्रियो को भी ले जाता था। ८५९ ई० पू० मे इसकी मृत्यु हुई।

शलमन्सर तृतीय—(८५९ ई० पू० से ८२४ ई० पू० तक)

असीदन सीरपाल की मृत्यु के उपरान्त उसका बडा पुत्र शलमन्सर गद्दी पर बैठा। इसने भी गद्दी पर बैठते ही अपने पूर्वजो का अनुकरण किया। अर्थात् सैन्य-शक्ति को बढाकर दमिश्क पर धावा बोल दिया। दमिश्क के पश्चात् इसने वान झील और अराराद् पर्वत की ओर कूच किया और काफी प्रदेश जीते। इसके साथ ही इसने सीरिया पर जोरदार धावा बोला और सीरिया मे कत्लेआम करा दिया। जिसमे हजारो आदमियो की हत्या हो गई। राज्य की सीमाएँ दमिश्क और सीरिया तक फैल गई। परन्तु इसके कुत्सित कार्यों का विरोध इसके पुत्र ने ही करना शुरू कर दिया और राज्य व्यापी विद्रोह की आग भडका दी। फलस्वरूप विद्रोहियो ने राजा को मार डाला। इस राजा की मृत्यु के उपरान्त इसके लडके ने गद्दी पर बैठने का प्रयत्न किया। परन्तु वह १३ वर्ष तक लडाई-झगडो मे ही फँसा रहा और उन्ही झगडो मे उसकी मृत्यु भी हो गई। अत राजसिंहासन पर राजमाता सम्मुरम्मत बैठी।

सम्मुरम्मत (८११ ई० पू० से ८०८ ई० पू० तक)

इस महान महिला ने केवल तीन वर्ष तक राज्य किया और नारी-सुलभ प्रकृति के अनुसार अपना समय धर्म कार्यों और मन्दिरो के निर्माण तथा पुनरुद्धार मे लगाया। यह रानी असीरियन इतिहास मे कुशल राजनीतिज्ञ और योद्धा मानी गई है। परन्तु इस नारी ने कही आक्रमण नही किया और न ही राज्य की सीमाओ को विस्तृत किया, अत शलमसर की मृत्यु के पश्चात् इस वश का सितारा डूबता ही गया और अदद निरारी (पचम) तक देश ने कोई विशेष उन्नति नही की।

टिगलथ पिल्लेसर तृतीय—(७४५ ई० पू० से ७२७ ई० पू० तक)

सम्मुरम्मत की मृत्यु के बाद, राज्य मे पुन: गडबड प्रारम्भ हो गई और काफी

दिनो तक रही । अन्त मे ७४५ ई० पू० टिगलथ पिल्लेसर (तृतीय) गद्दी पर बैठा । यह योद्धा भी था और मन्दिरो के निर्माण मे भी इसने दिलचस्पी ली थी । साथ ही बेबीलोनिया और दमिश्क आदि राज्यो पर चढाइयाँ भी की, परन्तु उनका कोई विशेष परिणाम न निकला और यह राजा केवल मन्दिरो का निर्माता मात्र ही रह गया ।

अददनिरारी (पचम)—(७२७ ई० पू० से ७२२ ई० पू० तक)

इस राजा ने भी गद्दी पर बैठते ही अपने पूर्वजो का अनुकरण किया और सेना सजाकर दमिश्क, उशरद्व मन्नाई और मीडिया तक अपने राज्य की सीमाओ का विस्तार कर लिया । फलत असीरिया साम्राज्य पुन चमक उठा । लेकिन यह चमक क्षणिक ही रही—स्थायी न हो सकी । राज्य का सितारा पुन डूबना शुरू हुआ और उसके साथ राजवश का भी—इस राजवश का अन्त 'पुल' नामक एक सरदार ने राजा की हत्या करके किया ।

टिगलथ पिल्लेसर (चतुर्थ)—(७२२ ई० पू० से ७१७ ई० पू० तक)

'पुल' नामक यह सरदार टिगलथ पिल्लसर (चतुर्थ) नाम से गद्दी पर बैठा और इसने भी अपनी सैनिक शक्ति बढाकर दमिश्क, सीरिया और मेसोपोटामिया तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । लेकिन अधिक दिन यह व्यक्ति भी राज्य न कर सका और इसकी मृत्यु भी राज्य हस्तगत करने के ठीक पाँच वर्ष बाद ही हो गई और राज्य पर **सारगन** (द्वितीय) नाम के एक सैनिक सरदार ने कब्जा कर लिया ।

सारगन (द्वितीय)—(७१७ ई० पू० से ७०५ ई० पू० तक)

इसके गद्दी पर बैठते ही जनता ने विद्रोह कर दिया । अस्तु इसने विद्रोह को कठोरता से दबा दिया और साथ ही मिस्र की प्रबल आक्रमणकारी सेना को भी पराजित कर दिया । पश्चात् सीरिया और **ऐलाम** वालो को हराकर **फिलस्तीन** और **क्रीट द्वीप** पर भी आक्रमण कर दिया और इन देशो से उपहार वसूल किये । बेबीलोनिया मे पुन अपना प्रभुत्व स्थापित करने के पश्चात् इस राजा ने **निनवे** के पास ही **'दरशर-फिन'** नामक अपनी सुन्दर राजधानी बनाई । इसने अपने बारह साल के राज्य-काल मे कला, साहित्य और व्यापार को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया । इसी कारण देश के उद्योगधन्धो तथा कारोबार मे वृद्धि भी हुई । परन्तु ७०५ ई० पू० बर्बर 'सीमीरियन' नामक एक अर्धसभ्य जाति ने उरारतू की ओर टिड्डी दल की भाति असीरिया पर चढाई की और उन्ही से लडते हुए सारगन (द्वितीय) परलोक वासी हुए ।

सेन्नानिरिब—(७०५ ई० पू० से ६८१ ई० पू० तक)

सारगन (द्वितीय) की मृत्यु के बाद इसका पुत्र सेन्नानिरिब गद्दी पर बैठा । इस राजा का सारा शासन काल कठोर सघर्षो और क्रूरताओ मे ही व्यतीत हुआ ।

गद्दी पर बैठते ही इसने सबसे पहिले सीमीरियन जाति को हराया। उसके उपरान्त इसने **अनातोलिया** (एशियाई टर्की) पर अपना अधिकार कर लिया। इसका दूसरा आक्रमण बेबीलोनिया पर हुआ। बाबुल मे इसके विरुद्ध व्यापक विद्रोह हो गया था, किन्तु जितना विद्रोह व्यापक था, उतनी ही कठोरता से इसने उसका दमन भी किया। इसने बेबीलोनिया के सारे नगरो को लुटवाया, पश्चात् उन्हे आग की भेट किया। बेबीलोनिया की नहरो को काटकर उनका पानी सुखवा दिया। बेबीलोनिया के जिस शहर मे इसकी सेना घुसती थी, त्राहि-त्राहि मच जाती थी। सेना घुसते ही नागरिको का कत्लेआम करना शुरू कर देती थी। इसके बाद लुटाई करती और पुन आग लगा देती। उसके बाद ही वह आगे बढती थी।

अपनी इस मारकाट मे उसने बेबीलोन सहित ६० शहरो और ८२० गाँवो को उजाडा और वहाँ के २ लाख ८ हजार स्त्री-पुरुषो को गुलाम बनाकर लाया। साथ-ही उनके घोडे, गधे और भेड-बकरियो को भी हाँक लाया।

बेबीलोनिया के मन्दिरो की मूर्तियो को नष्ट-भ्रष्टकर, यह उनके देवता **मर्दक** को भी कैद कर लाया और असीरिया मे लाकर उसे अपने देवता 'असुर' का दास बना दिया। इसीलिए बेबीलोनिया वालो मे उसके प्रति हिंसा की अग्नि सुलगती रही। इसके बाद इसने **मिस्र** और **यरूशलम** पर भी आक्रमण किया। परन्तु इन आक्रमणों मे इसे सफलता न मिली। फलस्वरूप इसने अपने आक्रमणो का सिलसिला समाप्त कर अपना समय अपने राज्य को सभालने और राजधानी को सुन्दर बनाने मे लगाना शुरू किया। अत इसने अपनी नई राजधानी 'सेनाकिरब' को ससार का एक सर्वोत्तम नगर बना डाला। इसका इतना आतक था कि राज्य मे चोरियो और डकैतियो की वारदातें तो समाप्त हो ही गई थी, बाहरी देश भी असीरिया की ओर कदम बढाते काँपते थे। इसने अपने समय में राज्य मे नई-नई नहरे बनवाकर कृषि को बढाया। व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया और अपने मन्दिरो की भी बढोतरी की।

यह अत्यन्त धर्मभीरू शासक था। फलत ६८१ ई० पू० जब एक दिन यह 'असुर' देवता के मन्दिर मे प्रार्थना कर रहा था, तब इसके पुत्रो ने ही मन्दिर मे इसका वध कर दिया। इसके वध का कारण वस्तुत राजा का घरेलू मामला था। मामला यह था कि राजा अपना उत्तराधिकारी बडे पुत्र को न बनाकर, छोटे पुत्र **ईसार हद्दो**' को बनाने की घोषणा कर चुका था।

ईसार हद्दो—(६८१ ई० पू० से ६६६ ई० पू० तक)

यह सम्राट् अपनी प्रकृति का निराला था। असीरिया की गद्दी पर अब तक जितने शासक बैठे थे, उनमे यह सभी से कोमल और दयालु स्वभाव का सम्राट् था। अपनी इसी सौजन्यता के कारण इसने बेबीलोनिया को स्वतन्त्र करके, उनके देवता **मर्दक** को भी प्रतिष्ठा सहित बाबुल भेज दिया। बेबीलोन शहर को उसने पुन बसाया तथा **ऐलाम** और **बेबीलोन** के अकालग्रस्त लोगो को अपनी राजधानी से अन्न भिज-

वाया था। उस काल के सम्राटो मे शायद ही इतना उदार-हृदय नरेश किसी देश मे रहा होगा। गद्दी पर बैठते ही इसने पहले अपने राज्य को व्यवस्थित किया। इसके उपरान्त बेबीलोनिया को स्वतन्त्र किया और उसके पश्चात् मिस्र पर आक्रमण कर दिया। ६७१ ई० पू० मे इसने मिस्र को विजय कर अपने मिस्री उपनिवेश की राजधानी मिस्र के नगर मेंफिस को बनाया। अत एक ओर जहाँ मिस्र विजय मे इसकी धाक दूर-दूर तक जम गई, वहाँ ऐलाम के अकाल मे दिल खोलकर सहायता करने तथा बेबीलोनिया का पुनरुद्धार करने के कारण यह लोकप्रिय शासक भी माना जाने लगा। ईसा से ६६९ ई० पू० मिस्र मे इसके विरुद्ध विद्रोह फैल गया। जब यह उस विद्रोह के दमन के लिए जा रहा था, तब रास्ते मे ही हृदय-गति बन्द हो जाने से इसकी मृत्यु हो गई।

असुर बनिपाल—(६६९ ई० पू० से ६२६ ई० पू० तक)

ईसार हद्दो की मृत्यु के उपरान्त इसका छोटा भाई असुर बनिपाल सम्राट् बना। यह शासक असीरिया का सबसे प्रबल पराक्रमी शासक था। अपने शासनकाल मे इसे अनेको युद्ध करने पडे। नगरो को घेर-घेर कर इसने अकाल की स्थिति भी पैदा की और लोगो पर अत्याचार भी पेट भर कर किये। सबसे अधिक क्रूरता इसने यहूदियो के प्रति बरती। तभी से यहूदी निनवे को 'रक्तमय-नगर' के नाम से स्मरण करते है।

सबसे पहले इसने मिस्र जाकर वहाँ की अराजकता का दमन किया और मिस्र के समृद्धिशाली नगर थीबेज को लूट लिया। पहले इसका अधिकार केवल मिस्र के उत्तरी भाग पर था, अब सारे मिस्र पर हो गया और अपनी ओर से इसने राजवश का एक शासक वहाँ नियत कर दिया।

इसका दूसरा आक्रमण ऐलाम राज्य पर हुआ। वहाँ इसने ऐलाम की राजधानी सूसा को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। वहाँ की भूमि मे काँटेदार झाडियाँ तथा नमक डलवाकर, जमीन को कृषि के अयोग्य बना दिया। यह सब घटनाएँ उस समय के एक इतिहासकार ने वर्णित की हैं। इसने ऐलाम के राजा का सर काटकर निनवे के सिहद्वार पर टगवा दिया। इसीलिए इसकी क्रूरता और रोमाचित घटनाओ का प्रभाव दूर-दूर के देशो तक फैल गया। इसी कारण बहुत दिनो तक असीरिया राज्य की ओर मुँह करने का साहस किसी भी आक्रमणकारी जाति का नही हुआ।

ऐलाम राज्य के सभी स्त्री-पुरुषो को उनके पशुओ आदि सहित पकडवाकर यह लूट के माल सहित अपने देश ले आया। सम्पूर्ण ऐलाम राज्य की लुटाई और बर्बादी मे इसके केवल एक महीना २५ दिन लगे। ऐलाम राज्य हमेशा के लिए समाप्त हो गया। उसके नगर जगलो मे बदलकर केवल पशुओ के चरागाह मात्र रह गए। झाडियाँ जगली जानवरो की मादो के रूप मे बदल गईं।

ऐलाम सम्राट् का सर काटने के साथ-ही-साथ इसने ऐलाम के राज्य के प्रधान सेनापति दिनान्नू का सर कटवाकर उसकी खाल अपने सामने खिचवाई। बाद मे उसके

भाई को टुकडे टुकडे कर दिया गया ।

निनवे आकर, इसने एक बहुत बडा विजयोत्सव मनाया और उस उत्सव के जलूस मे अपने रथ मे घोडो की जगह चार राजाओ को जोता । जलूस मे आगे वल्लम पर ऐलाम के राजा और उसके सेनापति से सर टगे हुए थे । उसकी इन्ही विजयो का परिणाम यह निकला कि इसके राज्य की सीमाएँ **अबीसोनिया, आर्मेनिया** तथा **मीडिया** तक फैल गई । इसके शासन-काल मे कोई विद्रोह नही हुआ । सभी जगह शान्ति और व्यवस्था स्थापित रही ।

इतना कठोर और वज्र-हृद्रय शासक होते हुए भी इसमे कुछ विशेष गुण भी थे । यह राजा शूरवीर भी था और विद्याप्रेमी भी । इसीलिए कला और साहित्य मे इसकी विशेष रुचि थी । इसका पता इसी से लगता है कि जहाँ इसने बेबीलोनिया को अत्यन्त क्रूरता से कुचला, वहाँ इसने उस देश के साहित्य की बहुत खोजबीन की । बेबीलोन से उपलब्ध सभी साहित्य का इसने कई सौ विद्वान् लगाकर अनुवाद कराया और अपनी राजधानी निनवे के राज्यीय पुस्तकालय मे उसे सुरक्षित रखवा दिया ।

तीस हजार ईंटो पर खचित उस साहित्य भण्डार का अधिकाश भाग २५०० वर्ष पश्चात् भी सुरक्षित मिला है और उसी साहित्य के कारण **दजला-फरात** की सभ्यताओ का ज्ञान ससार को उपलब्ध हो सका है ।

यह व्यक्ति साहित्य के साथ-साथ शेर के शिकार का अत्यन्त शौकीन था । शेर के शिकार मे यह केवल एक वल्लम और छुरे का प्रयोग करता था और वह भी अकेला ही । यह जब भी शिकार की इच्छा से जगल मे घुसा शेर को मारे बिना खाली हाथ नही लौटा ।

अपने देवताओ को प्रसन्न करने के लिए इसने अनेको मन्दिरो का निर्माण किया । कई महल भी बनवाये । अपनी स्थापत्य-कला के लिए इसने बेबीलोन के कारीगरो से अधिक काम लिया । उन्ही की देखरेख मे **निनवे** के महल आदि बने । सभी देशो के कारीगरो का निनवे मे जमघट कर लिया गया था और उसको बेबीलोन के कारीगरो को सौप दिया था । अत सम्राट् असुरबणिपाल के समय असीरिया राज्य जन और धन की दृष्टि से ससार के साम्राज्यो मे प्रमुख गिना जाने लगा । परन्तु ६२६ ई० पू० असीरिया के इस महान सम्राट् को घरेलू झगडो और साम्राज्यो से आने वाली विद्रोहो की आवाजो ने बलात करना आरम्भ कर दिया और इन्ही चिन्ताओ के बीच कुछ ही दिनो मे इसकी मृत्यु हो गई ।

असीरिया साम्राज्य का अन्त—असुरबणिपाल के मरते ही इसके सारे साम्राज्य मे अराजकता फैल गयी । विजित देशो ने विद्रोह के झण्डे ऊँचे कर दिये । मिस्र ने अपनी दासता का जुआ उतार फेका और मृत बेबीलोनिया पुन जी उठा तथा नेबोपोलेस्सर नामक अपने एक सरदार को राजा बनाकर, असीरिया के प्रति विद्रोह कर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करदी ।

संयुक्त आक्रमण—६१२ ई० पू० असीरिया साम्राज्य पर **मीडिया** और **बेबी-**

लोनिया की सेनाओ ने सयुक्त आक्रमण किया। इनके आक्रमण मे सीथियन लोगो ने भी साथ दिया। फलत आक्रमणकारी सेनाओ ने असीरिया की राजधानी निनवे को उसी निर्दयता मे नष्ट कर दिया, जिस निर्दयता मे असुरवणिपाल ने उनकी राजधानी **सूसा** को नष्ट किया था।

इस सम्मिलित आक्रमण की रूपरेखा अकस्मात् ही वन गई थी। वेवीलोन वाले तो पहिले ही असुरो से खार खाये वैठे थे और वदला लेने की घडियो की प्रतीक्षा कर रहे थे, साथ ही **मीडिया** का राजा **साईरक्स** (स्यारक्ष) भी जला-भुना वैठा था। बेवीलोनिया के स्वतन्त्र होते ही **स्यारक्ष** ने अपनी लडकी की शादी **नेवोपोलेस्सर** के लडके **नेबुचडरेज्जर** से करदी। फलत वेवीलोन और मीडियन परस्पर रिश्ते के सम्बन्ध मे आवद्ध होकर एक हो गए और दोनो ने मिलकर असुरो को घर दवोचा।

बँटवारा—विजय के बँटवारे के फलस्वरूप साईरक्स (प्रथम) ने असीरिया साम्राज्य के उत्तरी भाग को अपने **मीडिया** राज्य (ईरान) मे मिला लिया और दक्षिणी भाग पर **नेवोपोलेस्सर** ने अधिकार कर वेवीलोनिया राज्य मे मिला लिया। ५३६ ई० पू० साईरस (प्रथम) ने सारे ही असीरिया प्रान्त को अपने ईरानी राज्य मे मिलाकर, असुर राज्य को विल्कुल समाप्त कर दिया। अत ४०१ ई० पू० यूनानी इतिहासकार और सेनापति **जेनोफनदस** अपनी सेना सहित ईरान से लौटते समय इस उजाड राज्य असीरिया की राजधानी निनवे के खण्डहरो से होता हुआ जा रहा था, तव उसे यह जरा भी ध्यान न आया कि केवल २०० वर्ष पहिले ही यह नगर विशाल असुर साम्राज्य की राजधानी था, जिसकी शक्ति ने एशिया भर मे तहलका मचा रखा था। जिनका देवता महान् असुर था और उसी का राज्य मानकर, असीरियन सम्राट् यहाँ शासन करते रहे थे।

मैसोपोटामिया (टर्की) सभ्यता की स्थापना और विकास

यह ऐतिहासिक सत्य है कि ससार की सभ्यताग्रो का विकास सर्वत्र ही बडी-बडी नदियो की गोदियो मे हुग्रा है। ग्रत प्रत्येक देश की प्राचीन सभ्यता के ग्रवशेष उस देश की प्राचीन नदियो की गोदियो मे ही दृष्टिगोचर होते हे। जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राचीन ग्रार्य-सभ्यता गगा-यमुना, सरस्वती ग्रौर दृश्द्वती नदियो के मध्य के भूखण्ड की 'देवभूमि' मे पनपी ग्रौर 'ब्रह्मावर्त', ग्रार्यवत' पश्चात् 'सिन्धु-सभ्यता' के नाम से विख्यात हुई, इसी प्रकार **दजला** ग्रौर **फरात** नदी की हरी-भरी घाटी मे प्राचीन सभ्यताग्रो का जन्म ग्रौर विकास हुग्रा। 'वाईविल' मे इस स्थान को **इडन-गार्डन** ग्रर्थात ईडन के नन्दन कानन के नाम से सम्वोधित किया गया है। ईसाई धर्मगाथानुसार ग्रादि-मानव स्वर्ग से पतित होकर, यही ग्राया था। ग्रत उसका मूल-स्थान यही घाटी था। इस धार्मिक ग्राख्यान को छोडकर यदि ग्रादि-मानव पर विज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय, तव भी यही सिद्ध होता है कि ग्रादि मानव को जीवन सचालन के लिए जिन वस्तुग्रो की ग्रावश्यकता थी, वह उसे नदियो के काठो मे ही सुलभ हो सकती थी। नदियो की नम-भूमि मे जहाँ कृषि कर्म किया जा सकता था, वहाँ ग्राहार का दूसरा साधन मछलियाँ ग्रौर पानी ग्रादि भी सुलभ था। ग्रत **दजला** ग्रौर **फरात** की हरी-भरी गोदियो मे जहाँ फल-फूल ग्रौर वाग-वगीचो के कारण हरियाली की वहुतायत थी, वहाँ ग्रन्न भी पर्याप्त मात्रा मे पैदा होता था। गेहूँ की उत्पत्ति का प्रारम्भ भी यही से होना माना जाता है।

सक्षिप्त रूपरेखा—एक ग्रोर कृष्ण सागर (काला सागर), दूसरी ग्रोर कैस्पियन सागर के दक्षिण मे तथा फारस (ईरान) के पश्चिम मे स्थित **दजला** ग्रौर **फरात** नदियो के वीच वसे हुए भू-भाग का नाम ही **मैसोपोटामिया** था। दजला फरात नदियाँ **ग्रार्मेनिया** के इसी दक्षिणी भाग से निकलती हुई, ईरान की खाडी मे गिरती हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह वर्तमान ईरान से कुछ वडा ही था। परन्तु कालान्तर मे पडोसी राज्यो मे युद्धो के कारण इसकी सीमाग्रो मे घटाव-वढाव भी होता रहा।

सभ्यता का विभाजन—ऐतिहासिक दृष्टि से मैसोपोटामिया की सभ्यता को चार भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे प्रथम सभ्यता मूल निवासियो की है, पश्चात् दूसरी सभ्यताग्रो का इनके रक्त मे मिश्रण होता रहा। प्रथम सभ्यता के लोगो को **ईलम**, दूसरी सभ्यता के लोगो को सुमेर ग्रौर तीसरी सभ्यता **ग्रसीरियन**

(असुर) और चौथी सभ्यता अक्कद (दक्षिणी वेबीलोनिया) के लोगो की थी।

इनमे प्राचीन **ऐलम-राज्य** भारत और यूनान की भाँति नगर राज्यो मे विभाजित था। जिसके प्रधान नगर थे, **सूसा** और **अनशान**। इनमे **सूसा** की खुदाई हो चुकी है, यही प्रधान नगर था। **सुमेर-सभ्यता** के सभी प्रधान नगर फरात नदी के काठो मे बसे हुए थे। इन नगरो मे मुख्य थे—**निप्पर, लगश, उरूक** तथा ऐरीडू। इनमे भी कई नगरो का उत्खनन हो चुका है। सुमेर की भाँति **अक्कद-राज्य** के नगर भी फरात के काठो मे बसे हुए थे। इनमे मुख्य थे—**बेबीलोन कोठा, ओपिस, दिलवत और कीश** आदि। इनका प्रधान केन्द्र **अक्कद** नगर ही था। इसकी भी खुदाई हो चुकी है।

ईलम की आदि सभ्यता—दजला नदी के पूर्वी भाग के ऊँचे पठारो पर यह राज्य फैला हुआ था और इसकी राजधानी **सूसा** थी। पूर्व मे यह ईरान की खाडी से घिरा हुआ था। इसके एक ओर दलदली भूमि थी। इस देश के निवासी किस जाति के थे, इस बारे मे इतिहासकारो मे मतक्य नही है। ब्रिटिश इतिहासकार **ब्रिगेडियर सिप्स** अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ परशिया' मे इन्हे नेग्रिटो जाति का मानते है। यह सभ्यता पत्थर-युग को पारकर, ताम्र-युग मे आ चुकी थी। अत उस युग का काल ईसा पूर्व ४५०० वर्ष कूता गया है इसकी समस्त वस्तुएँ भारतीय सभ्यता से मिलती हैं।[1]

उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि इनका दशरथ नाम का एक राजा मिस्र के एक राजा का साला था, जो १४०७ ई० पू० मैसोपोटामिया मे राज्य करता था। इसी प्रकार मित्तानियो के एक दूसरे राजा का नाम 'हरि' है। यह हरि नाम भी आर्यों का है। एशियामाईनर के बोगजकोई Baghkhoi स्थान पर हिटीशिया बादशाह सुबलुलिउमा और मित्तानी बादशाह मुहोवजा के बीच हुई सन्धि के कुछ पत्र मिले हैं। इन पत्रो मे **मित्र, वरुण,** इन्द्र और **नसात्य** आदि वैदिक देवताओ की वन्दना की गई है, जिससे ज्ञात होता है कि यह भारतीय आर्य थे। सूसा का वर्णन पुराणो मे भी आया है।[1] मत्स्य पुराण मे कहा गया है कि मनुर्भरत तथा कथित प्रोटो—इलामाइट जाति के छै महारथियो ने बिलोचिस्तान और ईरान होते हुए मैसोपोटामिया मे अपना राज्य स्थापित किया। वह भारत के दक्षिणी भाग से गये थे। सूसा का नाम उन्होंने प्रारम्भ मे "अमर देश" रखा था। पुरातत्त्ववेत्ता फ्रैंकफोर्ट लैग्टन का कहना है कि 'प्रोटोइलामाइट सभ्यता' का ही विकसित रूप सुमेर सभ्यता है। प्रोटोइलामाइट जाति जल-प्लावन के समय स्वदेश चली गई थी, जहाँ उनकी सभ्यता का विकास हुआ। इस विकसित सभ्यता का नाम ही सुमेर सभ्यता है। यह जाति जब फिर लौटी, तब, अपने पूर्वजो के स्थान ऐलाम और मैसोपोटामिया मे जा बसी। मनु पुत्री इला के नाम पर इस स्थान का नाम ऐलाम या 'ईलम' पडा था। आजकल यह "किरमान" कहलाता है। यही पर सुमेर सभ्यता का केन्द्र सुमेर राज्य था। जैनेसिस इसे 'शीनार भूमि' या शीशनान कहता है। पुराणो मे इसे "श्रीनार" लिखा है।

---

१. सुषा नाम पुरी रम्या वरुर्स्यापि धीमत"—मतस्य पुराण अ० १२३। श्लोक २२

उत्थान और पतन—ताँबे और काँसे के हथियार बनाने मे प्रवीण, कृषि कार्य मे दक्ष यह लोग पशु-पालन करते थे। ताँबे को पालिश मे चमका कर शीशे के स्थान पर भी उसी का प्रयोग करते थे और उनकी स्त्रियाँ भी ताँबे तथा पत्थर आदि के आभूषणो का प्रयोग करती थी। लिखने के लिए चित्र-लिपि का प्रयोग यह लोग करते थे और मिस्र तथा भारत से व्यापार भी करते थे। इनके मिट्टी के पात्रो मे पशुओ तथा ज्योमिति चित्र बनाये जाते थे। कुम्हार के चाक तथा पहियेदार गाडियो का आविष्कार पहले उन्होने ही किया था।

६४६ ई० पू० असीरिया के सम्राट् असुरवणिपाल ने इन पर आक्रमण किया और इनके नगर राज्य **सूसा** को लूट लिया। उस लूट मे वणिपाल को बहुत से सोने-चाँदी के आभूषण, ताँबे के शस्त्र तो मिले ही, साथ ही इनकी पहियेदार गाडियाँ भी मिली, जिन्हे वह अपनी राजधानी **निनवे** ले गया। वैसे **ईलम सभ्यता** का यह प्रधान नगर **सूशान** के नाम से १४ वी शताब्दी तक भी मौजूद रहा।

इनके शासक कौन लोग थे और शासन-व्यवस्था क्या थी, इस पर विशेष प्रकाश अभी नही पडा, किन्तु इतना पता अवश्य चला है कि ईलम के राजा **खुमबाब** ने, वेबीलोनिया पर आक्रमण किया था और वहाँ वह वेबीलोनिया के राजा **गिलगा-मेश** द्वारा मारा गया था। इसके अतिरिक्त ईलम के दो राजाओ—**खुम्बस्तीर** और **कुदुरकुम्मल** का नाम भी प्रकाश मे आया है। इनमे **कुदुरकुम्मल** ने भी वेबीलोनिया पर आक्रमण किया था और उसे लूटा था। इसके अतिरिक्त इन राजाओ का और हाल नही मिलता। पश्चात् यह सुमेरिया के आधीन हो गए।

सुमेर सभ्यता—सुमेर-सभ्यता के संस्थापक कौन लोग थे, किस मार्ग से उन्होने वेबीलोन या सुमेर मे प्रवेश किया, इस बारे मे भी अभी विवाद समाप्त नही हुआ है। इतिहासकार केवल यह मानते हैं कि यह लोग **सेमेटिक जाति** के नही थे और ५ हजार ई० पू० के लगभग वेबीलोन के दक्षिणी भाग मे आकर बस गये थे। इनका 'सुमेरियन' नाम सबसे पहले, इतिहासकार **ओपार्ट** ने प्रयोग किया था, जिसका अर्थ होता है—'काले सर वाले लोग।' यह लोग काले सर के तो थे ही, साथ ही सर के बाल साफ रखते थे। गालो पर दाढी रखते थे। बाद मे वह भी साफ करा दी थी। इन लोगो का कद छोटा, नाक नुकीली और ऊँची थी। माथा दबा हुआ और आँखे नीचे की ओर झुकी हुई थी। इनकी पोशाक ऊँची थी। पहले शरीर के ऊपर का भाग नगा रखते थे। बाद मे उसे भी चादर से ढकने लगे। लेकिन साधारण लोग तब भी तहमद बाँधते थे। स्त्रियाँ गर्दन से इस प्रकार चादर ओढती थी, जिससे उनकी कमर का नीचे और ऊपर दोनो ओर का भाग ढँका रहे। अमीर लोग पैरो मे कसी हुई चट्टियाँ भी पहनते थे।

दजला-फरात की इस सुमेर सभ्यता को प्रो० वुली (woolley) अपनी उत्खनन शोधो के अनुसार ४५०० वर्ष ई० पू० विकसित हुई मानते हैं। परन्तु इनका विकास कहा से आकर हुआ इस बारे मे वे चुप हैं। अलबत्ता इनके रहन-सहन, शरीर

का गठन और नाम यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि सुमेर सभ्यता भारतीय सभ्यता से प्रभावित ही नही थी, अपितु भारत की द्रविड सभ्यता का ही एक भाग थी।

द्रविड लोग किसी समय स्पेन, मध्य अफ्रीका, अमरीका तथा क्रीट तक फैले हुए थे, जबकि इतिहास का वह प्रागैतिहासिक काल था। अत क्रीट के भित्ति-चित्र, जिनकी रूप-रेखा स्पेन के आल्टीमोरा गुफा के चित्रो से होती है, जिनका काल ईसा से २० हजार वर्ष का है, मिलते-जुलते हैं।

भारत के छोटा नागपुर पठार मे मुडा जाति के लोगो के बसने का उल्लेख ईसा से ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। प्राचीन पाली ग्रथो मे लिखा है कि बौद्ध धर्म का जो प्रतिनिधि-मण्डल, धर्म-प्रचार के लिए लका गया था उसमे अन्य वर्ग के लोगो के अतिरिक्त मुडा जाति के लोग भी थे। मुडा लोगो के यहाँ आने के पहले इस प्रदेश मे असुर जाति के लोग रहते थे और यहाँ वह भुँईहारो के अधीन कृषिकार्य करते थे। राँची जिले की कच्चे लोहे की खाने, इन्ही लोगो ने खाली की थी और सारा लोहा निकाल लिया गया था।

तिरकी लोग, जो बाद मे भुँईहार कहलाये, दोहासा नामक स्थान पर अपने किले बनाकर रहते थे। उनकी ईंटो के ढेर अब भी मिलते है। असुर लोगो की भाँति मुडा लोग भी सूर्य के उपासक थे। सूर्य को यह लोग 'सिंगबोगा' कहते थे। वह आज बडे गर्व से कहते है कि जब हमारी स्त्रियाँ १०-१० सेर वजनी रत्न-जटित स्वर्ण आभूषण पहिने, १० मन वजन उठाने वाले अपने पुरुषो के साथ आई तब असुर हम लोगो को देखकर पश्चिम की ओर भाग गये।" इसके अतिरिक्त भारत की मोहन-जो-दडो, हडप्पा (अब पाकिस्तान मे) और माहिष्मती-सभ्यताओं से प्राप्त वस्तुओ से भी उनकी समानता होती है। भारतीय वाड्मय मे यहाँ 'असुर' शब्द का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। मेसोपोटामिया मे मिली ईंटो पर यदि मित्र, वरुण आदि का नाम न होता तो पता नही, इस सभ्यता को भी इतिहासकार कही और से आई बताते।

साहित्य—उत्खनन से मिली मिट्टी की ईंटो पर लिखे, साहित्य मे सिद्ध होता है कि मेसोपोटामिया के लोग ५ हजार वर्ष पूर्व से भी पहिले यहाँ आये थे। यह लोग लेखन-कला मे परिचित थे। इनकी प्रचीन लिपि पत्थरो पर लिखी पाई गई है। **रोजेस्टा का पत्थर** इसका सबसे बडा प्रमाण है। यह लिपि ईसा से ३२०० वर्ष पूर्व की कूती गई है। ईसा से ३२०० वर्ष पूर्व मिट्टी की ईंटो पर लिखा हुआ इनका साहित्य प्राप्त हुआ है, जो इनके पुरोहितो का लिखा हुआ जाना पडता है। यही लोग इतिहास मे 'सुमेरियन' नाम से प्रसिद्ध हुए।

मिट्टी की ईंटो पर यह नुकीली लकडी से लिखते थे, पश्चात् उन ईंटो को धूप मे सुखा लेते थे, अथवा आँच मे पका लेते थे। इन लेखो के अनुसार सुमेरियन राज्य की स्थापना दजला-फरात के दुआबे मे साढे चार लाख पूर्व हुई थी। वस्तुत इसे सुमेरियन पुराण कथा कहा जा सकता है, जो अत्यन्त अतिशयोक्ति पर आधारित है। वास्तव मे सुमेर लेखको ने ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व अपने देश की प्राचीन घटनाओ को सकलित

करना आरम्भ किया था। उस समय की लिखी हुई प्रलय की कहानी मे, इन लोगो ने अपनी सभ्यता को बहुत प्राचीन लिख दिया है। इनकी प्रलय की कथा के नायक **जिऊदसुद्दू**—जो सुमेरिया के किसी गाव के पटेसी है और जल-देवता, एनकी के भक्त है, उन्हे जल देवता निकट भविष्य मे आने वाली बाढ के प्रति सावधान कर देते है। अत पटेसी एक नाव बनाते हैं और उस नाव मे अन्न, पशु-पक्षी आदि रखते है और प्रलय-कारी सात दिन तक आई बाढ से अपने को बचा लेते हैं। बाद मे सूर्योदय होता है, वृष निकलती है, बाढ उतरती है। पटेसी अपनी नाव से उतरकर एक बैल और भेड की बलि देते है। पश्चात् इसी कहानी का रूपान्तर बेबीलोनिया मे और हिब्रू लोगो मे होता है, परन्तु वहाँ प्रलय के देवता का नाम जिऊदसुद्दू न होकर, **उततपिशतम** और **नोग्रा** हो जाता है। भारत मे इस कथा के नायक मनु है अरब मे **नू** है और चीन मे **यू** है। सुमेर की इस बाढ को ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य भी माना जा सकता है, क्योकि **प्रो० वुली** को उत्खनन के समय **उर नगर** की जमीन मे ८ फिट की गहराई पर मिट्टी और कीचड की एक तह मिली थी, जो सम्भवत उसी कथित बाढ के अवशेष है, जो फरात नदी मे आई थी और जिसने **उर नगर** का विनाश किया था। सुमेर की इस प्रकार की कहानियो के जनक भी पुरोहित लोग ही होते थे। इन्होने भी भारतीय पौराणिक आख्यानो की भाति अपने राजवंशो की सूची को ८ लाख वर्ष से भी ऊपर पहुचाने का प्रयत्न किया है। इस सूची मे दो सम्राट्-गिलगामेश और **ताम्बुज** इतने प्रसिद्ध हुए है कि बेबीलोन वासियों ने गिलगामेश को अपने देवताओ की पंक्तियो मे स्थान दे दिया। दूसरे राजा ताम्बुज का सत्कार यूनानियो ने भी किया था। उन्होने इनका नाम **एडोनिस** रखकर इन्हें अपना देवता मान लिया। परन्तु इतिहासकार इस सभ्यता को लाखो वर्ष प्राचीन नही मानते। वह **निप्पर नगर** की सभ्यता को साढे पाँच हजार वर्ष, **कीशनगर** की सभ्यता को साढे चार हजार वर्ष और **उर नगर** की सभ्यता को केवल साढे तीन हजार ई० पू० का ही मानते है।

मिट्टी की ३० हजार ईंटो पर उत्कीर्ण **सुमेर-सभ्यता** का जो इतिहास तेलो नगर मे **डी० सरजक महोदय** को व्यवस्थित रूप मे प्राप्त हुआ है, उसमे यह सिद्ध करने का प्रयत्न तो किया गया है कि दजला-फरात के दुआवे मे यह सभ्यता ४॥ लाख वर्ष पूर्व पनपी थी, परन्तु उसका कोई प्रामाणिक आधार नही है। उत्खननो मे प्राप्त सामग्री के अनुसार, इस सभ्यता का अधिकतम काल निर्धारण ७॥ हजार वर्ष तक पहुचता है। वस्तुत इस विशाल ईंट साहित्य का क्रमवार निर्माण २७०० वर्ष ई० पू० किया गया और २६०० वर्ष ई० पू० लगश सम्राट् **गुडिया** के समय मे इसे व्यवस्थित रूप दिया गया। उस समय इस साहित्य को सग्रह कर के एक मकान मे नीचे ऊपर इस प्रकार रखा गया था, जिस प्रकार किसी पुस्तकालय मे पुस्तके।

इसे ससार का प्रथम पुस्तकालय कहा जा सकता है। भारत की भाँति इस ईंट-साहित्य मे भी एक विशेषता यह है कि इनके ऐतिहासिक राजाओ की पाँच हजार वर्ष प्राचीन नामावलि क्रमवार मिलती है। इसमे केवल एक त्रुटि यह अवश्य है कि

उन नामो के अतिरिक्त घटनाओ का विशेष उल्लेख नही मिलता । उदाहरण के लिए **इयानतुम** जो लगश राज्य के राजा भी थे और **पटेसी** भी थे, उनका काल ईसा से तीन हज़ार वर्ष पूर्व का व्यवस्थित मिलता है । इस यशस्वी सम्राट् ने अपने पडौसी राज्य **उम्मा** आदि पर चढाई कर के उनको परास्त कर, अपने राज्य मे मिला लिया था। उसकी विजय की उस घटना का चित्र उत्कीर्ण किया हुआ मिला है । जिसमे वल्लम लिए हुए पक्तिबद्ध सेना अग्रसर हो रही है और उसकी सहायतार्थ ढालधारी सैनिक साथ हैं । इनके बाद लगश सम्राटो की सूची मे **उरूकगिन** नाम के एक सुधारक शासक का नाम आता है । इनका काल २९०३ ई० पू० है । इन्होंने अपनी एक कठोर आज्ञा से पुरोहित वर्ग और शासक-वर्ग का शोषण समाप्त करा दिया था । अपनी राजाज्ञा मे इन्होने लिखा था—"**पुरोहित किसी गरीब माता के बगीचे से न लकडी लें और न फल ही लें । न ही राजकर्मचारी के रूप मे फल ले सकेगा ।**" इसने शव-दाह का शुल्क भी कम कराया था और देवताओ को उत्सर्ग की गई दान-दक्षिणा को भी राज कर से मुक्त कर दिया था । परन्तु **लगश** मे यह सुधार-काल अधिक समय तक न टिक सका । २८९७ ई० पू० **लगश** पर **रेईक** के राजा **लुगल जागीसी** ने आक्रमण किया और राज्य की लुटाई तथा कत्लेआम के बाद, इनके देवताओ को गिरफ्तार कर के ले गया और २६०० ई० पू० तक, अर्थात् सम्राट् गुडिया के शासन तक लगश की स्थिति गौरवान्वित न हो सकी । गुडिया के शासन-काल मे लगश की कीर्ति पुन चमकी थी । इसका कारण गुडिया का न्यायप्रिय और विद्याप्रेमी होना था । इसने अपने शासन-काल मे कई मन्दिरो का निर्माण भी कराया और लुगलजागीसी द्वारा तोडे गए मन्दिरो का पुनरुद्धार भी किया । इसके एक लेख से ज्ञात हुआ है कि इसने नौकर-मालिक, गुलाम-मालिक और गरीब-अमीर के भेद को पर्याप्त मात्रा मे कम कर दिया था ।

उर नगर राज्य—इस नगर राज्य का उत्थान ३५०० ई० पू० हुआ और ७०० ई० पू० तक यह किसी-न-किसी रूप मे रहा । भारतीय वाड्मय मे भी 'उर' का वर्णन है । लिखा है—अत्यरति के तीसरे भाई 'उर' थे जो ऐलाम के शासक थे । यही से इन्होने अफ्रीका, सीरिया, वेबीलोनिया आदि देशो को जीता तथा अब्राहम को उर से निकाल दिया ।[1] इन्ही के नाम पर 'उरराट्' वश का नाम पडा है । यही पर उरुक प्रान्त है । उरफा और उरगज नगर हैं । उर प्राचीन वेबीलोनिया का एक प्रदेश है । यह ससार का सबसे प्राचीन नगर माना गया है ।[2] यूफ्रेटीस और टिग्रीस की घाटी मे उर नगर के स्थान पर रेतीली चट्टानें खडी हैं । इस क्षेत्र मे खुदाई पर टेमीनोस का प्रदेश मिला, जिसको इस राजा का पवित्र नगर माना जाता है । यह पौन मील लम्बा था ।[3] इसमे प्रवेश के लिए बहुत से दरवाजे थे । इस के पास जुगारत की पहाडी ईंटो की बनाई हुई थी । पहाडी के ऊपर चन्द्रमा का मन्दिर था । यात्रियो

1 Bible Genesis
2 History of Persia, Vo I, Page 55
Indien Historical Quarterly

की अमूल्य भेंटें मन्दिर के खजाने में जमा होती थीं। यहीं पर बैठकर राजा न्याय करता था। इस मन्दिर में एक लेख ई० पू० २९३२ का है। खुदाई से पता चला है कि इब्राहीम के समय यहाँ बहुत से मकान बने थे। वह सब दो मंजिले थे। यहाँ पृथ्वी देवी के मन्दिर में तांबे की बनी एक बैल की मूर्ति भी मिली है। यहीं पर कोने में एक चिड़िया की मूर्ति मिली थी जो संसार भर में बनी किसी चिड़िया की पहली मूर्ति है। इसका काल ई० पू० ४३०० वर्ष है।

'उर' के भाई 'पुर' थे। उनकी राजधानी पुर थी। एलबुर्ज (ईरानी वैकुण्ठ के निकट) एक स्थान पुर्नसिया है, जो इन्हीं के नाम पर बसा है। इनके एक भाई तपोरित थे, इनका राज्य तपोरिया प्रान्त में था, जिसे आजकल मजन्दिरन (Mazanderan) कहते हैं। उर के पुत्र "अगिरा" थे, इन्होंने कुशद्वीप (अफ्रीका) को विजय किया था। भारतीय वाङ्मय में अगीरा अफ्रीका (पितृभूना) के निर्माता माने गये हैं, विजेता नहीं।[1] तुर्किस्तान में जिस नगर के खण्डहर मिले हैं, निश्चय ही वह वैकुण्ठ नगर था। यहाँ के अन्तिम काल के तपस्वी वैकुण्ठा और उनके पुत्र वैकुण्ठ थे, क्योंकि उस समय एशिया का पूर्वी प्रान्त सत्यगिरी-सत्यलोक कहलाता था। उसी के सामने सुमेर के निकट वैकुण्ठ धाम था। अत्यरति के वंशज ही अरॉट कहलाते थे और अरॉट पर्वत का नाम भी अत्यरति के नाम पर पड़ा जान पड़ता है। महाराज अत्यरति ने अपने भाइयों सहित ईरान विजय किया। यह भरतवंशी थे। इनका वंश एशिया में फैला।[2]

इस राज्य का सबसे प्रतापी सम्राट् उर-ईगर हुआ जिसने सुमेरिया के लिए सबसे पहले शासन-विधान बनाया। सूर्य का भक्त यही राजा प्राचीन काल का विधान-निर्माता माना जाता है। विधान के समय भी इसने अपने विधान को "सूर्य देवता के पवित्र नियम" कह कर अपनी सूर्य भक्ति का संकेत दिया है। इसी ने अपने उर-राज्य को निप्पर तक विस्तृत कर दिया था। अपने समय में इसने भी कई मन्दिर आदि बनवाये थे।

इसी के अनुरूप इसका पुत्र डुंगी भी हुआ जिसने ५८ वर्ष तक शासन किया। इसके सुखी शासन से ही प्रभावित होकर उर के निवासियों ने इसे भी देवताओं की श्रेणी में स्थान दे दिया। परन्तु उर का यह वैभव भी २३९८ ई० पू० तक ही स्थिर रह सका। उसके बाद पूर्व पश्चिम से प्राचीन इलमी और अमरी जातियों ने इस पर आक्रमण करके इस राज्य पर अधिकार कर लिया और निरन्तर २०० वर्ष तक यह जातियाँ यहाँ जमी रहीं। इनका अन्त उसी समय हुआ जिस समय २११७ ई० पू० इतिहास प्रसिद्ध सम्राट् खम्मुरबी का उदय हुआ। इसी सम्राट् ने २१२३ ई० पू० अपना जगत प्रसिद्ध विधान बनाया जो सन् १९०२ ई० में ईराक के सूसा नामक स्थान से मिट्टी की ईंटों पर खुदा मिला था। भारत में व्यवस्थाकार मनु माने जाते

---

१ विष्णु पुराण-चाक्षुष मन्वन्तर का कथा प्रसंग।

२. स्कन्द पुराण, शतपथ ब्राह्मण।

है, बेबीलोनिया मे व्यवस्थाकार खम्मूरवी माना जाता था। परन्तु खम्मूरवी से **प्रथम उर** और **अक्कद** नगर राज्य का एक मिला-जुला सुनहला समय और आता है। इस समय अर्थात् २८७२ ई० पू० मे अक्कद के प्रसिद्ध सम्राट् **सारगन** ने **उर** और **अक्कद** राज्यो को मिलाकर एक राज्य कर दिया और **एगद** शहर को अपने विशाल राज्य की राजधानी बनाया। इसने अपने साम्राज्य को जिलो मे विभाजित करके शासन किया था। वस्तुत ५५ वर्ष तक शासन करने वाला यह सम्राट् ही प्रथम साम्राज्यवादी शासक माना जाता है। उसने **सामी भाषा**, जिस जाति का यह था, साहित्य लिखाया और अनुवाद कराया। पश्चात् अपने इस सभी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक साहित्य को हरक के विशाल मन्दिर मे रख दिया। जिसे असुरवणिपाल १३७२ ई० पू० अपनी राजधानी निनवे ले गया।

सारगोन का अन्त सुन्दर नही हुआ। उसकी जान देश के गृह-युद्ध मे गई, क्योकि इसके सुधारी-कानूनो से और दूसरी जाति का होने के कारण असीरियन लोग क्षुब्ध थे। अत इसके मरने के बाद, इसका पुत्र **नरमसीन** गद्दी पर बैठा। इसी ने अपने पिता के सामने से चलते आये, विद्रोह का दमन किया। सूसा से प्राप्त चित्रावली से यह स्पष्ट हो जाता है, जिसमे यह अपने वेवस शत्रुओ को पैरो से कुचलता रहा है। उस समय शत्रु से दया का व्यवहार नही किया जाता था। लडाई मे या विद्रोह के समय बनाये गए वन्दियो मे से बहुतो को देवता की वलि चढा दिया जाता था। वहुतो को आजीवन गुलाम बना लिया जाता था। कभी-कभी तो एक जाति के समूचे व्यक्तियो को ही गुलाम बना लिया जाता था।

इन गुलामो से धनिक लोग खेती कराते थे। बल्लम और धनुष देकर इन्हे लडाई पर भेजते थे। उस समय भी समाज तीन वर्गों मे विभाजित था। पहले मे धनी लोग थे, दूसरे मे मध्यवर्गीय और तीसरे मे निर्धन व्यक्ति सम्मिलित थे।

उस समय सिक्के का प्रचन अवश्य नही था, किन्तु वस्तुओ अथवा धातुओ के टुकडो से लेन-देन और व्यापार दोनो चलते थे। सरकारी कर (लगान) भी अनाज या दूसरी वस्तुओ से ही लिया जाता था और इसी से राज्य कर्मचारियो को वेतन दिया जाता था। उस समय शासक ही धर्मपुरोहित भी होता था और जनता से अलग ऊँचे महल मे रहता था। परन्तु कभी-कभी उसे न्याय के लिए जन-मन्दिर मे भी आना पडता था, क्योकि मन्दिर ही न्यायालय-विद्यालय सभी कुछ थे। हाँ, युद्ध के समय राजा अपने रथ पर अवश्य सेना के मध्य मौजूद रहता था।

सुमेरियों की राज्य व्यवस्था और उलट-फेर

सुमेरियो के इतिहास को अनेक पुरातत्ववेत्ताओ ने दो भागो मे विभक्त किया है—एक भाग वह, जहाँ स्वतन्त्र नगर थे और इन पर राजपुरोहितो का शासन था और दूसरा भाग वह, जबकि वडे नगरो का दमन होकर वडे राज्यो की स्थापना हो गई थी। इस नगर राज्यकाल मे सबने पुराना इतिहास **किश** नामक नगर या नगर-

राज्य का है। इसके बाद एरेच, उर, अक्शक और लगश आदि नगरो का नम्बर आता है।

मैसोपोटामिया मे उस समय दो सभ्यताएँ थी। एक सुमेरियन लोगो की, जो यहाँ दक्षिण की ओर से आकर बसे थे और अपने नगर राज्य बनाकर रह रहे थे और दूसरी सम्यता थी सेमेटिक लोगो की। वह अपने नगर-राज्य ही बनाकर रह रहे थे। इन दोनो जातियो के नगरो मे कभी आपस मे लडाई-झगडे हो जाते थे और कभी मित्रता हो जाती थी। इन झगडो मे कभी एक नगर दूसरे नगर पर अपना अधिकार जमा लेता था और कभी स्वतन्त्र हो जाता था।

'किश' के **मेसेलिम** नामक तीसरे राजवश (३६२८-३४८८ ई० पू०) के समय की ऐतिहासिक सामग्री मे इस वश का चौथा राजा अपने को ससार का स्वामी लिखता है। 'किश' कई बार भाग्य के चक्करो पर घूमा। कई बार परतन्त्र हुआ और अन्त मे वह स्वतन्त्र होकर बलशाली हो गया और लगातार ६०० वर्ष तक ससार मे अपना उच्च स्थान बनाए रहा।

'किश' के इस **मेसेलिम-राज्यवंश** की सस्थापक शराब का रोजगार करने वाली **'अजगबाऊ'** नामक एक स्त्री थी। राज्य स्थापन के बाद महारानी की हैसियत से उसकी अच्छी ख्याति इतिहास मे हुई है। अपनी शासन-योग्यता के कारण ही वह अपने पुत्र और पौत्र की राजनियन्त्रिणी भी रही। उसके शासनकाल मे ही **'किश'** ने कानून, कला और साहित्य की भी अच्छी उन्नति की।

इसी सभ्यता के **लगश** नाम से एक और नगर-राज्य ने अपने राजा **'उर-निना'** (३१०० ई० पू०) के शासन-काल मे अच्छी उन्नति की थी। इस राजा ने अपना आतक इतना फैला रखा था कि **लगश** के ही नही, आसपास के नगर-राज्यो के लोग भी उसकी पूजा करने लगे थे और उसकी यह पूजा मरने के बाद तक भी जारी रही। उसकी मूर्तियो की बिक्री का व्यापार भी **लगश** से होने लगा था। इस वश के राज-काल मे धर्माधिकारियो की एक नई श्रेणी पैदा हो गई। इसी वश मे एक प्रसिद्ध राजा **उरूकागिन** नामक हुआ। वह अपने को **लगश** और **सुमेर** का राजा कहता था। इसने अपने शासन काल मे कई नहरें, इमारतें और मन्दिर बनवाए। इसने अपनी प्रजा को सब तरह की स्वतन्त्रता दी थी। इसके प्रबन्ध-काल मे कोई भी व्यक्ति चाहे वह धर्माधिकारी हो या बडे-से-बडा अमीर व्यक्ति हो अपने से छोटे गरीब आदमी पर अत्याचार नही कर सकता था।

इस **लगश-राज्य** पर **उम्म नगर** राज्य के शासक **लुगलजग्गिसी** ने आक्रमण किया और इसे अपने अधिकार मे कर लिया। लुगलजग्गिसी ने यहाँ २५ वर्ष तक राज्य किया। बाद मे सारगोन नामक व्यक्ति ने इसे गद्दी से उतारकर अपना अधिकार जमा लिया।

लुगलजग्गिसी को लगश की गद्दी से उतारने वाला यह व्यक्ति सारगोन (२७७२-२७१७ ई० पू०) सेमेटिक जाति का व्यक्ति था, इसकी माता ने अवैध सन्तान होने के

कारण, इसे घासफूस पर रखकर नदी मे वहा दिया था। नदी मे से इस व्यक्ति को एक माली ने निकाला और इसी मालीपुत्र ने ५० नगरो को विजय कर अपना राज्य स्थापित किया और 'अक्कद' नाम की अपनी राजधानी वनाई।

सारगोन ने अपना राज्य भूमध्यसागर तक फैलाया और यही ससार का सवसे पहला साम्राज्य था। अपने को 'ससार का सम्राट्' कहने वाले इस राजा सारगोन ने जो वास्तव मे ससार का पहला सम्राट् था भी, अपने राज्य को अनेक प्रान्तो मे विभक्त कर, उन पर शासन करने के लिए अपने परिवार के व्यक्तियो को नियत कर दिया। इसकी मृ यु से पहले ही साम्राज्य मे जगह-जगह विद्रोह फैल गया और सारगोन ने इसके दमन का प्रयत्न किया। परन्तु दमन करने से पहले ही इसकी मृत्यु हो गई।

सारगोन के मरने के बाद इसके पुत्र **'नरमसिन'** ने शासन सँभाला और पर्याप्त मात्रा मे विद्रोहियो को दबा दिया, परन्तु फिर भी साम्राज्य विखरना आरम्भ हो ही गया। जिस समय यह विद्रोह को कुछ शान्त कर मन्दिरो का निर्माण करा रहा था, उसी समय इसके प्रान्त **सुमेर** और **अक्कद** पर अर्द्धसभ्य जाति के **'गुतियम'** लोगो ने आक्रमण कर दिया और अक्कद तथा सुमेर को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। इन विजेताओं मे 'गुडिया' नामक एक तेजस्वी राजा हुआ, जिसने अन्याय और अनेक बुराइयो को राज्य से निकाला और इसीलिए इसका नाम इतिहास मे अमर है।

लगश के साम्राज्य के बाद **'उर'** नामक नगर राज्य का पुन उत्थान हुआ जिसने अक्कद और सुमेर-राज्य की ख्याति की रक्षा का पर्याप्त प्रयत्न किया। इस उर राज्य के राजवश की सूची मे सबसे पहले **'ऊर एंगुर'** नामक **सूर्य** के भक्त राजा का नाम आता है। इस राजा के **माँ-बाप** कौन थे, इस बात का कोई पता नही चलता। इसीलिए इसकी माता पृथ्वी और पिता चन्द्रमा की कल्पना कर ली गई। इस राजा **उर-एगुर** ने और इसके पुत्र **डुंगी** ने पश्चिमी एशिया को जीतकर, अपने साम्राज्य मे मिलाया और साम्राज्य को चार भागो मे विभक्त किया अर्थात्—**सुमेर, अक्कद, एलाम, सुबुर्त और अमरू**। इन्ही पिता-पुत्रो ने ईसा से २४५६ ई० पू० सारे सुमेरिया के लिए कानून बनाये। इन्ही को आदर्श मानकर, आगे चलकर वेवीलोनिया के सम्राट् **हमुरब्बी** ने अपना विधान वनाया था।

धार्मिक विश्वास—सुमेरियन-धर्म के उत्थान और सस्थापन मे इन दोनो पिता-पुत्रो ने बडा परिश्रम किया। इनके समय देवालय और उनकी सम्पत्ति बहुत बढ गई और चारो ओर से मन्दिरो के लिये पूजा के रूप मे धन तथा वस्तुएँ आने लगी। इन भेंटो और पूजा के रूप मे आने वाली वस्तुओ का इतना अधिक प्रचलन बढा कि उनको सँभालने के लिए अलग गोदाम और मुशियो की आवश्यकता पड गई।

उर राज्य के लोग वैसे तो अनेक देवताओ के उपासक थे, परन्तु (शम्स) सूर्य के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी और आगे चलकर उन्होंने राजा **ऊर-एंगुर** और उनके पुत्र डुंगी को भी देवताओ की श्रेणी मे शामिल कर लिया। जहाँ और देवताओ के मन्दिर वनकर उनकी पूजा होती थी, वहाँ इन दोनो पिता-पुत्र के भी मन्दिर वन गये

और इनकी भी पूजा होने लगी ।

ऊर-एगुर के वंश का अन्तिम राजा **ईग्रोसिन** हुआ, जिसने पच्चीस वर्ष तक राज्य किया और इसी के समय मे उर राज्य छिन्न-भिन्न हो गया ।

कला-कौशल और व्यवसाय—सुमेरियन लोगो का मुख्य पेशा कृषि कार्य था । आरम्भ मे यह लोग नदियो से पानी काटकर जमीन को उपजाऊ बना लेते और बैलो से हल चला कर खेती करते । ये लोग गाय, भेड, बकरी पालते थे और कुछ लोग सूअर पालने के भी शौकीन थे । अपने औजार हाथी दाँत, हड्डियो और पत्थरो से बनाते थे और कही-कही टीन, ताँबा, काँसा और लोहा भी प्रयोग मे लाया जाता था ।

इन्हे सिक्के बनाने का तो ज्ञान था, परन्तु सोने-चाँदी और पत्थरो के गहनो का ही इनमे प्रचलन था । सोने-चाँदी का लेन-देन वह तोल से करते थे और इसी तोल जोल को आधार बनाकर वह भारत तथा मिस्र तक से व्यापार किया करते थे । अपने व्यापार की लिखा-पढी का ढग भी इन्हे मालूम था । गिनती इनकी केवल '६०' पर समाप्त होती थी । उसे ही आधार बनाकर, इनकी सभ्यता के काल का निर्णय किया गया है ।

नाप-तोल के अतिरिक्त ऋतुओ, वर्षा, महीनो का भी इन्हे ज्ञान था । धनिको और दरिद्रो के बीच एक तीसरी मध्यवर्ग के लोगो की श्रेणी थी, जिसमे चिकित्सक, पुरोहित और नौकरी पेशा लोग थे ।

सुमेरियन लोग ईंटो और खपरैलो का पकाना तथा मिट्टी के बर्तनो को बनाना जानते थे । इन्होंने ईंटो की कई ऊँची मीनारे भी बनाई थी । लेकिन अपने रहने के लिए जन-साधारण नारियल के छप्पर आदि से घर बनाते और अपने घरो के टट्टर की दीवारो की मजबूती के लिए मिट्टी मे भूसा मिलाकर थोप देते थे । मकानो के दरवाजे लकडी के और चूल्हे पत्थर के बनाये जाते थे । ऐसे मकान कई एक खुदाइयो मे से मिले हैं । बाद में जन-साधारण भी कच्ची दीवारो के मकान बनाने लगा । मकान के आगे यह छप्पर डालते थे । खिडकी नही रखते थे । ईसा से २८०० वर्ष पूर्व नगर राज्य, राज्यो मे बदल गए । इनके नगर राज्य मजबूत चाहदीवारी से घिरे होते थे ।

देवी-देवता—इनके प्रधान देवता तीन थे । प्रथम **अनु** (वायुदेवता), द्वितीय **एनलिल** (पृथ्वी देवता) और तृतीय **एनका** (जल देवता) । इनकी तुलना क्रमश वैदिक देवताओ—**मरुत, अदिति** और **वरुण** से की जा सकती है, जिनका ऋग्वेद मे बहुतायत से वर्णन आया है । इनमे भी प्रत्येक नगर के मुख्य-मुख्य देवता होते थे जैसे उर-नगर राज्य के शासक ऊर एगुर **शम्स** (सूर्य-देवता) के भक्त थे । वैसे ही निप्पर मे वायु देवता का सम्मान सबसे अधिक था । इस मन्दिर को सुमेरियन लोगो ने ईसा से साढे पाँच हजार वर्ष पूर्व पक्की ईंटो से बनवाया था । यह मन्दिर चारो ओर चहार-दीवारी से घिरा था । इसके सामने पिरामिड सदृश एक विजय-स्तम्भ था । मन्दिर के चारो ओर छोटी-छोटी इमारतें और आँगन बने थे । यहाँ भक्त लोग देवता को पानी के घडे और बकरे चढाते थे । कर्मकाण्ड विधि से देवता की पूजा होती थी । उरुक

नगर मे पृथ्वी की देवी **इन्नीन** की पूजा होती थी जो कालान्तर मे **सामी** जाति की देवी ईष्टर मानी जाने लगी। **कीश और लगश** की उपास्य देवी **निनखसग** थी और तम्बुज आयुधो के देवता माने जाते थे।

मृत्यु-संस्कार— मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना वह लोग करते थे। भूत-प्रेतो मे उनका विश्वास था। मकानो के बाहर भी उनके चित्र बनाते थे। पाप-पुण्य का उन्हे ज्ञान था। मुर्दों को मकान के अन्दर जमीन मे गाढते थे। इसके बाद बाहर जलाकर राख घडे मे रखकर गाढने का प्रचलन भी रहा। मुर्दे के साथ उसके शस्त्र, उसके उपयोग की अन्य वस्तुएँ तथा खाद्य-पदार्थ तो रखते ही थे, साथ ही उसके नौकर चाकरो को भी गाड देते थे। साम्राज्ञियो के साथ उनके आभूषण शृंगार-परक वस्तुएँ, वाद्य-यन्त्र, दासियाँ तथा बांदियो को भी गाढा जाता था। यह सभी वस्तुएँ मार्ग मे मृतक की सुविधा के लिए मिस्री विचारधारा के अनुसार किया जाता था। आगे असीरिया और बेबीलोनिया मे भी यही प्रथा रही। भारत मे भी कुछ जातियो मे इसी तरह मृतक के साथ वस्तुएँ रखने का प्रचलन था। आर्यों मे मृतक को पिंडदान की प्रथा थी। उर नगर के उत्खनन से प्राप्त ३५०० ई० पू० की कब्रो से ज्ञात होता है कि राजा और रानियो के लिए अलग अलग कब्रो मे कोठरियाँ बनी होती थी। कुछ कब्रों में बिना पहिये की स्लेज जैसी गाडियाँ भी मिली हैं। सम्राट् और साम्राज्ञी के कब्र में जाने से पहले बन्दियो और नौकरो को नशीली औषधि सुँघाकर बेहोश कर दिया जाता था। बाद में सम्राट् या साम्राज्ञी के पास दफना दिया जाता था। गुलामो को कत्ल करके दफनाया जाता था।

मंदिर को यह लोग **जिगुरात** के नाम से पुकारते थे और उन्हे ऊँचे चबूतरो पर बनाया जाता था जिनके चारो ओर सीढियाँ होती थी। इस तरह ऊँचाई पर मन्दिर बनाने का कारण यह था कि **एनलिल** (पृथ्वी देवता) पहले **ईलम-नगर-राज्य** के देवता थे और उनके ऊँची पहाडियो पर रहने के कारण इन्हे पर्वतीय देवता मानकर ऊँचाई पर मन्दिर बनाने लगे।

मन्दिरो के पुजारी 'पटेसी' कहलाते थे और यही लोग यहाँ की हर विद्या के गुरु भी थे, चिकित्सक भी थे और यही मंत्र आदि लिखते थे। सारी जनता मे इनका स्थान विशेष था। इनके ऊपर केवल इनका प्रधान होता था और यही प्रधान राजा था। राजा जहाँ राजा था, वहाँ प्रमुख पुरोहित भी था। पटेसी लोग ही शव-दाह कराते थे। दक्षिणा के रूप मे कपडे, भेड, दस घडे शराब, १२० पाली धान और कुर्सी आदि लेते थे।

मन्दिरो के कामकाज, देवताओ और उनके प्रतिनिधिओ के भोग-विलास के लिए मन्दिरो मे स्त्रियाँ भी रखी जाती थी। उस युग मे वस्तुत देवताओ के लिए कन्यादान करना बडे गौरव की बात मानी जाती थी। ऐसी कन्याओ की शादी भी होती थी, परन्तु दहेज उसी मन्दिर को दे दिया जाता था, जहाँ कन्या रही होती थी। धर्म और साहित्य के क्षेत्र मे भी सुमेरिया वालो का अच्छा ज्ञान था। बेबीलोनिया

और असीरिया वालो पर इनकी बातो का पूरा-पूरा प्रभाव था। उनका धार्मिक प्रभाव प्राचीन काल मे ही नही, परन्तु उसके बाद भी काफी रहा और उसका प्रभाव एशिया के अतिरिक्त यूरोप पर भी पड़ा।

नारी की सामाजिक-स्थिति—विवाह-प्रथा मे यहाँ दहेज का प्रचलन था। परन्तु दहेज के माल पर पत्नी का अधिकार रहता था। पति से पत्नी अलग व्यवसाय करती थी। पत्नी के व्यभिचारी सिद्ध होने पर, पति दूसरी शादी भी कर सकता था, लेकिन प्रथम पत्नी को पति तलाक नही दे सकता था।

सभ्यता का विकास—इस बात मे कोई अत्युक्ति नही रह जाती कि सुमेरियन लोगो ने ही पहले पश्चिमी एशिया मे साम्राज्य की रचना की। नदियो मे खेती के लिए पानी लेने की विधि भी निकाली। सोने-चाँदी से चीजो की कीमते निश्चित करने का आविष्कार किया। लिखा-पढी करके व्यापार की विधि चलाई। गद्य-पद्य लिखना आरम्भ किया। जेवर और भिन्न-भिन्न प्रकार के उबटन बनाए। गुम्बद, मेहराबे और खम्भे बनाकर स्थापत्य-कला की उन्नति की और उन्होने ही एक सत्तावाद गुलामी, सैनिक अत्याचार और पुरोहितो की सत्ता को मजबूत किया। उनके शिल्पावशेषो से ज्ञात होता है कि यह लोग सेमेटिक जाति के नही थे। अपने केशो को मुँडवाने वाले यह लोग सेमेटिक जाति के लोगो से बिल्कुल भिन्न थे। सेमेटिक जाति के लोग जो सुदूर दक्षिण से आए थे, अपने केश रखते थे। उनकी काली लम्बी दाढी और बलिष्ट देह थी।

कला-कौशल—मैसोपोटामिया का उत्तरी भाग **अक्कद** और दक्षिणी भाग **उर** कहलाता था। इसी उर से प्रसिद्ध **अब्राहम** ने अपनी विजय यात्रा आरम्भ की थी। यही उर सुमेरियन लोगो का प्रधान गढ था। उस काल के इनके राजाओ के बनवाये हुए राजभवन और मन्दिर आदि का तो कोई पता नही चलता, परन्तु सर **लिओनार्ड वूली** के हाथ इनकी बहुत सी जो कब्रे लगी हैं, उनमे एक विशेषता यह भी है कि ये कब्रे सोने चाँदी, हाथीदाँत तथा सीपो आदि से बनी हुई तरह-तरह की चीजो से भरी पडी हैं। इन कब्रो को देखने से ज्ञात होता है कि इस काल के कलाकारो की कारीगरी बहुत उच्चकोटि की है और उनमे उस कठोरता का अंश बहुत कम है, जो आगे चलकर मैसोपोटामिया की कला मे दिखाई देता है।

२००० ई० पू० के पश्चात मैसोपोटामिया के इतिहास से सुमेरियन लोग बिल्कुल लुप्त हो गए। लेकिन यह एक आश्चर्यजनक बात है कि **कील-अक्षरो** की लिपि के रूप मे, उन्होने जिस भाषा का निर्माण किया था, वह उनके बाद भी जीवित रही। सेमेटिक विजेता लोग, जो इन्हे अन्तर्जातीय विवाह आदि के द्वारा अपने मे मिलाते गए, इनके दो हजार वर्ष बाद भी इनकी लिपि से ही काम लेते रहे। बाद मे यह लिपि स्वत ही नष्ट हो गई। ब्राह्मी-लिपि के साथ-साथ, भारत मे भी कील-लिपि का प्रचलन था। जैसलमेर के जैन मन्दिर मे तन्त्र-विद्या की एक पुस्तक कीला-

क्षरो मे ही लिखी हुई मौजूद है, जो आज तक पढी नही जा सकी। इसके लेखक एक जैनाचार्य ही हैं।

'उर' राज्य का लोप हो गया और उसके अवशेपो पर वाद मे **अक्कद** की सेमेटिक सभ्यता का उदय हुआ, किन्तु **अक्कद** की कला भी उतनी ही सुमेरियन कही जा सकती है, जितनी 'उर' की थी, क्योकि इन विजेताओ ने कला की दृष्टि से अपने को सुमेरियनो से हीन समझकर, उन्हे अपने सास्कृतिक हितो की रक्षा के लिए पूरी तरह स्वतन्त्रता दे रखी थी।

इनके समय मैसोपोटामिया की ख्याति दूर दूर तक फैल चुकी थी और इसीलिए बाहरी लोगो के झुण्ड पृथ्वी के इस स्वर्ग की ओर खिचे चले आ रहे थे।

ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पू० वेवीलोन के साधारण कसवे ने, सम्राट् हम्मूरव्बी के शासनकाल मे एक विराट नगर का रूप धारण कर लिया था। इसी पराक्रमी सम्राट् ने अपनी प्रजा के लिए आदर्श विधान वनाया था, जो हजार साल आगे चलकर, **हजरत-मूसा** ने अपनी प्रजा के लिए १० आज्ञाएँ वनाते समय ज्यो-कात्यो मान लिया।

इसकी मृत्यु के कुछ समय वाद ही मैसोपोटामिया पर, **हिक्सोज गडेरिया** जाति के लोगो ने चढाई की, जिन्होने एक समय मिस्र पर भी अपना अधिकार कर रखा था और जो मिस्र के इतिहास मे गडेरिया शासको के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिन्हे कई शताब्दियो के बाद, मिस्र वाले अपने देश से निकालने मे सफल हो गये थे। जब यह लोग ईसा से १४०० वर्ष पूर्व लौटकर पुन मैसोपोटामिया मे आए, तव इन्हे खत्ती जाति ने यहाँ नही घुसने दिया। इस खत्ती जाति के ऊपर एशिया माइनर से आई एक 'स्वतन्त्र जन' नामक जाति ने आक्रमण किया और इस खत्ती जाति को परास्त कर दिया। 'स्वतन्त्र-जन' या 'फ्रीजियन' जाति को असीरियन लोगो ने परास्त कर दिया।

असीरियन-काल से ही इतिहास का ठीक-ठीक मिलना आरम्भ होता है, क्योकि यही असीरियन लोग यहूदी पैगम्वरो के समकालीन थे। इनकी राजधानी **निनवे** थी, जहाँ इन्होने विशाल भवन वनवाये थे।

निनवे के भग्नावशेषो की जव खुदाई हुई, तव उसकी दीवारें सतह उभाडकर वनाये गए चित्रों से भरी हुई मिली, जिनमे उस पाशविक दण्ड-प्रणाली की झाँकी है, जिसका प्रयोग असीरिया वाले विरोधियो के लिए करते थे या समाज के विरुद्ध चलने वालो के लिए दण्ड देने के लिए अपनाते थे।

वेवीलोन का उत्तर काल—इसके वाद भाग्य मे वेवीलोनिया का लुप्त गौरव पुन अपनी जन्म-भूमि मे प्रकट हुआ और असीरियन लोगो का शक्तिशाली साम्राज्य उलट गया। उत्तरकाल के ये वेवीलोनियान अपने पूर्वजो और असीरिया वालो की अपेक्षा कही अधिक सभ्य वन गए थे। उन्होने अपनी राजधानी को ज्ञान-विज्ञान के केन्द्र मे परिवर्तित कर दिया। उन्होने ही गणित तथा खगोल-विद्या की नीव डाली। इससे

यूनानी इतने प्रभावित हैं कि वह वेबीलोन का उल्लेख 'सब विद्याओं की जन्मभूमि,' के नाम से करते हैं और वह अपना गुरु वेबीलोनिया वालों को ही मानते हैं।

कला-कौशल—कला के क्षेत्र में भी इन वेबीलोनिया वालों ने काफी उन्नति की थी और पशुओं के चिकनी ईंटों पर शिल्पचित्र आदि बनाए थे जो आज भी पुरातन कला के चित्रात्मक उदाहरणों में गिने जाते हैं।

एक शक्तिशाली शासन के अभाव के कारण वेबीलोन साम्राज्य नष्ट हुआ। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व जब सिकन्दर अपनी भारत की चढाई से वापस जा रहा था, तब उसे इस महा नगरी - वेबीलोन के विलुप्त गौरव ने इतना प्रभावित किया कि उसने इसका पुन उद्धार कर इसे अपने साम्राज्य की राजधानी बनाने का निश्चय कर लिया। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व उसने वेबीलोन के प्राचीन राजभवन का उद्धार कराना आरम्भ ही किया था कि एक दिन उसी राजभवन के भोजकक्ष में उसकी मृत्यु हो गई।

मैसोपोटामिया की स्थापत्य-कला की मुख्य विशेषता उसकी मेहराबदार छतें थी, इन्हीं छतों के कारण एशिया माईनर में मेहराबदार छतों का प्रचार हो गया और एक लीडियन नामक जाति जो कालान्तर में एत्रूस्कन नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुई, इस मेहराबदार छत बनाने की कला को रोम ले गई।

ईसा से ४०० वर्ष पूर्व रोमन लोगों ने इस जाति को जीता था और इनकी मेहराबदार छतों से वह तभी परिचित हुए थे। इन्हीं के कारीगरों को पकडवा कर रोम ले जाया गया। रोम से ही इन छतों का प्रभाव सारे यूरोप में फैला।

ईरान का साम्राज्य, स्थापत्य आदि कलाओं के लिये मैसोपोटामिया की कला से सम्बन्धित था। यह साम्राज्य साइरस, कैम्बीसेस, डेरियस, (दारा) तथा जैरेक्सेस (अक्ष्यर्ष) नामक सम्राटों की छत्रछाया में सभ्यता के ऊँचे शिखर तक पहुँच गया था। यह सभी सम्राट् महान भवन निर्माताओं के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

सूसा और पारसीपोलिस (अर्थ है ईरानी नगरी) में यूनानी स्थापत्यकारों द्वारा निर्मित ईरानी राजमहल अधिकतर वेबीलोन के राजमहलों की नकल मात्र थे। सूसा और पारसिपोलिस के ऐश्वर्य की अब केवल कहानी भर रह गई है। केवल यत्र-तत्र पाया जाने वाला कोई स्तभ, मेहराबदार छत वाला कक्ष का खण्ड, कभी-कभी उनके विलुप्त गौरव की याद दिला देता है। वह भी विशाल बालूका राशि में कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं, न वह पहले मन्दिर रहे और न राजप्रासाद।

सुमेर सभ्यता का जन-जीवन

अपने जीवन-यापन के लिए सुमेर लोग मिट्टी के बर्तन बनाते थे और उनको चित्रकारी द्वारा सजाते थे। शरीर को ढकने के लिए प्रारम्भ में भेड और बकरियों की रोयेंदार खालों का व्यवहार यह लोग तहमद की भाँति करते थे। उसके पश्चात् यहाँ ऊनी कपडे बुनने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ, किन्तु उसे यह भारत की 'मोहन-जो-दडो' सभ्यता की भाँति बिना सिला ही, चादर की तरह पहनते थे। उनके इस पहनावे

मे शरीर का ऊपर का भाग नगा रहता था। इस समय महिलाएँ कधे से इस प्रकार कपडा ओढती थी, जिससे शरीर का कोई भाग नग्न नही रहता था। कपडे के प्रचलन-काल मे पुरुषो ने भी अपना समूचा तन ढकना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु नौकर, स्त्रियाँ हो या पुरुष हो, तब भी अधनगे ही रहते थे।

इसी भाँति वहाँ घरो का निर्माण भी प्रारम्भ मे खजूर के पत्तो से ही होकर मकान के रूप मे पहुँचा था। जिसकी दीवारो पर यह उभरे हुए चित्र बनाते थे और पानी कुओ से लेते थे। निप्पर के मकानो का गन्दा पानी निकालने की नालियाँ बिल्कुल 'मोइन-जो-दडो' और 'हडप्पा' के नगरो की भाँति हैं। शनै शनै दीवारो और बर्तनो की चित्रकारी के बाद, इन्होंने अपने पलगो आदि पर भी चित्रकारी करना प्रारम्भ कर दिया। इसके बाद, चित्रकारी मे धातुओ और हाथी दाँत का सहयोग भी सम्मिलित किया। अपनी कुर्सियो के पजे और पलगो के पायो को यह खराद कर, शेर के मुख जैसा बनाते थे। इसी तरह की कुर्सियो के पाये मिस्र मे भी बनते थे। भारत मे शेर के पजे के अतिरिक्त मगर के शरीर के सदृश्य भी बनाए जाते थे।

कृषि के लिए पशु-पालने वाले यह लोग, पहियेदार गाडियो का व्यवहार करते थे, जिन्हे गधे खीचते थे। बर्तन बनाने वाले चाक के साथ ही इन्होने गाडी के पहिए का भी आविष्कार कर लिया था। यहाँ प्राप्त वस्तुओ मे हड्डी के बने तकुवे और रुई मुख्य हैं। इनकी **कील-लिपि** मे ४०० अक्षर थे और अपने वर्ष की गणना यह **चन्द्रमा** से करते थे।

मैसोपोटामिया मे उत्खनन कार्य—तुर्की सरकार द्वारा मिस्र और तिब्बत की भाँति विदेशी व्यक्तियो का प्रवास निषिद्ध कर दिए जाने के कारण, यहाँ का प्राचीन इतिहास भी मिस्र की भाँति अधकार मे ही पडा रहा। १८४० ई० मे जब मिस्र की खुदाई हुई और जगह-जगह से वहाँ प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई, तब फ्रास के पुरातत्त्व-वेत्ताओ का ध्यान मैसीपोटामिया के मैदानो की ओर आकर्षित हुआ, जहाँ सुमेर सभ्यता पनपी थी और अब उसके टीलो पर अरबो की बकरियाँ चरती थी।

यहाँ सबसे पहले १८४३ ई० मे मौसल-स्थित फ्रासीसी राजदूत **बोत्ता** ने खोरसाबाद नामक गाँव की खुदाई कराई। वस्तुत बोत्ता ने खोरसाबाद को ही ऐतिहासिक नगर **निनवे** समझा था।

इस खुदाई से प्राचीन काल की इतनी वस्तुएँ मिली कि फ्रासीसी सरकार ने, खुदाई के लिए उन्हे और धन दिया। यहाँ से प्राप्त वस्तुओ के चित्रो को उतारने के लिए, फ्रासीसी सरकार की ओर से फ्लैड्रिन नामक कलाविद को भेजा गया। यही पर बोत्ता और फ्लैड्रिन ने मिलकर प्राचीन मैसोपोटामिया पर एक पुस्तक भी लिखी। इसी कारण यूरोप के अन्य लोगो का ध्यान भी इसकी ओर आकृष्ट हुआ।

वहाँ की उभरी हुई मूर्तियो पर, मिस्र की चित्र-लिपि से मिलते-जुलते कीलाकार अक्षर अकित थे, जो प्रचलित सातो वर्णमालाओ से भिन्न थे। लैटिन-भाषा मे की को 'क्यू' कहने के कारण, यह लिपि भी **क्यूनिफार्म** नाम से प्रसिद्ध हुई।

मैसोपोटामिया वालो की लिखने की पद्धति भी मिस्रियो से भिन्न थी। मिस्री लोग अपनी लिपि को चीनियो की भाँति कूचियो के द्वारा रगो से लिखते थे, परन्तु मैसोपोटामिया वाले अपने अक्षरो को मिट्टी की ईंटो पर किसी नोकदार वस्तु से खुरच कर लिखते थे, जबकि रोमन लोग उन दिनो मोम की तख्तियो पर स्टाईल से लिखते थे।

अनेक वर्षो तक यह कील या क्यूनीफार्म लिपि असीरिया आदि की खोज करने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओ के लिए एक समस्या बनी रही। १८२६ मे जर्मन इतिहासकार नाईपुर ने जब मैसोपोटामिया के भव्य स्मारको को देखा था, तब उसने लिखा था—'ज्ञान के अक्षय भण्डार का मार्ग तैयार करना हमारा काम है और एक दिन हमारी सन्ताने असीरिया की भाषा का भी अर्थ ढूंढ निकालेगी और क्यूनीफार्म-लिपि के अनुसधान का मार्ग भी निकल आएगा।'

भाषाओ की कुंजी—कुछ ही वर्षो बाद, उसकी भविष्यवाणी पूरी हुई और गूटिगेद विश्वविद्यालय के यूनानी शिक्षक **ग्रोतेफेन्द** ने उनमे से कुछ चिह्नो के सकेतो का अर्थ लगा लिया। इसके बाद प्राय सभी विलुप्त भाषाओ की कुजियाँ विद्वानो ने तैयार करली।

जिस तरह राजेस्टा पत्थर पर अकित **सिकन्दर** और **क्लियोपाट्रा** के नामो का पता लग जाने से, मिस्र की **चित्र लिपि** का रहस्योद्घाटन हो गया था, उसी प्रकार जेरेक्स और उसके पिता डेरियस (दारा) के नामो ने असीरियन भाषा के रहस्य की कुंजी का काम किया और कई साल बाद रालिन्सन नामक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक युवक सैनिक अफसर ने, जो उन दिनो ईरान मे तैनात था, बेहिस्तून के महत्त्वपूर्ण अभिलेख की प्रतिलिपि तैयार करदी।

लिपि तैयार करने के समय, उसने यह कल्पना की कि लेख मे बार-बार आने वाली कुछ शब्दो की नामावली प्राचीन ईरान के बादशाहो के शासनान्तर्गत प्रान्तो के नामो की सूचक है। इसी कल्पना के सहारे उसने कई शब्दो के अर्थ ढूंढ निकाले। इस खोज और पुरातन ईरानी भाषा के ज्ञान की सहायता से अन्ततोगत्वा प्राचीन ईरान के अभिलेखो का पता चल गया। **बहिस्तून** का यह महत्त्वपूर्ण अभिलेख ईरानी और बेबीलोनियन दोनो भाषाओ मे लिखे होने के कारण, इस लेख के अनुसधान मे बेबीलोनियन भाषा के ज्ञान का मार्ग भी खुल गया।

कला की कलात्मक तुलना

पुरातन मिस्र एव और प्राचीन मैसोपोटामिया की कला मे एक प्रकार की सूक्ष्म समता दिखाई देती है और यह समता इतनी अधिक मात्रा मे है कि यकायक यह निश्चय नही हो पाता कि सुमेरिया, बेबीलोनिया और असीरिया वालो की कला का उदय मिस्र वालो की कला से पहले हुआ या बाद मे हुआ। अन्त मे इस निश्चय पर जाँच पडताल के बाद देखा जाता है कि इन दोनो देशो—मिस्र और मैसोपोटामिया का इतिहास ईसा से लगभग साढे चार हज़ार वर्ष पूर्व आरम्भ हो गया था।

इतिहास की दृष्टि से मिस्र और मैसोपोटामिया की कला मे सबसे बडा अन्तर यह है कि जहाँ एक ओर मिस्र मे चार हजार वर्षों तक केवल एक ही नस्ल के लोग रहते रहे और बहुत कुछ अशो मे एक ही जाति के लोग शासन करते चले आये, वहाँ मैसोपोटामिया का शासन एक के बाद दूसरी जाति के हाथो मे इतना अधिक बदलता रहा और निरन्तर बर्बरता और क्रूरता का शिकार बनता रहा कि समाज मे भी कठोरता आती गयी। उनकी क्रूरताओ के अवशेष खुदाइयो मे बहुतायत से मिले हैं।

आरम्भिक काल के सुमेरिया के पच्चीकारी के काम, बेबीलोनिया की मूर्तियाँ, कैल्डिया के देवालय, बेबीलोनिया की उत्तरकालीन नक्काशीदार तख्तियाँ तथा खत्ती-युग के नक्काशी के काम और उर के ध्वसावशेषो आदि का वर्गीकरण और काल निर्धारण होना अभी बाकी है।

मिस्र और मैसोपोटामिया की कला मे एक अन्तर यह भी है कि मिस्री कला मे कडे-से-कडे हरित पाषाण से लगाकर, सेलखडी तक के पत्थर का प्रयोग होता रहा। इससे चाहे उन्होने भवन-निर्माण किया हो या मूर्तियाँ घडी हो। परन्तु मैसोपोटामिया वाले, पत्थर के स्थान पर केवलमात्र ईटो के प्रयोग पर ही अवलम्बित थे। इसीलिए उनके राजप्रासाद, देवालयो आदि के स्मारक उतने सुरक्षित नही मिलते, जितने मिस्र के मिलते हैं इसके अतिरिक्त मैसोपोटामिया वालो की धारणाओ मे, वीरता के भाव का अत्यन्त अभाव झलकता है। इसका कारण यही है कि मिस्र वालो की अपेक्षा उनका बौद्धिक विकास निम्न कोटि का था गो कि शारीरिक वीरता और क्रूरताओ मे वह काफी बढे-चढे हुए थे। यही कारण है कि मैसोपोटामिया के कलाकारो मे, मानव आकृतियो के चित्रो मे क्रूरता के भाव साफ नज़र आते हैं। मैसोपोटामिया के चित्रो मे, मिस्री रानियो के रमणीय सुलभ सौन्दर्य, सम्राटो की शात मुद्राओ तथा निश्चल कलापूर्ण आकृति, साधारण नागरिको की करुणापूर्ण आकृति और शक्तिशाली देवताओ के रहस्यमय चित्रण के दर्शन नही होते।

मैसोपोटामिया की कलाओ के सभी रूपो मे, दर्शक के मन मे कठोर शक्ति, पाशविक-क्रूरता, हृदयहीन आवेग, अमानुषिक रक्त पिपासा, हत्या आदि का भाव पैदा होता है। अर्थात् मिस्र की कला मे जितना मानवता का दर्शन होता है, मैसोपोटामिया की कला मे उसका सर्वथा अभाव दिखाई देता है। सुखी घरेलू जीवन, स्त्रियो और बच्चो आदि के दृश्य जोकि मिस्री कला की एक विशेषता है, मैसोपोटामिया की कला मे उसके दर्शन नही होते। राजदरबार की शिष्टाचारिता का कठोरता से ध्यान रखकर चलने के कारण ही यहाँ चित्रकारी शैली मे भी एक प्रकार की जडता आ गई थी, उसमे वह मन की हिलोरे देने वाली लहरे नही हैं जो मिस्र की फूल-पत्तियो की चित्रकारियो मे पाई जाती हैं। उस काल की मैसोपोटामिया की कला वस्तुत जन-साधारण की कला न होकर, दरबारी कला मात्र थी। यहाँ की कला की सृष्टि केवल राजवश के वैभव का प्रदर्शन करने के लिए ही होती थी। उदाहरण के लिए हाथीदात की राज्य-परिवार की वस्तुओ की चित्रकारी या हाथीदात और सोने से

मढी लेपिस लैजुली से बनी कटार की मूठो के लिए किसी राजकुमार की इच्छा को सतुष्ट करना मात्र थी।

यहाँ मूल निवासी वस्तुत सुमेरियन लोग थे और वह सभवत एशिया के किसी भाग से आये थे। अनुमानत मैसोपोटामिया के मैदानो मे लोग ईसा से ५ हजार वर्ष पूर्व ही आये थे, क्योकि उनके काल की ३ हजार वर्ष पूर्व की निशानियाँ जो मिली है, उनसे ज्ञात होता है कि यह लोग ईसा मे २५०० वर्ष पूर्व से आकर २००० ई० पू० तक यहाँ राज्य करते रहे।

बेबीलोनिया-सभ्यता और विकास

सभ्यता के संस्थापक—जिस समय दजला फरात की घाटियो मे सुमेरियन-सभ्यता अपना अन्तिम दम तोड रही थी, उसी समय उस पर सेमेटिक जाति के लोगो ने आक्रमण किया। सेमेटिक जाति के यह लोग अनातोलिया की ओर से आकर, फिलिस्तीन और मैसोपोटामिया मे बस गए थे।

सुमेरियन लोगो की वेश-भूषा और संस्कृति, सेमेटिक जाति के लोगो से बिल्कुल भिन्न थी। सुमेरियन लोग अपनी दाढिया मुडवाकर, नगे पैर ही चलते थे, लेकिन सेमेटिक लोग दाढियाँ रखते और चप्पलें पहनते थे। सर को वह साफा बाँधकर ढके रखते थे और हाथ मे बेंत लेकर चलते थे। स्त्री-पुरुषो की पोशाक एक लम्बा लबादा मात्र होती थी, परन्तु सभी व्यक्ति एक आस्तीन खुली रखते थे। धीरे धीरे पोशाकें बदलने लगी और उन्होने भडकीला रूप ले लिया। यहाँ रग-बिरगे कपडे पहनने का प्रचलन बढा। स्त्रियाँ हार, बाजूबन्द और ताबीजे भी पहनती थी। बौद्ध जातको के अनुसार, बेबीलोन से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। "बावेरू जातक" मे जो इसी देश—बेबीलोनिया (बावेरू) के नाम पर लिखा गया है, भारत से कपडे मसाले, जगली जीव—कौवे तक आदि भेजने का वर्णन है। भारतीय कौवो को वहाँ बहुत कीमती समझा जाता था और वह काफी महगा बिकता था। इस राज्य को ही **चाल्डिया** राज्य भी कहा जाता था।

यहाँ ताबे के हथियारो से लडने वाले लोग, ईसा से लगभग ३ हजार वर्ष पूर्व **अक्कद** नामक नगर को अपनी राजधानी बनाकर रहते थे और यही से इन्होंने अपने नगर की किलाबन्दी करने के बाद, सुमेरियन लोगो पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिए थे।

उस समय तक यह जाति अधिकतर इधर-उधर बिखरी हुई-सी थी और राजधानी **अक्कद** को छोडकर, शेष जाति वाले काफलो की सूरत मे, इधर-उधर घूमते थे। जब अक्कद की ओर से सुमेरियनो पर धावे शुरू हुए, तो यह इकट्ठे होने लगे और एक दिन अपने नेता सारगन के नेतृत्व मे इन्होने बेबीलोन राज्य पर अधिकार कर लिया। कुछ ही दिन बाद सेमेटिक और सुमेरियन लोग परस्पर घुल-मिल गये और बेबीलोन की सभ्यता—सुमेरियन तथा सेमेटिक लोगो के सम्मिश्रण से एक बनकर आगे बढ चली।

'बाइबिल' मे वर्णित चैल्डिया के उर नामक स्थान पर चन्द्रमा का ससार-भर मे सबसे प्राचीन मन्दिर मिला है। उसमे २६३० ई० पू० का शिलालेख है और यहाँ के द्वितीय राजवश पूर्व की सुमेरु-काल की एक दीवार निकली है। चन्द्रमा के अतिरिक्त पृथ्वी-माता के रूप का प्रतीक 'सर्प-चिह्न' था। एरिडु (अक्कद) मे सर्प-देवता 'इ-आ' की पूजा सर्वश्रेष्ठ मन्दिर मे होती थी। एरिडु (अक्कद) मे ही चैल्डिया सभ्यता का प्रसार हुआ। उस समय तूरानी प्रोटो-मीडीज भी सर्प के उपासक थे। ईरानी मज्दयसून के उपासको ने सर्प को अग्रमैन्युश दैत्य कहा है। बाद मे सर्प आय स्वीकृत हुआ। भारतीय वाडमय मे चैल्डिया को भारतीय 'चोलो' द्वार बसाया हुआ माना जाता है।

कीथ का कथन है कि चाल्डिया का 'सूरिआस' शब्द, जो सूर्य के[1] अर्थ मे आया है, भारतीय है।' इनके अतिरिक्त ई० मेअर ने भी यह मान लिया है कि यह 'सूरिआस' शब्द वैदिक सूर्अ (स) ही है। इसलिए भी कि विसर्ग का उच्चारण सकार ही होता है।

बेबीलोनिया वालो के मूल पुरुषो के विषय मे, "हिस्टोरीकल हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड" पृष्ठ २७ पर लिखा है—"बेबीलोन वालो के 'वायु देवता' का नाम मतु या मर्तु है। यह हमे वैदिक शब्द मरुत ही प्रतीत होता है। यह पणियो और चोलो के द्वारा ही बेबीलोन मे लाया गया था। इन्होने ही बेबीलोन को आबाद किया था।"

भारतीय ग्रन्थ "राजनिघन्टु" मे लिखा है—"वैशस्तु व्यवहर्ता पिट वार्तिक: पणिको वणिक्।" अर्थात् व्यवहर्ता, पिट, वार्तिक, पणिक और वणिक वैश्य के ही भेद हैं।" अर्थात वे आर्य थे। श्री लोकमान्य तिलक जी ने भी यही लिखा है —"वैदिक मना और फिनिशिया का मनह एक ही है। यह तोल का बाट भारत से ही वहाँ गया। ऋग्वेद ८।७८।२ के अनुसार भी यह वजन तोलने के काम मे आते थे। इसी को लैटिन मे मिन, ग्रीक मे मिना और अग्रेजी मे पाउण्ड कहते है। इसी प्रकार फिनिशिया भाषा मे ऊँट को जिमल कहते हैं। वही अग्रेजी मे केमल कहलाता है। यह सस्कृत के क्रमेलक शब्द के ही अपभ्रश हैं। क्रमेलक का 'कमेलक' और कमेलक का 'केमल' तथा जिमल हो गया।

चाल्डिया भाषा मे सस्कृत के पर्याप्त शब्द आ गये हैं। उदाहरणार्थ—

सस्कृत शब्द	चाल्डियन शब्द	अर्थ
सिनिवालि	सिनवुब्बुलि	अमावस्या
अप्सु	अब्जु (जु-अब)	पानी
यहव	यहवे	महान्
ऋतु	हतु	मौसम
परसु	पिलक्कु-वलगु	शस्त्र
मनावेग	मनावेग	महाभाग

निम्न शब्द अक्कद और सुमेर भाषा से लिये गये हैं—

1. The early history of India—V A Keeth

अलिगिविलगी	विलगी (असीरियन भाषा का)	सर्पदेव
तैमात	तिमाअत	देवता
रु	रु (अवबादका)	,,
उरुगला	उरुगल (अवकद का)	,,

इसके अतिरिक्त चाल्डिया मे मनु के तूफान की कथा भी वही है, जो भारत की प्रलय की कहानी है।

ह्यूगो विंकलर ने 'वोगज़-कोई' नामक स्थान मे, पक्की ईंटो की दस हजार तख्तियाँ खोज निकाली। १९३३ मे कई हिडायट लेखो का पाठ समझने मे सफलता मिली। इसके बाद तल्ल-अल्ल-अमरना गाँव से कुछ पत्र भी मिले, जिन पर मित्तानी राजाओ के सस्कृत भाषा मे नाम है—आर्ततप्र, तुपरत्त, सुततर्न (वैदिक सूत्राग) बेवीलोनिया पर राज्य करने वाले लगभग १७४६-११८० ई० पू० मे कस्सी (kassites) राजाओ के नाम भी सस्कृत मे है। जैसे शुरूग्रस्, (सूर्य), मर्यतस (वैदिक मरुतस) इत्यादि। असुरवनिपाल के पुस्तकालय मे असीरिया मे पूजे जाने वाले देवताओ की सूची भी मिली है, जिसमे "अस्सर मजत्' नाम है, जो वैदिक असुर है।

सामाजिक-व्यवस्था—वेवीलोन राज्य का समाज कई श्रेणियो मे विभक्त था। ऊँची श्रेणी के लोग यहाँ पर पुरोहित होते थे और इन्ही का काम धर्म तथा विद्या का प्रसार करना था। दूसरी श्रेणी मे योद्धा लोग थे और तीसरी श्रेणी व्यापारियो की थी। चौथी श्रेणी मे जनसाधारण थे तथा पाँचवी श्रेणी दास लोगो की थी, जो लडाई आदि मे वन्दी बनाकर लाये जाते थे। कानून के अनुसार भी समाज का विभाजन तीन श्रेणियो मे था। इनमे प्रथम श्रेणी के लोग 'अमेलू' कहलाते थे जो राज्य परिवार के अथवा धनिक लोग होते थे। इन **अमेलुओं** को हानि पहुँचने वाले को कडा दण्ड दिया जाता था और यदि स्वय **अमेलू** ही कोई अपराध करते थे तो उन्हे भी भारी दण्ड मिलता था जो कभी-कभी प्राणदण्ड तक के रूप मे भी होता था।

दूसरी श्रेणी मे 'मुश्किन' कहलाने वाले लोग थे। इन मुश्किन लोगो मे कारीगर, व्यापारी, मज़दूर और भिखारी सभी तरह के लोग शामिल थे। यह मुश्किन लोग गुलाम तो रख सकते थे, लेकिन हथियार वाँधने का अधिकार इन्हे नही था। अपराध करने पर इनके सार्वजनिक रूप से कोडे मारे जा सकते थे। इनको शारीरिक क्षति तक पहुँचाने वाला व्यक्ति केवल ज़ुर्माना देकर छूट सकता था। स्त्री गुलामो से बच्चो को पैदा कर, मालिक उन्हे खुले बाजार वेच सकता था। कर्जा चुकाने के लिए भी गुलामो का उपभोग किया जाता था। गुलामो की कोई निजी सम्पत्ति नही होती थी। यहाँ तक कि आवश्यकता पडने पर या क्रोध आने पर मालिक अपने गुलाम को प्राण-दण्ड तक दे सकता था। परन्तु वृद्धावस्था मे मालिक का यह कर्तव्य था कि वह अपने दास का

उस समय भी भरण-पोषण करे । इसके साथ ही गुलाम को किसी स्वतन्त्र स्त्री से शादी करने की छूट थी । उस समय उसके बच्चे भी स्वतन्त्र माने जाते थे, किन्तु ऐसा अपवादस्वरूप ही होता था । राज्य की ओर से गुलामी प्रथा का अन्त करने के लिए कभी प्रयत्न नही किया गया, अपितु इस प्रथा को चालू रखने की ही हर सभव कोशिश की गई । इसका कारण सभवत यह भी था कि उस समय गुलाम प्रथा प्राय सभी देशो मे मौजूद थी और सभी देशो के लोग इनका व्यापार करते थे ।

तीसरी श्रेणी 'अरदू' लोगो की थी, जो गुलाम थे । यह लोग लडाइयो मे पकडे गए कैदी, अपहरण किये हुए अन्य जातियो के लोग, गुलामो के वशज अथवा खरीदे हुए दास होते थे ।

इन 'अरदू' लोगो की जनसख्या वेबीलोन मे इतनी बढी कि एक दिन यह गणना मे स्वतन्त्र लोगो से भी दुगने हो गए । यह लोग अपने मालिक के पूरी तरह से गुलाम थे और कभी भी उसके पास से वह कही नही भाग सकते थे । यदि कोई गुलाम भागता या उसे कोई भागने मे सहायता देता था तो दोनो की हत्या करदी जाती थी । यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का कोई गुलाम चुराता था तो उसे भी कठोर दण्ड दिया जाता था ।

गुलामो का तन-मन-धन— सब इनके मालिको के अर्पण रहता था । मालिक लोग इन्हे सेना मे भेजकर नौकरी भी कराते थे, अन्य स्थानो पर भेजकर मजदूरी आदि कराते और इनकी आमदनी को स्वय हडप कर, इन्हे केवल पशुओ की तरह रोटियाँ देते थे । मालिक को कानूनी अधिकार था कि वह अपने कर्ज के बदले मे गुलाम को बेच सकता था या जब तक चाहे रहन भी रख सकता था । यदि उसकी इच्छा होती या उसे कुछ लाभ दिखाई देता तो गुलाम को मार डालने की भी उसे छूट थी ।

पहले गुलाम के शरीर पर गोदना गोदकर, गुलामी के चिह्न बना दिये जाते थे । बाद मे उन्हे मिट्टी की बनी गुलामी की एक निशानी अपने साथ रखनी पडती थी ।

यदि गुलाम स्त्री होती, तब उसे मालिक के भोजन और विषय-वासना की तृप्ति मे लगे रहना पडता था । ऐसी दशा मे सन्तान भी उत्पन्न होती थी, जिसे गुलाम नही माना जाता था ।

इतने पर भी कुछ गुलामो को रियायते भी थी । किन्ही परिस्थितियो मे गुलाम लोग स्वतन्त्र स्त्री से विवाह कर सकते थे और उन दोनो मे उत्पन्न सन्तान भी स्वतन्त्र मानी जाती थी । पति के मरने पर गुलाम स्त्री स्वतन्त्र कर दी जाती थी । कोई गुलाम यदि मालिक को किसी अपने कार्य से प्रसन्न कर देता था तो उसे मालिक स्वतन्त्र भी कर देता था । परन्तु तब भी गुलाम व्यक्ति का समस्त जीवन घृणा और तिरस्कार के साथ ही व्यतीत होता था, क्योकि इसके शरीर पर जो गुलामी के चिह्न स्वरूप गोदने गोदवाये जाते थे, गुलामी की वह मुहर मरने के बाद ही समाप्त होती थी ।

सन्तान पर कठोर नियन्त्रण—वेबीलोन वालो का पारिवारिक जीवन बड़े व्यवस्थित रूप से चलता था । इन लोगो का अपनी सन्तान पर कठोरता का नियन्त्रण

रहता था। अपनी सन्तान को बेचने, रहन रखने या उनके उत्तराधिकार को समाप्त कर उन्हे घर से निकालने की पूरी छूट थी। लडकियो की शादियाँ माता-पिता अपनी इच्छा से जहाँ चाहे कर सकते थे। यदि सतान माता-पिता की आज्ञा का उल्लघन करती थी तो उसकी सजा केवल घर से निकाल देने पर ही समाप्त नही हो जाती थी, अपितु उसके शरीर पर गुलामी का चिह्न अकित कर दिया जाता था।

माता-पिता के मरने पर पिता की जायदाद मे लडके और लडकियो का हक समान होता था। वेवीलोन मे जहाँ शादियो पर इतना कठोर नियत्रण था, वहाँ उन्हे कुछ छूट भी थी और वह यह थी कि यदि युवक-युवतियाँ चाहते तो गन्धर्व विवाह कर सकते थे और अपना विच्छेद भी कर सकते थे, लेकिन उनको ऐसी दशा मे अपने साथ एक विशेष चिह्न रखना पडता था।

विवाह-सस्कार— लडकी का पिता अपनी लडकी की शादी लडके के पिता से काफी रकम वसूल करके ही करता था और यदि लडके का पिता या लडका बाद मे शादी करने से इन्कार कर देता था तो लडकी का पिता दी हुई रकम को हजम कर लेता था। लडकी की इन्कारी पर पिता को दुगनी रकम देनी पडती थी।

विवाह-सस्कार के लिए कोई विशेष विधियाँ, मन्त्रादि का उच्चारण नही होता था। अपितु गाँव के कुछ आदमी ही गवाह बनाकर, लडके के हाथ लडकी सौप दी जाती थी।

तलाक-व्यवस्था—वैसे तो यह विवाह जीवन-पर्यन्त के लिए होता था, परन्तु यदि पत्नी मूर्ख, बाझ या घरेलू कार्यों मे लापरवाही बरतती थी तो उसे तलाक दे दिया जाता था। ऐसे ही यदि स्त्री के भी साथ कठोरता का व्यवहार होता या पति दुराचारी होता तो स्त्री को यह अधिकार था कि वह तलाक देकर और अपने पिता से मिला दहेज का माल लेकर पुन पिता के घर पर चली जाय। दोनो मे से जब किसी भी ओर से तलाक का प्रश्न उठता था तो पच वास्तविकता की जाँच करते और जो भी दोषी होता, उसे दण्ड देते थे, इसके बाद उन्हे तलाक की छूट थी।

व्यभिचार के लिए यहाँ राज्यीय दण्ड भी बडा कठोर था। व्यभिचारी स्त्री और व्यभिचारी पुरुष को या तो पानी मे डुबोकर मारने का दण्ड दिया जाता था या उन लोगो को किसी देवस्थान या महल की ऊँची मीनार पर खडा करके धकेल दिया जाता था। पत्नी पर यह नियम लागू था कि वह पति के लडाई पर या व्यापार के लिए अनिश्चित काल तक घर से बाहर रहने पर, दूसरे पुरुष से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित नही कर सकती, जब तक कि पति का दिया हुआ खर्चा समाप्त नही हो जाता था। हाँ, यदि वह अपनी स्त्री के लिए कोई व्यवस्था नही कर गया है, तो उसे अधिकार था कि वह चाहे तो पति के लौटने तक किसी पुरुष से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर ले या सदा के लिए ही किसी दूसरे की पत्नी बन जाय। भारत मे मनु ने अपनी स्मृति मे नारी अधिकार के लिए यही नियम बनाए थे।

वेवीलोन के सामाजिक जीवन मे, स्त्रियो को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। यह

ठीक है कि पुरुषो पर केवल एक विवाह का ही नियम लागू नही था, वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त कितनी ही रखैले भी रख सकते थे और गुलाम स्त्रियाँ भी रख सकते थे, परन्तु उस समय ऐसी घटनाएँ अपवाद रूप मे ही होती थी।

पर्दा-प्रथा—पर्दा-प्रथा का रोग केवल वडे घरो मे ही था, जहाँ स्त्रियाँ सदा अन्त पुर मे ही वन्द रहती थी और यदि कभी वाहर निकलती भी थी तो मुँह ढके और हीजडो के पहरे मे वाहर निकती थी अन्यथा साधारण परिवार की नारियाँ, खेतीवाडी, लेन-देन, व्यापार, दस्तकारी, दुकानदारी आदि सभी कार्य करती थी। उनको सामाजिक और प्रशासनिक कार्यो मे भाग लेने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

पतन का का रण—परन्तु धीरे-धीरे वावुलवाले फैशन की ओर तेजी से वढने लगे। वीरता का भाव उनमे से जाता रहा। उन्होंने अपना शृगार और आचरण भी स्त्रियो की भाँति करना प्रारम्भ कर दिया। नवयुवको द्वारा गालो को रगना, गले मे हार पहनना साधारण वाते हो गई। इसी कारण उनका अन्त भी हुआ। ५३१ ई० पू० फारस के सम्राट् साईरस प्रथम ने वेवीलोनिया पर धावा वोला और उसे समाप्त कर दिया। उस समय वावुल के स्त्री-पुरुषो के चरित्रो पर प्रकाश डालते हुए यूनानी इतिहासकार **हैरोडेट्स** ने लिखा है कि उस समय प्राय सभी परिवारो की स्त्रियाँ वेश्या सदृश हो गई थी। पैसे के लिए कुलीन लोग तक अपनी कन्याओ से वेश्यावृत्ति कराते थे। हैरोडेट्स के अतिरिक्त रोमन लेखक **कर्टियस** ने भी यही लिखा है कि "इस देश का यौन आचरण अपनी गिरावट की पराकाष्ठा को पहुँच चुका है। प्रत्येक स्थान पर विलासिता के सस्ते और सुलभ साधन मौजूद है।"

शासन-व्यवस्था—वेवीलोनिया मे राजतन्त्र प्रणाली का व्यवस्थित शासन था। वहाँ राजा मनुष्य ही माना जाता था, परन्तु मरने पर उसकी गणना भी देवताओ मे होती थी। राज्य के नियम के अनुसार राज्य का वास्तविक स्वामी वेवीलोन का देवता था और राजा उसका प्रतिनिधि मात्र ही था। इसीलिए राजा पर प्रजा की ओर से कोई भी अकुश या वन्धन नही था। परन्तु प्रजा राजा मे देवताओ जैसे आदर्श देखने को लालायित अवश्य रहती थी। इसीलिए यदि थोडा-वहुत दवाव राजा पर किसी का रहता था तो वह पुरोहितो का रहता था। राजा को अपने किसी भी पुत्र को अपना उत्तराधिकारी वनाने की छूट थी, जिसका परिणाम यह होता था कि राजकुमारो मे सदा लडाई झगडे और षड्यत्र चला करते थे। अत अपना भावी उत्तराधिकारी सम्राट् ही नियुक्त कर देता था।

राज्य कई सूवो मे विभक्त रहता था और उन सूवो मे वढे-वडे जमीदार तथा सामत लोग होते थे। सूवेदार लोग परम्परागत ही वनते रहते थे और राजा की तरह उन्हे भी किसी को जमीन देने या छीन लेने का अधिकार प्राप्त था। इनकी सहायता के लिए म्युनिसिपल कमेटियाँ होती थी।

न्याय-व्यवस्था—वेवीलोन की 'न्याय-व्यवस्था' को सुदृढ, करने के लिए यहाँ के शासको ने एशिया के अन्य राज्यो की नीति का पालन नही किया। इन्होंने न्याय-

कार्य को पुरोहितो के हाथो मे छीन लिया और नये न्यायाधिकारी नियुक्त किये। इन न्यायाधिकारियो को रबिअनु कहा जाता था। यह परिवर्तन हम्मूरबी ने किया था।

न्याय के अतिरिक्त रबिअनु राज्य की शांति और व्यवस्था का भी उत्तरदायी था। न्याय मे रबिअनु की महायता के लिए ज्यूरियो की एक कमेटी रहती थी। यह ज्यूरी लोग शिबूतो कहलाते थे।

रबिअनु के फैसले की अपील नगर के महा-न्यायाधीश पार्टनक्कू की अदालत मे की जा सकती थी। न्याय की सहायता के लिए भी दस आदमियो की कमेटी नियुक्त होती थी। अंतिम अपील राज-दरबार मे होती थी। अदालतो मे गवाही आदि से पहले अब की तरह से ही उस समय भी देवताओ की शपथ ली जाती थी और जिस रबिअनु के कार्यक्षेत्र मे चोरी या डाकेजनी होती थी और अपराधी नही पकडे जाते थे तो उस क्षेत्र के लोगो और स्वय रबिअनु को वादी की क्षतिपूर्ति करनी पडती थी। बेबीलोन राज्य के समस्त कानूनो को वहाँ के प्रतापी सम्राट हम्मुरबी ने लिपिबद्ध करा दिया था। इन कानूनो मे अपराधियो को कोडे मारने, कैद, जुर्माने, देश-निकाले, अंग-भग और प्राण-दण्ड आदि सभी तरह की सजाएँ सम्मिलित थीं।

विश्वासघात करना, अधिक सूद लेना, चोरी करना, अपने से बडो पर हाथ उठाना जैसे अपराधो मे कोडे लगाये जाते थे। हाथ-पैर काटना, आँखे फोडना आदि गभीर अपराधो की सजा थी। चीर फाड करने से यदि कोई रोगी मर जाता तो जर्राह को मृत्युदण्ड दिया जाता और यदि कोई व्यक्ति मकान से गिर कर मरता या मकान गिरने से उसके नीचे दब जाता तो उसकी सजा मकान बनाने वाले को मृत्युदण्ड देकर दी जाती थी। व्यभिचारी या डाइन समझी जाने वाली स्त्री को फरात नदी मे धकेल दिया जाता था। यदि वह तैर कर बच जाती तो निर्दोष मान लिया जाता था।

राहजनी, डकैती, बलात्कार, जहर देना, दूसरे के गुलाम को अपने घर छिपाना, और युद्ध मे कायरता दिखाने वाले व्यक्ति भी प्राणदण्ड के ही भागी होते थे। यही दण्ड शराब बेचने के नियमो का पालन न करने, झूठे आरोप लगाने आदि पर भी दिया जाता था। इनके अतिरिक्त जायदाद आदि के लिए भी पृथक-पृथक कानून थे।

बेबीलोन के प्रारम्भिक दण्ड विधान मे अफगानिस्तान की भाँति 'खून के बदले खून' का रिवाज था। उस समय 'अंधेर नगरी' की भाँति मकान के गिरने पर, बनाने वाले कारीगर को ही मौत की सजा दे दी जाती थी। यदि कोई आदमी किसी की सन्तान की हत्या कर देता था, तब दण्डस्वरूप उसकी सन्तान की भी हत्या करने का नियम था। परन्तु सिक्के के प्रचलन के पश्चात अधिकाँश दण्ड जुर्माने के रूप मे होने लगा। आमतौर से मारपीट के मामलो मे ६० शेकल, दूसरे के गुलाम को चोट पहुचाने पर १० शेकल का दण्ड दिया जाता था, किन्तु गम्भीर अपराधो मे मृत्यु-दण्ड और अग-भग का ही दण्ड प्रचलित था। उदाहरणार्थ डकैतो को तत्काल मृत्यु-दण्ड दे दिया जाता था। यदि डाकू नही पकडे जाते तो अधिकारियो को जुर्माना देना पडता था।

नागरिक-जीवन—यह ठीक है कि वेवीलोन के वहुत प्राचीन काल के अवशेष लुप्त हो चुके है, फिर भी ईसा पूर्व सातवी शताब्दी के वेवीलोन के वर्णन और उस काल के उन खण्डहरो से जो आज भी ईराक के मैदान मे खडे है, वहाँ के व्यवस्थित नागरिक जीवन का वहुत-कुछ पता चलता है। इन लोगो की सभ्यता नागरिक थी और इन नगरो को ही एक सूत्र मे वाँधकर एक दिन वेवीलोन राज्य का उदय हुआ था।

वेवीलोन राज्य के नगरो के चारो ओर हरे-भरे खेत और वाग-वगीचे थे, जिनकी सिंचाई के लिए नहरे थी। लगभग सभी प्रकार का अन्न उन खेतो मे उगाया जाता था। वहाँ लगभग ६० तरह की तरकारियाँ और फलो मे खजूर, अगूर और सेव वहुतायत से पैदा होते थे। इन्ही फलो से चीनी और शराव भी वनाई जाती थी। ताड और खजूर के रेशो को कूट-कूट कर रस्मे वनाये जाते थे और उनकी पत्तियो से छप्पर वनाये जाते थे। वहाँ के लोग वैल, भेड, गधे, ऊँट, वकरे और गाय आदि पालते थे। खेतो से आगे वडे-वडे वन थे। यहाँ पर घोडो का प्रचलन **काशी** (काशायी) नामक जाति के आने से आरम्भ हुआ।

गाँवो के मकान झाऊ की लकडियो या गारे की दीवारे वनाकर वनाये जाते थे और उनके ऊपर छप्पर रख दिये जाते थे। देहाती लोग मिट्टी के सादे वरतनो का प्रयोग करते थे। **प्रो० पुलि** को यहाँ ईसा पूर्व १४०० वर्ष की मुहर मिली। इस मुहर पर हल का एक चित्र ऐसा वना हुआ है, जिसके साथ वीज वोने की नली भी लगी हुई है, जैसी कि उत्तर-प्रदेश के किसान लोग, जो "छिटका" ढग की पद्धति अर्थात् हाथ से वीज वखेरने की न अपनाकर, व्यवहार करते है। यहाँ पर नली वाँस को चीरकर वनाई जाती है।

वेवीलोन मे खेती के लिए जलाशय भी वनाये जाते थे। ऐसा ही एक जलाशय १४० वर्ग मील क्षेत्र का वना हुआ मिला है, जिसने उस समय एक झील का रूप लिया हुआ था। इस जलाशय से भी कई नहरे निकाली गयी थी।

२१०० ई० पू० से पहले वावुल निवासियो के कृषि और वाणिज्य के कार्य मे घोडो का पता नही चलता। सर्वत्र गधे और वैल ही नजर आते है, किन्तु काशी जाति के वाद, वहाँ घोडो का भी वाहुल्य हो चुका था। वहाँ की पहियेदार गाडियो को घोडो और वैलों से ही खीचा जाता था।

नेवुचरेडज्जर के समय मे वेवीलोन ससार का एक प्रमुख व्यापारिक नगर वन गया था। भूमध्यसागरीय देशो का व्यापार भी अधिकतर यही से होता था। एक ओर भारत का व्यापार कावुल के मार्ग से तथा भडोच वन्दरगाह से होता था, दूसरी ओर एशिया माइनर का व्यापारिक मार्ग **टायर, सारडीस** तथा कारकेमीस शहरो से होता हुआ वावुल नगर पहुँचता था। इस समय मार्गों मे रक्षा की कोई व्यवस्था नही थी। अत पाल से चलने वाले जहाजो और ऊँटो पर माल लाने वाले काफलो को अपनी सुरक्षा स्वय ही करनी पडती थी।

बेबीलोन नगर का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध ग्रीक इतिहासकार हेरोटेट्स लिखता है कि बेबीलोन नगर एक विस्तृत चौकोर मैदान मे बसा हुआ था। जिसका प्रत्येक भुज १२० फर्लांग का था। नगर के चारो ओर चौडी और जल मे भरी गहरी खाई थी और पचास हाथ चौडी तथा दो सौ हाथ ऊची दीवार की चहारदीवारी थी। इस विशाल चहारदीवारी मे पीतल के किवाडो से युक्त सौ दरवाजे थे। शहर के मध्य भाग मे फरात नदी बहती थी। दोनो किनारो पर खजूर के वृक्ष थे। पहले यहाँ एक मजिले मकानो के बनने का प्रचलन आरम्भ हुआ, परन्तु बाद मे यह चार मंजिल तक के बनाये जाने लगे। मकानो पर योद्धाओ और पशु- पक्षियो के चित्र उत्कीर्ण होते थे।

"राज-भवन, कचहरियाँ, आलीशान मन्दिर और किले शहर के बीच मे थे और इन इमारतो के प्राय सभी दरवाजे ठोस पीतल के बने हुए थे। यहाँ की सडके शहर के अन्दर भी थी और चारो ओर भी थी। बादशाह के महल की हरेक ईंट पर खुदा था—"मैं नेबुचडरैज्जर बेबीलोन का बादशाह हूँ।"

"नदी को पार करने के लिए जगह-जगह पुल भी थे और नदी के नीचे सुरग भी थी। शहर मे ताबा, कासा जस्ता, लोहा, सोने-चाँदी आदि की ढलाई का काम भी होता था और ऊनी कपडे बुनने की खड्डियाँ भी थी। लोग अधिकतर ऊनी कपडे ही पहनते थे। अपने लम्बे बालो को घुँघराले बनाते थे। लोग गालो को रगते, कान, हाथ और गले मे आभूषण पहनते तथा शरीर पर सुगन्धित उबटन लगाये जाते थे। पोशाक मे यह कढा हुआ रगीन कपडा व्यवहार मे लाते थे।

"घोडो, गधो, ऊँटो और नावो द्वारा इनके कशीदाकारी के कपडो का व्यापार यूनान, रोम और पूर्व मे भारत तथा मिस्र तक फैला हुआ था।

"उस काल मे बेबीलोन मे यद्यपि किसी प्रकार के सिक्के का प्रचलन नही था तथा यहाँ का व्यापार कई प्रकार के सोने-चाँदी के टुकडो और छल्लो आदि से होता था। सोने का सबसे छोटा टुकडा शकल कहलाता था और साठ शकलो का एक मीना होता था तथा साठ मीनो का एक टेलेंट होता था। बैंको का यहाँ प्रचलन न था। लेन-देन और ऋण आदि का कार्य साहूकार लोग ही करते थे जो कभी-कभी तो पच्चीस प्रतिशत तक व्याज लेते थे।"

बेबीलोन के देवी-देवता—यहाँ पर ईसा पू० दसवी सदी के अन्त तक लगभग पैंसठ हजार देवी-देवताओ की पूजा होती थी। इन देवताओ को बेबीलोन वालो ने सुमेरिया वालो से सेमेटिक नाम रखकर ले लिया था।

सुमेरियनो के 'बब्बर' 'नन्नर' 'ईनानी' और 'एनलील' के यथाक्रम शम्स (सूर्य), सिन (चन्द्रमा), ईस्टर और बाल (पृथ्वी) नाम रखे गए। इन लोगो के विचार मे ईस्टर देवी सौन्दर्य और प्रेम की परम पुनीत देवी थी। साथ ही वह युद्ध की देवी भी मानी जाती थी। वह स्वच्छन्द विहरण और विचरण करने वाली कामिनी, कुमारी, दुष्टो का दलन करने वाली जगद्धात्री थी।

वेबीलोन साम्राज्य के उदय के साथ ही इनके प्राचीन देवता 'मर्दक' का मान भी बढ गया और वह देवताओ का अधिपति तो माना ही जाने लगा, साथ ही साम्राज्य का मुख्य देवता भी बन गया।

वैसे बेवीलोन वालो ने ससार-भर के देवताओ की कल्पना अपने यहाँ कर ली थी, परन्तु वह मिस्र और भारत की तरह एक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त न कर सके। उनमे त्रिमूर्ति का सिद्धात अनेक रूपो मे चलता रहा।

बेवीलोन मे मन्दिरो की भी भरमार थी। प्रत्येक मन्दिर पर एक देवता का अधिकार था लेकिन पुजारी लोग वहाँ अन्य देवताओ को भी स्थान दे देते थे।

इनके देवताओ की झाँकी भारत के दक्षिण के मन्दिरो से मिलती-जुलती पाई जाती है। देवताओ को सन्तुष्ट करने के लिए यह लोग जहाँ एक ओर पशु-वलि देते थे वहाँ दूसरी ओर उनकी वासनाओ के शमन तथा मनोरजन के लिए देव-दासियाँ तथा गवैये तथा अनेक प्रकार के बाजा वजाने वाले भी रखे जाते थे।

देवदासियो के अतिरिक्त देवपत्नियाँ भी मन्दिरो मे रहती थी, जो वस्तुत पुजारियो की पत्नियाँ-जैसी ही थी। देव पत्नी बनाने के लिए वडे-वडे राजा और धनी लोग तक अपनी लडकियो को मन्दिरो के अर्पण करते थे।

मन्दिरो मे व्यभिचार का वाजार गर्म रहता था। इन्ही सब बखेडो की ओट मे वेश्याएँ और कुल्टा स्त्रियाँ अपना कुत्सित व्यापार चलाया करती थी और मन्दिरो मे अपना स्थान विशेष रखने के लिए लोग वडे-वडे दान मन्दिरो को दिया करते थे।

उनके दान के धन से मन्दिरो के अधिकारी लोग व्यापार और लेन-देन तक करते थे और अपनी घरेलू सम्पत्ति को बढाते चले जाते थे। मन्दिरो की फिजूलखर्ची का पता इसी वात से चलता है कि वहाँ के मन्दिरो मे पडे कुत्तो तक को भी दूध मलाई खिलाई जाती थी।

मन्दिर के अधिकारी लोग प्रजा पर ही नही, राजा पर भी अपना रौब जमाये रहते थे। राजा यदि अपने राज्य मे किसी से डरता था तो केवल इन्ही महन्तो से डरता था।

मन्दिरो मे रहने वाली स्त्रियो मे देव-पत्नी का सम्मान सबसे अधिक होता था और वह 'एतू' कहलाती थी। यह एन्तू प्रभावशाली, पवित्र और सम्पन्न मानी जाती थी। एक देवपत्नी के गर्भ से यहाँ के प्रसिद्ध शासक सारगन का जन्म हुआ था।

क्योकि यहाँ के देवता एक पत्नीवादी न थे, इसलिए उनके एक मुख्य पत्नी और कई पत्नियाँ हुआ करती थी। देव-पत्नी अपनी इच्छानुसार किसी भी पुरुष से शादी तो कर सकती थी, लेकिन उस पुरुष से सन्तान पैदा कराने का निषेध था। अत उसको पहले ही औषधियो आदि से ऐसा बना दिया जाता था जिसमे वह बाँझ हो जाय।

वेवीलोन वाले देवताओ की उपासना परलोक मे सुख प्राप्ति के लिए नही किया करते थे और न ही अपनी उपासनाओ मे उनसे ऐसी कोई विनती या आराधना करते थे। परलोकवाद के वारे मे उनका विश्वास नही था। वह पृथ्वी के आनन्दो को

ही स्वर्ग समझते थे। मृत्यु-उपरान्त के बारे मे उनकी धारणा यह भी कि मृत आत्माओ को पृथ्वी के नीचे गहन अधकार मे हाथ पैर बांधकर पडे रहना पडता है और वहा वे दुखी आत्माएँ अपने अनुजो से श्राद्ध-सामग्री पाने की प्रतीक्षा करती रहती हैं। उस लोक की शासक एक बडी भयानक देवी है जो करोडो युगो तक से अन्धकार लोक से आत्मा को बाहर नही जाने देती थी।"

ग्रीक इतिहासकार हेरोडोट्स ने लिखा है कि "प्रत्येक वेबीलोनियन स्त्री का यह पवित्र कर्तव्य माना जाता था कि वह एक बार माई लिट्टा के मन्दिर मे जाकर किसी अपरिचित व्यक्ति से सम्पर्क करे, क्योकि यह नियम था कि बिना ऐसा किये स्त्री मन्दिर से वापस नही आ सकती।

माई लिट्टा' देवी को प्रसन्न करने की यह प्रथा बेबीलोनिया मे ही नही थी, अपितु उस समय यह प्रथा पश्चिमी एशिया और कुछ यूरोप के देशो मे भी प्रचलित थी।

तान्त्रिक युग—९वी और १२वी सदी के बीच मे तान्त्रिक जाल मे फसकर जो हाल भारत का हुआ था, वही बेबीलोनिया का होना शुरू हुआ और तान्त्रिक जाल मे पडकर, बेबीलोन वासी व्यभिचार के गर्त मे जा गिरे। उनके हरेक काम देवी इच्छा जानने पर ही होते थे। देवी की इच्छाओ को जानने के नये-नये तरीके ओझा लोग प्रयोग मे लाते थे। रोग और पाप का निवारण वह ओझाओ से मत्रो द्वारा कराते और व्यभिचार को बुरा मानना भी उन्होने छोड दिया था।

इसी काल मे बेबीलोनिया मे एक नई सुधारवादी लहर चली और लोगो ने अपने पापो के निवारण के लिए देवताओ की स्तुतियाँ प्रारभ की। इस लहर के निर्माता एक प्रकार के सत लोग थे जो जीवन को पापमय मानकर, दास्यभाव से अपने पापो की क्षमा देवताओ से माँगते थे। परन्तु यह सुधारवादी लहर तान्त्रिक लहर मे मिलकर विलीन हो गई।

नये वर्ष पर राज्य-भर मे ग्यारह दिन का देश-व्यापी उत्सव यहाँ मनाया जाता था। इस उत्सव मे राजा लोग अपने को एक साधारण नागरिक के समान ही पेश करते थे जहाँ उन्हे राज्य के नये अधिकार पुरोहित देता था। इस उत्सव मे पेटभर कर व्यभिचार चलता था।

शिक्षा और साहित्य—बेबीलोनिया मे 'नबू' विद्या का देवता माना जाता था। शिक्षा के लिए राज्य मे अलग स्कूल या कालिज नही थे, अपितु मन्दिरो मे ही शिक्षा दी जाती थी। लेखन-कला के बारे मे इन्हे वर्णों का ज्ञान तो न था, लेकिन ३०० वाक-चित्रो द्वारा वह अपना सारा काम निकाल लेते थे। बाबुल मे एक स्कूल के खण्डहर मे बच्चो की तख्तियो पर धार्मिक शिक्षाएँ लिखी पाई गई है जो चार हज़ार वर्ष पुरानी हैं।

लेखन-कला का उपयोग अधिकतर व्यापार और कानूनो के लिए होता था, साहित्य के लिए नही। उस काल मे लेखन-कार्य मिट्टी की ईंटो पर होता था और उन्हे सुरक्षित रखने के लिए मिट्टी के ही लिफाफे बनाये जाते थे। सेमेटिक और सुमे-

रियन भाषाओ से मिश्रित अपनी इन लिपियो को वह बहुत ही सुरक्षित रूप मे अपनी लाइब्रेरियो मे रखते थे। अपनी इस भाषा को सरल बनाने और जन-साधारण के लिए बेबीलोन वालो ने अनेक व्याकरण और शब्दकोषोकी रचना की थी। उन्होने काव्य मे दो उपाख्यान और नीति के अनेक छन्दो की भी रचना की थी। सबसे पहले इन्ही बेबीलोनियन लोगो ने राजाओ की कृतियो का सविस्तार वर्णन करने की पद्धति निकाल-कर इतिहास, और साहित्य का श्रीगणेश किया था। परन्तु काव्य एव गीत बहुत कम लिखे गये। गीतो मे केवल वही मिले है जो देवताओ की उपासना से सम्बन्धित है अथवा मन्दिरो की गौरव-गाथाएँ हैं। यहाँ के इतिहासकार **बेरासस** ने प्रलय की कहानी लिखी है जो मैसोपोटामिया वालो की नकल है।

गणित और ज्योतिष—वैसे बेबीलोनिया वाले ज्ञान का उद्गम "इलहाम" को मानते थे और भाग्य मे उनका अटल विश्वास था, लेकिन गणित और ज्योतिष विद्या का प्रचार भी यहाँ पर्याप्त था। भूमि का क्षेत्रफल निकालने की विधि उन्हे ज्ञात थी। नक्षत्रो को वह देवता मानते थे और मानव-जीवन पर उनकी चालो का अन्वेषण करते थे। इसीलिए फलित ज्योतिष की ओर उनका झुकाव अधिक था। उनका १२ महीने का वर्ष होता था और १२ राशियो का उन्हे ज्ञान था। हिन्दू वर्ष की तरह प्रत्येक तीसरे वर्ष उनका भी १३ मास का वर्ष होता था। उनके ६ महिने २६ दिन के होते थे और ६ महीने ३१ दिन के होते थे। उनका मास तो चार सप्ताहो का अवश्य होता था, परन्तु दिन १२ घटे का और प्रत्येक घटा ३० मिनट का होता था।

उन्होने पृथ्वी के गोले को ३६० अशो मे विभक्त किया हुआ था और उसी के हिसाब से उनकी जत्रियाँ बनती थी। समय के लिए धूप घडी और जल घडी का प्रयोग यह लोग करते थे।

चिकित्सा-विधि—यहाँ पर चिकित्सा मत्रादि से भी की जाती थी और औष-धियो से भी। औषधियो मे आयुर्वेद के रस और आसवो का प्रयोग होता था। वन-स्पति, माँस और हड्डी के चूर्ण की भी औषधियाँ बनती थी और शल्य-चिकित्सा भी की जाती थी। चिकित्सा-सम्बन्धी भी ८०० मिट्टी के टुकडे यहाँ पाये गये है। इनके यहाँ चिकित्सको पर राज्य का अकुश बहुत कडा रहता था। एक ओर जहाँ उनके रोगी को देखने जाने आदि की फीस नियत थी, वहाँ चिकित्सा मे लापरवाही का दण्ड मृत्युदण्ड था। यह नियम सम्राट् हम्मूरबी के थे।

स्थापत्य-कला—पत्थरो के अभाव के कारण बेबीलोन वालो ने अपनी इमा-रतें पकी हुई ईंटो की बनवाई। इसलिए वह अब तक न ठहर सकी। अपने रहने की इमारतो की अपेक्षा उन्होने अपनी स्थापत्य-कला का परिचय मन्दिरो के निर्माण मे अधिक दिया है, जहाँ उन्होने मन्दिरो की दीवारो को कही धातुओ के टुकडो से ढाँका है तो कही दीवारो को सुन्दर रगो से रगकर, उनमे जगह-जगह रगीन चीनी के टुकडे जडे है।

उस काल की इमारतो मे पहले मेहराब के दर्शन यही की इमारतो मे हुए।

ऊँचे चबूतरों पर बनी इमारतें और उनकी ऊँची मीनारें उनकी इमारतों की विशेषता थी।

चित्रकला—केवल मन्दिरों की सजावट या स्मारकों को सजाने के उपयोग में ही लाई जाती थी। आम रूप से उसकी उन्नति कभी नहीं हुई। उनके घर भित्ति चित्र उनके अच्छे बनते थे। जिनमें काल्पनिक पशु-पक्षी या प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करते थे, क्योंकि उन्होंने स्त्री-पुरुषों के या देवताओं के भावपूर्ण चित्रों को अपने भित्तिचित्रों में स्थान नहीं दिया। इसलिए उनकी कला का भी विकास इतना अधिक नहीं हुआ जैसा कि भारत और मिस्र में हुआ था। अपने भित्ति-चित्रों में विभिन्न पशु-पक्षियों और उनके-से मुख वाले जीवों का यदि वे चित्रण करते थे, तो उनका तात्पर्य किसी गुप्त भावना का प्रदर्शन-मात्र होता था। व्यक्तिगत चित्रों की ओर उनका ध्यान कभी नहीं गया। पश्चात् सोने-चाँदी की मूर्तियों का निर्माण यहां होने लगा। परन्तु इनकी मूर्तिकला अत्यन्त भद्दी, भोंडी और मुटाई लिए होती थी।

धातु की कारीगरी—उन्हें जहाँ मिट्टी और पत्थर पर रंगीन पालिश करने का ज्ञान था, वहाँ सोने-चाँदी के जेवर बनाना भी उन्हें आता था। वह लोहे की चीजें भी बनाते थे और धातुओं को गलाकर मूर्तियाँ भी ढाल लेते थे। वह लोग लकड़ी और लोहे के कई वाद्य-यन्त्र बनाते थे और उनकी बिक्री भी अच्छी थी।

बेबीलोन का दर्शनशास्त्र और उनके आचार्य—बेबीलोन में नित नये शासकों के बदलते और उनके द्वारा नये-नये देवताओं को इधर उधर से लाने तथा प्रत्येक नगर का देवता अलग होने और उन्हीं की पूजापाठ में शिक्षित वर्ग तथा पुजारी वर्ग के लगे रहने का परिणाम यह निकला कि समाज का ध्यान चिंतन की ओर कभी नहीं गया। यही कारण था कि बेबीलोन में स्वस्थ चित्रकला और वास्तुकला का भी निखार नहीं हुआ। चिन्तन-हीनता के कारण बेबलोनी कलाकार अपनी मूर्तियों में कोमल भाव-भंगिमाएँ, विचारों की अभिव्यक्ति और लाक्षणिक अंशों को मूर्तियों में लाने में असफल रहे। वे केवल टीलों नुमा अपने जिग्गुरातों—मन्दिरों को खड़ा करने-में समर्थ हो सके। हाँ, मन्दिरों के सामने की मीनारें और मीनारों की डाट बनाना उनकी कला की विशेषता अवश्य थी, जिसे मुसलमानों ने अपनी मस्जिदों को बनवाने में सहायक बनाया।

अपनी पुस्तक 'अवर ओरयण्ल हरिटेग' में विल डूरण्ट ने लिखा है—"मानव जाति के लिए बेबीलोनिया की सभ्यता उतनी लाभदायक नहीं मानी जा सकती, जितनी मिस्र की। और न ही वह भारत की भाँति उतनी विशाल और वैचित्र्यमय थी।"

फिर भी गिलगामेश के महाकाव्य में कुछ दार्शनिक तत्त्व अवश्य आ गए हैं जैसे अमर जीवन की खोज के लिए गिलगामेश की अरालू यात्रा, अमर कर देने वाले पौधे की उपलब्धि, संसार के सुखों का आनन्द लेने का देवी द्वारा गिलगामेश को दिया जाने वाला उपदेश। यही कुछ दार्शनिक तत्त्व इस काव्य में आए हैं। अन्यथा बेबीलोनिया की ईंटों की लायब्रेरी में कोई किताब ऐसी नहीं मिली, जिसे किसी काव्य या

धर्मग्रथ का रूप दिया जा सके। इसका सबसे वडा कारण यह भी है कि वेवीलोन वाले इहलौकिक सुखो मे ही विश्वास करते थे, उनके परलोक की कल्पना अत्यन्त हीन और कारुणिक थी। उसमे कर्मवाद को कोई स्थान ही नही था, जैसे किसी-न-किसी रूप मे प्रत्येक देश के धर्माचार्यो ने माना। यही कारण उनके यहाँ दुराचार वढने का भी हुआ। फिर भी उनके ज्ञान से दूसरे देशो ने भी कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य उठाया। उदाहरणार्थ यहूदियो ने अपनी पौराणिक गाथाओ का आधार वेवीलोनिया की कथाओ को ही वनाया और यही कथाएँ परिवर्तित और सम्पादित होती हुई बाद मे यूरोप भर मे फैल गई। यूनानियो ने अपने ज्ञान-विज्ञान यथा ज्योतिष-शास्त्र, खगोल शास्त्र और ज्यामित शास्त्र मे भी उनके ज्ञान से सहायता ली। साथ ही यूनानियो की अनेक औषधियो के नाम, नक्षत्र मण्डलो के नाम धातुओ के नाम, गाने वजाने के वाद्ययत्र तथा तोल के वॉट आदि के नाम वेवीलोनियन नामो का ही ग्रीक भाषा मे अनुवाद है।

यूनानियो की भॉति मुस्लिम लोगो ने भी इनके जिग्गुरातो की मीनारो की नकल अपनी मस्जिद की मीनारो के वनाने मे की और सम्राट हम्मूरवी के विधान ने ससार के विधानाचार्यों को अपने-अपने देश के विधान बनाने मे सहायता दी। वेवीलोनिया की सभ्यता के प्रसार का सबसे वडा कारण वहाँ के व्यापार का विकास तो था ही, साथ ही जातियो की लम्वी-लम्वी लडाइयाँ भी थी। इनके द्वारा एक जाति दूसरी जाति की सभ्यता के समपर्क मे आती रहती थी और पश्चात् दोनो जातियाँ मिलकर एक नई दिशा ग्रहण करती थी। अर्थात वह मिली-जुली सभ्यता, वेवीलोन की प्राचीन सभ्यता का सम्पादन करती हुई आगे वढती रहती थी।

वेवीलोनिया के शासक—वेवीलोनिया के शासक समाज का पता ईसा से २८०० वर्ष पूर्व से लगता है। **अक्कद** नामक नगर से अपने नेता सारगन के नेतृत्व मे इन लोगो ने तावे के हथियारो से लैस होकर, सुमेरियन राज्य पर आक्रमण किया था और उसके वहुत से नगरो पर अपना अधिकार कर लिया। इसी सारगन की विजयवाहिनी ने वढते-वढते **ऐलाम** की पहाडियो से लगाकर, भूमध्य सागर के पूर्वी तट तक पर अपना अधिकार जमा लिया था।

इसके वाद इन लोगो ने अपना खानावदोशी जीवन त्याग दिया और घर वनाकर मकानो मे रहने लगे तथा अपना रहन-सहन विजित सुमेरियन लोगो की तरह से उन्होने कर लिया। इन्ही लोगो से इन्होंने पहले-पहल लेखन-कला, नापतोल, व्यापार के विधान और अन्य धार्मिक वाते सीखी।

सारगन का पुत्र **नरम-सिम** नामक तेजस्वी युवक हुआ। इन दोनो ने शिल्प-साहित्य और भास्कर कला की ऐसी उन्नति की कि वेवीलोनिया एक सुन्दर शहर हो गया। लेकिन इस उन्नत कला मे सैन्य सगठन का ह्रास हो गया और इनके हाथ मे मैसोपोटामिया के नगर निकल गये। ईसा से २०० वर्ष पूर्व **सिप्पर** नगर के लोगो ने प्राचीन ऐलाम वालो से मिलकर इस **अक्कद-राजवश** का अन्त कर दिया। लेकिन, विद्रोहियो का यह दवदवा ज्यादा दिन कायम न रहा और **अक्कद** के एक प्रतापी

अत सेन्नाचेरीब के पश्चात ईस्सर हेडेन (६८१ ई० पू०) गद्दी पर बैठा। उसने बेबी-लोन का पुन उद्धार किया। ६६६ ई० पू० मे नेबोपलेसर नामक एक बेबीलोन सर-दार ने पुन विद्रोह किया। इस बार उसने अपनी सफलता के लिए बेबीलोन के उत्तर-पूर्व मे बसने वाली मिडिस जाति के सरदार साईरस से सहायता ली और राज्य पर कब्जा कर लिया। अत सम्राट हम्मुरबी के वश के पश्चात् सन् ६२५ ई० पू० से ५३८ ई० पू० तक बेबीलोन के दूसरे वश का शासन रहा और इसका प्रथम सम्राट था बेबी-लोनका सरदार नेबोपलेसर, जिसने ६२५ ई० पू० से ५३८ ई० पू० तक यहाँ राज्य किया। इसी वश को इतिहासकारो ने चाल्डी-वश और उसके राज्य को चाल्डी-साम्राज्य लिखा है। इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका बडा लडका नेबुचडरेज्जर गद्दी पर बैठा और इसने साम्राज्य को बढाने के अतिरिक्त कई ऐतिहासिक इमारते, मन्दिर, महल तथा सामाजिक नियम बनाये। बेबीलोनिया मे हम्मुरबी के पश्चात् इसी का नाम उच्च शासको मे लिया जाता है।

इसी समय असीरियन लोगो ने मिस्र वालो को बुलाकर उन पर आक्रमण किया परन्तु इस सामूहिक आक्रमण का मुकाबला नेबुचडरेज्जर ने बडी बहादुरी से किया और फरात नदी के मैदान कारकेमीस मे दोनो की सयुक्त सेनाओ को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् इसने फिलस्तीन और सीरिया (आराम राज्य) पर आक्रमण कर उन्हे अपने साम्राज्य मे मिला लिया। अत उस समय बेबीलोन साम्राज्य एक ओर रोम सागर और दूसरी ओर ईरान की खाडी तक पहुँच गया। १५० वर्ष पश्चात् यूनानी इतिहासकार हेरोडोट्स ने बेबीलोन की यात्रा की थी और उसने इसी शासक के द्वारा बनवाये गए राजमहल, राजधानी तथा मन्दिर आदि का वर्णन किया था।

इस शासक की मृत्यु ५६२ ई० पू० मे हुई। अपने अन्तिम दिनो मे यह शासक पागल हो गया और पशुओ की भाँति आचरण करने लगा। अत इसकी मृत्यु के उपरान्त इसका पुत्र नेबोनेदस गद्दी पर बैठा। इसने अपने जीवन काल मे १७ वर्ष तक राज्य किया। यह राजकाज से अधिक अपने पूर्वजो की कृतियो को जमीन से खोदने म अपना समय व्यतीत करता था। अत राज्य की सारी मशीनरी शिथिल पड गई थी। व्यापारी और सेना के लोगो मे भ्रष्टाचार फैल गया था। जनता व्यभिचारी और विलासी बन गई थी। देशभक्ति का भाव जनसामान्य के हृदय से जाता रहा। इसी गडबडी के बीच ५३९ ई० पू० फारस के बादशाह साईरस प्रथम ने बाबुल को जीतकर अपने राज्य का एक अग बना लिया। २०० वर्ष फारस के आधीन रहने के बाद ३३१ ई० पू० सिकन्दर महान् बाबुल आया और इसने सम्राट नेबुचडरेज्जर के महल मे ही अपना डेरा डाला था। वही उसकी मृत्यु भी हो गई। कुछ लोगो का ख्याल है कि अधिक शराब पीने से उसकी मृत्यु हुई। कुछ लोगो की धारणा है कि शराब मे मे उसे जहर दिया गया था।

यूनानी सभ्यता और उसका विकास

विश्व की प्राचीन सभ्यताओ के इतिहास मे यूनानी सभ्यता का अपना विशेष स्थान रहा है। इसी सभ्यता का प्रभाव यूरोप के प्राय सभी देशो पर पडा। एशिया के भी बहुत से देश इस सभ्यता से प्रभावित हुए। इसी सभ्यता ने एक समय ईरान की अग्नि-पूजक सभ्यता को समाप्त कर, भारतीय सभ्यता से सम्बन्ध स्थापित किया था। इस सभ्यता के संस्थापक कौन लोग थे तथा उनकी जीवन-प्रणाली क्या थी, ससार को इसका ज्ञान उनके प्राचीन खण्डहरो, मूर्तियो, चित्रो तथा परम्परागत-सामग्री से उपलब्ध हुआ है।

भौगोलिक-स्थिति—ससार की इस प्राचीन सभ्यता का केन्द्र—यूनान भूगोल की दृष्टि से एक अनोखा देश है। एक झालर की भाति कटावदार शक्ल मे, समुद्र इस देश मे दूर तक प्रवेश कर गया है। इसके पूर्व मे ईजियन नामक खाडी और काला सागर है। दक्षिण मे भूमध्यसागर और एड्रियाटिक खाडी है। इसी ईजियन खाडी मे **क्रीट** और **साइप्रस** जैसे द्वीपो के अतिरिक्त ५०० छोटे-छोटे टापू और है। जिस प्रकार पूर्वी द्वीप समूहो को मिलाकर, भारतवर्ष को वृहत्तर भारत कहा जाता था, उसी प्रकार इन द्वीपो को मिलाकर यूनान को भी वृहत्तर यूनान कहा जाता था। कुल वर्गफल १,३२,५६२ किलोमीटर या ५१,१६८ वर्गमील है।

इसके एक ओर ९७५४ फुट ऊँचा हिमाच्छादित आलप्स पर्वतमालाओ (प्राचीन नाम हेलास) का पहाडी प्रदेश है जिसमे अनेक पर्वत-मालाएँ और उनकी शाखाओ के अन्दर उपत्यकाएँ है। इस देश की नदियाँ उथली होने के कारण सिचाई के योग्य नही है। मैदान कटे-फटे होने के कारण कृषि के योग्य नही हैं। केवल भूमध्य सागर की जलवायु के कारण फलो के पैदा होने मे सहायता मिलती है। अत यहा अनाज तो कम पैदा होता है, फल पर्याप्त पैदा होते है। जिनमे मुख्यत अगूर मेव, नाशपाती, सतरे, जैतून, अजीर तथा अखरोट आदि है। सागर और पर्वतो के बीच के मैदान, आबपाशी के अभाव मे कृषि की बजाय, चारागाहो के रूप मे ही व्यवहृत होते थे। हेलास नामक पहाडी प्रदेश होने के कारण इस देश के निवासियो ने अपने देश का नाम भी **हेलास** ही रखा हुआ था। उनके देश का नाम **ग्रीस** रोमन लोगो ने रखा और **यूनान** नाम भारतीयो ने रखा।

इस देश मे जाने के लिये, पृथ्वी मार्ग की अपेक्षा, वायुमार्ग अथवा जलमार्ग ही

अधिक लाभदायक रहता है, क्योंकि इसके टापू एक दूसरे से ज्यादा दूर-दूर नहीं हैं। इसकी पृथक पहाड़ी उपत्यकाओं और टापुओं में भिन्न-भिन्न सामाजिक और राजनीतिक जीवन चलते रहे। इसी के एटिका नामक पथरीले मैदान में संसार प्रसिद्ध एथेन्स नामक नगर को बसाया गया था।

प्रान्त—इसके प्रान्तों में मेसेनिया, अरगोलिस, मकदूनिया, पेलोपोनीसस और लेकोनिया विशेष प्रसिद्ध है। यूनान का स्पार्टा नामक प्रसिद्ध नगर लेकोनिया प्रान्त में ही था। लघु एशिया(पश्चिमी टर्की)तक यूनान देश फैल चुका था। प्रसिद्ध ट्राय नगर वहीं था।

प्रत्येक प्रान्त की एक दूसरे से भिन्न स्थिति होने के कारण, उनकी जलवायु भी एक दूसरे से भिन्न थी। कहीं एक ओर बर्फ में ढके हुए पर्वत शृंग थे। कहीं दूसरी ओर दूर-दूर तक समुद्र था। समुद्र और पहाड़ियों का जलवायु स्वास्थ्य-वर्द्धक था। इसलिए वहाँ के लोगों का स्वास्थ्य सुन्दर और शरीर हृष्ट-पुष्ट था। यही कारण था कि उनका मानसिक विकास भी उत्तम हुआ। इसी उन्नत मानसिक विकास के कारण उनका कला-कौशल, साहित्य, वीरता तथा सामाजिक जीवन आदर्श रहा।

पहाड़ी स्थानों की देन—यूनान को जहाँ उसकी पर्वतमालाओं ने कठोर शीतल-शुष्क वायु प्रदान की, वहाँ उसकी हरी-भरी घाटियाँ फलों और अन्नों के उत्पादन में भी सुलभ थीं। इनके अतिरिक्त इन पहाड़ियों में लोहा, सोना, चाँदी आदि सभी प्रकार की धातुओं की बहुतायत थी। अतः यूनान की खनिज-सम्पदा अन्य यूरोपियन देशों के लिए ईर्षा का कारण बनी हुई थी। अपनी इन्हीं पर्वतशृंखलाओं के कारण अपने पर्वत हेलास के नाम पर इन्होंने अपने देश का नाम हेलास रखा था और अपनी जाति का नाम 'हैलानीज़' रखा था।

ईजियन सभ्यता का आक्रमण—क्रीट द्वीप से आकर जिस समय यह सभ्यता यूनानी नगरों राज्यों पर छायी, उस समय यूनानी नगर राज्य पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। क्रीट द्वीप से आई हुई यह सभ्यता अभी तक अपने जंगल-राज को ही माननेवाली थी, अतः इन्होंने यूनानी नगर राज्यों को परास्त कर, उनके कला-कौशल से लाभ उठाने का प्रयत्न न करके उनका कत्ल प्रारम्भ कर दिया। यह लोग स्वस्थ लोगों को अपना गुलाम बना लेते थे, स्त्रियों को दासियाँ बना लेते थे और वृद्धों तथा बच्चों को कत्ल कर देते थे। प्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार **थ्यूसाइडीज** ने इनकी नृशंसता के बारे में लिखा है "ग्रीस के यह नव-निर्माता आक्रमणकारी, यहाँ के प्राचीन लोगों के साथ अत्यन्त बुरा व्यवहार करते थे। यह बदतमीज जिनका रहन-सहन सुअरों जैसा था, दूसरी जाति के लोगों को पकड़ कर काट कर कुत्तों को खिला दिया करते थे।" इनका मूल स्थान क्रीट ही था, अथवा दूसरा कोई स्थान था, इस बारे में अभी अंतिम निर्णय नहीं हो पाया है। कुछ लोगों की धारणा है कि यह लोग भारत के द्रविड़ों से मिलते-जुलते 'कोल्टिक' जाति के लोग थे और किसी काल में आकर यूनान के **थेसोली** प्रान्त में बस गए थे। इनके ग्रीस में घुसते ही, इनकी ओर जातियाँ तथा समूह भी लहरों

की भाति बढते आए और आगे चलकर यह आक्रमक तथा भागकर लौटे हुए लोग घुल-मिलकर एक हो गये तथा इस खिचडी सभ्यता का नाम ही ग्रीस अथवा यूनानी सभ्यता नाम पडा।

यूनानी सभ्यता के वास्तविक संस्थापक—यूनानी इतिहासकार थ्यूसाइडीज़ ने, जिस आक्रामक जाति की बर्बरता का विपद् वर्णन किया है, वह वस्तुत क्रीट द्वीप से आकर ही यूनान पर छायी थी और यूनान मे ईजियन-सभ्यता' के नाम से विख्यात थी। इस सभ्यता काल ई० पू० २ हजार नियत किया जा सकता है। इसके पश्चात् यूनान मे एक ऐसी सभ्यता ने प्रवेश किया, जिसके दृढ धार्मिक विचार थे, योजनाबद्ध सामाजिक व्यवस्थाएँ थी, युद्धो तक मे भी जो नीति का पालन करते थे तथा प्रकृति के प्रति विशेष आस्था भी रखते थे। इस सभ्यता के निवास के बारे मे भी अभी तक इतिहासकारो मे मतभेद है। परन्तु यह सभी इतिहासकार मानते है कि यह सभ्यता यूनान में एशिया के ही किसी भाग से पहुँची। भारतीय पुराणो के अनुसार आर्य लोगो के यह यूथ, स्कन्धनाभ (स्कन्दननेविया, जर्मनी तथा बाल्कन राज्य) होते हुए यूनान पहुँचे थे और वहाँ से ही यूनान पर छाये थे। आर्य जाति की इस बडी शाखा का नाम जित्त, जेटी अथवा खत्ती नाम था। कालान्तर मे भारत मे जिसका नाम बिगडकर **खत्री-जाति** हो गया। आर्यों की यह जाति एक समय विशेष योद्धा जाति थी। इनके नेता **हेटो जटीला** ने यूनान के नगर राज्यो को विजित कर, एथेन्स के ईजियन लोगो द्वारा बनवाये गये दुर्ग मे विशाल शस्त्र-पूजन किया था।

इस कथन की पुष्टि मे यूनानी इतिहासकार **हेरीडेट्स** का उल्लेख किया जाता है। यूनानी इतिहासकार हेरोडेट्स ने स्कन्धनाभ मे इनके रहने का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सवेरे, शाम अपने हाथ-मुँह धोने वाले, लम्बी दाढी तथा लम्बे ढीले कपडे पहिनने वाले, इन लोगो ने अपने गर्म देश से आकर, इस ठण्डे देश मे क्या लिया ?" हेरोडेट्स इसके पश्चात् इनके धार्मिक विश्वासो, युद्ध-कौशल और इनके **नशाई देवता** "हर" का भी वर्णन करता है, जो विशेषत युद्ध का देवता था। नशे का सेवन करता था और बाघ-चर्म पर त्रिशूल सामने गाढकर बैठता था। सक्षेप मे हेरोडेट्स के कथन से यह स्पष्ट होता है कि इन लोगो का देवता **महादेव** था। सम्भवत इसी आधार पर "राजस्थान के इतिहास" के लेखक श्रीयुत **कर्नल टाड** ने भी उनको भारतीय आर्य ही माना है। परन्तु यह धारणा सदेहास्पद, इसलिये है कि प्रारम्भिक आर्य-जन शिव के उपासक नही थे, वे केवल प्रकृति के ही पुजारी थे और अपनी उसी पूजा-विधि मे उन्होने **सूर्य** आदि की पूजा के उपरान्त **इन्द्रादि** की स्तुति करना भी प्रारम्भ किया था। अपनी एक प्राचीन शाखा—जो मोहन-जो-दडो मे बसी हुई आर्यो की व्यापारिक शाखा थी और जिसने अपनी सभ्यता के उन्नतकाल मे मातृका-देवियो के पश्चात् **शिव** की भी कल्पना करली थी, उसके सम्पर्क मे ही जाकर, इन्होने **शिव** को भी अपने देवताओ मे स्थान दिया। भारतीय पुराण उन्हे महाभारत के युद्ध के बाद, गया हुआ मानते है। परन्तु स्कन्धनाभ मे ही वह गये थे, यह स्पष्ट इसलिये नही होता कि महा-

भारत युद्ध के वहुत काल पश्चात् श्रीकृष्ण को **अवतार** माना गया है और हेरोडेट्स के इतिहास से यह स्पष्ट है कि स्कन्धनाभ वाले **कृष्ण** और **बलराम** के भी पुजारी थे। अन्त मे यही मानना पडेगा कि आर्य लोग एक वार मे ही नही, अनेक वार मे यूनान मे पहुँचे और अपने नये-पुराने विचारो को परस्पर घुलाते मिलाते रहे। इतिहासकारो ने भी आर्य लोगो का प्रवेश यूनान मे तीन वार माना है और इन्हे मिलाकर 'इण्डो-यूरोपियन' नाम से सम्बोधित किया है। इतिहासकार साईरस ने इस जाति को आर्य जाति मानकर इसका काल ई० पू० १॥ हजार और १ हजार के आसपास माना है।

इसके विपरीत यूनान की उस काल की वेश-भूषा, भाषा, वैचारिक विधियाँ, धार्मिक विश्वासो की रूपरेखा आदि पर विचार करने के उपरान्त इस निर्णय पर पहुँचना पडता है कि भारत से आर्यन लोगो के यूथ पहिले ईरान गये और ईरान मे वसते हुए वह शेष यूनान की ओर वढते गये। राजा लक्ष्मणस्वरूप ने अपनी पुस्तक "निरुक्त" मे ईरानी पहाडो का भी वर्णन किया है। इस पुस्तक का लेखन-काल **पाणिनी** से भी प्राचीन है।

दूसरा प्रमाण यह है कि इनके यूनान मे पहुँचने से पहिले, समस्त यूनान और क्रीट आदि द्वीपो पर **ईजियन सभ्यता** छायी हुई थी। इस सभ्यता मे दो वातो का अत्यन्त अभाव था। एक, उनकी सामाजिक स्थिति मे धर्म नाम की कोई वस्तु नही थी। दूसरे, ईजियन लोग व्यवस्थित सामाजिक प्रणाली से कतई अनभिज्ञ थे। अतः इस जाति के यूनान मे पहुँचने के पश्चात् सभ्यतामूलक इन दोनो वस्तुओ के दर्शन यूनानी राज्य मे होने लगते हैं। **मित्र** नाम से **सूर्य** के पुजारी भारतीय आर्य, ईरान मे **मिथ्र** नाम से सूर्य को पूज कर, **अपोलो** के नाम से यूनान मे सूर्य को पूजने लगे। इसके विपरीत यदि कुछ लोगो के इस मत पर ध्यान दिया जाय, कि यूनान मे आये हुए वह लोग थे जो किसी समय **असीरिया** से भाग आये थे और असीरियन लोग भी **असुर** और **'शम्स'** के नाम से सूर्य की पूजा करते थे, किन्तु उनकी युक्ति इसलिए तर्कसंगत नही कि उस काल के यूनानियो की वेष-भूषा और रीति-रिवाजो का सामजस्य असीरियनो से न होकर, उस काल के ईरानियो और भारतीयो से मिलता जुलता ही मिलता है। **असुर** देवता के अतिरिक्त असीरियन लोगो ने अनगिनत देवी-देवताओ की कल्पना करली थी, झाड-फूँक और मत-मतान्तरो का उनमे प्रचलन पर्याप्त-मात्रा मे हो गया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने देवता असुर (सूर्य) के विशाल मन्दिर भी खडे कर लिये थे। इसके विपरीत सूर्य के पुजारी भारतीय, ईरानियो और यूनानियो को विना मन्दिरो के ही सूर्य की उपासना करते हुए पाया गया है। मन्दिरो का निर्माण इन देशो मे वहुत वाद मे हुआ। अत यही माना जा सकता है कि यूनान की ईजियन सभ्यता को समाप्त कर, नयी सभ्यता की स्थापना करने वाली जाति भारत से गयी हुई आर्य जाति ही थी, जिसने अपने समाज मे नये-नये विचारक, योद्धा तथा दार्शनिको को उत्पन्न कर शेष यूरोप को भी सदैव के लिये अपना प्रशसक वना लिया। इसलिये आज यूरोप के इतिहासकार यह कहते हुए नही अघाते कि "यूरोपियन

सभ्यता का वास्तविक आदि गुरु प्राचीन यूनान ही है।"

वस्तुत इस नई यूनानी सभ्यता की संस्कृति का इतिहास ई० पू० १ हजार वर्ष पू० का इतिहास है, जिसके आरम्भिक ८०० वर्ष विशेष महत्व के हैं। यही काल यूनान का प्राचीन ऐतिहासिक-काल कहलाता है। इस काल मे यूनान ने बहुत कुछ दूसरे देशो को दिया और बहुत कुछ दूसरे देशो से सीखा। इसी काल मे इन्होंने राज-तंत्र, धर्म, व्यापार, विज्ञान, कला-कौशल तथा साहित्य और दर्शन का निर्माण किया और अपनी विचारधाराओ का प्रचार प्रसार एशिया तथा यूरोप मे दूर-दूर तक किया। इसी काल मे इनकी कला और साहित्य का प्रभाव हमारे देश भारतवर्ष पर भी पडा, क्योकि इन ८०० वर्षों मे यूनान ने बडे-बडे विद्वानो को जन्म देकर, अपनी सभ्यता को सुदृढ बना लिया था। जो अपने ज्ञान-विज्ञान के लिए भारत आते रहते थे। इनमे **थेल्स** (६४० ई० पू० से ५५० ई पू०), **जेनोफानीज** या **जोनेफेनवस** (५५० से ४०० ई० पू० तक) **ऐम्पिडोक्लीज डमोक्रीट्स** (४६० ई०पू० से ३७० ई०पू० तक), **अमेनेस** (५६० ई० पू० से ५२५ ई० पू० तक) भारत आये। इनके अतिरिक्त सर-विलीयम जोन्स ने तो **सुकरात** (४८४ ई० पू० से ३६६ ई० पू० तक) की **जैमिनी** से, **अरस्तू** (३८४ ई० पू० से ३२३ ई० पू० तक)की गोमत से और **प्लेटो** की(४२७ ई० पू०) की **व्यास** से तथा **पाईथागोरस** की कपिल से और जैनो की पतजलि से तुलना करते हुए यह प्रमाणित करने का भी प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारतीय ग्रंथो और यूनानी प्राचीन ग्रन्थो की समान रूपरेखा का कारण ही एक यह है कि दोनो देशो के विद्वान समकालीन थे।

इतिहासकार **पी० काक** ने भी अनेक प्रमाण देकर, इस कथन की पुष्टि की है कि यूनानी समाज के रीति-रिवाज, आचार-विचार, उनका रहन-सहन, उत्सव, खेलकूद तथा देवी-देवता बिल्कुल भातीय ढग के है। अत आर्यों की यह आक्रमक रूप मे आई हुई लहरें, शीघ्र ही ईजियन लोगो से घुल-मिल गयी और इस मिश्रित सभ्यता का नाम ही **यूनानी सभ्यता** पडा।

प्रगति का प्रारम्भ—कुछ समय बाद इस मिश्रित सभ्यता ने ग्रीस से भी आगे बढना आरम्भ किया और ईजियन की खाडी के टापुओ को आबाद करते हुए यह खाडी के भी पार हो गये। खाडी के पार **ट्राय** वालो ने इनकी बढती हुई लहरो को रोकने का प्रयत्न किया, किन्तु इस युद्ध मे **ट्राय** वालो की हार हुई। कवि **होमर** वर्णित 'ईलियड' नामक महाकाव्य मे 'ट्राय का घेरा' हेलास (प्राचीन यूनानी) तथा नये आये यूनानी (जिन्हे एशिया माईनर के यूनानी कहा जाता है), लोगो के पारस्परिक सघर्ष का ही काव्यात्मक वर्णन है। **ट्राय** को विजित करने के उपरान्त यह समस्त यूनान पर छा गये और नयी सभ्यता प्रगति की ओर अग्रसर हुई।

प्रारम्भिक सामाजिक-स्थिति—यूनान मे आने के समय के वर्षो मे इन लोगो का सामाजिक-जीवन परिवार और भाईचारे तक ही सीमित था। कई परिवार मिल-कर 'जाति' कहलाते थे। अपने जातिगत झगडो के निबटारो के लिए भारत की

भाँति जातिगत सभाएँ की जाती थी, जिनमे परिवारो के वृद्ध-जन अपना निर्णय कदिया रते थे ।

ईजियन लोगो से टकराने से पहिले, उनका समाज इसी प्रकार के जाति-गत समूहो मे विभक्त था और राजा के वजाय उनके प्रधान या सरदार लोग ही, प्रत्येक जाति के यूथ के सर्वेसर्वा होते थे । ईजियन लोगो को अपने मे घुला-मिलाकर, इन लोगो के अन्दर राजतत्र की भावना जगी और इन्होंने अपना घुमक्कड जीवन छोडकर विभिन्न स्थानो पर वसकर रहना प्रारम्भ किया ।

नागरिक जोवन का आरम्भ—घुमक्कड जीवन का अन्त कर जव यह व्यवस्थित रूप से नगर और गाँव बनाकर रहने लगे, तब इन्होने अपनी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था मे भी परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया । अत जिन मैदानो मे यह लोग पशु-पालन किया करते थे, उन्ही मे आवाद होकर यह कृषि कार्य करके अन्न उगाने लगे । पहले यह लोग खेती-बाडी का काम वहुत कम करते थे । यह स्वय पशुओ को चराते थे । खेती-वाडी का कार्य स्त्रियो से कराते थे । परन्तु जमकर रहने के पश्चात् इन्होने इस व्यवस्था को भी वदल दिया । खेती-बाडी का अधिकाश कार्य स्त्रियो से अपने हाथ मे ले लिया । इस प्रकार यह लोग पूरे नागरिक वन गये । अत जव नागरिक वन गये, तव नागरिक-जीवनयापन के लिए, नियमो (कानूनो) की भी आवश्यकता महसूस हुई और पश्चात् कानूनो का पालन कराने वालो की भी जरूरत दिखाई पडने लगी ।

नगर राज्यों की स्थापना—आर्यों की लहरो द्वारा ईजियन सभ्यता की समाप्ति के समय, यूनान मे नगरो का निर्माण पूरा हो चुका था । ईजियन लोगो के ट्राय जैसे बडे-वडे नगर भी थे । अत इन लोगो को व्यवस्थित सामाजिक जीवन अपनाने मे ईजियन लोगो से भी वहुत सहारा मिला । फलत छोटे-छोटे नगरो के उपरान्त वडे-बडे नगर भी वसाये जाने लगे और कुछ देहातो की आवादियो को मिलाकर, उन्हे **नगर-राज्यों** का रूप दिया गया । परन्तु यह नगर—राज्य स्वतन्त्र नगर-राज्य थे और अधिकाशत एक-एक, दो-दो परिवारो के ही हाथो मे इनकी समस्त सत्ता केन्द्रित थी ।

यूनान मे उस समय एक नही, सैकडो नगर-राज्य थे । वहुत से तो इतने छोटे थे कि इन्हे नगर (City) कहना भी उचित नही, क्योकि इन नगर-राज्यो मे **एथेन्स और स्पार्टा** प्रमुख थे । इसके पश्चात् **कोरिन्थ, समीस, ईजिना, डेलीस, रेनिया** आदि का नम्वर आता है । इनके अतिरिक्त क्रीट द्वीप के आसपास भी टापुओ मे लगभग १०० नगर-राज्य वसे हुए थे, जिनकी जनसख्या १ लाख तक की भी नही थी ।

एथेन्स

क्षेत्रफल और आवादी की दृष्टि से यूनान के समस्त नगर-राज्यो मे एथेन्स ही सवसे वडा राज्य था । यह नगर-राज्य समुद्र तट के पास मैदान के सामने १८० फुट ऊँची उठी हुई, एक छोटी पहाडी पर पहिले एक छोटी-सी बस्ती के रूप मे वसाया गया था । धीरे-धीरे इस पहाडी के आस-पास और बस्तियाँ भी वसने लगी । ई० पू० ८वीं

सदी मे एथेन्स के आस-पास के प्रदेश को एट्टिका (Attica) कहा जाता था। जिसमे कई छोटे-छोटे नगर थे। लगभग १ सौ वर्षो के पश्चात् यह नगर परस्पर मिल गये। फिर भी क्षेत्रफल की दृष्टि से, एथेन्स १ हजार वर्गमील से अधिक कभी भी नही बढ सका। इसकी जनसख्या के बारे मे, इतिहासकार बार्कर का मत है कि यहाँ की जनसख्या ६ और ४ लाख के लगभग थी। परन्तु जर्मन विद्वान विक्टर एहरनबर्ग ४३७ ई० पू० ने अपनी पुस्तक "दी ग्रीक एस्टेट" जो १९६० ई० मे प्रकाशित हुई है, इसकी जनसख्या लगभग २॥ लाख ही बताई है। इसमें भी आधी आबादी नगर से बाहर रहती थी। जिनमे कुछ देहातो मे थी, कुछ खेतो पर अपने घर बनाने वाले कृषको की थी।

इन नगर राज्यो की आबादी कम रखने का कारण, यहाँ के विद्वानो की अपनी निजी धारणाएँ थी। वह नगरो की आबादी बढाना, राष्ट्र-हित मे उचित नही समझते थे। अत यूनानी दार्शनिक और शासक इन बस्तियो को जान-बूझकर छोटा रखते थे। उनका मत था कि राष्ट्र के सब निवासियो मे एकता और आत्मीयता होनी चाहिये। सख्या-वृद्धि के कारण वह घनिष्टता सम्भव नही होगी। **प्लेटो** ने अपने 'रिपब्लिकन' मे लिखा था—"राज्य को उसी हद तक बढने देना चाहिए, जहाँ तक उसकी एकता बनी रहे।[1]" अत उसने राज्य मे निवासियो की जनसख्या केवल ५०४० ही निश्चित की थी। प्लेटो के अतिरिक्त **अरस्तू** इस सख्या को १० हजार और १ लाख के मध्य रखने का समर्थन करता है। इतनी सख्या के बारे मे उसकी दलील यह थी कि **अधिक बडी सख्या का सेनापति कौन हो सकता है? यूनानी समझते थे कि अधिक जनसंख्या के कारण राज्यो मे एकता नही रहती।**

सामाजिक व्यवस्था—एथेन्स की सामाजिक व्यवस्था मे भी स्पार्टा की भाँति तीन वर्ग हुआ करते थे। सबसे नीचा वर्ग दासो का था। पहले एथेन्स मे भी इस वर्ग का वही हाल था, जो स्पार्टा मे। लेकिन बाद मे दासो की अवस्था मे सुधार हो गया। यह सब अरस्तू तथा उसके समकालीन विचारको की शिक्षाओ का ही फल था। दास वर्ग के बाद मध्य वर्ग मे, एथेन्स के विदेशी निवासियो का वर्ग आता था। एथेन्स मे यह वर्ग इसलिए पनपा कि वहाँ पर व्यापार-कार्य के लिए बराबर विदेशो के निवासी आया करते थे और उनमे से कुछ लोग वही बस जाते थे। इन दोनो वर्गो के ऊपर नागरिको का भी एक वर्ग था। जहाँ एक ओर दास उत्पादन कार्य करते थे और मध्य वर्ग के सदस्य-व्यापार वाणिज्य द्वारा नगर-राज्य की सम्पत्ति बढाते थे। वहाँ दूसरी ओर नागरिक वर्ग केवल राजनीतिक कार्य करता रहता था। एथेन्स के नागरिक वर्ग का व्यवसाय ही राजनीति था। यूनानी साहित्य मे चौराहो, बाजारो तथा अन्य सार्वजनिक स्थानो मे राजनीतिक एव अन्य सार्वजनिक विषयो पर बहस करते हुए एथेन्स के नागरिको का यथेष्ट विवरण मिलता है।

प्रजातन्त्रवादी शासन व्यवस्था का रूप—एथेन्स मे प्रजातत्रवादी शासन

1 Dialogs of Platau—Ramund house

व्यवस्था का रूप कुछ मिश्रित-सा था। मिश्रित इन अर्थों मे कि जहाँ शासन की समस्त शक्ति नागरिको मे स्थित थी। उसका सचालन और समस्त परिचालन ऐसे व्यक्तियो के हाथो मे था जो अभिजात्यवर्ग के थे। यह अभिजात्यतत्र मुख्यत बौद्धिक था। पेरीक्लीज तथा उनके साथी—इसी वर्ग के व्यक्ति थे, जिन्होने एथेन्स के प्रजातन्त्रवादी आदर्शो पर बडा अच्छा प्रकाश डाला है।

यद्यपि बौद्धिक अभिजात्य नेताओ के हाथो मे ही सम्पूर्ण शक्ति रहा करती थी, किन्तु ये नेता अपनी शक्ति नागरिको की महासभा या असेम्बली से प्राप्त करते थे। यह असेम्बली ही सब मामलो का अन्तिम निर्णय करती थी। इसके अतिरिक्त एक परिषद भी हुआ करती थी जिसके ४०० सदस्य होते थे। इन दोनो ही सस्थानो की स्थापना ई० पू० ५७७ मे हुई थी। अधिकारो तथा पदो के वितरण के लिए नागरिको को चार भागो मे विभक्त कर दिया गया था। प्रथम वर्ग के नागरिक राज्य के उच्चतम पदो तक पहुँच सकते थे, परन्तु चतुर्थ वर्ग के नागरिको को शासनाधिकार के किसी पद पर नियुक्त नही किया जाता था। अन्त मे चतुर्थ वर्ग को भी कुछ अधिकार दिये गये, लेकिन यह व्यवस्था भी बाद मे ही हो पायी। इसके पहले अभिजात्यतन्त्र के सदस्यो का ही सब पदो पर बोलबाला रहता था। नयी व्यवस्था समझौतो और सुधारो का परिणाम थी। इन सुधारो को कराने मे एथेन्स के प्रसिद्ध नेता **'सोलोन'** ने बडा नाम कमाया।

नागरिको की महासभा या असेम्बली का कार्य, कार्यविधियाँ (कानून) बनाना नही था, क्योकि एथेन्सादि नगरो मे जो रीति-रिवाज वर्षों से चले आ रहे थे, उन्ही को विधि के समान माना जाता था। पहले वे कानून लिखे हुए भी नही थे, किन्तु बाद को उनका सकलन कर लिया गया। फिर भी असेम्बली मे नयी व्यवस्थाओ के प्रस्ताव कभी-कभी पारित किये जाते थे। इतना अवश्य था कि परम्परा के विरुद्ध व्यवस्था का प्रस्ताव रखने वाले को अपराध सिद्ध हो जाने पर दण्डित कर दिया जाता था। एथेन्स मे नागरिको की सख्या काफी थी तथा परिषद मे भी चार सौ सदस्य होते थे। इसका फल यह हुआ कि दोनो ही सस्थाओं की बैठके बहुधा नही हो पाती थी। वह केवल कभी-कभी ही हुआ करती थी। सभी निर्णय बहुमत से होते थे।

असेम्बली या महासभा तथा परिषद की बैठकें जल्दी जल्दी न हो सकने के कारण दस अनुभवी राजनीतिज्ञो के दो मण्डल थे, जो सेना-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ किया करते और कूटनीतिक एव प्रशासनिक कार्य करते थे।

एथेन्स का सविधान—एथेन्स की व्यवस्था का मूल आधार व्यापार तथा वाणिज्य था। स्पार्टा की भाँति एथेन्सवासी कृषि-कार्यों पर ही निर्भर नही रहते थे। व्यापार वाणिज्य प्रधान अर्थ-व्यवस्था ने एथेन्स के यूनानियो की दृष्टि को विस्तृत एव मस्तिष्क को नये-नये विचारो से युक्त कर दिया था। स्पार्टा ने अच्छे सेनापति भले ही पैदा किये हो, लेकिन वहाँ विचारक पैदा नही हुए। स्पार्टा सैनिको का मस्तिष्क सकुचित, विचार सीमित तथा दृष्टि सकीर्ण हुआ करती थी। इसके विपरीत एथेन्स

का सामान्य नागरिक स्पार्टा के नागरिक से कहीं अधिक ज्ञानवान् तथा व्यवहार-कुशल हुआ करता था। कठोरता नही उदारता ही उसका मुख्य गुण था। यह अन्तर शिक्षा-दीक्षा तथा सस्थानो की व्यवस्थाओ का अन्तर था। उन आदर्शों का अन्तर था जो दोनो नगर राज्यो ने अपने-अपने सामने रखे थे।

स्पार्टा का उच्चतम नागरिक वर्ग—स्पार्टा के बहुसख्यक निवासी तो दासो या मध्यम वर्ग के लोगो मे निकल गये—जो बाकी बचे, वे स्पार्टा के उच्चतमवर्ग के व्यक्ति माने जाते थे। यही स्पार्टा के नागरिक थे। स्पार्टा के नागरिको का यह सीमित और लघु समूह उन मूल विजेताओ का वशज था, जो अपने-आपको **डोरियन** कहा करते थे। स्पार्टा का सम्पूर्ण शासन इसी उच्च वर्ग के हाथो मे था। इस उच्चवर्ग के बालको को नगर राज्य का शासकवर्ग सात वर्ष की अवस्था के बाद से, उनके माता-पिताओ से ले लेता था तथा उनकी सारी शिक्षा-दीक्षा राजकीय व्यय से होती थी। सात वर्ष की अवस्था मे लेकर, युवावस्था तक स्पार्टा के विद्यार्थियो को अनिवार्यत सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। सभी विद्यार्थियो की देख-रेख एक वृद्ध अधिकारी या मजिस्ट्रेट किया करता था। युवको को अपनी शिक्षा के आरम्भ मे लेकर, अन्त तक एक भोजनालय मे एक साथ बैठकर भोजन करना पडता था। सभी प्रकार की विला-सिता या आराम की सामग्रियो का उपभोग करना निपिद्ध था। लिखित विधियो के लिए कोई स्थान न था। प्राय सभी मामलो मे न्यायाधीशो का निर्णय अन्तिम समझा जाता था।

स्पार्टा के राजनीतिक सस्थान—समस्त स्पार्टा वासियो की एक सभा थी। इस सभा के साथ २८ निर्वाचित सदस्यो की एक परिषद हुआ करती थी। दो राजा हुआ करते थे। शक्ति एक ही, किन्तु सीमित वर्ग के हाथ मे थी। ऐसे सदस्यो को हटा दिया जाता था जो सार्वजनिक भोजनालयो को चलाने के लिए अन्न राशि न दे पाते थे। ऐसा करने मे बहुत से नागरिक असफल रहते थे। फलस्वरूप वे निष्कासित कर दिये जाते थे और शक्ति निरन्तर एक लघु से लघुतर वृत्त मे सीमित होती जाती थी। इन सब के ऊपर पाँच सदस्यो का एक मण्डल भी था जो सर्व-शक्तिमान था। इसे 'एफर' कहा जाता था। स्पार्टा वासियो की असेम्बली या सभा—जिसमे सभी नागरिक भाग लिया करते थे—किसी भी मामले का अन्तिम रूप से फैसला किया करती थी। पाँच सदस्यो का मण्डल सर्व-शक्तिमान सत्ता था। दिन-प्रतिदिन का शासन-कार्य वही चलाता। दो राजाओ मे से एक तो सेना का सर्वोच्च सेनापति हुआ करता था और दूसरा धर्माध्यक्ष, किन्तु दोनो के ही हाथ मे शक्ति कुछ भी न होती थी। उन्हे निर्वाचित मण्डल की आज्ञाओ को ही मानना पडता था।

अपने इन राजनैतिक सस्थानो के फलस्वरूप तथा कठोर शासन-व्यवस्था के कारण स्पार्टा ने सामाजिक स्थिरता तथा सैनिक सफलताओ के क्षेत्र मे उच्चतम शृगो तक पहुँचने का कठिनतम मार्ग तय किया था।

स्पार्टा

एथेन्स के पश्चात स्पार्टा का नम्बर आता है। यह नगर राज्य केवल ३ हजार वर्गमील मे फैला हुआ था। इसकी आबादी केवल २ लाख व्यक्तियो की थी। इनके अतिरिक्त कोई नगर राज्य आबदी और क्षेत्रफल की दृष्टि से इतना बड़ा नही था। बहुत से नगर-राज्यो की आबादी तो १० हजार व्यक्तियो की भी नही थी। उदाहरणार्थ **कोरिन्थ** का क्षेत्रफल ४ हजार वर्गमील, **समोस** १८० वर्गमील, **ईजिना**, ४० वर्गमील, **डेलोस** २० वर्गमील, **रेनियो** ८।। वर्गमील और ३३० वर्गमील मे क्रीट द्वीप के १०० नगर-राज्य बसे थे। परस्पर युद्धो के कारण इनमे परिवर्तन अवश्य होते रहे। एक नगर राज्य विजित होकर, दूसरे मे भी मिलता रहा और कई नये नगर-राज्य भी बसे। परन्तु एथेन्स और स्पार्टा सरीखा अन्य कोई राज्य नही बन सका।

देवी-देवता—ग्रीस के इस नगर-राज्य के समय को **वीर-काल** के नाम से पुकारा जा सकता है। उस काल मे यह लोग प्राकृतिक दृश्यो, नदियो पहाडो, पशु-पक्षियो और सागर तथा पृथ्वी मे गुप्त शक्ति का आभास मानते थे। अत इनके प्रकोप से भयभीत रहते थे। इसलिए इनको प्रसन्न करने की इन्होंने अनेको विधियाँ अपना रखी थी। कालान्तर मे इन्ही विधियो ने, देवी-देवताओ की कल्पना की। इस काल मे इन्होने **जीयस**, **अपोलो, डायोनीसिस** और **पोसीडाम, डेमेटर**, **हरमीज, हेर, एफ्रोडाइट** आदि देवी-देवताओ की कल्पना करली थी। इनमे पहला देवता **इन्द्र** आकाश का देवता था। दूसरा देवता **सूर्य** अपोलो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तीसरा **डियोनिसस** पृथ्वी का देवता समझा जाने लगा। चौथा **पोसीडान** जल का देवत। मान लिया गया। अर्थात् ईरान के प्रारम्भिक-काल मे आर्यो ने जिस भाँति देवो, की कल्पना अपने भारतीय जीवन के आधार पर की हुई थी, स्पष्टतया वही यूनानियो ने की। इसके पश्चात् देवताओ के साथ-साथ देवियो की कल्पना भी की गई। इनकी देवियो मे नगरो की रक्षक देवी का नाम **एथेना** था। **डेमेटर** धरती माता थी। **हरमीज** चन्द्रमा की देवी देर विवाह की देवी, **एफ्रोडाइट** प्रेम की देवी और **होस्टिया** गृह देवी कल्पित हुई। देवी नेमेसिस प्रकृति छटा की देवी थी। उस काल मे केवल कल्पना ,पर ही इनकी देव-आराधना सम्पन्न होती थी। यह लोग घरो मे उनके लाक्षणिक चिन्हो को बना लिया करते थे। न कोई मठ था, न कोई मदिर। न पूजा न पुजारी।

लोक परलोक—मृत्यु के बारे मे उनका स्वर्ग पाताल था और उसे 'हेडस' कह कर पुकारते थे। उसका स्वामी **प्लूटो** था जो बिना अच्छे-बुरे के भेदभाव के सबको वही रखता। परन्तु वह वीर लोगो से प्रसन्न होता था। जब वीरो की आत्माएँ पाताल लोक मे उस के दरबार मे आती थी, तब वह उनको **"ऐलेसियन मैदान"** अथवा **ब्लेस्ट** के टापू मे अमर बनाकर भेज दिया करता था।

अन्तिम-सस्कार—कुछ ग्रीक लोग अपने मुर्दो को जलाते थे और कुछ जमीन मे भी गाढते थे। गाढे हुए मुर्दे के पास, अनेक खाने-पीने की चीजो के साथ-साथ भेंट-स्वरूप अनेक बहुमूल्य चीजें भी रख दिया करते थे।

ग्रीक लोगो के 'इस वीर-युग' मे कोई वर्णव्यवस्था नही थी। उनके समाज मे केवल दो ही प्रकार के लोग थे, एक साधारण व्यक्ति और दूसरे धनिक श्रेणी के लोग जातिगत-समस्या नाम की कोई चीज़ वहाँ इसलिए नही थी कि निम्न या उच्च श्रेणी का अधिकारी भारत की भाँति वहाँ भी जन्म की बजाय कर्म से होता था।

, उच्च श्रेणी मे अपने को गिनाने के लिए, व्यक्ति को अपनी युद्ध-कला की वीरता-पूर्ण परीक्षा देना अनिवार्य था। ऐसे गुण जिन लोगो मे पाये जाते थे, वे ही उक्च श्रेणी मे सौभाग्य प्राप्त करके, सौभाग्य के भागी बनते थे। उनकी सम्मति के अनुसार ही नागरिक राजा शासन करता था।

यह नागरिक राजा केवल राजामात्र ही नही था। ईरान और मिस्र की भाँति यही इनका प्रधान पुरोहित भी होता था। यही युद्ध-काल मे प्रधान सेनापति था और यही उनके अन्य धार्मिक कृत्यो का ज्योतिषी होता था। इस राजा के राज्य की आमदनी के स्रोत भी अद्भुत होते थे। जहाँ लोग राज्य-कर देते थे, वहाँ उत्सवो पर भेटे और दान भी राजा को ही दिया जाता था।

वीर-काल का प्रभाव ग्रीस की जनता पर इतना प्रभावशाली पडा कि घर-घर शारीरिक व्यायामो के लिए अखाडे बन गये और उन्होने अपने वीरोचित गुणो को बनाए रखने के लिए अपनी दिनचर्या भी प्रभावशाली ढग की बनाई। वीर होने की होड मे कुछ परिवार उतने प्रभावशाली हो गए कि वह स्थाई उच्चकुल के माने जाने लगे। और इसका लाभ उन्हे अधिक जमीन के मालिक तथा धनी होने के रूप मे मिला। यह समृद्धिशाली वीर लोग ठाट-बाट से रहते और अपने पास नौकरो आदि के अतिरिक्त व्यक्तिगत सैनिक भी रखते थे। शासन मे इन्ही लोगो का प्रमुख हाथ रहता था और लडना तथा लूटमार करना इनका बेरोक-टोक जारी रहता था। सक्षेप मे, उस समय यही शासन-व्यवस्था भारत मे थी और यही यूनान मे थी। पश्चात् रोम-राज्य ने भी इसी व्यवस्था को अपना आधार बनाया था।

साधारण समाज—ग्रीस के इस उच्च समाज के अतिरिक्त जो साधारण समाज था, उसमे दस्तकार, कृषक, जमींदार और छोटे व्यवसायी लोग अधिक थे। इस साधारण समाज मे भी बढई लोगो का आदर अधिक किया जाता था। बढई लोगो के बाद आदर पाने वालो मे दूसरा स्थान लुहारो, चित्रकारो, भविष्य-वक्ताओ और मछियारो का था। बढइयो के आदर का विशेष कारण यह था कि यूनान का प्राय सभी जन-जीवन नौकाओ और जलयानो पर आधारित था। कालान्तर मे यूनान का सैनिक-बेडा विश्व के सभी जल-बेडो से अधिक सशक्त हो गया और उसी कारण ईरानी साम्राज्य भी नष्ट हुआ। अत इन जहाजो और नौकाओ की निर्माता यही जाति थी। समाज मे इसी का आदर अधिक था। जिस मनुष्य के पास जितने पशु अधिक होते थे, उतनी ही उसकी हैसियत ऊँची मानी जाती थी। अर्थात् पशु-धन का महत्त्व उन दिनो धातु-धन से अधिक था। मास और रोटी इनका मुख्य भोजन था। अगूर की बनी हुई शराब का भी यह लोग खुला प्रयोग करते थे।

गुलाम—गुलाम लोगो की अवस्था यहाँ भी अच्छी नही थी। उनका जीवन इन लोगो के हाथ मे खिलौने की तरह रहता था। उसे वह चाहे जब तोड दें और चाहे जब तक खेलते रहे। खेती-बाडी और पशुओ को चराने का काम इन्ही से लिया जाता था। घरो मे इनकी स्त्रियो से काम लिया जाता था। उनके घरेलू काम मे सभी काम शामिल थे, जैसे खाना बनाना, पानी लाना, घर पर पशुओ का सँभालना, बुनना और कपडे धोना। इस तरह दोनो गुलाम आदमियो— स्त्रियो और पुरुषो का काम मे जुटे रहकर यह हाल हो जाता था कि राजनीतिक अधिकार की माग की बात तो दूर उन्हें अपनी शारीरिक और मानसिक अवस्था के बारे मे भी सोचने का अवसर नही मिलता था।

अतिथियों की सेवा—केवल युद्ध-काल को छोडकर शेष सब समय अतिथि सेवा को यहाँ बडा महत्त्व दिया जाता था। युद्ध-काल मे यह जीवित शत्रुओ से तो निर्दयता का व्यवहार करते ही थे, उनकी लाशो तक को खराब करना भी अपना पुनीत कार्य समझते थे। काम करने योग्य पुरुषो और सुन्दर नारियो को यह लोग गुलाम बना लेते थे। अन्यथा तलवार के घाट उतार देते थे।

सुरक्षा-दलो का निर्माण—कुलो के धन-वैभव बढने का परिणाम यह हुआ कि इन नगर-राज्यो मे राजतन्त्र समाप्त हो गए और यह स्वेच्छाचारी परिवार एक-दूसरे के ग्रामो पर आक्रमण करने और लूटमार मे लग गए। ईसा पूर्व आठवी सदी मे ग्रीस के इस अराजकता के युग मे, जब धन-जन का विनाश होना शुरू हुआ, तब गाँवो ने अपनी सुरक्षा के लिए सामूहिक ग्राम-सुरक्षा सगठनो का निर्माण किया।

ग्रीस मे इस तरह के चार सुरक्षा दल बने। एक **स्पार्टा** का, दूसरा **आरगस** का और तीसरा **एथेन्स** का तथा चौथा **थेबीस** का।

पलायन—इन्ही लूटमार के दिनो मे यूनानी जनता अपनी सुरक्षा के लिए इधर-उधर भी भागी और दक्षिणी इटली, फ्रान्स, स्पेन, भूमध्यसागर के टापुओ तथा काले सागर के किनारे जाकर बस्तियाँ बसाकर रहने लगी।

प्राचीन चित्रकला

यूनान की प्राचीन चित्रकला भी वहाँ की स्थापत्य-कला की तरह ही भिन्न-भिन्न शैलियो की है। यह ठीक है कि काल के प्रहार से प्राचीन ग्रीस की चित्रकला के बहुत कम अवशेष रह गये हैं, परन्तु फिर भी अब तक ५० हजार से अधिक ही सुन्दर आकृति वाले रेखा-चित्रो द्वारा चित्रित बर्तन पाये गए है। इन बर्तनो मे सुन्दर शराब के प्याले, फूलदान, मिट्टी के पानी आदि पीने के पात्र आदि हैं।

यूनान के फूलदानो और उनपर बने चित्रो पर, बुशारे, फुर्टवेलर तथा अन्य लेखको द्वारा अनेक सारगर्भित ग्रन्थ लिखे गए हैं।

यूनानी लोक-जीवन की मनोवृत्तियाँ, उनकी पौराणिक गाथायें, उनके व्यवसाय,

उनमे प्रचलित प्रथाएँ, आमोद-प्रमोद के विषय और विश्वास, उनकी चित्रकला मे स्पष्ट-रूप मे लक्षित होते है।

यूनानी लोगों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान उनकी मूर्तिकला की अपेक्षा, उनके फूलदानो, प्यालो और कलशो पर बने हुए चित्रो से होता है। उन पर बनी चित्रकला से उन लोगो की रुचि, भावोद्रेक, देव-पूजा की अपेक्षा वीर-पूजा की उपासना की प्रवृत्ति, खेल-कूद, प्रणय और मद्य-पान तथा व्यापार व्यवसाय का पूरी तरह से सही-सही पता चलता है।

यूनानी स्थापत्य कला के जो अवशेष आजकल मिलते है, उनमे अपने ढग की बौद्धिकता, कठोरता, वीरता तथा सयम की प्रधानता ही, दृष्टिगोचर होती है। यूनान के पुराने बर्तनो मे, जो एक अलकारिक शैली का निर्माण दीखता है, उससे अधिक आकर्षक वस्तु यूनान के किसी पुरातत्व अवशेष मे दिखाई नही देती। इन बर्तनो को देख कर ही ग्रीक यूनानी लोगो के भक्ति-भाव, हास्य विनोद, साज-शृगार की झलक का स्पष्ट आभास मिलता है।

सम्भवत जब ग्रीस मे बर्तनो पर चित्रकारी का रिवाज चला था तो आरम्भ मे केवल पौराणिक विषयो के चित्र, जिनमे पर्वतो मे रहने वाली देवियो, जगली देवताओ, जल देवियो, मधुबालाओ तथा होमर-युग के वीरो का ही चित्रण-मात्र अधिक होता था। उसके बाद परिचित दृश्यो का आविर्भाव चित्रकला मे बढना शुरू हुआ जिनमे मृत्युसस्कार, जल मे स्नान करती हुई रमणियाँ तथा खेल-कूद के चित्र अधिक थे। लेकिन इस उन्नति के साथ ही रगो के सकलन की उन्नति ग्रीस चित्रकला मे नही हो पाई, जैसी कि प्राचीन मिस्र और ईरान की चित्रकला मे मिलती है।

यूनान वासी सदा दो रगो का ही प्रयोग करते रहे। इनके यह दो रग थे—काला और लाल। कही काले के ऊपर लाल और कही लाल के ऊपर काला रग भर कर ही यह अपनी चित्रकला की पूर्ति मे लगे रहे।

आरम्भ मे चित्रकारी-युक्त बर्तन पट्टियो मे विभाजित होते थे और इन पट्टियों मे रगो से सुन्दर रेखाकन किया जाता था। लेकिन आगे चलकर मनुष्यो, पशु-पक्षियो की आकृतियाँ बनाने की ओर भी ग्रीस वालो का ध्यान गया। यह चित्रकारी के परिवर्तन का भाव स्वय उनके मस्तिष्क मे उपजा या बाहरी देशो—मिस्र, ईरान, बेबीलोनिया तथा सीरियन लोगो के पात्रो को देखकर उपजा, इस बारे मे निश्चितता से कुछ नही कहा जा सकता।

ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व, एथेंस, कोरिन्थन और कैलसिस चित्रकारी-युक्त फूलदानो तथा सुरा-पात्रो के निर्माण के मुख्य केन्द्र थे। उस काल मे बरतनो पर की जाने वाली चित्रकारी का ग्रीस मे स्वर्ण-युग माना जाता है। जबकि यहाँ पर एक्सीअस, क्लाइटिअस तथा ब्राइगास जैसे प्रमुख चित्रकार मौजूद थे।

उनकी सुन्दर शैली का परिचय एक शराब के बर्तन से मिला है जिसमे डयोनाइसस को मछलियो से घिरी हुई दशा मे समुद्र-यात्रा करते हुए दिखाया गया है।

ग्रीस की चित्रकारी की यह सुन्दर कलाकृति म्यूनिख (जर्मनी) के सग्रहालय मे सुरक्षित रखी है।

क्लाइटिग्रस नामक ग्रीस के प्रसिद्ध चित्रकार की जो सबसे उत्कृष्ट कलाकृति मिली है वह "फ्राशोग्रापात्र" है। इस पात्र का यह नाम इसके अनुसन्धान-कर्त्ता एलेक्जेडर फ्राशग्रो के नाम के आधार पर रखा गया है। एलेक्जेंडर फ्राशोग्रो को यह पात्र इटली के चिउसी नामक स्थान पर मिला था। इस पात्र पर चित्रकार और पात्रकार एर्गोटिमोस दोनो के ही हस्ताक्षर हैं।

समूचे पात्र को पाँच हल्की पट्टियो मे बाँटा गया है और उन पट्टियो मे २५० आकृतियाँ अकित करके १० जुलूसो के चित्र दिखाये गए हैं।

रगो मे परिवर्तन—ईसा से ५०० वर्ष पहले तक यूनान वालो की चित्रकारी जो वह पात्रो पर ही अधिक करते थे, दो ही प्रकार की होती थी। एक मे काले रग से रेखाकन किया जाता था और दूसरे मे रेखाकन के लिए लाल रग का प्रयोग किया जाता था। इसके बाद चित्रकारी का क्रम बदल गया और कही-कही श्वेत और बैगनी रग का प्रयोग चित्रकारी मे दिखाई देने लगा। लाल और काले रग के भरने का ढँग भी बदला। अब कलाकार अपनी आकृति को लाल रग की पृष्ठभूमि और शेष आकृति काले रग से रग देता था।

लाल रग की आकृतियो के बनाने वाले यूफ्रेनियस, ड्यूरिस, यूथाइमीडीज़ और पेम्फिय जैसे महान् कलाकार थे और यह काल पेरीक्लीज युग से पहले का था। इसके बाद चेहरे की भावभगिमा और शरीर की मुद्राओ मे वैयक्तिक प्रवेश होना आरभ हुआ और ब्राइडास ने मधुबालाओ तथा सुरा-देवता की पुजारिनो की कामाधतापूर्ण लीलाओ के चित्रण मे अपने समय के सभी कलाकारो को मात कर दिया। उन काम-वासना उत्तेजक चित्रो की ख्याति उस काल मे पहले तो बहुत बढी, परन्तु अन्त मे उन चित्रो को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा।

पतन का आरम्भ—इस समय अर्थात् ईसा के ५०० वर्ष बाद से ग्रीस की चित्रकला का ह्रास होना आरम्भ हुआ और रोमन काल तक कुछ अपना अस्तित्व बनाये रखने के बाद, जब इटली के पोस्टम तथा टारेंटम नामक स्थानो के चित्र-युक्त पात्र ग्रीस से अच्छे बनने लगे तो ग्रीस की चित्रकला का अन्त हो गया। ग्रीस की चित्र कला के पतन का प्रमुख कारण यह भी था कि इटली के प्रान्तो के बर्तन ग्रीस के चित्र-कला युक्त बर्तनो की अपेक्षा अधिक भडकीली चित्रकारी मे ओत-प्रोत होते थे। यद्यपि अपनी इस कमी को पूरा करने के लिए ग्रीस के कारीगरो ने काफी प्रयत्न किये और उन्होंने चित्रो मे भडकीलापन लाने का प्रयत्न किया, परन्तु वह रोमनो की टक्कर न ले सके।

तनाग्रा मे बनी हुई, उस काल की जो मूर्तियाँ मिली है, उसमे ग्रीस वालो के उत्तेजनापूर्ण मनोभावो और दैनिक जीवन का चित्रण पर्याप्त हुआ है, जितना कि इससे पहिले के युग मे कही नही पाया जाता, परन्तु फिर भी इनमे रोमनो की बराबरी

करने की शक्ति नही है । हालाकि ग्रीस कलाकारो ने इन चित्र-युक्त मूर्तियो को, जिनमे अधिकाश स्त्रियो की मूर्तियाँ ही है, सभी प्रकार के वेश-विन्यासो से सुशोभित किया और अन्य लीलाओ के आभास भी अपनी कला से मूर्तियो मे दिखाने के प्रयत्न किये ।

चित्रकला की दृष्टि यूनान वालो ने अपने इस अन्तिम काल मे स्त्रियो को प्रधान बनाकर ही चित्रयुक्त मूर्तियाँ बनाईं और यही मूर्तियाँ उन दिनो मुर्दों के साथ दफन भी की जाती थी ।

इन मूर्तियो मे जो अधिकतर समाधियों से ही मिलती है, स्त्रियों की मूर्तियो के साथ कुछ खिलौने भी है । स्त्रियो की मूर्तियाँ शृगार करते, खडे होते, बातचीत करते हुए, नाचते हुए, विश्राम करते हुए, केलि करते हुए, पक्षियो के साथ विनोद करते हुए, तो हैं ही, इनके अलावा नग्न मूर्तियाँ भी हैं ।

सिक्कों के चित्र—ग्रीस मे सिक्को के ढालने का प्रचलन ईसा से ७०० वर्ष पू० आरभ हुआ माना जाता है । सिक्के ढालने की प्रथा का आरम पहिले लाइडिया मे हुआ और वहाँ से सिसली आदि नगरो मे फैला । सीरेकुज नगर के चार घोडे वाले रथो के चिह्नों से युक्त सिक्को तथा ६ठी और ५वी सदी मे बने सिक्को मे जो चित्रकारी की दृष्टि से कारीगरी पाई जाती है, वह बाद मे नही रही । बाद के सिक्को मे, यथार्थवादी चित्राकन तो हुआ, लेकिन उनकी नाप-जोख जो चित्र के लिए उचित होनी चाहिए थी, नही रही । पेरीक्लीज और सिकन्दर के समय ही सिक्को की पहली जैसी रूपरेखा नही रही थी । पहले वाली सजीवता नष्ट हो चुकी थी और उसका स्थान कोमलता तथा निर्जीव यथार्थता ने ले लिया था । उन दिनो जहाँ-जहाँ ग्रीक लोगो का आधिक्य था, अलग-अलग ढग के सिक्के थे । ग्रीक द्वीप-समूह के अलग थे तो सिसली के अलग थे और एशिया माइनर के दोनो से अलग थे । वजन और आकार-प्राकार तथा चित्रकारी की दृष्टि से कोई सिक्का दूसरी जगह के सिक्के से मेल नही खाता था । इन सिक्को पर मनुष्यो के सर भाग के चिह्न थे, पशुओ, रथो और पताकाओ के अकन थे और कही-कही दूसरे प्रतीको को भी स्थान दिया गया था ।

सिक्को के अतिरिक्त जवाहरातो पर भी कारीगरी के नमूने प्राप्त हुए हैं । इन नमूनो मे जवाहरातो पर मूर्तियाँ उसी प्रकार से खुदी हुई हैं, जिस प्रकार मुहरो पर खुदी होती हैं । बहुमूल्य पत्थरो को तराशकर मूल्याकन करने की कला जो क्रीट मे फली-फूली थी, कुछ अवशेषो के रूप मे आज भी सुलभ है । जिनमे टालमी द्वितीय और उसकी पत्नी आर्सोनोई की आकृति का एक चित्र है जो आजकल वियेना-सग्रहालय मे सुरक्षित है । ग्रीस मे इस कला का कारीगर पाईर्गोटिलिस नामक व्यक्ति था, जिसके मुकाबले मे आज तक भी ऐसा कारीगर ग्रीस मे नही जन्मा । यह शिल्पकारी विभिन्न वर्ण के दो पत्थरो के योग मे की जाती थी और कभी-कभी तो पत्थरो के रगो की सख्या सात-आठ और नौ तक भी हो जाती थी ।

देवालयों का निर्माण—१९वी शताब्दी तक भी ग्रीस की राजधानी एथेन्स के सम्बन्ध मे लोगो को कोई जानकारी नही थी । उन दिनो प्राचीन ग्रीस की राज-

धानी एथेंस को जो बाईजेंटाइन साम्राज्य का एक नगर-मात्र था, केवल यूरोप से कुस्तुनतुनिया जाने वाले राजदूतो के रास्ते का एक विश्राम-स्थल माना जाता था। इसलिए कभी किसी भी विद्वान् ने यूनान के प्राचीन अवशेष, एथेंस की यात्रा इस उद्देश्य से नही की कि वह वहाँ की प्राचीनता के बारे मे खोज-बीन करे। इसलिए यूनान की प्राचीनता का इतिहास १९वी सदी तक प्राय लोगो की आँखो मे बचा ही रहा।

सब से पहले १९वी शताब्दी के आरम्भ मे जेटी के देवालय की कुछ ग्रीक मूर्तियो ने बवेरिया नरेश का ध्यान आकर्षित किया, जिन्हे वह खरीद कर अपने म्युनिख के बने सग्रहालय मे ले गये। इसके कुछ समय बाद लार्ड एलगिन ने जो उन दिनो कुस्तुनतुनिया मे ब्रिटेन के राजदूत थे, एथेंस के एक्रोपोलिस से पार्थेन के द्वारपट्ट बीच के भाग का अधिकाश तथा अन्य महात्त्वपूर्ण मूर्तियो को दूसरी जगह ले जाने की अनुमति प्राप्त करली और उन्हे वे लदन मे सुरक्षित रूप से रखने के लिए ले गये।

इन मूर्तियो के लन्दन पहुँचते ही, यूरोप के पुरातत्त्ववेत्ताओ का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ और वह ग्रीक प्रदेश के अनुसधान के लिए लोग चल पडे। फ्रेंच लोग नेलोपोनेसस, डेल्फा और डीलोस, जर्मनो ने ओलम्पिया, अहिनी और परगेगम, आस्ट्रियनो ने इफीसस, अमेरिका वालो ने आर्गोस और सार्डिस तथा ब्रिटेन वालो ने कोरिन्थ की जाँच की तथा ग्रीक लोगो ने स्वय एक्रोपोलिस, इल्यूसिस और एपिडाइरस की भूमि को खोदना शुरू किया।

इन अनुसधानो मे प्राचीन ग्रीक-कला के अनेको उदाहरण मिले। प्राक्-यूनानी काल मे लोग बडे-बडे प्रासाद, समाधियाँ खजाने और भूल-भुलैयो वाले मकान तो बनाते रहे, परन्तु उन्होने कोई मन्दिर आदि खडा नही किया। इसीलिये उस काल की एक भी मूर्ति क्रीट आदि मे कही नही मिली।

प्राक्-यूनानी दुधारे, कुठार की आकृतियाँ, क्रास, स्वास्तिक या पचकोने सितारे की तरह केवल तान्त्रिक प्रतीको की तरह थे।

बाद मे जब ग्रीस मे देवी-देवताओ की कल्पना करली गई और उनके भी वशज उत्पन्न होने लगे तो उनके लिए वास-स्थान की आवश्यकता भी पडी और प्रारम्भ मे ग्रीक प्रासादो के गर्भ-गृह ग्रीक देवालयो के रूप मे बदल गये। यही गर्भ-गृह आगे चलकर आसोस, सिलीनस और रेग्नुएटे के प्रासादो और अन्त मे ओलम्पिया मे बने हुए नूनो या एथेन्स के पार्थेन के ढग के विशाल देवालय मे परिवर्तित हो गया। पहले-पहले प्राग्-यूनानी काल का एक गर्भ-गृह इलिसस के आदि कालीन मन्दिर के रूप मे परिणत हुआ।

ग्रीक मन्दिरो की स्थापत्य-कला को तीन शैलियो मे विभक्त किया जा सकता है। डोरिक, आयोनिक और कोरियन्थन। इन शैलियो मे डोरिक कठोर और सादी है जो अधिकतर ग्रीस के पश्चिमी भाग के रहने वालो और मध्य भाग वालो ने अपनाई।

इस डोरिक-शैली के प्रधान भवन ओलम्पिया, डेल्फी, एथेन, कोरिंथ, सिसली और दक्षिणी इटली के मन्दिर हैं ।

दूसरी शैली है आयोनिक, जिसमे सजावट की मात्रा अधिक है । जिसे एशियाई ग्रीक लोग पसन्द करते थे । इस आयोनिक शैली के प्रधान स्मारक, इफीसस, सारीडम, सेमास, मिलीरस और हेलीकारनेसस के मन्दिर है ।

तीसरी शैली कोरिंथियन के खम्भो की बनावट, उपर्युक्त दोनो शैलियो मे भिन्न रहती थी और उस शैली की कोमल सजावट मे स्त्री-रुचि का पुट प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

ग्रीक मन्दिरो की छतो के हिस्सो को देखने से यह प्रकट होता है कि उनकी बनावट मे और लकडी के जोडदार काम मे बहुत अधिक समानता है सम्भवत ग्रीक स्थापत्यकारो ने लकडी के काम की नकल की है । इस लकडी के काम की नकल करने के कारण ही उनमे उच्चता सभव हो पाई है ।

सभ्यता का सम्पादन—जब सजातीय परिवार बढ गये, तब नगरो का विस्तार होना स्वाभाविक था । अत शासन-व्यवस्था और सामाजिक-व्यवस्था मे पुन सम्पादन की आवश्यकता पडी । इन नगर-राज्यो की एक विशेषता और भी थी । यह कभी भी परस्पर नही मिले । यदि कभी एक ने दूसरे से मिलने का प्रयत्न किया भी, तब उसे भी सफलता नही मिली । इनका मेल-मिलाप यदि कभी होता था, तो केवल युद्ध-क्षेत्र मे ही होता था । अत यह मिलकर उन्नति करने की अपेक्षा अलग-अलग अकेले ही अपनी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओ को मजबूत बनाते रहे । लोहे के प्रयोग का इन्हे ज्ञान था । साइप्रस मे ताँबे की बहुतायत के कारण यह धातुओ मे दूसरा स्थान ताँबे को दे चुके थे । एटिका की चाँदी और सगमरमर की खानो का यह विकास करने मे लग गये थे, जिसमे इन्हें मुद्राएँ और मूर्तियाँ बनाने मे सहायता मिली । इन्होंने मिस्र से चीनी और शीशे के बर्तन, कघे-कघियाँ गहने तथा हाथी दाँत की वस्तुएँ मँगाकर अपने यहाँ उनकी नकल करनी प्रारम्भ की । एक ओर इन्होने जहाँ मिस्र की वस्तुओ की नकल करना प्रारम्भ किया, दूसरी ओर फोनिश लोगो की लिपि को सुधार कर उसमे लिखना भी प्रारम्भ कर दिया । इसके साथ ही ७०० ई० पू० तक एथेन्स के आस-पास बसे हुए छोटे-छोटे राज्यो को मिलाकर एक कर लिया ।

राजतन्त्र का प्रारम्भ—प्रारम्भ मे एथेन्स राज्य के आस-पास जितने राज्य थे वह अपने यूथो के मुखियाओ अथवा सरकारो के अधीन थे । ८०० ई० पू० तक एथेन्स मे राज्यो के सचालन की यही व्यवस्था रही । उस समय यह यूथ अपने रोजगारो के साथ-साथ आस-पास मे लूट-खसोट भी करते थे और सामुद्रिक डकैतियाँ भी डाला करते थे । अत इन कर्मों के कारण यह काफी मालदार हो चुके थे ।

७५० और ७०० ई० पू० के मध्य एथेन्स के आस-पास छोटे-छोटे राज्य मिल गये और एथेन्स के प्रधान पुरोहित को ही राजा बनाकर, उसके अधीन हो गये । परन्तु एथेन्स का यह राजा सदैव कुलीन वर्ग की कठपुतली रहता था । इसका प्रमुख कारण यह था कि राज्य के सभी ऊँचे-ऊँचे पदो पर इन कुलीन लोगो का ही अधि-

कार था। राजा की सहायता के लिए जो समिति नियुक्त हुई थी, उसमे भी अधिकतर यह कुलीन लोग ही थे। साथ ही राजा की सहायता के लिये दो व्यक्ति और चुने जाते थे। इनमे एक व्यक्ति **सेनापति** होता था और दूसरा **आर्खन** (Archon) नामक शासक होता था। इन दोनो का चुनाव भी कुलीन वर्ग के व्यक्तियो से ही होता था। और वही राज्य के वास्तविक शासक थे। उस समय तक **असीरिया अथवा मिस्र** की भाति **एथेंस** मे कोई लिखित कानून नही था। राजा की आज्ञा कानून थी। कुलीनो के अत्याचार विधान थे। अत वह प्रजा से मनमानी लूट-मार करते थे। किसानो मे यह जितना अनाज चाहते, वसूल करते थे।

कानूनो की स्थापना—प्रजा की चीख-पुकार और अव्यवस्था से तग आकर, ६२१ ई० पू० तत्कालीन आर्खन ड्रेको नामक व्यक्ति ने अपनी सूझ-बूझ से कुछ कानून बनाये। यह कानून चूकि उसने अपने बुद्धि-बल से ही बनाये थे, और वह भी कुलीन वर्ग का व्यक्ति था। अत जितने कठोर कानून वह बना सकता था, उतने ही उसने बनाये।

उद्योगों का विस्तार—इन कानूनो से यह लाभ अवश्य हो गया कि नगर का अस्त-व्यस्त व्यापार तथा उद्योग व्यवस्थित हो गया। जैतून का तेल और शराब मुख्य उद्योग बने। **मिलेटस** नगर से ऊनी कपडे, **कैल्सिस** से कासे के बर्तन तथा ईरान आदि से अन्य विलास-सामग्री आने लगी। परन्तु व्यापारियो द्वारा बाहर से अन्न मगाकर बेचने के कारण, कृषको की स्थिति दयनीय हो गई। उन्हे अपने बच्चो को दास के रूप मे बेचने तक के लिए विवश होना पडता था। उस समय महाजनो के यहाँ जहाँ किसानो की जमीने रहन थी, वहाँ जमीनो के मालिक किसान भी बधक थे।

कानूनों मे सशोधन—देश के इन कठोर कानूनो मे सशोधन **सोलन** नामक व्यक्ति ने किया। यह व्यक्ति ५९५ ई० पू० **आर्खन** से निर्वाचित किया गया था। स्वय कुलीन-वशीय होते हुए भी यह अत्यन्त उदार और न्यायप्रिय शासक था। उसने कानून मे सशोधन करके उन कृषको को महाजनो से मुक्ति दिला दी जो ऋण के कारण इनके यहाँ बन्धक थे। इसके साथ ही उनकी जमीनो को भी उन्हे वापस कराया। इस व्यक्ति ने शासन-सभाओ के द्वार सब नागरिको के लिए खोल दिये, किन्तु फिर भी राज्य की समस्त सत्ता पर कुलीन लोग ही छाये रहे।

क्राति-प्रतिक्राति—६०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक का समय एथेन्स मे क्रातियो और उपक्रातियो का रहा। सैनिक अधिकारियो ने, अपनी शक्ति के बल पर राज्य-सभाएँ भग करके कुलीनो को शासन-व्यवस्था से निकाल बाहर किया और स्वय निरकुश शासक बन बैठे। इसके पश्चात् कुलीन वर्ग ने, जन-साधारण को साथ लेकर स्पार्टा की सहायता से ५१० ई० पू० क्राति की और इनसे सत्ता पुन छीन ली। एथेन्स मे ५६० ई० पू० पूर्णरूपेण निरकुश शासन की स्थापना पिसिस्ट्रेटस नामक व्यक्ति ने की थी और यह लगातार ३० वर्ष तक एथेन्स का सैनिक शासक बना रहा। इसके पश्चात् इसके पुत्रो ने **टायरेण्ट** के रूप मे अनेक जन-सुधार के कार्य किये, किन्तु

वह जनता मे लोकप्रिय न हो सके। इसी कारण स्पार्टा की सहायता से क्राति करने वाला कुलीन वर्ग पुन ५१० ई० पू० यहाँ अल्पतन्त्र (Oligarchy) स्थापित करने मे सफल हो गया।

क्लिस्थेनीज की नयी व्यवस्था—(५१० ई० पू० से ४९३ ई० पू० तक)

ग्रीस के नागरिक जीवन मे यह व्यक्ति ५१० ई० पू० की क्राति के साथ आया और अल्पतन्त्र का प्रधान बनाया गया। इसने अपने पद पर आते ही, अल्पतन्त्र को लोकतंत्र मे परिणित कर दिया। राज्य के लिए जो कौसिल बनाई गयी, उसके सदस्यो की सख्या बढाकर ५०० व्यक्ति कर दी गयी, जिसमे कुलीन वर्ग से अधिक प्रतिनिधित्व गरीब नागरिको को दिया। इसके पश्चात् इसने सेना मे भी सुधार किया और किसी भी सैनिक को कर्तव्य-पालन मे ढिलाई या लापरवाही करने पर निर्वासन का दण्ड निश्चित किया। इस कानून के अनुसार परिषद की सलाह से नागरिक भी निर्वासित किये जा सकते थे। अत क्लिस्थनीज को यूनानी लोकतन्त्र का पिता कहा जा सकता है।

थीमेस्टोक्लीस—(४९३ ई० पू० से ४७३ ई० पू० तक)

क्लिस्थेनीज की परिवर्तित शासन-व्यवस्था के कारण एथेन्स-राज्य पर्याप्त शक्तिशाली हो गया था। अत क्लिस्थेनीज के पश्चात् मेस्टोक्लीज लोकतत्र का प्रधान निर्वाचित हुआ और ४७३ ई० पू० तक यह प्रधान रहा। इसके समय मे यूनान मे कई घटनाएँ घटी। इसे ईरान के साथ भी कई युद्ध लडने पडे। जिनमे इसने स्पार्टा और अन्य यूनानी राज्यो को साथ लेकर सफलतापूर्वक युद्ध किया। इन युद्धो मे पहला युद्ध ४९० ई० पू० मे मराथान के मैदान मे लडा गया। इससे पहिले ४९९ ई० पू० मे लेड (Ladcisland) द्वीप, जो मिलेटस (Miletus) नगर के पृष्ठ भाग मे अवस्थित था, जल युद्ध मे यूनानियो के ३५३ जहाजो के जल-बेडे को ईरानी जहाजो ने पूर्णत परास्त कर दिया था और उनके मिलेटस नगर पर कब्जा करके वहाँ के सभी पुरुषो की हत्या करवा दी और स्त्री-बच्चो को दजला नदी के मुहाने पर, अम्पे (Ampe) नामक स्थान पर भेज दिया। विद्रोह के दमन की यह बर्बर-पद्धति असीरिया सम्राट् टिगलथ पिल्लेसर (प्रथम) की ईजाद थी। इस विजय से उत्साहित होकर दारा ने यूनान पर आक्रमण करने की योजना बनाई थी। उसे यह विश्वास हो गया था कि यूनानी नगर राज्यो मे कतई सगठन नही है। वे एक दूसरे की सहायता नही कर सकते। उधर एशिया माईनर के यूनानी राज्यो ने, ईरानियो के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। फलत थ्रेस और मेसोडोनिया (मकदूनिया) पुन स्वतन्त्र हो गये। इस विद्रोह के दमन के लिए दारा ने अपने भाँजे मार्डुनियस को विद्रोह के दमनार्थ भेजा। उसने काफी सफलता अपने कार्य मे प्राप्त की थी, परन्तु एथेन्स और इरीट्रिया को विजय नही कर सका।

मराथान-युद्ध—४९० ई० पूर्व मे लडे गये इस युद्ध का मुख्य कारण दारा द्वारा इरीट्रिया के विद्रोहियो को दण्ड देना था और ईरान के पक्षपाती, निर्वासित राजा हिप्पियस को एथेन्स का राजा बनवाना था। गद्दारी के अभियोग मे इसे एथेन्स से निकाल दिया गया था। इस युद्ध के लिए दारा ने अपने दो मुख्य सेनापति देतिस (Datis) और्त फारनिस को चुना। अत ईरानी सेना आईसेरियन सागर होती हुई, नेक्सोस पहुँची और विजय के बाद लोगो को गुलाम बना लिया। फिर वह यूबोइया (Euboea) की ओर बढी। रास्ते मे डेलोस के मन्दिर को इन्होने नही छेडा, परन्तु इरीट्रिया पहुँचकर काफी कत्ले-आम किया। बहुत से प्राणो के भय से पहाडियो मे जा छिपे, बन्दियो को एलाम प्रान्त भेज दिया गया। इरीट्रिया की लडाई मे एथेन्स वाले केवल दर्शक-मात्र रहे। उन्होने इरीट्रिया की कोई सहायता नही की।

इसके पश्चात हिप्पियस की सलाह से ईरानी सेना एथेन्स के उत्तर-पूर्व एटिका मे स्थित—**मराथान-खाडी** की ओर चल दी। यहाँ ईरानी जल-बेडे के लिए अच्छा स्थान था और एथेन्स की चहार-दीवारी भी अत्यन्त निकट हो जाती थी। एथेन्स वालो ने अपनी १० हजार पैदल-सेना भेजकर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। उन्हे विश्वास था कि इससे अधिक सेना की सहायता उन्हे स्पार्टा से मिल जायेगी। परन्तु स्पार्टा वालो ने ठीक समय पर **पूर्णिमा** से पहले युद्ध करने से इन्कार कर दिया। कई दिनो तक दोनो सेनाएँ आमने-सामने पडी रही। अन्त मे एथेन्स के सेनापति **पलियार्क** ने ईरानी सेना पर आक्रमण करके युद्ध आरम्भ कर दिया। यह युद्ध व्रन की घाटी मे लडा गया और उसी के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध हुआ। इस युद्ध मे ईरान की ६ हजार सेना मारी गई जबकि एथेन्स के केवल २०० सिपाही मरे। अत इस युद्ध से यूनानियो को विश्वास हो गया कि यूनानी नगर राज्यो की सघबद्ध सेनाएं ईरानियो को पछाड सकती हैं। इसी कारण उनका हौसला काफी बढ गया।

सालमिस का जल-युद्ध— यह जल-युद्ध २३ सितम्बर ४८० ई० पू० ईरानी सेना से लडा गया। इस युद्ध के समय ईरान का सम्राट्, दारा का पुत्र **अटोसा** का लडका अक्ष्यर्ष (जारक्सस) था। दूसरी ओर एथेन्स के साथ इस बार स्पार्टा की सेना भी मैदान में आ चुकी थी। यूनानी इतिहासकार **हेरोडेट्स** ने अक्ष्यर्ष की जल-सेना सहित, २३ लाख सैनिको की सेना बताई है, जिसमे यूनानियो और ईरानियो सहित सभी एशियायी देशो के लोग थे, जो अपनी-अपनी पद्धति से लडते थे। अत ईरानी अमर सैनिको के नेतृत्व मे यह सेना हेलेस्पाट की खाडी पारकर, यूनान मे घुस गई। मेसीडोनिया और थेसाली पर अधिकार करते समय तक यूनानी सेना से छुटपुट झडपो के अतिरिक्त कही इनकी टक्कर नही हुई। बडा युद्ध 'थर्मापाली की घाटी' मे हुआ। इस घाटी की रक्षा स्पार्टा का सेनापति **लिओनिदास** अपनी ७ हजार स्पार्टाइन सेना लिए कर रहा था। परन्तु इस युद्ध मे वह सेना सहित मारा गया। इसके बाद स्पार्टा वालो से यूनानियो का दूसरा जल-युद्ध हुआ। यह युद्ध यूबीया द्वीप के पास लडा गया। इस युद्ध मे स्पार्टा

की जल-सेना के सेनापति यूरीविआडीस ने ३० ईरानी जहाजो को कैद कर लिया, परन्तु रात को ही यूनानी अपना वेडा लेकर भाग खडे हुए । इसके वाद ईरानी सेना ने मध्य यूनान मे घुसकर एथेन्स पर अधिकार कर लिया और वहाँ के सारे मन्दिरो को अग्नि की भेटकर दिया ।

सलामीस की खाडी का युद्ध—यूनानियो के पास अब केवल यही एक विकल्प था कि वह जल-युद्ध मे किसी प्रकार ईरानियो को हरा दे । परन्तु इस युद्ध के लिए स्वय यूनानी सेनापतियो मे मतभेद था । एथेन्स का राजा **थीमेस्टोक्लीस** The Mistocles जो स्वय ही एथेन्स की सेना का सेनापति भी था इस मत का था कि जल-युद्ध **सलामीस** की खाडी मे शुरू किया जाए, इसमे हम उनके भारी जहाजो को आसानी से परास्त कर देंगे, क्योकि उनके भारी जहाज आसानी से वहाँ घूम फिर नही सकेगे । उस समय वहाँ यूनानी शरणार्थी भी वहुत इकट्ठे हो गए थे । अत **थीमेस्टोक्लीस** के लिए ईरानियो से उन्हे वचाना भी अत्यन्त आवश्यक था । इसके विपरीत **पेलोपनेसो** के सैनिक कोरिन्थ के उपमहाद्वीप के निकट जल-युद्ध के लिए जोर दे रहे थे । अन्त मे थीमेस्टोक्लीस की सलाह ही मान ली गई और सलामीस की खाडी मे ईरानी वेडे पर यूनानी वेडे ने आक्रमण कर दिया । पहिले तो यूनानी वेडा भाग निकला । परन्तु यह युद्ध उनके जीवन-मृत्यु का युद्ध था । अत यूनानी वेडे ने पुन पलटकर आक्रमण कर दिया । इस वार के युद्ध मे ईरान के दो-सौ और यूनान के सैतालीस वडे जहाजनष्ट हुए । ईरानी वेडा-युद्ध-स्थल छोडकर फ्लेरन (Phaleron) की ओर चल पडा । यूनानी वेडे का साहस उसका पीछा करने का न हुआ ।

प्लेटिआ-युद्ध—ईरान के साथ यूनानियो का यह युद्ध ४७९ ई० पू० **प्लेटिआ** के मैदान मे हुआ । इस युद्ध मे ईरानी सेनापति **मार्दोनियस** की सेना मे दो लाख ईरानी और पचास हजार यूनानी सिपाही थे । इसके विपरीत मुकावले के लिए यूनानियो के पास एक लाख सेना थी । इस युद्ध मे ईरानी सेनापतियो मे आपस मे मतभेद था । **मार्दोनियस** से **अर्तावजास** सहमत नही था और वह चालीस हजार सेना का सेनापति था । अत मार्दोनियस के अमर सैनिको ने यूनानियो पर आक्रमण किया और उन्होने यूनानी सेना के तीन भागो को तहस-नहस कर डाला परन्तु स्पार्टा के सैनिको ने एथेन्स की सेना की सहायतार्थ प्रत्याक्रमण कर दिया । इस युद्ध मे ईरानी सेनापति मार्दोनियस मारा गया । एथेन्स के भागते सैनिक लौट पडे और ईरानियो को चीरते हुए स्पार्टा वालो से जा मिले । लडाई के अन्त मे मार्दोनियस की सेना केवल तीन हजार वची थी । शेप सारी की सारी मारी गई । अर्तावजास अपनी चालीस हजार सेना को विना लडाए ही लौट चला । इसके वाद मिसैल के जल-युद्ध मे (Batttel of Mycale। इन्होने ईरानियो के वेडे को नष्ट कर डाला । इन युद्धो का परिणाम यह हुआ कि ईरान की सैनिक-शक्ति की कमर टूट गई, समस्त यूनानी राज्य ईरानी दासता से मुक्त हो गए ।

यूनानी सगठन—इन युद्धो के पश्चात् ४७७ ई० पू० यूनानियो ने अपने को सघवद्ध करना प्रारम्भ किया, क्योकि इनमे जातीय एकता तो थी, परन्तु राज्यीय एकता

नही थीं। युद्ध के समय सेनापतित्व करने लिए इनमे झगडे होते थे। एथेन्स स्पार्टा, थेसाली, कोरिन्थ आदि के सेनापतियो मे परस्पर झगडे होते थे। यह लोग अपने कुसस्कारो—भविष्यवाणियो, सूर्य-चन्द्र ग्रहण आदि के विचारो के कारण अक्सर लडाई से हट जाते थे अथवा आते हुए भी रास्ते मे डेरे डालकर बैठ जाते थे। अत इन युद्धो के बाद इन लोगो ने अपनी एकता महसूस की और **डेलोसघ** नामक सघ बनाकर सघबद्ध हो गये। परन्तु स्पार्टा ने अब भी अपनी पृथक् सत्ता रखी। उसने एथेन्स, के सघ-राज्य से आतकित होकर अपने आस-पास के नगर-राज्यो का **पेलोपोइनेशियन** नामक सघ बनाया। इसके सघ के बनने पर एथेन्स और स्पार्टा के सघो मे झगडे बढ गए। इन दोनो सघो का बडा युद्ध ४५९ ई० पू० से ४४६ ई० पू० तक चला। इस युद्ध मे स्पार्टा सघ ने एथेन्स वालो को पूरी तरह से पराजित किया। उसकी राजनीतिक प्रभुता भी जाती रही। दूसरा युद्ध ४३१ ई० पू० से ४२१ ई० पू० तक चला तीसरा युद्ध ४१३ ई० पू० से ४०४ ई० पू० तक चला। इन युद्धो मे एथेन्स की जनहानि तो अपार हुई, किन्तु तीन महान् विचारक—**सुकरात, प्लेटो और अरस्तू** उसे मिले।

स्पार्टा ईरान-युद्ध—एथेन्स से निपट कर स्पर्टा-सघ ने ईरान से टक्कर लेने का निश्चय किया। परन्तु ईरानी छत्रप **फर्नाबजाज** ने (३९४ ई० पू०) स्पार्टा के जहाजी बेडे को पूरी तरह हरा दिया। अन्त मे स्पार्टा के दूत **एन्टाल काईडास** और ईरानी सम्राट् मे सूसा मे सधि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए। इस सधि मे ईरानी सम्राट् ने यूनानी राज्यो की घरेलू स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। स्पार्टा के साथ पिछली लडाइयो के कारण एथेन्स ईरान का मित्र बन चुका था, अत, **लेयनस इम्ब्रोस** और **स्कीरोस** को एथेन्स को भेंट कर दिया। इस सधि के पश्चात् ईरानी सम्राट् की प्रतिष्ठा इतनी बढ गई कि वह यूनानी नगर-राज्यो के झगडो मे सरपच का कार्य करने लगा।

पेरीक्लीज—इस व्यक्ति के समय को एथेन्स का **स्वर्ण-युग** कहा जाता है। इसके समय राज्य की सारी शासन-व्यवस्था नागरिको की असेम्बली के हाथ मे थी। सरकारी अधिकारियो की नियुक्ति के अतिरिक्त सधि और युद्ध करने का अधिकार भी इसी के हाथ मे सुरिक्षत था। इस ५०० आदमियो की असेम्बली का चुनाव प्रतिवर्ष लाटरी द्वारा होता था। इसके साथ ही जनता १० सेनापतियो का भी चुनाव करती थी। यह सेनापति राज्य के मामलो मे काफी अधिकार प्राप्त व्यक्ति होते थे।

न्याय-व्यवस्था—उस समय न्याय-व्यवस्था भी अत्यन्त उत्तम थी। न्यायालय मे ४०१ जज होते थे, जो लाटरी-पद्धति द्वारा ही निर्वाचित होते थे। जजो और असेम्बली सदस्यो को भत्ता भी दिया जाता था। **पेरीक्लीज** ने ४३० ई० पू० अपने एक भाषण मे कहा था—"हम सार्वजनिक कार्यों मे दिलचस्पी न लेने वाले व्यक्ति को निकम्मा समझते हैं।" इस समय ईरान मे अर्ता अक्ष्यर्प (प्रथम) राज्य कर रहा था।

प्रजा तन्त्र का अन्त—लोकतन्त्र की स्थापना के पश्चात यहाँ अधिकारो के लिए पार्टीबाजी का जोर रहा। वस्तुत यह संघर्ष लोकतन्त्र और अल्पतन्त्र के मध्य था।

अल्पतन्त्र के समर्थक धनिकवर्ग के लोग थे, जबकि लोकतन्त्र मे अन्य लोगो से पहुँचने के कारण उनकी दाल कम गलती थी। इतिहासकार बार्कर ने अपनी पुस्तक 'ग्रीक पोलिटिकल थ्योरी' मे लिखा है—"यहाँ पर गुलामो की सख्या ८० हजार थी। आबादी की दृष्टि मे प्रति चार व्यक्तियो के पीछे एक दास था। एक लम्बी सख्या विदेशियो की थी। अत इस अनुपात के अनुसार शासन-व्यवस्था मे केवल १२ प्रतिशत लोग ही भाग लेते थे। अत इस व्यवस्था को लोकतन्त्र नही कहा जा सकता।"

स्पार्टा—यूनान के नगर-राज्यो मे एथेन्स के बाद, स्पार्टा का नम्बर आता है। अपने ऐतिहासिक काल मे इसके एथेन्स के साथ युद्ध भी हुए और एथेन्स की सहायतार्थ दूसरे देशो से भी यह लडा। अपने वीर-काल मे यह सब मिलकर भी अपने शत्रुओ—ईरान—रोम आदि राज्यो से लडे, परन्तु फिलिप के समय तक यह वस्तुत अलग-अलग ही रहे। देश की एक इकाई बनकर उन्नति करने का इन्होने बहुत कम प्रयत्न किया। उनके इस पृथकृता-वाद मे वस्तुत यूनानी दार्शनिको का भी बहुत बडा हाथ था। वह यूनान को शक्तिशाली, योद्धा राष्ट्र के रूप मे तो अवश्य देखना चाहते थे, किन्तु देश की उन्नति पृथकता-वाद मे ही मानते थे। आश्चर्य तो यह है कि यूनान के यह दार्शनिक और इतिहासकार—चिन्तनशील और साहित्यक व्यक्ति होते हुए भी, नागरिक कर्तव्य के नाम पर लम्बे-लम्बे बल्लम और बर्छे लेकर सेना के साथ युद्ध करने जाते थे और दिन भर की लडाई के पश्चात शाम को अपने सैनिक-शिविरो मे आकर इतिहास लिखते थे, अथवा ज्ञान चर्चा किया करते थे। इतिहासकार हेरोडेट्स तथा टालेमी ईरानादि देशो के साथ हुई लडाइयो मे लड चुके थे। इन्ही की भाँति सुकरात, अरस्तू भी कई देशो के साथ हुए युद्धो मे लडे थे। फिर भी इन्होने यूनान को एक सयुक्तराष्ट्र अर्थात एक राजा और एक झडे के नीचे लाने का प्रयास कभी नही किया।

स्पार्टा की रूपरेखा—यह नगर ग्रीस के दक्षिण-पूर्वी भाग मे स्थित था। इस नगर-राज्य के पास १०० मील क्षेत्र का एक विशाल मैदान था, जो तीन ओर पहाडियो से घिरा हुआ था और चौथी दिशा मे समुद्र की ओर खुला हुआ था। अत यह एक ही मैदान, स्पार्टा-राज्य के नागरिको की अन्न की पूर्ति कर देता था। अत स्पार्टा के लोग जहाँ खाद्य-समस्या के बारे मे निश्चित थे, वहाँ बाह्य-आक्रमणो से भी पर्याप्त सुरक्षित थे। परन्तु नगर के तीन ओर पहाडियाँ होने के कारण उन्हे व्यापार करने मे बडी असुविधा थी।

स्पार्टा की सभ्यता के सस्थापक—स्पार्टा की सभ्यता के सस्थापक वह आर्यन (इतिहास कारो के अनुसार डोरियन) लोग थे, जिन्होने लगभग १ हजार ई० पू० यूनान पर आक्रमण किया था और एथेंस आदि पर अधिकार करने के बाद, दक्षिणी यूनान के ईजियन सभ्यता के प्रसिद्ध नगर ट्राय के युद्ध के बाद यहाँ के विशाल मैदान पर आबादी बसा कर रहना आरम्भ कर दिया था। इस विजेता जाति के सरदारो ने बसने से पहिले ही मैदान की सारी जमीन परस्पर बाँट ली थी। इन लोगो के साथ

यूनान की अन्य जातियो के लोग भी थे। इनके साथ एथेन्स की हेलट नामक वह गुलाम जाति भी थी, जिसे इन्होने एथेन्स मे परास्त करके सारी जाति को ही गुलाम बना लिया था। दूसरे लोगो मे मिश्रित जातियो के व्यक्ति थे। जिनमे अधिकाश कारीगर व्यापारी तथा विदेशी भी थे। इन दोनो जातियो मे गुलाम लोगो का जीवन अत्यन्त नारकीय थी। अत स्पार्टा का सामाजिक जीवन तीन श्रेणियो मे विभक्त हुआ। एक श्रेणी उच्च वर्ग के शासक लोगो की थी जो सारी भूमि के स्वामी बन बैठे थे और दूसरी श्रेणी पेरियोएसी लोगो की थी जो व्यापार दस्तकारी तथा अन्य उद्योग-धन्ध-करते थे और तीसरी श्रेणी मे हेलट नामक गुलाम जाति थी। स्पार्टा की सारी खेती-बाडी इन्ही से कराई जाती थी। इसके अतिरिक्त इनसे घरेलू काम भी लिया जाता था। विना गुलामी का चिह्न लगाये बाहर निकलने पर यह पीटे जाते थे। सारे देश मे इनसे पशुओ जैसा व्यवहार किया जाता था। अत गुलामो की कमाई खा-खाकर शासक वर्ग इतना निकम्मा और निठल्ला हो गया था कि उसके अन्दर से विरोचित भावनाएँ प्राय समाप्त ही हो गयी थी। उस समय यह लोग आबादी के बढने पर नये नगर न बसाकर आसपास के प्रदेशो पर ही अधिकार कर लिया करते थे। अत इनकी शक्ति और आदत से तग आकर **मेसेनिया** नामक प्रदेश ने इनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और इन्हे काफी परेशान किया।

सामाजिक ढाचे मे परिवर्तन—अपनी इन्ही पराजयो से खिन्न होकर स्पार्टाई लोगो ने अपनी सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन करना आरम्भ किया। अपने व्यक्तिगत जीवन मे इन्होने व्यायाम पर जोर दिया।

यूनानी मूर्तिकला का उत्तर-काल

कला मे निखार का नया मोड—यूनानी-कला मे पूरी तरह से निखार उत्तर-कालीन युग मे उस समय आया, जब **सलमिस और प्लेटोआ** की महत्वपूर्ण विजयो के पश्चात् यूनानी समाज ने अपेक्षाकृत शाँति के युग मे प्रवेश किया। शाति का यह समय लम्बा न सही, परन्तु इन युद्धो ने यूनान के सतत आक्रमणो की बाढो को कुचल दिया था और परस्पर पृथक्ता की भावना रखने वाले यूनानी राज्यो मे राजनैतिक एकता की भावना जाग गई थी।

वस्तुत विद्वानो की यह धारणा उचित ही है कि शातिमूलक प्रतिनिधि कलाएँ सबसे अधिक राजनैतिक-शाति के समय मे ही पनपती हैं। युद्धो के अन्ध-उन्मादो से छुटकारा पाने पर, मानव-मस्तिष्क कला और साहित्य-साधना के हेतु विवेक और ज्ञानवीय तन्तुओ की व्यवस्था को पुन सस्थापित करने मे अपने लिए अभिव्यक्ति की नवीन धाराओ को खोजता है। इसके प्रमाण के लिए लेखको, कलाकारो, तत्वज्ञानियो तथा वैज्ञानिको के प्रकाशमान नक्षत्र-मण्डल से खचित इग्लैड के विक्टोरियन युग का उदाहरण प्राय प्रस्तुत किया जाता है कि किस प्रकार अपेक्षाकृत राजनीतिक शाति-युग रचनात्मक-कार्यो के सम्पादन करने वाली शक्तियो को पनपने और खिल उठने मे

सहायक होता है। और किस प्रकार राष्ट्रीय समृद्धि, ललित-कलाओ की वृद्धि के कारण फलती-फूलती है।

अस्तु, सलेमिस और प्लेटोआ के युद्ध के बाद यूनान मे सुख-शान्ति का वह युग आया—इतिहास मे जिसे "पैरीक्लीज का युग" कहते हैं। अत यूनान मे साहित्य, दर्शन और कलाओ के विविध अग उद्दाम-भावना से खिल उठे। इसी समय एथेन्स, जिसे राजनीतिक और बौद्धिक-क्षेत्र मे कुछ भी महत्त्व नही दिया जाता था, यूनान-भर के नेतृत्व का दावा भरने लगा। इससे पहले, राजनीतिक और सैनिक-शक्ति मे **स्पार्टा**, संस्कृति मे **आयोनिया**, नीति-काव्य मे **लेस्बास**, तत्त्वदर्शन तथा विज्ञान मे **इफीथसस** और **मिलिटस** की धाक थी। इनके अतिरिक्त पश्चिम मे सिसली के नगर **साइरेक्यूज, सिलिनस, साइबेरिस एग्रीमेटम,** तथा **पोस्टम** थे जो धन के वैभव और सांस्कृतिक उन्नति मे, एथेन्स से कही अधिक ऊँचे चढे हुए थे। स्वय ग्रीस के ही अधीनस्थ नगर-राज्य—**ओलम्पिआ, डेल्फी, ईजाना** और **कॉरेन्थ** की भास्कर्य कला-कृतियाँ, एटिक कलाकारो ने इस क्षेत्र मे जो कुछ किया, उससे कही अधिक बढ-चढकर थी। परन्तु एथेन्स के भाग्य-विधाता देवताओ ने तो उनकी भाग्य रेखाओ मे ही यह अंकित कर दिया था कि शीघ्र ही समस्त शक्तियो और ज्ञान मे उनका कोई प्रतिस्पर्द्धी रहेगा ही नही। अत ४७८ ई० पू० के लगभग एथेन्स की भाग्य रेखाएँ एकाएक चमक उठी और कला तथा साहित्य मे उत्तरोत्तर वृद्धि होनी प्रारम्भ हो गई। एक अमेरिकी कला आलोचक मि० शेल्डान चेनी ने एथेन्स की इस कला-वृद्धि की समीक्षा करते हुए लिखा था—"रंगभूमि की कला, एक उच्च महिमायुक्त सौन्दर्य के साथ खिलने वाली थी, पश्चिम की दार्शनिक विचारधारा पूर्ण विकसित रूप मे, एकाएक प्रकट होने वाली थी और प्लास्टिक-कलाओ का एक दिशा विशेष मे, उस पूर्णता तक विकास होना था, जिसमे किसी दूसरे के दखल देने की गुंजायश न थी और यह सब होने वाला था, केवल ५० साल के भीतर। यह युग **स्कीलस** और **सोक्रेटीज** (सुकरात), **सोफोक्लीज यूरीपीडीज हेरोडेंट्स, केलीक्रेटीज** और **एरिस्टफिनीज** का युग है—वह इन्ही का जीवन-काल है।

आज के समय इस बात का ज्ञान होना कठिन है कि एथेन्स की प्रतिभा के इस युग मे, उसके तत्कालीन शासक **पेरीक्लीज** का राज्य के विकास मे कितना योग-दान था, क्योकि इस बारे मे निश्चितता से कुछ भी ज्ञात नही होता, जहाँ कुछ लोग उसकी कीर्ति की प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते, वहाँ कुछ ऐसे भी है जो मिलिट-वासिनी उसकी प्रेयसी-अस्पेसिया के प्रसग को लेकर उसे नीचे घसीटते है। खैर, कुछ भी सही यह सर्वविदित है कि उसके शासन के समय मे स्थापत्य और भास्कर्य-कला अपने चरम विकास तक पहुँची। एक्रापालिस और उसके सरताज पार्थेनन के रूप मे एथेन्स का नागरिक गौरव अपनी उच्चता की सीमा पर पहुँचा, क्योकि एक्रापालिस मे अभिव्यक्ति की एक विशेष धारा की पूर्णता, प्राचीन जगत् की कला की अन्तिम पराकाष्ठा तथा यूनानी भावना की अभिव्यक्ति का एक विशेष मूर्त उदाहरण प्रस्तुत

किया था। इसी कारण प्राचीन मिस्री राजवश के भास्कर्य की प्रशसा करने वाले इतिहासकारो को अपने इस मत मे परिवर्तन करना पडा कि यूनानी भास्कर्य-कला का स्थान मिस्री कला तक नही पहुँच सका था।

कुछ भी हो, सभी आलोचक इस बारे मे एक मत है कि स्थापत्य की दृष्टि से **पार्थेनन** यूनानी लोगो की कला की उच्चता का एक विशेष प्रमाण है। पुरातत्व-शास्त्रियो के विश्लेषण से परे की इस कलाकृति के सौन्दर्य की परख मे, एक शताब्दी से भी अधिक काल तक अपने दिमाग लडाये और उसकी आकृति के दिव्य सामजस्य के गम्भीर रहस्यो के उदघाटन के लिए अगणित खोजे की। इस बात को बताने के लिए कि यूनानी लोगो ने इस भवन को **डोरिक** आदर्शों के अनुसार, बनाने मे कोई कसर न उठा रखी थी। स्थापत्य विशारदो ने लम्बे-चौडे गणित के आँकडे और उनके अनुपात तैयार किये है। अत इस कथन मे कोई अत्युक्ति नही। पार्थेनन एक गम्भीर सुस्पष्ट भवन निर्माण-शैली के विकास की साधना का अन्तिम पुष्प है। जिसमे वर्णित शृगार-सामग्री अतिम निगूढ सत्य को ढँके या छिपाये बिना सामान्यत उसकी शोभा बढाने मे ही सहायक हुई। वस्तुत एक्रापालिस मे कठोर डोरियन स्थापत्य-शैली मे **आयोनियन** शैली भी ललित रूप मे विकसित हुई है।

एथिना (विजय लक्ष्मी) का मन्दिर इस प्रकार की स्थापत्य-शैली का एक विशिष्ट उदाहरण है। **ईरावथ्यूम** नामक एक अन्य भवन के सुन्दर खम्भे भी इसी प्रकार की ललित-कलाओ से युक्त है। इस भवन के दक्षिण द्वार पर प्रसिद्ध नारी मूर्तियाँ हैं जो **कैरिएटिड्स** (Caryatits) नाम से प्रसिद्ध हैं और सामान्यत खम्भो के स्थान पर काम मे लाई गयी है। ऐसी स्तम्भवत मूर्तियाँ यूनानी स्थापत्य-कला-क्षेत्र मे नया आविष्कार नही हैं। प्राचीन-युग की ऐसी ही मूर्तियाँ **ओलिम्पिया** और **डेल्फी** के प्रसिद्ध मन्दिरो मे विशेपकर कारेन्थ, क्नाइड्स, थीब्स, सिफनस, सिसिग्रन आदि यूनानी नगरो के **धनागारों** के नाम से विख्यात छोटी-छोटी इमारतो मे भी देखी जा सकती है। इन स्तम्भवत अथवा "कैरिएटिड्स" मूर्तियो का निर्माण भास्कर्य-कला का स्थापत्य-कला के साथ सम्मिश्रण करने का एक प्रयत्न है। यह अद्भुत प्रयोग विद्वानो की दृष्टि से न तो रुचिकर ही है और न सफल ही है।

प्राचीन यूनान के स्थापत्य सम्बन्धी गौरव का एक और महान् स्मारक एक्रापालिस पर स्थित प्रसिद्ध 'प्रोपाइतिया' अथवा अग्रतोरण है। यह एक देवालय-सा स्मारक तोरण द्वार है, जिसमे पार्थेनन जैसे महत्वपूर्ण मन्दिर के द्वार के गौरव के उपयुक्त ही दो स्तभ-पक्तियो के बीच आने-जाने का प्रधान-मार्ग बना हुआ है। इसके पार्श्व मे 'डोरिक-शैली' के कुछ छोटे-छोटे अलिन्द भी हैं।

ग्रीक-मूर्तियों मे रगो का प्रवेश—वर्तमान समय मे ग्रीक मूर्तियाँ जिस भाँति रगविहीन-केवल श्वेत-मात्र ही दीखती है, निर्माण-काल मे यह वैसी नही थी। समय के प्रभाव ने और अनुरक्षित अवस्थाओ ने उनके रगो को सोखकर इसी प्रकार श्वेत बना दिया है, जिस प्रकार यौवन की तरुणायी मे किसी नारी के मुख की लालिमा और

गहरे काले-केशपासो को बुढापा श्वेत रग मे परिवर्तित कर देता है। यही कारण है कि आज की यूनानी रग-विहीन मूर्तियाँ, जिस प्रकार सरल, मौन-भावना-युक्त-दोपहीन प्रतीत होती हैं, निर्माण-काल मे वह वैसी न होकर, अगो के अनुरूप रगो से सुसज्जित थी। उस समय उनकी आभा मे यौवन की उन्मादनी, चचलता और प्रणय भावना लक्षित होती थी। फूर्टबेंगलर जैसे कई विद्वानो ने ईजीना के देवालय से प्राप्त मूर्तियो और मूर्तिखण्डो को जोडकर उनमे वही रग भरे है, जो उनमे मूल रूप मे रहे होगे।

पार्थेन से प्राप्त एक मूर्ति-कला के नमूने जो सामान्य तौर पर, एलिग्न मार्बल्स के नाम से सम्बोधित किये गये हैं, अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन कला-कृतियो मे **थीसियस** (भाग्यदेवियाँ) हैबे, **आइरिस** अथवा **सिलिनो** (चन्द्रमा) के अश्व की मूर्तियाँ, पेडिमेड अथवा शिखर की दीर्घकाय मूर्तियो के अतिरिक्त, वे हजारो मूर्तियाँ थी, जो मन्दिर की सम्पूर्ण इमारत के चारो ओर इस प्रकार फैली हुई थी। मानो एक जलूस मे मन्दिर की परिक्रमा कर रही हो। मन्दिर के चारो ओर फैली **फ्रीज** पर, यह मूर्तियाँ अकित नही थी, अपितु, समस्त यूनानी जन-जीवन का सचित्र सजीव चिह्न अकित था। इसमे कही पर लम्बे चोगे पहिने हुए वृद्ध थे, कही नवयुवतियो और पक्षियो की पक्तिया थी, कही मन्दिर मे पूजा-अर्चना के लिए कलश और विविध-पात्र लिये जन साधारण थे, तो कही अश्वारोही युवको का समूह दिखाया गया था। कलाकार **फिडिआस** द्वारा निर्मित **एजीना देवी** की अन्य प्रतिमा के बारे मे कहा जाता है कि इस भव्य मूर्ति की लम्बाई ३९ फीट के लगभग थी और यह समस्त मूर्ति हाथी दात और स्वर्ण से बनाई गयी थी। इस मूर्ति के समस्त निर्माण-कार्य के निरीक्षण का कार्य तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ मूर्तिकार फिडिआस करता था। अत उसकी यह मूर्ति उस युग का प्रमुख आश्चर्य मानी जाती थी।

यूनानी मूर्तिकला का मूल्याकन—उत्तरकालीन यूनानी मूर्तिकला के बारे मे जिसमे फिडिआस की कला-कृतियो की ही विशेषता है, मूल्याकन के बारे मे मतभेद है। पोजोन की तरह के कई कला-पारखियो का मत है कि **पार्थेनन** की कला-कृतियाँ कला के क्षेत्र मे मनुष्य की सफलता का सर्वोच्च प्रमाण हैं। इसके विपरीत अन्य आलोचको का कथन है कि इन मूर्तियो को अनावश्यक रूप से तूल दिया गया है। ससार प्रसिद्ध कला-आलोचक **माइयर-ग्रीफ** का कथन है कि यह सारी कला-कृतियाँ अत्यन्त हेय हैं। ग्रीको की मूर्तिकला के बारे मे उसका कथन है कि "ग्रीक लोग केवल उभार कर आकृतियाँ बनाने की कला मे ही औरो से बढे-चढे थे।" इनके अतिरिक्त **शेल्डान चेनी** का मत है—"ग्रीक मूर्तिकला की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ **पेरीक्लीज** के युग के पहले की कृतियाँ ही थी।" उसका कथन है कि कलाकार फिडिआस की प्रशसा मे उसके विरुद्ध समस्त सत्य आरोपो को उल्टा करके पेश किया गया है। उसकी कृतियो मे प्राकृतिक सौन्दर्य, आकार, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातो मे भी सही-सही रूप बनाने की उसकी मनोवृत्ति और प्रभावित करने के लिये प्रयोग मे लाई गई उसकी विविध युक्तियो को देखकर, यह स्पष्ट हो जाता है कि भास्कर्य-कला सम्बन्धी ज्ञान तो उस व्यक्ति को छू तक भी नही गया था।

यूनानी मूर्तिकला मे **फिडिग्रास** के अतिरिक्त **माइराइन** का भी विशेष स्थान है। अपनी रेखाकन और गतिनिर्देशन शैली के कारण **माइराइन फिडिग्रास से भी** अधिक विख्यात था। अपने पूर्व कलाकारो की भाँति इसे भी शरीर की मासपेशियो के सौन्दर्य के प्रदर्शन का वडा शौक था। उसके द्वारा वनाई हुई 'डिस्कोवोलस' या 'चक्र-धारी' की प्रसिद्ध मूर्ति वास्तव मे गतिशील मानव शरीर का श्रेष्ठतम रूपाकन है। यह मूर्ति कासे की बनी हुई थी, आज इस 'चक्रधारी' नामक मूर्ति की केवल रोमन नकल ही प्राप्य है।

माइराइन की बनाई हुई एक दूसरी मूर्ति "पालास एथिनी और सेटर मार्सि-यस (किंपुरुष)" की मूर्ति है। एथिनी देवी की यह मूर्ति, 'पीछे क्या हो रहा है' देखती हु: पीछे हट रही है। इसके पास ही जमीन पर छ स्वररध्र वाली एक वासुरी पडी है और किंपुरुष उसे उठाने के लिये, प्रसन्नता से वशीभूत होकर, वन्य प्राणी की भाँति लपक रहा है।

५०० वर्ष ई० पू० का तीसरा प्रसिद्ध यूनानी मूर्तिकार **पॉलिक्लीट्स** है। यह भी माइराइन की तरह मानव-शरीर की रूप रेखा को, ज्यो-का-ज्यो उतारने और सुडौल मामपेशी-युक्त मनुष्य शरीर के आदर्श को अभिव्यक्त करने मे वडा सिद्धहस्त था। उमकी विशेष विख्यात कृतियाँ, "डोरीफोरस" "डाएडूमीनास" और "अमेजॉन" की मूर्तियाँ हैं। कहा जाता है कि **इफीसस** के देवालय के लिए एक बार शिल्प-प्रतियोगिता की गई। विषय था अमेजॉन (योद्धानारी) की पूरे आकार की मूर्ति। इस प्रतियोगिता मे कई तत्कालीन मूर्तिकारो ने भाग लिया जिनमे फिडिग्रास, क्रेसिलास, फ्रेडमान और पॉलिक्लीट्स मुख्य थे। इन चारो ने ही अपनी मूर्तियाँ वनाकर पेश की। इन मूर्तियो मे पॉलिक्लीट्स की मूर्ति श्रेष्ठ मानी गई। सौभाग्य से इन चारो की वनाई हुई मूर्तियाँ मिल गई हैं। जो किसी भी दीवानखाने के सजाने के लिये उपयुक्त कला-कृतियाँ हैं।

यूनानी मूर्तिकला के ह्रास के मूल तत्व—यूनानी-मूर्तिकला का ह्रास भी, यूनान के स्वर्ण युग —'पेरीक्लीज-युग' मे ही अप्रत्यक्ष रूप मे होना प्रारम्भ हो गया था। इसके मूलतत्त्वो मे, यूनानी मूर्तिकार के अन्दर, तत्कालीन कलाकृतियो के आधार पर रचित, सिद्धान्तो का ताना-वाना था। अत कलाकार मूर्ति के आवश्यक गुणो से विमुख होकर, केवल पडिताऊ-पद्धति को अपना रहे थे। यही नही दुर्भाग्य से यूनानी और भारतीय दार्शनिको का भी कला के वारे मे यही मत रहा है। एक ओर जहाँ यूनानी दार्शनिक **अरस्तू** (अरिस्टॉटल) मूर्तिकला के वारे मे कहता है—"कला अनु-करण मात्र है।" वहाँ **सुकरात** (सोक्रेटीज) भी यथार्थवादी-पद्धति मे मुक्त नही। उसका कथन है—"कलाकार जो कुछ देखता है, उमी की नकल करता है। अच्छा है, कुरूप की नकल करने की अपेक्षा, जो सुन्दर है, उमी की प्रतिलिपि उतारी जाय।" अपने गुरु सुकरात का ही अनुकरण करते हुए **प्लेटो** (अरवी नाम अफलातून, भारतीय नाम प्लातीत) भी कला को उद्देश्य और परिणाम-दोनो दृष्टियो से अनुकरण विशिष्ट

मानता है और कलाकार को आदर्श राज्य मे अयोग्य व्यक्ति सिद्ध करता है। कलाकार की व्याख्या प्लेटो से भी अधिक भयानक भारतीय **कौटिल्य** (चाणक्य) ने की है। उसने कलाकार को कुटनियो, वेश्याओ और भालू नचाने वाले मदारी लोगो की श्रेणी मे रखा है। अत अरस्तू के इस कथन का कि 'कला अनुकरण-मात्र है' प्रभाव आगामी पाश्चात्य-कला पर अत्यन्त हानिकारक पडा। अत यह सिद्ध हो गया कि कला के नकलची यूनानी, जीवन की समस्त सत्य शक्तियो से अनभिज्ञ थे, जो न आँखो से देखी जा सकती है और न मस्तिष्त की तुला से तोली जा सकती है। वे उन रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक तत्वो के प्रति बिल्कुल कोरे थे, जो कला को इतने गूढ तत्व प्रदान करते हैं, जो वर्णन के दायरे मे नही बाँधी जा सकती। अत यह कहना पडेगा, मूर्तिकला के क्षेत्र मे, वह उन विद्यार्थियो की भाँति ही थे, जो गहन अध्ययन और मन्थन का परिश्रम न करके, केवल नकल के आधार पर ही परीक्षा पास करने का प्रयत्न करते हैं। हाँ, यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण मे उन्होने अवश्य कमाल कर दिखाया था। इसलिए उन्हे वर्तमान कलाकारो के आदिगुरु अथवा यूरोपीय देशो के प्रथम वैज्ञानिक कलाकार कहा जा सकता है। इसलिये ग्रीको की मूर्ति-कला को उत्कृष्टता प्रदान [illegible]रते हुए भी 'ग्रीक-करामात' मानना ही पडेगा।

ग्रीक कला के ह्रास मे मूर्तिकारो के अन्दर समाई हुई नग्नवाद की घोर प्रवृत्ति थी। यथार्थ के नाम पर नग्नवाद के यह प्रवर्तक कला की सूक्ष्मता से नित्य प्रति हटते चले गये। निरे बाह्य रूप-रग की आवश्यकता से अधिक तूल देने की प्रवृत्ति ही आदर्शवादिता मान ली गई। उदाहरण के लिये इसका प्रमाण ई० पू० चौथी शताब्दी के मूर्तिकार, **प्रेक्सीटीलीज** की कला-कृतियो मे स्पष्ट है। यह कलाकार एथेन्स की तत्कालीन सुन्दरी **फ्राइनी** का प्रेमी था। कहा जाता है कि 'क्नाइडियन वीनस' नामक उसकी विख्यात मूर्ति का चित्रादर्श 'फ्राइनी' ही थी। यह मूर्ति यूनानी नग्न कला की प्रथम प्रतीक थी। इस कलाकार ने 'वीनस' की दो मूर्तियाँ बनाई थी। जिनमे एक परम्परागत कट्टर-शैली मे थी और दूसरी बिल्कुल वस्त्रहीन नग्न थी। **कोस** और **क्नाइड्स** के लोगो मे इन्हे खरीदने के लिये होड लग गई। क्नाइड्स के लोगो ने नग्न प्रतिमा खरीदी और **कोस** के लोगो ने वस्त्र-धारिणी मूर्ति प्रा त की। 'क्नाइडियन वीनस' की सर्वश्रेष्ठ नकल रोम के वेटिकन म्यूजियम मे है, जहाँ उसकी नग्न कमनीयता को मठवासी ईसाई सन्यासियो की दृष्टि से बचाने के लिये टिन के एक परिधान से ढककर रखा गया है।

इस महान् कलाकार की अन्य कला-कृतियाँ 'अपोलो सारीब टोमस', (विसखपरे के साथ अपोलो देवता), 'शिशुडिग्रोनाइमस को उठाए हुए मरक्यूरी,, 'युवार्किपुरुष', तथा 'हरॉस, आदि की मूर्तियाँ हैं।

प्रेक्सीटीलीजी का पुत्र भी एक अच्छा मूर्तिकार था और **लियोकोरस** नामक उसका एक शिष्य भी यही कार्य करता था जो आगे चलकर बहुत बडा कलाकार हो गया है। 'अपोलो बेलवीडियर' और 'वर्साई की डायना' का निर्माता यही कलाकार था।

यूनान मे इसकी नग्न-मूर्तियाँ बहुत लोकप्रिय हुई थी। इसकी और इसके साथियो की बनाई नग्न-मूर्तियो मे 'आर्लीसकी वीनस', 'मेलॉस की वीनस' और 'काइरिनी की वीनस' देवियो की मूर्तियाँ अधिक विख्यात है। सेलॉल की वीनस की मूर्ति जो आजकल पेरिस के 'लूव्र' नामक अजायबघर मे सुरक्षित है, और 'वीनस डिमलो' के नाम से प्रसिद्ध है, १८२२ ई० मे खण्डित अवस्था मे मेलॉस के द्वीप से प्राप्त हुई थी। मूर्ति से साथ उसके आसन का भी एक अश मिला था, जिस पर उसके शिल्पी 'एलक्मीनडास' का नाम अकित था। म्यूजियम के लिए साफ करते समय वीनस की बाहो की तरह आसन का अश भी खोया गया और उस पर अकित शिल्पी का नाम भी खो गया। 'आइरीनियन वीनस' नामक एक अन्य मूर्ति भी खण्डित अवस्था मे ही प्राप्त है। इस मूर्ति मे कलाकार ने कामुक भाव कूट-कूट कर भरा है। अत यही भावना उत्तर कालीन यूनानी कला की एक प्रसिद्ध कृति सेमीथ्रेस की पखयुक्त विजय लक्ष्मी की मूर्ति मे लक्षित होती है।

उत्तरकालीन कलाकारो मे, **स्कोपास और लाइसियस** के नाम भी प्रसिद्ध हैं। स्कोपास का नाम हेलीकार्नेसस मे, ईरानी क्षत्रप मॉसोलस को उत्सर्ग किये गये स्मारक के साथ सम्बन्धित है। लाइसीयस इसकी एक पीढी बाद पैदा हुआ था और सिकन्दर महान् का राजकीय मूर्तिकार था। हेलीकार्नेस के समाधि-मन्दिर की रचना मे भाग लेने वाले स्कोपास के तीन प्रतिस्पर्धी और थे। जिनके नाम ब्राइएक्सिज, टिमीथिअस और लियोमेरीस थे। यह तीनो स्कोपास के समकालीन थे। यह स्मारक कोरिया के राजा मासीलस का समाधि मन्दिर था। इसे उसकी पत्नी आर्टीमीसिआ ने बनवाया था जो इसके बनने से पहले ही मर गई थी। परन्तु कलाकारो ने काम जारी रखा था और इसे भी ससार का एक आश्चर्य बना दिया था। १८५७ ई०मे चार्ल्स न्यूंटन ने इसे खोज निकाला। इसमे उन्हे राजा और उसकी रानी आर्टीमीसिआ की मूर्तियो के खण्ड भी मिले। इन मूर्तियो से ही यह ज्ञात हुआ कि स्कोपास विषाद की अभिव्यक्ति करने वाला कलाकार था। परन्तु इसकी मूर्तियाँ भी आडम्बरयुक्त अधिक हैं। इसके बाद सिकन्दर के मूर्तिकार **लाइसियस** का नाम आता है। इस समय नर नारियो की साधारण मूर्तियाँ बनने लगी थी। कलाकारो के सूक्ष्म गुणो का स्रोत सूख चला था। प्राचीन यूनानी देवता अब उन्हे नही रुचते थे। अत यह कला केवल रोटी कमाने की कला रह गई थी। सिकन्दर ने आदेश दिया था कि उसकी मूर्ति लाइसियस के अलावा कोई नही बनाये। अत लाइसियस ने ही सिकन्दर की अनेको मूर्तियाँ बनाई थी। यह शीर्ष भाग की कई मूर्तियाँ अब भी मौजूद है, जिनमे इस विख्यात विजेता को एक तरुण शासक से निरकुश शासक की ओर बढते तथा प्रौढता और अन्त मे मृत्यु द्वारा ग्रसित होते देखते हैं। बाल्यकाल से मृत्यु के समय तक की सभी मूर्तियो मे एक-सी मुखाकृति परिलक्षित है। इस तरह सिकन्दरके साथ ही यूनान की इस रही-सही नग्न-कला ने भी दम तोड दिया।

स्पार्टा का छात्र-जीवन—प्रत्येक के लिए छात्र-जीवन अनिवार्य कर दिया था। निर्बल सन्तान यह पहाडी से फेककर नष्ट करने लगे। शासक वर्ग के लोगो के लिए यह नियम बना कि वह घरो मे न रहकर, सैनिक-शिविरो मे रहा करें। **प्रौढावस्था**

प्राप्त करने पर यह शासन मे भाग लेते थे। अत कुछ वर्षो मे ही स्पार्टाई लोगो का जीवन अत्यन्त कठोर हो गया।

शासन-पद्धति—स्पार्टाई लोगो की प्रारम्भिक शासन-व्यवस्था मे दो राजा तथा तीस सदस्यो की एक वृहद् परिषद (Council of Elders) होती थी। राजाओ और वृहद् परिषद पर नियत्रण रखने के लिए पॉच ईफोर (Ephor) भी चुने जाते थे। कानून बनाने का अधिकार तीस वर्ष से अधिक आयु वाले सभी व्यक्तियो को होता था। अर्थात् यह लोग एक कानून बनाने वाली समिति का चुनाव करते थे। स्पार्टा की इस शासन-व्यवस्था और छात्र-जीवन का परिणाम यह निकला कि कई युद्धो मे स्पार्टाई लोगो को अच्छी विजय मिली। परन्तु व्यवस्था देर तक टिकी हुई न रह सकी। शासक कुलीन वर्ग पुन विलासी बन गया। तिस पर भी यह लोग नौकरी भी उच्च पदो पर करते थे। वह चाहे नगर-सेवा की हो अथवा पुलिस सेवा की।

गुलामो की बाढ—गुलामो की जनसख्या इन कुलीनो से लगभग चौगुनी थी। एक-एक व्यक्ति के पास कई-कई गुलाम थे। उस समय स्पार्टाई लोग पुलिस तक की नौकरी करना बुरा समझते थे। अत इस विभाग मे सारे गुलाम ही पहुँच गए। इस समय स्वतन्त्र-गुलामो की भी काफी सख्या बढ गई थी और इन्हे भी कुलीनो ने शासन प्रबन्ध मे भाग देना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु स्वय शासक वर्ग भ्रष्टाचारी हो गया। लोगो मे आलस्य और सिक्का प्राप्ति सग्रह की होड लग गई।

समाजवादी-व्यवस्था—स्पार्टा को इस दशा से उबारने के लिए वहाँ लाईकर्गस नामक एक व्यक्ति का जन्म हुआ। यह व्यक्ति स्पार्टा मे मिस्र से आया था। उसने वहाँ की शासन-व्यवस्था का बीसो वर्ष तक अध्ययन किया था। अत विधान निर्मातृ-परिषद मे चुना जाकर यह प्रधान मत्री बन गया और इसने स्पार्टा के कानूनो को समाजवादी पद्धति पर ढालकर, समाज मे पुन छात्र-धर्म की लहर दौडानी शुरू कर दी। अपनी शासन-व्यवस्था का प्रारम्भ इसने सिक्के का परिवर्तन करके किया। सोने-चाँदी के सिक्को का चलन निषिद्ध करके उनके स्थान पर लोहे का सिक्का चलाया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगो मे एक ओर जहाँ रिश्वतखोरी समाप्त हो गई, वहाँ सिक्का-सग्रह का शौक भी जाता रहा। अमीरो का और अधिक अमीर होना तथा गरीबो का और ज्यादा गरीब होना रुक गया। सिक्को के इसी परिवर्तन के कारण स्पार्टा मे बढती हुई चोरियाँ भी एकदम समाप्त हो गई। अमीरो और गरीबो मे असमानता समाप्त करने के लिए इसने घरो की भोजन-व्यवस्था को बन्दकर जगह-जगह राष्ट्रीय भोजन-शालाएँ खुलवाई। अत सब लोगो के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे राष्ट्रीय भोजन-शालाओ मे ही भोजन करें। इन भोजन-शालाओ के सचालन के लिए सभी से मासिक शुल्क लिया जाता था। इन भोजन-शालाओ ने भी स्पार्टाई लोगो के मनो पर गहरा प्रभाव डाला। उनकी अमीर बनने की इच्छाएँ समाप्त हो गई। गुण-कर्म और स्वभाव ही पुन छोटे-बडे की कसौटियाँ निश्चित हुई।

रहन-सहन मे परिवर्तन—रहन-सहन मे भी परिवर्तन से पहिले लाईकर्गस ने

भूमि का सर्वे कराकर कृषि की पद्धति मे सुधार किया। इसके पश्चात् उसने समाज के नैतिक नियमो और दिनचर्या मे परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की, क्योंकि उस समय स्पार्टा के पास वीरो की एकदम कमी हो गई थी। लोग सैनिक जीवन से जी चुराते थे। अत सैनिको की आवश्यकता की कमी की पूर्ति आवश्यक थी। अत नए विधानानुसार लडको के साथ-साथ लडकियो के लिए भी व्यायाम करना अनिवार्य कर दिया गया। स्त्री-पुरुषो की कामुकता को कुठित करने के लिए और स्त्रियो के मन से भीरुता का भाव दूर करने के लिए, जहाँ एक ओर उन्हे व्यायाम मे लगाया गया, दूसरी ओर सामुहिक नृत्यशालाएँ खोली गईं। इन नृत्य-शालाओ मे युवक और युवतियो का सामूहिक नृत्य होता था। कभी-कभी नग्न-नृत्य भी होता था। परन्तु उस नग्न-नृत्य मे कोई भी व्यक्ति शिष्टाचर और मर्यादाओ का उल्लंघन नही कर सकता था। अनुचित सकेतो या वाक्यो का प्रयोग करने का साहस कोई नही कर सकता था। यदि कोई लडकी किसी युवक की भीरूता या अश्लीलता को साकेतिक ढग से व्यक्त कर देती थी, तो वह तिरस्कृत किया जाता था। यदि इसके विपरीत कोई लडकी किसी युवक के शारीरिक गुणो तथा वीरता आदि की प्रशसा करती तो वह युवक समाज मे आदरणीय समझा जाता था। इसीलिए स्पार्टा के उस काल के युवक शारीरिक सुदृढता, वीरता, गुणो की उत्कर्षता, व्यवहार की शिष्टता तथा वीरोचित्त कार्यों मे एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा किया करते थे। उस समय की माताओ को भी यह अभिमान था कि वह वास्तविक पुरुषो को ही जन्म देती हैं।

विवाह अनिवार्य—इस काल मे विवाह योग्य अविवाहित पुरुषो को शासन के दण्डस्वरूप अपनी निन्दा के गीत गाते हुए बाज़ार से निकलना पडता था। इन पर यह भी पाबन्दी थी कि गीत भी कपडे पहनकर न गाएँ अपितु नगे ही गाएँ। शादी के बाद जिस पुरुष के सन्तान नही होती थी वह भी समाज मे निन्दा का पात्र था।

शादी प्रथा—उस काल मे स्पार्टा मे शादी-प्रथा भी निराले ही ढँग की थी। वधू के अपहरण का रिवाज था। शादी के समय वधू के बाल काटकर और उसे पुरुषो की पोशाक पहनाकर एक अँधेरी कोठरी मे छोड दिया जाता था जहाँ कि भावी पति उसे दूसरे कमरे मे ले जाता था। बस यही इनकी शादी थी।

कठोर नियन्त्रण—जब तक किसी विवाहित पुरुष की पत्नी के बच्चा पैदा नही हो जाता था, तब तक स्पार्टा का युवक दिन मे, अपने घर नही जा सकता था। उस समय का स्पार्टा का पति केवल लुक-छिपकर ही थोडी देर के लिए रात के समय अपनी पत्नी से मिल सकता था। रात को पुरुषो को सोने के लिए राज्य की ओर से सार्वजनिक शयनगृह बने हुए थे, जहाँ प्रत्येक पुरुष को सोना पडता था। दिन मे पत्नी से मिलना लज्जाजनक समझा जाता था, लेकिन कुछ सन्ताने होने बाद कभी-कभी घर जाकर मिल आना, बुरा काम नही माना जाता था।

यह नियम था तो कठोर परन्तु इससे लाभ बडे होते थे। इस प्रथा के कारण ब्रह्मचर्य की भी रक्षा होती थी और दाम्पत्यजीवन की सरसता भी बनी रहती तथा

शारीरिक और मानसिक उमग भी क्षीण नही होने पाती थी।

इन लोगो मे एक विचित्र रिवाज यह भी था कि पति-पत्नी सुन्दर सताने पैदा करने के लिए एक दूसरे की आज्ञा लेकर अन्यो मे ससर्ग करते थे। इस प्रकार से पैदा हुई सन्तान वहाँ आदर की दृष्टि मे देखी जाती थी। पत्नीव्रत या पतिव्रत धर्म का पालन समाज की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक नही माना जाता था। दोनो का व्यक्तिगत सम्बन्ध उसी हद तक माननीय था, जब तक कि उससे समाज के हित की कोई हानि न हो। योग्य स्त्री-पुरुषो मे सन्तान उत्पन्न होना राष्ट्र के लिए लाभदायक कार्य समझकर इस मामले मे किसी तरह की राजनीतिक या सामाजिक बाधा नही डाली जाती थी।

शिशु के स्वास्थ्य की परीक्षा—बच्चा पैदा होने पर उसकी शारीरिक शक्ति की परीक्षा के लिए शराब से स्नान कराया जाता था। इस शराब स्नान के बाद यदि बच्चा बच जाता तब फिर उसकी परीक्षा की जाती थी और उसकी पुष्टता का प्रमाण मिलने पर ही उसके पालन-पोषण का प्रबन्ध किया जाता था।

इसके विपरीत यदि बच्चा दुर्बल हुआ तो उसे **अपोथेटी** नामक गुफा मे फेंक आते थे। तीन दिन बाद उसे फिर देखने जाते। यदि वह उन्हे जीवित मिल जाता तो उसे फिर उठा लाते थे।

शिशु पालन—सब बच्चे राष्ट्र के बच्चे माने जाते थे और उनके लिए योग्य धायो की व्यवस्था राज्य की ओर से होती थी। होनहार बच्चे के पालन-पोषण की व्यवस्था के लिए राज्य की ओर से ज़मीन मिलती थी। उसका पालन-पोषण विशेष ढँग से किया जाता था। अन्य सब बच्चो का लालन-पालन और शिक्षा एक ही प्रकार से होती थी। इनमे वीरोचित गुण, शारीरिक सगठन, और उच्च विचार का मनुष्य बनाने के लिए विचारपूर्ण और समयोचित भाषणो की भी शिक्षा दी जाती थी। व्यापक शिक्षा देना व्यर्थ और हानिकारक समझा जाता था। वीर-रस की कविताओ और वीरता से भरे साहित्य का वे अवश्य आदर करते थे। साहित्य के अन्य विषयो की अपेक्षा, युद्ध करने, शारीरिक कष्टो को सहने, परिश्रम करने की क्षमता प्राप्त करना ही उनकी शिक्षा का मुख्य विषय होता था।

रहन-सहन—वहाँ लोग हल्के बाल रखते थे, नगे पैर रहते और सादा वस्त्र पहनते थे। साज-शृगार करना वहाँ पाप समझा जाता था। उबटन आदि को कोई जानता तक न था। नदी के किनारे खडे सरकडो को उखाड वह चारपाई बनाते थे। हल्का और सादा भोजन करते थे।

परिणाम—स्पार्टा के इस काल को सैनिक काल के नाम से पुकारा जा सकता है, क्योकि उस समय वैयक्तिक स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज ही नही थी। उनका समाज एक विशाल सैनिक-सगठन जैसा बना हुआ था। उद्योग धन्धे दासो को सौंपे हुए थे। रुपये पैसे की चर्चा तक करना वे भूल गये थे। बाजार जाने की जरूरत समाप्त हो चुकी थी। सगठित असभ्यो के समाज के ये लोग गुलामो को तग करना, उनसे मार-

शिक्षा सम्बन्धी यूनानी दृष्टिकोण—शिक्षा सम्बन्धी यूनानी दृष्टिकोण अत्यन्त विकसित था। **सोक्रेटीज** के पहले **होमर** के समय मे यूनानी शिक्षा-पद्धति अत्यन्त साधारण विकसित थी। यूनानी नागरिक छोटे-छोटे समूहो मे रहा करते थे और उनको शिक्षा प्रकृति के अक मे मिला करती थी। वृद्ध नागरिक बालको को परम्परा गत ज्ञान दिया करते थे। **सोक्रेटीज** के पहले शिक्षा का उद्देश्य बालको को मुख्यत. व्यवहारकुशल बनाना होता था। वे भली-भाँति भाषण कर सके और उन्हे रण-नीतियो का ज्ञान हो जाय। बाद मे शिक्षा सबन्धी दृष्टिकोण को **प्लेटो** तथा **अरस्तू** ने बहुत अधिक विकसित किया और यह सिद्धान्त स्थिर किया कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो नगर-राज्यो के सविधान के अनुरूप हो तथा ऐसे नागरिको का निर्माण कर सके, जो नगर राज्यो की परम्पराओ के अनुकूल चलकर परम्पराओ का निर्वाह कर सके। इस प्रकार सोद्देश्य शिक्षा देने के सिद्धान्तो को यूनानी विचारको ने ही जन्म दिया। **रूसो** ने तो यूनानियो को सबसे उत्तम शिक्षा विशेषज्ञ माना है। प्लेटो की रिपब्लिक के बारे मे उसने कहा था कि "रिपब्लिक शिक्षा सम्बन्धी ससार की सबसे अच्छी रचना है।"

नागरिकता सम्बन्धी विचार—यूनानियो के नागरिकता संबन्धी विचार आज-कल के राष्ट्र-राज्यो के विचारो से भिन्न थे। नागरिकता सबन्धी उनकी दृष्टि सकीर्ण और सीमित थी। वे यह नही मानते थे कि नगर राज्य मे रहने वाले सभी व्यक्तियो को नागरिकता के अधिकार दे दिये जाएँ। जो व्यक्ति राज्य कार्य मे रुचि ले सके, तत्सबन्धी समस्याओ पर अपने विचार प्रकट कर सके और विरोधी विचारो को भी सुन सके, ऐसे व्यक्ति को नागरिकता के अधिकार देने को प्रस्तुत होते थे। नागरिकता प्राप्त हो जाना राजनीतिक गतिविधियो और हलचलो मे भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो जाने का अर्थ रखता था। नागरिकता इन अर्थों मे सीमित थी कि जो यूनानी होते थे और नगर-राज्य की सत्ता प्राप्त जाति के होते थे, उन्ही को नागरिकता का अधिकार मिल पाता था। शारीरिक श्रम करने वाले वर्ग के लोग तो नागरिकता योग्य माने ही नहीं जाते थे। नागरिको के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी।

विधि—विधि या कानून को यूनान मे ईश्वरीय देन माना गया है। इसका अर्थ यह है कि विधियाँ केवल एक व्यक्ति की बुद्धि द्वारा जन्म नही लेती वरन् वे युग-युग से चले आने वाले समाज की देन हैं। जिस प्रकार भारतीय साहित्य मे वेदो को अपौरु-षेय माना गया है, ठीक उसी प्रकार विधियो को भी यूनानी विचारको ने दैवी माना और उनके प्रति भलीभाँति श्रद्धा रखने के लिए विशेष बल दिया। **प्लेटो** ने अपनी प्रथम रचना 'रिपब्लिक' मे यद्यपि विधि को कोई स्थान नही दिया है, किन्तु बाद मे 'दि-लाज' नाम की पुस्तक मे उनकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए यह माना है कि समाज का शासन विधियो के आदेशानुसार ही होना चाहिए। स्वभाव से भी विधियाँ चाहे गलत हो या सही, उनका पालन किया जाना अनिवार्य समझा जाता था। विधियाँ सचित बौद्धिकता की प्रतीक मानी जाती थीं। विधियो मे निहित सिद्धान्त स्थायी तथा

पूर्ण माने जाते थे। विधियो का स्रोत प्रकृति मानी जाती थी, लोक इच्छा नही। प्रकृति की नैतिकता मे विश्वास होने के कारण मानवीय नैतिकता की दृष्टि मे विधियो का पालन अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था।

धर्म सम्बन्धी यूनानी विचार—यूनानियो ने धर्म मे मानवीय गुणो की व्यावहारिकता के दर्शन किये थे। धर्म-सम्बन्धी विचारो को वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय **प्लेटो** को प्राप्त है। प्लेटो ने धर्म को मनुष्य के अन्तर मे सम्बन्धित बतलाया। **प्लेटो** की सारी तर्क बुद्धि यही सिद्ध करने मे जुटी रहती थी कि धर्म मनुष्य पर बाहर से थोपी गई कोई वस्तु नही है। वह बाह्य उपकरणो की देन नही है। धर्म अन्तर्गत है। उसका विकास मानव मस्तिष्क और आत्मा मे होता है। **प्लेटो** की रचना 'रिपब्लिक' से प्रकट होता है कि धर्म सम्बन्धी विचार प्लेटो से पहले भली भाँति व्यवस्थित न थे और उनको सबसे पहले **प्लेटो** ने ही स्पष्ट किया, तथा उन्हे सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। **सीफालस, पोलीमारकस, थ्रसीमैक्स** तथा **ग्लाऊकन** के विचारो का खण्डन तथा निषेध तत्कालीन विचारो की अस्पष्टता को ही सिद्ध करता है।

अरस्तू तथा **प्लेटो** ने स्वीकार किया कि धर्म कल्याण और मगल चिन्तन तथा विधियो के पालन के लिए उद्यत रहने मे निहित है। अधिकारो तथा कर्तव्यो का सामजस्य धर्म का अन्तिम लक्ष्य है। प्लेटो की दृष्टि मे जिस राज्य मे उक्त सामजस्य हो, वही सर्वोत्तम है। अरस्तू ने भी इन्ही रेखाओ पर सोचते हुए अति का सर्वत्र निषेध किया और 'स्वर्णिम मध्यम मार्ग के सिद्धान्त को निर्धारित किया।

यूनान के विचारको ने जो आदर्श एव विचार सस्कृति आज से २५०० वर्ष पूर्व विकसित की थी, उसके महत्व की कल्पना आधुनिक युग मे सहज नही है।

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारक

प्लेटो के पूर्ववर्ती विचारको मे सबसे अधिक महत्त्व **सोक्रेटीज** (सुकरात) का है, किन्तु सुकारात के पूर्व भी कुछ सन्त हुए, जिन्हे **साफिस्टो** कहा जाता है। **सोक्रेटीज** के विचारो का एक बहुत बडा अग साफिस्टो के जीवन दृष्टिकोण की आलोचना तथा प्रत्यालोचन है। सोक्रेटीज की आलोचना तथा जीवन एव दर्शन सम्बन्धी विचार इतने परिपक्व तथा परिमार्जित थे कि उनको यूनान के प्रसिद्धतम विचारको ने भी थोडा हेरफेर करके या उन्हे और विकसित करके अपना लिया। उदाहरण के लिए सोक्रेटीज की शिक्षाओ का उसके शिष्य **प्लेटो** पर बडा प्रभाव पडा था और उसने सोक्रेटीज के अनेक सिद्धान्तो को न केवल ज्यो-का-त्यो ही नही अपना लिया था, वरन् उन्हे विकसित कर अनेक उपयोगी विचारो मे पल्लवित किया था। उदाहरण के लिए 'ज्ञान ही सुख है,' यह सिद्धान्त सोक्रेटीज ने ही सर्वप्रथम निर्धारित किया था। इसी विचार को प्लेटो ने विकसित कर यह सिद्ध किया कि गुणो को सिखाया जा सकता है और इनका **साधन ज्ञान** ही है।

प्लेटो के पूर्व सास्कृतिक दृष्टि से सबसे पहले साफिस्टो का नाम आता है और

उसके बाद सोक्रेटीज का और **सिनिक्सो** (सनकियो) और सिरेनिक्सो का। प्लेटो तथा अरस्तू के बहुत से विचारो की आधार-भूमि इन्ही विचारको मे मिलती है।

सोफिस्टो सोक्रेटीज की पृष्ठ भूमि—साफिस्टो, सोक्रेटीज तथा उसके अनुयायियो का शौर्य जब यूनान के दार्शनिक ससार में चमका उस समय ईसा के जन्म के पूर्व पाँचवी शताब्दी यूनानी नगर-राज्यो के इतिहास की सर्वाधिक कशमाकश की शताब्दी है। पाँचवी शताब्दी मे जितनी आर्थिक तथा राजनीतिक हल-चल हुई, उतनी हलचलें उसके पूर्व यूनान के इतिहास मे कभी नही देखी गईं। इस शताब्दी के आरम्भ तथा अन्त—दोनो मे ही दो महायुद्ध हुए और इन महायुद्धो ने यूनान के नगर राज्यो के अस्तित्व का सर्वथा उन्मूलन कर डाला तथा यूनानी जाति को अप्रतिष्ठा, अगौरव तथा अपयश के अधेरे गर्त मे गिरा दिया। पाँचवी शती के आरम्भिक काल मे यूनानियो तथा ईरानियो के मध्य पहला महायुद्ध हुआ। इस महायुद्ध मे दो सिद्धान्तो का सघर्प था। एक पक्ष ईरान के निरकुश शासक तथा उनके समर्थको का था तथा दूसरा पक्ष यूनानियो का था जो स्वायत्त शासन के पक्के हिमायती थे। ईरान के साथ होने वाला पहला महायुद्ध एक अन्तर्राज्य या आधुनिक राजनीतिक शब्दावली मे अन्तर्राष्ट्रीय सग्राम था, किन्तु दूसरा युद्ध जो इस शताब्दी के अन्त मे स्पार्टा तथा एथेन्स के बीच हुआ, वह यूनान का गृहयुद्ध था। इस दूसरे युद्ध का नाम यूनानी इतिहास मे **पेलोपोनेशियन-महायुद्ध** के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम महायुद्ध से यूनान की इतनी क्षति नही हुई, जितनी इस भयकर गृहयुद्ध से हुई। वस्तुत यह युद्ध स्पार्टा के सीमित तथा अयोग्य अभिजात्यतन्त्र तथा एथेन्स के प्रजातन्त्रवादी सस्थानो का था। इन दो युद्धो ने यूनान के समस्त बौद्धिक वर्ग को सिर से पैर तक हिला दिया और सभी विचारक यह समझने के लिए आकुल हो उठे कि इस अशान्ति तथा अव्यवस्था का क्या कारण है और क्या उस कारण का उन्मूलन हो सकता है? ये दो प्रश्न ऐसे थे जिन्होंने यूनानी विचारको को सम्पूर्ण देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सस्थानो तथा उनकी दशाओं की छानबीन और खोज तथा जाँच-पडताल के लिए विवश कर दिया। ऐसी अवस्था मे राजदर्शन की उपयोगिता सर्व-सम्मत महत्त्व पा गई तथा उसकी शिक्षा के लिए एक अध्यापक वर्ग उठ खडा हुआ। इसी वर्ग ने साफिस्टो आदि को जन्म दिया।

अध्यापक वर्ग के ज्ञान-स्रोत—अध्यापक वर्ग ने मुख्यत यूनान के साहित्य की ज्ञानप्राप्ति के लिए शरण ली। **होमर** के काव्य से उन्होंने सीखा कि राजा ईश्वर का अश है। उसकी स्थिति उस चरवाहे की भाति है जो अज्ञानी भेडो को चराता है। भेड प्रजा बतलाई गई हैं। सार्वजनिक हितो का राजा कितना ध्यान रखता है तथा अनुशासन मे वह कितना तत्पर रहता है, यह जानने की स्पष्ट प्रवृत्ति विचारको मे दिखाई पडती हैं।

साफिस्टो का जन्म—साफिस्ट का अर्थ 'बुद्धिमान्' होता है और यह शब्द यूनानी भाषा के शब्द 'सोफियस' से बना है। साफिस्टो के समय मे राजदर्शन की शिक्षा का महत्त्व अत्यधिक बढ गया था। अतएव साफिस्टो ने अपने कक्षो पर राज-

नीति की व्यावहारिक शिक्षा-दीक्षा का भार ले लिया था। ये साफिस्ट किसी विशेष विचार धारा की शिक्षा नही देते थे, अपितु ज्ञान के सम्बन्ध मे इनका अपना एक विशेष दृष्टिकोण था। वे अपने समय के युवको को ऐसी शिक्षा देते थे जिससे वे अपने व्यावहारिक जीवन मे सफलता प्राप्त कर सके, क्योकि राजनीति ही उन दिनो सबसे अधिक लाभकारी समझी जाती थी। इसलिए वे उसी की शिक्षा देते थे। वक्तृत्व-कला सिखाना उनकी शिक्षा का मुख्य विषय था।

पतन—साफिस्टो की प्लेटो के युग के आते-आते यह दशा हो गई थी कि आधुनिक वकीलो की भाँति वे बिना पैसा लिए बोलते नही थे और जब वे बोलने खडे होते थे तो जो पक्ष उन्हे पैसा देता था वह उसी का समर्थन करते थे। यदि विपक्ष की ओर से अधिक पैसा मिल जाता था तो वे दूसरी ओर से भी बोल देते थे। किसी सिद्धान्त विशेष के ही ज्ञान का उपयोग करना वे आवश्यक नही समझते थे। वे ज्ञान को व्यावहारिक जीवन मे सफलता का साधन समझते थे, ज्ञान को साध्य नही।

साफिस्टो के दार्शनिक विचार—उनका मुख्य कार्य सब विषयो की शिक्षा देना था। इसलिए वे सभी विषयो का भली-भाँति अध्ययन करते थे। साफिस्टो के पूर्व ज्ञान की शाखाएँ स्पष्ट न थी। वे एक-दूसरे मे लिपटी और उलझी हुई थी। साफिस्टो ने बुद्धि पूर्वक उसका अध्ययन किया तथा हर विषय के ज्ञान को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। वे एक प्रकार से सबसे पहले व्यक्तिवादी थे। उन्होने ही सर्व-प्रथम यह सिद्धात स्थित किया कि मनुष्य ही सब-कुछ है। जो कुछ उसके काम मे आता है वही लाभकारी और अच्छा है और जो काम मे नही आता वह निरर्थक और निरुपयोगी है। आधुनिक काल के आरम्भ मे उपयोगितावादी **बेंथम** तथा उनके अनुयायियो ने जो कुछ लिखा है, उसका बहुत-कुछ आधार साफिस्टो मे मिल जाता है। साफिस्ट सत्य एव धर्म के निराधार विचारो मे विश्वास नही करते थे। इससे पुराने आचार-शास्त्र सबधी नियमो का अनुपयोगी हो जाना स्वाभाविक था। तर्क की कसौटी पर प्रत्येक तथ्य को कसकर देखना साफिस्टो की शिक्षा थी।

विधि और नैतिकता की तुलना—साफिस्टो ने विधि और नैतिकता की भी तुलना की। उन्होने बतलाया कि कभी-कभी ऐसी भी विधियाँ होती हैं जो मनुष्य को अपनी बुद्धि के विपरीत कार्य करने के लिए विवश कर देती हैं। इसका कारण यह है कि विधियो का उद्गम राजनीतिक सत्ता से हुआ है। नैतिकता व्यक्तिवादी होती है, अतएव नैतिक-शास्त्र के नियम विधियो से अधिक उपयोगी है।

आलोचना—प्लेटो आदि विचारको ने साफिस्टो की बडी आलोचना की है। प्लेटो ने यूनानी नगर-राज्यो के पतन का कारण भी यही बतलाया था कि उनमे व्यक्तिवादियो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी थी। राज्य मे सत्ता के लिए लडनेवाले तत्त्वो की सख्या बहुत अधिक बढ गयी थी। यह तत्त्व प्लेटो के विचार के अनुसार साफिस्टो की शिक्षाओ के ही परिणाम थे, जो राज्य को निर्बल बना देते थे। यही कारण है कि प्लेटो ने अपनी कल्पना के राज्य मे शिक्षा व्यक्तिवादी नही वरन् समूहवादी

रखी। और यह भी कहा कि शिक्षा का नियन्त्रण राज्य करेगा और वह व्यक्तियो के हाथ मे न रहेगी। इस प्रकार प्लेटो ने साफिस्ट विचारधारा का बिल्कुल ही उन्मूलन कर डाला।

यूनानी विचारो कि दृष्टि मे धर्म और प्रकृति—यूनानियो मे आदि आर्यो की भाँति प्रकृति पूजा का भाव बहुत अधिक था। उनके देवता भी अधिकाशत प्राकृतिक शक्तियो का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अतएव समस्त प्राकृतिक तत्त्वो और पदार्थो मे यूनानियो को बडा विश्वास था। यही विश्वास उनको प्रत्येक प्राकृतिक तत्त्व मे तर्क-सगतता का दर्शन कराता था। वे मानते थे कि प्रकृति मानव-हितकारिणी है और वह जो करती है ठीक है। साफिस्टो की व्यक्तिवादी विचारधारा तथा अन्य शिक्षाओ ने सोक्रेटीज जैसे महान् दार्शनिको को जन्म दिया। जार्जियाज (ई० पू० ४२७), प्रोटागोराज (ई० पू० ५००-४३०) और एण्टीफोन आदि कुछ प्रमुख साफिस्ट थे।

सोक्रेटीज और उसके अनुयायी—साक्रेटीज (ई० पू० ४६९-३९९) को यूनानी (एथेन्सवासी) विचारको की क्रमधारा मे साफिस्टो का उत्तराधिकारी माना जाता है। सोक्रेटीज की विचारधारा मे साफिस्ट का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पडता है—यद्यपि उसका प्रवाह साफिस्टो की शिक्षाओ के विरुद्ध है। 'रिपब्लिक' मे सोक्रेटीज द्वारा थेसीमैकस का विरोध इसी ओर सकेत करता है। सोक्रेटीज ने साफिस्टो की यह बात मान ली थी कि सत्य की अनुभूति व्यक्ति की बुद्धि पर निर्भर करती है—उसे धर्म या परपरागत प्रथाओ पर आधारित नही माना जा सकता। परन्तु सोक्रेटीज मनुष्य की नैतिक प्रकृत्ति मे सुधार करना चाहता था। यही उसका साफिस्टो से मतभेद था। साफिस्टो की दृष्टि से जब मनुष्य स्वभाव से ही लोभी और स्वार्थी है तो फिर उसमे सुधार की कल्पना नही की जा सकती, लेकिन सोक्रेटीज ने यह बात मानते हुए भी कहा कि उसमे सुधार किया जा सकता है और उस सुधार का साधन ज्ञान है—सोक्रेटीज ने "ज्ञान को ही गुण" माना है और ज्ञान की विभिन्न शाखाओ को भिन्न-भिन्न गुण बतलाया है। अतएव सोक्रेटीज ने अपना लक्ष्य बिन्दु "आत्मज्ञान प्राप्त करो"—यह बनाया था। शिक्षाओ के प्रकरण मे विचारक सोकेटीज पर जब विचार किया जाता है तब इस परिणाम पर पहुँचने मे विलम्ब नही लगता कि साक्रेटीज मे दार्शनिकता की अपेक्षा 'देवदूतत्व' की छटा अधिक अकित थी।

सोक्रेटीज की जीवनी—सोक्रेटीज का जन्म एथेंस मे ई० पू० ४६९ मे हुआ। इसका परिवार शिल्पियो का था। शिल्पकार के पुत्र सोक्रेटीज ने पाषाण की मूर्तियाँ भले ही न गढी हो, किन्तु इतना सत्य है कि उसने युग का निर्माण किया और यदि उसे युगशिल्पी कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। सोक्रेटीज की मृत्यु विषपान द्वारा ई० पू० ३९९ मे हुई थी। सोक्रेटीज का शैशव और बाल्यकाल पैरीक्लीज के स्वर्णयुग मे बीता। उसके मृत्यु का आलिंग करते समय एथेस और स्पार्टा आत्महत्याकारी महायुद्ध पैलोपोनेशियन सग्राम मे जुटे थे। सोक्रेटीज जैसे सचेत्य विचारक के लिए उस युद्ध के परिणामो की कल्पना करके आकुल हो जाना स्वाभाविक था और यही कारण है कि

उसने एथेन्स की छिछली ज्ञान वृद्धि के विरुद्ध पूरी शक्ति से आन्दोलन छेड़ा और एथेन्स के सत्तारूढ़ व्यक्तियों ने सोक्रेटीज को मृत्युदण्ड दिलाकर, अपना क्रोध निकाल लिया। सोक्रेटीज केवल दार्शनिक या विचारक ही नहीं रहा था, उसने सैनिक के रूप में एथेन्स के युद्ध में भी भाग लिया था। डीलियम के युद्ध में उसकी वीरता की सारे एथेन्स में प्रशंसा हुई थी। ६५ वर्ष की आयु में सोक्रेटीज को परिषद का सदस्य बनाया गया था। लेकिन बाद में सोक्रेटीज के शत्रुओं ने उसे अपदस्थ करा दिया। शेष जीवन भर उसने भांति-भांति के ज्ञान विज्ञान का अध्ययन किया। सोक्रेटीज की इस जिज्ञासा के संबंध में 'बार्कर' ने लिखा है, 'यह एक महान चरण था, ऐसा महान चरण, जिसने अकेले ही हमें एनेक्जीमैण्डर और हेराक्लिटस के विचार संसार से प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन संसार तक पहुँचा दिया। शारीरिक दृष्टि से कुरूप होते हुए भी मानसिक और बौद्धिक सौंदर्य में शायद ही कोई यूनानी विचारक उसकी तुलना में ठहर सके।"

सोक्रेटीज की पद्धति—सोक्रेटीज की पद्धति का अध्ययन करते समय इस शीर्षक को हमें दो भागों में विभक्त करना होगा—(१) शिक्षा पद्धति और (२) अध्ययन पद्धति। जहाँ तक अध्ययन पद्धति का संबंध है, उसने अध्ययन में वस्तुओं के जन्म के उद्देश्यों की तह तक पहुँचने का यत्न किया। इस पद्धति को अध्ययन की सोद्देश्य पद्धति कह सकते हैं। शिक्षा पद्धति से आशय उस पद्धति से है, जिसके अनुसार सोक्रेटीज अपने शिष्यों को शिक्षा दिया करता था। यह पद्धति प्रश्नोत्तरी की थी। इसे कथोपकथन पद्धति भी कह सकते हैं। वह प्रवचनों या भाषणों के रूप में शिक्षा न देकर अपने शिष्यों से प्रश्न किया करता था और उनके उत्तरों की आलोचना करके अपने संदेश की ओर संकेत किया करता था।

राज्य और राजनीति—राज्य के सम्बन्ध में सोक्रेटीज ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मनुष्य की बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अन्तिम साधन राज्य ही है। परिवार तथा समाज में उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य होती है, लेकिन यह पूर्ति एक सीमा तक होती है। राजनीति को कला बतलाते हुए सोक्रेटीज ने कहा कि इस दृष्टि से राजनीति के दो पक्ष हैं—(१) जहाँ राजनीति को विशेषज्ञों का क्षेत्र माना जाता है और सब प्रकार की दक्षता पर विशेष बल दिया जाता है। यह पक्ष अपने प्रथम स्वरूप से अप्रजातान्त्रिक भले ही दृष्टिगोचर हो, लेकिन उसकी कार्यक्षमता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। (२) इस पक्ष में लोकमत को ही महत्त्व दिया जाता है अर्थात् राजनीति में विशेषज्ञता नहीं, अपितु मत-संख्या को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है—जिसका परिणाम यह होता है कि उसमें प्रजातान्त्रिकता के तत्वों के रहते हुए भी, न तो दक्षता रहती है और न सक्षमता। सोक्रेटीज ने क्षमता और दक्षता को प्राथमिकता देते हुए बौद्धिक आभिजात्यतन्त्र का समर्थन किया था। राजनीतिज्ञ का आदर्श लोक-कल्याण का चिन्तन निर्धारित किया गया था। बुद्धि-जीवी ज्ञानवान राजनीतिज्ञ के निरकुंश शासन का सोक्रेटीज समर्थक था।

महत्व पूर्ण-सिद्धान्त—यह सत्य है कि सोक्रेटीज की विषपान द्वारा मृत्यु की गई,

लेकिन उससे उन सिद्धान्तो का अत नही हुआ जिनके लिए उसने जीवन-मरण दोनो को समान समझा। सोक्रेटीज की मृत्यु से दो सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते है—(१) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि से अच्छी या बुरी बात का फैसला करने का अधिकार है। (२) जहाँ एक ओर व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करने के लिए स्वतन्त्र है वहाँ दूसरी ओर उसे राज्य के न्याय तथा निर्णयो एव विधियो को मान्यता देनी चाहिए। व्यक्ति अपने विचारो तथा क्रियाओ के लिए स्वतन्त्र है, लेकिन उसे राज्य की सत्ता को ही अन्तिम मानना पडेगा और यहाँ पर ए० एम० एडम्स के शब्दो मे "सोक्रेटीज ने शासक सत्ता की निरकुशता और अनुत्तरदायित्व की वृत्ति का हाब्स की भाँति स्पष्ट समर्थन किया है।" सोक्रेटीज और महात्मा गाँधी के विचारो मे कितनी सत्यता है इस बात से स्पष्ट है कि दोनो व्यक्तिगत तर्क को अच्छाई का मूल मानते हैं, परन्तु जहाँ गाँधी जी ने उस तर्क को आगे बढाकर व्यक्तियो को राज्य की आज्ञा का उल्लघन करना सिखाया, वहाँ सोक्रेटीज ने ऐसा नही किया। उसने किसी भी दशा मे राजाज्ञा का उल्लघन श्रेयस्कर नही माना।

आइसोक्रेट्स—सोक्रेटीज ने अपनी विचारधारा द्वारा की जिस चिन्तन दिशा की ओर सकेत किया था—यूनान के सभी विचारक महारथी उसी ओर बढे। **प्लेटो** की समस्त राजनीतिक चिन्तनधारा **सोक्रेटीज** पर आधारित थी और अरस्तू ने अपने विचार-क्षेत्र की सीमाओ के निर्धारण मे **प्लेटो** से पथ-प्रदर्शन ग्रहण किया था, लेकिन सोक्रेटीज के बाद एक और भी उल्लेखनीय सोक्रेटीज का शिष्य था जिसका नाम था जैनोफेन। जैनोफेन तथा आइसोक्रेट्स दोनो ही द्वितीय वर्ग के विचारक थे। इनका राजनीति पर महान दार्शनिको सा अधिकार नही था, लेकिन अपने युग की प्रवृत्तियो को सूत्र रूप मे कह देने की दार्शनिको जैसी क्षमता उनमे अवश्य थी। इनकी कल्पना दृष्टि सूक्ष्म और भविष्यदर्शी नही थी। लेकिन आइसोक्रेट्स का दृष्टिकोण सोक्रेटीज से कुछ भिन्न था। वे लोकमत से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना अधिक उचित समझते थे और यह नही मानते थे कि निरर्थक ज्ञान प्राप्ति मे समय नष्ट किया जाय।

सिनिक्स और सिरेनिक्स—'सिनिक्स' का अर्थ सनकी होता है और 'सिरेनिक्स' भी लगभग 'सनकी' का ही पर्यायवाची शब्द है। कुछ यूनानी विचारको को 'सनकी' क्यो कहा गया? इस प्रश्न का रहस्य इस उत्तर मे निहित है। इस वर्ग के विचारक लौकिक परम्पराओ तथा सामाजिक व्यवस्थाओ के प्रति अति उदासीन रहा करते थे। विचारधारा की दृष्टि से वे सोक्रेटीज के शिष्य थे और जो शिक्षाएँ सोक्रेटीज ने उन्हे दी थी—उनको उन्होने अपने जीवन मे व्यवहारिक रूप दे डाला था। सोक्रेटीज ने आत्मज्ञान को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य बतलाया था। इस आत्मज्ञान को प्राप्त करने का साधन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सोक्रेटीज ने कहा था कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताएँ न्यूनतम कर देनी चाहिएँ। अतएव सिनिक्स और सिरेनिक्स वर्ग के विचारको का पथ-प्रदर्शनकारी सिद्धान्त "आत्मनिर्भर हो जाने" का था। सोक्रेटीज के ये शिष्य जीवन मे आत्मा को ही कुछ समझते थे और बाह्य वातावरण से

कोई सम्बन्ध न रखते थे। वे उग्र व्यक्तिवादी थे और किसी भी सामाजिक सस्थान को उपयोगी नही मानते थे। सिनिक्स विचारक राज्य की सत्ता स्वीकार नही करते थे। अराजकता-वादियो की भाँति सम्पत्ति, परिवार, समाज और राज्य से उनकी शत्रुता थी। उनका कहना था कि यदि ज्ञान ही सब गुणो की खान है तो भौतिक पदार्थों से किसी भी प्रकार का मोह क्यो किया जाय। प्लेटो के स्त्रियो तथा सम्पत्ति के साम्यवाद की बहुत आलोचना हुई है, लेकिन इस प्रकार के साम्यवाद की कल्पना एक सिनिक विचारक ने ही सबसे पहले की थी। इसका नाम **डायोजीनीज** था। डायोजीनीज परिवार को मोह का कारण मानता था और कहता था कि परिवार की वजह से ही सम्पत्ति जुटाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यदि स्त्रियो का उपयोग परिवार की स्थापना के लिए न किया जाय अर्थात् उनका कोई एक पति न हो, तो सम्पत्ति को जुटाने के लोभ की वृति पैदा ही न होगी और इस प्रकार एक ऐसे मोह का बडा भारी साधन नष्ट हो जायगा। जो ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे बाधा डालता है। इस वर्ग के विचारको के रूप मे यूनान मे एक ऐसी बौद्धिक श्रेणी के व्यक्ति पैदा हो गये जो भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करते थे।

प्लेटो और उसकी विचार धारा—प्लेटो की विचारधारा तथा उसमे झलकने वाला राजदर्शन, सम्भवत यूनान के उज्ज्वल विचारो का प्रतीक है। प्लेटो का राजदर्शन यूनान के स्वर्णयुग के इतिहास के एक ऐसे पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे मानव इतिहास मे विस्मृत नही किया जा सकता। प्लेटो के जन्मकाल तक विभिन्न शासन-प्रणालियो के प्रयोग का एक वृत पूर्ण हो चुका था तथा यूनान द्रुत गति से विनाश की ओर बढा चला जा रहा था। चारो ओर अव्यवस्था और अशान्ति फैल रहे थे।

प्लेटो का जीवन चरित्र और शिक्षा—ई० पू० ४२८ मे **प्लेटो** का जन्म एथेस मे हुआ। प्लेटो के माता-पिता का नाम एरिस्टन और पेरिक्टियन था। वश ऊँचा और आभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित था। प्लेटो को प्रारम्भिक शिक्षा के बाद युवावस्था मे ही सोक्रेटीज के विद्यालय मे भेज दिया गया, जहाँ प्लेटो ने आठ वर्षो तक सोक्रेटीज के चरणो मे बैठकर, ज्ञान लाभ किया। इसी बीच ई० पू० ३९९ मे जब सोक्रेटीज को मृत्युदण्ड मिला, तब प्लेटो पर उसकी ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया हुई कि सोक्रेटीज का वह तरुण शिष्य एथेन्स मे अधिक दिनो तक न रह सका और वह भ्रमण के लिए निकल पडा। दस वर्षो से भी अधिक समय तक प्लेटो एशिया माईनर से लेकर, दक्षिणी इटली तक के देशो मे घूमता फिरा और उसने उन देशो की तत्कालीन विद्याओ का अध्ययन किया। सोक्रेटीज की मृत्यु के ठीक ग्यारह वर्ष बाद, विदेश यात्रा से लौटकर प्लेटो ने ई० पू० ३८८ मे एक विद्यालय खोला, जिसमे उसने शेष जीवन बिता दिया। ई० पू० ३२७ मे प्लेटो की मृत्यु हो गई। मृत्यु के पूर्व प्लेटो ने जीवन मे अनेक उतार-चढाव देखे थे। रिपब्लिक मे जिस कल्पना दृष्टि का आश्रय प्लेटो ने लिया है—'स्टेट्समैन' मे वह नही रहती है। स्टेट्समैन मे एक आदर्श राजनीतिज्ञ को खोजने का

यत्न है। इसके बाद जब यह भी प्रयत्न विफल हुआ तो प्लेटो ने 'दि लाज' में विधि की सप्रभुता के दर्शन कराये। दार्शनिक राजा से आदर्श राजनीतिज्ञ की ओर तथा आदर्श राजनीतिज्ञ से विधि की सप्रभुता की ओर यह प्लेटो की गति दिशा है।

प्लेटो के दार्शनिक विचार—वैसे तो प्लेटो पर अपने समय की सभी विचार-धाराओ का प्रभाव पडा, लेकिन उसकी रचनाओ पर तीन स्रोतो का सैद्धान्तिक प्रभाव सर्वाधिक पडा। वे हैं (अ) मेगेरियन और पाइथागारियन, (आ) सोकेटीज के विचार तथा (इ) व्यावहारिक राजनीति। मेगेरियन और पाइथागोरियन का प्रभाव हम वहाँ पाते है, जब उसका गणित तथा सगीत के लिए विशेष आग्रह देखते हैं। उसने गणित तथा सगीत के मानसिक विकास पर पडने वाले प्रभावो का अध्ययन अपने इटली के प्रवास मे किया था। अपने 'आदर्श कल्पना राज्य' मे प्लेटो ने शिक्षा-व्यवस्था निर्धारित करते हुए दार्शनिक राजा के लिए इनकी शिक्षा दिया जाना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है।

साक्रेटीज के विचार—प्लेटो पर सोक्रेटीज के विचारो तथा उसकी मृत्यु का बडा जबर्दस्त प्रभाव पडा था। पहले प्रभाव ने उसकी दार्शनिक विचारधारा को सुनिश्चित दिशा मे गति दी तथा दूसरे प्रभाव मे प्लेटो को एथेन्सवासियो की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का कठोर आलोचक बना दिया। इन प्रभावो पर हमे जरा विस्तार से विचार करना होगा। इसलिए हम इनको दो भागो मे विभक्त करेगे, पहला दार्शनिक प्रभाव और दूसरा प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का विरोध।

प्लेटो ने इस सिद्धान्त को और विकसित किया तथा कहा कि ज्ञान मनुष्य को सिखाया जा सकता है। इसलिए इसका अर्थ यह है कि ज्ञान की शिक्षा द्वारा मनुष्य को गुण-सम्पन्न भी बनाया जा सकता है। प्लेटो ने यह कहा कि ज्ञान केवल तथ्यों की सचित राशि ही नही है, बल्कि इसका आचरण से भी निकटतम सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि को प्रभावित करता है और बुद्धि ज्ञान के प्रभाव से सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। ज्ञान द्वारा सयम की शिक्षा मिलती है।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति साहस, सहिष्णुता एव धर्म के विभिन्न गुणो से अपने आपको सुसज्जित करता है। वास्तविकता सम्बन्धी सोक्रेटीज के विचार भी प्लेटो के विचारो के आधार थे। इस सिद्धान्त के अनुसार 'वास्तविकता' विचारो पर आधारित रहती है, ऐसे विचारो पर जो अपने आप मे पूर्ण, स्थायी और अपरिवर्तनीय होते हैं। भौतिक पदार्थ इन्ही वास्तविक पदार्थो की छाया मात्र होते हैं जो निरन्तर घटते बढते रहते हैं। प्लेटो की समस्या यह थी कि 'वास्तविक विचारो' या 'सत्य के ज्ञान' को किस प्रकार प्राप्त किया जाय। प्लेटो ने इसका हल यह निकाला था कि 'सत्य' की प्राप्ति दर्शन (विचारो के साक्षात्कार) से ही हो सकती है। जीवन का लक्ष्य-दर्शन ससार में पहुँचकर 'सत्य शिवम् सुन्दरम्' से साक्षात्कार करना है।

प्लेटो इस भौतिक ससार को दर्शन-ससार की छाया मात्र मानता है और भौतिकता मे विचारो का साक्षात्कार करते हुए, एक सशक्त कवि की भाँति उसकी

कल्पना इतनी अधिक ऊँची उठ जाती है कि साधारण व्यक्ति के लिए उस पर दृष्टि रखना कठिन हो जाता है। इसी कारण प्लेटो के विचारो मे व्यावहारिकता का स्पर्श बहुत कम है।

प्लेटो यह स्वीकार नही करता था कि राजनीति साधारणजनो का कार्यक्षेत्र है। व्यावहारिक राजनीति प्लेटो के मतानुसार विशेषज्ञो की वस्तु है और साधारणजनो को विशेषज्ञो द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अपने गुरु सोक्रेटीज के मृत्युदण्ड को प्लेटो ने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का सबसे बडा अभिशाप माना था। वह ऐसी व्यवस्था का स्पष्टतया विरोधी था जिस मे सोक्रेटीज जैसे विद्वानो के विचारो के लिए कोई सहिष्णुता न हो।

व्यावहारिक राजनीति—प्लेटो को व्यावहारिक राजनीति के सम्पर्क मे अपने मित्र **सायराक्यूज** के निरकुश शासक **डायोनिसियस** की वजह से आना पडा, क्योकि वह समय-समय पर प्लेटो से मन्त्रणा किया करता था। प्लेटो ने परामर्शदाता के रूप मे ही कार्य करते हुए दार्शनिक राजा की असभवता को अनुभव किया और इसके बाद यह भी अनुभव किया कि 'सुयोग्य राजनीतिज्ञ' इस युग मे आसानी से उत्पन्न नही हो सकता। अत इस बार उसने अपनी पुस्तक 'दि लाज' मे विधियो की सत्ता को स्वीकार किया। अस्तु, प्लेटो की राजनीति, विचारधारा वर्तमान राजनीतिक विचारधारा से कही अधिक व्यापकता लिये हुए है, क्योकि प्लेटो की राजनीतिक विचार धारा मे लगभग वह सभी सिद्धान्त आ जाते है, जिन्हे हम समाज-विकास-शास्त्र, नैतिकता, आचार-व्यवहार-शास्त्र, शिक्षा-शास्त्र तथा धर्म-शास्त्र और मनोविज्ञान-शास्त्र मे पढते हैं। राजनीतिक विचारो की व्यापकता और रूपको की प्रधानता से प्लेटो की रचानाओ मे काव्य तथा कल्पना का अनोखा सम्मिश्रण दिखाई देता है।

प्लेटो की साहित्य साधना—प्लेटो ने जीवन भर साहित्य-साधना की। उन्होंने छोटे बडे लगभग ३६ ग्रथ लिखे। परन्तु उनकी साहित्यकता की विशेषता यह है कि उनका साहित्य कथोपकथनो पर ही आधारित है, जैसा कि भारतीय दर्शनकला के शिक्षा के क्षेत्र मे था। प्लेटो के इस विशाल-साहित्य मे उनके तीन ग्रन्थ मुख्य है—(१) **दि रिपब्लिक** (२) **दि स्टेट्समैन**, और (३) **दि लॉज**। इनमे प्रथम ग्रन्थ 'रिपब्लिक' को प्लेटो ने ३८६ ई० पू० लिखा। इस ग्रन्थ का विषय नैतिकता, शिक्षा, राजदर्शन, और अध्यात्म चिन्तन सम्बन्धी है। इसके पश्चात ३८० ई० पू० उन्होने स्टेटसमैन को लिखा और उसके बाद 'दि लॉज' को लिखा जो ३२७ ई० पू० उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इनके अतिरिक्त 'एपालाजी', 'प्रोटागोराज', 'जार्जियाज', 'क्रिटियाज' 'क्रीटो' और 'मैनो' आदि छोटे-छोटे ग्रन्थ भी इन्ही की रचनाएँ माने जाते हैं। 'मैनो' तथा 'प्रोटागोराज' मे प्लेटो ने प्रश्न उठाया है—"गुणो की शिक्षा दी जा सकती है या नही ?" इसके अतिरिक्त 'क्रीटो' मे उसने विधियो के प्रति आस्था रखने का उपदेश दिया है।

महान ग्रन्थ रिपब्लिक—प्लेटो के इस ग्रन्थ को, जिसका अर्थ 'गणतन्त्र' होता

है, अपनी चालीस वर्ष की अवस्था मे लिखा और यही ग्रन्थ उसके ग्रन्थो मे सर्वोत्तम है। अपने ग्रन्थ मे प्लेटो ने यूनान के किसी नगरमात्र का वर्णन न करके, एक 'आदर्श' राज्य का चित्रण किया है। परन्तु प्लेटो के आदर्श-राज्य की यह व्याख्या व्यावहारिकता से दूर कोरी काल्पनिक उडान है। आलोचको की सम्मति मे प्लेटो ही सर्वप्रथम ऐसा विचारक था, जिसने स्पष्ट घोषणा की थी कि **राज्य का शासन बडे-बडे घरानों, महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों द्वारा न होकर, बुद्धिमानो द्वारा होना चाहिए।** शिक्षा के दृष्टिकोण से रूसो ने 'रिपब्लिक' को शिक्षा पर लिखा गया सर्वोत्तम निबन्ध सग्रह बताया है। इनके बाद नटिलशिप ने लिखा है—"रिपब्लिक मानव-जीवन के दर्शन का नाट्यरूप है।"

इस रिपब्लिक ग्रन्थ के पाँच भाग हैं—अध्यात्मिक भाग, नैतिक-दर्शन, शिक्षा, सम्पत्ति और परिवार, आदर्श राज्य और उसका पतन। 'अर्नेस्ट वॉर्कर' ने इन भागो की व्याख्या निम्न प्रकार की है—

"आध्यात्मिक-भाग, मे प्लेटो ने अच्छा भला या नेक (Good) शब्दो की मीमासा करते हुए, समस्त भौतिक पदार्थों मे एक ही तत्त्व समान रूप से माना है। इन विचारो से प्लेटो की रहस्यवादिता प्रकट होती है। 'नैतिक-दर्शन' मे उसने मानव-आत्मा और उसके गुणो पर प्रकाश डाला है और यह सिद्ध किया है कि धर्म (Justcie) के सयोग से आत्मा पूर्णता को प्राप्त करती है। अपने 'शिक्षा-विभाग' मे उसने एक आदर्श-राज्य मे शिक्षा की क्या रूपरेखा होनी चाहिए, इसकी मीमासा की है, क्योकि प्लेटो राज्य का सचालक वशो या वर्गों को न मानकर विद्वानो को मानता है। इसके पश्चात् 'सम्पति और परिवार' का नम्बर आता है, जिसमे स्त्रियो और सम्पत्ति का एक विशेष वर्ग के लिए साम्यवाद की स्थापना का विचार व्यक्त किया है। 'आदर्श राज्य' और उसके पतन' के वारे मे प्लेटो ने विचार व्यक्त किया है कि 'आदर्श राज्य' की स्थापना के सिद्धान्तो पर यदि नियन्त्रण नही रखा जाता, तब आदर्श राज्य अत्याचारी और निरकुश हो जाता है।'

यूनानी दार्शनिकों की धर्मसम्बन्धी विवेचना—धर्म की व्याख्या करने मे यूनानी दार्शनिक भी भारतीय दार्शनिको की भाँति ही सदैव आतुर रहे हैं। अपने आदर्श राज्य की व्याख्या के प्रकरण मे प्लेटो भी 'धर्म क्या है?' इसी मीमासा को लेकर आगे बढता हुआ दिखाई देता है, क्योकि प्लेटो 'धर्म' को 'गुणो का गुण' मानता है। अत 'सोक्रेटीज' के प्राचीन प्रश्न—'धर्म क्या है?' के प्रश्न को प्लेटो भी उठाता है। इससे पूर्व यूनानियो मे तीन प्रकार के धर्म-सम्बन्धी विचार थे। अर्थात् (१) धर्म-सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण, (२) सॉफिस्टो का क्रान्तिकारी धार्मिक दृष्टिकोण और (३) कार्य-कारण द्वारा उत्पन्न धर्म। सोक्रेटीज काल मे धर्म-चर्चा का रूप क्या था? इस का आभास भी प्लेटो की 'रिपब्लिक' से ही होता है, क्योकि प्लेटो ने अपने ग्रन्थ मे सोक्रेटीज को ही मुख्य पात्र बनाकर, अपने विचार प्रकट किये हैं। उदाहरणार्थ एक स्थान पर धर्म चर्चा हो रही है—'धर्म क्या है?' इस प्रश्न का उत्तर सीफॉलस नामक एथेन्स मे रहने वाला प्रवासी खडा होकर देता है—"सत्य बोलना और अपने ऋणो

से उऋण होना ही धर्म है ?" इसके मरने के बाद, इसका पुत्र **पोलीमारकस** धर्म का उत्तर यह देता है—"प्रत्येक व्यक्ति के साथ उचित व्यवहार करना ही धर्म ?" परन्तु 'उचित-व्यवहार' क्या है ? इसका उत्तर है—मित्र के साथ मित्रवत् और शत्रु के साथ शत्रुवत् व्यवहार। धर्म की इस व्याख्या को 'कला' भी कहा जा सकता है। **सोक्रेटीज** भी यही शका प्रकट करता है कि शत्रु और मित्र की पहचान क्या है ? मित्र भी गुप्त रीति से शत्रुता का प्रयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस 'कला रूपी धर्म' का पालन, साधन सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है, क्योकि वही जहाँ अपने साधनो से मित्र को जहाँ कृतार्थ कर सकता है, वहाँ शत्रु से भी बदला ले सकता है। परन्तु धर्म का यह दृष्टिकोण केवल व्यक्तिवाचक हो जाता है, न कि जातिवाचक या समाजवाचक। अत प्लेटो निर्णय देता है कि धर्म का यह अर्थ नही है कि उसमे शत्रुता या मित्रता को स्थान दिया जाय।

सोक्रेटीज उसे शासन-सचालन की कला मानता है, उसी का समर्थन प्लेटो निम्न-प्रकार करता है - "चूंकि गुरु शिष्य के अवगुणो को दूर करता है, इसलिए शिक्षा भी कला है और चिकित्सक द्वारा रोगी का रोग दूर कर देना भी एक कला ही है। यदि नि स्वार्थ भाव से शासक भी ऐसा ही करता है, तब कोई दोप नही। दोष तब है, जब उसमे स्वार्थ आ जाय और यह केवल शिक्षा द्वारा ही दूर हो सकता है।

'धर्म की उत्पत्ति पर दृष्टिकोण—धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई, इस प्रश्न पर भी यूनान मे काफी विचार हुआ। इस बारे मे **ग्लाउकन** कहता है—"धर्म केवल परम्पराओ का परिणाम है। प्राचीन काल मे, जब मनुष्य असभ्य थे, तब अन्याय होते थे और समाज पीडित होता था। अत जब पीडा असह्य हो गई, तब उसके तीन परिणाम निकले। (१) निर्बलो ने आपस मे सगठन किया और समझौता किया। (२) इस समझौते की विधियाँ निर्धारित कर दी गई और उन विधियो को ही 'शुद्धाचरण' मान लिया। (३) मानव ने अपने स्वभावानुसार भयवश उन विधियो का पालन प्रारम्भ कर दिया और वही विधियाँ धर्म बन गयी। अतएव **धर्म** का वास्तविक अर्थ **भय** है।" शासक की परिभाषा मे भी **ग्लाउकन** यही कहता है कि शासक को भी भय ने ही उत्पन्न किया है, क्योकि वह कमजोरो के हितो रक्षा करने की गारण्टी है। अत सीफॉल्स और **पोली मारकस, थ्रेसीमेक्स** तथा **ग्लाउकन** धर्म को वाह्य मानते हैं। परन्तु **प्लेटो** 'धर्म' को आत्मा का भाग मानकर, उसे आत्मा की उचित अवस्था कहता है।

आदर्श राज्य के गुण और आधार—प्लेटो अपने आदर्श राज्य मे चार गुण अवश्यम्भावी मानता है—धर्म, बुद्धिमत्ता, शक्ति और सहिष्णुता। अत आदर्श राज्य के नागरिको को भी प्लेटो ने तीन भागो मे विभाजित किया है—शासक-वर्ग, रक्षक-वर्ग और उत्पादक-वर्ग। इनमे शासक-वर्ग बुद्धिमान होना चाहिए, रक्षक-वर्ग शक्तिशाली होना चाहिए और उत्पादक-वर्ग को सहिष्णु होना चाहिए। प्लेटो की विचार-धारानुसार इनके ईमानदारी से कार्य करने पर ही, धर्म का अस्तित्व माना जा सकता है। अत धर्म कर्तव्य-पालन से परे की वस्तु नही। इसके अतिरिक्त अपने आदर्शराज्य

के आधारस्तम्भ प्लेटो ने पाइथागोरियन के सिद्धान्त ही माने हैं। वे हैं—(१) बौद्धिक विकास के प्रेमी प्रजाजन, (२) सम्मान के प्रेमी, (३) धन के प्रेमी। इसी आधार पर प्लेटो ने समाज को तीन भागो मे बाँटा—(१) बुद्धि, (२) साहस और (३) क्षुधा। क्षुधा उत्पादन की प्रेरक है। उत्पादन मे सम्पत्ति प्राप्त होती है और उसमे राज्य सशक्त होता है। बुद्धि से सम्पत्ति और राज्य की रक्षा होती है। रक्षा की प्रवृत्ति मे साहस आवश्यक है। अन्त मे साहस और क्षुधा का सन्तुलन करने के लिए शासक वर्ग प्रकाश मे आता है। इसके बाद प्लेटो आदर्श राज्य के निर्माण, राज्य के वर्ग और आदर्श राज्य की त्रुटियो का वर्णन करता है और इन सबके निराकरण के लिए ही शिक्षा पर निरन्तर बल देता है, क्योकि उस की दृष्टि मे बिना शिक्षा के चरित्र नही सुधरता और बिना चरित्र सुधरे आदर्श राज्य नही बनता। उस समय एथेन्स की शिक्षा-प्रणाली राज्य द्वारा सचालित न होकर, व्यक्तिगत रूप पर निर्भर थी। इसके तीन भागो मे से पहिले मे अक्षर-ज्ञान तथा अक गणित का सक्षिप्त परिचय कराया जाता था, दूसरे दौर मे विशिष्ट लोगो के बच्चे ही वैधानिक ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शेष तीसरे दौर मे सैनिक-शिक्षा दी जाती थी। इसके विपरीत स्पार्टा मे शिक्षा राज्य द्वारा दी जाती थी, क्योकि बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति समझे जाते थे। परन्तु उनकी शिक्षा का समस्त आधार सैनिक प्रशिक्षण ही था। अत स्पार्टा वाले चतुर सैनिक होते थे। प्लेटो को एथेन्स की शिक्षा-प्रणाली पसन्द तो थी, परन्तु वह उसे राज्य द्वारा सचालित होते देखना चाहता था। इसके बाद प्लेटो ने शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था प्रस्तुत की है, जो लाभकारी और अलाभकारी—दोनो ही है, क्योकि वह उत्पादकवर्ग को प्राथमिक शिक्षा से अधिक की शिक्षा देने की व्यवस्था नही देता।

अरस्तु और उसकी विचारधारा—यूनान के इस विचारक का भी इतिहास मे बहुत महत्त्व है। यूनानी नगर राज्यो की सभ्यता के पतन काल मे **अरस्तु** का उदय हुआ। इस विचारक मे प्लेटो की आदर्शवादिता तो नही है, अपितु उसके स्थान पर यथार्थवादिता है। जिसका आधार तुलनात्मक अध्ययन है।

इस व्यक्ति का जन्म **स्टेजिरा** नगर की **थीरेस** नामक बस्ती मे ३८४ ई० पू० मे हुआ। इसके पिता चिकित्सक थे और मेसोडोनिया राजघराने से उनका चिकित्सक के रूप मे सम्बन्ध था। १७ वर्ष की आयु मे यह प्लेटो के विश्वविद्यालय मे अध्ययन के लिये गए और वहाँ सत्रह वर्ष तक ही शिक्षा जारी रखी। इसके बाद इन्होंने भ्रमण किया और तीन साल तक सिकन्दर के शिक्षक रहे। तेरह वर्ष तक भ्रमण के बाद इन्होंने लौटकर निरकुश शासक **हर्मियास** की गोद ली हुई पुत्री से विवाह किया। अत यह व्यक्ति जीवन भर धनी रहा और प्लेटो के साम्यवाद का विरोधी रहा। केवल गणित को छोडकर उसने आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया। इस व्यक्ति ने अपने जीवन के अन्तिम दिन अपनी रियासत **चाल्सीज** मे बिताये। बासठ वर्ष की अवस्था मे ३२२ ई० पू० इनकी मृत्यु हुई।

साहित्य-सृजन—इस विचारक की मुख्य कृति **पॉलटिक्स** (Politics) है। इसके

अतिरिक्त इन्होने जो पुस्तके लिखी, उनमे द्वितीय स्थान एथेंस का सविधान (Constitution of Athens) को प्राप्त है। पॉलिटिक्स मे प्रश्नोत्तर प्रणाली मे उनके विचारो का सग्रह है। परन्तु प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता वही अकेला है। वस्तुत यह ग्रन्थ विभिन्न विषयो मे आठ पुस्तको का सग्रह है जो क्रमश बाद मे जोडे गए प्रतीत होते है। जैसे कि प्रथम ग्रन्थ मे अरस्तु 'मानव-स्वभाव' पर तर्क-वितर्क प्रारम्भ करता है और बीच मे ही 'दासता' का प्रसग शुरू कर देना है। दूसरी पुस्तक मे 'आदर्श-राज्य' की समालोचना है। तीसरी पुस्तक मे सविधानो की आलोचना प्रत्यालोचना है। चौथी और पाँचवी पुस्तक मे 'शासन-तन्त्र' की समीक्षा है। छठी मे राज्य की कुरीतियो के कारण और निरोध पर विचार है। सातवी मे अरस्तु के आदर्श राज्य पर विचार है। आठवी मे राज्य के विभिन्न स्वरूपो और उनकी समस्याओ पर विचार है। इनमे अरस्तु के आदर्श राज्य के सिद्धान्तो का आधार प्लेटो के विचार है जो उसने 'लॉज' मे वर्णित किये है। इनके बाद यूनान मे और भी विचारक हुए जिन्होंने दर्शन-शास्त्र का गहन अध्ययन किया और नाट्य-शास्त्र पर भी पर्याप्त लिखा।

भारत से समानता

यूनान और भारतीय दर्शन—यूनानी दार्शनिको और भारतीय दार्शनिको के विचारो मे अत्यन्त समानता है। उदाहरणार्थ—यूनानी दार्शनिक जैनोफेनस का मत है—"ससार और ईश्वर वास्तव मे एक ही है। यह एक ही सत्य, स्थिर और परिवर्तनशील है।" भारतीय वेदान्त है—"**एकमेवाद्वितीय ब्रह्म**" अर्थात् प्रकृति और ईश्वर वास्तव मे एक ही है, वही एक अविनाशी है। अरिस्टोफेन की एक कविता का अर्थ है—"प्रारम्भ मे यहाँ अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नही था। यह स्थिर और गूढतम था, न पृथ्वी थी, न आकाश था, न तारे थे। बहुत समय बाद इस व्याप्त अन्धकार से ही प्रेम (काम) की उत्पत्ति हुई आदि।" ऋग्वेद १०। १२९ मत्र का भी यही अर्थ है—"उस समय न कारण रूप प्रकृति थी, न कार्यरूप, न पृथ्वी लोक था। न यह आकाश था, न तारे थे। तथा न मृत्यु थी, न जीवन था। न रात थी, न दिन था। तब वह अकेला ही बिना वायु के श्वास ले रहा था। उसके अतिरिक्त और कुछ नही था। तब केवल अन्धकार था। इस गूढतम अन्धकार मे ही यह कारण और कार्यरूप प्रकृति तप की महिमा से विलीन हुई थी। इससे सबसे पूर्व इच्छा (काम) की उत्पत्ति हुई, जो कि मन की शक्ति है। उसी काम से ससार पैदा हुआ।

एम्पेडोक्लीस का कथन है "जो चीज, एक समय विद्यमान नही है, वह कभी विद्यमान हो ही नही सकती। जो चीज एक समय उपस्थित है, उसका नाश हो ही नही सकता।" वस्तुत यही भारतीय 'साख्य सिद्धान्त' है। 'साख्यकारिका' स कार्यवाद ९ के मत्र का अर्थ है—"जो चीज़ नही है, उससे कुछ नही बनाया जा सकता। उपादान का ग्रहण नहीं होता, एक चीज़ से कुछ बनाया नही जा सकता जो वस्तु कुछ बनाने मे समर्थ है, उससे केवल वही वस्तु बनाई जा सकती है, कारण और कार्य मे भेद नही है।"

लगभग यही गीता २।१६ मे कहा है—"जिस वस्तु की सत्ता है, उसका अभाव नही हो सकता, जो वस्तु नही है, उसकी सत्ता असम्भव है।"

प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रूकर का कथन है—"यूनान के प्लूटार्क, क्लेमन्स, एलक्जड्रीन्स तथा औरफस आदि विचारको के अनुसार, एक दिन इस सम्पूर्ण विश्व का विनाश हो जायगा। पीछे से इसके अवशेषो से इसी प्रकार के नये जगत् की रचना होगी।" लगभग यही विचार मिस्र के लोगो का था।[1] वैदिक वाड्मय प्रलय और उत्पत्ति के सिद्धान्त को आरम्भ से ही मानता है। अथर्ववेद के एक मत्र का भी यही अर्थ है कि "तब प्रलय हो गया...तदन्तर ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व को पहले की भाँति फिर से बनाया।"[2] टिमोथस का मत है—औरफस ने अपने ग्रन्थ मे घोषणा की है कि ईश्वर वास्तव मे एक है, उसी के तीन भिन्न-भिन्न नाम है।[3] वुडवर्थ का कथन है—"जुपिटर, नेप्चून और प्लूटो—इन तीनो की पृथक सत्ता नही। एक ही ईश्वर के यह तीन नाम है। जुपिटर की एक प्राचीन मूर्ति मे तीन आँखे प्राप्त हुई है। यह तीनो आँखो वाला ईश्वर ही है।[4] "भारतीय पुराण साहित्य मे भी स्थान-स्थान पर त्रिमूर्ति और उसका महत्ता का वर्णन है। इस त्रिमूर्ति मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीन देवता सम्मिलित है। पुराण-काल मे इन्हे तीनो की पूजा होती थी। वेद मे भी ईश्वर की तीन आँखो का वर्णन है—"हम उस तीन आँखो वाले ईश्वर की स्तुति करते है।" इन तीनो आँखो से ईश्वर की द्यौलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी लोक के निरीक्षण करने की शक्ति का अभिप्राय है। कोलब्रुक का कथन है—"यह देखकर आश्चर्य होता है कि पैथागोरस और ओसेलस (Ocellus) के बहुत से सिद्धान्त भारतीय दार्शनिको से मिलते हैं। पैथागोरस ने स्वर्ग, पृथ्वी और मध्य लोक का वर्णन किया है। उसका कथन है कि मध्यलोक मे राक्षय स्वर्ग मे देवता और पृथ्वी लोक मे मनुष्य रहते है।

पैथागोरस अनुभव करने वाले भौतिक अग (मन) को चेतन आत्मा से पृथक् समझता है। इसमे एक शरीर के साथ नष्ट हो जाता है दूसरा अमर है। साथ ही वह आत्मा का सूक्ष्म आवरण भी स्वीकार करता है। अत अपना दृढ विश्वास है कि भारतीय दार्शनिक ही इन यूनानी विचारको के गुरु थे।[4]

पुनर्जन्म—यूनानी दार्शनिक पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। प्लेटो का कथन है—आत्मा ही मनुष्य की अपनी वस्तु है। शरीर मे आत्मा ही मुख्य है। मृत्यु के बाद आत्मा इस पृथ्वी पर लौट आता है और मनुष्य अथवा अन्य किसी जीव का रूप धारण करता है।[5] भारतीय विचारको का भी यही विचार था। उनका विचार था—

1 Sineca Natural Lib III chap 30

ततो रात्री अजायत् असौ धातायथा पूर्वमकल्पयते ऋ० १० । १६० । १-३

२ Intellectual System, book I Chap IV see 17

3, Intellectual system book I chap IV see 32

4 Loc co cit 441 et see

5 Philosphy of ancient india By R Book

"ऋतेज्ञानान्न मुक्ति ।" अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नही । प्लेटो भी इसी सिद्धान्त को मानता है—"कोई व्यक्ति बिना ज्ञान के देवत्व को प्राप्त नही कर सकता। वह आगामी जीवन मे कोई सामाजिक जीव—चीटी, मनुष्य आदि का शरीर धारण करके चाहे अपनी सामाजिक उन्नति कर ले, परन्तु ज्ञान विना देवताओ की श्रेणीमे नही जा सकता ।" इसी प्रकार पैथोगोरस का कथन है—"यदि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार न करके यह मान लिया जाय कि मनुष्य का जन्म एक वार ही होता है, तब मनुष्य समाज मे नित्य उत्पन्न होने वाली विषमताओ का कोई उत्तर नही दिया जा सकता । अत यह सत्य है कि आवागमन का यह क्रम सर्वत्र व्याप्त है और आत्माओ की दशा का भेद-भाव पुनर्जन्म का प्रवल प्रमाण है । शारीरिक तथा मानसिक कष्ट मानसिक विकल्पो और कर्मों के फल ही प्रतीत होते है, क्योकि आत्मा पर मानसिक सकल्पो और शारीरिक क्रियाओ के प्रभाव पडते रहते हैं ।" भारतीय योग-दर्शन और उपनिषदो मे आत्मा और परमात्मा के इन्ही सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है ।

सस्कार—पैथागोरस शिशु पर अच्छा प्रभाव डालने के लिए सस्कार-पद्धति भी स्वीकार करता है । उसका कथन है—"जव माता गर्भवती हो, तव उसके स्वास्थ्य पर वहुत ध्यान देना चाहिए । वालक को ईश्वरीय नियमो के अनुसार सात बरस तक माता के आधीन रखना चाहिए । इस समय तक पिता का उस पर अधिकार नही होना चाहिए ।" भारतीय धर्मग्रन्थ शिशु को पाँच वर्ष 'मातृमान' बनाने की व्यवस्था देते हैं। इसके अतिरिक्त पैथागोरस की पाठशाला का वर्णन भारतवर्ष के प्राचीन गुरु-कुलो से वहुत मिलता-जुलता है । इस पाठशाला मे प्रात काल स्नान के पश्चात् विद्यार्थी हाथ मे पुष्प लेकर, उपासना गृह मे जाते थे, जिससे कि आत्मा शाँत रहे । इसके वाद शिक्षा प्रारम्भ होती थी । इसमे वडे विद्यार्थी वृक्षो की छाया मे बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे । यह लोग सूर्य के प्रकाश को उच्च जीवन और रात के अन्ध-कार को पापिष्ट जीवन मानते थे । पाठशालाओ मे मधुर रस युक्त भोजन विद्यार्थियो को दिया जाता था जो निरामिष होता था । दोपहर के वाद विद्यार्थी व्यायाम करते थे । व्यायाम के वाद स्वाध्याय होता था । उसके पश्चात प्रात काल के पढे हुए पाठ पर मनन होता था । सूर्यास्त होने पर उच्च स्वर मे प्रार्थनाएँ की जाती थी । प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्तो का वर्णन पहिले ही किया जा चुका है । वह दार्शनिक शिक्षा का दायित्व राष्ट्र पर डालता है ।

युग-कल्पना—भारतीय विचारको की भाँति यूनानी विचारको ने भी सतयुग और कलियुग की कल्पना की है । सतयुग को पश्चिमी देशो मे 'गोल्डन एज' के नाम से पुकारा जाता है । ऐथीनियन ने कहा है—'इस पृथ्वी पर वीमारियाँ, अकाल और उपद्रव फैल गये । इनसे चरवाहो और पर्वत-निवासियो को छोडकर और कोई नही वच सका । यह लोग भी इसलिए वच गये कि इनमे धोखेवाज़ी नही थी, परस्पर प्रेम था ।"

नौशियन ने कहा—"प्रारम्भ मे मनुष्य सचमुच एक दूसरे को प्यार करते थे और ससार मे उनके लिए वहुत स्थान था । न गरीवी थी, न भावो मे विकार था ।

न धनी था, न कोई गरीब। यदि हम उनका साहित्य प्राप्त कर सकें तो उसमे इन बातो के सिद्धान्त मिल जायेंगे।[1]

होमर पर रामायण का प्रभाव—अधिकाश यूनानी साहित्यकारो ने अपने साहित्य का सम्बल भारतीय साहित्य को बनाकर ही उससे प्रेरणा ली है। चाहे वह दार्शनिक साहित्यकार हो, इतिहासकार हो, समाजशास्त्री हो अथवा नाटयकार हो। स्वय यूनान के कवि **होमर** ने भी अपने अमरकाव्य 'इलियड' की कथावस्तु की प्रेरणा **रामायण** से ही ली है। उदाहरणार्थ 'इलियड' कथानक के प्रमुख पात्र भी राम-लक्ष्मण की भाँति दो भाई ही है, जिनका आपस मे अत्यन्त प्रेम है। जिस प्रकार रामायण मे राजा दशरथ राम को वनवास देते है, उसी प्रकार उन दोनो भाइयों को भी उनका पिता 'अरगल' अपने राज्य से निकाल देता है।

'इलियड' का नायक **मेनेलिस** 'हेलेन' को उसके पिता द्वारा आयोजित स्वयवर मे सबको हराकर, भारतीय **राम** की भाँति ही जीतता है। राज्य-निर्वासन-काल मे ट्राय का बादशाह 'प्रायाम' का पुत्र पैरिस, मेनेलिस की अनुपस्थिति मे, उसके घर आकर उसकी पत्नी को चुराकर सागर पार 'ट्राय' नगर मे ले जाता है। उसी प्रकार जिस प्रकार सीता को चुराकर रावण, समुद्र पार लका मे ले गया था। 'ट्राय' के महल भी समुद्री सतह से बहुत ऊपर बसे बताये गए है। इसी प्रकार जैसे त्रिकूट पर लका बसी थी। इसके पश्चात् **स्पार्टा** के बादशाह 'मेनेलिस' ने ग्रीक राजकुमार की सेना लेकर बारह सौ जहाजो से आग्नेय समुद्र पार करके ट्राय को घेरा था, ठीक उसी प्रकार जैसे राम ने सुग्रीव की वानर सेना लेकर, हिन्द महासागर पार करके लका को घेरा था।

ट्राय-युद्ध मे असख्य यूनानी सेना थी, जिसमे घुडसवार और रथी थे। इसी प्रकार राम की सेना भी अपार थी। उसमे भी रथ थे। ट्राय का घेरा **अमेनन** के नेतृत्व मे हुआ, जिसे यूनान के राजा ने 'विश्वकर्मा' के बनाए अस्त्र दिए, ठीक उसी प्रकार रामचन्द्रजी को इन्द्र ने अपना रथ, घोडे और सारथी दिया था और विश्वमित्र के दिव्य अस्त्रो का उन्होंने प्रयोग किया था। **ट्राय** के सेनापति के बाण भी, मेघनाथ की भाँति उसके तरकस मे लौट आते थे। **हनुमानजी** की गर्जना की भाँति एक्यस की गर्जना भी ट्राय नगर की सेना मे आतक उत्पन्न कर देती थी। हनुमान ने जैसे लका के विशाल फाटक को उखाड फेंका था, उसी प्रकार **हैक्टर** ने 'ट्राय' के लौह फाटक को उखाड फेंका था। 'ट्राय' के युद्ध मे अनेक महारथी बडे-बडे बिशाल पत्थर उठाकर शत्रुओ पर फेकते थे, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वानर और ऋक्ष रावण की सेना पर फेकते थे। इसके अतिरिक्त ट्राय के युद्ध मे और लका के युद्ध मे देवतागण समानरूप से युद्ध दृश्य देखते हैं। **ट्राय** का वीर योद्धा **मार्स** जब प्लास के हाथो मरकर युद्ध-भूमि पर गिरा, तब सात एकड धरती घिर गई। रामायण मे कुम्भकर्ण के गिरने पर उससे भी ज्यादा भूमि घिरी थी।

---

1 The laws of Plato book III

विभीषण की भाँति ट्राय का एन्टेनर पैरिस के कुकृत्यो से सहमत न था, यदि वहाँ एन्टेनर न होता तो मेनेलिस मारा जाता, उसी प्रकार विभीषण न होता, तो लका मे हनुमान मारा जाता। विभीषण ने जिस भाँति रावण को समझाया था उसी भाँति एन्टेनर ने भी पैरिस को समझाया था कि वह हैलन को लौटा दे। अन्त मे विभीषण की भाँति एन्टेनर पैरिस को छोडकर मैंनेलिस से जा मिला था। जिस प्रकार रावण के मरने पर रामचन्द्र को सीता मिलती है, उसी प्रकार पैरिस के मरने पर मेनेलिस को हेलन मिलती है और जिस प्रकार राम ने विभीषण को लका का राजा बनाया था, उसी प्रकार एन्टेनर ट्राय का राजा बनाया गया। अत यह सिद्ध हो गया कि होमर का काव्य इलियड वाल्मीकि रामायण का ही रूपान्तर है।

क्रीट द्वीप को सभ्यता

यूरोप महाद्वीप के प्राय सभी देशो मे ईजियन-सागर स्थित क्रीट द्वीप की सभ्यता सवसे प्राचीन सभ्यता मानी जाती है। कालान्तर मे इसी सभ्यता ने प्राचीन यूनानी सभ्यता, जिसे यूरोपियन इतिहासकार यूरोपियन सभ्यताओ की जननी मानते हैं, को जन्म दिया था। उस समय यूनान के शुष्क और कठोर जलवायु तथा सागर के कटे-फटे किनारो पर मानव नाम की कोई जाति वसती भी थी, इसका भी कोई प्रमाण नही मिलता।

श्री श्लीमान द्वारा १८८५ ई० पू० मे ईजियन सागर के क्रीट द्वीप की खुदाई से पूर्व यूरोप के इतिहासकार यूरोपियन सभ्यता का प्रारम्भ केवल यूनानी सभ्यता से ही करते थे। उदाहरणार्थ—वार्कर ने लिखा है "यूरोप मे राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ यूनानियो से होता है।[1] इसके अतिरिक्त मैक्लिवेन ने भी इस कथन की पुष्टि की है—"राजनीतिक ज्ञान की जो विचारधारा यूरोपियन सस्कृति से प्रभावित होकर जो विदेशो मे वह रही है, उसका मूल स्रोत यूनान ही है।[2] "इनके साथ ही गिमन ने लिखा है—"यूनान की सबसे वडी देन उनके राजनीतिक चिन्तन का आविष्कार है।"[3] किन्तु क्रीट द्वीप की खुदाई ने उसके इस भ्रम का निवारण कर दिया और अव वह इस बात को मानने के लिए विवश हो गए हैं कि यूनान के प्रसिद्ध "माह-नो-अन युग" (लगभग १६०० ई० पू०) जिसके अवशेष **माइकीनी टिरिन्स** मे मिले हैं, क्रीट द्वीप मे पाये गए **ईजीनियन** सभ्यता के अवशेषो के सामने बहुत ही नये हैं। यह सम्यता लगभग ५०० ईजियन टापुओ मे फैली हुई थी। इस सागर का नाम भी इसी सभ्यता के नाम पर पडा था। क्रीट की इस ईजियन सभ्यता के सस्थापक किस जाति के लोग थे, कुछ पता नही चलता। परन्तु उनकी चित्रकला की रूपरेखा स्पेन की **आल्टीमोरा** की गुफाओ मे रहने वाले व्यक्तियो से विल्कुल जुदी है। इसी आधार पर यह कहा जा जा सकता है कि यह लोग भी स्पेन के प्रागैतिहासिक लोगो के ही वशधरो मे से थे और किसी आपत्ति—आपसी युद्ध अथवा अकाल आदि के सकट के कारण त्रस्त होकर यहाँ आ वसे थे।

---

1 Warker--greece political theory

2 Maccilvan--The growth of political thought in the west.

3 Livingstone--Legracy of Greece

सामाजिक-जीवन का प्रारम्भ—इन लोगो की चित्रकला और प्रारम्भिक वास्तु-कला से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन लोगो ने अपने प्रारम्भिक सामाजिक-जीवन की स्थापना अत्यन्त शिथिलता पूर्वक सैकडो वर्षो मे जाकर की। प्रागैतिहासिक युग से निकली यह जाति अपनी अर्द्ध सभ्यता के दायरे मे सैकडो वर्षो तक जगली जीवन की परिधि मे ही घूमती रही। इस सागर मे इन्हे खाने के लिए मछलियाँ मिलती थी। अत शिकार के लिए भी न जगलो मे इन्हे जाना पडता था और न दिन भर शिकार के लिये परेशान ही होना पडता था। सम्भवत जीविका की सुलभता भी इनके सामाजिक विकास मे वाधक वनी।

अस्तु, धीरे-धीरे यह उन्नति की ओर अग्रसर हुए। अनुमानत ई० पू० १० हजार से, ई० पू० ३ हजार वर्ष पहले तक इनका युग शिथिल ही रहा। इस वीच मे इन्होंने कोई विशेष उन्नति नही की।

ई० पू० ३ हजार वर्ष मे इनकी सभ्यता अपनी उत्कृष्टता पर पहुँच गई और २ हजार ई० पू० 'माई-नो-अन युग' मे आकर **क्रीट** इस सभ्यता का प्रमुख केन्द्र और **क्रीनोस** साम्राज्य का आधार विन्दु वन गया।

यूनान की मुख्य भूमि पर—इसके पश्चात् ई० पू० १५०० वर्ष पहले से १०९० ई० पू० तक, **माई-क्रीनि-अनि-युग** का दौर-दौरा रहा, जिसमे क्रीट द्वीप की यह **ईजियन सभ्यता**, ईजियन सागर के द्वीपो से स्वय ही वढकर यूनान प्राय द्वीप मे फैल गई। **इजियन सभ्यता** के इन प्रचारको ने यूनान मे आकर **माईकीन** नामक अपनी एक व्यापारिक वस्ती वसाई और वढते-वढते उनकी यह व्यापारिक नगरी एक विशाल नगर के रूप मे फैल गई और एक दिन इसी नगर के निवासियो ने अपनी मातृभूमि—क्रीट द्वीप पर आक्रमण कर दिया और क्रीट के लोगो को अपने आधीन करके क्रीट द्वीप के **क्रीसोस** नामक साम्राज्य को अपना उपनिवेश वना डाला। अत अपने इसी मातृ-देश पर अधिकार करके ही यूनान अपने प्रारम्भिक-काल मे समृद्धि की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ हुआ।

ईजियन लोगो की आवास-व्यवस्था—क्रीट द्वीप के पराधीन होने से पूर्व, उस द्वीप की ईजियन सभ्यता, अपने विकास के किस विन्दु तक पहुँची, इस वारे मे भी प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है। द्वीप से उस सभ्यता के जो अवशेष मिले है, उनको देखने से ज्ञात होता है कि उन लोगो की प्रारम्भिक चित्रकला स्पेनी है और उनके रहन-सहन की पद्धति मोहन-जो-दडो (वर्तमान पाकिस्तान) के लोगो की भाँति थी। यह लोग अपने भवनो का निर्माण भी उसी ढँग से करते थे, जैसे कि मोहन-जो-दडो के कथित द्राविड लोग करते थे। मकानो मे प्रकाश और वायु के आगमन के लिए झरोखे, गन्दा पानी शहरो से निकालने के लिए नालियाँ तथा पानी गर्म करने के लिए होजो मे यन्त्रो का प्रयोग किया जाता था। मकानो की नालियाँ शहर के वडे वडे नालो मे मिलाई जाती थी। इनके भवनो के अनुसधान के पश्चात यह भी ज्ञात हुआ है कि इनके ऊँचे मकानो मे ऊपर जाने से लिए लिफ्टो का भी प्रयोग होता था। मकानो मे

विभिन्न प्रयोगो के लिए जहाँ कमरे होते थे, वहाँ स्नानागार और शौचालय भी अवश्य होते थे और मकान घुमावदार दरवाजो से सुसज्जित होते थे। इसके साथ ही वहाँ राज्य-भवन और राज-काज से सम्बन्धित कर्मचारियो के उन कमरो का भी पता चला है, जो सम्भवत कार्यालयो का काम देते थे।

वाहन और मनोरजन—सवारी के लिये इनके पास वाहन मौजूद थे और वह वैसे ही पहियेदार वाहन थे, जैसे कि उत्तरकालीन रोमन लोग प्रयोग मे लाते थे अथवा भारतीय आर्यों के वाहन—रथ थे, जिनका अनुकरण परवर्ती काल मे ईरानी लोगो ने किया।

सर ईवान्स को खुदाई मे यह भी ज्ञात हुआ कि यह लोग खेल-कूद, कुश्ती, साडो की लडाई और नृत्य कला के भी शौकीन थे।

अतिम सस्कार—मुर्दो को यह लोग गाडते भी थे और जलाते भी थे। कई कब्रें यहाँ खुदाई होने पर मिली है।

कला-कौशल—क्रीट के प्राचीन खण्डहरो के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इन लोगो के समाज मे धर्म-व्यवस्था नाम की कोई पद्धति नही थी, क्योकि इन खण्डहरो से न तो कोई मूर्ति उपलब्ध हुई है और न कोई मन्दिर ही मिला है। इसके विपरीत इनके भूल-भुलैयो वाले भवनो की दीवारो पर भित्ति-चित्र अवश्य मिले है। इन चित्रो मे हाथी दात और सोने के पत्तरो पर काढी हुई पुजारिनो की मूर्तियाँ दीवारो मे लगी हुई मिली है। यहाँ से प्राप्त ऐसी मूर्तियाँ पेरिस और न्यूयार्क के अजायबघर मे है। इससे यह सभव जान पडता है कि इन लोगो का मोहन-जो-दडो से व्यापारिक सम्बन्ध था और उनकी कला और सस्कृति का प्रभाव ही इन पर पडा क्योकि क्रीट के मकानो का निर्माण जहाँ मोहन-जो-दडो सदृश्य है, वहाँ क्रीट से प्राप्त पुजारिनो की मूर्तियाँ भी मोहन-जो-दडो की मातृकादेवी की मूर्तियो के सदृश्य ही हैं। मकानो पर ही नही, यह लोग अपने मिट्टी के बर्तनो पर भी चित्रकारी करते थे। साइप्रस से यहाँ ताँबा काफी आता था। इसलिए यहाँ पर तावे का व्यापार बहुत होता था।

क्रीट द्वीप की इस ईजियन सभ्यता के चिह्न उसके समकालीन यूनानी नगर-**राज्य—ट्राय, ग्रीस** आदि के कुछ भू-भागो से भी उपलब्ध हुए हैं। क्रीट मे **नौसास** नामक नगर के खण्डहरो मे, जो राज्यप्रासाद लगभग २५०० ई० पू० का बना हुआ है खुदाई से निकला है, उसके स्तम्भ, दालान, खिडकियाँ और मजिलो ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि इस द्वीप मे जो सभ्यता आबाद थी, वह 'हेलास' या ग्रीस की सभ्यता से पर्याप्त सभ्य तथा समृद्धिशाली लोगो की सभ्यता थी। परन्तु यह कौन लोग थे, जिन्हे इतिहासकार केवल ईजियन (कल्पित) नाम से पुकारते हैं। यह अभी तक खोज का विषय है। यह सत्य है कि इन लोगो की जाति के ही लोग उत्तरी अफ्रीका, दक्षिणी यूरोप और पश्चिमी एशिया मे बसते थे और उद्योगशील तथा व्यवसायी व्यक्ति थे।

इस साहसी जाति पर प्राचीन मिस्र और एशिया का प्रभाव भी पडा था। ये लोग अपने किलेवन्द नगरो से निकलकर सागर द्वारा व्यापार करते थे। प्रथम वार ग्रीस के मुख्य स्थानो को उन्होने ही आवाद कर उनके नामकरण किये।

इनके पश्चात् ग्रीस मे ईरानी मार्ग से भारतीय आर्य सभ्यता का आगमन हुआ, जिसने इन्हे अपने मे घुलामिला लिया। अत ग्रीस की सस्कृति का विकास आर्यन और ईजियन सभ्यता के सम्मिश्रण से ही प्रारम्भ हुआ।

इनके भूल-भुलैयो वाले, शानदार महलो मे फ्रॉक और पेटियाँ पहनने वाली इनकी स्त्रियाँ, हाथी दाँत पर वनी स्त्रियो की मूर्तियाँ और बर्तनो की फूल-पत्तियो वाली चित्रकारी को देखकर ऐसा लगता है, मानो यह जाति आधुनिक युग की ही कोई जाति है। परन्तु अभी तक इस वात का पता नही चला कि यह लोग स्पेन की गुफाओ के रहने वाले मनुष्यो के ही कोई सम्वन्धी थे या एशिया के किसी भाग से वहाँ पहुँचे थे।

ईजीयन सभ्यता का अन्त

क्रीट के गुलाम वनते ही, ईजीयन सभ्यता का अन्त होकर, **माइकीनियन** सभ्यता का आरम्भ हो गया था, परन्तु फिर भी यह नई सभ्यता ईजीयन सभ्यता के नाम से ही फलीफूली थी और उसी ढग पर सभ्यता की ओर अग्रसर हुई।

माईकीनियन-युग मे, उस काल के यूनान ने भी अच्छी उन्नति की। इन लोगो का व्यापार स्पेन, इटली और मिस्र तक बढ गया। यह लोग सोने-चाँदी के जेवरो का बहुत प्रयोग करते थे। चित्रकारी करते थे और साथ ही इन्होने अपने नगरो को किलो की भाँति सुदृढ किया हुआ था। दीवारो के ऊपर ये लोग पुजारियो के चित्र वनाते थे।

आर्गोलिस के मध्य भाग मे स्थित सन् १८८४ ई० मे इनके उसी प्रसिद्ध **माईकीनी** नगर की खुदाई कराई गई जिसे एक दिन क्रीट वालो ने आकर यूनान की भूमि पर वसाया था। इससे पहले इस नगर मे कोई पुरातत्व-वेत्ता नही पहुँचा था।

इस प्राचीन नगर की सवसे वडी विशेष वात यह थी कि उसके किले मे इतनी विशाल चट्टाने लगी हुई थी कि यह विश्वास नही होता था कि बिना क्रेनो की सहायता के आदमियो के हाथो ने उन्हें उठाकर किले मे चिना होगा।

इस किले के प्रवेश द्वार पर पत्थर की कई भीमकाय मूर्तिया रखी थी, और किले के सिंह द्वार के पास ऐसे तावूतो की कतारे लगी थी, जिनमे मुर्दे खडे ही दफनाये गये थे। ये कब्रें गोलाई मे कतारवार वनाई गई थी। इन कब्रो की जव खुदाई हुई तो मुर्दो सहित सोने-चाँदी के जेवरो से भरी हुई यह विल्कुल अछूती निकली।

अगले साल श्लीमान ने यहाँ के दूसरे प्रसिद्ध नगर, **टिरिन्स** को खोदना आरम्भ किया और वहाँ उसने ग्रीस के **होमर-युग** के एक पूरे राजमहल को खोद निकाला। इसलिए इन खुदाइयो से ग्रीस का इतिहास वहुत पीछे चला गया और यह पता चल गया कि एथेंस वालो के **एक्रापालिस** नगर की नीव डालने से पहले ही, क्रीट

द्वीप की ईजियन सभ्यता, क्रीट और उसके आस-पास के टापुओ के अलावा, ग्रीस मे भी प्रकाश फैला चुकी थी। चित्र-कला मे इन्हे विलक्षण दृष्टि प्राप्त थी। जानवरो के चित्र इनके विल्कुल-सजीव से लगते थे, परन्तु इन लोगो ने मदिर आदि कभी नही बनवाया।

अन्त का कारण—क्रीट वालो और माइकीनी वालो का परस्पर सौहार्द पर्याप्त समय तक चलता रहा। परन्तु एक दिन यकायक यह सौहार्द ही छिन्न-भिन्न नही हो गया, अपितु दोनो ही ससार के नक्शे से उठ गये। क्रीट तो सदा के लिए ही अपनी उस सभ्यता को खो बैठा। इसके साथ ही लगभग ५०० वर्ष तक यूनान मे भी अन्धकार का युग आ गया।

आज के **कासेक** लोगो के पूर्वज यूनान के प्राचीन आदिवासी, उस समय सीथियनो के देश मे रहते थे। उन लोगो ने लोहे के भालो, बर्छो, तलवारो तथा तीरो के साथ इस यूनान के प्रधान भू-भाग के किलेबन्द नगरो और अवशिष्ट ईजियन सभ्यता को समाप्त कर दिया। कुछ लोग इन्हे **हैलनीज** के नाम से पुकारते हैं और इनका निवास मेसेली बताते हैं। इन लोगो ने वहाँ इतनी मार-काट की कि अधिकतर आबादी नष्ट ही हो गई और बहुत थोडे लोग अपने प्राण लेकर इधर-उधर भाग सके। ऐसा करते समय उनका ध्यान सभवत मनुष्यो के विनाश की ओर ही रहा। उन्होने इन वैभवशाली लोगो के धन को खोजने का प्रयत्न नही किया, अन्यथा ३ हजार वर्ष से भी अधिक की ये सोने-चादी से भरी हुई कब्रें बिना लुटे अछूती न रहती।

क्रीट वालो पर आक्रमण करने वाली यह आक्रमणकारी जाति, बहादुर तो अवश्य थी, किन्तु कला-कौशल और कारीगरी के बारे मे बिल्कुल अनजान थी। इसलिए इन्हे इस बारे मे सहायता लेने के लिए, अपने विजित लोगो की आवश्यकता पडी।

रोम सभ्यता और उसका विकास

यूरोपियन सभ्यता के अध्ययन के लिए, इतिहास के विद्यार्थी पहले प्राचीन रोम सभ्यता का अध्ययन करते हैं। वस्तुत रोम सभ्यता के कारण ही, यूरोप की सभ्यता विकसित हुई। यूरोपियन कला-कौशल, सस्कृति तथा सामाजिक-व्यवस्था की सुस्थापना और उन सबसे भी महत्वपूर्ण ईसाई धर्म का प्रकाश उन्हे **रोम-साम्राज्य** से ही प्राप्त हुआ। रोम-साम्राज्य से पहले यूरोपियन सभ्यता अर्द्ध विकसित थी। वहाँ पर कोई खास सामाजिक स्थिति नही थी। नगर राज्यो मे सरदारो की मनमानी चलती थी और यह नगर राज्य भी किसी ठोस धार्मिक व्यवस्था के न होने के कारण, सामाजिक अव्यवस्था, अनाचारिक स्थिति तथा अविद्या के अन्धकार से ग्रसित थे। यूरोप का हिम-युग अवश्य कभी का समाप्त हो चुका था। लोग कन्दराओ से बाहर आकर मैदानो मे घर बनाकर भी रहने लगे थे। गर्म देशो से भी जातियाँ ठडे यूरोप की ओर आ रही थी और काफी आ भी चुकी थी, परन्तु उनके साथ भी

न धर्म का प्रकाश था और न ही नियम-बद्ध सामाजिक व्यवस्था थी। अत उनके नगर-राज्यो मे वैधानिक-व्यवस्था का तो कोई प्रश्न ही नही उठता। इसलिए यूरोप की इस अत्यन्त नई सभ्यता को रोम सभ्यता से प्रकाश मिला और उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर होनी प्रारम्भ हुई।

रोम सभ्यता के सस्थापक

रोम साम्राज्य के सस्थापक किस जाति के लोग थे, कहाँ से और किस दशा मे यहाँ आये थे, यह प्रश्न अभी तक भी विवादास्पद बना हुआ है। जब तक इन लोगो के लेख पढे नही जाते, तब तक यह निर्णय हो भी नही सकता कि यह लोग, यहाँ यूनान से आकर बसे थे, अथवा भारतीय लोगो की ही कोई शाखा थी, जो एशिया के अन्य देशो मे न टिक सकने के कारण, अथवा उजाडे जाने पर यहाँ की दलदली भूमि पर आकर बसी थी। इस प्रसग मे यूनानी इतिहासकार हेरोडेट्स का कथन है कि यह इस्ट्रूकन-जाति के लोग मूलत एशिया के ही रहने वाले थे और लीडिया से एशिया माईनर होते हुए इटली मे आ बसे थे। परन्तु ई० पू० प्रथम शताब्दी के इतिहासकार डायोनीसियस ने हेरोडेट्स के कथन का खण्डन किया है। रोम पर लिखी अपनी २२ भागो वाली पुस्तक मे, इसने रोमन लोगो को यूरोपियन नस्ल की ही जाति बताकर सिद्ध किया है कि यह लोग प्रारम्भ से ही रोम मे रहते थे।

टेलर महोदय अपने ग्रथ 'ओरिजिन ऑफ आर्यन्स' (Origin of the Aryans) मे लिखते हैं—"यूरोप निवासी अफ्रीका और मगोल निवासियो के मिश्रण से उत्पन्न हुए है और एशिया की असल भाषा बोलते हैं।" इस विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए दास बाबू अपने ग्रन्थ "ऋग्वेदिक इण्डिया" (Rigvedic Inida) मे लिखते हैं—"सबसे प्रथम जगली आर्यो का जगली मगोलनो से मिलन हुआ। इस मिश्रित दल की भाषा आर्य भाषा ही हो गई। कुछ दिनो के बाद इस मिश्रित दल का मिश्रण उस अफ्रीका की जाति के साथ हो गया जो यूरोप मे पहिले से आबाद थी। इस दुबारा मिश्रित दल -की भाषा भी आर्य-भाषा हो गई। यह आर्य भाषा मिश्रित दल—यूरोप की जातियो का पूर्वज है।"

"आर्यो का उत्तर ध्रुव निवास" नामक ग्रन्थ मे तिलक कहते है—"प्राचीन खोपडियो की परीक्षा से विद्वानो ने यूरोप मे चार प्रकार की खोपडिया निश्चित की हैं। वर्तमान यूरोप निवासी इन्ही के वशज है। इन चारो मे दो बडे सिर वाले हैं और दो छोटे सिर वाले। इनमे एक वर्ग ऊचा था और दूसरा ठिगना। यूरोपनिवासी सब आर्य भाषा बोलते थे। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इन दो मे एक वर्ग आर्यो का है।" विद्वानो मे यह विवाद बहुत दिनो तक चलता रहा है कि इनमे कौन आर्य है और कौन आर्येतर। अनेक जर्मन विद्वान् बडे सर और लम्बे कद वालो को अपना पूर्वज मानते हैं। इसके विपरीत मझोले कद और छोटे सर वालो को फ्रेंच लोग आर्य मानते हैं। इस विवाद का निर्णय कैनन टेलर ने इस प्रकार किया है—"जब दो जातियो का

परस्पर सगठन होता हैं, तब उनमे जो भी अधिक सभ्य होती है, उसी की भापा दूसरी स्वीकार कर लेती है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाल्टिक सागर के किनारे पर बसने वाले वडे सिर और लम्वे जगलियो ने जब छोटे सिर और ठिगने आर्यों की सोहवत की, तब उन्होने आर्यों की ही भाषा सीख ली।

उनकी भापा मे कुछ तूरानी शव्द है। अफ्रीका के नीग्रो और एशिया के मगोल तूरानी भाषा वोलते है।

इनके आदिम पुरोहित 'ड्रइड' कहलाते थे। यह शव्द द्रविड भापा का ही अपभ्रश है।

कुछ भी हो, इतिहास और पुरातत्त्व के अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो गया है कि यह लोग लगभग ८वी सदी ई० पू० के आसपास यहाँ आये थे। इन बुद्धिमान लोगो मे कलात्मक प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी। इन्होने यहाँ की दलदली भूमि मे लट्ठे गाड-गाड कर मकान बनाये। इसके पश्चात् दलदली भूमि को मिट्टी से भरा। इन लोगो की भाषा इस्टिकन थी। उसी भापा के लेख यहाँ पाये गये हैं, जो अभी तक पढे नही जा सके।

अस्तु, परम्परागत विचारधाराओ के अनुसार, रोम की स्थापना ७५३ ई० पू० मे **रोमुलस और रेमन्स** नामक दो इस्ट्रकन भाइयो ने की। प्रारम्भ मे यह नगर-राज्य था। धीरे-धीरे यह नगर राज्य एक छोटे से राज्य के रूप मे परिणित हो गया। इसकी सीमाएँ टायवर नदी से बढकर फ्लारेस की आर्नो नदी तक पहुँची तथा अपेनाइन पर्वत माला के मध्य का सभी प्रदेश इसके अन्तर्गत आ गया। उस समय यहाँ राजतत्र-प्रणाली प्रचलित थी, जो ५१० ई० पू० तक जारी रही। राजा **सीनेट** द्वारा चुना जाता था और इसकी पुष्टि जनता की एक असेम्बली करती थी। यह असेम्वली ही राजा के अधिकारो का निर्णय करती थी। वडी सीनेट मे रोम मे रहने वाली जातियो के मुखिया होते थे और असेम्वली मे तीस क्यूरिया (Curiae) या परिवारो के समूह, जिसमे सारी जाति को विभक्त किया गया था। उस समय उच्च परिवार **पैट्रीशियन** (Patrician) और जन-साधारण **प्लेबस** (Plebs) कहलाते थे। राज्य के सभी उच्च पद उच्च वर्ग के लोगो के ही हाथ मे थे। अत इस व्यवस्था से जन-साधारण अति क्षुब्ध था। उनके आन्दोलनो का परिणाम यह निकला कि नई असेम्वली का निर्माण हुआ और इसमे दोनो वर्गों के लोगो को प्रतिनिधित्व मिला।

राजतन्त्र की समाप्ति और गणतन्त्र का प्रारम्भ (५१० ई० पू० से ३० ई० पू० तक)

५१० ई० पू० जब रोम का राजा टार्क्विनियस सुपर्स (Tarquinius Superbas) था, तब जनता ने उसे भगाकर वहाँ गणतन्त्र की स्थापना कर दी। अत राजा के स्थान पर शासन के लिए प्रति वर्ष दो **काउसल** (Consul) चुने जाने लगे। परन्तु इस पद के लिए अब भी उच्च वर्ग के व्यक्ति ही खडे हो सकते थे। इनका चुनाव असेम्वली द्वारा होता था। इसमे भी उच्च वर्ग के लोगो की ही प्रधानता थी। इन लोगो के अतिरिक्त शासन की सुविधा के लिए कुछ अन्य पदो की स्थापना भी की गई।

जिनमे, न्यायाधीश, कर-निर्धारण तथा कोषाध्यक्ष के पद मुख्य थे। परन्तु इन पदो पर भी उच्चवर्ग के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। अत जन-साधारण ने पुन इस व्यवस्था का विरोध किया और राज्य से चले जाने की धमकी दी। इस धमकी का तात्कालिक प्रभाव नही पडा। लगभग दो शताब्दियो वाद उनके लिए भी एक असेम्वली (Concilium plebis) बनाई गई, जो इनके पदो और अधिकारो का निर्णय करती थी। इन पदो मे चार न्यायाधीशो का पद प्रमुख था जो साधारण जनता के अधिकारो की रक्षा का कार्य करते थे। उच्चवर्ग के पदाधिकारियो अथवा उनकी असेम्वली द्वारा साधारण जनता के अन्याय को इन्हे रोकने का अधिकार प्राप्त था। शनै शनै-जन-साधारण भी राज्य के उच्च पदो पर चुने जाने लगे। अत ४थी शताब्दी ई० पू० काउ-सलो मे से एक जनसाधारण के व्यक्तियो मे से चुना जाने लगा और उच्चवर्ग की सीनेट मे भी जनसाधारण का प्रवेश हो गया। अत गणराज्य मे दोनो वर्गों के सम्मि-श्रण का परिणाम यह हुआ कि असेम्बलियो के अधिकार वढते गये। लोकसभा से भी अधिक महत्त्व राज्य सभा को प्राप्त हो गया। यही सभा लोकसभा के नियमो के पारित होने पर अपना निर्णय देती थी और यही राज्य के उच्चाधिकारियो का चुनाव करती थी, साथ ही यही रोम का उच्च न्यायालय भी था। ४ थी शताब्दी ई० पू० मे इन दोनो सभाओ को भी मिलाकर एक ही कर दिया गया। इस विलीनीकरण मे लोक-सभा का एक भाग अलग रखा गया और उसके जिम्मे धार्मिक कार्यो के सम्पादन का कार्य रह गया अथवा यह राज्यसभा को केवल परामर्श दे सकती थी।[1] दूसरी ओर रोम राज्य का विस्तार होने के कारण राजकीय मामले बहुत बढ गये थे। अत असे-म्बली की शक्ति और अधिकार और भी बढ गये। एक शक्तिशाली सेना और मज़बूत जहाजी बेडा यह लोग तैयार कर चुके थे।

इस्ट्रकन सभ्यता की रूपरेखा—इस सभ्यता की रूपरेखा पर प्रकाश इरीट्रिया की खुदाई से पडा है। खुदाई से प्राप्त कलाकृतियो को देखकर, पुरातत्त्ववेत्ता आश्चर्य-चकित रह गए थे। उनकी मूर्तियो तथा सोने-चाँदी और कासे के काम मे वेवीलोनिया, मैसोपोटामिया के मैदानो के नागरिको की कारीगरी की छाप स्पष्ट है। उभरे हुए भिति-चित्रो के नियम भी एशियाई कला के ही अनुरूप थे। शिकार के यथार्थवादी चित्रो के वनाने की प्रवृत्ति ईरानियो के सदृश्य थी। यहाँ पर भारत की लक्ष्मी की एक मूर्ति का प्राप्त होना, इनका भारत से भी अधिक निकट सम्पर्क का होने मे सहायक है और स्त्रियो द्वारा शकुन विचार की प्रथा का होना, यह भी सिद्ध करता है कि इन लोगो के व्यक्तिगत और सामाजिक-जीवन पर असीरियन सभ्यता का भी पर्याप्त प्रभाव पडा था। परन्तु यह एक आश्चर्य की वात है कि असीरिया के यह रिवाज़ कैल्डिया मे ता प्रचलित थे, परन्तु ईजीयन सागर की सीमा पर रहने वाले यूनानी लोगो तक नही पहुँच सके।

---

१ डनिंग ए हिस्टरी ऑफ पोलिटिकल थ्योरीज़ खण्ड-१

परस्पर सगठन होता हैं, तब उनमे जो भी अधिक सभ्य होती है, उसी की भापा दूसरी स्वीकार कर लेती है। इस सिद्धान्त के अनुसार वाल्टिक सागर के किनारे पर बसने वाले वडे सिर और लम्बे जगलियो ने जव छोटे सिर और ठिगने आर्यो की सोहवत की, तब उन्होने आर्यों की ही भापा सीख ली।

उनकी भाषा मे कुछ तूरानी शब्द है। अफ्रीका के नीग्रो और एशिया के मगोल तूरानी भाषा बोलते है।

इनके आदिम पुरोहित 'ड्र इड' कहलाते थे। यह शब्द द्रविड भापा का ही अपभ्रश है।

कुछ भी हो, इतिहास और पुरातत्त्व के अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो गया है कि यह लोग लगभग ८वी सदी ई० पू० के आसपास यहाँ आये थे। इन बुद्धिमान लोगो मे कलात्मक प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी। इन्होने यहाँ की दलदली भूमि मे लट्ठे गाड-गाड कर मकान बनाये। इसके पश्चात् दलदली भूमि को मिट्टी से भरा। इन लोगो की भाषा इस्ट्रिकन थी। उसी भापा के लेख यहाँ पाये गये हैं, जो अभी तक पढे नही जा सके।

अस्तु, परम्परागत विचारधाराओ के अनुसार, रोम की स्थापना ७५३ ई० पू० मे रोमुलस और रेमन्स नामक दो इस्ट्रकन भाइयो ने की। प्रारम्भ मे यह नगर-राज्य था। धीरे-धीरे यह नगर राज्य एक छोटे से राज्य के रूप मे परिणित हो गया। इसकी सीमाएँ टावर नदी से बढकर फ्लारेंस की आर्नो नदी तक पहुँची तथा अपेनाइन पर्वत माला के मध्य का सभी प्रदेश इसके अन्तर्गत आ गया। उस समय यहाँ राजतन्त्र-प्रणाली प्रचलित थी, जो ५१० ई० पू० तक जारी रही। राजा सीनेट द्वारा चुना जाता था और इसकी पुष्टि जनता की एक असेम्बली करती थी। यह असेम्बली ही राजा के अधिकारो का निर्णय करती थी। बडी सीनेट मे रोम मे रहने वाली जातियो के मुखिया होते थे और असेम्वली मे तीस क्यूरिया (Curiae) या परिवारो के समूह, जिसमे सारी जाति को विभक्त किया गया था। उस-समय उच्च परिवार पैट्रीशियन (Patrician) और जन-साधारण प्लेबस (Plebs) कहलाते थे। राज्य के सभी उच्च पद उच्च वर्ग के लोगो के ही हाथ मे थे। अत इस व्यवस्था से जन-साधारण अति क्षुब्ध था। उनके आन्दोलनो का परिणाम यह निकला कि नई असेम्बली का निर्माण हुआ और इसमे दोनो वर्गों के लोगो को प्रतिनिधित्व मिला।

राजतन्त्र की समाप्ति और गणतन्त्र का प्रारम्भ (५१० ई० पू० से ३० ई० पू० तक)

५१० ई० पू० जब रोम का राजा टार्क्विनियस सुपर्स (Tarquinius Superbas) था, तब जनता ने उसे भगाकर वहाँ गणतन्त्र की स्थापना कर दी। अत राजा के स्थान पर शासन के लिए प्रति वर्ष दो काउसल (Consul) चुने जाने लगे। परन्तु इस पद के लिए अब भी उच्च वर्ग के व्यक्ति ही खडे हो सकते थे। इनका चुनाव असेम्वली द्वारा होता था। इसमे भी उच्च वर्ग के लोगो की ही प्रधानता थी। इन लोगो के अतिरिक्त शासन की सुविधा के लिए 'कुछ अन्य पदो की स्थापना भी की गई।

जन-जीवन के इतिहास के सच्चे और प्रत्यक्ष सहायक भी हैं। इनमे शराब के प्यालो और दावतो मे निमग्न इस्ट्रकन सरदारो की विलास-प्रियता का चरित्र-चित्रण अत्यन्त सुस्पष्टता से किया गया है। इन चित्रो मे दावतो मे शामिल होने वाले गायको और नर्तको का दिग्दर्शन विशेष रूप से कराया गया है।

अन्तिम सस्कार—इन लोगो के अन्तिम सस्कार पर मिस्री प्रभाव स्पष्ट है। **मिस्री** लोगो की भाँति यह लोग भी मृतक व्यक्ति का आवरण बनाते थे और उसे कब्र के ऊपर अकित करते थे। यह लोग अपने पूर्वजो की मुखाकृतियाँ मोम की बनाकर अपने घरो की दीवारो पर सुरक्षित रखते थे।

यही प्रथा आगे चलकर समस्त यूरोप भर मे फैल गई और यूरोप मे भोजन-गृहो की दीवारो पर आज भी ऐसे चित्र लगे पाये जाते है, जैसे कभी मृत लोगो के मोम के चित्र रोमन लोगो की दीवारो पर लगे रहते थे। इनके मकबरो से एक और विशेष बात का पता चला है। वह यह कि इनके यहाँ भी मिस्री और मध्य-एशियन लोगो की भाँति जीवित पत्नी को मृत पति के साथ गाडने की प्रथा थी। अभी तक जितने भी शव मिले हैं, उनमे पति-पत्नी एक दूसरे से जुडे हुए मिले है। सबसे विशेष बात यह है कि इनमे पहले शव-दाह की प्रथा के चिह्न मिले है, जहाँ कब्रो मे शव मिले हैं, वहाँ राख भी गडी हुई मिली है। अत अनुसन्धान से यह सिद्ध हुआ है कि तीसरी शताब्दी तक यहाँ रोमन सम्राटो के शव चिता पर रखकर जलाये जाते थे। चिता के जलते ही एक गरुड पक्षी छोडा जाता था। दूसरी शताब्दी मे आकर यह प्रथा कम होने लगी और धनी लोगो के शरीरो को मसाला लगाकर कब्रो मे रखा जाने लगा। इनकी शव समाधियाँ पाँच प्रकार की होती थी।—(१) शव को सुरक्षित रखने वाली पिरामिड आकार की, (२) पूर्वी ढँग के मन्दिर के आकार की, (३) कबूतर के दरबे की भाँति दरवाजो वाली, जो चट्टानो को तराश कर बनाई जाती थी और इसमे भस्मपात्र रखे जाते थे, (४) खड्डे के ऊपर मृत व्यक्ति के नाम का पत्थर ढक दिया जाता था और (५) साधारण कब्रे। यहाँ सबसे प्रसिद्ध कब्रे, जिनकी मरम्मत इटली के डिक्टेटर मुसोलिनी ने (१९३० ई० मे) कराई थी, **सीसीलिया मेटल्ला, आगस्टस सीजर** और **हैड्रियान** की हैं। इन पिरामिड सदृश्य कब्रो मे भी सबसे प्रसिद्ध कब्र सीस्टिअस की कब्र है।

रोम की स्थापत्य-कला—रोम की स्थापत्य-कला, विशेषकर उनके मन्दिरो पर यूनानी-प्रभाव लक्षित होता है, क्योकि रोमन-मन्दिरो मे भी यूनानी मन्दिरो की भाँति स्तम्भ-पक्तियाँ पाई गयी है। मन्दिरो के द्वारो की सीढियाँ मजबूत ठोस पत्थरो की बनी हुई है और मन्दिर पत्थरो की नीची दीवारो की चहारदीवारी से सुसज्जित है। इन दीवारो के स्तभो पर अनेक मूर्तियाँ बनी हुई है। इस तरह के सबसे प्रसिद्ध और विशाल देवालय रोम के 'फारचूना विराइलिस' और **मार्स अल्टोर नोम्स के मेजोकारे,** सीरिया के **बालबेक** नामक स्थान का महान् देवालय, **पामीरा का सूर्य मन्दिर** और स्पलाटो का **इस्कूलोपियस** का विख्यात मन्दिर है।

आवास निर्माण—खुदाई से जो भवन यहाँ निकले है, वह मेहराबदार होने के कारण, इरीट्रिया और असीरिया मे सास्कृतिक-सम्बन्ध घनिष्ट होने की पुष्टि करते है। मानव इतिहास के प्रारम्भिक-काल मे केवल पश्चिमी एशिया के लोग ही धनुपाकार छत बनाने की कला से परिचित थे। उस समय इस प्रकार की धनुपाकार छते न यूनानी व ताना जानने थे और न ही मिस्र वाले जानते थे। केवल असीरियन और बेबीलोनिय के लोगो मे मेहराबदार छतें बनाने की प्रथा थी। अत इरीट्रिया मे ऐसे मकानो का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह लोग न ग्रीक थे, न यूरोपियन, अपितु एशियाई ही थे और ट्राय के विख्यात युद्ध—अर्थात् ई० पूर्व एक हजार वर्ष के पश्चात् अपने मूल स्थान को त्याग कर इटालियन प्राय द्वीप मे टाईबर नदी के उत्तरी भाग मे आकर बसे थे।

कला-प्रेम—इस्ट्रकन लोग अत्यन्त कला-प्रेमी थे। लोहे का प्रयोग यह लोग बहुतायत से करते थे। ताँबे की इस देश मे बहुतायत थी। अत यह लोग अपनी धातुओ की मूर्तियाँ आदमकद की बनाते थे। खुदाई से यहाँ जितनी भी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है उनमे पुरुषो की मूर्तियो के मुख पर असीरियन-कला की कठोरता के भाव लक्षित है। परन्तु नारी-मूर्तियो की मुखाकृतियाँ बदली हुई है।

इसके अतिरिक्त भित्तिचित्रो के बनाने की प्रथा भी यहाँ विशेष रूप से प्रचलित थी। यह भित्तिचित्र केवल घरो की दीवारो पर ही नही बनाए जाते थे, अपितु कब्रो और विशाल मकबरो की दीवारो तक पर भी बनाये जाते थे। कालान्तर मे बडे बडे रोमन थियेटरो और सर्कसो तथा स्नानागारो की दीवारे भी इनमे रगी जाने लगी और इन्होंने कई शैलियो का रूप ले लिया।

इन भित्ति-चित्रो से रोम के सस्थापको के कला-प्रेम की ही झाँकी नही मिलती अपितु उनके समस्त सामाजिक जन-जीवन की रूपरेखा भी स्पष्ट हो जाती है, जो उनके इतिहास की जानकारी के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

चित्रकारी का शौक इनके जीवन मे इतना व्याप्त था कि घरो की दीवारो और मकबरो पर ही यह चित्रकारी नही करते थे, अपितु गहनो और जवाहिरात पर भी चित्रकारी करते थे। इनके मकबरो से जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनसे ज्ञात होता है कि अलकारो का प्रयोग बहुतायत से होता था। सुनहरी वस्त्राभूषणो से लेकर कठाहारो, मजूषाओ, धातुनिर्मित चारपाइयो का चित्रयुक्त मकबरो मे पाया जाना इनकी कला-प्रियता का स्पष्ट प्रमाण है।

अपने सुसज्जित रथो को यह धातुओ की चद्दरो से मढते थे और उन चादरो को चित्रकारी द्वारा सजाते थे। इसके अतिरिक्त यह मिट्टी के काले वर्तन बनाते थे और उन्हे भी चित्रकारी से सजाते थे। यह काले वर्तन यूरोप मे 'बुकेरो-नीरो' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके भित्ति-चित्रो के नमूने **कोरनेटो, चिन्सी, वुल्सी, सेर्वेण्टरी** आदि के मकबरो मे पाये गए हैं। यह भित्ति-चित्र मनोरजक तो है ही, साथ ही प्राचीनकाल के

के अतिरिक्त उन स्थानो पर मिलती है, जहाँ रोम-साम्राज्य का झडा उस काल मे गढ गया था। सिलचेस्टर (इग्लैंड) मे भी इस प्रकार की इमारते इसीलिये मिली है, क्योंकि उस समय वहाँ भी रोम का ही राज्य था।

विशाल स्नानागार—प्रमोद-प्रिय रोमन लोगो पर यूनानी सभ्यता का इतना प्रभाव पडा था कि यूनानी व्यायाम-शालाओ के आधार पर इन्होने अपने यहाँ प्रमोद के लिये विशाल स्नानागार बनाये थे। इन विशाल स्नानागारो के अवशेष **रोम और पाम्पिआई** की खुदाई से मिले हैं। यह विशाल स्नानागार केवल जल-क्रीडा के लिए ही नही थे, अपितु इनमे क्लबो का कार्य भी लिया जाता था। प्रारम्भ मे इनमे प्रवेश करने वाले व्यक्ति से साधारण-सा शुल्क भी लिया जाता था। अत यहाँ पर प्रवेश-शुल्क वसूल करने वाले मुशी, स्नानागार के प्रहरी एव सेवको के अतिरिक्त उबटन लगाने वाले, मालिश करने वाले, नाखून काटने वाले, पानी गर्म करने वाले, नाई, रोगनी करने वालो के अतिरिक्त सैकडो गुलाम भी रहते थे, जिनके कारण स्नान भी होता था और मन बहलाव का साधन भी सुलभ हो जाता था।

यह स्नानागार ऊँचे स्थान पर बनाये जाते थे, जिनके चारो तरफ चहार-दीवारी होती थी, और नीचे प्रबन्ध-विभाग के कक्ष होते थे। स्नान के लिये ठण्डे और गर्म पानी के बडे-बडे हौज कमरो के अन्दर होते थे। सभवत तुर्की के **हम्माम** इन्ही रोमन स्नानागारो की नकल है। अस्तु, यहाँ मालिश कराने का कमरा अलग होता था और कपडे बदलने का कमरा अलग होता था। साथ ही एक छोटा-सा पुस्तकालय और छोटी-सी नाट्यशाला भी होती थी। भवन के चारो ओर फव्वारो से युक्त एक बगीचा होता था। यहाँ खेल-कूद के लिये, बैठने के लिये अलग-अलग स्थान थे। इमारत के अन्दर छोटी-छोटी नहरो से जल पहुँचाया जाता था। यहाँ दार्शनिको और कवियो के लिये भी अलग-अलग कमरे थे।

काराकाल और डायोक्लीटन के स्नानागार, जो आजकल खण्डहर अवस्था मे हैं—देखने से पता चलता है कि वहाँ दो हजार व्यक्तियो के एक साथ स्नान का आनन्द लेने का प्रबन्ध था। २० फुट ऊँचे चबूतरे पर यह बने हुए है। इनका एक भवन, जो केवल स्नान के काम आता था, ७५० फुट लम्बा तथा ३५० फुट चौडा है, अर्थात् लन्दन के वैस्ट मिनिस्टर पैलेस के बराबर। इसका सारा फर्श नक्काशीयुक्त चित्रो से भरा हुआ था और दीवारो पर चमकदार रगीन प्लास्टर था। जिन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाये गये थे। इसके मण्डपो पर प्राचीनकाल की सर्वोत्तम कला-कृतियाँ स्थापित थी, जो यूनान से लाई गई थी। १५वी शताब्दी मे खुदाई होने पर, इनमे बहुत-सी प्राचीन काल की सर्वोत्तम मूर्तियो के अवशेष खोदकर निकाले गये थे, जो वेटिकन के सग्रहालय मे मौजूद थे, जहाँ से यूरोप के अन्य सग्रहालयो मे भेजे गये।

इन स्नानागारो मे डायोक्लीटियन का स्नानागार सबसे बडा था। इसमे तीन हजार आदमियो के एक साथ स्नान करने की व्यवस्था थी।

नाट्य-गृह—रोमन लोगो की नाट्यकला मे भी रुचि थी। अत यहाँ नाट्य-गृहो

इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के देवालय भी रोम मे पाये गये हैं, जो बहु-कोणीय ढाँचो पर निर्मित हुए हैं। सम्भव है कि यह देवालय इगीट्रिया वासियो की देवालय की नकल पर बनाये गये हो। इस प्रकार के मन्दिरो के **अवशेष, रोम के वेस्टा और मेटरमेट्श** के मन्दिर तथा सुप्रसिद्ध **पैथियन स्वलाटो** जुपिटर का मन्दिर **बालबेक** का **वीनस मन्दिर, टिवोली** का **वेस्टा** और **नीम्स** का **डायनादेवी** का मन्दिर स्थापत्य-कला की दृष्टि से कम महत्त्व के है। इन सब मे निस्सन्देह रोम का **पैथियन,** जहाँ आजकल ईसाइयो का चर्च बना हुआ है, सबसे अधिक प्रभावशाली और सुरक्षित अवस्था मे हैं। इस पर ग्रीक स्थापत्य की छाप तनिक नही है। इसी प्रकार अकरा मे भी इसी प्रकार के प्राचीन मन्दिर मिले है। इनमे से एक विशाल मन्दिर जूलिया वश के पारिवारिक देवताओ को उत्सर्ग किया गया था। यह मन्दिर हजारो प्रकार की स्थापत्य-कलाओ से सजाया गया था। प्रसिद्ध अग्रेज स्थापत्य-विशारद **सर बेनिस्टर फ्लेचर** ने भी इसकी बडी प्रशसा की है।

रोम सम्राट् **हैड्रियान** के काल मे, पैथियन की निचली मजिल मे श्वेत चमकीले सगमरमर के टुकडे लगे थे और ऊपर की दोनो मजिलो की दीवारो पर एक विशेष प्रकार का चमकीला पलस्तर चढा हुआ था। मन्दिर का गुम्वद, जिसके निचले हिस्से मे सीढियाँ बनी हुई थी, सोने का मुलम्मा की हुई कासे की चादरो से मढा हुआ था। ६५५ ई० में यह चादरे उतार कर, कुस्तुनतुनिया भेज दी गयी और उनके स्थान पर शीशे की चादरें लगवा दी गयी। इसके अग्रभाग मे बने अष्टकोण मन्दिर मे नक्काशी युक्त **दैत्य-मर्दन** एव अन्य देवताओ के युद्ध का भव्य मूर्तिचित्र अकित किया गया है और पीछे की ओर चौडी अटारी मे कासे की बनी हुई भव्य मूर्तियो के समूह है, जिनको बने हजारो वर्ष व्यतीत हो गये।

६०८ ई० मे इसे पोप **बोनीफेस** ने शहीदो की टोली की वीर आत्मा **शान्ता-मेरिया** की स्मृति मे उत्सर्ग किया और **केटेकुम्म** नामक समाधि-ग्रह से शहीदो की अस्थियो के ढेर लाकर यहाँ रखे। उक्त मन्दिर का अस्थियो वाला भाग **शान्तामेरिया रोटुडा** के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मन्दिर से विधर्मी मूर्तियाँ हटा दी गयी।

वैसेलिका—वस्तुत यह यूनानी मन्दिर-निर्माण-कला का रोम मे विकसित रूप था। यह स्थान न्यायालय का भी काम देते थे। इनका आकार-प्रकार चतुर्भुज होता था। लम्बाई चौडाई से दुगनी होती थी। लम्बाई के इस छोर से दूसरे छोर तक, स्तम्भो की दुहरी पक्तियाँ होती थी। इन्ही स्तम्भो पर भवन की छत टिकी हुई होती थी। सदर द्वार मध्य के बजाय, भवन के कोने पर बना होता था। भवन मे एक ओर न्यायाधीशो के बैठने के लिये एक चबूतरा बना होता था। इसके मध्य मे प्रीटर—प्रधान न्यायाधीश का स्थान होता था और न्यायाधीशो के स्थान के सम्मुख वह वेदी होती थी, जहाँ मुकदमे की कार्यवाही प्रारम्भ करने से पूर्व पशु की बलि दी जाती थी। यह इमारत इधर-उधर के बाजुओ मे खुली और मध्य मे लकडी की छत से ढँकी होती थी। इस प्रकार की अधिकतर इमारतें-वैसेलिका **ट्राजान** (पूर्व यूनानी प्रदेश) और **कॉस्टेनटाइन**

के अतिरिक्त उन स्थानो पर मिलती है, जहाँ रोम-साम्राज्य का झडा उस काल मे गढ गया था। **सिलचेस्टर** (इगलैड) मे भी इस प्रकार की इमारते इसीलिये मिली है, क्योकि उस समय वहॉ भी रोम का ही राज्य था।

विशाल स्नानागार—प्रमोद-प्रिय रोमन लोगो पर यूनानी सभ्यता का इतना प्रभाव पडा था कि यूनानी व्यायाम-शालाओ के आधार पर इन्होने अपने यहाँ प्रमोद के लिये विशाल स्नानागार बनाये थे। इन विशाल स्नानागारो के अवशेष **रोम** और **पाम्पिग्राई** की खुदाई से मिले है। यह विशाल स्नानागार केवल जल-क्रीडा के लिए ही नही थे, अपितु उनसे क्लबो का कार्य भी लिया जाता था। प्रारम्भ मे इनमे प्रवेश करने वाले व्यक्ति से साधारण-सा शुल्क भी लिया जाता था। अत यहाँ पर प्रवेश-शुल्क वसूल करने वाले मुशी, स्नानागार के प्रहरी एव सेवको के अतिरिक्त उबटन लगाने वाले, मालिश करने वाले, नाखून काटने वाले, पानी गर्म करने वाले, नाई, रोशनी करने वालो के अतिरिक्त सैकडो गुलाम भी रहते थे, जिनके कारण स्नान भी होता था और मन बहलाव का साधन भी सुलभ हो जाता था।

यह स्नानागार ऊँचे स्थान पर बनाये जाते थे, जिनके चारो तरफ चहार-दीवारी होती थी, और नीचे प्रबन्ध-विभाग के कक्ष होते थे। स्नान के लिये ठण्डे और गर्म पानी के बडे-बडे हौज कमरो के अन्दर होते थे। सभवत तुर्की के **हम्माम** इन्ही रोमन स्नानागारो की नकल है। अस्तु, यहाँ मालिश कराने का कमरा अलग होता था और कपडे बदलने का कमरा अलग होता था। साथ ही एक छोटा-सा पुस्तकालय और छोटी-सी नाट्यशाला भी होती थी। भवन के चारो ओर फव्वारो से युक्त एक बगीचा होता था। यहाँ खेल-कूद के लिये, बैठने के लिये अलग-अलग स्थान थे। इमारत के अन्दर छोटी-छोटी नहरो से जल पहुँचाया जाता था। यहाँ दार्शनिको और कवियो के लिये भी अलग-अलग कमरे थे।

काराकाल और डायोक्लीटन के स्नानागार, जो आजकल खण्डहर अवस्था मे हैं—देखने से पता चलता है कि वहाँ दो हजार व्यक्तियो के एक साथ स्नान का आनन्द लेने का प्रबन्ध था। २० फुट ऊँचे चबूतरे पर यह बने हुए हैं। इनका एक भवन, जो केवल स्नान के काम आता था, ७५० फुट लम्बा तथा ३५० फुट चौडा है, अर्थात् लन्दन के वेस्ट मिनिस्टर पैलेस के बराबर। इसका सारा फर्श नक्काशीयुक्त चित्रो से भरा हुआ था और दीवारो पर चमकदार रगीन पलास्तर था। जिन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाये गये थे। इसके मण्डपो पर प्राचीनकाल की सर्वोत्तम कला-कृतियाँ स्थापित थी, जो यूनान से लाई गई थी। १५वी शताब्दी मे खुदाई होने पर, इनमे बहुत-सी प्राचीन काल की सर्वोत्तम मूर्तियो के अवशेष खोदकर निकाले गये थे, जो वेटिकन के सग्रहालय मे मौजूद थे, जहाँ से यूरोप के अन्य सग्रहालयो मे भेजे गये।

इन स्नानागारो मे **डायोक्लीटियन** का स्नानागार सबसे बडा था। इसमे तीन हजार आदमियो के एक साथ स्नान करने की व्यवस्था थी।

नाट्य-गृह—रोमन लोगो की नाट्यकला मे भी रुचि थी। अत यहाँ नाट्य-गृहो

की भी बहुतायत थी। इन नाट्य-गृहो को यूनानी-पद्धति मे थोडा परिवर्तन करके वनाया गया था। इनमे दर्शको के वैठने के लिये गैलरियाँ होती थी। यह ककरीट की खडी मेहराबो पर खडी करके बनाये जाते थे। इनमे उच्च श्रेणी के लोगो के लिये वैठने का स्थान सुरक्षित होता था। रोमन लोगो द्वारा बनाया हुआ एक नाट्यगृह दक्षिण फ्रास के **ओरेंजा** नामक स्थान से मिला है। इसे बनाने के लिये दो पहाडियाँ काटी गई थी। इसका व्यास ३४० फुट है, जिसमे एक साथ सात हजार दर्शक तक वैठ सकते है। यह ३०३ फुट लम्बा और ४५ फुट ऊँचा है। ऐसे अन्य नाट्यगृह **मार्सेल्स** और एथेन्स मे तो मिले ही है, साथ ही एटिकसका ओडियन, पम्पिआई, टारमीनाटिमगाड तथा वैरन-लैमियम मे भी मिले हैं।

द्वन्द्व-युद्ध के अखाडे—रोमन साम्राज्य मे ऐसे अखाडो की वहुतायत थी, जिनमे द्वद्व-युद्ध लडे जाते थे। वहाँ पर बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातो का निर्णय, सरदार लोग शासन से न कराकर, द्वद्व-युद्ध से करते थे। यूनानी लोगो मे भी यह प्रथा प्रचलित थी। यह अखाडे भी एक प्रकार की रगशालाएँ थी। इनमे शस्त्रो से सुसज्जित दो व्यक्ति युद्ध करते थे। इसके पश्चात् सामने बनी एक दूसरी रगशाला मे मृत व्यक्ति की आत्मा की शाति के लिये एक गुलाम की बलि दी जाती थी। इन दोनो रगशालाओ मे खून सोखने के लिये रेत बिछाई जाती थी। इन कार्यो के अतिरिक्त यह रगशालाएँ सैनिक प्रदर्शनो के लिये भी प्रयोग मे आती थी और साँडो की लडाई भी इनमे कराई जाती थी। इसी तरह की रगशालाएँ रोम की नकल पर **स्पेन** मे भी **मूर** सरदारो ने बनाई थी। इस प्रकार का विश्व का सबसे बडा अखाडा जिसे 'एम्फी थियेटर' कहते थे, रोम के कलीशियम मे है, जिसे रोमन सम्राट् **वस्पेसियन** ने बनवाना शुरू किया था और ऊपरी मजिल को छोडकर, जो तीसरी शताब्दी मे जोडी गई थी, सम्राट् डोमिशियन द्वारा पूरा किया गया। यह भवन मनुष्य की रचना-कौशल का एक विशेष नमूना है और रोमनो की शानो-शौकत, तडक-भडक तथा कठोर रोमाचक वृत्ति का खुला ऐतिहासिक पृष्ठ है। यह रोमन साम्राज्य की जहाँ शक्ति का साकार रूप है, वहाँ साथ ही उनकी वर्वर प्रवृत्ति का भी परिचायक है। इस भवन के निर्माण के समय ज्योतिषियो ने भविष्यवाणी की थी कि जब इस भवन का विनाश होगा, तभी रोम-साम्राज्य का भी विनाश हो जायेगा। इस भवन की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसमे ८० मेहराबदार द्वार बने हुए थे। निचली मजिल मे तमाशा देखने वालो के लिये वैठने का स्थान बना हुआ था। अखाडे का मुख्य भाग २८७ फुट लम्बा १८० फुट चौडा था, जिसके चारो ओर १५ फुट ऊँची दीवारें थी। भवन के सबसे नीचे के भाग मे जगली जानवर रखे जाते थे। इस भवन मे २० हजार तक दर्शक तमाशा देख सकते थे।

रोमन सरकस—ग्रीक व्यायाम-शालाओ की भाँति रोमन लोग बडे-बडे सरकस बनाते थे। इनमे घुडदौड और रथो की दौड होती थी। इन सरकसो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध सरकस, **मैक्सिमस मैक्सोसियस** का जूलियस सीजर ने निर्माण कराया था।

यह दो हजार फुट लम्बा और ६५० फुट चौडा था। इसमे ढाई लाख तक आदमी बैठ सकते थे।

विजय-स्तम्भ—रोमन लोगो ने विजय-स्तम्भ भी बहुत बनाये थे। यह स्तम्भ सम्राटो की विजय की यादगार मे बनाये जाते थे। यह भी मेहराबदार होते थे, इनमे पेरिस का आर्कदेकियाक, बर्लिन का ब्रेंडर बगर, लन्दन का सगमरमर का फाटक—प्राचीन रोमन सभ्यता का सदैव स्मरण कराते रहे है। इन स्तम्भो मे भी ट्राजान का विजय स्तम्भ विशेष प्रसिद्ध है। इसकी ऊँचाई ११५ फुट और घेरा ७० फुट है। इसमे युद्ध की घटनाएँ उभरे हुए चित्रो द्वारा चित्रित की गई हैं। इस प्रकार के लगभग २५० चित्र इस स्तम्भ पर अकित किये गये थे। स्तम्भ के ऊपर पहले गरुड आसन पर सम्राट् की मूर्ति रखी गई थी, पश्चात् सम्राट् की मूर्ति के स्थान पर पीटर की मूर्ति रख दी गई। यह परिवर्तन इसी विजयस्तम्भ पर नही किया गया था, प्राय सभी खडे हुए स्तम्भो पर किया गया था।

रोमन भास्कर्य और चित्रकला

ग्रीक देवालयो के क्रमिक विकास के अध्ययन मे स्पष्ट है कि जब विशुद्ध उपयोगिता सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो चली, तब भवन-निर्माताओ के मन मे अपनी कृतियो को एक सौन्दर्य के भाव से अभिभूत करने की भूख जगने लगी। इस सौन्दर्य-पिपासा ही ने ग्रीक भवनो की कठोर 'टॉस्कि-शैली' को क्रमश शृगारपूर्ण 'कारिथियन-शैली' मे बदल दिया। साथ ही इसी ने देवालयो को सजाने मे प्रयोग की गई असख्य मूर्तियो, फीजो, पेडिमेट पर अकित प्रतिमाओ तथा अन्ततोगत्वा मन्दिर के निर्माण मे धन द्वारा सहायता करने वालो की मानव-मूर्तियो को भी जन्म दिया।

ग्रीक कला के उत्तरकाल मे इस प्रकार इस ढँग की मानव-मूर्तियो का अधिकाधिक प्रचलन बढ चला। वास्तव मे, ग्रीक लोगो के आरम्भिक आदर्शवाद के ढल चुकने के शीघ्र ही बाद से ग्रीस मे वीरोपासना की रीति चल पडी थी। अब सार्वजनिक स्थानो मे मानवाकृति वाले देवताओ की मूर्तियो के बदले, राजपुरुषो, शक्तिवर शासको या नेताओ की प्रतिमाओ की ही अधिकाश मे भरमार हो चली, जिनमे एक देवतुल्य सर्वशक्तिमानता और गौरव-गरिमा का भाव प्रदर्शित रहता था। रोमन लोगो ने भी, जिन्होने उत्तरकालीन ग्रीक लोगो से ही अपनी कला की कुजी पाई थी, मानव-मूर्ति-निर्माण की इस प्रचलित प्रथा को जारी रखा, जिसका एक परिणाम यह हुआ कि रोम के गौरवशाली सुपुत्रो की सारी जाज्वल्यमान नक्षत्र-मण्डली, अमिट सगमरमर मे सदा के लिए उचित रूप मे सुरक्षित हो गई। यह सच है कि रोमन मूर्तियो मे अधिकाश ग्रीक लोगो की ही नकल पाई जाती है, किन्तु इस बात के लिए रोमन लोगो को श्रेय देना ही होगा कि उन्होने ग्रीक परम्परा को उस समय जारी और जीवित रखा, जबकि स्वय ग्रीस ही मे कला-सम्बन्धी प्रेरणा का आदि स्रोत करीब-करीब सूख चुका था।

जैसा कि प्राय होता है, रोमन कला का भी प्रारम्भ धर्म-मन्दिर और उसके प्रागरण मे ही हुआ। सभी आदिम कलाकृतियाँ या तो भक्तिमूलक होती है या शव-सस्कार-सम्बन्धी। अपने आरम्भिक देवालयो मे रोमन लोगो ने इट्रस्कन लोगो का अनुकरण किया था, जिन्होने स्वय ग्रीक लोगो की नकल की थी। रोमन देवालयो के त्रिभुजाकार पेडिमेट टेराकोटा की मृण्मय मूर्तियो से विभूषित किए जाते थे, जो निश्चय ही इट्रस्कन लोगो की कला की याद दिलाती हैं। सच पूछिए तो मिट्टी की कारीगरी, भास्कर्य और कासे से मूर्तियाँ ढालने की कला के सम्बन्ध मे रोमन लोग जो कुछ भी जानकारी रखते थे उसके लिए वे लगभग सम्पूर्णतया इट्रस्कन लोगो के ही ऋणी थे। हिप्नास या निद्रा की सुप्रसिद्ध मूर्ति, रोम के प्रतिष्ठापक युगल बधु रेमस और रोम्यूलस को दुग्धपान कराती हुई मादा भेडिया की काँसे की विख्यात प्रतिमा, और 'वक्ता' या 'ब्रूटस' की तथाकथित मूर्तियाँ रोमनो द्वारा काँसे की ढलाई के उत्तम आरम्भिक उदाहरणो मे से हैं। किन्तु काँसे की ढलाई की परिमितता और विशेष अडचनो से शीघ्र ही रोमन कलाकार ऊबने लगे और उनका ध्यान पाषाण से गढकर मूर्ति बनाने की ओर खिचने लगा। इटली की अनेक सगमरमर की खदानो से मूर्ति-निर्माण के लिए उमदा सगमरमर मिलने लगा था। इस अवसर से समुचित लाभ उठाने मे रोमन कलाकारो ने देरी न की। ग्रीस के पुरातन या उतर युग की सगमरमर की वे अनेक कलाकृतियाँ, जो छँट-छँटकर विजेता रोमन सेनानायको के साथ-साथ रोम मे प्रवेश कर चुकी थी, रोमन कलाकारो के लिए नकल करने या प्रेरणा पाने के लिए बहुत ही उपयोगी आदर्श या नमूनो का काम देने लगी। इस प्रकार बहुत ही शीघ्र भास्कर्य के क्षेत्र मे रोम की कारीगरी और सफलता ग्रीस की कारीगरी का मुकाबला करने लगी।

नेपल्स मे भास्कर्य का एक स्थानीय 'स्कूल' या कला सस्थान क्रमश विकसित होकर उठ खडा हुआ, जिसने एलेक्जेण्डर के युग की उन आदर्श ग्रीस कृतियो का अनुकरण करना आरम्भ किया, जिनका प्रजातन्त्र के जमाने के रोमन सग्रहकर्ता बहुत ही ऊँचा मूल्य आँकते थे। इस 'स्कूल' की एक विशेषता यह थी कि इसके अनुगामी कलाकारो ने बडी चतुरतापूर्वक यह बात भाँप ली थी कि ग्रीस की आरम्भिक अति पुरातन मूर्तिया सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से उत्तरकालीन ग्रीक-कृतियो से कही ऊँचे दर्जे की थी। इसी वजह से इन लोगो ने अधिक शृगारयुक्त और पाडित्यपूर्ण उत्तरकालीन ग्रीक शैली के बजाय अति प्राचीन आदि-ग्रीक शैली का ही अनुसरण किया। इस शैली मे बनाई गई कलाकृतियो का सर्वोत्तम नमूना तथाकथित 'पाम्पिआईकी डायना' की मूर्ति है। "यह उस आडम्बर-रहित परिश्रमपूर्ण शैली की नकल है, जिसमे कि अति प्राचीन ग्रीक शिल्पी गतिशील आकृति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते थे। साँचे मे ढली हुई-सी वह 'पुरातन मुस्कान', वे बडी-बडी आँखे, वह एक समान केश-विन्यास स्पष्ट रूप से यह बता देते है कि इसके कलाकार ने उसमे एक अति प्राचीन मूर्ति का भाव लाने के लिए कितना परिश्रम किया था।" कहते है कि इस 'स्कूल' का सस्थापक पेसीटीलीज़ नामक एक ग्रीक था, जो एक प्रसिद्ध मूर्ति-कलाकार होने के अतिरिक्त

एक विद्वान् लेखक भी था, जिसका ग्रीककला पर लिखित पाँच खण्डो का ग्रथ प्लाइनी के सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी अनुशीलन का प्रधान स्रोत था। उसी के ग्रथ से यह ज्ञात होता है कि वह आजकल की तरह अपनी कृति को मिट्टी मे बनाता था और उसके शिष्य बाद को सगमरमर मे उसकी नकल कर लेते थे। इफीजिनीया और ओरीस्टीज एव तथाकथित 'इलडेफाजो समूह' के प्रसिद्ध मूर्ति-समूह इसी नेपल्स के स्कूल के है और वे बिना किसी सन्देह के ग्रीस के हेरोडोट्स और प्रेक्सीटीलिज के स्कूलो की याद दिलाते हैं।

रोम मे साम्राज्यशाही की स्थापना और प्रसार के साथ ही सम्राटो और जनता दोनो को विशाल इमारते बनाने की सनक बढने लगी। प्रत्येक सम्राट् अपने राज्या-रोहण या विजयो की यादगार मे बेसिलिका, फोरम, सर्कस, स्नानागार आदि बनवाने लगा, जिससे स्थापत्य कलाकारो, मूर्तिकारो, चित्रकारो और सजावट करने वाले कारी-गरो को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला। सम्राट् ऑगस्टस की यह गर्वोक्ति थी कि "मैंने रोम को एक ईंटो की बस्ती के रूप मे पाया था और उसे मैंने सगमरमर की नगरी के रूप मे छोडा।" अपने सुदीर्घ शासनकाल मे ऑगस्टस ने अनेक अति उपयोगी सार्वजनिक भवन निर्मित किए थे।

उभारकर बनाए गए मूर्ति-चित्रो मे अधिकतर पौराणिक या धार्मिक कथाएँ अकित की गई थी। कुछ मे तत्कालीन जीवित व्यक्तियो का भी चित्रण किया गया था, जैसे कि ऑगस्टस द्वारा निर्मित 'आरा पेसिस' (शान्ति-पीठ) मे, जिसे कि उसने गॉल और स्पेन मे अपनी विजयो की स्मृति मे बनवाया था। एङ्काइरा (आधुनिक अकारा) जो तुर्की प्रजातत्र की राजधानी है, नामक प्राचीन ग्रीक नगर मे ऑगस्टस द्वारा बनवाया गया एक विशाल मन्दिर है, जिसकी दीवारो पर एक लबा आलेख खुदा है। यह आलेख "ऑगस्टस सीज़र का अतिम वक्तव्य" माना जाता है। इस आलेख मे इस महान् रोमन सम्राट् ने अपनी प्रजा से विदा लेते हुए अपने सग्रामो, सुधारो और अपने शासन-काल मे बनवाए गए भवनो को गिनाया है। उपर्युक्त आलेख मे 'आरा पेसिस' या शान्ति-पीठ नामक उपरोक्त स्मारक भवन का निम्न शब्दो मे उल्लेख किया गया है—"स्पेन और गॉल को पूर्ण रूप से शात करके मेरे लौटने पर सिनेट (सर्वोपरि रोमन व्यवस्थापिका सभा) ने मेरे वापस लौटने के उपलक्ष्य मे धन्य-वाद-प्रदर्शन के रूप मे यह निश्चय किया कि केम्पस मारटियस नामक स्थान मे एक वेदी या पीठस्थान का निर्माण कराया जाय और वह शान्ति-देवी को उत्सर्ग कर दिया जाय।" शाति के इस महिमामय मन्दिर के भग्न अश आज दिन योरप के तमाम सग्र-हालयो मे बिखरे पडे है। १६०२ मे प्रो० पीटरसन नामक एक आस्ट्रियन पुरात-त्ववेत्ता ने असली देवालय के मूल-स्थान का पता लगाया और बडी सावधानी के साथ खुदाई करके इस शान्ति के मन्दिर के शेष भागो को धरती मे १६ फीट नीचे से खोद निकाला। 'आरा पेसिस' का सबसे मशहूर उभरा हुआ मूर्ति-चित्र वह फ्रीज है जिसमे ऑगस्टस के एक सार्वजनिक जुलूस का दृश्य है। इसमे आगस्टस **प्रधानपुरोहित** के वेश

मे है और उसके साथ दो कॉन्सल (रोम के उच्च पदाधिकारी) और उनके परशुधारी अनुचरो (lictors) का एक दल है। इनके पीछे एक मनोरजक दल और है, जिसमे महारानी लिविआ, सम्राट् का दामाद अग्रिप्पा और उसका सौतेला पुत्र टीवेरियस है। तदुपरात एन्टोनिया के साथ ड्रूसस छोटे-से जर्मेनिकस को हाथ पकडकर आगे ले चलते हुए दिखाया गया है। इनके पीछे सिनेट के सदस्यो और उच्च कुलीन रोमन पैटीशियनो का झुंड है, जो टोगा नामक अपनी लबी पोशाक मे वडी गभीरतापूर्वक कतार वाँधकर चल रहे हैं। रोमन राज्य के उच्च पदाधिकारियो और अमीर वर्ग के लोगो के इस जुलूस का जैसा यथार्थवादी चित्रण इसमे किया गया है उससे श्रेष्ठतर चित्रण कही नही मिलता। आरा पेसिस की सजावट की कारीगरी रोमन कला के चरम उत्कर्ष की झलक हमे देती है। उसमे हमे प्रकृति के प्रति रोमन लोगो का एक गभीर अनुराग दृष्टिगत होता है, जिसका ऊपरी फ्रीज पर अकित मानव-मूर्तियो की गहरी यथार्थवादिता के साथ पूरी तरह सामजस्य दिखाई देता है। सक्षेप मे, 'आरा-पेसिस' या शान्ति-पीठ का यह स्थान आरम्भ से अपने निर्माण के युग तक की रोमन-कला के इतिहास का एक गौरवपूर्ण सक्षिप्त चित्रपट सा है, जिसमे एक ओर उत्तर-कालीन ग्रीक युग की परपरा की याद दिलानेवाली अनेक वाते है तो दूसरी ओर वे मानव-मूर्तियाँ हैं जो निश्चय ही इस्ट्रुकन यथार्थवादिता की ही विकसित रूप थी।

रोमन साम्राज्य के दूसरे महान् ऐतिहासिक नगर—पाम्पिआई की कलाकृतियाँ ही सहारा मात्र हैं, जिसे वेसूवियस नामक ज्वालामुखी ने बाद में आने वाली पीढियो के लिए अपनी उगली हुई लावा के नीचे दवाकर मानो मोमियाई की तरह सुरक्षित कर दिया था। लार्ड लिटन ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास "पाम्पिआई नगर के अतिम दिवस" मे इसकी कथा को सदा के लिए अमर कर दिया है और साहमी चित्रपट वनाने वालो ने प्राय प्रत्येक देश के निवासियो को उससे परिचित करा दिया है। पुरातत्त्ववेत्ताओ के लगभग एक शताव्दी के अथक परिश्रम और अध्यवसाय के फल-स्वरूप यह प्राचीन नगर करीव-करीव सारा-का-सारा खोदकर खुला कर दिया गया है।

रोमन-गृह की प्रधान विशेषता 'एट्रियम' नामक वह छतदार कक्ष था, जिसमे आसमान की ओर एक खुला वातायन रहता था। यह वातायन 'इम्प्लूवियम' के नाम से पुकारा जाता था। इसकी दीवारे एक खास ऊँचाई तक सगमरमर से विभूषित रहती थी। इन दीवारो की कँगनी रँगी रहती थी। यह रोमन सजावट की "प्रथम शैली" मानी जाती है। सभव है इसकी उत्पत्ति का स्रोत भी ग्रीक कला रही हो। सजावट की इन रोमन शैलियो का चूंकि पाम्पिआई मे ही अन्य स्थानो की अपेक्षा सवसे अधिक अध्ययन किया गया है, अतएव ये भित्ति-शृगारकला की 'पाम्पिआई शैलियाँ' के नाम से भी अभिहित की जाती है और 'सगमरमर-शैली, के नाम से पुकारी जाती है ('इन्क्रस्टेशन' 'क्रुस्टा' शब्द से बना है, जिसका अर्थ होता है—'सगमरमर की एक तख्ती)।

दूसरी शैली 'स्थापत्य-शैली' के नाम से पुकारी जाती है, इस शैली से सजाए गये भवन मे स्तम्भ-पक्तियाँ और स्थापत्यमूलक विशेषताएँ ऐसी दिखाई देती है, मानो

वे दीवारो से पृथक् हो, जिससे देखने वाले के मस्तिष्क पर यह प्रभाव पडता है कि जैसे पीछे बहुत गहराई तक दृश्य फैला हुआ है। इस प्रकार वह कमरा वास्तविकता से अधिक बडा दिखाई देने लगता है। सजावट की यह 'स्थापत्य-शैली' इतनी अधिकता से काम मे लाई जाने लगी कि रोम की चहारदीवारी के बाहर बने हुए अनेक शाही कुंज-भवनो मे से एक मे सारी-की-सारी दीवार एक पुष्पित झाडी के चित्र से विभूषित है। इसमे मनोहर वृक्षो के समूह छत तक अपना सिर उठाए हुए चित्रित है और उनमे विविध रगो के पक्षी भी दिखाए गए है। यह मुश्किल से 'स्थापत्य शैली' कही जा सकती है। यह भी दीवारो की सजावट द्वारा कमरे को वास्तविकता से अधिक बडा दिखाने का ही एक प्रयास है।

रोमन भित्ति-सजावट की तीसरी शैली 'आलकारिक शैली' है। इस शैली मे पीछे की ओर गहराई दिखाने का प्रयत्न नही किया जाता। सारी दीवार समान रूप से एक ही रँग मे रँग दी जाती है—सफेद, काले, या एक निराले ढग के लाल रग मे, जिसका नाम 'पाम्पिअन लाल रग' पडा था। पृष्ठभूमि पर हजारो तरह के छोटे आकार के अलकार चित्रित रहते थे। सजावट की यह आलकारिक शैली रोमन सम्राट् नीरो के जमाने मे बहुत अधिक प्रचलित हुई और उसके सुप्रसिद्ध 'सुनहले प्रासाद' मे अब भी इस शैली के चिह्न देखने को मिलते है। इस सुनहले प्रासाद के ध्वसावशेषो पर ही टाइटस के स्नानागार का भवन इस तरह बनाया गया था कि नीरो का यह प्रासाद उसकी कुर्सी बन गया था। १५वी शताब्दी मे जब टाइटस के स्नानागार के नीचे से इस महल के अवशेष खोद निकाले गये उस समय वे धरती के भीतर कदराओ (Grottoes) के रूप मे पाये गए। इसी कारण उनकी कुछ आलकारिक विशेषताओ को 'ग्रोटेस्को' (Grotesco) या आधुनिक अँग्रेजी मे 'ग्रेटस्क' कहकर पुकारा गया।

पाम्पिआई के अतिम दिनो मे, प्रथम शताब्दी ईस्वी के अत के लगभग, एक चौथी शैली का आविर्भाव हुआ, जो भ्रान्तिवादी (Illusionism) कही जाती है। इस शैली मे स्वाभाविकता का दावा नही किया जाता, जैसा कि पहली और दूसरी शैली वाले करते थे। अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए इस शैली मे स्थापत्य सबधी आकृतियाँ छोटे-छोटे खभो, फ्रीजो, खिडकियो आदि के रूप मे चित्रित की जाती थी, परन्तु वे एक ऐसी नूतन असाधारण और जटिल रीति से पेश किये जाते थे, जो यथार्थ-वाद की दृष्टि मे बिल्कुल ही अनजान लगते थे। फिर भी उनमे अपनी एक मनोहरता और आकर्षण होता था, जिससे बहुत ही नाजुक कल्पना का भाव टपकता था।

रोमन कला के ये सब अग प्रचुर रूप से पनपने और विकसित होने लगे थे, एलेक्जेंडर महान् की भाँति उनमे बहुत अधिक मूर्तियाँ है। उनका चाचा जूलियस सीज़र कलाओ का एक उदार आश्रयदाता और पोषक था। युवा ऑक्टेवियन (ऑगस्टस सीज़र) को अपने प्रसिद्ध चाचा से वसीयत के रूप मे उसके कई गुण मिले थे, जिसमे से एक यह था कि उनकी तरह यह भी कलाकारो से अपनी चित्र या मूर्त्ति बनवाने का बडा शौकीन था। इस प्रकार हम उसे १४ वर्ष के एक लडके के रूप मे, २५ के युवा के

रूप मे, अपने सैनिको के प्रति सभापण करते हुए रोमन सम्राट् के रूप मे, अग्रपुरोहित के रूप मे और अन्य अनेको भेषो मे चित्रित देखते हैं। रानियो और देश की अन्य उच्च महिलाओ के भी विविध वेशभूषा और केश-विन्यास के साथ भिन्न-भिन्न रूप मे उतारी गई काफी प्रतिमूर्त्तियाँ मिलती हैं, जिनमे उनका साधुत्व अथवा उनके व्यसन अमिट भाव से उनके चेहरे पर अंकित दिखाई देते है। रोमन मानव मूर्त्तिकारो की कृतियो की सजीवता के गुण का मूल्य आँकने के लिए यही पर्याप्त है कि ऑगस्टस की पत्नी लीविया अथवा ड्रूसस की स्त्री एन्टोनिया की मूर्त्तियो पर एक नजर डालकर क्लाडियम की दुराचारिणी स्त्री व नीरो की मा अग्रिप्पिना अथवा थिसेलिना, फास्टीना, पोप्पिया तथा इसी तरह की अन्य सम्राज्ञियो की मूर्त्तियो से उनकी तुलना की जाय। पहली मूर्त्तियाँ जहाँ स्त्री की तरुणाई की निर्मलता गभीरता, एव मधुरिमा के अति सूक्ष्म भाव से अभिभूत हैं, वहाँ बाद को गिनाई गई कृतियो मे उनके चरित्र की पतनावस्था पर स्पष्ट रूप से कलाकार की टीका पढी जा सकती है।

सक्षेप मे सभी रोमन मानव-मूर्त्तियो की एकमात्र कुजी 'निर्दयतापूर्वक चरित्र-चित्रण' कही जा सकती है। इस युग मे मानव-मूर्त्तियाँ अब जाति-विशिष्ट न रही, बल्कि स्पष्ट रूप से वे व्यक्ति-विशिष्ट हो गई। ट्राजान का स्मारक-स्तभ, एक स्मारक के उद्देश्य से बना होने के बावजूद वास्तव मे एक मानव-मूर्तियो की लबी-सी प्रदर्शनी है। यह सच है कि वीरता का प्रदर्शन ही उसका मुख्य विषय है, फिर भी हमे उसमे बार-बार उसके सस्थापक सम्राट् के जीवन के अति घनिष्ठ चित्र देखने को मिलते हैं। इसका रचयिता डेमेस्कस का प्रसिद्ध कलाकार अपोलोडोरस था, जो सम्राट् ट्राजान के साथ उसकी युद्ध-यात्राओ मे गया था और डैन्यूब-तटीय उसके सग्रामो का बडी ही चतुराई के साथ उसने इस स्मारक पर एक खाका खीच दिया है।

ट्राजान के बाद एक और महान् रोमन सम्राट् गद्दी पर बैठा। इसका नाम हैड्रियान था और ट्राजान की तरह यह भी स्पेन का रहने वाला था। यह सुन्दर वस्तुओ का प्रेमी था। स्थापत्य,मिट्टी के पात्र, घोडो और नवयुवको की परख मे वह बडा प्रवीण था। विचारोके सग्रह करने की उसमे एक सुसस्कृत टेव थी। किसी भी देश मे जो कुछ भी कलापूर्ण वस्तु उसे दिखाई पडती, उसको अपने सुप्रसिद्ध कुज-भवन मे सग्रह कर प्रतिष्ठापित करने का वह प्रयत्न करता। मिस्र की कला के लिए उसके मन मे बहुत अधिक झुकाव था और वहाँ की शैलियो का अपने अनेक महलो मे विस्तार के साथ उसने उपयोग किया था। इसकी सौंदर्यलिप्सा पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। उसने आज्ञा दी थी कि उसका युवा प्रिय पात्र एन्टोनियस एक अर्द्ध-देवता के पद पर प्रतिष्ठापित कर दिया जाय। यह बिथाइनियन युवक अपने शारीरिक सौदर्य के कारण प्रसिद्ध था। परन्तु अजीब रहस्यमय ढग से नील नदी मे डूबकर मर गया। हैड्रियान अपने इस अभागे प्रेमपात्र की याद कभी भी न भुला सका और उसने उसके सम्मान मे मिस्र मे एक नवीन नगर का निर्माण करने की आज्ञा दी। इस युवक की मूर्ति के बनाने मे सम्राट् के मूर्तिकारो ने उसे आदर्श रूप मे चित्रित कर एक नवीन कलात्मक शैली का

निर्माण किया, जो पुरातन कला की अंतिम शैली कही जा सकती है। एन्टोनियस की हजारो ढग से प्रतिमूर्त्तियाँ बनाई गई है। किन्तु सबमे एक विशेपता दिखाई देती है— अर्थात् पौरुष के साथ स्त्रैण विलासिता का मिश्रण।

एक और विशेप आकृति जो इस युग की रोमन कला मे प्राय देखने को मिलती है, बर्बर बदिनी की प्रतिमूर्त्ति है। रोमन नागरिको की मिथ्या दर्प-भावना को इस विचार से बडी ही आत्म-तुष्टि मिलती थी कि बर्बर लोगो की न केवल भूमि ही रोमन साम्राज्य के प्रान्तो मे परिणत कर दी गई, वरन् उनकी स्त्रियाँ भी रोमन सेनापतियो की विजय की साक्षी के रूप मे पकडकर लाई गई और घसीटी जा रही है। तथाकथित बर्बर बदिनी टुस्नेल्दा की प्रतिमा इस तरह की कृतियो का एक विशिष्ट उदाहरण है और उससे असहायता और अश्रुसिंचित करुणा का ऐसा भाव टपकता है कि जैसा रोमन कला मे बहुत ही कम देखने को मिल सकता है। अन्य जाति के बदियो की मूर्तियाँ भी प्रचुर मात्रा मे पाई जाती हैं और उनमे जिन लोगो की प्रतिमूर्ति अकित की गई है, उनके जातिगत लक्षण बडे मार्के के साथ चित्रित है।

धार्मिक-विचार—रोमन लोग पुरोहितो का बहुत आदर करते थे। उनके कथन का लोगो पर जादू के समान असर होता था। उत्सव के समय पुरोहित लोग दान मे मिले हुए वस्त्र पहिनकर ही सम्मिलित हो सकते थे। उनके अग्नि-कुडो की आग पवित्र समझी जाती थी। उस आग को साधारण कार्यों के लिये उपयोग मे नही लाया जा सकता था।

प्राचीन रोमन न्यूमिना (Numina) तथा कतिपय अन्य देवताओ की पूजा बिना कोई मूर्ति बनाये किया करते थे। राजकीय फोरम के निकट पवित्र अग्नि सदैव जलती रहती थी। प्रत्येक रोमन नित्य अपने इष्ट देवता की पूजा किया करता था। इन पूजाओ को विधि-पूर्वक करते हुए ही व्यक्ति धार्मिक समझा जाता था।

खाना खाने से पहिले एक थाली मे पवित्र भोजन रखकर, उस पर घर मे जलने वाली अग्नि का कुछ भाग डाला जाता था। इसमे सभी देवताओ के नाम पर एक-एक आहुति दी जाती थी। साथ ही कुछ सुगन्धित द्रव्य भी डाला जाता था। वस्तुत रोमनो की यह क्रिया भारतीय "बिलवैश्व देवयज्ञ" से मिलती है।

अपनी धार्मिक विधि मे अमीर लोग भोजन करने से पूर्व, एक विशेप थाली मे भोजन की वस्तु का थोडा-थोडा भाग रखकर, घर के सामने सदैव जलने वाले अग्नि-कुड मे डाल देते थे। इसके अतिरिक्त रोमन लोगो का विश्वास था कि गर्भ-स्थित बच्चे तथा उसकी माता की रक्षा जूनो लूसीनो (Juno lucino) देवता के अतिरिक्त बीस अन्य देवता भी करते थे। अत पुत्र उत्पन्न होते ही उसका संस्कार किया जाता था। बालक के जन्म के १० दिन के अन्दर और कन्या के जन्म के ८ दिन के अन्दर उसका नाम रखा जाता था। बालक अपनी आयु के सत्रहवे वर्ष के बाद अपने किसी गृह-देवता के मन्दिर मे जाकर अपने पुराने कपडे उतारता था। उस समय पुरोहित को कुछ दान दिया जाता था। कुछ धन **जुपिटर** के सन्दूक मे डाला जाता था। इसके

अतिरिक्त स्वर्गीय पितरो की स्मृति मे उनकी मृत्यु के दिन सहभोज होता था।

वैवाहिक-प्रथा—रोमन पिता विवाह के अवसर पर अग्नि को साक्षी कर जलाजलि के साथ कन्यादान करता था।[1]

विवाह के समय वरवधु का हाथ अपने हाथ मे लेता था और दोनो एक पात्र मे भोजन करते थे। विवाह से पूर्व मगनी हो जाती थी। उसके वाद नियत समय पर विवाह होता था। मगनी के वाद कोई विशेप कारण उपस्थित हो जाने पर, विवाह मे दो से पाँच वर्ष तक का अन्तर पड जाता था। पूर्ण अवस्था प्राप्त होने मे पहिले यदि विवाह हो भी जाता था, तव कन्या अपने पिता के घर रहती थी[2] विवाह की अतिम प्रथा यह थी कि कन्या एक वार पति के घर अवश्य जाती थी। इस समय खूव गाना-बजाना होता था। एक वश के वशजो मे परस्पर विवाह नही हो सकता था। वर की सात पीढियो और वधू की पाँच पीढियो से वाहर ही विवाह किया जा सकता था। मगनी के वाद विवाह न करना, लज्जाजनक समझा जाता था।

विवाह के समय वर वधु भेड की खालो से ढँकी हुई कुर्सियो पर वैठते थे। इस समय जुपिटर को रक्तहीन वलि दी जाती थी। सव लोग एक विशेप प्रकार की रोटी खाते थे। भोजन के वाद लोग एक दूसरे से हाथ मिलाते थे। घर के साथी उनसे हँसी-मज़ाक करते थे।

तलाक-व्यवस्था—रोमन लोगो मे तलाक-व्यवस्था प्राचीन-काल से ही रही है। यदि पति अपराधी हो, कुष्ठ रोग से पीडित हो, चिर-प्रवासी हो या किसी स्पर्श रोग का रोगी हो अथवा नपुसक हो, तव पत्नी पति को तलाक दे सकती थी। पति उसे केवल व्यभिचारिणी होने पर ही तलाक दे सकता था और उस दशा मे न उसका पिता द्वारा दिये हुए दहेज पर अधिकार रहता था और न ही पति उसकी जायदाद लौटाने के लिये वाध्य था।

वैधानिक-स्थिति—रोमन विधान मे परोपकार के लिये हुए धन पर सूद नही लिया जा सकता था। उधार ली हुई वस्तु यदि स्वय ही नष्ट हो जाय, तव लेने वाला उसकी हानि का उत्तरदायी नही था। यदि उधार ली गई वस्तु से, देने वाले की हानि हो रही हो, तव लेने वाले को अवधि से पूर्व भी लौटानी पडती थी। धरोहर का महत्त्व था। अत अमानत मे खयानत करने वाला कडे दण्ड का भागी होता था। यदि धरोहर चोरी हो जाय या राजा छीन ले, तव उसे लौटाने के लिये विवश नहीं किया जा सकता था। परन्तु यदि आपत्ति से पूर्व ही रखने वाला माग चुका हो तो देनी पडती थी और साथ ही देरी के लिये भी दण्ड देना पडता था। प्राचीन रोमन विधान मे चोरी आदि के लिये अग-भग का दण्ड था और व्यभिचार के लिये कोडो के साथ-साथ फासी भी दी जाती थी।

मृतक-सस्कार—मृतक को गाढ देने के वाद, उस क्रिया मे सम्मिलित होने

1. Leg 66 1 Digest of Justnion
2 Sec. 10 De, Sposabious

७ व्यक्तियो को रोमन सम्राट् को चुनने वाला (Elector) निश्चित किया गया। इसमे आर्क विशप और चार वोहिमिया, राईन प्रदेश, सैक्सनी और ब्रैंडनवर्ग के शासक थे। सम्राट् सामन्तो की शक्ति से तग था। अत बाद मे यह पद केवल प्रतिष्ठा का ही रह गया। १८०६ मे नेपोलियन का अन्त कर दिया।

रोमन और भारतीय देवता—रोमन लोग मूर्ति पूजक थे। वड-वडे मन्दिर बनाते थे, यह तो हम पहले ही लिख चुके है। परन्तु भारतीय देवताओ मे रोमन देवताओ की समानता आश्चर्यजनक है। उदाहरणार्थ **जेनस** (Janus) रोमन देवताओ मे एक प्रमुख देवता थे। रोमन लोग इन्हे पिता मानते थे। यह सब वस्तुओ के उत्पादक थे। यह मार्गो के रक्षक और मगल कार्यो मे प्रमुख थे। इन्ही जेनस के नाम पर रोमनो ने अपने वर्ष का प्रथम मास जनवरी से प्रारम्भ किया। रोम मे इस देवता के वारह मन्दिर थे। यही नये वालको के अधिष्ठाता माने जाते थे। इनके लगभग सभी गुण भारतीय देवता **गणेश** से मिलते-जुलते है। भारत मे भी गणेश के यही गुण है और मगल कार्यो मे प्रथम उनकी ही स्तुति की जाती है।

सैटर्न (Saturn) **और सत्यव्रत**—पुराणो मे शतपथ ब्राह्मण की छाया लेकर जल-प्लावन की एक मनोरजक कथा आती है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है कि मनु के आचमन करते समय उनके चुल्लू मे एक मछली आई, जिसे उन्होंने एक कमण्डल मे डाल लिया। वह जब वडी होती गई, तब उसे उन्होने सागर मे डाल दिया। उसी ने मनु को प्रलय के लिए सावधान किया। क्रमश जल-प्लावन आया और चला गया। सृष्टि फिर से बनी। 'मत्स्य पुराण' और भागवत् मे लिखा है कि ईश्वर की कृपा से उस युग का सत्यव्रत मनु को बनाया गया और इसी कारण उस युग का नाम सतयुग पडा। रोमन लोगो मे सत्यव्रत **सैटर्न** के नाम से प्रसिद्ध है। रोम के प्राचीन सिक्को पर सैटर्न का जो चिन्ह पाया जाता है, वह भी विशेष महत्त्व का है। उन सिक्को पर सैटर्न का प्रतिनिधि जहाज का मस्तूल है। इसे यदि मनु के जल-प्लावन के समय जहाज बनाने से जोडा जाय, तब अत्युक्ति न होगी।

पोमी (Pomey) ने 'एलेक्जेंडर पोलिहिस्टर' से एक उद्धरण दिया है, जिससे सैटर्न की कहानी पर अच्छा प्रकाश पडता है। एलेक्जैण्डर का कथन है कि सैटर्न ने असाधारण वृष्टि होने के विषय मे भविष्यवाणी करते हुए जल-प्लावन से जीवधारियो को बचाने के लिए विशाल नौका—जहाज बनाने की आज्ञा दी थी। प्लेटोने एक स्थान पर एक दन्तकथा का वर्णन किया है। उसके अनुसार सैटर्न और साइवेल दोनो को थेटिस (Thetis) समुद्र की सन्तान वताया गया है। इन कथाओ के अनुसार सैटर्न का जल-प्लावन के साथ पूरा सम्बन्ध जुड जाता है। प्लेटो का कथन है कि सैटर्न का अर्थ 'समय' है और सैवेल का अर्थ 'पृथ्वी' (SPace) है। जल-प्लावन के वाद समय और पृथ्वी की लडकी (सिरिस) अन्न की वहुतायत उत्पन्न हुई।

सिरिस (geres) **और श्री**—सिरिस सैटर्न की लडकी है। यह सौभाग्य और

धन-सम्पत्ति की प्रतिनिधि है। सिरिस के शब्दार्थ है—"बहुतायत" अर्थात धन-सम्पत्ति की बहुतायत। भारतीय वाङ्मय मे भृगुऋषि की कन्या श्री जिसके 'कमला' और 'लक्ष्मी' दो नाम और है, धन और सम्पत्ति की देवी समझी जाती है। भारत मे गया के निकट श्री की मूर्ति उपलब्ध हुई है, वह रोम की श्री की मूर्ति के समान ही है। दोनो मे सीने के नीचे एक-सी पेटियाँ बँधी हुई है।

जुपिटर (Jupitar) **और इन्द्र**—ओविद की एक कविता द्वारा यह ज्ञात होता है कि जुपिटर बिजली (वज्रपात), स्वतन्त्रता और अधिकार का देवता है। यह लोग कई जुपिटरो को मानते थे, जिनमे से एक आकाश का है, जिसकी 'इनियन' नामक मूर्ति बनाकर पूजा की जाती थी। सर विलियम जोन्स के अनुसार जुपिटर शब्द का विकास निम्न प्रकार हुआ

Diues Petir (दिवस पिटर) (द्यौ पितर) आकाश का राजा।

Diues Petir (दिवस पिटर) Dives petir (डाइस्पीटर)

Dives Petir (डाइस्पीटर) Jupiter (जुपिटर)

भारतीय साहित्य मे बिजली, अधिकार और स्वतन्त्रता का देवता इन्द्र ही है। इन्द्र ही सब देवताओ का राजा है, इन्द्र का ही नाम है—द्यौ पिता, जिसका अर्थ आकाश का राजा है। रोमन साहित्य मे जुपिटर के लिए इन्नियस जॉव (Ennius Juve) प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द भी इन्द्र से ही मिलता-जुलता है। इन्द्र भी वज्र-धारण करता है और जॉव भी।

जूनो (Juno) **और पार्वती**—जूनो रोमनो की प्रसिद्ध देवी है जो ओलम्पियस पर्वत पर निवास करती है। इसी से उसका नाम (Olumpian Juno) रखा गया है। पर्वत की पुत्री पार्वती कैलाश पर्वत पर रहती है। दोनो देविया यूनानी और भारतीय साहित्य मे नारी जनोचित उदारता, प्रेम, गम्भीरता आदि गुणो के लिये प्रसिद्ध है। पार्वती का पुत्र मोर पर सवार होकर देव सेनापति बनता है। जूनो का पुत्र भी देवताओ का रक्षक (Warder) बनता है। छ मुख और बारह बाहो वाला स्कन्द पार्वती की रक्षा करता है, उधर इतने ही मुख और आखो वाला **आर्गस** जूनो की रक्षा करता है।

मिनर्वा (Minerva) **और दुर्गा**—रोमन साहित्य मे दो मिनर्वाओ का वर्णन है। इनमे प्रथम मिनर्वा हथियारो वाली देवी है। यह ओज और मन्युपूर्ण देवी है जो दुष्टो और पापियो का सहार करने मे तत्पर रहती है। दूसरी ओर दुर्गा भी राक्षसो का विनाश करके **चण्डी** कहलाती है। भारतीय साहित्य मे दुर्गा सर्वत्र शक्ति की प्रतीक मानी जाती है। इसके विपरीत द्वितीय मिनर्वा शस्त्र धारण नही करती। रोमन साहित्य मे इसे विद्या और बुद्धि की प्रतीक माना जाता है। रोमन देश का एक प्राचीन व्याकरण इसी देवी के नाम से प्रचलित था। यह सगीत की देवी भी है। इसके हाथ मे सदैव एक विलायती वीणा रहती है। भारत मे विद्या और बुद्धि की प्रतिनिधि **सरस्वती** मानी जाती है। वही वीणा धारिणी सगीत की भी देवी है।

'गिरील्ड्स' का कथन है कि रोमन **मिनर्वा** मिस्र की इसिस—दोनो देविया वास्तव मे एक ही है। प्लूटार्च ने मिस्री सैस के इसिस मन्दिर पर खुदा हुआ यह वाक्य उद्धृत किया है जो **भागवत** के श्लोक के अनुसार है। यथा—"मैं ही सम्पूर्ण भूत, वर्तमान और भविष्य हूँ। मेरा पर्दा अब तक किसी भी मरण धर्मा ने नही उठाया।" इसी आधार पर कहा जा सकता है कि मिस्री इसिस और भारतीय ईश्वर एक ही है।

जूनो (Juno) **और भवानी**—भवानी और जूनो मे भी बहुत समता है। रोमन लोगो मे जूनो सतति की अधिष्ठात्री देवी समझी जाती है। यह मूर्ति पुरुष और स्त्री दोनो आकारो मे बनाई जाती थी। भारत की भवानी देवी का चित्र शिव से सटा हुआ बनाया जाता था। सस्कृत साहित्य मे यह जगदम्बा और **जगन्माता** कहलाती है। स्त्री-पुरुष सम्मेलन के द्वारा ही अर्द्ध नारीश्वर की मूर्तियो का भारत मे निर्माण हुआ।

डायोनीसस (Dianisos) **और राम**—रोम मे इस व्यक्ति ने सामुद्रिक व्यापार की उन्नति की। समुद्र पार के देशो को विजय किया। अत जिस प्रकार राम के चरित्रो को लेकर रामायण की रचना हुई, उसी प्रकार डायोनीसस के चरित्र के आधार पर रोम मे भी एक काव्य की रचना की गई। वाल्मीकि रामायण और नोनस की डायोनीशिया (Dianisica) दोनो समान श्रेणी के ग्रन्थ हैं।

कृष्ण और मूसा—पौराणिक साहित्य के अनुसार गोपी-विहारी कृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत उठाया था और परियो के साथ आमोद-प्रमोद करने वाले मूसा ने पर्नेशस (Purnasus) पर्वत को उठाया था। सगीत के लिये भी दोनो मे समान रुचि है। अत यह सिद्ध है कि रोमनो और भारतीयो का गहरा सम्बन्ध था, क्योकि देवताओ मे इतनी गहन समानता बिना प्रगाढता के नही आ सकती।

वर्ण-व्यवस्था—भारतवर्ष की भाति रोमन समाज भी चार वर्णो मे विभाजित था—**पुरोहित** (Priests), **शासक** (Senators) **साहूकार** (Patriciens) **और दास** (Pleudions)।

रोमन विचारक और उनकी विचारधारा

भारत और यूनान की भाँति रोम ने भी अनेको उत्तम विचारक उत्पन्न किये है, जिन्होने प्राय सभी विषयो पर चिन्तन किया है, किन्तु यह सत्य है कि यूनानी विचारको की भाँति उनकी विचारधारा भी शृखला-बद्ध नही है। परन्तु यह भी सत्य है कि जितनी प्रगति ७५० वर्षों मे यूनानी विचारको ने की थी, उसका अर्द्धांश भी १५०० वर्षों मे यूरोप मे दिखाई नही पडता। यह गति-हीनता केवल राजनीतिक विचारो तक ही सीमित नही थी, कला और साहित्य के क्षेत्र मे भी यही दशा थी। मध्ययुग (अन्धकार-युग) की सबसे बडी विशेषता यह मानी जाती है कि यूरोप मे ईसाई धर्म का शुद्धिकरण हुआ। मूर्ति-पूजा अथवा देव-पूजा यूरोप से विदा हो गई। इसका परिणाम यह भी हुआ कि समस्त मानव-जाति को एक ही ईश्वर का पुत्र मानने की विचारधारा बलवती हो गई और 'विश्व-बन्धुत्व' का सिद्धान्त सामने आया। ग्रामो

मे कारीगरो की सस्थाओ के सघ बने। इन सघो ने निर्वाचन पद्धति को जन्म दिया। इस प्रकार यूरोप मे प्रजातन्त्र की भूमिका इन्ही निर्वाचनो द्वारा पडी, क्योकि इन सघो के अतिरिक्त ईसाई मठो से लगाकर, स्वय पोप तक का चुनाव भी निर्वाचनो द्वारा ही होता था।

इस विचारधारा ने इससे भी महत्त्वपूर्ण सहयोग 'दासता' पद्धति को समाप्त कराने मे दिया। अत मध्ययुग के समाप्त होते-होते, फ्लारेंस तथा वेनिस आदि मे विशुद्ध ज्ञान के विद्यापीठो की स्थापना हो गई। इन्ही के कारण स्वातन्त्र्य, सार्व-भौमिकता और मानव अधिकार आदि के सिद्धान्त पनपे।

रोमन विचारको के स्रोत-स्थल—वस्तुत रोमन विचारको की विचारधारा पर, रोम की विचार-विधियो, बाईबिल, यूनानी दार्शनिको के विचार और ईसाई पादरियो के व्याख्यानो का प्रभाव था। वस्तुत यही उनकी विचारधारा के स्रोत-स्थल थे और इसीलिए उनकी विचारधारा भी क्रमबद्ध नही थी, क्योकि बाईबिल मे प्राचीन यहूदी समाज का चित्रण था। उस समय की मान्यताओ, परिस्थितियो और विचार-धाराओ का दिग्दर्शन बाईबिल मे किया गया है। बाईबिल मे सार्वभौमिक सिद्धान्तो के अतिरिक्त ऐसे भी तथ्य पर्याप्त मात्रा मे है, जो प्रत्येक काल मे उसी भाँति लागू नही किये जा सकते, जिस भाँति उन्हे यहूदी-काल मे उपयोगी माना जाता था, परन्तु धर्मांधता से ओत-प्रोत यह विचारक इन विचारो को मानने के लिये तैयार नही थे। उनके लिये तो बाईबिल का प्रत्येक सिद्धान्त 'वेद वाक्य' था। इसका एक कारण गिरजाघरो का भय भी था, क्योकि बाईबिल के सिद्धान्तो के विपरीत विचारधारा रखने पर उन्हे गिरजाघरो के क्रूर अत्याचारो का शिकार होना ही पडता। उदाहरणार्थ 'कोपर-निकस', 'गेलिलियो' और 'ब्रूनो' आदि इसी भय से बहुत दिनो तक यह भी नही कह सके कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर घूमती है। इनके बाद भी जिन लोगो ने यह कहा, उन्हे या तो अपनी विचारधारा के खण्डन की घोषणा करनी पडी अथवा अपनी उक्त विचारधारा को अपने साथ कालकोठरी मे रखना पडा अथवा ऐसे लोग जीवित ही जला दिये गये।

बाईबिल के पश्चात् रोमन विधियो की विचारधारा का स्थान है। इन विधियो मे प्रजा के लिये अत्यन्त न्यून स्थान था और शासन-सत्ता प्रमुख मानी जाती थी। इनके ठीक विपरीत यूनानी विधियाँ थी, जिनमे सत्ता को गौण और प्रजावर्ग को प्रमुख माना जाता था। यूनानी विचारक अरस्तू ने यूनान के सामन्तकाल मे ही प्रजा-तात्रिक विचार लिखे थे। रोमन विचारको पर इन विचारो का भी प्रभाव पड रहा था। इनके बाद ईसाई पादरियो की धार्मिक उपदेशमालाएँ थी, जिनमे प्रजा और राजा से अधिक प्रमुखता धर्म को देने की घोषणाएँ नित्य की जाती थी। अत यूनानी विचारक के विचारो को इन विचार-स्रोतो ने 'खिचडी' का रूप दे दिया था। यही कारण है कि उनके विचारो पर राजनीति से धर्मनीति की छाप अधिक है। अत

उस युग मे उनकी विचारधारा का प्रभाव रोम पर इस प्रकार पड़ा—देश मे अशान्ति और अव्यवस्था पनपी, राज्य-धर्म का सघर्ष चला, केन्द्रीय व्यवस्था शिथिल हुई और ग्राम-व्यवस्था पनपी, धर्म श्रेष्ठ माना जाने लगा। अत धार्मिक विचारो की प्रबलता ने राजनीतिक विचारो को दबाये रखा और इन सब का अन्त सधि-क्रमो से हुआ।

ग्राम-समाजो की उत्पत्ति का कारण—यूरोप मे ग्राम-समाजो की उत्पत्ति अथवा ग्रामो की प्रबलता का मूल कारण हूणो के आक्रमणो द्वारा रोमन साम्राज्य की कमर तोड देना था। अत इन आक्रमणो से यूरोप की केन्द्रीय सत्ताएं शिथिल हो गई और राज्य-शक्ति सामन्तो के हाथ आ गई, क्योकि राज्य छोटे-छोटे टुकडों मे विभाजित हो चुका था। अत उस काल मे देश भक्ति बढी और देश-भक्ति ने ग्राम-समाजो के विकास को सहयोग दिया। इसका कारण एक और भी था। वह यह कि रोमनो द्वारा निर्मित राजमार्ग मरम्मतो के अभाव मे खराब हो चुके थे और असुरक्षित भी हो गये थे। अत ग्रामो का सम्बन्ध नगरो से पहिले जैसा नही रहा था। न ही शिक्षा के साधन शहरो मे रहे थे, जो ग्रामीणो को अपनी ओर प्रभावित करते। अत ग्रामीण लोग निरक्षर रहकर भी अपने देहातो को ही सुदृढ करने लगे और अपने ग्रामो मे अपने सगठन कायम करने लगे।

धर्म की उन्नति—इस युग मे ईसाई धर्म की उन्नति के लिए उसे अनेक कारण अनायास ही प्राप्त हो गये। एक यह कि आक्रामक लोग ईसाइयो के मठो और गिर्जाघरो को पवित्र मानकर उन पर आक्रमण नही करते थे और न ही वह वहाँ रहने वालो को लूटते थे, और न उनकी हत्या करते। अत रक्षा के लिये लोग प्राय मठो और गिर्जाघरो की शरण लेते थे। साराश मे, उस समय गिर्जाघर और मठ जीवन की सुरक्षा की गारण्टी बन गये थे। अत उस अराजकता-काल मे ईसाई धर्म को फलने-फूलने का अनायास ही अवसर प्राप्त हो गया था। समय का लाभ चतुर और लगनशील पादरियो ने भी जी-भरकर उठाया। उन्होने जहाँ लोगो को सान्त्वना दी और कुछ सेवा भी की, वहाँ उनकी बुद्धि पर धर्म का इतना गहरा आवरण भी डाल दिया कि धर्म के सम्बन्ध मे तर्क तो प्राय असम्भव ही था, लोग पादरियो की धर्म सम्बन्धी सभी बातो को आँख बन्दकर स्वीकार करने लगे। फलत पादरियो ने अब राजनीतिक सिद्धान्तो को भी धार्मिक अन्धविश्वासो से ओत-प्रोत करना शुरु कर दिया। यही सब कारण थे, जिनसे रोमन विचारक अपने विचारो मे, विचारो की क्रम-बद्धता नही ला सके।

वैसे उनके गुरु यूनानी विचारक भी अपने विचारो मे क्रम बद्धता नही ला सके थे। वह भी राजसत्ता की निन्दा करते-करते, उसकी प्रशसा भी करने लगते थे। यह तथ्य कैसियोडोरस (Cassicdores) के 'इस्टीट्यूट्स' (Institutes) तथा इसीडोर (Isidore) के 'एनसाइक्लोपीडिया' (Encyeclopaedia) से स्पष्ट है। इसमे विचारो की प्रौढता का दर्शन कही नही होता। मतो की स्थिरता का भी सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त रोम के ईसाई विचारक राजसत्ता को धर्म से सर्वथा गौण मानते थे

और जिस शासक को धर्म का अभय प्राप्त नही था, उसकी निन्दा भी करते थे, जैसे ईसाई सन्त आगस्टाईन ने तत्कालीन सत्ता को 'लुटेरो की सत्ता' की सज्ञा मे सम्बोधित किया है।

ईसाइयो के शक्तिशाली होने का एक लाभ यह अवश्य हुआ कि ईसाई प्रचारको ने 'सब मनुष्य एक पिता के पुत्र है' का नारा दिया और इसी नारे को आधार बनाकर, ईसाई विचारको ने 'सारे ससार के ईसाई भाई-भाई' का विचार व्यक्त किया। इस विचार को यूरोप भर मे सबल मिला, परन्तु आगे चलकर इस विचारधारा के भी दो भाग हो गये—राजनीतिक और आध्यात्मिक। परन्तु इस नारे को होली रोमन सम्राटो ने अपने स्वार्थ के लिए ही अधिक बुलन्द किया था, ताकि विश्व-बन्धुत्व की आवाज लगाकर वे आसानी से विश्व-सम्राट् बन जाय, परन्तु उनका मनोरथ तो सफल न हुआ, पोपतत्र अवश्य ईसाई-समाज का अधीश्वर बन गया।

ईसाई सन्तों द्वारा प्रकृति-विश्लेषण—हम पहले ही कह चुके है कि धार्मिक भय ने राजनीतिक विचारो को कम अवसर दिया और धार्मिक विचारो को अधिक दिया। अत यह विचारक यह मानते थे कि ईश्वर ने मनुष्य की कुछ सीमाएँ निश्चित करदी है और रचनात्मक विधियो को उन सीमाओ का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इन्ही विचारो का समर्थन सर फ्रेडरिक पोलक ने भी किया है। उन्होने लिखा है—"रोमन गणतन्त्र से लेकर, आधुनिक काल तक विधियो के सम्बन्ध मे विचार यह रहा है कि वह मनुष्य के बौद्धिक और सामाजिक विचारो के मध्य वह अन्तिम सिद्धान्त स्थिर करती है, जो रचनात्मक विधियो का औचित्य होता है या होना चाहिए।" अत शनै-शनै प्राकृतिक विधियो की कल्पना विस्तृत होती गई। अन्य विधियो से प्राकृतिक विधियो का सूक्ष्म अन्तर निर्धारित किया जाने लगा। सन्त टामस ने एक स्थान पर लिखा है—"जानदार वस्तुओ मे दैवी विवेक की झलक हो प्राकृतिक विधियो को जन्म देती है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति बुराई से बचना चाहता है और भलाई की ओर बढने का प्रयत्न करता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य अधिक-से-अधिक अनुकूल परिस्थितियो मे रहकर अधिक-से-अधिक काल तक जीना चाहता है।" इस सम्बन्ध मे लगभग यही विचार अरस्तू के हैं। वह कहता है—"मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि उसका अधिक-से-अधिक बौद्धिक विकास हो।" सन्त टॉमस का कथन है—"जहाँ तक नैतिक सिद्धान्त और सरकारो का सवाल है, वह सभी के लिए है। अत प्राकृतिक विधियो का यह तथ्य है कि प्रजा राजा की आज्ञा का पालन करे, राजा चाहे ईसाई हो या न हो। यदि प्रजा ऐसा नही करती, तब वह दण्डनीय है। वस्तुत सन्त टॉमस ने बार-बार यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि मानवीय विधियो (Human laws) का स्रोत-स्थल भी प्राकृतिक विधियाँ ही है। अत टॉमस यह मानता है कि मानवीय विधियो को मनवाने मे बल-प्रयोग उचित है।

यहूदी विचारक—फिलो, जस्टिन और टर्टूलियन, यह तीनो ही यहूदी विचारक थे। इनमे फिलो (Philo) ईसा की प्रथम शताब्दी मे उत्पन्न हुए थे।

लेकिन जस्टिन (Justin) तथा टर्ट्रलियन (Tertlian) दूसरी शताब्दी मे हुए थे। इन तीनो ही ने ईसाई धर्म मे समन्वय की भावना भरने का प्रयत्न किया। फिलो और टर्ट्रलियन ने यहूदी धर्म-ग्रन्थो का अध्ययन किया। प्लेटो के विचारो का भी मनन किया और उसके बाद दूसरे विचारको के विचारो के तत्त्व निकालकर यह बताया कि ईसाई धर्म इस प्रकार सब विचारो का प्रतिनिधित्व करता है। फिलो सिकन्दरिया का रहने वाला था, इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसने प्लेटो और ईसाई-धर्म के विचारो की तुलना की। यही कारण था कि लगभग एक हजार वर्षों तक प्लेटो का प्रभाव ईसाई-धर्म पर बना रहा। इसके बाद दूसरी शताब्दी के विचारक 'जस्टिन' का स्थान है। इसने प्लेटो तथा स्ट्रोइक की विचारधाराओ का गहन अध्ययन किया था और अन्त मे इन दोनो विचारको के विचारो की तुलना मे ईसाई-धर्म की ही उत्तमता की घोषणा की थी। अपनी यह घोषणा करके इस यहूदी सन्त ने ईसाई-धर्म ग्रहण कर लिया था। ईसाई-धर्म के इस प्रबल प्रचारक की मृत्यु १६८ ई० मे हुई और वह भी लडते-लडते। इसीलिये इस व्यक्ति को 'शहीद' की उपमा दी जाती है। यह मूर्ति-पूजा का घोर विरोधी था। इसके बाद टर्ट्रलियन का स्थान है। इस यहूदी विचारक ने ससार को असार बताया। जीवन की निस्सारता बतलाते हुए उसने विरक्ति पर बल दिया। इस विचारक का मत था—"सभी व्यक्तियो मे एक समान आध्यात्मिक बल है और प्रयत्न करने पर प्रत्येक मनुष्य ईश्वर की शरण मे पहुँच सकता है।" यह व्यक्ति ईसाई-धर्म का कट्टर प्रचारक था। इसका कथन था कि गैर-ईसाइयो की आपत्तियो मे ईसाइयो को प्रसन्न होना चाहिये। अत इसकी विचारधारा तीन बातो पर अवलम्बित थी। प्रथम ससार की असारता, द्वितीय विरक्ति की भावना को प्रोत्साहन और तीसरे ईसाई-धर्म की शरण मे आने पर ही मनुष्य-मात्र का कल्याण।

सन्त एम्ब्रोस और पोपगिलोसियस प्रथम—इस सन्त का जन्म ३४० ई० मे हुआ था। ईसाई-धर्म की शक्ति तब तक पर्याप्त बढ चुकी थी। इसी कारण इसने सम्राट् की शक्ति के आगे झुकने से इन्कार कर दिया था। उसका मत था कि ईसाई-सघो को सम्राट् के आधीन नही, स्वतन्त्र रहना चाहिये। उसका कथन था कि सम्राट् भी धर्म-सघ का पुत्र उसी भाँति है, जिस भाँति अन्य ईसाई हैं। अत वह विशपो को सम्राट् से भी ऊँचा मानता था। परन्तु वह प्रजा को सम्राट् की आज्ञा-पालक देखना चाहता था और यही उपदेश उसे दिया करता था कि सम्राट् की आज्ञा हर दशा मे माननी चाहिये। एक बार सम्राट् **वैलेन्टीनियन** ने 'एरियन-सम्प्रदाय' के उत्सव के लिये गिरजाघर माँगा। इस सम्प्रदाय का सस्थापक सिकन्दरिया निवासी **एरियस** नामक व्यक्ति था। इस सम्प्रदाय की शिक्षाओ की ३२५ ई० मे नाइस-परिषद् के अधिवेशन मे निन्दा की जा चुकी थी और उसके साहित्य को भी धर्म-विरोधी घोषित किया जा चुका था। अत अपने धर्म से विरोधी-धर्म के उत्सव के लिये गिरजाघर देने से एम्ब्रोस ने इन्कार कर दिया। एम्ब्रोस ने लिख दिया—"गिरजाघर विशपो के हैं और राजमहल सम्राट् के। गिरजाघरो पर सम्राट् का कोई अधिकार नही है।" इसका

खुलकर विचार प्रकट किये हैं। राज्य-भक्ति के बारे में आगस्टाइन का कथन है कि तक सम्राट् या उच्च-शासनाधिकारी का आचरण धर्मानुकूल रहता है, तब तक को आज्ञाकारी रहना चाहिए। परन्तु जब शासक नैतिकता के स्तर से गिरकर नुकूल कार्य न करे, तब प्रजा को उसकी आज्ञा न मानने का अधिकार है। इस प्रकार विचार क्रांति का एक सीमित आदेश है और गिर्जाघरों का समर्थक है। सम्पत्ति के कारों को उन्होंने परम्परागत मानकर, राज्य द्वारा ही उसका सम्बल माना है।

दासता—दासता को आगस्टाइन दैवी प्रतिकोप मानते हैं। वह अरस्तू की भाँति ता को अवश्यम्भावी या स्वाभाविक तो नहीं मानते, किन्तु अपराधी प्रवृत्ति के व्य के दण्ड-साधन के रूप में वह उसे स्वीकार भी करते हैं। यहाँ उनके विचारों में रोधाभास आ जाता है, क्योंकि एक ओर वह समस्त मानव जाति को ही 'पाप' से न्न हुआ मानकर, दासता की सूची में रख आये हैं, परन्तु दूसरी ओर मानव जाति एक भाग ही इस बुराई को भोगता है और शेष भाग उसका स्वामी बना रहता है। तविकता यह है कि रोमन और यूनानी—दोनों ही देशों के दार्शनिकों ने अपने ारों में घुमा-फिराकर 'दासता' का विरोध नहीं, समर्थन ही किया है। आगस्टाइन उन्हें आर्थिक हितों के लिए धार्मिक आडम्बर में ढंकने का प्रयत्न किया, परन्तु तर्क कसौटी पर, वह आर्थिक आवश्यकता से दासों की आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सके।

यूरोप में ईसाई धर्म का प्रारम्भ

यूरोप में ईसाई धर्म का प्रवेश रोम-राज्य में ही प्रारम्भ हुआ और वह भी की तीसरी सदी के लगभग। इससे पहले यह धर्म केवल यहूदी लोगों का ही ारा बना हुआ था। इसके मानने वाले भी दो पाटों—यहूदी शासकों और रोमन-म्राटों की क्रूरता की चक्की में पिसते थे। **सेन्टपाल** के उपरान्त इस धर्म की प्रगति परिवर्तन आया। सेंटपाल ने जगह-जगह बिखरे हुए ईसाइयों के छोटे-छोटे समाज ापित किये। इन समाजों पर भी मूर्तिपूजक पुरोहितों और रोमन सम्राटों के अत्या-र होते थे, परन्तु फिर भी यह समाज यूरोप में स्थान विशेष बनाता चला गया और न्त एम्ब्रोस तथा पोप गिलोसियस प्रथम तक यूरोप के पर्याप्त धनिक-वर्ग ने ईसाई-धर्म हण कर लिया।

राज्य-संरक्षण—इस धर्म को राज्य-संरक्षण रोमन सम्राट् **कास्टेनटाईन** ने या। इस सम्राट् को एक दिन दोपहर को एक रहस्यमय क्रॉस दिखलाई पडा था। सी रात को महात्मा ईसा ने स्वप्न में दर्शन देकर आज्ञा दी कि वह **क्रॉस** को ही पनी धर्मध्वजा बनाएँ। सम्राट् ने उस आज्ञा का पालन किया और ईसाई बनकर नेक युद्धों में विजय प्राप्त की। इन विजयों का परिणाम यह निकला कि यूरोप में साई धर्म तेजी से फैलना शुरू हो गया। दूसरी ओर ईसाई पादरियों ने उस समय रोमन म्राट् को अपना नेता मान लिया और अपने अधिवेशनों में वह लोग सम्राट् को सादर आमन्त्रित करने लगे। उसी समय रोम पर बर्बर जातियों के आक्रमण भी प्रारम्भ हो

लिखे। वाद मे इन्हे उत्तरी अफ्रीका मे हिप्पो का विशय बनाकर भेज दिया गया। अन्त तक यह वही रहे।

ऑगस्टाइन का साहित्य—इनके साहित्य मे सवसे वडा ग्रन्थ "The city of god" अर्थात् ईश्वर का नगर हे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कनफेशन्स' (Confessions) नामक पुस्तक भी लिखी। इस पुस्तक मे इन्होने जीवन के सारे अनुभवो को सत्यश लिपिवद्ध कर दिया है। परन्तु यह पुस्तक उनके मरने के उपरान्त प्रकाशित हुई। इनके अतिरिक्त उन्होने धर्म सम्वन्धी उपदेशो की छोटी-छोटी किताबे भी लिखी हैं।

ऑगस्टाइन के ग्रन्थ 'ईश्वर का नगर' के वाईस भाग हैं। पुस्तक के चार अध्यायो मे, ईश्वर के नगर और सासारिक नगर का अन्तर वतलाया गया है। साथ ही यह भी वताया गया है कि इन नगरो की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। इसके वाद के चार अध्यायो मे ईसाई धर्म का इतिहास है। इनके वाद के चार अध्यायो मे ईश्वरीय नगर मे मिलने वाले कर्म-फलो का वर्णन हे। उसके वाद के अतिम अध्यायो मे ऑगस्टाइन के सामाजिक और राजनीतिक विचारो का प्रकाशन है। राजनीति के विद्यार्थी के लिये वस्तुत पुस्तक का यही अश महत्त्वपूर्ण है। मूल पुस्तक लैटिन-भाषा मे लिखी गयी थी और लैटिन मे इसका नाम 'डिसिविटेट डेई' (De Civitate Dei) है। 'दि सिटि ऑफ गार्ड' अग्रेजी मे अनुदित पुस्तक का नाम है। इसका रचनाकाल सन् ४१३ और ४२६ ई० के मध्य माना जाता है। सासारिक नगरो और ईश्वरीय नगरो की सन्त ऑगस्टाइन की कल्पना प्रतीकात्मक है। उनका कहना है कि माया-मोह मे फसे लोग सासारिक नगरो के मोहपाश मे अधिकाधिक फसते चले जाते हैं। इनके विपरीत आध्यात्मिक व्यक्ति ईश्वरीय नगर की ओर झुकते हैं। उनका कथन था ईश्वरीय नगर का शासन क्राईस्ट करते हैं और सासारिक नगर का शैतान करते हैं।

ईश्वर-नगर की रचना के सम्बन्ध मे आगस्टाइन का विचार है कि मानवीय नगर एक-न-एक दिन अवश्य नष्ट होगे और जव तक वे नष्ट नही होते, तब तक उनमे दु ख और गरीब जैसे सकट बने ही रहेगे। इसके विपरीत ईश्वर-नगर शाश्वत है— वह सदा वना रहेगा। अपने ईश्वरीय-नगर के निर्माण की कल्पना मे आगस्टाइन ने सिसरो के 'विश्वराज्य' और प्लेटो के 'आदर्श-राज्य' की कल्पना से वहुत कुछ लिया है। अपितु इन दोनो विचारधाराओ को ही, ईसाईयत के साँचे मे ढालकर, 'ईश्वरीय नगर' के रूप मे उपस्थित किया हे। दूसरे शब्दो मे उसे ईसाई धर्म के गिर्जे की विशद् कल्पना भी कहा जा सकता है, क्योकि ईसाई सिद्धान्तानुसार गिर्जा भी ईश्वर का ही घर है। उनकी कल्पना की व्यापकता मे समस्त ससार ईसाई धर्मावलम्वी होता और सर्वोच्च सत्ता पादरियो के हाथ मे होती। इस धर्म-राज्य रूपी नगर मे ईसाइयेत्तर लोगो के लिए कोई स्थान नही था। सिसरो के 'विश्वराज्य' और आगस्टाइन के 'ईश्वरीय-नगर' मे अन्तर भी यही है। सिसरो के विश्वराज्य मे, मनुष्य-मात्र को उसका सदस्य माना गया है, जवकि ईश्वरीय-नगर मे ईसाई होना सदस्यता की प्रथम शर्त है।

सन्त आगस्टाइन की राजनीतिक विचारधारा—सन्त आगस्टाइन ने, राजनीति

चले। इन्हे यह आवश्यकता महसूस होने लगी कि समस्त विशपो का भी कोई शासक हो और इसी विचारधारा ने पोपवाद को जन्म दिया।

पोपवाद की स्थापना—पोपवाद की विचारधारा ईसाई समाज मे घर कर चुकी थी, परन्तु यह निश्चय नही हो रहा था कि पोप किस सघ के विशप को बनाया जाय, क्योकि रोम, कुस्तुनतुनिया, सिकन्दरिया, जेरसलम, एतियोक आदि स्थानों के सभी विशप अपने-अपने को पोप बनाने के लिये प्रयत्नशील हो उठे। इनमे जेरुसलम के विशप की महानता इसलिये मानी जाती थी कि वहाँ स्वय महात्मा ईसा का जन्म हुआ था और कुस्तुनतुनिया का विशप कहता था कि वर्तमान मे यूरोप मे धर्म की धुरी यही स्थान है। परन्तु अन्त मे रोम के विशप को ही पोप मान लिया गया। इसका सब से बडा कारण यह था कि रोम का विशप जहाँ विद्वत्ता मे सबसे आगे था, वहाँ उसका राजनीतिक महत्व भी बढा हुआ था। दूसरे सेंट पीटर और पाल ने अपने धर्म-प्रवचनो से इसी स्थान को आलोकित कर मृत्यु पाई थी।

पोपतन्त्र बनाम राजतन्त्र—पोपशाही की स्थापना के पश्चात् उनके राजतन्त्र ने जन्म लिया। पोप के राज्य मे सभी ईसाई थे। शासन विधान के लिये प्लेटो का 'रिपब्लिक' था। इस सारे पोप राजतन्त्र मे, स्वय पोप का स्थान एक दार्शनिक शासन की भाँति था। वास्तविक सचालक तो कार्डिनल लोग ही थे। इन लोगो का पोप-राज्य-विस्तार का ढग भी धार्मिक ही था अर्थात् जिसे पोप राज्य का नागरिक बनना हो, उसे बपतिस्मा ले लेना चाहिये। अत पोप-राज्य धर्मतन्त्र राज्य (Theocratic State) था। अत पोप द्वारा नियुक्त ईसाई धर्माचार्य धर्म और राज्य-दोनो के शासक थे। पोप-राज्य की विधियाँ ईसाई धर्मात्माओ के व्याख्यान थे, अथवा बाईबिल मे वर्णित हिदायतें थी।

पोपराज्य की आय के स्रोत—पोप राज्य की आय के प्रमुख दो स्रोत थे—दान और कर। अनेक प्रकार के कर राज्य द्वारा नियत किये हुए थे। इन करो के नाम थे—**एनेट्स कर, पीटर्सपेंस, टाइथ्स** आदि। इनमे प्रथम कर उपज पर लिया जाता था। इस कर की मात्रा निश्चित नही थी। इसके लिये नियम यह था कि प्रत्येक नया पोप नयी मात्रा ही निश्चित करता था। दूसरा कर धार्मिक कर था जो, रजत की मुद्रा के रूप मे लिया जाता था। इसे धार्मिक चन्दा भी कह सकते है, क्योकि यह प्रत्येक घर से वार्षिक रूप मे लिया जाता था और सेण्ट पीटर्स के गिरजाघर के खजाने मे जमा होता था। तीसरा कर 'उत्पादन-शुल्क' था। यह उत्पादन की आय के दसवे भाग के हिसाब से वसूल होता था। इनके अतिरिक्त कुछ कर और दान और भी वसूल होते थे। ईसाई-सघ के विभिन्न-विभाग, विभिन्न सेवाओ के लिये नियुक्त थे। जैसे **टेम्पलर्स** सघ के आदमी सैनिक कर्म करते थे। युद्ध के समय यही लडते थे। **हास्पिटलर्स**-सघ उस समय रेडक्रॉस का कार्य करता था। एक सघ के हाथ मे शिक्षा-सचालन था, क्योकि पोप ने कई विश्वविद्यालयो की स्थापना की थी और एक सघ का कार्य पोप के विदेश स्थित प्रतिनिधियो जिन्हे **लीगेट्स** कहा जाता था, तैयार करना होता था। ईसाई धर्म के लिये यह सौभाग्य की बात रही कि उसके पोपतन्त्र के प्रारम्भिक-काल मे उसे

गये। अत सम्राट् ने अपनी राजधानी रोम को छोड़कर कुस्तुनतुनिया को बना लिया, परन्तु इससे न राजा को राहत मिली और न राज्य को। बर्बरों के आक्रमण और बढ गए, और **थ्योसीडियस** के बाद तो रोमन साम्राज्य ही दो भागों– पूर्व और पश्चिम—मे विभाजित हो गया। इसके अतिरिक्त आक्रामक लोग भी जर्मनी और उसके आस-पास बसने लगे। इनमे बहुत से ईसाई भी हो गए और बहुत से रोमन सेना मे भर्ती हो गये। उस समय रोमन सम्राट् इतने कमजोर हो गए थे कि किसी प्रबल आक्रणकारी का सामना ही नही कर पाते थे। इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि ४१० ई० मे **विसिगोथ** (Visigoths) जाति के सरदार 'एलेरिक' ने रोम को तीन बार लूटा और सम्राट् उसका कुछ भी न बिगाड सका। इन लगातार आक्रमणो का कारण प्राचीन मतावलम्बियो ने ईसाई धर्म को बताया। अत इस काम के लिए इन्हे दोषी मानकर पुन निन्दित किया जाने लगा। अस्तु, ४७६ ई० मे जब रोम के सिंहासन पर, 'रोमुलस ऑगुस्टलस' नामक व्यक्ति बैठा था, तब **ओदोवकार** नामक एक आक्रमणकारी ने उसे गद्दी से उतार दिया। इस प्रकार ऐतिहासिक रोम साम्राज्य का अन्त होकर पवित्र रोमन साम्राज्य की पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई।

ईसाई संघो का उत्थन—रोम के इन दुर्दिनो मे ईसाई सघो की बन आई। इसका एक कारण तो आक्रमणकारियो का धर्म-सघो को न छेडना था, दूसरा कारण जनता को सकट के समय दिये गये पादरियो के उपदेश थे और इनसे भी बडा कारण फ्रेंक जाति के सरदार **क्लोविस** का ईसाई-धर्म ग्रहण करना था। इसी व्यक्ति ने फ्रास पर आक्रमण करके वहाँ पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसके वंश का नाम **मेरोविंगियन** था। सन् ४९६ ई० मे इस व्यक्ति ने ईसाई धर्म ग्रहण किया और तभी फ्रास पर अधिकार किया। अत फ्रास मे तो ईसाई धर्म फैले ही गया, साथ ही वहाँ से स्पेन और पुर्तगाल मे ईसाई पादरियो के जाने की गारण्टी मिल गयी। इस प्रकार पुर्तगाल से लगाकर जर्मनी तक और इग्लैंड से अफ्रीका तक ईसाई पादरी फैल गये।

दूसरे, सेंटपाल ने जिन ईसाई सघो की स्थापना की थी, उनमे प्रार्थना आदि कराने के लिये एक-एक धर्म-पुरोहित भी नियुक्त किया था। इस पुरोहित या पादरी को ही तब बिशप कहा जाता था। यह बिशप जहाँ गिरजाघर का सर्वोच्च अधिकारी था, उसकी सफाई आदि का दायित्व भी उसी के जिम्मे था। अत उसे पिता कहने की परिपाटी भी उसी समय स्थापित हो गयी थी। इस बिशप की सहायता के लिये वृद्ध लोगो की एक समिति होती थी जो बहुत से मामलो मे बिशप को सलाह देती थी। अत शनै शनै बिशपो की मर्यादा बढती चली गयी और गिरिजो को महत्ता दी जाने लगी। इस महत्ता मे दान भी शामिल था। कान्स्टेनटाईन के कारण भी इनकी स्थिति मजबूत हो गयी थी और उसके राजधानी बदलने तथा रोमन अशान्ति के दिनो मे शान्ति स्थापना का दायित्व भी गिर्जाघरो ने सम्भाल कर जनता के हृदयो मे स्थान बना लिया था। इस समय तक वस्तुत ईसाई सघो का धर्म-शासन प्रजातान्त्रिक था। निर्णय सभाओ द्वारा होते थे। परन्तु शनै-शनै वह भी राजतत्र की पद्धति की ओर बढ़

चले। इन्हे यह आवश्यकता महसूस होने लगी कि समस्त विशपो का भी कोई शासक हो और इसी विचारधारा ने पोपवाद को जन्म दिया।

पोपवाद की स्थापना—पोपवाद की विचारधारा ईसाई समाज मे घर कर चुकी थी, परन्तु यह निश्चय नही हो रहा था कि पोप किस सघ के विशप को बनाया जाय, क्योकि रोम, कुस्तुनतुनिया, सिकन्दरिया, जेरुसलम, एतियोक आदि स्थानों के सभी विशप अपने-अपने को पोप बनाने के लिये प्रयत्नशील हो उठे। इनमे जेरुसलम के विशप की महानता इसलिये मानी जाती थी कि वहाँ स्वय महात्मा ईसा का जन्म हुआ था और कुस्तुनतुनिया का विशप कहता था कि वर्तमान मे यूरोप मे धर्म की धुरी यही स्थान है। परन्तु अन्त मे रोम के विशप को ही पोप मान लिया गया। इसका सब से बडा कारण यह था कि रोम का विशप जहाँ विद्वत्ता मे सबसे आगे था, वहाँ उसका राजनीतिक महत्व भी बढा हुआ था। दूसरे सेंट पीटर और पाल ने अपने धर्म-प्रवचनो से इसी स्थान को आलोकित कर मृत्यु पाई थी।

पोपतत्र बनाम राजतत्र—पोपशाही की स्थापना के पश्चात् उनके राजतत्र ने जन्म लिया। पोप के राज्य मे सभी ईसाई थे। शासन विधान के लिये प्लेटो का 'रिपब्लिक' था। इस सारे पोप राजतत्र मे, स्वय पोप का स्थान एक दार्शनिक शासन की भाँति था। वास्तविक सचालक तो कार्डिनल लोग ही थे। इन लोगो का पोप-राज्य-विस्तार का ढग भी धार्मिक ही था अर्थात् जिसे पोप राज्य का नागरिक बनना हो, उसे बपतिस्मा ले लेना चाहिये। अत पोप-राज्य धर्मतत्र राज्य (Theocratic State) था। अत पोप द्वारा नियुक्त ईसाई धर्माचार्य धर्म और राज्य-दोनो के शासक थे। पोप-राज्य की विधियाँ ईसाई धर्मात्माओ के व्याख्यान थे, अथवा बाईबिल मे वर्णित हिदायते थी।

पोपराज्य की आय के स्रोत—पोप राज्य की आय के प्रमुख दो स्रोत थे—दान और कर। अनेक प्रकार के कर राज्य द्वारा नियत किये हुए थे। इन करो के नाम थे—**एनेट्स कर, पीटर्सपेंस, टाइथ्स** आदि। इनमे प्रथम कर उपज पर लिया जाता था। इस कर की मात्रा निश्चित नही थी। इसके लिये नियम यह था कि प्रत्येक नया पोप नयी मात्रा ही निश्चित करता था। दूसरा कर धार्मिक कर था जो, रजत की मुद्रा के रूप मे लिया जाता था। इसे धार्मिक चन्दा भी कह सकते है, क्योकि यह प्रत्येक घर से वार्षिक रूप मे लिया जाता था और सेण्ट पीटर्स के गिर्जाघर के खजाने मे जमा होता था। तीसरा कर 'उत्पादन-शुल्क' था। 'यह उत्पादन की आय के दसवे भाग के हिसाब से वसूल होता था। इनके अतिरिक्त कुछ कर और दान और भी वसूल होते थे। ईसाई-सघ के विभिन्न-विभाग, विभिन्न सेवाओ के लिये नियुक्त थे। जैसे **टेम्पलर्स** सघ के आदमी सैनिक कर्म करते थे। युद्ध के समय यही लडते थे। **हास्पिटलर्स**-सघ उस समय रेडक्रॉस का कार्य करता था। एक सघ के हाथ मे शिक्षा-सचालन था, क्योकि पोप ने कई विश्वविद्यालयो की स्थापना की थी और एक सघ का कार्य पोप के विदेश स्थित प्रतिनिधियो जिन्हे **लीगेट्स** कहा जाता था, तैयार करना होता था। ईसाई धर्म के लिये यह सौभाग्य की बात रही कि उसके पोपतत्र के प्रारम्भिक-काल मे उसे

प्रत्येक प्रकार के नीतिनिपुण और विद्वान पोप मिले, जो प्रत्येक प्रकार से ईसाई धर्म को विस्तृत करते रहे। इनमे पोप ग्रेगरी का भी अपना अलग स्थान है।

पोप ग्रेगरी महान् (Pope Gregory the Great)—बाद के इतिहास मे इस पोप का नाम अत्यन्त विख्यात है। इस व्यक्ति का जन्म ५४० ई० मे **रोम** मे हुआ था और वह भी एक धनाढ्य कुल मे, ६०४ ई० मे इसकी मृत्यु हुई। तैंतीस वर्ष की अवस्था मे इन्हे रोम का प्रीफेक्ट (धर्माधिकारी) नियुक्त किया गया। प्रारम्भ मे इस पोप पर 'बेनेडिक्टाइन' सम्प्रदाय का प्रभाव पड चुका था और इसी कारण इस व्यक्ति के अन्तर मे त्याग की भावना उदय हो चुकी थी। इस सघ के सस्थापक सन्त **बेनेडिक्टो** थे और **नेपल्स नगर** के निकट माण्टेकेसिनो मे इसका **मठ** था। भारतीय दर्शन-शास्त्र के अनुसार इस मत के सचालक भी इन्द्रिय-निग्रह और आत्मसयम पर बल देते थे। साथ ही यह लोग विज्ञान और कला-कौशल के क्षेत्र मे भी शोध करते थे।

धर्माचार्य बनने के उपरान्त ग्रेगरी को प्रतिनिधि बनाकर, कुस्तुनतुनिया भेज दिया। वहाँ ग्रेगरी नौ वर्ष तक रहे। इसके बाद लौटने पर वह ५९० ई० मे पोप पद के लिए निर्वाचित हुए। इस पर वह १४ वर्ष तक अर्थात् अपनी मृत्यु के समय तक रहे।

ब्रिटेन और ग्रेगरी—*ब्रिटेन मे रोम शासन-काल मे बडे-बडे मन्दिर बने हुए थे।* रोमनो ने मिनर्वा आदि अपनी प्राय सभी अधिष्ठात्री देवियो के मन्दिर रोम मे बनवाये थे। ग्रेगरी-काल मे भी वह ज्यो-के-त्यो थे। अत वहाँ पर धर्म-प्रचार के लिये ग्रेगरी ने सन्त ऑगस्टाइन को भेजा। जा तो वह स्वय ही रहे थे, लेकिन बाईबिल पर एक टिड्डी के बैठ जाने से, अपशकुन मानकर, आगस्टाइन को भेज दिया। जब आगस्टाइन जाने लगे, तब उन्होने पूछा—क्या उसने सब सुन्दर मन्दिरो को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाना चाहिए ? ग्रेगरी ने कहा—मन्दिरो को नही, उनमे स्थापित मूर्तियो को नष्ट कर देना चाहिये। वहाँ पर ईश्वर की सच्ची पूजा होनी चाहिए।

ग्रेगरी की राजनीति—ग्रेगरी का कथन था कि राजसत्ता को धर्म-सत्ता की श्रेष्ठता स्वीकार करनी ही चाहिए। राजा यदि धर्मसत्ता के अनुकूल आचरण करता है तो ठीक है, यदि आचरण विपरीत है तो उसे पारलौकिक जीवन मे कष्ट भोगने के लिए तैयार रहना चाहिये। प्रजा से उसका कथन था कि अराजकता बुरे राजा से भी खराब है, अत यदि राजा पापी भी हो तो उसे भी सहन करना चाहिए, अत प्रजा का कर्तव्य है कि वह पापी राजा की बात भी तब तक माने, जब तक वह प्रजा से पाप करने के लिए न कहे। ग्रेगरी ने लिखा है—"यदि राजा के कुछ कार्य दोषयुक्त हो, तब भी उसके विरुद्ध मुंह से कुछ नही कहना चाहिए।" ग्रेगरी का कथन था कि राज-सत्ता का विरोध करना भी ईश्वरीय सत्ता का ही विरोध करना है। अत राजसत्ता के प्रति ग्रेगरी का मत सन्त **एम्ब्रोस** की तुलना मे अत्यन्त नरम है। एम्ब्रोस धर्मसत्ता के मामले मे राजसत्ता को तनिक भी बर्दाश्त करने को तैयार नही। वस्तुत ग्रेगरी उन दिनो रोम मे बढती हुई अशान्ति को और भी भडकाना नही चाहता था। इसलिए वह अराजकता की अपेक्षा बुरे शासक को भी मानने को तैयार था।

इजरायल (यहूदी) सभ्यता और उसका विकास

विश्व के प्राचीन इतिहास मे केवलमात्र फिलस्तीन (इजरायल) ही एक ऐसा देश है, जिसकी दो सभ्यताओ का विकास विश्व भर मे हुआ, किन्तु अरब का यह भू-भाग न कभी एक सबल राष्ट्र बन सका और न ही ससार मे अपना कोई साम्राज्य खडा कर सका। परन्तु विश्वभूमि के इस छोटे से भू-भाग ने ही मानव-समाज को दो धर्मों का प्रकाश देकर सभ्य बनाया। ससार का यहूदी धर्म और उससे निकला ईसाई धर्म इसी भू-भाग की देन हैं। इस जाति ने बडे-बडे दार्शनिक, कलाकार और साहित्य-कार पैदा किये। इगलैंड का प्रधानमत्री डिसरेली, भारत का वायसराय लार्ड रीडिंग, साम्यवाद का प्रतिष्ठाता कार्लमार्क्स, क्रातिकारी ड्रीट्स, फ्रच दार्शनिक बर्गसा और आज अमेरिकन वैज्ञानिक आइन्स्टीन इसी जाति की देन हैं।

सभ्यता के सस्थापक—इस सभ्यता के सस्थापक वस्तुत वह यहूदी लोग हैं, जो प्रागैतिहासिक-काल मे असीरिया, मेसोपोटामिया आदि देशो मे अपने नगर राज्य बनाकर रहते थे। उस समय फिलस्तीन मे सेमेटिक जाति की एक शाखा **केनेनाइट** लोगो की अपने नगर बसाकर रहती थी। यह प्रान्त **कैनान** था, जहाँ वर्तमान पैले-स्टाईन है। इसी कैनान के नाम पर इस जाति का नाम, केनेनाइट रखा गया है।

प्रारम्भिक-स्थिति—उस समय यहूदी लोग केवलमात्र पशु-पालक ही थे। भूत-प्रेत, जादू-टोनो पर इनका विश्वास था। इनका प्राचीन इतिहास मिस्र के **पेपिरस** कागजो और बेबीलोनिया की ईटो पर भी लिखा हुआ मिला है। कालान्तर मे यह प्रसिद्ध भविष्य वक्ता हुए और अपने इसी फलित ज्योतिष के बल पर इन्होने मिस्र मे अपनी धाक जमा ली थी।

यहूदी धर्म-ग्रथो से ज्ञात हुआ है कि १८०० ई० पू० मेसोपोटामिया मे इनका सरदार और गुरु **अब्राहम** नामक व्यक्ति था। यह व्यक्ति **जेहोवा** नामक देवता का पुजारी था। उसी ने एक दिन उसे स्वप्न मे बताया था कि "तेरी सतानें सुन्दर नग-रियो के देश मे शासन करेगी।" उस समय अब्राहम के कोई पुत्र नही था। इस भविष्य-वाणी के पश्चात् उसके **आइजक** और **जैकब** नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। जैकब का नाम ही यहूदियो के ईश्वर **जेहोवा** ने **इसरायल** रखा। इस इसरायल (जैकब) के बारह सन्तानें हुई। इनमे सबसे छोटा जोजफ या यूसुफ था, जिसने जाति की वृद्धि की। उसी समय इस जाति का नाम भी यहूदी पडा।

अपने भेडो के रेवड और जाति के एक यूथ के साथ अब्राहम फिलस्तीन मे आ बसा। कई वर्ष तक यहाँ के प्राचीन निवासियो से इनकी लडाइया चलती रही, किन्तु यह फिर भी वही डटे रहे। इसके १६०० ई०पू० फिलस्तीन मे भारी अकाल पडा और यहा के अधिकाश लोग मिस्र मे अन्न की बहुलता का समाचार सुनकर मिस्र मे चले आये। इन जाने वालो मे **जैकब** भी था। इसका पुत्र **यूसुफ** अच्छा-खासा भविष्यवक्ता था। मिस्र मे इस समय **हिस्सकोस** जाति ने फराओ लोगो से शासन छीन लिया था। अत मिस्र के शासक हिस्सकोस वश के लोग ही थे। उन्होने इन्हे विशेष आदर दिया। इसका कारण यह भी था कि यहूदी लोगो मे बहुत से लोग अच्छे-अच्छे विद्वान् थे। जैकब का पुत्र यूसुफ बहुत बडा ज्योतिषी था। इसी के बल पर **हिस्सकोस** सम्राट् की दृष्टि मे इतना ऊँचा उठ गया था कि मिस्र का सर्वेसर्वा बन बैठा था। मिस्र के सप्त-वर्षीय अकाल से मिस्र की रक्षा करने का श्रेय तक शासको ने उसे ही दिया था। इसी कारण यह और भी जन-प्रिय हो गया था। अत इस व्यक्ति ने अपने अवशिष्ट परिवार के व्यक्तियो को भी फिलस्तीन से यही बुला लिया था। उस समय यहूदी बहुत फले-फूले। इस घटना का विस्तृत विवरण यहूदियो की 'बाईबिल' के पूर्वार्द्ध **जेनेसिस** नामक पुस्तक मे दिया हुआ है। १६०० ई० पू० के उत्तरार्द्ध मे मिस्र मे क्रांति हुई और इस क्रांति मे फेरो सम्राट् अपना सिहासन पाने मे पुन सफल हो गये। अत फेरो सम्राट् ने गद्दी पर बैठते ही यहूदियो पर अत्याचार करने प्रारम्भ कर दिये। यह अत्याचार यहा तक बढ गये कि सम्राट् ने आज्ञा दी—"प्रत्येक यहूदी स्त्री के गर्भ से यदि लडकी पैदा हो तो छोड दी जाय, लडका पैदा हो तो उसे कत्ल कर दिया जाय।" उस समय हजरत मूसा का जन्म हो चुका था। मूसा की माता ने तीन महीने तक तो इन्हे छिपाये रखा, अन्त मे एक टोकरी मे डालकर नदी के किनारे रख दिया। वहा दूर खडी मूसा की माता की बहन देखती रही कि इसे कौन उठाकर ले जाता है। उस समय मिस्र मे समस्त यहूदी जाति दासो का जीवन व्यतीत कर रही थी। उन्हे जो भी मिस्री जहाँ देखता, पीट देता था। अत किसी यहूदी के तो बच्चे को ले जाने की आशा ही नही थी, कोई मिस्री ही ले जा सकता था। वही हुआ, सम्राट् फराओ की लडकी नदी स्नान के लिये आई और बच्चे को ले गई। मूसा की मौसी ने पास जाकर पूछा—'कहे तो किसी धाय को बुला लाऊ?' उसके 'हाँ' करने पर वह मूसा की माता को ही ले गई। इस तरह मूसा का लालन-पालन सम्राट् के महल मे ही होने लगा। दूसरी ओर **फराओ** सम्राट् यहूदियो के सर्वनाश पर तुला हुआ था।

धीरे-धीरे मूसा बडा हुआ। उसे यहूदियो पर होने वाला यह अत्याचार असह्य था। उस समय किसी दास को या यहूदी को मार डालना अपराध नही था। परन्तु मिस्री को मारना भयकर अपराध था। अत. एक दिन मूसा ने एक यहूदी को पिटते देखकर पीटने वाले मिस्री को ही मार डाला और शव को एक झाडी मे छुपा दिया। मूसा का विचार था कि उसे यह कर्म करते किसी ने नहीं देखा, परन्तु एक दिन दो यहूदियो को झगड़ते देखकर जब वह समझाने लगा, तब एक यहूदी ने ही यह सारा

भेद खोल दिया और पकडे जाने के डर से मूसा **मीडिया** भग आया । यहा भी वह अपने भाइयो के अत्याचारो के कारण दुखी रहा। उसी समय जेहोवा ने उसे सम्वोधित करते हुए कहा—"मै तेरा पितामह या परमेश्वर हू । अब्राहम, जैकब, आइजक की रक्षा करने वाला हू । अब मैं इजिप्ट मे हो रहे यहूदियो पर अत्याचार के उद्धार के लिये उतरा हू । अब मैं उन्हे पुनः **कैनान** ले जाऊगा, जहा दूध और शहद की नदिया वहती है।" मूसा के विचार दृढ हुए, ईश्वर पर भरोसा किया। पुन मिस्र जाकर उसने विद्रोह कर दिया, परन्तु उसे केवल इतनी ही सफलता मिली कि यहूदियो को मिस्र से निकाल लाया।

मूसा के नेतृत्व मे यहूदियो ने मिस्र छोड दिया और वहा से भागकर वह **माडिया** देश मे चले आये। यही **मूसा** ने अपना विवाह किया। एक दिन जब वह अपने ससुर की भेड चराने वे पहाडी पर गये हुए थे, वहा उन्हे ज्योर्तिलिंग (अग्निस्तभ) के रूप मे भगवान् के दर्शन हुए । भगवान् ने उन्हे एक करामाती लाठी दी और यहूदियो के उद्धार का आदेश दिया । फलत वह यहूदियो को पुन· लालसागर के पूर्व की ओर लाने मे सफल हुए। वहा **सिनाई-पर्वत** पर उन्हे पुन भगवान् के दर्शन हुए और भगवान् ने इस बार उन्हे यहूदियो के कर्त्तव्य और न्याय के उपदेश दिये । वही आदेश इनकी दूसरी पुस्तक 'एकसोडस' (निर्गमन) के बीसवें अध्याय मे वर्णित है। इन्ही का प्रचार मूसा ने किया। लगभग ५०० वर्ष बाद यहूदी पुन फिलस्तीन लौट कर आये। इस समय यहा की दशा काफी बदल चुकी थी । यहा के प्राचीन **केनेनाइट** लोगो का स्थान **क्रीटद्वीप** से भागकर आये **नोसस** जाति के लोगो ने ले लिया था। यहा यहूदियो को जहा जगह मिली वही बस गये । मूसा १२० वर्ष की आयु मे अपना धार्मिक उत्तराधिकारी **जोशुआ** को बनाकर मरे।

यहूदियो के अनुसार इसने तीन आश्चर्यजनक कार्य किये । बिना पैर भीगे यहूदियो को जोर्डन नदी पार कराई। केवल रणवाद्यो द्वारा ही जैरिको नगर पर अधिकार कर लिया। सूय और चन्द्र की गति अवरुद्ध करदी ।

मूसा ने यहूदियो के लिये सामाजिक जीवन की रचना की। उनके जीवन को व्यवस्थित करने के लिये विभिन्न नियम बनाये । परन्तु विभिन्न देशो के इन समाजशास्त्रियो के नाम एक ही है, जैसे मनु, मूसा और **मेनीज** । यह तीनो ही वैधानिक-व्यवस्थापक हैं। सभव है यह एक ही नाम तीनो देशो मे फैला हो ।

राजनीतिक-स्थिति—प्रारम्भ मे यहूदियो की कोई सगठित राजनीतिक-स्थिति नही थी। फिलस्तीन मे आने पर उन्हें सुदृढ राजनीतिक स्थिति की इसलिये आवश्यकता पडी कि उन्हे यहा आकर यहा के प्राचीन रहने वाले लोगो से लडना पड रहा था। अत. इन युद्धो के लिये ही इन्होने प्रारम्भ मे कुछ युद्ध-सचालको का चुनाव किया। इन्हे **जज** कहा जाता था। यह लोग युद्ध का सचालन भी करते थे और न्याय-कार्य भी सम्पन्न करते थे। उस समय **गीदियन, सेम्पसन** तथा महिला न्यायाधीश **ढेवरा** के नाम मिले हैं। इनकी अध्यक्षता मे यहूदियो ने कई युद्ध जीते और कई मे हारे। परन्तु

समस्त **फिलस्तीन** जीतने मे इन लोगो को भी कभी सफलता नही मिली ।

इसके पश्चात् उन्होंने अपने यहा भी **राजतन्त्र** की नीव डाल दी। इसका कारण यह हुआ कि उन्होने लडाइयो मे दूसरी जातियो के राजाओ को लडते भी देखा था और **मिस्र** तथा **मेसोपोटामिया** राज्यो के राजतन्त्रो का उन्हे अनुभव भी था।

सामाजिक व्यवस्था—यहूदियो की सामाजिक व्यवस्था मिस्र और बेबीलोनिया के समान थी। इनका सरदार ही इनका गुरु होता था और उसके आदर्शो का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था । विवाह करना अनिवार्य माना जाता था और अविवाहित को हेय दृष्टि से देखा जाता था। उस समय यहूदी-धर्म मे पर्दे की प्रथा मे कठोरता नही थी। यहूदी विचारधारा मे माता-पिता के साथ-साथ पुरुष का पत्नि के प्रति विशेष कर्तव्य माना गया है। पुत्र माता-पिता को छोड सकता है, किन्तु पत्नी को नही छोड सकता । यहूदियो मे तलाक प्रथा तो प्रचलित थी , किन्तु उसका प्रयोग समझौता न हो सकने पर ही होता था । उदाहरणार्थ यहूदी पैगम्बर **होशिया** (८वी शताब्दी ई० पू०) ने अपनी पत्नी को, जो अन्य व्यक्ति से गर्भवती हो गई थी, तलाक नही दिया। उसने कहा—"तलाक तो तब देना चाहिये, जब दोनो मे समझौते की कोई गुंजायश ही न रहे।" होशिया ने उन पुरुषो की निन्दा की है, जो पत्नी की जरा-सी भूल पर उसे तो तलाक दे देते हैं ; किन्तु स्वय दुराचारी होते हुए भी समाज मे घुले-मिले रहते है। यहूदी साहित्य मे झगडालु स्त्री को लज्जास्पद और सदाचारी को पति के लिये "गौरव" की वस्तु कहा गया है। पैगम्बर एमौस ने धनी स्त्रियो की निन्दा करते हुए कहा है—"वह विलासिता मे जीवन बिताती हैं, व्यभिचार मे आनन्द लेती हैं, इससे जाति का नैतिक स्तर गिरता है। स्त्रियो के सदाचारी जीवन मे ही जाति का कल्याण है।"

पुत्र द्वारा माता-पिता के सम्मान पर बल दिया गया है। कहा गया है—"माता-पिता और बडो के सम्मान करने से ही परमेश्वर आयु बढाता है।"

धार्मिक-विचार—प्रारम्भ मे यह लोग भूत-प्रेतो के विश्वासी थे। इनमे यज्ञ का स्थान बहुत पवित्र और आवश्यक था। इसमे पशु बलि भी दी जाती थी। **अब्राहम** ने स्वय अपने पुत्र का बलिदान देना चाहा था, किन्तु भगवान् ने ऐसा करने से रोक दिया। बाद मे भेड की बलि दी गई। भगवान् ने वह स्वीकार करली। यह कथा **जेनसिस** के प्रथम पर्व मे है और वैदिक कथा **शुन शेष** के आधार पर गढी गई जान पडती है।

इस धर्म के आदिदेव **जेहोवा हैं**। इन्ही का मन्दिर इन्होने फिलस्तीन मे जाकर यरूशलम मे बनवाया था, जिसकी एक दीवार का कुछ भाग अब भी खडा है। उस देवता को यह सब देवताओ का अधिपति मानते थे। दूसरे देशो और वहा की धर्म-व्यवस्थाओ के सम्पर्क मे आने पर इनके विचारो का विकास हुआ और वह विकास इस रूप मे हुआ कि सृष्टि मे केवल एक ही सच्चा देवता है और वह देवता जेहोवा है। इस प्रकार धीरे-धीरे यह एकेश्वरवाद की भावना की ओर बढते गये। एकेश्वर के बारे मे इनका

विश्वास यह कायम हुआ कि ईश्वर किसी मन्दिर मे नही रहता, अपितु अनन्तकाल से **स्वर्ग** मे रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानसिक गुलामी की ओर से इन्होंने मानसिक स्वतन्त्रता की ओर प्रगति की । आगे चलकर ईश्वर की कल्पना मे और भी विकास हुआ। इस बार यह धारणा बनी कि **परमात्मा सर्वत्र एक ही चेतनरूप** है।

मानसिक विकास के मूल तत्व—यहूदियो के इस मानसिक विकास मे भी इनका दरदर मारे-मारे फिरना तथा विभिन्न देशो के धार्मिक और सामाजिक अनुभवो के सम्पर्क मे आना था । प्रारम्भ से ही यहूदी भविष्यवक्ता (Prophet) प्रसिद्ध रहे है। **फराओ सम्राटो** के द्वितीय-काल से पहले, **मिस्र** मे इसी ज्योतिष के बल पर इन्होंने अपना सिक्का जमा रखा था। बेबीलोनिया मे भी जिस समय यह दास बनाकर ले जाये गये, उस काल मे भी वहा कई प्रसिद्ध भविष्यवक्ता हो गये हैं। जिनमे **होशिया अहोस, ईसाइया, मायकर, नाहन जैफानिया, हवाकूथ, जैरमिया,** (जाब) **एजैकियल, दानियाल, हग्गाई, जेथरिया, मलासी** और **ओबदिया** प्रमुख हैं। इन्ही क नाम की विभिन्न पुस्तकें हैं। यह भविष्यवक्ता जहा अन्य अनेको भविष्यवाणिया किया करते थे, वहा वह ऐसी भविष्यवाणी भी करते रहते थे, जिससे निरन्तर कष्टो को सहती इनकी जाति का नैतिक साहस बना रहे और यही कारण है कि अन्य सैकडो प्राचीन जातियो की भाति इस जाति का अस्तित्व कभी समाप्त नही हुआ और आज इसका अपना स्वतन्त्र देश-इजरायल भी बन गया।

अस्तु, यह भविष्यवक्ता जाति के नैतिक साहस के लिए ऐसी भविष्यवाणिया किया करते थे, जिनमे यहूदी जाति की श्रेष्ठता सिद्ध होती थी अथवा यह बताया जाता था कि यह जाति कालातर मे सब जातियो से अधिक गौरवान्वित होगी। ईसाइया नामक भविष्यवक्ता के अग मे अद्भुत तेज व्याप्त था। वह अपने आसपास के मानव समाज की मूर्खताओ को देख कर उन्हे बुरी तरह लताडता था। कहता था "एक अद्भुत् समय आयेगा जब मानव-समाज नैतिकता के सूत्र से सम्बद्ध होगा। इस दुनिया मे सुख-शाति का राज्य होगा। ऐसे ही भविष्यवक्ताओ मे एक की भविष्यवाणी यह थी कि "किसी युग मे एक मसीहा का अवतार होगा।"

जेहोवा यहूदी लोगो को दिये गये सभी आश्वासन पूरे करेगा । इजरायल मे यहूदी लोगो का राज्य होगा और वहा सुख-समृद्धि व्याप्त होगी। इन्ही भविष्यवाणियो के कारण यहूदी **बाईबिल** मे कही-कही दार्शनिक विचार पाये जाते हैं। अधिकाश भविष्यवक्ता अपने विविध भाषण देते थे । इनमे कुछ बे-सिर-पैर की बातें भी करते थे और कुछ समाज-सुधार की बातें भी करते थे । उदाहरणार्थ समाज सुधारक **समोस** का कथन था—"जो लोग न्याय का गला घोटकर रिश्वत लेते हैं, उनका भस्म हो जाना ही अच्छा है। समाज मे कम तोलने वाला, मजदूरी मारने वाला, धन के लालच मे बेईमानी करने वाला नही रहना चाहिये। न्याय सबको मिलना चाहिये।" **समोस** के इन्ही उद्गारो का समर्थन **इसीहा** ने किया। उसने खुले रूप से अमीरो का फटकारा—"तुम निर्धनो की दुर्गति का कारण हो। उन्हे लूट कर अपनी जेबें भरते

हो।" इनके बाद **माइका** ने भी समाज-सुधार के विषय को ही अपने धर्म-प्रचार का विषय बनाया ।

व्यवस्थित-सामाजिक चिंतन—बौद्ध-काल के बाद यहा व्यवस्थित सामाजिक चिन्तन भारतीय योग दर्शन के 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यम' के आधार पर, पाच यम, पाच नियमो के आधार पर हुआ। यहूदी ग्रन्थ **एक्सोडस** मे मूसा ने जो दस आज्ञाए अपने अनुयायियो को दी हैं वह ज्यो-की-त्यो वही हैं और वही **बाईबिल** मे ईसाइयो ने शामिल करली हैं। यथा, चोरी न करना, झूठ न बोलना, दूसरे की वस्तु का अपहरण तथा व्यभिचार न करना आदि ।

यह लोग **अब्राहम** को ही ईश्वर का दूत **पैगम्बर** मानते थे। यह **यूसुफ** के दादा थे और इन्होने ही ईश्वरीय **आज्ञा** से **खतना** प्रथा का प्रचलन यहूदी समाज मे कराया था। साथ ही बुढापे मे अपनी **खतना** भी कराई थी। उनके इसी रिवाज को मुसलमानों के धर्म-प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब ने भी स्वीकार कर लिया और इस्लाम-धर्म मे भी **खतना** शुरू हो गई।*

---

*रामस्वामी अय्यर लिखते हैं, सीरिया के **कौल ग्राम** निवासी एक यहूदी ने **अरस्तू** से कहा था—"यहूदी लोग दक्षिण भारत के निवासी हैं । अरस्तू के शिष्य इतिहासकार **कलिपरक्स** के कथन से भी इसकी पुष्टि होती है कि यहूदी लोग पहले तमिल बोलते थे। भारत की तमिल भाषा ही हिब्रू भाषा की जननी है । हिब्रू मे ग्रीक शब्द मिल जाने से उसका यह रूप बना ।

यहूदियो के इतिहास लेखक **जोजक्स** के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्व-काल मे गुजरात प्रदेश द्रविडो के अधिकार मे था और गुजरात का पालीताणा नगर **नायडू-प्रदेश** वालो के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जाकर भी यहूदियो ने उसी नाम का नगर बसाया। पालीताणा जैनो का प्रसिद्ध तीर्थ है। अत ईशू ने यहीं आकर ४० दिन के जैन उपवास द्वारा धर्म के मर्म का अध्ययन किया ।

—बम्बई समाचार, २१ मार्च, १९३१ ई०

"कल्पक" नामक पत्र मे श्री रामस्वामी अय्यर लिखते हैं कि "पैलेस्टाइन मे बसने वाले यहूदी भारतवासी ही हैं, वे मद्रास प्रान्त से ही वहा जाकर बसे थे। उनमे **खतना** का जो रिवाज था, वह दक्षिणी आर्यों का ही था। वात्सायन मुनि ने अपने **काम-सूत्र** मे लिखा है—"दक्षिणात्याना लिंगस्य कर्णयोरिव व्यधनं वालस्य ।"—काम-सूत्र ७।२।१५

आगे वह लिखते हैं, ७०० मे गुजरात के पालीताणा पर दक्षिणो का आधिपत्य था और उसी के नाम पर वहा पालिताणा नगर बसाया, जो कालान्तर में **पैलेस्टाईन** हो गया। उन्होंने हजरत ईसा के भारत आकर जैन और बौद्ध सिद्धान्तो के मनन का भी समर्थन किया है ।

यहूदी वाईविल—वाईविन के दो खण्ड है। एक है 'पुरातन मुसमाचार' (Old Tesatament)तथा दूसरा है 'नूतन सुममाचार' (New Testament)। इसमे प्रथम भाग समग्र ग्रन्थ का तीन चोथाई भाग है तथा यही यहूदी धर्म का मूल ग्रन्थ है। इसमे तीन भाग (१) व्यवस्था (Laws), (२) भविष्यवक्ता (Prophets), (३) पवित्र लेख (Sacred Writings)। इन तीनो के भीतर आजकल ३८ ग्रन्थ (परिच्छेद है), परन्तु मूल यहूदी वाईविल मे केवल २४ परिच्छेद थे। नतन मुसमाचार ईसाइयो का प्रमुख ग्रन्थ है, इसमे २६ परिच्छेद है। साहित्य की दृष्टि मे वाईविल मे सभी अनुच्छेद समान महत्त्व के हैं। पाठको को वाईविल से आन्तरिक प्रेरणा मिलती है, उसका मूल स्रोत घटनात्मक गाथाओ, जीवन-कथाओ तथा ईश्वरीय सन्देश वाहक वाक्यो मे है। वाईविल मे मानव-जाति का इतिहास तथा उसके धार्मिक विकास का विवरण शुष्क और गूढ भाषा मे मिलता है। इस गूढता का कारण है, साकेतिक भाषा मे वर्णन।

विषय प्रतिपादन—पूर्व भाग की प्रथम पुस्तक जेनोसिस (उत्पत्ति) है। इसके पहले अध्याय मे सृष्टि का वर्णन है। दूसरे मे मनुष्य की उत्पत्ति की कहानी है। तीसरे मे शैतान के वहकावे मे आकर ईश्वर की स्पष्ट आज्ञा की अवहेलना करने के कारण मानव 'आदम' और उसकी स्त्री ईव (हौवा) के स्वर्ग से पतन की कथा है। इसी कथा का विस्तार अग्रेजी के विख्यात कवि मिल्टन ने अपने अमर काव्य 'पाराडाइज लौस्ट' मे किया है। जैनेसिस के शेष अध्यायो मे नोह, अव्राहम, इसाक, जैकव, और जोसेफ के जीवन का रोचक वर्णन है।

यहूदियों के आदि आचार्य—इस भाग की द्वितीय पुस्तक मे यहूदियो के आदि आचार्य 'मूसा' (मोसेज)की कथा है। इसरायल का इतिहास भी इसमे सम्बद्ध है। इसी प्रसग का वर्णन लेविटिक्स, नम्वर्स, ड्यूटरोना का नाम भी आदि पुस्तको मे है। मूसा ने यहूदियो के लिए अनेक कानून वनाये थे। वे कानून वोधगम्य एव पठनीय हैं। सात्विक दृष्टि मे इनका स्थान वहुत ऊंचा है।

'जोसुआ' नामक पुस्तक मे मूसा के पुत्र 'जोसुआ' की विजय-गाथा का वर्णन है। देश-द्रोही वेश्या राहाव के विश्वासघात के परिणामस्वरूप जोसुआ को अभूतपूर्व सफलता मिली और नगर पर कब्जा हो गया। इसके वाद 'वुक आफ जजेज' का नम्वर आता है। इसमे हमे वीर रमणी 'डेवोराह' का वर्णन मिलता है। इसकी तुलना झासी की रानी से हो सकती है।

इसके वाद 'रुथ' की पुस्तक आती है। इसमे यहूदी स्त्रियो के सामाजिक अधिकारो तथा उत्तराधिकार के नियम है। इसमे वर्णित महिलाओ का जीवन-चरित्र सरस तथा मार्मिक है। साथ ही सैमुएल तथा अन्य कई राजाओ की गाथा मे यहूदी साम्राज्य के गौरव के दिनो की कथा का विस्तृत वर्णन है। क्रोनिकल (इतिहास) की पुस्तको मे सवसे पहिले डेविड की कथा आती है। डेविड की गणना पूर्व पुस्तक के चरित्रो मे है। इस पुस्तक मे प्रसिद्ध राजा सुलेमान के भाँति-भाँति के चरित्रो का वर्णन है और साथ ही मन्दिर-निर्माण की भी कथा है। डेविड और उसके पुत्र सुलेमान की

कथा बाईबिल-साहित्य मे अपना विशेष स्थान रखती है ।

यहूदियो के गौरवशाली राज्य के विस्तार का इतिहास सुलेमान की कथा ही है । 'इजदा' और 'नेहमिया' पुस्तको मे बेबीलोन से यहूदियो के पुनरागमन और यरूसलम के पुर्नानिर्माण की कथा है । इस पुस्तक मे वर्णन किया गया है कि किस कौशल से ईरानी बादशाह की यहूदी रानी ने यहूदियो को सर्वनाश से रक्षा कर की थी ।

निर्गुण-गीत—'सुलेमान के गान' (श्रेष्ठ गीत) नामक पुस्तक का एक गीत अत्यन्त भावपूर्ण है और सुलेमान-काल के नारी-जीवन पर प्रकाश भी डालता है। इसके अनुसार ईश्वर मे लीन एक महिला कहती है :—"रात के समय अपने पलग पर मैं अपने प्राणप्रिय को खोजती रही, वह न मिला । मै उठकर नगर की सडको और चौको पर ढूँढती फिरी । नगर मे घूमते चौकीदार मुझे मिले । उनसे मैने पूछा—'क्या तुमने मेरे प्राणप्रिय को कही देखा है ?' अन्त मे वह मुझे मिला, मैं उसे अपने घर ले आई । फिर उसे जाने नही दिया । इसलिये हे यरुशलम की स्त्रियो, मैं तुमसे कहती हूँ जब तक प्रेम अपने आप-न उठे, उसे न उकसाओ, न जगाओ ।" इस तरह यह गीत देखने मे प्रेम और प्रेमिका की विरह-गाथा है तथापि ईश्वरपरक और पूर्णतया निर्गुणात्मक है ।

इन निर्गुण गीतो के बाद 'ईसाहयाह' नामक पुस्तक आती है, जिसमे भविष्य-वाणियो का खजाना है । यह ससार मे ईश्वर के राज्य के पुन स्थापित होने की सूचना देती है । जारमिया तथा लेमेंटेशन (विलाप गीत) और इजकेल नामक पुस्तको के बाद, दानियल की किताब आती है । यह ससार प्रसिद्ध राजा हो गया है । इसकी न्यायपरायणता अपूर्व थी । इसकी पुस्तक मे यरुशलम के भविष्य मे कहा है कि यरुशलम के फिर बसने की आज्ञा के निकलने से लेकर, अभिषिक्त प्रधान के समय तक सात सत्ते बीतेंगे और बासठ सत्तो के बीतने पर अभिषिक्त पुरुष का नाश होगा । उसके हाथ कुछ न लगेगा । आने वाली प्रजा, नगर और पवित्र स्थान का नाश तो करेगी पर प्रधान का नाश तो वैसे ही होगा जैसे बाढ से बस्तियाँ बरबाद होती हैं । अन्त तक लडाई होती रहेगी । इस नगर का उजड जाना अवश्यम्भावी है ।

दानियाल के बाद होशे, योयल, अमोस आदि बारह पुस्तके हैं । अन्त मे 'हवक्कक' मे भगवान् से अवतार लेकर अत्याचारियो के नाश की प्रार्थना की गई है और अन्तिम पुस्तक मलाची' के तीसरे अध्याय मे मलाची के मुख से ईश्वर ने कहा है कि "सुनो, मैं अपने दूत को भेजता हू । वह मार्ग को मेरे आगे सुधारेगा । तुम्हारे मदिर मे आयेगा । उसे कौन देख सकेगा आने का दिन कौन कह सकेगा । मै न्याय करने तुम्हारे निकट आऊँगा, व्यभिचारियो को दण्ड दूँगा, अनाथ और विधवाओ को सताने वालो को दण्ड दूँगा, आदि ।" यहूदी लोग वर्तमान बाईबिल के पहले ही अश को मानते हैं । वायसराय लार्ड मांटेग्यू और लार्ड रीडिंग ने, जब वायसराय होकर भारत आये थे, तब तक शपथ नही ली थी जब तक उन्हे सम्पूर्ण बाईबिल नही दी गई ।

बाईबिल का समय निर्धारण—वस्तुतः यहूदियो को बेबीलोन-सम्राट् असुरबनिपाल (६८० ई० पू०) का ऋणी होना चाहिए । इसी सम्राट् ने अपने देश मे रहने वाली

सभी जातियो के इतिहास का सग्रह कराया और असीरिया राज्य के निनवे नगर के पुस्तकालय मे रखा । यहूदियो को स्वय अपने प्राचीन इतिहास का ज्ञान वेबीलोनिया मे ही हुआ था। अपने इतिहास का ज्ञान होने पर इन लोगो मे अपने धर्म-द्रष्टाओ के वाक्यो, अपने धार्मिक नियमो और अपनी जाति मे प्रचलित प्राचीन विश्वासो के सग्रह करने की प्रवत्ति इनके मन मे पैदा हुई । साथ ही उन्होने वेबीलोनिया की बहुत-सी प्राचीन बातो का सग्रह भी किया। अत वेबीलोन से लौटने पर उन्होने उपर्युक्त सभी बातो को पुस्तक रूप देने का निश्चय किया। जिसमे जाति के इतिहास के साथ-साथ आचार-विचार और धार्मिक मान्यताए तथा अन्य सभी जातिगत-विचारधाराएँ थी । अत उनकी यह धार्मिक पुस्तक ई० पू० २५० के लगभग तैयार हुई।

वाईविल मे लिखा है—'पश्चिम मे आने वालो की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आये हैं।'* इनके विषय मे पीकाक नामक विद्वान् अपने 'इडिया इन्-ग्रीस' नामक ग्रन्थ में लिखता है 'युडा (जुडा) जाति भारत की यदु अर्थात् यदुवशीय क्षत्री जाति है।"+ यहूदियो का **यहोवा** शब्द सस्कृत **यह्व** शब्द का ही अपभ्र श है । बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न कहते हैं, 'ज्यू' शब्द सस्कृत का ही है । आप मेदिनी कोष का यह वाक्य उद्धृत करते हैं **'जूराकाशे सरस्वत्या पिशाचे यवनेऽपि च ।"** अर्थात् 'जू' शब्द यवन शब्द का ही अपभ्र श है। 'मान्वेर आदि जन्मभूमि' पृष्ठ ३ मे लिखा है—राजा सगर की आज्ञा से यवनो ने जिस **पल्ली** नामक स्थान में निवास किया था, यही पैलेस्टाईन हो गया है। यही बात वाईविल और पीकाक के वचनो से सिद्ध होती है। बाईबिल मे नू का **वर्णन** ही **मनु** के तूफान की कहानी है।"×

राजतत्र का प्रारम्भ और राजा—लगभग १ हजार वर्ष ई० पू० यहूदियो ने राजतत्र की व्यवस्थित नीव डाली और जाति के चुनाव द्वारा सॉल नामक व्यक्ति को अपना राजा बनाया। यह व्यक्ति लगभग १० वर्ष तक यहूदियो का राजा रहा, किन्तु इसकी छत्रछाया मे भी यहूदियो ने विशेष उन्नति नही की।

डेविड (९९० ई० पू० से ९०० ई० पू० तक)—सॉल के बाद, डेविड नामक व्यक्ति यहूदियो का राजा बनाया गया । इस राजा ने एक युद्ध द्वारा फिलस्तीन के मुख्य नगर यरुशलम पर अधिकार कर लिया और इसे अपने राज्य की राजधानी बना लिया। उस समय फिनिशिया मे हिराम नामक राजा का राज्य था। इसका मिस्र के सहित दूसरे अरबी देशो से अच्छा व्यापार चलता था । डेविड ने हिराम से एक सधि की और उसके व्यापारिक काफिलो को यरुशलम होकर, दक्षिण मे लालसागर तक जाने के लिये मार्ग दे दिया। अत हिराम की मित्रता के सहारे डेविड का राज्य किसी तरह चलता रहा ।

---

* Genisis, Chapter XI.

+ India in Greece P 22

× The Early History of Indo Aryans by F A Kith

मिली, जो पूर्व प्राप्त सभी वस्तुओ मे श्रेष्ठ थी। बहुत सी बालो मे लगाने वाली हाथी दात पर नक्काशी की हुई पिने मिली। एक धातु की बनी सील मुहर भी मिली, जिस पर होरस देवता की मूर्ति अंकित थी। कासे की बनी कीलें और सिक्के मिले। सबसे अन्त मे यहूदी गोताखोर गैड अशीर ने एक काली तश्तरी अन्य बचे हुए सिक्को के साथ खोज निकाली। इसे तेसेरा या स्मृति-मुद्रा कहा जा सकता है। इसके एक ओर यूनानी भाषा मे, के० ए० (सीजरिया के लिये) मुद्रित था।

जवाहिरात की बनी हुई यह छोटी-सी वस्तु अनुमानत एक लाख डालर की है। इजरायली गोताखोरो को यहाँ सोने व जवाहिरात से भरा एक हरे रग का इमरतबान भी मिला।

सीजरिया यहूदियो का प्रमुख नगर था। छठी शताब्दी तक यह रोमनो के अधिकार मे रहा। रोमनो ने यहूदियो पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिये। रोमनो और यहूदियो के सघर्ष मे हजारो यहूदी मारे गये। रोमनो ने कई बार उनका कत्लेआम किया और बहुतो को नगर से भगा दिया। ६३९ ई० मे अरबो ने यहूदियो की सहायता से इस नगर पर कब्जा कर लिया। ११०१ मे सीजरिया को क्रूसेडर लोगो ने भयकर कत्लेआम के बाद प्राप्त किया। इन्होने इसकी प्राचीन शान को समाप्त करने का निश्चय किया और एक छोटी सी चहारदीवारी वाले दुर्ग मे बसे रहे, जब तक कि अरबो ने १३ वी शताब्दी मे इनको समाप्त नही कर दिया। प्रतिशोधी अरब सुलतानो ने समुद्र को नगर की ओर काट दिया, जिससे समूचा नगर जलमग्न हो गया। केवल कुछ मछुवे बचे रहे, जो अब भी इस नगर के तट पर कच्चे घरो मे रहते हैं। अस्तु, अब हम पुन छोडे गए इतिहास की ओर लौटते हैं। रोमन लोग एशिया-माईनर मे बढते-बढते **यरुशलम** तक आ गये। अत. जुलियस सीजर के समय ३७ ई० पू० यह रोम राज्य का एक अग बन गए और इन पर शासन करने के लिये रोमन गवर्नर आ पहुचा।

यहूदी रोम-युद्ध—रोमन शासन मे भी यह कभी चैन से नही बैठे। अपनी स्वतन्त्रता के लिये सघर्ष करते ही रहे। अन्त मे ७० ई० मे रोम-राज्य के साथ इनकी खुली लडाई हुई। रोमन सम्राट् **टाइटस** ने **यरुशलम** का घेरा डाल दिया। नगर के पतन के बाद उसने यहूदी मन्दिरो को जला डाला। हजारो आदमियो को मौत के घाट उतार दिया। हजारो को गुलाम बनाकर रोम भेज दिया। इस मार काट मे बहुत से इधर-उधर भाग गये। कुछ वही डटे रहे। इस समय तक अरब, फिनिशियन, केनेनाइट जातियाँ बहुत बडी सख्या मे उनके धार्मिक विचारो के कारण यहूदियो मे मिल चुकी थीं। अत यह जाति काफी बढ चुकी थी। इनका धार्मिक विश्वास इनके पूर्वज **अब्राहम** को सुनाई दी वह भविष्यवाणी थी, जिसमे कहा गया था कि 'तेरी सन्तान उस हरे-भरे स्थान मे राज्य करेगी।' यही विश्वास उनके मनोबल को बार-बार पदाक्रात होने पर भी साहसी बनाये रखता था।

अस्तु, ७० ई० मे पुन रोम के गुलाम बन जाने पर यह कई सौ वर्षों तक उसके गुलाम रहे। ६३७ ई० मे यहा से अरब के खलीफाओ ने रोमनो को निकालकर अपना अधिकार कर लिया। १५१६ ई० मे इन पर तुर्की (टर्की) का अधिकार हो गया और यह अधिकार १६१४-१८ के प्रथम विश्व युद्ध तक ज्यो-का-त्यो रहा। युद्ध समाप्ति के पश्चात् जा विजित और पराजित राष्ट्रो म सधि हुई, उसके अनुसार फिलस्तीन अन्तर्राष्ट्रीय शासन देश (Mandate) के अन्तर्गत हालैंड के सरक्षण मे दिया गया।

स्वतत्रता के लिये सघर्ष—यहूदी जाति बार-बार गुलाम बनी और हर बार उसने अपनी दासता का जुआ उतार फेकने का प्रयत्न किया। अत टर्की की दासता से मुक्त के लिये भी इन्होने अपना सघर्ष बराबर जारी रखा। परन्तु सफलता न मिली। इसका प्रमुख कारण यह था कि यह लोग फिलस्तीन से निकलकर यूरोप भर के देशो मे फैल चुके थे और इनकी मातृभूमि मे बहुत बडी सख्या मे खलीफाओ ने अरबो को बसा दिया था। अत इनके पास कोई केन्द्र न होने के कारण अपनी स्वतत्रता के सग्राम को चलाना कठिन था। परन्तु जो भी यहूदी जहा रहता था, वह अपनी मातृभूमि को नही भूलता था। उनके इसी विचार के कारण उन्हे जर्मनी आदि मे भी पर्याप्त अत्याचार सहने पडे।

१६ वी सदी मे **थियोडोर इर्जल** नामक एक नेता का जन्म यहूदी जाति मे हुआ। इसने विभिन्न देशो के यहूदियो को मिलाकर 'अखिल विश्व यहूदी सगठन' नामक एक सस्था का सगठन किया। १८६० ई० मे **बेसल नगर** मे इस सस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ, जिसमे सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ कि फिलस्तीन की पवित्र भूमि को उनका राष्ट्रीय घर माना जाय। अत १८६७ ई० तक इस प्रस्ताव के निर्णय के अनुसार ही यहूदियो के अपना देश पुन प्राप्त करने के प्रयत्न चलते रहे।

ब्रिटेन का समर्थन—१६१७ ई० मे ब्रिटेन ने यकायक उनके प्रस्ताव के समर्थन मे अपनी मुहर लगादी। उस समय प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। ब्रिटेन का यह समर्थन 'बेलफोर-घोषणा' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमे ब्रिटिश सरकार ने इस सिद्धात को स्वीकार किया था कि फिलस्तीन यहूदियो का राष्ट्रीय घर है। इस घोषणा का कारण ब्रिटेन की यह कूटनीति थी कि उस समय जर्मनी मे यहूदी बहुत बडी सख्या मे बसे हुए थे और वह जर्मनी के सहायक न होकर ब्रिटेन के पक्षपाती थे, जो चुपके-चुपके जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार की सहायता दे रहे थे। उसी समय प्रसिद्ध यहूदी वैज्ञानिक **डा० विजमैन** ने इगलैंड के तात्कालिक प्रधानमत्री **लायड जार्ज** को **एसीटोन** (A cetone) नामक एक रासायनिक पदार्थ बनाने का भेद बताया, जो विस्फोटक बम बनाने मे काम आता है। अत इन सब उपकारो के बदले ब्रिटिश सरकार ने भी उन्हे पुरस्कृत करने का निर्णय किया। बेलफोर-घोषणा वही पुरस्कार था।

युद्ध समाप्ति के बाद यहूदियो ने इधर-उधर से एकत्र होकर फिलस्तीन मे जाकर बसना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अरबो से जमीन खरीद-खरीदकर कृषि के

बडे-बडे फार्म बनाये। बडे-बडे बगीचे लगाये और आबपाशी का प्रबन्ध किया। साथ ही अपनी भाषा हिब्रू (Hebreue) की उन्नति और समृद्धि मे लग गये। साहित्य सृजन को तेज प्रगति देने के अतिरिक्त यरुशलम मे इन्होंने एक विश्वविद्यालय की स्थापना की। १६३३ ई० मे जर्मनी के नाजी डिक्टेटर हर एडोल्फ हिटलर ने इन पर गद्दारी का आरोप लगाकर, इन्हे जर्मनी से भगाने का निश्चय किया। अत इन पर पुनः अत्याचार होने प्रारम्भ हो गये और अब यह बडी सख्या मे पुन. फिलस्तीन मे बसने के लिये आने लगे।

अरब-यहूदी सघर्ष—१६३३ ई० मे जब इनके यूथ जर्मनी से यहा आये, उस समय यह लीग ऑव नेशस की ओर से ब्रिटेन द्वारा शासित देश तो अवश्य थे, परतु आबादी अरबो की ही अधिक थी, क्योंकि ६३७ ई० से खलीफाओं ने इसे अरबी मुसलमानो का भी 'राष्ट्रीय घर' बना दिया था। अत यहूदियो के इतनी बडी सख्या मे आने पर जगह-जगह अरबो ने उपद्रव प्रारम्भ कर दिये और ब्रिटेन से माग की कि यहूदियो का फिलस्तीन मे आना रोका जाय। साथ ही जगह-जगह अरबो और यहूदियों मे दगे भडक उठे। अत १६३७ ई० मे इन झगडो के हल करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने पील-कमीशन (Peel Commission) नामक एक समिति नियुक्त की। उसने सुझाव दिया कि फिलस्तीन का अरबो और यहूदियो के बीच विभाजन कर दिया जाय और इस देश का विख्यात ऐतिहासिक नगर—**यरुशलम**—अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण मे रहे। परन्तु विभाजन के इस सुझाव को न अरबो ने माना और न ही यहूदियो ने। इन्ही झगडो के बीच द्वितीय महायुद्ध (१६३६-४५) मे प्रारम्भ हो गया और वह समाप्त भी हो गया, किन्तु दोनो जातियो मे झगडे फिर भी चलते रहे। दोनो ही **यरुशलम** को अपना राष्ट्रीय घर बताते थे। यहूदियों की दलील थी कि यहा उनकी बाईबिल की रचना हुई और यही उनके राजा सीलोमन ने अपने आदि देव **जेहोवा** का मन्दिर बनवाया था जिसकी वह दीवार जो मन्दिर की चहारदीवारी थी, खण्डहर के रूप मे आज भी खडी है और **वेलिगवाल** कहलाती है। इसके विपरीत अरबो का कथन था कि यही पर हमारे **उमर** की सबसे प्राचीन मस्जिद **उमर की मस्जिद** के नाम से है।

ब्रिटेन से वापसी—१४ मई, १६४२ ई० को अन्तर्राष्ट्रीय निर्देश के अनुसार ब्रिटेन को दिया गया शासन का समय समाप्त हो गया। अत उसी दिन ठीक रात के १२ बजे ब्रिटिश हाईकमिश्नर राष्ट्र-मघ की धरोहर को छोडकर चला गया। अत ब्रिटेन के जाते ही अपने गढ **तेल अबीब** से यहूदियो ने स्वतत्र **इजरायल** राज्य की घोषणा करदी। **बेनगुरियन** इस राज्य का प्रधान मत्री चुना गया। इस घोषणा के समय यहूदियो के आधीन **यरुशलम** राजधानी, **तेलअबीब** और **हैफा** दो बडे बन्दरगाह तथा कुल देश की लगभग आधी भूमि थी। शेष भूमि पर अरबो का अधिकार था। इस नये राज्य को जल्दी ही अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रास तथा रूस आदि ने मान्यता दे दी और अरबो तथा यहूदियो मे पुन दगे हुए। इस बार अरब अकेले नही थे। उनकी ओर से सीरिया और यहूदियो मे युद्ध शुरू हो गया। सीरिया की पीठ पर समस्त

अरब देश थे। इस समय वहा युद्ध विराम है और विराम-सधि की शर्तों का पालन कराने के लिये राष्ट्रसघीय कमीशन है, किन्तु फिर भी कभी-कभी दोनो सेनाओ मे टक्कर होती ही रहती है।

इजरायल का भारत से सम्बन्ध—भारतीय सभ्यता का इजरायल से सम्बन्ध, यहूदियो के इजरायल मे बसने से भी पूर्व था, जबकि वहा प्रागैतिहासिक जाति—एसे-नीज लोगो—की बस्ती थी। वस्तुत इन लोगो को एक जाति का नाम न देकर एक धार्मिक-सम्प्रदाय का नाम दिया जा सकता है, जो देश या सम्प्रदाय के नाम पर सगठित नही था। इस समाज की मुख्य शाखा का नाम—'थैराप्यूट्स'' था। इस सम्प्रदाय के रीति रिवाज भारतीय रीति-रिवाजो के अनुकूल थे। वेदिजयम की लेखिका कुमारी **फिरोजा** ने लिखा है—''समस्त ऐसेनीज जाति मे थैराप्यूट्स लोग ही अपने पास कुछ भी धन नही रखते थे। परन्तु फिर भी वह प्रसन्न थे, क्योकि उनकी आवश्यकताए अत्यन्त अल्प थी। लोभ-लालच से यह लोग सर्वथा मुक्त थे। यह लोग अपना ध्यान सदैव ब्रह्म-ज्ञान की ओर रखते थे। अपनी विचार-पद्धति के अनु-सार वे अपने दार्शनिक विचारो को भी **अलकारिक** रूप मे लिखा करते थे। वे लोग अतिथि सत्कार को बडे उत्सुक रहते थे। उनकी सस्थाओ का कार्य परोपकार करना भर होता था।''

''यह लोग पैथागोरियन दार्शनिको के विचारो के आधार पर परब्रह्म के ध्यान मे लीन रहकर, ईश्वर की आराधना जैट्रेग्रमेशन (Jetragrammation) नाम से करते थे, पश्चात् इसी शब्द का नाम **जेहोवा** किया गया। इसी नाम के आधार पर प्राचीन ऐसेनीज साहित्य मे लिखा है—'ईश्वर के मुख्य नाम के अक्षरो से ही ससार उत्पन्न हुआ है और स्थिर है।'' यह लोग ईश्वर के नाम के मूलमन्त्र को अपने शिष्यो को गुप्त रीति से बताया करते थे। इसी शब्द को बाद मे यहूदियो ने अपना लिया। भारतीय आर्यों का विश्वास है कि 'मुण्डकोपनिषद' और यजुर्वेद मे, जिस प्रकार चतु-ष्पाद 'ओउम्' शब्द के पादो की व्याख्या की गयी है, उसी प्रकार ऐसेनीज साहित्य मे भी 'जहोवा' की गयी है। इसके अतिरिक्त 'जहोवा' शब्द का उनका भी न मानकर असीरियनो का माना जाता है। उन्ही से ऐसेनीज लोगो ने ग्रहण किया और असीरि-यनो ने यदि वैदिक शब्द 'यह्व' का रूप बदलकर अपनाया हो, तब शका कम ही है। वैदिक साहित्य मे यह शब्द 'वरुण' के लिये प्रयुक्त हुआ है।

इनके रीति-रिवाज अत्यन्त पवित्र और कठोर थे। यह लोग तपस्या, दया, पवित्रता और न्याय को अपने जीवन का आदर्श बनाते थे। उनके जीवन का मूलमन्त्र ईश्वर और सत्य से प्रेम करना था। वह अपनी यश-कामना को वाच्य न समझकर अपनी मनोकामनाओ को वश मे रखने का प्रयत्न करते थे।

विवाह से यह लोग बचते थे और परीक्षा लेकर ही बच्चो को अपने मत मे लेते थे। सूर्योदय के समय यह सासारिक बातो के सम्बन्ध मे एक शब्द भी नही बोलते थे। इनकी पाकशालाए स्वच्छ होती थी। सभी साथ बैठकर भोजन करते थे और वह

भी शान्त । भोजन के प्रारम्भ और अन्त मे प्रार्थना करने की इनमे पद्धति थी । यह लोग भी चार वर्णों मे विभाजित थे । चौथा वर्ण उच्च वर्ग के व्यक्ति को छू भी नही सकता था । ऐसा होने पर स्नान करना अनिवार्य था । शरीर को कष्ट देकर जीवन-यापन करने वाले यह लोग दीर्घजीवी होते थे । यह तर्क को व्यर्थ और ज्ञान मे बाधक मानते थे । केवल आचार-शास्त्र पर ही बल देते थे । उपासना के लिये इनके अलग-अलग स्थान थे । यह भिन्न-भिन्न छन्दो मे कविताए किया करते थे । सप्ताह मे एक दिन सयुक्त रूप से बैठकर धर्म के सम्बन्ध मे उपदेश सुनते थे । यह लोग मेखला और जनेऊ—दोनो धारण करते थे । इनके रीति-रिवाजो की भारतीय रीति-रिवाजो से तुलना अवश्य हो जाती है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह ज्ञात नही हो पाया कि वास्तव मे यह लोग कौन थे और कहा से आये थे ।

यहूदी दर्शन और भारतीय दर्शन—यहूदी दार्शनिको की विचारधारा भी भारतीय दार्शनिको की विचारधारा से मेल खाती है । उसे देखकर ऐसा लगता है कि यहूदी लोगो का भारतीय सभ्यता से प्राचीन सम्बन्ध रहा है । उदाहरणार्थ भारत मे 'नियोग' की प्रथा अति प्राचीन है । वेद मत्र है—**'अन्य मिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ।'** अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति को पति बनाकर, सन्तान उत्पन्न कर, उसी प्रकार हिब्रू-बीज कहता है—'मैं मोलान की स्त्री **रथ** को अपनी स्त्री बनाता हू, जिससे कि उसके मृत पति का नाम बना रहे और रथ का वश नष्ट न हो ।'

इसके पश्चात् स्मृतिकालीन विचार भी समान हैं । उदाहरणार्थ 'मनु' का कथन है—"विष्टा खाने वाले, नगरो मे रहने वाले और बिना चिरे हुए खुरो वाले पशुओ का मास नही खाना चाहिये ।* लगभग यही विचार यहूदियो के **मूसा** के हैं—'वे पशु, जिनके खुर चिरे हुए नही हैं, यथा सूअर आदि अपवित्र हैं । पक्षियो मे चील अपवित्र है ।' मनु का कथन है—'शव को छूने वाले एक दिन या तीन दिन के बाद पानी से स्नान करके शुद्ध होते हैं । 'मूसा' का कथन है 'जो व्यक्ति मृत देह को छुएगा, वह सात दिन तक अपवित्र रहेगा । मृतक के घर मे प्रवेश करने से भी मनुष्य अपवित्र हो जाता है ।' इसके पश्चात् 'मनु' के 'सूतक' सम्बन्धी विचार हैं । मनु ने लिखा है—'सन्तान उत्पन्न होने पर अथवा रजस्वला होने पर माता-पिता को सूतक रखना चाहिये । मूसा का कथन है—'रजस्वला अवस्था मे स्त्री सात दिन अपवित्र रहती है । सन्तान के समय १४ दिन । उसकी वास्तविक शुद्धि ६० दिन मे होती है ।' मूसा के अतिरिक्त 'जहोवा' का कथन है—'मैंने भोगविलास हीन तपस्वियो को, उपभोग की सभी वस्तुएँ दी हैं । परन्तु वह लोग उन्हे फिर मुझे (परमात्मा को) समर्पित कर देते हैं ।' इसके अतिरिक्त यहूदी धर्म मे माँस का भी विरोध किया गया है । लिखा है—'तुम मे से जो व्यक्ति, चाहे वह इसरायल वश का हो अथवा अन्य किसी वश का, रुधिर या माँस खायेगा, उस पर मेरा भारी कोप गिरेगा । मैं उसे नष्ट

---

* मनुस्मृति ५।११।५।६१ ।

कर दूंगा, क्योकि खून शरीर का भाग है, इसलिये मै इसरायल के वशजो को रुधिर भक्षण से रोकता हू, जो इसका सेवन करेगा—नष्ट होगा। अत 'अरोन' और इसरायल के वशजो से कह दो, कि वे परमात्मा की आज्ञा और वचनो पर ध्यान दे कि कोई व्यक्ति देव-पूजा के अतिरिक्त वेल, बकरी, भेड या किसी अन्य जीव को न मारे१। मनु ने भी इस सम्बन्ध मे लिखा है—'साधारण अवस्थाओ मे द्विजो को मास नही खाना चाहिये। आपत्तिकाल आने पर भी, विधि विहित मास ही खाना चाहिये, अन्यथा भयकर दण्ड मिलता है२।

ऐसेनीज़ सिद्धान्तो से वैदिक उपनिपदो की झलक स्पष्ट मिलती है। वह शरीर को नश्वर मानकर, शरीर को अजर-अमर आत्मा का पिजरा मानते थे। ईशोपनिपद मे 'अहमस्मि' वाक्य आता है। इसकी व्याख्या ऐसेनीज़ धर्म-ग्रन्थ एक्सोडस (Exodas) मे इस प्रकार है—'मै हूँ, मै वही हू, तुझे इसरायल के बच्चो से कहना चाहिये कि उसने मुझे तुम्हारे पास भेजा है।'३ इस प्रकार हम देखते हैं कि विचार-शैली से यह लोग भारतीय विचारधारा के अति निकट थे।

ईसा-कालीन इजरायल—ईसा मसीह के काल मे इजरायल की धार्मिक मान्यताओ मे कुछ हेर-फेर हुआ। यू स्वय ईसा इजरायल के प्राचीन विचारक ऐसेनीज़ लोगो के सन्तो के विचारो से प्रभावित थे और अपनी विचारधारा मे उन्होने उनके विचारो को भी स्थान दिया है, किन्तु फिर भी वह यहूदी लोगो को प्रभावित न कर सके और उन्हे वहा अपार कष्टो का मुकाबला करना पडा। इनका जन्म अब से १९६२ वर्ष पहिले, तब हुआ था, जब यहूदियो का राजा **हिरोद** नामक व्यक्ति था।

ईसा का जन्म और पलायन—ससार के इस महापुरुष का जन्म इजराइल के **वेथलेहम** नामक ग्राम मे **जोसफ** नामक एक यहूदी बढई के यहाँ हुआ। गर्भ के समय इनकी माता क्वारी थी। जोसफ से उनकी मगनी हो चुकी थी। अत जोसफ कही **मरियम** से शादी करने मे इन्कार न करदे, इसलिये देववाणी ने उसे सकेत दिया—"जोसफ मरियम के गर्भ मे भगवान का पुत्र है, तुम शका न करना।" जोसफ ने देववाणी को ईश्वरीय आदेश मानकर मरियम से विवाह कर लिया।४

जन्म के बाद फिलस्तीन देश से पूर्व के ज्योतिपी जेरुसलम मे आकर पूछने लगे कि 'यहूदियो का राजा, जिनका जन्म हुआ है, वे कहाँ है, क्योकि हमने उनका तारा देखा है और हम उनका अभिवादन करने आये हैं।' यह सुनकर हिरोद और उसके परिवारी घबरा गये। हिरोद ने ज्योतिषियो को बुलाकर पूछा कि तारा किस समय दिखाई दिया? इसके बाद आज्ञा दी कि वेथलेहम जाकर सारी बातो का पता लगाकर मुझे सूचित करो—मैं भी जाकर उसकी अभ्यर्थना करूंगा। ज्योतिपी चल दिये।

---

१ Baiebil—Old Testament

२ मनु ५।२३;

३ Exodas—13—14

४ मैथ्यू १।२०

जिस तारे को उन्होने देखा था, वह उनके सर पर आगे-आगे चला और ईसा के जन्म-स्थान पर जाकर ठहर गया।

ज्योतिषियो ने वहाँ माता मरियम और बालक ईसा को साष्टाग प्रणाम किया और लोबान तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों की सोने सहित भेंट देकर हिरोद के पास न जाकर चुपके से अपने देश लौट गये। ज्योतिषियो के जाने के बाद, देवदूत ने जोसफ से स्वप्न मे कहा— 'बालक को लेकर मिस्र देश चले जाओ और जब तक मैं न कहूँ – वही रहो, क्योकि सम्भव है हिरोद बालक की हत्या न करदे।' * इस आदेश का जोसफ ने पालन किया। वह मिस्र देश भाग गया। उधर 'बेथलेहम' के आसपास के सभी बच्चो की हिरोद ने हत्या करा दी।

ईसा की १२ वर्ष की आयु होने पर जोसफ पुन यरुसलम लौटे, हिरोद मर चुका था। रास्ते मे ईसा गायब हो गये। पता लगाने पर लोगो ने देखा वह जेरुसलम के मन्दिर मे विद्वानो से शास्त्रार्थ कर रहे हैं। बाद मे इन्होने बढईगीरी का कार्य प्रारम्भ किया। अवकाश के समय भगवान का ध्यान करते थे। यरुसलम मे उस समय जॉन (John the Baptist) नामक संत ने भविष्यवाणी की कि एक ऐसा महान् पुरुष प्रकट होने वाला है, जो भगवान की दी हुई शक्ति से लोगो को शुद्ध करेगा। वह इतना महान होगा कि उसके जूतो के फीते खोलने तक भी मेरी क्षमता न होगी।' कुछ काल बाद ईसा उन्ही से शिक्षा लेने गये। उन्होने कहा—'यह आप क्या कह रहे है, आपके द्वारा तो मेरा ही सस्कार होना चाहिये।'

धार्मिक जीवन और उपदेश—लगभग तीस वर्ष की आयु मे ईसा मसीह ने धार्मिक जीवन मे प्रवेश प्रारम्भ किया और अपने धर्म के उपदेश लोगो को देने शुरू किये। उनके यह प्रारम्भिक उपदेश शैलोपदेश अर्थात् 'पहाड पर के उपदेश' के नाम से विख्यात हैं। उनके उपदेशो का निम्नसार था—दीन भाव वाले लोगो को भगवान का साम्राज्य मिलेगा, दुखी लोगो को भगवान का आश्वासन मिलेगा, दयालु पुरुष भगवान की दया के भागी होगे, शुद्ध अन्त करण वालो को भगवान् का साक्षात्कार होगा, शाति के प्रचारक ही भगवान् के पुत्र समझे जायेंगे, धर्म पर दृढ रहने वाले धन्य है।" इसके बाद उन्होने कहा—"जो लोग बुरे मन से किसी स्त्री को देखत हैं वे मन मे उससे व्यभिचार कर चुके होते हैं।" आगे उन्होंने कहा—'अच्छा है अपनी दायी आख को निकालकर फेंक दो, जिसने तुम्हे ठोकर दी है, क्योकि इससे सारा शरीर तो नर्क से बचेगा।" इसी प्रकार उस पैर को भी काट दो, जो तुम्हे कुपथ पर ले जा रहा हो।"

पत्नी-त्याग के सम्बन्ध मे मसीह का उपदेश था—"**जो व्यक्ति व्यभिचारिणी होने के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से पत्नी का त्याग करता है, वह उल्टे उसे व्यभि-**

* सत मैथ्यू रचित सुसमाचार – अध्याय दो।

चारी जीवन व्यतीत करने को बाध्य करता है और जो उस परित्यक्ता से विवाह करता है, वह व्यभिचार करता है।'

नीति सम्बन्धी अपने विचारो मे उन्होने कहा—"जो तुम्हारे इस गाल पर चपे मारे, दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो और यदि कोई तुम पर दावा करके तुम्हारा कोट ले ले, तो उसे अपना लवादा भी दे दो।" आगे उन्होने कहा—'अपने पडोसियो से ही नही, शत्रुओ से भी मेल करो और कष्ट देने वालो के लिये भी ईश्वर से प्रार्थना करो। अपने दान की घोषणा न करके उसे इतना गुप्त रखो कि तुम्हारे दूसरे हाथ को भी पता न लगे, अन्यथा वह दान निष्फल है। परमात्मा सब कुछ देखता है और देखकर ही फल देता है। भगवान की प्रार्थना लोगो को दिखाने के लिये गलियो या बाजारो मे न करके, अपनी कोठरी मे करो। प्रार्थना के समय उसमे कुछ मत मागो, वह तुम्हारी आवश्यकताओ को जानता है।"

"उपवास भी शुद्ध रहकर चुपचाप करो, उसकी भी मनादी मत पीटो। अपने खाने-पीने की चिन्ता छोड दो, क्योकि भोजन से बढकर प्राण और वस्त्र से बढकर शरीर है। पवित्र वस्तु कुत्ते को न दो और मोती सुअर के आगे न रखो। अपनी आँख का ताड देखने के बाद ही, दूसरे की आँख का तिनका देखो।"

ईसा के इन उपदेशो का सग्रह "मैथ्यू" के पाँचवे अध्याय से ७वें अध्याय तक है। इसके पश्चात् उनकी अलौकिक शक्तियो का वर्णन है, जिससे उनकी प्रसिद्धि चारो ओर फैल गयी। इसीलिये वहा का पुरोहित वर्ग और उनके अनुयायी ईसा की हत्या के लिये तुल गये। मसीह को आभास हो गया। उन्होने कहा—"दो दिन बाद, पर्व के दिन भोज होगा और अपने एक अनुयायी के विश्वासघात के कारण ही हम सूली पर चढाये जाने के लिये पकडे जायेंगे।" उसी शाम को वह अपने १२ अनुयायियो के साथ भोजन करने बैठे। उस समय भी उन्होने उक्त शब्द ही दुहराये कि "तुम मे से एक मुझे पकडवायेगा।"

इस पर हरेक ने अपने-अपने लिये पूछा कि "क्या वह मैं हू?" ईसा ने कहा "जिसने मेरे साथ थाली मे हाथ डाला है, वही है।" जब सभी खा रहे थे, ईसा ने रोटी ली और तोडकर अपने शिष्यो को देते हुए कहा—"लो यह मेरी देह है।" फिर उन्होने कटोरा देते हुए कहा—'यह मेरा रक्त है, इसे पियो, क्योकि यह पापियो की क्षमा के निमित्त बहाया जाना है।'

ईसा का कथन सत्य निकला। वे अपने अनुयायी जूडा (Judas) के विश्वासघात के कारण पकड़े गये। पुरोहित वर्ग ईसा के विरुद्ध झूठी साक्षिया खोजने मे सलग्न था। अत दो मनुष्यो ने आकर कहा—"इस (ईसा) ने कहा है कि मैं परमेश्वर का मन्दिर ढाह सकता हूँ और तीन दिन मे बना सकता हूँ।" ईसा के प्रतिवाद पर पुरोहितो ने कहा— 'यदि तुम परमेश्वर के पुत्र मसीह हो, तब हमसे कह दो। तुम्हे परमेश्वर की कसम है।" ईसा बोले—"तुम कह चुके हो, वरन् मैं तुमसे यह भी कहता हूँ, अब तुम मनुष्य के पुत्र को सर्वशक्तिमान की दाहिनी ओर बैठे आकाश के

बादलो पर आते देखोगे ।" इस पर अपन कपडे फाडकर महापुरोहित ने कहा—"इसने ईश्वर की निन्दा की है, अब हमे साक्षियो की भी आवश्यकता नही । वह सबने सुनी है । बोलो तुम लोग क्या कहते हो ?"

"यह वध्य है ।" चारो ओर से आवाज आई । लोगो ने उनके मुँह पर थूकना और मारना शुरू किया । पुरोहितो ने मार डालने की सम्मति दी और बाधकर हाकिम के आगे पेश कर दिये गये । हाकिम ने भी कोडे लगवाये और सूली पर चढाने की आज्ञा दी । अत. काटो का मुकुट पहिना कर उस 'धर्म-सम्राट्' को सूली पर चढा दिया गया । अपने सूली पर चढते समय ईसा ने कहा—"भगवान इन्हे क्षमा करना, यह बेचारे नही जानते कि क्या कर रहे है ।" और अन्त मे "हे पिता, यह आत्मा तुम्हे अर्पित ।" कह कर प्राण त्याग दिये ।

ईसा के दार्शनिक विचार—बाईबिल मे वर्णित ईसा के दार्शनिक विचारो का ज्ञान भली प्रकार हो जाता है । निर्मल चरित्र वाले ईसा के दार्शनिक विचार अत्यन्त उच्च थे । ईसा ने मनुष्यो के उद्धार के लिये अवतार लेकर, धर्म का उपदेश दिया और लोक-कल्याण के लिये, अपने प्राण दिये । अत उनका जीवन मानव को लोक-कल्याण और सद्-व्यवहार का आदेश देता है । ईसा भगवान् की सत्ता का आभास अपने हृदय मे पाते थे, वह इसके लिये दार्शनिक प्रमाणो की आवश्यकता नही समझते थे । जिस प्रकार कोई शिशु माता की गोद मे रहता है, उसी प्रकार वे भी अपने को ईश्वर की गोद मे समझते थे । उन्होने अपने को कभी 'भगवान' नही कहा । सदैव उसका पुत्र ही समझा । दूसरो का हित करना ही उनका लक्ष्य था । उनका कथन था—"सुई के छेद से ऊँट भले ही निकल जाय, किन्तु धनी के लिये स्वर्ग पाना सम्भव नही ।" उनकी दृष्टि मे जगत से भी अधिक आत्मा का महत्त्व था । उनका कथन था—"ईश्वर सातवें आसमान पर रहता है, किन्तु हमारे हृदय मे भी निवास करता है ।" ईसा की इच्छा मानव मात्र को कर्तव्य का बोध कराकर इस ससार को स्वर्ग-राज्य (Kingdom of heaven) स्थापित करना था । परन्तु बौद्ध और जैन-धर्मो की भाति इस धर्म जीव-हिसा का विरोध नही किया गया । इसके विपरीत स्पष्ट यह कहा गया है कि अन्य जीवो को भी परमात्मा ने मनुष्य के उपकार के लिये ही बनाया है । अत. मानव आत्मा और जीवजन्तुओ की आत्मा मे भेद किया गया । पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी नही माना गया । परन्तु हिन्दुओ की त्रिमूर्ति की कल्पना यहाँ भी की गयी । अर्थात् ईश्वर ईसा और उनकी पवित्र आत्मा— तीनो एक ही हैं । इसके विपरीत ईसाई धर्म मे ज्ञान द्वारा मुक्ति की अपेक्षा शरणागति द्वारा ही मुक्ति का मार्ग माना गया तथा जनहित के निमित्त आत्म-बलिदान पर बल दिया । उस समय बौद्ध धर्म यरुसलम तक फैल चुका था । अत ईसाई-धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पडना आवश्यक ही है ।

ईसा के बाद—ईसा की मृत्यु के बाद, उनका कार्य-भार उनके शिष्यो और अनुयायियो ने सभाला । ईसा के चार मुख्य शिष्य थे—मार्क, ल्यूक, मैथ्यू और जॉन ।

इन्होंने ही उनके उपदेशों का संग्रह किया । उनका यही संग्रह बाद में 'न्यूटेस्टामेंट' कहलाया । अन्त में यहूदियों की बाईबिल भी इसमें मिला ली गयी और इसे 'ओल्ड टेस्टामेंट' कहा गया । ३१० ई० तक ईसाई धर्म का प्रचार अत्यन्त संकटकालीन परिस्थितियों में हुआ । इसके बाद ईसाई धर्म का विकास 'रोम राज्य' में हुआ ।

यहूदियों का राजदर्शन—मिस्र, बेबीलोनिया तथा असीरिया आदि पौरवात्य देशों की भांति यहूदियों का राजदर्शन भी मूलतः धार्मिक है । उसमें भारतीय तथा चीनी विचारकों की सी धर्म निरपेक्ष दृष्टि का सर्वथा अभाव है । यहूदी राज्य के उद्गम के सम्बन्ध में दैवी सिद्धान्त को मानते हैं, लेकिन अन्य पूर्वी देशों की तुलना में यहूदी विचारधारा पर इस तथ्य का सम्भवतः सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है । वहां एक देवता की उपासना पर ही सबसे अधिक बल दिया है । अतएव धार्मिक एकता यहूदी विचारधारा की प्रमुख विशेषता है । अन्य पौर्वात्य साम्राज्यों की तुलना में उक्त कारणवश राज्य की एकता अधिक सुदृढ़ रही है । राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय लक्ष्यों की समानता यहूदी राजदर्शन में कहीं अधिक पायी जाती है ।

राज्य का उद्गम—यहूदी राजनीतिक विचारधारा के अनुसार राज्य का जन्म ईश्वर की इच्छावश हुआ और राज्य के विधि-विधान यहूदियों के देवता जेहोवा की इच्छा का परिणाम है । उक्त विधि विधान प्रजा और राजा दोनों के लिए समान रूप से मान्य समझे गये हैं । पारलौकिक कल्याण के लिए कहा जाता है, यहूदियों ने राज्य के बंधनों को स्वीकार किया है । यदि वे विधियों का उल्लंघन करते हैं तो वे दोषी हैं और दण्ड के भागी हैं । इससे स्पष्ट है कि राज्य के विरुद्ध क्रांति करने का अधिकार प्रजा को नहीं दिया गया है ।

यहूदियों का यह भी विश्वास रहा है कि जेहोवा से समय-समय पर सलाह ली जा सकती है । यह सलाह जेहोवा के चुने हुये पैगम्बर या दूत ही देते हैं । ये देवदूत किसी एक वर्ग के या वंश के नहीं होते, अपितु जो अपनी योग्यता अथवा स्वभावगत योग्यता के बल पर आगे बढ़ जाते हैं, वही ईश्वरीय दूत समझे जाते हैं । धार्मिक पुरोहित, राजा और प्रजा तथा ईश्वर के बीच का प्रतिनिधि माना जाता है । यह भी माना जाता है कि पुरोहित सेम्यूअल के द्वारा प्रथम यहूदी राजा साल को गद्दी दी गयी थी ।

जनमत का महत्व—यहूदी राजदर्शन में प्रजातंत्रवादी तत्वों का भी साक्षात्कार होता है । राज्य सम्बन्धी समझौते का सिद्धान्त प्रतिनिधित्व को प्रकट करता है तथा इसके साथ ही यह निर्देश कि राजा जनमत के अनुसार चले, जनमत के अनिवार्य प्रतिनिधित्व की ओर भी इंगित करता है । यहूदी अपने राज्यों की, जब भी वे अनुचित हुये आलोचना करने से कभी नहीं चूके । राजा डेविड तथा राजा अहाब की तो बहुत ही आलोचना की गयी है । सोलोमन की कठोर शासन व्यवस्था, साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा, भारी कर-व्यवस्था तथा बेगार आदि को बुरा बतलाया गया है । यही नहीं, जन-कल्याण तथा लोकमंगल की दृष्टि राजा के लिये आवश्यक बतलाई गई है ।

सम्पत्ति का समान वितरण आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तो की ओर सकेत करता है। न्याय-कार्य मे धर्म-निरपेक्षता की दृष्टि उल्लेखनीय है । उन्होने मुसलमानो जैसा धार्मिक अत्याचार धार्मिक एकता के बावजूद कभी नही किया। मौजेज की विधिसहिता प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य कई विधि सहिताए भी यहूदी दर्शन मे उपलब्ध हैं। ई० सन् के पूर्व पाचवी शताब्दी मे विधियो को अतिम रूप से सहिताओ मे सकलित किया जा चुका था।

यहूदी विचार पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किये बिना यह अध्याय सम्भवत अपूर्ण सा ही रह जायगा। यहूदी विचार मे कालान्तर मे कुछ दोष उत्पन्न हो गये। विविध देवताओ की उपासना तथा विविध धर्मावलम्बियो के कारण जहा भारतीय या हिन्दू तथा चीनी राजदर्शन ने विविधता के प्रति एक प्रकार की सहिष्णुता उत्पन्न कर दी थी, वहा दूसरी ओर कालान्तर मे यहूदी दर्शन मे असहिष्णुता का दुर्गुण आ बसा। धार्मिक कट्टरता और युद्धाचार की प्रवृति ने यहूदियो मे आपस मे सघर्ष कर दिया। बाद मे यहूदी धर्म मे यूनानियो तथा ईसाइयो ने सुधार किया और उसे यूरोप भर मे फैला दिया।

सभी उत्सव, त्योहार तथा शुभकार्य चन्द्रमा के ही आधार पर होते थे और आज मुसलमान बनने के बाद भी उनके सभी त्योहार आदि चन्द्रमा की तिथियो के आधार पर ही होते है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रलय की कहानी और भारतीय प्रलय की कहानी भी लगभग समान ही है।

उनके धार्मिक-जीवन मे पूजा-पाठ, भूत, प्रेत तथा झाड-फूक का भी विशेष स्थान था। देश के अधिकाक भाग मे मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। मुहम्मद साहब के समय वहा सामन्त प्रथा थी। नगर राज्यो मे कुछ पर स्वतत्र सामन्तो का अधिकार था और कुछ पर बडे-बडे व्यापारियो का कब्जा था। उस समय मक्का का नाम **बक्का** था।

प्राचीन-धार्मिक विश्वास—प्राचीन अरब निवासी भारतीय हिन्दुओ की भाँति मूर्ति-पूजा करते थे। मक्का (बक्का) मे एक अत्यन्त प्राचीन मन्दिर था। इस मन्दिर मे मूर्तियाँ भी थी और किसी समय उल्कापात से गिरा हुआ पत्थर का काला टुकडा **हज्र-अस्वद** था। इसकी पूजा केवल अरब ही नही, भारतीय जनता भी जाकर करती थीं। आज का **कावा** उस समय हिन्दुओ का उसी भाँति तीर्थ था, जिस भाँति आज मुसलमानो का है। जिस पत्थर की पूजा करके उस समय के हिन्दू पाप-मुक्ति का विश्वास करते थे ठीक उसी तरह उस पत्थर को चूमकर (बोसा लेकर) आज के मुसलमान भी वही विश्वास करते है।

इस मन्दिर मे इस पाषाण के अतिरिक्त, जिसे हिन्दू शिवलिंग मानते थे, सूर्य (शम्स), लात, मनात आदि की भी मूर्तियाँ थी। अत इस मन्दिर के प्रागण मे आज की भाँति उस समय भी मेला लगा रहता था। उस समय **कावा** के पडो मे **कुरेश वंश** का स्थान बहुत ऊचा माना जाता था। इसी कुल मे मुहम्मद साहब का जन्म हुआ। इसी वश मे **हाशिमी** नामक प्रसिद्ध खानदान था। मुहम्मद साहब के पिता अब्दुल्ला के पिता और दादा अब्दुल मोतलल्ब और परदादा हाशिम थे। हाशिम के पिता का नाम अब्दुल मनात अर्थात् **सनातदास** था, जिसका अर्थ है कि मुहम्मद साहब से केवल पाँच पीढी पहिले ही उनके पूर्वज एक 'काफिर देवता' के पूजक थे। हाशिम के भाई का नाम भी अब्दुल शम्स (सूर्यदास) था।

अरब सभ्यता को ठीक से समझने के लिए यह आवश्यक ही है कि हम उसके पुरातत्व सम्बन्धी आधुनिक खोजो का सक्षेप मे वर्णन करे। यूरोप के उच्चकोटि के साहित्य का अध्ययन करने से मालूम होता है कि वे लोग दक्षिणी अरेबिया से परिचित थे। ग्रीक इतिहासकार हेरोडोट्स ने अरेबिया के पश्चिमी भाग का उल्लेख किया है। यूनानी और रोमन दक्षिणी अरब से परिचित थे, क्योंकि व्यापारिक दृष्टिकोण से यह एक महत्वपूर्ण स्थान था। मध्यकाल के अन्त मे और आधुनिक काल के प्रारभ मे, अरब लोगो की दृष्टि मे अछूता पडा रहा। आधुनिक काल मे अरेबिया का सर्वथा उल्लेख नीबूहर ने किया, जिसको डेन्मार्क के बादशाह ने १७६१ मे यहाँ भेजा था। 'जोहन्न लुडविग वर्कहाट' ने १८१२ मे पिट्रा को खोजा। सन १८४५ मे **जार्ज आगस्टस** 'नज्द' मे अरबी भाषा का अध्ययन करने गया। सन् १८७५ मे एक अग्रेज यात्री

पश्चिमी अरब का भ्रमण करने गया जिसका वर्णन उसने 'ट्रैवल्स इन अरेबिया डिज-रटा' मे दिया है।

सेमेटिक जाति से दो उपजातियो का प्रादुर्भाव हुआ, जिनको क्रमश यहूदी, और अरबवासी कहते है। अरबवासियो की संख्या यहूदियो से अधिक है। इन दोनो जातियो की शारीरिक बनावट और मानसिक लक्षण एक से है। अब प्रश्न यह उठता है कि अरबवासी एक स्थान मे स्थायी रूप से क्यो नही बसते थे? इसका सबसे मुख्य कारण भौगोलिक अवस्था है। इसके साथ-साथ और भी तथ्य है। अरबवासी अपने देश को 'जजीरत-अल-अरब' जिसका अर्थ 'अरबो का द्वीप' है कहते है। सेमेटिक शब्द की उत्पत्ति 'ओल्डटेस्टा ट' के 'शिम' शब्द से हुई है।

अरबवासियो का वास्तविक निवास कहा था और ये किस स्थान से अरब मे आये थे? इसके विषय मे विद्वानो मे बहुत अधिक मतभेद है। कुछ लोगो के कथनानुसार 'सिमिट्स' और हैमिट्स' लोगो मे बहुत अधिक भाषा सम्बन्धी समानता है। इसके फलस्वरूप उनका विचार है कि अरबवासियो का मूल स्थान पूर्वी अफ्रीका है। 'ओल्ड टेस्टामेट' से प्रभावित व्यक्तियो का कथन है कि उनका मूल स्थान **मेसोपोटा-मिया** था। मेसोपोटामिया सिद्धान्त का खण्डन इस आधार पर किया जा रहा है कि मेसोपोटामिया के लोग कृषि करते थे। किन्तु इसके विपरीत अरब लोग खानाबदोश रहे हैं। यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो यह ऐतिहासिक तथ्यो के विपरीत होगा। इसका मतलब यह होगा कि उन्होने कृषि को छोडकर अस्थिर जीवन अपनाया। अरब का अधिकतर भाग रेगिस्तान है। सातवी शताब्दी से अरबवासी विश्व के प्रत्येक भाग मे, इस्लाम का झण्डा लिये हुए पहुचे। कुछ विद्वानो के कथनानुसार अरबो के प्रसार का सबसे मुख्य कारण जनसख्या का बहुत अधिक विस्तार हो जाना था और यही से यह लोग दुनिया के हर भाग मे फैले, कृषि कार्य को किया। इसके अनन्तर जिन जिन स्थानो पर फैले, वहा की सभ्यता एव सस्कृति को भी उन्होने अपनाया, जिसके फलस्वरूप सभ्यताओ का सम्मिश्रण हुआ। यह सर्वमान्य तथ्य है कि अरब (नज्द या अलयमन) ही ऐसा स्थान है, जहा से सेमेटिक लोग फैले।

रूपरेखा—अरब प्रदेश एशिया महाद्वीप के दक्षिण पश्चिमी भाग मे स्थित है। यहाँ पर वर्षा बहुत कम होती है और अधिकतर भाग रेगिस्तान है। कही कही पर नखलिस्तान भी है। प्रो० डडले स्टाम्प ने ठीक ही लिखा है कि **हदपहजाज** जहा से इस्लाम का अभ्युदय हुआ, के इतिहास से हमे पता चलता है कि समय-समय पर यहा पर भी अकाल पडा जो कि कई वर्षों तक चलता रहा। केवल **हलहिजाज** के कुछ भागो मे नखलिस्तान मिलते है। सबसे विशाल नखलिस्तान दस वर्ग मील का है। अलहिजाज का पाच चौथाई भाग खानाबदोश है। मदीना का भाग भौगोलिक दृष्टि-कोण से और स्वास्थ्य के लिये लाभप्रद है। अलयमन और असीर ही एक ऐसा भाग है जहाँ पर ठीक समय पर वर्षा होती है। जहाँ पर कोई भी ऐसी नदी नही है, जो यातायात और कृषि सिंचन को लाभ पहुचाती हो। मुख्य स्थल मार्ग मेसोपोटामिया से

है, जो कि नज्द से आरम्भ होता है । यहाँ की भूमि सूखी और नर्म होने के कारण पैदावार कम होती है। अलहिजाज का क्षेत्र खजूर की पैदावार के लिये महत्वपूर्ण है। ऊट का अरब मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । आज भी यातायात का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। दसवी शताब्दी के खगोलवेत्ता 'अलश्तखरी' के अनुसार अलहिज ज ही केवल एक ऐसा भाग है जहाँ पर पानी वर्फ मे परिणत हो जाता है । अल हमदानि साना मे भी ऐसे भाग का वर्णन करते है जहाँ पानी वर्फ मे परिणत हो जाता है । रेगिस्तानी क्षेत्र बहुत अधिक मात्रा मे होने के कारण यहाँ पर ऊट के बिना कार्य चलना असम्भव है।

भौगोलिक वर्णन का अध्ययन करने के परिणामस्वरूप यह मालूम हो जाता है कि अरबमे दो भिन्न-भिन्नप्रकार के रहन सहन दिखाई देते है । पहले प्रकार के रहन-सहन के अन्तर्गत लोग कृषि करते है, क्योकि भूमि कृषि के उपयुक्त है और वर्षा भी समय पर हो जाती है। ये लोग एक स्थान मे स्थायी रूप से रह कर, जीवन व्यतीत करते हैं । दूसरे प्रकार के रहन-सहन के लोग एक स्थान से, दूसरे स्थान को भ्रमण करते हैं। इसका कारण है कि इनके पास कोई ऐसा स्थान नही है जिसकी जलवायु और भूमि खेती करने के उपयुक्त हो। ऐसे लोगो को बंडोन की सज्ञा दी गई है। ऐसे व्यक्ति जो अस्थिर वास करते हैं, इनका विभाजन कई प्रकार से किया जाता है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो न तो पूर्णतया खानाबदोश होते है और न पूर्णतया एक स्थान मे वास करने वाले ही होते हैं। कुछ लोग पहले खानाबदोश थे, पर बाद मे नागरिक जीवन अपना लिया और व्यापार करने लगे। ये लोग बिना किसी कारणवश एक स्थान से दूसरे स्थान को नही जाते। इनका मुख्य उद्यम जानवरो का पालना है, रेगिस्तानो मे हरियाली बहुत कम दिखाई देती है । ये लोग अपने निकटतम शहरो के लोगो को जानवरो से उपलब्ध वस्तु देते है और वे वस्तु विनिमय मे लेते हैं जिनकी उनको आवश्यकता पडती है। कभी-कमी तो ये लोग लूटपाट भी किया करते हैं। इन खानाबदोश लोगो का जीवन एक सा ही रहता है, इसमे कोई भी परिवर्तन नही होता है। हिट्टी का कथन अक्षरश सत्य है—

"आज भी पहले की तरह इनका जीवन तम्बुओ पर निर्भर करता है । ये उन्नति एव विकासवादी सिद्धान्तो मे विश्वास नही करते हैं। इनके विचार और सभ्यता भी वही है, जो पहले थी। इनके दृष्टिकोण से जानवर पालना, शिकार खेलना, ऊट की सवारी करना केवल मनुष्य के योग्य यही करने लायक कार्य हैं। व्यापार करना ये अपने सम्मान के विपरीत समझते है। प्राचीन समय से आज तक इनका जीवन वही था, जो आज है।

"इनके जीवन मे ऊट और खजूर के वक्ष का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है और यह कहना अत्युक्ति न होगा कि यही इनके जीवन के आधार हैं। यद्यपि अरेबिया का मरुस्थल ही इनका निवासस्थान है, पर इसकी महत्ता कही अधिक है। हजारो वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यहा के व्यक्तियो के रीति

रिवाज, रहन सहन, खान-पान सब एक समान है। मरुस्थल होने के फलस्वरूप यहाँ पर वाह्य आक्रमण कम ही हुए।

वेश-भूषा—विदोइन लोगो का शारीरिक और मानसिक विकास उनके जीवन के पूर्णतया उपयुक्त है। इनके दैनिक जीवन के खान-पान मे खजूर, दूध और भिगोये हुए अन्न का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके वस्त्रो मे भी बहुत अधिक सादगी है। ये एक लम्बा सा लबादा पहनते हैं और सर को एक वस्त्र से बाधा करते है। इनके जीवन का अध्ययन करने से मालूम होता है कि इनका कार्य अपने तक ही सीमित था, जिसके फलस्वरूप अ तर्राष्ट्रीय जगत मे इनका कोई महत्व नही है। इनके जीवन मे अनुशासन, क्रमबद्धता का और सम्मान को कोई स्थान नही है जैसा कि एक खानाबदोश ईश्वर से प्रार्थना करता है।

ये लोग लूटमार भी बहुत किया करते थे जिसको रजिया कहते थे। इसका प्रमुख कारण रेगिस्तान की सामाजिक और आर्थिक स्थिति थी। इनका कारण भौगोलिक स्थिति भी थी, क्योकि जीवन कष्टप्रद होने के कारण ये लोग साहसी और वीर होते थे। कवि अल कुतामी, जिसका आविर्भाव उमय्यद काल मे हुआ था, इन लोगो के जीवन के सम्बन्ध मे लिखता है—

"लूटमार इनका एक प्रकार का मनोरजन था। एक कबीले के लोग दूसरे कबीले को लूट लिया करते थे। इसलिए कम शक्तिशाली कबीले के लोग अधिक शक्तिशाली कबीले के लोगो की सहानुभूति प्राप्त करते थे।"

यद्यपि अ रबवासी परस्पर एक दूसरे से लडा करते हैं, और एक दूसरे की सम्पत्ति को लूटते है तथापि उन लोगो के परस्पर सम्बन्ध अच्छे रहते हैं। इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व कुछ कवियो ने इन लोगो के परस्पर सौहार्द्र, भ्रातृभाव, मनुष्यत्व इत्यादि की सराहना की है। चरागाह और जल के लिए आपस मे प्रतिद्वन्द्विता होने पर भी ये लोग आपस मे प्रेम भाव रखते है क्योकि इनकी और इनके साथियो की परिस्थिति एक ही थी।

अरव म धर्म का प्रादुर्भाव उन स्थानो से हुआ जहा पर हरियाली थी, न कि रेगिस्तान मे। इस्लाम धर्म के अभ्युदय के पूर्व इन लोगो का धर्म अनेक बुराइयो से भरा था। ये लोग मूर्ति पूजा करते थे। आज भी मूर्ति पूजा के विरोधी इस्लाम के मानने वाले कावा के पत्थर की आराधना करते हैं, क्योकि इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व वहाँ के लोग इस पत्थर को महत्ता प्रदान करते थे। इन खानाबदोश लोगो के दृष्टिकोण मे धर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत नही है।

विदोइन लोगो के सामाजिक सगठन का आधार वश था। प्रत्येक शिविर एक खानदान को बतलाया है जिसको हय्यू कहते हैं। कई खानदानो के समूहो से एक क्वाम (गोत्र) बनता है और कई गोत्रो को मिला कर कबीला बनता है। एक क्वाम (गोत्र) के लोग परस्पर रक्त सबन्धी होते थे। शिविर और गृह की वस्तुए मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी। इसके विपरीत पानी, चरागाह और खेती योग्य भूमि

गोत्र की सामूहिक सम्पत्ति होती थी। अगर कोई व्यक्ति आपस के लोगो की ही हत्या कर दे, तो कोई भी उसका पक्ष नहीं लेगा। वहा के लोग बदले की भावना को प्रमुख स्थान प्रदान करते । इनका सिद्धात है 'खून के लिए खून'। किसी भी व्यक्ति के लिए यह सबसे अप्रिय घटना है यदि उसको उसके गोत्र से अलग कर दिया जाय। यद्यपि एक शिविर के लोग एक ही गोत्र के होते हैं, पर कभी कभी बाहर के लोग भी स्थायी रूप से उसमे प्रवेश कर सकते हैं। बाहरी व्यक्ति को गोत्र मे ग्रहण करने की पद्धति यह है कि उस व्यक्ति को, जिसने उसको ग्रहण किया है, उसके रक्त की कुछ बूदो का आस्वादन करना पडता है। फिर उस व्यक्ति को भोजन मे भाग लेना पडता है। प्राचीन काल मे इस प्रकार के कई रीति-रिवाज गोद लेने के सम्बन्ध मे प्रचलित थे। इस प्रकार वे व्यक्ति जो दूसरे गोत्र की सदस्यता प्राप्त करते थे, उनको भी गोत्र के नियमो के अनुसार चलना पडता था। 'अशबीया' ही गोत्र का जीवन है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य को गोत्रके प्रति और अपने बन्धुओ के प्रति वफादार और आज्ञाकारी रहना पड़ता है।

प्रत्येक गोत्र का एक मुखिया होता है, जिसको शेख' कहते हैं। यह गोत्र का सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति होता है। इसका निर्धारण उसके व्यक्तिगत पौरुप पर आधारित होता है। न्याय और सेना सम्बन्धी कार्यों मे उसको अन्य वयोवृद्ध लोगो से राय लेनी पडती है। वे लोग गणतन्त्रात्मक प्रणाली मे विश्वास करते है। अपने उच्च वश, विशुद्ध रक्त पर वे लोग बहुत खर्च करते हैं। यहाँ की स्त्रियो को आज भी काफी स्वतत्रता है। पुरुप लोग एक से अधिक विवाह करते हैं।

यद्यपि आज अरब लोग इस्लाम धर्म का अनुसरण कर रहे हैं, पर फिर भी वे किसी न किसी रूप मे मूर्ति पूजा करते है। इस्लाम के अभ्युदय के पूर्व मूर्तिपूजा की बहुत महत्ता थी।

अरब देश का प्राचीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—अरबवासियो के इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन करने के लिये यह अत्यावश्यक है कि हम उनके प्राचीन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर दृष्टिपात करें। इसको समझने के लिए अरब का विभाजन दो भागों मे करेंगे। पहला दक्षिणी और दूसरा उत्तरी अरब। उत्तरी भाग के अन्तर्गत नज्दिस और मध्य अरेबिया आते है। उत्तरी अरब के निवासी अधिकतर खानाबदोश है। दक्षिणी अरब प्रदेश के अधिकतर लोग अल-यमन, हर्दमवत के समीप के क्षेत्र मे रहते हैं। उत्तर के लोग कुरान की भाषा का प्रयोग करते हैं और दक्षिण के लोग सेमेटिक भाषा का। दक्षिण अरब प्रदेश के लोगो ने सर्वप्रथम अपनी स्वयं की सभ्यता को आगे बढाया और उत्तरी अरब के निवासियो ने अपनी सभ्यता की नींव इस्लाम के उत्थान के उपरान्त डाली।

अरबवासियो का सर्वप्रथम सम्बन्ध मिस्र देश से हुआ था। इसके उपरान्त बेबीलोन से। यद्यपि अरब सभ्यता बेबीलोन और मिस्र नदी की घाटी के सम्पर्क मे प्रत्यक्ष रूप से नहीं आई, फिर भी उसने इन सभ्यताओ को बहुत अधिक प्रभावित

किया । अफ्रीका से उत्तरी अरेबिया को एक स्थल मार्ग जाता है जो कि बाब अलमन्दाबा से जाकर मिलता है । तीसरा मार्ग जो वादी अल-हमावात मे मिलता है और लाल सागर से अल-क्वमर को सम्बन्धित करता है। मिस्र के द्वादश शाही खानदान के समय एक नहर बिलबेज के पास बनाई गई जो कि नील नदी को लालसागर मे सम्बन्धित करती थी । मिस्रवासियो ने अरब से अपना सम्बन्ध 'सिनाई' नामक भाग से शुरू किया। यह अरब के दक्षिण भाग मे 'वादी-मघारह' मे स्थित है। इनको यहा मे पीतल बहुत बडी मात्रा मे उपलब्ध होता था। उस समय भी अरब के निवासी मिस्र से व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे। मिस्र के फराओ सम्राटो ने अरब खानो का शोषण किया जो कि पूर्ण वेग मे उनके तृतीय वश मे चली । इसी काल मे एक बहुत बडी सडक बनाई गई, जो कि मिस्र को सीरिया-फिलिस्तीन से मिलाती थी । १९वी शताब्दी मे जब अमिस्ट्र फ्लानडर्सवेना 'फिल्नर्स पिट्री' जो मिस्र मे खुदाई कर रहे थे, वहाँ उनको एक मूर्ति मिली, जो किसी दक्षिणी अरब के व्यक्ति से मिलती जुलती है। ऐसी ही एक मूर्ति खानाबदोश अरबवासी को मिली थी । इन सब तथ्यो मे इस बात की पुष्टि होती है कि इनका सम्बन्ध मिस्रवासियो से था। दक्षिणी अरब व्यापार के फलस्वरूप पन्ट और न्यूबिया के भागो से सम्बन्धित हुआ । हेरोडोट्स रोष्ट्रीस का उल्लेख करता है जो सम्भवत सिन्युसर्ट प्रथम था, जिसने अरब के कुछ भागो पर विजय प्राप्त की थी।

पूर्वी अरब मेसोपोटामिया से निकट है। इसके प्राचीन निवासी सुमेरियन और अक्कादियन लोग थे, जो ४००० ई० पू० मे अपने पडोसी देश के लोगो से परिचित थे। सुमेर के सिक्को का स्रोत सम्भवत 'उमान' था। एक मूर्ति के अभिलेख से जो 'नरमसिन' की है और जो सारगोन का उत्तराधिकारी था, पता चलता है कि उसने मगन को जीता और उसके शासक को हराया । मगन सम्भवत मध्य या पूर्वी अरब के किसी भाग का नाम था। शाब्दिक रूप से मगन को 'मआन'* से नही मिलाया जा सकता। यह अल-हजाज के एक नखलिस्तान का नाम है। कुछ आधुनिक इतिहासकारो के अनुसार क्युनिफार्म अभिलेख का 'समुद्री-स्थल' अरब मे स्थित था।

असीरियन लोगो से सम्बन्ध—अरबवासियो का सर्वप्रथम उल्लेख असीरिया के बादशाह **शलमनसर** तृतीय के अभिलेख मे मिलता है, जिसने दमिश्क के 'अरमेइयन' बादशाह के खिलाफ युद्ध किया था। यह घटना ई० पू० ८५४ मे क्वारक्वर मे घटी। शलमनेसर के अभिलेख मे लिखा है कि उसने क्वारक्वर के शाही नगर को ध्वस्त किया और उसमे आग लगा दी । **टिगलथ पिलेसर** तृतीय (७४५-७२७ ई० पू०) ने असीरियन साम्राज्य की नीव डाली । अपने शासन के तृतीय वर्ष उसने 'जबिबी' जो कि अरब की रानी कहलाती है, हरा कर कर वसूल किया। अपने शासन के नवे साल उसने **शमसीयाह** को विजय किया । उसके (७२८ ई० पू०) वृतान्त से प्रतीत होता

* भारतीय वाङ्मय के अनुसार यह नगर **मण्णार** था, जिसे दुष्यन्त के पुत्र भरत ने जीता था—लेखक

है, 'मसग्रये कबीले', 'तिमई नगर' और 'सवइयन्स' ने उसको कर प्रदान किया। सारगन द्वितीय (७२२-७०५ ई० पू०) कहता है कि अपने शासन के सप्तम वर्ष मे उसने तुमुद के लोगो को हराया। इसके साथ ही साथ उसने शमसी लोगो से, अरेबिया की रानी और सेवीयन से भी कर वसूल किया। असीरियन ऐतिहासिक वृत्तान्तो से पता चलता है कि अरब के अनेक मुखिया लोगो ने इनकी आधीनता स्वीकार की थी।

बेबीलोन और फारस से सम्बन्ध—क्यूनीफार्म साहित्य मे अरब के नखलिस्तान का बडा विशद वर्णन है। सन् ५२३ ई० पू० मे कैम्बाइसेस ने उत्तरी अरब पर आक्रमण किया और यहा के लोगो से सधि की। चैल्ड्रेयनस, जिनका असीरियन साम्राज्य के उपरान्त प्रादुर्भाव हुआ, उत्तरी अरब पर आधिपत्य स्थापित किया। 'नेबोनिदस' ने अपने शासन के तृतीय वर्ष मे क्यूनीफार्म लेख के कथनानुसार 'तीमा' के राजकुमार का बध किया और वहा अपना राज्य स्थापित किया।

तमया अभिलेख से, जिसका काल पाचवी शताब्दी ई० पू० का माना जाता है, सेमेटिक भाषा प्राप्त होती है। यह अरेमिक लिपि मे है। उपर्युक्त तथ्यो से इस विषय की पुष्टि पूर्ण रूप से होती है कि अरबो का इन लोगो से भी सम्बन्ध था।

हिब्रू लोगो से सम्बन्ध—यहूदी जाति का, जो कि अरबवासियो के काफी निकट रहती थी, एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध था। कुछ हिब्रू नामो व अरबी नामो मे बहुत अधिक समानता है, जिसका आभास हमे हिब्रू लोगो के प्राचीन टेस्टामेट से लगता है। दक्षिणी अरब के निवासी को इनकी पुस्तक का पहला काण्ड समझने मे कोई कठिनाई नही होगी, क्योकि इन दोनो भाषाओ मे बहुत अधिक समानता है। मौजेज (मूसा) ने एक अरब स्त्री से विवाह किया था जो कि एक पुजारी की कन्या थी। हिब्रू लोग फिलस्तीन मे एक खानाबदोश के रूप मे गये थे और धीरे-धीरे वे वही पर रहकर कृषक का जीवन व्यतीत करने लगे। हिब्रू लोग जब अपनी उन्नति के उच्चतम शिखर पर थे, उन्होने सिनेटिक प्रायद्वीप पर अधिकार स्थापित किया। सुलेमान का जहाजी वेडा अल अकबाह की खाडी पर स्थित था।

साहित्य मे उल्लेख—अरबवासियो का सम्बन्ध अनेक देशो के साथ था, इसका उल्लेख हमे साहित्य और अनेको यात्रियो के विवरणो से मिलता है। हिब्रू धर्म ग्रथ मे हमको अनेक स्थानो मे 'अरब' शब्द का उल्लेख मिलता है। अनेक भौगोलिक नामो का भी जो कि अरब मे हैं, हिब्रू धर्म ग्रथ मे उल्लेख मिलता है। अरबनिवासियो से यूनान और रोम के लोग पूर्णतया परिचित थे। अरबो का सर्वप्रथम उल्लेख ग्रीक साहित्य मे 'इस्काइलस' (५२५-४५६ ई० पू०) ने किया है, जिसने लिखा है कि जारक्सीज की सेना मे अरब अफसर भी थे। हैरोडेट्स ने इसकी पुनरावृत्ति की है। अरिस्टोस्थीनीज और प्लिनी के वर्णनो से प्रतीत होता है कि अरब देश धन सम्पन्न और समृद्धिशाली देश था।

भारतीय-दृष्टिकोण—भारतीय वाड्मय का अरब ही नहीं, अफ्रीका से भी गहरा सम्बन्ध रहा है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अरब के पडोसी देश मेसोपोटा-

मिया, मिस्र और अमीरिया के साथ। अत भारतीय साहित्य के आधार पर अरब और भारत के सम्बन्धो पर प्रकाश डालना अनिवार्य है, क्योंकि अरबी नगर ही नही, बल्कि उनके धर्म-सिद्धान्तो की समानता भी भारतीय-दर्शन से होती है। उदाहरणार्थ ईश्वर की आराधना-सम्बन्धी उनके दोनो वाक्य भारतीय दर्शन-साहित्य से सम्बन्धित है। यथा—"अशहदो अन्‌ला-इलाहा इल्लल्ला मुहम्मदुन रसूलल्ला।" अर्थात् मै स्वीकार करता हूँ कि ईश्वर से भिन्न कोई देव नही और मुहम्मद उसके पैगम्बर है। इसी प्रकार प्रत्येक शुभ काम करते समय "बिसमिल्ला रहमाने रहीम" कहा जाता है। इसका अर्थ है, परमदयालु ईश्वर को अर्पण है। इसमे यह हिन्दुओ की समर्पण विधि का अनुकरण है और पहला "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" सूत्र का अनुवाद है।

इसके अतिरिक्त भारतीय वाड्मय मे अदन का नाम आदित्यपुर है। यहाँ आद (सूर्य) का मन्दिर बहुत सुन्दर था। जिसकी छत मे मोती जडे थे।* आद (आदम) रब 'रा' सूर्य के नाम है। Bawal, Sunday, Rabiah, Rabibah, सूर्य के ही दिन व मास है। नमरू राजा भी सूर्यवंशी थे। बोगजकोई के लेखो से भी ज्ञात होता है कि मित्तानी जाति, भारत की क्षत्रिय जाति थी।

भारतीय वाड्मय मे अरबो के पडोसी अफ्रीका और मिस्र का भी विपद वर्णन है। अफ्रीका के बारे मे लिखा है—'भारतीय क्षत्री भ्रष्ट होकर अफ्रीका गये और जुलू बन गये। इनके बाद भारतीयो का बडा आवागमन होता रहा। ऐतरेय ब्राह्मण के २६वें अध्याय के अन्त मे आये मन्त्र से ज्ञात होता है कि दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत ने मष्णार नामक देश मे स्वर्ण अलंकारो से युक्त बडे-बडे दान्तो वाले हाथियो के १०७ वृन्द दान मे दिये। इस महान् दान से भारत को महान् कर्म की उपाधि मिली।

"मैन्युअल ऑफ जिओग्रेफी" के देखने से ज्ञात होता है कि अफ्रीका खण्ड मे दक्षिणी रोडेशिया देश है, जहा मष्णा नामक स्थान है। पूर्व काल मे यहाँ सोना बहुत होता था और हाथियो की भरमार थी। वहा के खण्डहरो से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय मे वहा कोई सभ्य जाति रह चुकी है। भूगोल के वर्णनो से यह भी ज्ञात होता है कि यहा से किसी सभ्य जाति ने सोना निकाला था और मकान तथा मन्दिर आदि बनवाये थे। यहाँ पहिले हाथियो की भी बहुतायत थी। वही स्थान मष्णा है। संस्कृत मे उसे मष्णार लिखा गया है। र का लोप हो गया है। जुलुओ का वर्णन भविष्यपुराण मे आया है। इस तरह अफ्रीका मे आर्य तीन बार गये। झल्लकाल अर्थात् आदिमकाल, भरत-काल अर्थात् मध्यकाल, और पर्णीकाल, अर्थात् अन्तिम मिस्र काल।

अरब-साहित्य—मुहम्मद साहब से पहिले का जितना भी अरबी-साहित्य मुसलमानो की झाड-फूँक से बचा, वह प्रायः प्राचीन धार्मिक-साहित्य है।

इस्लाम-धर्म के प्रचार के समय तक अरब-प्रायद्वीप ने बौद्धिक समुन्नति के कोई

---

* History of Arabia

चिन्ह नही प्रकट किये थे। कविता, वक्तृत्व तथा ज्योतिष ही उस समय के अरबो के आलोच्य विषय थे, इस्लाम-धर्म के प्रचार के पहले उनको विज्ञान और साहित्य से प्रेम नही था। परन्तु हज़रत मुहम्मद के शब्दो ने जाति की जागृत शक्तियो मे नये बल का सचार कर दिया। यहा तक उन्ही के जीवन-काल मे शिक्षा सम्बन्धी सस्था का बीज-वपन हो गया था। बगदाद, सलेर्नो, काहिरा और कार्डोवा के विश्वविद्यालय उसी के फल थे। अपने समय की नव प्रतिष्ठित शिक्षा-सस्था मे हज़रत मुहम्मद ने कहा था—"ईश्वर की रचना पर एक घण्टा का भक्ति-पूर्वक ध्यान सत्तर वर्ष की प्रार्थनाओ की अपेक्षा श्रेष्ठ है। 'शहीदो के हजारो जनाजो मे उपस्थित होने की अपेक्षा ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा घण्टा भर ही सुनना अधिक पुण्य कार्य है।"

हजरत मुहम्मद के दामाद **अली** ने नव-सगठित इस्लामी सस्था की आवश्यकताओ के अनुरूप शिक्षा-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विभागो पर शिक्षा-दान किया है। उन्होने भी कहा है—*"विज्ञान मे प्रगल्भता श्रेष्ठ सम्मान प्राप्त करना है।"* "विद्या-प्राप्ति मे जो जीवन का उत्सर्ग कर देता है, वह मरता नही है।" "पाण्डित्य ही मनुष्य का सबसे उत्तम भूषण है।"

पैगम्बर तथा अली के उपर्युक्त ऊँचे विचारो का प्रभाव स्वभावत शिष्यो पर बहुत अधिक पडा और सभी जाति के लोग विद्योपार्जन के इच्छुक हो गये। यद्यपि प्रारम्भिक खलीफाओ के समयो मे अरब-जाति को बडी गडबड का सामना करना पडा था, तो भी इस्लाम-धर्म के केन्द्र-स्थान मे लोग साहित्य और कला से उदासीन नही हुए। अली और उनके भतीजे इब्न अब्बास कविता, व्याकरण, इतिहास और गणित की शिक्षा देते थे, दूसरे लोग कुरान के पाठ करने की विधि तथा कुछ लोग खुश-खती की शिक्षा दिया करते थे। इस्लाम के पैगम्बर का उदाहरण और आदेश ऐसा ही है। इसी के प्रभाव के कारण व द को इस्लाम का जैसे-जैसे विकास हुआ वैसे-वैसे कला और विज्ञान की भी समुन्नति हुई।

साहित्य और कला की उन्नति मे भिन्न-भिन्न जातियो के पारस्परिक सम्मिलन का बडा प्रभाव पडता है। अरब की मरुभूमि मे जिस जाति का जीवन-केन्द्र है वह जाति निष्क्रिय नही हो सकती। उसे अपने जीवन निर्वाह के लिए दूसरी जातियो से सम्बन्ध स्थापित करना ही पडता है। इसी कारण अपने गौरव-काल के पहले अरब जाति का काफिला दूसरे देशो मे व्यवसाय के लिए भ्रमण किया करता था—मुसलमान यात्रियो ने लम्बी लम्बी यात्राएँ की—मुसलमानो का व्यवसाय फैला। इस प्रकार वे प्राच्यो तथा पाश्चात्यो के सम्पर्क मे आये। इन नये सम्बन्धो का उन पर बडा प्रभाव पडा। फलत उन्होने कला-सम्बन्धी अपने विचार पहले की प्राच्य-सभ्यताओ की परम्पराओ पर निर्धारित किये। यही कहना ठीक जचता है, क्योकि यह अनुमान करना असम्भव है कि इस्लाम के जन्म के पहले अरब की सभ्यता का ललित कलाओ पर क्या प्रभाव पडा था। अभी तक अरब के प्राचीन कलाद्योतक स्मृतिमन्दिरो का अवलोकन कर उनकी कला की विवेचना नही की गई है, अतएव निश्चयपूर्वक नही

कहा जा सकता कि अरबी-कला पर उनका कहाँ तक प्रभाव पड़ा है । खेमों में रहने वाले अरब लोग अपनी कला का परिचय दरी और खेमों के परदे बुनने में प्रकट करते है। मुसलमानी इमारतों में जो सौंदर्यपूर्ण काम हमें देखने को मिलता है उसमें अरबों की उपर्युक्त कला का परिज्ञान हमें हो जाता है। आजकल की कला में कपड़े और इमारतों की दस्तकारी के सिद्धान्त एक नहीं हैं, परन्तु मुसलमानी कला ने कपड़े की दस्तकारी के अपने मौलिक विचारों का उपयोग अपनी इमारतों की दीवारों, दरवाज़ों, छतों आदि में सफलतापूर्वक किया है। यह उनकी एक खूबी रही है। अरब की इस कारीगरी के अधिक विकसित होने में उनकी लेखन-कला से भी बहुत अधिक सहायता मिली है । तुगरा-लेखन अरब की एक ख़ास चीज है । इस ढंग से लिखी गई अरबी वर्णमाला एक प्रकार की चित्र-लिपि-सी हो जाती है। रेखागणित में तो अरब प्रवीण ही थे। उन्होंने अपने पाटी-गणित और रेखागणित के ज्ञान का उपयोग कला में पूर्णरूप से किया है। फलतः कुछ नये नमूनों का विकास हो गया । ये चाहे सरल या टेढ़े हों, पर इनकी स्वाभाविक विशेषता ईरानी, तुर्की और मिर्जापुरी दरियों में स्पष्ट दीख पड़ती है। बेल-बूटे निकालने का काम पीछे से शुरू हुआ था । परन्तु यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए कि बेल-बूटे निकालने के काम का भी सम्बन्ध रेखागणित से है। इसमें सन्देह नहीं है कि यह काम है मुसलमानी कला की उन्नतावस्था के समय का और प्रकृति का निरीक्षण करके ही इसका सम्पादन होता रहा होगा। परन्तु सभी समय रेखागणितपरक कारीगरी शुष्क विज्ञान के रूप में ही अध्ययन की गई है । साहित्य-भवनों और मकतबों में प्राय उसकी ओर ध्यान दिया जा रहा है। विद्वान् लोग हाथ की कारीगरी से घृणा करते थे, पर वे चित्र-लिपि की कला पर मुग्ध थे और अपने विद्यार्थियों को तुग़रा लिखने तथा उसमें नई-नई बारीकियाँ निकालने की सोत्साह शिक्षा देते थे । अतएव कला-सम्बन्धी खालिस वैज्ञानिक पुस्तकें मुसलमानी-साहित्य में बहुत कम हैं, पर तुगरा-लिपि या रेखागणितात्मक कारीगरी-सम्बन्धी पुस्तकें बहुत अधिक हैं और उनका अध्ययन शौक और परिश्रम के साथ किया जाता था । परन्तु यह बात भी स्वीकार कर लेनी चाहिए कि प्रकृति के अध्ययन का परित्याग कर देने से मुसलमानी कला की दृष्टि सकुचित और उसके सुन्दर नमूनों की सख्या भी परिमित हो गई है । प्रकृति असीम है, और मनुष्य के मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट कल्पनाएं परिमित होती हैं। जो साधारण कलाविद सीधे प्रकृति द्वारा अनुप्राणित होते हैं उनके हाथों में भी बहुत कुछ ऐसा मसाला रहता है जिसका उपयोग पूर्ण कलात्मक-भावना से किया जा सकता है । जो नमूने परम्परा से चले आ रहे हैं, परिमितता सदैव उनको एक बंधा हुआ रूप प्रदान कर देती है। इसका फल यह होता है कि यह पीछे से कलाविद् तथा दर्शक दोनों की दृष्टि को सकुचित कर देता है । इस प्रकार जब एक बार सकुचित दृष्टि की नींव पड़ जाती है तब वह बढ़ती ही रहती है । वह कला के विचारों तथा उसकी सस्थाओं की वृद्धि को रोक देती है और अन्त में स्वय जनता पर भी अपना हाथ साफ करती है।

किसी मुख्य काल या किसी देश की मुसलमानी-कला का इतिहास जानने के लिए यह आवश्यक है कि उस काल के पहले की कला का इतिहास पहले जान लिया जाय। तभी हम गुण-दोष जानने मे सफल होगे। स्पेन की मुसलमानी कला का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमे रोम तथा यूनान की कला का इतिहास पहले पढ लेना पडेगा। सभी हम जान सकेंगे कि स्पेन के मुसलमानो ने उन कलाओ से कितना लेकर तथा उसमे फेरफार करके अपने नये आदर्शों के साथ अपनी प्रारम्भिक कला को उन्होने ऐक्य प्रदान किया। अल्जीरिया और ट्यूनिश की मुसलमानी कला का चाव प्राप्त करने के लिए उत्तरी अफ्रीका की रोमन और ईसाई कला का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसी प्रकार मिस्र के लिए हमे काप्ट लोगो की कला का ज्ञान प्राप्त करना पडेगा। तभी हम काहिरा की इब्नतूलन की मस्जिद का महत्त्व समझ सकेंगे। तुर्की कला के लिए बैजन्टाइन प्रभावो का ज्ञान प्राप्त करना पडेगा। जब तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया को जीत लिया और वे योरुप मे जा बसे तब वहाँ उनकी कला पर बैजन्टाइन का पूरा प्रभाव पडा और योरपीय भूमि पर उसका प्रभाव और उसकी प्रारम्भिक अवस्था मे बराबर पडता रहा। सोफिया-मस्जिद के साथ सुलेमान की मस्जिद का तुलना करने पर इसका भेद स्पष्ट हो जाता है। बूसानगर के बाद इस्तम्बोल की रचना हुई थी। इन दोनो नगरो की निर्माण-कला मे जो भेद है वह बैजन्टाइन कला के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

किसी भी स्थान की मुसलमानी इमारत मे ये तीन मूलतत्व किसी न किसी मात्रा मे अवश्य दृष्टिगोचर होगे—(१) उस स्थान के निवासियो की परम्परायें, जो साधारणतया निश्चित रहती हैं, (२) नवागन्तुको की लाई हुई परम्पराएँ, जो परिवर्तनशील होती है, किन्तु बाद को निश्चित हो जाती हैं: (३) विदेशी प्रभाव, जो आवागमन तथा व्यापार के द्वारा पडते हैं। ये सदा परिवर्तनशील रहते हैं और लोकरुचि पर निर्भर करते हैं।

मुसलमानी कला के सबसे पिछले रूप मे विलासिता और वैभव का दिग्दर्शन है। बुनाई की कारीगरी मे उसका जन्म हुआ था। अतएव वह पत्थर की अत्यन्त बारीक तराशी और पलस्तर की कारीगरी मे भी प्रकट होने को प्रवृत्त हुई, यद्यपि इन दोनो बातो मे उसका उपयोग अनुपयुक्त और कठिन था और इन कठिनाइयो की वृद्धि मसाले की अस्थिरता से और भी अधिक बढ गई। ईट या मिट्टी की टूटी-फूटी इमारतो मे हमे प्रायः मीनाकारी के काम दिखाई दिया करते है। यही कारण है कि जो मुसलमानी नगर किसी समय समृद्धिपूर्ण थे वे उजड जाने पर सौ वर्ष बाद ढहकर ध्वसावशेषमात्र रह गये। भारत मे इसके अनेक प्रमाण मौजूद हैं। यहाँ उजडे हुए मुसलमानी शहरो और कस्बो मे उनकी ऊर्जितावस्था के समय मे बनी हुई बहुसख्यक सुन्दर इमारतो के ध्वसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी इस दशा का कारण उस सामग्री का उपयोग करना है जो मरम्मत के अभाव मे चिरस्थाई नही रह सकती।

एकमात्र पत्थर की इमारत ही स्थाई रह सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से यहा इसका उपयोग बहुत कम किया गया है। सफेद पत्थर का उपयोग मुख्य-मुख्य इमारतो या उनके अश-विशेषो मे किया गया है। परन्तु उसके अधिक व्यय साध्य होने के कारण उसका उपयोग बहुसख्यक इमारतो मे नही किया जा सका। अतएव मुसलमान लोग योरुप की गाथिक इमारतो की भाति अपनी कलाद्योतक इमारते चिरस्थायी नही वना सके।

इमारतो मे कमजोर सामग्री के उपयोग करने का कारण मुसलमानी राजघरानो का अस्थिरत्व भी वताया जाता है। मुसलमान-समाज खलीफाओ के प्रजातन्त्र और राजतन्त्र के वीच मे कोई मध्य-मार्ग न निकाल सका। किसी भी राजनैतिक अधिकार-प्राप्त सस्था की शक्ति जनता या निरकुश शासक की इच्छा पर ही निर्भर रही और वे दानो परिवर्तनशील थे। अतएव इमारतो का निर्माण शीघ्रता के साथ हुआ। वही बाद को उतनी ही शाघ्रता के साथ धराशाई भी की गई, क्योकि उनके निर्माताओ के उत्तराधिकारियो को अपने ही नाम की कीर्ति की विशेष चिन्ता थी। उन्हे कला या उसके आदर्शों की उतनी परवाह नही रहती थी। अपने को समृद्धिपूर्ण वनाने के आगे उनका अपनी इमारतो को स्थिरत्व प्रदान करने की ओर ध्यान नही था। योरुपीय समाज की जागीरदारी सस्था मे घरानो की परम्परा का आधार दृढ था, परन्तु मुसलमान समाज मे इस बात का पूर्ण अभाव था। भारत मे इस त्रुटि के प्रभावो का ज्ञान भली प्रकार किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न समयो और भिन्न-भिन्न देशो मे मुसलमानी-कला पर जो प्रभाव पडे हैं उनमे तीन मुख्य हैं। एक तो प्राचीन प्राच्य देशो के प्रभाव हैं। इन देशो मे असीरिया, चाल्डिया और ससान गिने गये हैं। दूसरा बैजन्टाइन और तीसरा पश्चिमी योरुप का लैटिन-प्रभाव है। इनके साथ ही तीन देशो के नाम और भी गिनाये जा सकते हैं। वे है भारत, चीन और मिस्र हैं।

मुसलमानी गृह-निर्माण-विद्या पाँच प्रकार की है। इस विभाग का आधार भौगोलिक है। परन्तु यह उन मुख्य-मुख्य बातो पर जोर देने का काम देता है जो भिन्न-भिन्न देशो की मुसलमानी गृह-निर्माण-कला का भेद प्रकट करती हैं। भौगोलिक विभागो से राजनैतिक विभागो का, जैसा कि उनका वर्तमान समय मे अस्तित्व है या पहले के ऐतिहासिक कालो मे वे अस्तित्व मे थे, कोई सम्बन्ध नही है, परन्तु विचार समूहो के बीच के भेद को वे स्पष्ट करते हैं जो भिन्न-भिन्न मुसलमानी देशो मे प्रचलित थे।

गृह-निर्माण-कला की पहली पद्धति सिरियाई-मिस्री है। बहुत प्राचीन काल से अरब की मिस्र से घनिष्ठता थी। स्वय हजरत मुहम्मद की जीवनी और उनके इतिहास की अनेक बातो का मिस्र देश से सम्बन्ध मिलता है। सीरिया की यात्रा करने से उनका इस देश के साथ तो अत्यन्त सम्बन्ध हो गया था। रोमन-साम्राज्य के इस भाग की कला, इसके व्यवसाय और सामाजिक-जीवन से वे सर्वथा परिचित थे। अरब, मिस्र और सीरिया मे इस्लाम के प्रारम्भिक इतिहास के समय से ही घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इन देशो मे गृह-निर्माण-कला का जो विकास हुआ है उसमे सादृश्य

है। सजावट के कामो की भी उत्पत्ति परम्पराओ से ही है। ये अनेक राजघरानो और साम्राज्यो के उदय-काल मे अपना प्रभाव बराबर बनाये रहे। इन पर अनेक जातियो के वहाँ समय-समय पर आ बसने का भी प्रभाव पडता रहा। परन्तु कला-सम्बन्धी प्रचलित विचार पर्याप्त रूप से विचारो के रूप मे परिणित हो गये, जिससे एक नई पद्धति का जन्म हुआ।

गृह-निर्माण-कला की दूसरी पद्धति मगरिब के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी जन्म-भूमि अफ्रीका के सुदूर पश्चिमाञ्चल मे स्थित मराको देश है। परन्तु इसे अफ्रीकी-पद्धति कहना अधिक उपयुक्त मालूम पडता है, क्योकि इसके मुख्य स्वरूप का विकास ट्यूनिस, अल्जीरिया और मराको मे हुआ था। यह अपनी उन्नति की पराकाष्ठा को स्पेन मे प्राप्त हुआ। इस पद्धति के अधिकाश अत्यन्त मनोहर स्मृति-मन्दिर सिसली-द्वीप मे पाये जाते हैं। इस पद्धपि की कला मे वहाँ से मूल निवासी बर्बर लोगो की उस भावना का प्राधान्य पाया जाता है जिस पर रोमन सभ्यता का प्रभाव पहले से ही विद्यमान था। इसकी इमारतो मे एक मुख्य बात यह है कि इनके खम्भो पर यूनानी प्रभाव दीख पडता है। इनकी मिहराबें भी अधिक भारी रहती है। इनका गुम्बद चौकोर होता है, जो सम्भवतः यहूदी परम्पराओ के प्रभाव का परिणाम है।

तीसरी ईरानी पद्धति है। उपर्युक्त दोनो पद्धतियो की अपेक्षा इसमे अधिक स्वाधीनता का भाव पाया जाता है। इस स्कूल मे पशुओ के रूपो का अनुकरण न्याय्य माना गया है। इसका कारण शिया-सम्प्रदाय है, जो कट्टर सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक उदार है। ईरान की सस्थाओ का इतिहास अधिक सम्बद्ध है। दूसरे राज्यो और राज-घरानो की अपेक्षा ईरान अपने गुरुत्व के केन्द्र मे अधिक दृढ है। ईरानी लोग अपने आदर्शों के कट्टर अनुयायी हैं। उनकी सभ्यता पर आरम्भ मे चाल्डिया और मेसोपोटा-मिया की सभ्यताओ का प्रभाव पडा था ईरान की कला की उन्नति मे वहाँ के समान राजघरानो का पूरा हाथ था। ये सारे प्रभाव बाद को मुसलमानी-कला ने आत्मसात् कर लिए। इसके सिवा ईरानी स्कूल का प्रभाव भारत की मुसलमानी इमारतो पर भी पूर्णरूप से पडा है। दक्षिण भारत की मुसलमानी इमारतो तथा उत्तर भारत की मुगलो की इमारतो की श्रेष्ठ कल्पनाओ का उद्भव इसी पद्धति से हुआ है। मध्य-एशिया के मुसलमानी राज्यो का साहित्य, उसकी राजनीति और कला तो ईरान का ही प्रसाद था। जब ईरान सेल्जुक और उस्मानअली तुर्कों के अधिकार मे हो गया था तब उसने उनके राजस्व-काल की सस्थाओ और कलाओ पर भी अपना प्रभाव डाला था। इन सब बातो के विचार से किसी दूसरी मुसलमानी जाति की अपेक्षा ईरानी कला विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है।

मुसलमानी गृह-निर्माण-कला की एक और पद्धति है। उसका भी हमे विचार करना चाहिए। वह है योरपीय और लघु-एशिया के तुर्कों की ओटोमन पद्धति। ऊपर कहा गया है कि सेल्जुक तुर्कों के राजत्व-काल मे इस पद्धति की रचना मे ईरानी प्रभाव ने बड़ी सहायता की थी। जब उस्मानअली-घराने का प्राधान्य हुआ तब वे अपनी

कोनिया राजधानी से इस पद्धति की कला को अपने साथ योरुप ले गये। इसके योरुप पहुँचने पर वहा इस पर 'वैजन्टाइन कला' ने अपना पूरा प्रभाव डाला। इसी अवसर पर बहुसंख्यक गिरजे, मस्जिदो मे परिणित किये गए थे। योरुपीय तुर्कों की अत्यन्त अधिक प्रसिद्ध मस्जिदे पहले ईसाइयो के गिरजाघर थे, जो अनेक नई मस्जिदें वहाँ मुसलमानो ने वनाई है, उनमे वैजन्टाइन-कला का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होता है। यह वात स्पष्ट प्रकट हो जाती है कि वहाँ मुसलमानी कला ने वैजन्टाइन-कला की कितनी वाते नकल की हैं और कितनी वातें आत्मसात् की है। उपर्युक्त पद्धतियो की अपेक्षा गृह निर्माण-कला की यह मुसलमानी पद्धति अभी तक जीवित है, यद्यपि अब उसके आदर्श पराभव के चिन्ह प्रकट होने लगे हैं।

साहित्य का विकास—मुहम्मद साहब के पश्चात् मसूर और हारून के शासन-काल ७४५ से ८३० ई० तक अरबी साहित्य का विकास तेजी से हुआ। यद्यपि ७वी सदी से १०वी सदी तक अरबी राजभाषा रही, परन्तु उसके सृजन का कार्य अब्बासी खलीफाओ की देखरेख मे ही हुआ। इन लोगो ने यूनानी, पहलवी और भारतीय सस्कृत भाषा के ग्रन्थो के अनुवाद कराये। ६८० ई० मे यूनानी साहित्य के महत्व को समझकर उमैयावश के खलीफा यजीद (१) ने अनुवाद के कार्य को प्रारभ कराया। यह चिकित्सा की पुस्तक थी और खलीफा को **रसायन** (कीमिया) का वहुत शौक था। अत एक ईसाई साधु से उसने अरबी मे उस पुस्तक का अनुवाद कराया। इसके वाद, अनुवाद का कार्य शिथिल हो गया और उसे अब्बासी, जो आधे अरब और आधे ईरानी थे, उन्होने सम्भाला। ईरानी होने के नाते उन्हे पहलवी, सुरियानी और यूनानी भाषाओ का भी ज्ञान था और उनके साहित्य से भी परिचित थे। अत ७५३ ई० मे **मसूर** के शासन काल से, वैद्यक, दर्शन, भौतिक-विज्ञान तथा तर्क-शास्त्र के वहुत से ग्रन्थो का अरबी-भाषा मे अनुवाद हो गया। इन अनुवादो मे सबसे अधिक सहयोग पारसी-धर्म के अनुयायी, ईरान के रहने वाले **इब्नमुकफ्फा** नामक व्यक्ति ने दिया। इसके वाद अनुवाद की प्रगति को **हारून और मामून** ने बढाया। इन्होने कई भारतीय विद्वानो को भी भारत से बुलाकर अनुवाद कराया। इन शासको का समय ७५४-६३३ ई० है। ठीक इसी समय भारतीय विद्वान सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद तिब्वती भाषा मे भी कर रहे थे। परन्तु तिब्बत मे अनुवाद करने गये हुए विद्वान बौद्ध लोग थे, जबकि अरबी मे अनुवाद करने वाले सभी तरह के लोग थे। इन अनुवादको से खलीफा लोग अत्यन्त उदारता का व्यवहार करते थे।

सिक्का प्रणाली—मुहम्मद साहब से पहिले अरव मे कई देशो के सिक्के चलते थे; क्योंकि [illegible] व्यापार और यात्रियो कारण उन्हे उन देशो के सिक्के लेने पडते थे। पश्चात् वह लोग जो जहाँ व्यापार करने जाता था, उससे अपनी सुविधा-नुसार वदल लेते थे। कुछ व्यापारी और सामन्त लोग भी अपने स्वतत्र सिक्के ढालते थे। व्यवस्थित रूप से सिक्के ढालने का काम खलीफा अबूवकर के समय (६३२-६४०) के समय हुआ। इससे पहिले वुखारा के एक शासक काना-बुखारा ने सोने का

दिरहम ढाला था। अस्तु, खलीफाओ ने अपने सिक्को मे ईरानियो और रोमनो की नकल की। इसके साथ ही वहाँ ख्वारेज्मी सिक्के भी चलते थे। हारून रशीद के जमाने मे यहाँ चाँदी, शीशा, राँगा, लोहा और ताँबा मिलाकर सिक्का ढाला गया। इन खोटे सिक्को को जनता बहुत कम पसन्द करती थी। कोई भी मुसलमान शासक केवल अरबी अक्षरो के, अपना चित्र नही छाप सकता था।

इस्लामिक-सस्कृति की स्थापना और विकास—इस्लामिक सस्कृति की स्थापना और उसका विकास विश्व की विशिष्ट घटनाओ मे से एक इसलिये है कि यह धर्म—जिसका प्रारम्भ मे कोई लिखित साहित्य नही था तथा धार्मिक मान्यताओ के लिये अन्य धर्मावलम्बियो की भाति विचारक-प्रचारक नही थे, वह ससार प्रचलित प्राचीन धर्मों मे सबसे अधिक तीव्र गति से कैसे फैला? इसके अतिरिक्त जिसकी आधारशिला प्राचीन भारतीय बौद्ध-धर्म की मान्यताओ पर रखी गयी और जिसके भवन के निर्माण मे प्राचीन ईसाई-धर्म के तत्वो को सम्मिलित किया गया था; फिर भी उसके मूल-तत्त्व इस्लाम के प्रचारको को तलवारधारी प्रचारक बनाने के स्थान पर काषाय वस्त्रधारी प्रचारक बनाने मे क्यो सफल नहीं हुए? केवल इस्लाम ही एक ऐसा धर्म है, जिसके संस्थापको ने कष्ट सहन करके धर्म-प्रचार करने की अपेक्षा, तलवार की शक्ति पर अधिक विश्वास किया।

यह सत्य है कि विश्व मे केवल भारत ही एक ऐसा देश रहा है, जिसके धर्म प्रचारको ने धर्म-प्रचार के लिये सदैव कष्ट सहकर ही धर्म-प्रचार किया है; अन्यथा ईसाई धर्मानुयायी रोमन-सम्राटो ने भी धर्म-युद्ध किये, किन्तु यह भी सत्य है कि उन्हें इन धर्म युद्धो के लडने की प्रेरणा भी इस्लाम के धर्मानुयायी अरबो से ही मिली थी।

सम्भवत इस्लामिक धार्मिक कठोरता के मुख्य दो विशेष कारण थे—एक अरबी जन-जीवन की प्रारम्भिक कठोरता और दूसरे इस्लाम के वह आकर्षक सिद्धात, जिनमे अन्य धर्मावलम्बियो को **काफिर** कहा गया है और काफिर के साथ धर्म-युद्ध मे प्राप्त उसके माल को 'लूट' न मानकर 'मालेगनीमत' माना गया है। सम्भवत: लूट के माल के लालच मे ही धर्म-सैनिको की भर्ती भी आसानी से हो जाती थी और 'लूट' के माल का हिस्सा के आधार पर ही मध्य एशिया के हूण और तुर्क भी युद्ध किया करते थे और उन सैनिको मे लूट के हिस्से को बाँट दिया जाता था।

हजरत मुहम्मद का जीवन और शिक्षायें—अरब, जहा पर इस्लाम धम के सस्थापक **हजरत मुहम्मद** का जन्म हुआ था, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। आज विश्व की १/५ जनता इस धर्म का अवलम्बन करती है। आधुनिक भूगोलवेत्ताओ ने अरब का विभाजन सात भागो मे किया है? (१) हिजाज, (२) यमन, (३) हजरमवत, (४) ऊमाम अथवा मसकत का राज्य, (५) मध्य अरब अथवा निज्द का राज्य, (६) इराक-ए-अरब जो कि फारस के सीमा प्रान्त तक विस्तृत है, (७) बेहरिन हिजाज का राज्य पवित्र भूमि के नाम से विख्यात है, क्योकि समस्त तीर्थ स्थान इसके ही समीप स्थित हैं। मक्का का पवित्र स्थान कावा के कारण प्रसिद्ध है। कावा इस्लाम

धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है । कुरान के अनुसार इस्लाम के प्रत्येक अनुयायी को इसके दर्शन करने चाहिए। मक्का मे ही इस्लाम के सस्थापक का जन्म हुआ। मदीना का भी इस्लाम मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, क्योकि हजरत मुहम्मद के जीवन का एक बडा भाग यहा पर व्यतीत हुआ। आधुनिक अरबवासियो की उत्पत्ति दो भागो से हुई— (१) क्वहनान जिनको अरब उल अरिब कहते है। (२) अदनान जो कि इस्माइल के उत्तराधिकारी थे, जो कि अरब मोस्तारिब कहलाते है। हजरत मुहम्मद इन लोगो से सम्बन्धित थे।

हजरत मुहम्मद का जन्म १२वी अल अव्वाल को ५७० ई० मे हुआ था। उस समय फारस के सिंहासन पर अनुसिरवान आसीन था। वह मक्का मे अब्द मुनफ के वश मे उत्पन्न हुआ था, जो उस समय अरब के उच्च वशो मे एक था। इसी वश के हाथो से मक्का और काबा का शासन चलता था। जिस वर्ष हजरत मुहम्मद उत्पन्न हुए, उसी वर्ष अबीसीनिया के गवर्नर ने मक्का पर आक्रमण किया और मक्का वालो ने उसकी सेना को परास्त कर दिया। इस बालक के उत्पन्न होने से उसके दादा अब्दुल मुतालिब को असीम आनन्द प्राप्त हुआ। वे उस बालक को अपने साथ काबा के मन्दिर मे ले गये। हजरत मुहम्मद की माता अमीना ने जो कि जोहरी वश के प्रधान की पुत्री थी, बालक का लालन-पालन बडे प्यार से किया। उनके लालन-पालन का भार हलीमा नामक नौकरानी पर पडा। उस समय अरब मे जो बडे वश की स्त्रिया होती थी वे बालको का लालन-पालन पूर्णतया नौकरानियो पर छोड दिया करती थी। जब वे (हजरत मुहम्मद) दो साल के हो गये, तब हलीमा ने बालक को उनकी माता को सौंप दिया। बच्चे का सुन्दर स्वास्थ्य देखकर, अमीना बहुत प्रसन्न हुई और फिर बालक को उसी स्त्री को सौप दिया। पाच साल की अवस्था मे मुहम्मद स्थायी रूप से अपनी माता के पास रहने लगे। कुछ समय उपरान्त बालक मदीना गया। वहा से लौटते समय मार्ग मे उसकी मा का देहावसान हो गया।

इसके बाद उनका लालन-पालन उनके दादा अब्दुल मुतालिब ने किया। जब मुहम्मद आठ वर्ष के थे, तब उनके दादा का देहान्त हो गया। अन्त मे बालक के अभिभावक उसके चाचा अबुतालिब बने। बारह वर्ष की अवस्था से उनको विदेशो मे भ्रमण का सौभाग्य मिला। ये अपने चाचा के साथ सीरिया गये, जहा वे व्यापार के सम्बन्ध मे जाया करते थे। मार्ग मे वे अनेक स्थानो मे विश्राम करते हुए आगे बढे। इसी समय हजरत मुहम्मद को ओकदज के वार्षिक उत्सव मे बहुत कुछ अनुभव हुआ। इन्होंने देखा कि ऐसे पुण्य अवसर पर भी व्यक्ति आपस मे युद्ध और कलह करते हैं। इस उत्सव मे युद्ध और कलह का कारण 'कुरेश' और बानी-होवजिन कबीले के लोगो की आपसी प्रतिद्वद्विता थी। मुहम्मद साहब ने अपने इसी भ्रमण काल मे अरबो के सामाजिक जीवन मे अनेक बुराइया देखी और उनका हृदय खिन्न हो उठा।

मुहम्मद ने अपने चाचा के परिवार मे बहुत ही शान्त जीवन व्यतीत किया। उनको न तो किसी सासारिक वस्तु से प्रेम था और न व्यापार मे अभिरुचि थी। उनके

चाचा ने उनको "खदीजा" नामक स्त्री के सरक्षण मे व्यापार करने सीरिया भेजा। उन्होने बडी कुशलता से व्यापार किया, जिससे उन्हे बहुत अधिक लाभ हुआ। उनकी इस सफलता और सुन्दर व्यक्तित्व से "खदीजा" बहुत प्रभावित हुई और मुहम्मद साहब से विवाह कर लिया। उस समय मुहम्मद साहब की अवस्था २५ वर्ष की थी और खदीजा, जो एक विधवा स्त्री थी, ४० वर्ष की आयु थी। मुहम्मद साहब का वैवाहिक जीवन सुखमय व्यतीत हुआ। वह २५ वर्ष जीवित रही और उनके तीन पुत्र हुए जो बाल्यावस्था मे ही चल बसे और तीन पुत्रिया हुई जिनमे **फातिमा** का नाम विख्यात है। उनके एक पुत्र **मेरी** से हुआ जिसका नाम **इब्राहीम** था।

जिस समय हजरत मुहम्मद का विवाह हुआ, उस समय मक्का का शासन बहुत अव्यवस्थित रूप से चल रहा था। जो भी अजनबी मक्का मे आता था उसको लोग मार देते थ। इस अनुचित कार्य को समाप्त करने के लिए उन्होने एक सगठन बनाया जिसको **"हिल्फ-उल-फुजुल"** का नाम दिया। वह एक दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। एक बार उनकी स्त्री ने जैद नाम का एक दास उपहार मे दिया। मुहम्मद ने उसके साथ बहुत दया का बर्ताव किया और उसको स्वतन्त्र कर दिया।

लोगो की अज्ञानता देख उनका हृदय दयार्द्र हो उठता था। वे एकाग्रचित्त होकर इन बुराइयो पर विचार करते थे। वर्ष मे एक बार **"रमजान"** के महीने मे वे एक पहाडी पर ध्यानमग्न हो, मनुष्य की बुराइयो को दूर करने के विषय मे सोचा करते थे। एक बार उन्होने अपनी स्त्री से कहा "खादिजा! मै या तो भविष्यवक्ता बनूगा या पागल आदमी।" बहुत समय तक उनका यह क्रम चलता रहा और अन्त मे वे कुछ विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे और उसको उन्होने जनता तक पहुचाना शुरू कर दिया। इस्लाम धर्म के सर्वप्रथम अनुयायियो मे हजरत खादीजा (सर्वप्रथम) **अली जैद** और **अबूबर्क** का नाम उल्लेखनीय है। अबूबर्क एक धनवान व्यक्ति था। वह अपनी न्यायप्रियता के लिये बहुत प्रसिद्ध था।

इस्लामी प्रचार का प्रारम्भ—इस्लामी धर्म का प्रसार करने मे हजरत मुहम्मद को अनेक कष्टो का सामना करना पडा। उनके प्रारम्भिक काल के अधिकतर अनुयायी दास और मध्यम श्रेणी के थे। उनके धर्म मे मूर्ति पूजा का कोई स्थान नही था। इससे मूर्ति-पूजको का मुहम्मद ने विरोध करना शुरू कर दिया। तीन वर्ष के अथक परिश्रम से वे सिर्फ चालीस व्यक्तियो को ही अपना अनुयायी बना सके। अतः मुहम्मद साहब ने **सफा** नाम की पहाडी पर कुरेश की एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा— 'अगर मैं तुम्हे किसी आने वाले सकट की चेतावनी दू तो तुम उसे सच मानोगे या नही ?" मुहम्मद साहब ने पुन कहा—"मैं तुम्हे ईश्वर के अजाब (कोप) से आगाह करता हू।" इसके उपरान्त उन्होने सारे देवी-देवताओ को छोडकर, सिर्फ एक **अल्लाह** की पूजा करने को कहा। लोग उनकी हसी उडाते हुए अपने-अपने घर चले गये।

कुरेश लोगो ने उनके विरुद्ध अभियान उठाया, क्योकि उनको काबे के ३६० देवी-देवताओ की पूजा से आर्थिक लाभ था और इसी मे मक्के का बडप्पन था। इसी

पर मुहम्मद साहब का सबसे बडा आक्रमण था। बिलाल नामक एक हब्शी गुलाम को मुहम्मद के विरोधियो ने बहुत अधिक कष्ट दिया। सन् ६१५ ई० मे पहले १५ मुसलमान मक्के से इथियोपिया चले गये। सन् ६१० से ६२२ तक उन्होने अपने सिद्धान्तो का प्रचार बडे उत्साह से किया। इस १३ वर्ष के दौरान मे करीब तीन सौ मनुष्यो ने इस धर्म को अपनाया, जिनमे से १०१ इथियोपिया जा चुके थे और शेष व्यक्ति अपनी सम्पत्ति सदैव के लिए छोडकर, अपने पैगम्बर के साथ मदीना आ गये थे।

सन् ६२२ मे हजरत मुहम्मद मक्का छोडकर, मदीना आ गये। उनके इस प्रवास को **हिजरत** कहते हैं। इसी समय से हिजरी सवन् शुरू होता है। मदीने पहुँच कर इस्लाम के अनुयायियो की सख्या बढने लगी। यहा पहली बार मुहम्मद साहब को स्वतन्त्रता के साथ अपने विचारो के प्रसार का मौका मिला। प्रतिदिन हजारो व्यक्ति उनका पयाम (सदेश) सुनने के लिए एकत्र होते थे। उनका सिद्धान्त था **"ला इकराहा फिद्दीन"** (धर्म के विषय मे किसी की जबरदस्ती नही होनी चाहिए।) मदीने मे पहुचने के उपरान्त मुहम्मद साहब ने अपने धर्म प्रसार के लिए मदीने के बाहर, दूर-दूर कबीलो मे अपने अनुयायियो को भेजना शुरू किया। मुहम्मद साहब को यहा आये जब दो वर्ष हो गये तो १००० कुरेशो ने उन पर हमला कर दिया। केवल ३१३ अनुयायियो को साथ ले मुहम्मद साहब ने इस फौज का मुकाबला किया और उसे हरा दिया।

मक्के से आये हुए मुसलमानो को अपनी जन्मभूमि छोडे छ साल व्यतीत हो चुके थे। १४०० मुसलमानो को बिना किसी हथियार के साथ लेकर, वे मक्के के लिए रवाना हुए। दोनो पक्ष के लोगो मे परस्पर सधि हो गई। एक वर्ष व्यतीत होने पर जैसा तय हो चुका था, मुसलमानो के मक्के जाने का वक्त आया। सन् ६२९ ई० मे २००० मुसलमानो को साथ लेकर काबे की यात्रा के लिए मुहम्मद साहब मक्के गये।

६२८ ई० मे मुहम्मद साहब ने ईरान, रोम और निकटवर्ती देशो के पास अपने विशेष दूतो द्वारा पत्र भेजे, जिसमे उन्होने देवी-देवताओ की आराधना को व्यर्थ बतलाया और निराकार ईश्वर की आराधना का आदेश दिया। इनमे दो पत्र विशेष थे—एक रोम के सम्राट् हिरे क्लिवियस को और दूसरा ईरान के सम्राट् परवेज के पास। इसके अलावा मिस्र और इथियोपिया के सम्राटो के पास भी पत्र भेजे। मुहम्मद साहब ने अब इन सरहदी अरब राज्यो मे इस्लाम धर्म के प्रचारक भेजने शुरू किये। अपने नये धर्म मे अटल विश्वास होने के फलस्वरूप सातवी सदी मे अरबो मे यह शक्ति उत्पन्न हो गई थी, जिससे वे बडी-बडी शक्ति विजित करते चले गये।

मुहम्मद साहब का ध्यान फिर मक्के की तरफ गया। कुरैश के साथ सुलह हो चुकी थी, लेकिन कुछ कुरेशो ने इस सुलह का उल्लघन किया। इस पर मुहम्मद साहब १०००० हथियार बन्द फौज लेकर मक्के की तरफ बढ़े। कुछ समय तक युद्ध चलता रहा। अन्त मे मुहम्मद साहब की विजय हुई। कुछ दिन मक्के मे रहकर मुहम्मद साहब ने इस्लाम के प्रचारार्थ अपने अनुयायियो को चारो ओर भेजा।

चाचा ने उनको "खदीजा" नामक स्त्री के सरक्षण मे व्यापार करने सीरिया भेजा। उन्होंने बडी कुशलता से व्यापार किया, जिससे उन्हे बहुत अधिक लाभ हुआ। उनकी इस सफलता और सुन्दर व्यक्तित्व से "खदीजा" बहुत प्रभावित हुई और मुहम्मद साहब से विवाह कर लिया। उस समय मुहम्मद साहब की अवस्था २५ वर्ष की थी और खदीजा, जो एक विधवा स्त्री थी, ४० वर्ष की आयु थी। मुहम्मद साहब का वैवाहिक जीवन सुखमय व्यतीत हुआ। वह २५ वर्ष जीवित रही और उनके तीन पुत्र हुए जो बाल्यावस्था मे ही चल बसे और तीन पुत्रिया हुई जिनमे फातिमा का नाम विख्यात है। उनके एक पुत्र मेरी से हुआ जिसका नाम इब्राहीम था।

जिस समय हजरत मुहम्मद का विवाह हुआ, उस समय मक्का का शासन बहुत अव्यवस्थित रूप से चल रहा था। जो भी अजनबी मक्का मे आता था उसको लोग मार देते थे। इस अनुचित कार्य को समाप्त करने के लिए उन्होने एक सगठन बनाया जिसको "हिल्फ-उल-फुजुल" का नाम दिया। वह एक दयालु प्रकृति के व्यक्ति थे। एक बार उनकी स्त्री ने जैद नाम का एक दास उपहार मे दिया। मुहम्मद ने उसके साथ बहुत दया का बर्ताव किया और उसको स्वतन्त्र कर दिया।

लोगो की अज्ञानता देख उनका हृदय दयार्द्र हो उठता था। वे एकाग्रचित्त होकर इन बुराइयो पर विचार करते थे। वर्ष मे एक बार "रमजान" के महीने मे वे एक पहाडी पर ध्यानमग्न हो, मनुष्य की बुराइयो को दूर करने के विषय मे सोचा करते थे। एक बार उन्होने अपनी स्त्री से कहा "खादिजा! मै या तो भविष्यवक्ता बनूगा या पागल आदमी।" बहुत समय तक उनका यह क्रम चलता रहा और अन्त मे वे कुछ विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे और उसको उन्होने जनता तक पहुचाना शुरू कर दिया। इस्लाम धर्म के सर्वप्रथम अनुयायियो मे हजरत खादीजा (सर्वप्रथम) अली जैद और अबूबर्क का नाम उल्लेखनीय है। अबूबर्क एक धनवान व्यक्ति था। वह अपनी न्यायप्रियता के लिये बहुत प्रसिद्ध था।

इस्लामी प्रचार का प्रारम्भ—इस्लामी धर्म का प्रसार करने मे हजरत मुहम्मद को अनेक कष्टो का सामना करना पडा। उनके प्रारम्भिक काल के अधिकतर अनुयायी दास और मध्यम श्रेणी के थे। उनके धर्म मे मूर्ति पूजा का कोई स्थान नही था। इससे मूर्ति-पूजको का मुहम्मद ने विरोध करना शुरू कर दिया। तीन वर्ष के अथक परिश्रम से वे सिर्फ चालीस व्यक्तियो को ही अपना अनुयायी बना सके। अतः मुहम्मद साहब ने सफा नाम की पहाडी पर कुरेश की एक सभा को सम्बोधित करते हुए कहा— 'अगर मैं तुम्हे किसी आने वाले सकट की चेतावनी दू तो तुम उसे सच मानोगे या नही ?" मुहम्मद साहब ने पुन कहा—"मैं तुम्हे ईश्वर के अजाब (कोप) से आगाह करता हू।" इसके उपरान्त उन्होने सारे देवी-देवताओ को छोडकर, सिर्फ एक अल्लाह की पूजा करने को कहा। लोग उनकी हसी उडाते हुए अपने-अपने घर चले गये।

कुरेश लोगो ने उनके विरुद्ध अभियान उठाया, क्योकि उनको काबे के ३६० देवी-देवताओ की पूजा से आर्थिक लाभ था और इसी मे मक्के का बडप्पन था। इसी

पर मुहम्मद साहब का सबसे बडा आक्रमण था। बिलाल नामक एक हब्शी गुलाम को मुहम्मद के विरोधियो ने बहुत अधिक कष्ट दिया। सन् ६१५ ई० मे पहले १५ मुसल-मान मक्के से इथियोपिया चले गये। सन् ६१० से ६२२ तक उन्होने अपने सिद्धान्तो का प्रचार बडे उत्साह से किया। इस १३ वर्ष के दौरान मे करीब तीन सौ मनुष्यो ने इस धर्म को अपनाया, जिनमे से १०१ इथियोपिया जा चुके थे और शेष व्यक्ति अपनी सम्पत्ति सदैव के लिए छोडकर, अपने पैगम्बर के साथ मदीना आ गये थे।

सन् ६२२ मे हजरत मुहम्मद मक्का छोडकर, मदीना आ गये। उनके इस प्रवास को हिजरत कहते हैं। इसी समय से हिजरी सवत् शुरू होता है। मदीने पहुँच कर इस्लाम के अनुयायियो की संख्या बढने लगी। यहा पहली बार मुहम्मद साहब को स्वतन्त्रता के साथ अपने विचारो के प्रसार का मौका मिला। प्रतिदिन हजारो व्यक्ति उनका पयाम (सदेश) सुनने के लिए एकत्र होते थे। उनका सिद्धान्त था "ला इकराहा फिद्दीन" (धर्म के विषय मे किसी की जबरदस्ती नही होनी चाहिए।) मदीने मे पहुचने के उपरान्त मुहम्मद साहब ने अपने धर्म प्रसार के लिए मदीने के बाहर, दूर-दूर कबीलो मे अपने अनुयायियो को भेजना शुरू किया। मुहम्मद साहब को यहा आये जब दो वर्ष हो गये तो १००० कुरैशो ने उन पर हमला कर दिया। केवल ३१३ अनुयायियो को साथ ले मुहम्मद साहब ने इस फौज का मुकाबला किया और उसे हरा दिया।

मक्के से आये हुए मुसलमानो को अपनी जन्मभूमि छोडे छ साल व्यतीत हो चुके थे। १४०० मुसलमानो को बिना किसी हथियार के साथ लेकर, वे मक्के के लिए रवाना हुए। दोनो पक्ष के लोगो मे परस्पर सधि हो गई। एक वर्ष व्यतीत होने पर जैसा तय हो चुका था, मुसलमानो के मक्के जाने का वक्त आया। सन् ६२९ ई० मे २००० मुसलमानो को साथ लेकर काबे की यात्रा के लिए मुहम्मद साहब मक्के गये।

६२८ ई० मे मुहम्मद साहब ने ईरान, रोम और निकटवर्ती देशो के पास अपने विशेष दूतो द्वारा पत्र भेजे, जिसमे उन्होने देवी-देवताओ की अराधना को व्यर्थ बत-लाया और निराकार ईश्वर की आराधना का आदेश दिया। इनमे दो पत्र विशेष थे—एक रोम के सम्राट् हिरे क्लिवियस को और दूसरा ईरान के सम्राट् परवेज के पास। इसके अलावा मिस्र और इथियोपिया के सम्राटो के पास भी पत्र भेजे। मुहम्मद साहब ने अब इन सरहदी अरब राज्यो मे इस्लाम धर्म के प्रचारक भेजने शुरू किये। अपने नये धर्म मे अटल विश्वास होने के फलस्वरूप सातवी सदी मे अरबो मे यह शक्ति उत्पन्न हो गई थी, जिससे वे बडी-बडी शक्ति विजित करते चले गये।

मुहम्मद साहब का ध्यान फिर मक्के की तरफ गया। कुरैश के साथ सुलह हो चुकी थी, लेकिन कुछ कुरैशो ने इस सुलह का उल्लघन किया। इस पर मुहम्मद साहब १०००० हथियार बन्द फौज लेकर मक्के की तरफ बढे। कुछ समय तक युद्ध चलता रहा। अन्त मे मुहम्मद साहब की विजय हुई। कुछ दिन मक्के मे रहकर मुहम्मद साहब ने इस्लाम के प्रचारार्थ अपने अनुयायियो को चारो ओर भेजा।

१२ रवी उलअव्वल ११ हिजरी, अर्थात् ८ जून सन् ६२२ को यह महान् आत्मा इस ससार से चल बसी।

इस्लाम धर्म के सिद्धान्त—इस्लाम मुसलमानो का धर्म है और इसका तात्पर्य ईश्वर की इच्छा के लिये अपने को प्रदान कर देना है। इस धर्म के समस्त सिद्धान्त 'कुरान' मे प्राप्त होते हैं। इस्लाम धर्म के अनुसार वास्तविक मुसलमान वही है जो कि अपने व्यावहारिक जीवन मे उन नियमो को अपनाये। इस्लाम धर्म के अन्तर्गत केवल कुरान का अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त नही है।

इस्लाम धर्म मे प्रत्येक मुसलमान को निम्न कार्य करने चाहिए (१) कुरान का अध्ययन करना, (२) दिन मे पाच बार नमाज पढना, (३) रमजान के महीने मे व्रत रखना, (४) दान करना, और (५) मक्का की यात्रा। उपर्युक्त पाच सिद्धान्त प्रत्येक इस्लाम धर्म के अनुयायी के लिए आवश्यक हैं। कुरान मे केवल दिन मे चार बार नमाज पढ़ने का उल्लेख । पाच बार के नमाज पढने का समय निम्नलिखित है—(१) सूर्य उदय होने के कुछ समय पूर्व, (२) दिन चढने के कुछ समय बाद, (३) सूर्य अस्त होने के पूर्व, (४) सूर्य अस्त होने के कुछ समय बाद, (५) दिन समाप्त होने के कुछ समय बाद। नमाज पढने के समय व्यक्ति को अपने हाथ पैर और मुह को स्वच्छ कर लेना चाहिए।

इस्लाम मे **व्रत** का भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। कुरान मे लिखा है कि प्रत्येक मुसलमान को रमजान के महीने मे **रोजा** रखना चाहिए। यदि वह यात्रा मे है या अस्वस्थ है, तब वह किसी अन्य दिन रख सकता है। यदि वह स्वस्थ है और रोजा नही रखता है, तो गरीबो को दान करे। व्रत के दिन उसको प्रातः से सायकाल तक पानी भी वर्जित है।

इस्लाम मे दो प्रकार के दानो का उल्लेख है (१) आवश्यक जिसको **जकात** कहते हैं, और जो वर्ष मे एक बार जानवर, धन, अनाज और फल किसी भी रूप मे दिये जा सकते हैं। (२) **ऐच्छिक** (सदक्वात), जिसको मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार जितना चाहे दे सकता है। इस्लाम के आरम्भिक दिनो मे मस्जिद बनाने के लिए धन-वान लोगो से आवश्यक रूप से दान लिया जाता था।

इस्लाम के प्रत्येक अनुयायी का पाचवा कर्तव्य मक्का (हज) की यात्रा करना था, जिसको उसे साल मे एक बार करना चाहिए। जब यात्री लोग पवित्र नगर से चार-पाच मील रह जाते हैं, तब उनको साधारण वस्त्र धारण करने पडते हैं। मुहम्मद साहब की मृत्यु के उपरान्त, इस्लाम दो भागो मे विभक्त हो गया जिसका कारण खलीफा लोगो के विचारो मे परस्पर सघर्ष था। इन दोनो मतो के मतावलम्बी शिया और सुन्नी कहलाये।

मुहम्मद साहब के समस्त उपदेश दो प्रकार के हैं—एक वह है, जिन्हे वह अपने ईश्वर के हुक्म यानी **इलहामी** कहते थे। इन सभी के सग्रह का नाम **कुरान** है। उनके दूसरे सब उपदेश और समय-समय की कहावतें **हदीस** कहलाती हैं।

नारी अधिकार—स्त्रियो और पुरुषो के सम्बन्ध मे स्थान-स्थान पर कुरान मे हिदायतें है। मुहम्मद साहब के पूर्व अरब मे स्त्रियो को कोई अधिकार नही था, न ही उन्हे सम्पत्ति मे कोई हिस्सा मिलता था। कुरान मे कहा है—"जिस तरह स्त्री पर पुरुष का अधिकार है, उसी तरह स्त्री का पुरुष के ऊपर अधिकार है। औरतें मर्दों के लिए और मर्द औरतो के लिए, दोनो एक दूसरे के लिए शोभा है।" कुरान मे स्त्रियो के साथ अच्छा व्यवहार करने के लिए कहा गया है। कुरान मे चरित्रहीनता को 'गुनाह' बतलाया गया है और ऐसे व्यक्ति को कठोर दण्ड देने का आदेश दिया गया है। पुरुष को चार विवाहो की छूट है। विधवा-विवाह जायज है।

जिहाद—यह शब्द कुरान मे कई स्थानो पर आया है। 'जिहाद' शब्द का अर्थ है, 'किसी ऐसी वस्तु के साथ, जो ठीक न हो, अपनी हद दर्जे की शक्ति लगाकर उसे ठीक करने का प्रयास करना।" किसी भी कार्य मे कठिन से कठिन परिश्रम करना। कुरान मे एक स्थान मे **"जिहाद फी सबीलल्लाह"** शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'अल्लाह के मार्ग मे प्रयास करना।" कुरेशो के भारी जुल्मो से, जिन लोगो की जानें गई थी, उनको कुरान मे, "अल्लाह की राह मे अपना जीवन और माल मे जेहाद करना" कहा गया है। जिहाद का तात्पर्य शस्त्रो से युद्ध करना नही है, क्योंकि इस्लाम का सिद्धात 'बुराई का बदला भलाई मे है।' जिहाद से सम्बन्धित कुरान की आयतो के विषय मे मौलवी मुहम्मदअली ने **'दी होली कुरान'** (पवित्र कुरान) मे लिखा है—'यहा 'जिहाद' के माने 'तलवार की लडाई' करना की भाषा मे पूर्णतया अनभिज्ञता प्रदर्शित करना है।'

आकेबत और आखेरात—यह दोनो शब्द कुरान मे परलोक-जीवन के विषय मे आये हैं। जन्नत (स्वर्ग) और जहन्नुम (नर्क) इनका भी कई स्थानो मे उल्लेख आया है। हजरत मुहम्मद के धर्म के सिद्धान्तो का अध्ययन करने से यह पूर्णतया परिलक्षित होता है कि उनका जीवन पूर्णतया व्यावहारिक था, उसमे गूढ दर्शन विशेष का कोई महत्व नही था।

विजय, प्रसार और साम्राज्यवाद का युग—इन पवित्र युद्धो से इस्लाम को बहुत अधिक लाभ हुआ और इन्ही के फलस्वरूप थोडे समय मे इस्लाम का प्रसार हुआ। मुहम्मद साहब की मृत्यु के उपरान्त उनके अनुयायियो का जोश बढता गया। जब तक मुहम्मद साहब जीवित रहे, तब तक प्रत्येक कार्य—जैसे न्याय, सेना, धर्म और शासन वे स्वय किया करते थे। उनकी मृत्यु के उपरान्त यह प्रश्न उठा कि उनका उत्तराधिकारी कौन हो? अथवा धार्मिक कार्यों को करने के लिए कौन **खलीफा** होगा। मुहम्मद साहब के कोई पुत्र नही था। केवल मात्र उसकी लडकी **फातिमा** जो अली की स्त्री थी, जीवित थी। लेकिन अरब के सरदार लोग पैत्रिक सम्बन्धो से अधिक निर्वाचन पर ध्यान देते थे।

इस विषय को लेकर, अनेक दल बन गये, जिनमे दो दल मुख्य थे। एक मुहाजिरम था, जो कहता था कि मैं उनके कबीले का हू और सर्वप्रथम मैंने ही उनके पवित्र धर्म को माना है। दूसरी ओर **अन्सार** था, जिसको मदीना के लोगो का समर्थन

प्राप्त था। इसका कहना था कि यदि वह इस्लाम को मदीने मे शरण न देता, तो इस्लाम विलुप्त हो जाता। तीसरा **अली** था जो मुहम्मद के चाचा का लडका था और पैगम्बर की पुत्री का पति था। इस विषय को लेकर इस्लाम मे फूट पड जाने के लक्षण दिखाई देने लगे। परन्तु **अबूबकर** ने इस समय बडी बुद्धिमत्ता से काम लिया। उन्होने दो नाम प्रस्तुत किये, एक हजरत **उमर** और दूसरा हजरत **अबू उबेदा**। लेकिन उमर ने उसी समय बढकर अबूबकर को तत्काल अपना खलीफा चुनने को कहा। हजरत अबूबकर पहले खलीफा थे। मुहम्मद के उपरान्त चार धर्म परायण खलीफाओ का नाम और काल निम्न प्रकार है—

(१) अबूबकर (६३२ ३४), (२) उमर (६३४-४४), (३) उस्मान (६४४-५६), तथा (४) अली (६५६-६१)।

इस प्रकार हजरत **अबूबकर** को ही मुसलमानो का पहला खलीफा चुना गया। खलीफा होने के समय हजरत अबूबकर की अवस्था ६१ साल की थी। इनका चरित्र बहुत ही उज्ज्वल था। धर्मपरायण खलीफाओ के काल मे, खलीफा लोगो का जीवन मुहम्मद साहब के जीवन चरित्र से प्रभावित था।

हजरत अबूबकर ने जब खलीफा का पद सम्हाला, उस समय मुसलमानो के लिए बडा कठिन अवसर था। मुल्क शाम के ईसाइयो से इनके सम्बन्ध अच्छे नही थे। अबूबकर को यह समाचार मिला कि जो कबीले थोडे ही समय पूर्व मुसलमान हुए थे, उन्होने इस्लाम को त्याग दिया और कुछ कबीलो ने जकात देने से पूर्णतया इन्कार कर दिया। एक सत्तरह वर्ष के नवयुवक उसमा के अधीनस्थ मुल्क शाम पर आक्रमण करने के लिए सेना भेजी गयी। उसमा के अधीन जब यह सेना युद्ध कर रही थी, विद्रोही कबीलों ने मदीने पर आक्रमण कर दिया। इन विद्रोहियो का कथन था कि हम नमाज और रोजा तो रखने को तैयार हैं, किन्तु जकात न देंगे। लेकिन अबूबकर ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि धन मे घटाव असम्भव है।

बडे-बडे वीर सेनानायक उनके साथ थे। दो तीन युद्धो मे हजरत ने विद्रोहियो को पूर्णतया परास्त कर दिया। इनके उपरान्त ग्यारह सेनानायको के सचालन मे सीमा-प्रान्त के उन स्थानो मे, जहा पर विद्रोहियो का आधिपत्य था—सेना भेजी गयी। यहा पर उनको विजय प्राप्त हुई।

इस्लाम धर्म के अनुसार खलीफा ही समस्त मुस्लिम देशो का प्रधान होता था। हजरत अबूबकर के विद्रोहियो के दबाने का कार्य इस्लाम धर्म के लिए बहुत लाभदायक हुआ। यदि वे कडाई से काम न लेते, तो आगे चलकर लोग जकात तो क्या रोजा, नमाज से भी मुह फेरने लगते।

हजरत खालिद बिन वलीद, जिन्हे 'अल्लाह की तलवार' का 'खिताब' दिया गया था, **बनीतमीम** नामक एक विद्रोही कबीले को दबाने के लिए निकले। कबीले के सरदार ने जब खालिद का नाम सुना, तब उसने उनकी अधीनता स्वीकार करली।

यमन मे मस्लेमा नवी होने का दावा कर रहा था। सज्जाह नाम की एक स्त्री ने भी पैगम्बरी का दावा किया और अपने कबीले को लेकर वह मदीने पर चढ आई। मार्ग मे मस्लेमा से भेंट हो गयी। दोनो ने परस्पर विवाह कर लिया। इन दोनो के परस्पर मेल से इनकी सेना की शक्ति चालीस हजार हो गयी। इस बडे लश्कर का सामना हजरत खालिद की फौज से हुआ। घमासान युद्ध के उपरान्त मस्लेमा की हार हुई। मस्लेमा के साथी या तो मारे गये या इस्लाम धर्म की शरण मे आए। हजरत अबूबकर ने केवल उन्ही विद्रोहियो का दमन किया, जिन्होने इस्लाम छोड दिया था, 'जकात' देने को राजी न थे या नवी होने का स्वप्न देख रहे थे।

अरेबिया मे जिन लोगो ने उपद्रव मचा रखा था, उनका दमन दस महीनो मे पूरा हो गया। अब हजरत अबूबकर ने अरेबिया की हद से मिले हुए राज्यो रोम और ईरान पर चढाई करने का विचार किया। इन दिनो ईराक मे ईरान की ओर से हुरमुज गवर्नर था। यह अरबो का कट्टर शत्रु था। यह अरेबिया और ईराकी सीमा पर स्थित अरबी कबीलो पर बहुत अत्याचार करता था। अबूबकर को इसके समाचार मिलते रहते थे। उन्होने हजरत खालिद बिन वलीद को ईराक पर आक्रमण करने का आदेश दिया। ईरानियो से हुए कई युद्धो मे 'जग सलासल' यानी द्वीपो का युद्ध सबसे बडा युद्ध था। इस युद्ध मे ईरानियो की कमान स्वय हुरमुज के हाथो मे थी, जिसकी वीरता की धाक चारो ओर जमी हुई थी। इस युद्ध मे खालिद ने हुरमुज को हराकर उसका वध कर दिया।

जब हार-पर-हार के समाचार ईरान पहुचे तो उन्होने विचार किया कि अरबो के विरुद्ध अरबवासियो से ही युद्ध कराना चाहिए। इस पर विचार कर उन्होने अपने अधीनस्थ उन अरब कबीलो को जो ईसाई धर्म के अनुयायी थे, अरबो के विरुद्ध युद्ध मे भेजा। यह युद्ध दजला और फरात नदियो के सगम पर हुआ। इस स्थान पर हजरत खालिद ने अपनी सेना को तीन भागो मे विभक्त किया। इस युद्ध मे भी अरबो की विजय हुई। कुछ ही समय मे ईरान के अग्नि उपासको का जोर समाप्त हो गया और वहा मुसलमानो का अधिकार हो गया। लेकिन ईरान पर पूर्ण आधिपत्य हजरत उमर फारूकी के समय हुआ। हजरत खालिद के शाम की ओर जाने के उपरान्त, हजरत अबूबकर ने चार फौजे चार प्रसिद्ध सरदारो के अधीन फिलस्तीन और शाम को विजय करने के लिए भेजी। इन पाचो सेनाओ मे लगभग सत्ताइस-अठाइस हजार सैनिक थे। इन्होने रोमवासियो से कई बार युद्ध मे सामना किया और उन्हे परास्त किया और उनके नगरो पर अधिकार कर लिया। जब रोम की पराजय का समाचार रोम के सम्राट् के समीप पहुचा तो लगभग ढाई लाख सेना अरमीनिया के राजकुमार की अध्यक्षता मे अरबो का दमन करने के लिए आगे बढी। मुसलमानो की सेना मे छियालीस हजार से अधिक व्यक्ति नही थे। पर अपने धार्मिक उत्साह के फलस्वरूप उन्होने उन्हे हरा दिया।

हजरत अबूबकर ने २२ जमादिल को अपना शरीर त्याग दिया। उन्होंने दो

वर्ष तीन महीना ग्यारह दिन राज्य किया । मृत्यु के समय उनकी अवस्था ६२ वर्ष की थी ।

अरब साधनो के अनुसार प्रसार का उद्देश्य केवल इस्लाम का प्रचार करना ही था । इस्लाम के प्रसार का बहुत बडा कारण तब धन था । आर्थिक कारणो के ही फलस्वरूप इस्लाम के अनुयायियो ने दूर-दूर जाकर इसका प्रसार किया ।

उस समय के जनसमुदाय के जीवन मे आर्थिक क्षेत्र मे एक ही भावना थी और एक ही प्रकार की आवश्यकताए थी । सेना के अधिकतर सैनिक बद्दू लोगो मे से लिए गए थे । अधिकतर इस प्रसार के युद्ध के पीछे धार्मिक भावना कार्य कर रही थी । (इस्लाम के अनुसार जो धर्म के लिए युद्ध मे मर जाता है उसको स्वर्ग मिलता है); लेकिन इसके विपरीत आराम और ऐश से जीवन व्यतीत करने के लिए भी बहुत से लोगो ने सैनिक जीवन अपनाया, क्योकि विदेशो मे युद्ध करने से उनको लूट का बहुत-सा सामान मिलता था ।

अल-बलाधुरी, जिसने इन युद्धो का वर्णन किया है, कहता है कि "अबूबकर ने सीरिया के युद्ध मे सैनिको की भर्ती के समय स्वय ही कहा था कि पवित्र युद्ध और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सेना मे आओ । रुस्तम फारस का सेनानायक था और अरब आक्रमण से अपने देश की रक्षा की थी ।"

इन युद्धो को सर्वप्रथम खलीफा अबूबकर और उमर ने चलाया । यह कबीलो के साथ युद्ध से प्रारम्भ हुआ और साम्राज्यो के साथ युद्ध करने मे समाप्त हुआ । हिट्टी के अनुसार इस्लाम को तीन रूपो मे देखा जाता है—"पहले पूर्णत एक धर्म, बाद मे एक राज्य और अन्त मे एक सभ्यता ।"

मिस्र, ट्रिपोली और बरक्वह पर विजय—इजिप्ट (मिस्र) सीरिया और अल-हिजाज के समीप स्थित है । यहा की भूमि उर्वरा होने के कारण, कुस्तुनतुनिया धन-धान्य से सम्पन्न है । इसकी राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया जल-सेना का केन्द्र था । प्रारम्भ से ही अरबवासी मिस्र की ओर आकर्षित थे । अरब वालो ने मिस्र पर कई आक्रमण किये । खालिद जो कि मिस्र से व्यापार करता था, इसके समस्त भागो से परिचित था । खालिद ने उमर की सम्मति से, यहा पर प्रबल आक्रमण करने का विचार किया । इसके उपरान्त उमर ने उतमान और अन्य लोगो से परामर्श किया, जिन्होने मिस्र को विजय करने की कठिनाइयो के विषय मे बतलाया, अम्र कुरेशी था । उसकी अवस्था चालीस वर्ष की थी और वह युद्ध-कार्य मे भी बहुत दक्ष था । इसके पूर्व खलीफा ने उसको एक सदेश दिया । उसने अपने चार हजार सवारो के साथ मिस्र को प्रयाण किया ।

पहला स्थान जहा पर अम्र ने सन् ६४० मे डेरा डाला, अल-फरमा था (पेलु-शियम) जो कि पूर्वी मिस्र की कुजी थी । एक माह तक उन्होने किले के बाहर डेरा डाला । इतने समय मे वहा के लोगो के रक्षा साधन समाप्त हो चुके थे । साइरस, जो का अलेक्जेण्ड्रिया का शासक था, बेबीलोन को अपने सेनानायक ओगस्ट्रेलस थियोडोरस की सेना के साथ बढा । अम्र ने बेबीलोनिया के सुदृढ दुर्ग के बाहर अपना खेमा डाला ।

वह अरबो की दूसरी सेना के लिए, जो अरब से आ रही थी, रुका हुआ था । कुछ समय बाद दूसरी सेना इब्न अल अव्वाम की अध्यक्षता मे पहुँची । अब अरब सेना मे १००० हजार सिपाही हो गये । इसके विपरीत वाइजेन्टाइन सेना के अन्तर्गत २००० सिपाही थे । थोडे ही युद्ध के उपरान्त वाइजेन्टाइन सेना हार गयी । थियोडोरस अलेक्जेण्ड्रिया को भाग गया और साइरस बेबीलोनिया मे ही घेर लिया गया । उसने कुछ आक्रमणकारियो को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया पर वह असफल रहा । अन्त मे वह कैद कर लिया गया और उसके सम्मुख तीन शर्तें रखी गयी । इस्लाम, कर या तलवार । साइरस ने कर देना स्वीकार किया और शीघ्र ही अलेक्जेण्ड्रिया को इसके विषय मे बादशाह के पास व्यवहार के लिए गया । सात महीने के उपरान्त अल जब्र पर अपने साथियो के साथ दुर्ग के अन्दर प्रवेश कर गए और वहा पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया ।

एक दिन अपने २००० साथियो के साथ अम्र ने अपने को मिस्र की राजधानी के महल मे खडा देखा । अभी तक उन लोगो ने जिन स्थानो पर विजय प्राप्त की थी, वे इतने ऐश्वर्यशाली और सुन्दर नही थे, जितना यह मिस्री महल था । इसके अन्दर बहुत सुन्दर पुस्तकालय, सीजर के काल का मन्दिर और भोग-विलास की असीम सामग्रिया भरी हुई थी, जिनको देखकर उनकी आखे चकाचौंध हो गई ।

अरब इतिहासकारो ने उमर के शासन के विषय मे बहुत कुछ लिखा है । ८ नवम्बर सन् ६४४ को खलीफा उमर को एक पारसी दास ने मार दिया । गृहयुद्ध छिडने की आशंका से जब वह मृत्यु शैया पर था, उसने कुछ व्यक्तियो के नाम खलीफा के चुनाव के लिए प्रस्तुत किए और कहा कि सर्वसम्मति से किसी एक का निर्वाचन किया जाय ।

कुरान शरीफ का सकलन्—लगभग तेईस वर्ष तक कुरान के अश अलग-अलग वाक्यो मे प्रकट होते रहे । उन्हे लोग उसी समय मुहम्मद साहब की आज्ञा से अलग-अलग ताल पत्रो, चमड़े के टुकडो, लकडियो या शिलाओ पर लिखते रहे । यह टुकडे लकडी के एक बक्स के अन्दर बिना किसी खास तरतीब के रख दिये जाते थे । कुछ हिस्से मुहम्मद साहब के जीवन काल मे ही उनकी आज्ञा से अलग-अलग **सूरो** अर्थात् अध्यायो मे बाँट दिये गये । कुरान मे यह भी लिखा है कि अल्लाह जिस 'आयत' को चाहता है, रद्द कर देता है (२०१/१०६) । मुहम्मद मुख्तार पाशा अपनी पुस्तक 'विजडम ऑफ द कुरान' (Wisdom of the Quran) पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि ६० आयतें मुहम्मद साहब के जीवन-काल मे ही रद्द कर दी गयी थी । इसके अतिरिक्त जिन लोगो को कुरान शरीफ कठस्थ था, उनमे से अधिकाश 'यमामा' के युद्ध मे मारे गये थे, अत हजरत **अबूबकर** ने कुरान के लुप्त हो जाने के भय से, उन कागजो, तालपत्रो, चमडो और लकड़ी के तख्तो, जिन पर कुरान की आयतें लिखी थी, तथा जिन लोगो को कुरान की आयतें याद थी, सग्रह कराकर ११४ सूरो से सयुक्त कुरान

ग्रथ तैयार कराया और उसे मुहम्मद साहब की विधवा हफ्सा के पास सम्भालकर रख दिया। परन्तु इन अलग-अलग ग्रशो की लिपियाँ दूसरे लोगो के पास भी मौजूद थी। जिन लोगो को कुरान की आयते कठस्थ थी, उन्होने भी उन्हे लिख रखा था। परिणाम यह हुआ कि १५ वर्ष के अन्दर-अन्दर ही अलग-अलग भाग मक्का-मदीना और ईराक मे चल पडे। अन्त मे तीसरे खलीफा उस्मान ने, उस प्रति को जिसे हजरत अबूबकर ने सुरक्षित रखाया था, प्रामाणिक घोषित किया और जितनी नकली प्रतियाँ थी, उन्हे जलवा दिया। -

कुरान के अतिरिक्त मुहम्मद साहब की बाकी सभी नसीहते तथा कहावते और समय-समय की सभी रियायतें **हदीस** कहलाती है और वे इलाई अर्थात् ईश्वरीय नहीं मानी जाती। जो स्थान वेदो की तुलना मे ब्राह्मण ग्रथो का है, वही स्थान कुरान की तुलना मे हदीस का है।

इस्लामी सिद्धान्तो की विशेषताए—इस्लामी सिद्धान्तो की सबसे प्रमुख विशेषता परस्पर 'भाईचारे' की है। वस्तुत इस्लाम का यह भातृत्व-भाव सभी धर्मों और जातियो के लिये अनुकरणीय है। कुरान मे लिखा है—'सारे मुसलमान अवश्य भाई हैं। अत परस्पर लडते भाइयो को मिला दो। ईश्वर से डरो—कदाचित तुम दया के पात्र बनाये जाओ।' (४६।१।१०)। मुहम्मद साहब ने स्वय अपनी फूफी की लडकी की शादी एक गुलाम से की थी। अपने दास कुतुबुद्दीन को भी मुहम्मद गौरी ने भारत का बादशाह बनाकर सम्मानित किला था। मुसलमान लोग कम से-कम खाने और इबादत के समय छोटे-बडे का भेद नही रखते। एक ही दस्तरखान पर सब खाना खाते हैं और एक ही मस्जिद में छोटे-बडे सब नमाज़ पढते है। यह समानता का भाव किसी धर्म मे नही पाया जाता।

कुरान मे सूद लेना बडा पाप कहा गया है। कृपणता को अपराध कहा गया है। फिजूलखर्ची की निन्दा की गयी है। जुआ खेलना और शराब पीना बुरा कहा गया है। कुरान मे क्षमा और सतोष का कार्य अत्यन्त साहस का बताया गया है।

इसके अतिरिक्त प्राय किसी भी धर्म मे स्त्रियो को पुरुषो के समान जायदाद मे हिस्सा पाने का अधिकार नही दिया गया, किन्तु इस्लाम ने दिया है। कहा है—माता-पिता या सम्बन्धी जो कुछ छोडकर मरते हैं, उसमे स्त्री-पुरुष—दोनो का भाग है। परमेश्वर कहता है कि तुम्हारी सन्तान मे पुरुष का भाग दो स्त्री-भाग के बराबर है।" (४।२।१)। कुरान मे गौण रूप से चार विवाहो की आज्ञा है। कहा है कि यथेच्छ विवाह करो। यदि प्रत्येक पत्नि के साथ तुमसमान व्यवहार न कर सको, तो एक ही विवाह से सन्तोष करलो। (४।१।३)। स्त्रियो के पर्दे के विषय मे कहा है—'हे नबी, अपनी बहू-बेटियो और स्त्रियो से कह दे कि अपनी चादर थोडी-सी ऊपर उठा लो—जिससे वे पहचानी जाए और उन्हे कोई न सताये। स्त्रियो से कह दे कि दृष्टि नीचे रखें, जो प्रकट है, उसके सिवा अपने सौन्दर्य को न दिखायें। अपने पिता श्वसुर, पुत्र, सोतेला पुत्र, भाई, भतीजा, भाजा, सहेली, दासी, आश्रिता—ऐसा पुरुष या बालक

जो स्त्री-पुरुष का भेद नही जानता, इन सब को छोडकर औरो के सामने ओढनी मे सीना ढक लें, अपना घूंघट न खोले, पैर चमकाती न चलें।'

दार्शनिक तत्व--यद्यपि मुहम्मद साहब दार्शनिकता से दूर, व्यावहारिकता के ही उपासक थे, किन्तु तब भी कुरान मे दार्शनिक तत्व पाये जाते है। कुर्बानी की पद्धति इस्लाम मे नई बात नही है, उनके पडौसी यहूदी पहले ही इस प्रथा के अनुयायी थे। यहूदी और इस्लामी बलिदान-प्रणाली मे इतना अन्तर है कि जहा यहूदी बलि मास पुरोहितो द्वारा आग मे होम कराते है, वहाँ कुरान के अनुसार ईश्वर के नाम पर पशु-बलि देने से ही सब विधिया समाप्त हो जाती है। अत वह लोग मास का उपभोग खुद करते हैं। यहूदी लोगो की बलि प्रथा पुराने मीमासको के 'पशु-यज्ञ' का प्रतिरूप है और इस्लाम की बलि-प्रथा, भारतीय दुर्गा आदि की बलि के समान है। अन्तर इतना ही है कि उसमे पशु की गर्दन शस्त्र के एक ही झटके से समाप्त करदी जाती थी, परतु इस्लामी बलि मे, धीरे धीरे काटी जाती है। दूसरे इस्लाम ने यज्ञ का टटा हटाकर, केवल 'बलि' ही रहने दी है। फिर भी बलि का कार्य कुरान मे सर्वोत्तम नही माना जाता, क्योकि लिखा है—'परमेश्वर को उन बलियो का माँस और रक्त नही पहुचता, बल्कि तुम्हारा सयम पहुँचता है (२२।५।४)।'

जीव, आत्मा और परमात्मा—इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा सकेत मिलता है कि जीव को कर्म करने मे परतन्त्रता है। जैसे—ईश्वर जिस मार्ग पर चलाने की उसे प्रेरणा करता है, वही मार्ग वाला ऊचा होता है। जिसे ईश्वर भटकाता है, वह भटकता रहता है। (७।२२।७) कोई भी जीव बिना परमात्मा की आज्ञा मे लिखित अवधि से पहले नही मरता। (३।१५।२)।

स्वर्ग-नर्क का वर्णन--इस्लामी सिद्धान्त के स्वर्ग के ऐश्वर्यो के वर्णन मे तख्त पर आमने-सामने से सुन्दर लडके नफीस शराब के प्याले लिये घूमते है। यह शराब श्वेत रग की है और सुस्वादु है। उसके पीने से न सर चकराता है और न नशा होता है। उसके पास नीची नजर रखने वाली और बडे नेत्रो वाली रमणियाँ हैं, जिनके नेत्र मानो छिपे अडे हो। (३७।२।२०-२६)। बहिश्त के विश्वासियों के लिये खुले द्वार वाला रहने का बाग है। उनके पास निम्न दृष्टि वाली स्त्रिया है।(८।४।१२।१४)। उद्यान मे स्वच्छ जल की नहरें, दूध की नहरें, जिनका स्वाद नही बदलता, शराब की नहरें और बहुत स्वादिष्ट फल हैं।

स्वर्ग मे जिस प्रकार का आनन्द है, नर्क मे उसी प्रकार की यन्त्रणाए हैं। कहा है—'डरो उस अग्नि से जिसका ईन्धन मनुष्य है। (२।३।४), जिन्होने कुरान के प्रमाणो पर विश्वास नही किया, थोडी देर मे हम उन्हे अग्नि मे फैंक देंगे। जब उनकी एक ओर की चमडी जल जायेगी, तब दूसरी ओर बदल देंगे। इसके अतिरिक्त कुरान मे नर्क का इतना भीषण वर्णन है जितना किसी धर्मग्रथ मे नही। सम्भवत यह वर्णन अच्छे कर्म के लिये ही है, जिससे आदमी अच्छा बने।

पुनर्जन्म—कुरान पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नही मानता । उसके अनुसार मनुष्य का जन्म प्रथम और अंतिम है । यद्यपि उसके कुछ वाक्यो से पुनर्जन्म झलकता भी है । जैसे—'जिन पर परमेश्वर कुपित हुआ, उनमे से कुछ को बन्दर और सुअर बना दिया । इसके अतिरिक्त(२।२८, २।१४, २।२५६, २२।६, ७१।१७-१८ तथा ३०।१६ आदि मे भी ऐसे वाक्य आये हैं । आज मुसलमानो का एक सम्प्रदाय भी पुनर्जन्म मानता है । कवि और दार्शनिक महात्मा रूमी अपनी 'मसनवी' मे लिखते है—

"हम चूं सब्जा बारहा रोईदअम् ।
हफ्त सद् हफ्ताद् कालिब दीद अम् ।"

अर्थात् मैने अनेक जन्म लिये सात सौ सत्तर शरीरो मे प्रकट हुआ । निश्चय ही यह धारणा आर्यों की चौरासी लाख योनियों से सम्बन्धित है ।

परमात्मा—इस्लाम कहता है—अल्ला के सिवा कोई नही । वही जीवन और सत् है । उसे नीद नही आती । जो कुछ भूमि और आकाश है, उसी के लिये है । वह सब कुछ जानता है । भूत, भविष्यत् का उससे कुछ छिपा नही । वह उत्तम और महान् है । वह न किसी मे पैदा हुआ है और न कोई उससे पैदा हुआ है । वह परमेश्वर है जिसने छ दिनो मे भूमि और आकाश को बनाया है और अर्श (सिंहासन) पर विराजमान हुआ है ।

'अर्श पर विराजमान' होने का अर्थ है इस्लाम द्वारा ईश्वर को साकार भी मानना । दूसरे यह भी लिखा है—'ईश्वर सातवें आसमान मे सिंहासन पर बैठकर, फरिश्तो के द्वारा सारी सृष्टि पर शासन करता है ।' यह भी साकार-भावना का ही प्रमाण है । इसके अतिरिक्त कुरान मे ईश्वर को सर्वव्यापी कहा है—'वह आदि है, वह अन्त है, वह बाहर है, वह भीतर है, वह सब चीजो का जानकार है । (५७।१३)। काफिर (नास्तिक) का भगवान् से मिलने मे सन्देह है, किन्तु वह तो सर्वव्यापक है । अत कुरान मे ईश्वर के सर्वव्यापी होने की भावना है । साथ ही उसे सातवे आसमान पर आसीन होकर मुहम्मद साहब के पास कुरान को जिब्राइल द्वारा भेजते बताया गया है । इस प्रकार कुरान के ईश्वर सम्बन्धी भाग पर हिन्दू धर्म के द्वैत और अद्वैत भावो की छाया है ।

फरिश्ते—जिस प्रकार ईश्वर के अधीन अनेक देवता विभिन्न कार्य करने वाले माने गये हैं, उसी प्रकार इस्लाम मे फरिश्तो (देवदूतो) को माना गया है । प्रत्येक मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों के लेखक फरिश्ते ही हैं । जिनके विषय मे कहा गया है—'नि सन्देह तुम्हारे ऊपर रखवाले हैं । जो तुम करते हो, उसे वे जानते हैं ।' (८८।१-१०-१२) ।

शैतान—यह मनुष्य को शुभ कर्मों से हटाकर अशुभ कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं । उन्हे शैतान (पापात्मा) कहते है । यह पृथ्वी ही नही आकाश तक यात्रा करते हैं । शैतानो के सरदार इब्लिस के स्वर्ग से निकाले जाने की कथा कुरान मे वर्णित है । ईश्वर ने इन्हे जब पैदा किया, सूरत गढी, तब फरिस्तो से कहा—'आदम को दण्डवत्

करो।' उन्होने वैसा ही किया। परन्तु इब्लिस ने नही किया। अत उसे स्वर्ग से निकाल दिया। लिखा है—'यदि तुम कुरान पढो तो दुष्ट शैतान से रक्षा पाने के लिये ईश्वर की शरण मागो।' (१६।१३।१६)।

बाईबिल मे भी शैतान का जिक्र है। आदम को बहकाने की कथा दी गई है। वस्तुत शैतान हमारे शरीर मे रहने वाला विकार है और उसी प्रकार फरिश्ते सद्-विचार है। हमारे हृदय मे निरन्तर इन दोनो का सघर्ष रहता है। इसी प्रकार 'महा-भारत' के शातिपर्व मे वर्णित गृध्र गोमायु-सवाद भी अलकारिक भाषा मे हैं। वह हमारे भीतर होने वाले मोह और वैराग्य के द्वन्द्व का द्योतक है।

न्याय का दिन—इस्लाम का कथन है कि कयामत के दिन समस्त मृत शरीर जीवित हो जायेंगे। उसी दिन उनके कर्मों का फैसला होगा। उस दिन कोई किसीका सहायक न होगा। उसी दिन सबका फैसला खुदा के सामने होगा।

इस्लामी सम्प्रदाय—हिन्दू-धर्म की भाँति इस्लाम मे भी कई सम्प्रदाय हैं। यथा सुन्नी, शिया, वहाबी, आगाखानी और कादियानी। परन्तु सब कुरान और मुहम्मद साहब को मानते है। इनमे मुहम्मद साहब के दामाद अली साहब के शहीद पुत्र इमाम हुसैन साहब के अनुयायी **शिया** हैं। समस्त ईरान और ईराक शिया प्रदेश है। परन्तु खलीफा के अनुयायी सुन्नी हैं। मुसलमानो मे यह दोनो फिर्के छठे खलीफा के समय बने।

वहाबी—यह लोग व्यक्ति पूजा के पक्ष मे नही है। यह कब्र के ऊपर मूर्तिया बनाने के पक्ष मे नही। वहाबी राजा इब्नसईद ने कुछ वर्ष हुए अरब के समस्त कब्र-गाहो को तुडवा दिया था।

आगाखानी—यह भारत के बम्बई, अफ्रीका मे खोजा नाम से प्रसिद्ध है और मुसलमानो में सबसे अधिक मालदार हैं। इनका विश्वास है कि आगाखा ईश्वर के अवतार है। उन्हे ही बहिश्त या नर्क मे भेजने का अधिकार है। आगाखा दक्षिणा लेकर **जिब्राईल** के नाम चिट्ठी लिख देते हैं कि भाई जिब्राईल, इन्हे स्वर्ग मे जाने देना। वह चिट्ठी मुर्दे के साथ ही कब्र मे रख दी जाती है।

कादियानी—यह पजाब मे हैं। इनके प्रवर्तक श्री गुलाम अहमद कादियानी, जिला गुरदासपुर (पजाब) के थे। अत यह मत कादियानी नाम से विख्यात है। यह धर्म, सब धर्मों के महापुरुषो की इज्जत करता है। इसका कहना है कि मुहम्मद साहब अतिम पैगम्बर नही है। यह मत कृष्ण, गुरु नानक आदि को भी अवतार मानता है और हजरत गुलाम भी नबी के रूप मे आये हैं। अत· उनके उपदेश अन्तिम नबी होने के कारण मान्य है। किन्तु अन्य मुसलमान उन्हे नही मानते।

सन्त सम्प्रदाय—इनके अतिरिक्त मुसलमानो मे सन्त सम्प्रदाय भी है। इनमे सूफी मुख्य हैं। इनके अनुसार प्रभु की सत्ता सर्वोपरि है और उसकी प्रेरणा शुद्ध हृदय से प्राप्त होती है। यही मुस्लिम वेदान्त है और अनहलहक (मैं ही ब्रह्म हू) इसका साधना मत्र है। इनके अनुसार सब कुछ प्रभु चरणो मे समर्पित है। कठोर तपस्या और उपवास इनके ज्ञान के साधन हैं। रविया, मसूर, जलालुद्दीन, हाफिज और शेख-

मादी सूफी सन्त ही थे। इनमे अपने विचारो के कारण मसूर को सूली तक पर लटकना पडा। इनके पहिले हाथ काटे गये, फिर पैर, इसके बाद जीभ। यह सब खलीफा की आज्ञा से हुआ। मंसूर वेदान्त-मार्गी थे और रूमी भक्तिमार्ग के। रूमी ने अपने ग्रथ 'मसनवी' मे भक्तिमार्ग पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

अरब और भारत का धार्मिक सम्बन्ध—भारत और अरब की प्राचीनता के सम्बन्ध मे हम पहिले ही कह आये है। इनके अतिरिक्त स्वय अरब के विद्वानो ने भी भारत और अरब के धार्मिक सम्बन्धो को स्वीकार किया है। हदीसो और कुरान मे उल्लेख है कि जब आदम जन्नत से निकाले गये, तब वे भारतवर्ष मे उतरे। इसीलिये अरब लोग भारतवर्ष को 'जन्न-निशा' के नाम से पुकारते थे। स्वर्ग से उतरते हुए आदम का पहला पैर स्वर्णद्वीप पर पडा और दूसरा पैर दजनाय पर। सम्भव है कि यह दजनाय दक्षिण शब्द का ही अपभ्रंश हो। अरब के लोगो का यह भी विश्वास है कि मसाले तथा कपूर आदि हजरत आदम स्वर्ग से लाये थे। यह सब वस्तुए दक्षिण भारत मे ही बहुतायत से मिलती है। अमरूद को भी अरबी लोग जन्नत का ही मेवा मानते है।

मीर आजाद बिलग्रामी ने अपने ग्रथ 'सुबह तुल्मरजाक फी आसारे हिन्दुस्थान मे भारत की प्रशसा करते हुए लिखा है कि आदम पहिले भारत मे ही उतरे थे। यही उनको ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था। अत यह देश पवित्र है।' आगे उसमे लिखा है—'मुहम्मद साहब की ज्योति हजरत आदम के मस्तक मे अमानत के रूपमे रखी हुई थी। अर्थात् मुहम्मद साहब का प्रकाश इसी देश मे हुआ था। हजरत कहा करते थे—'मुझे भारतवर्ष की ओर से ईश्वरीय सुगन्ध आती है।'

मुहम्मद साहब की दृष्टिमे भारत और भारतीय कितने श्रेष्ठ थे, इसका प्रमाण 'किताबुल अद्बुलमुफरद' नामक पुस्तक की कुछ लाइनो से स्पष्ट है। उसमे लिखा है कि एक बार हजरत मुहम्मद की दूसरी पत्नी आयशा बीमार हुई, तब एक हिन्दू चिकित्सक को उनके इलाज के लिये बुलाया गया। यह वैद्य उस समय अरब मे ही निवास करता था।'

साहित्यिक-सम्बन्ध - अरब लोग ज्ञान के सदा भूखे रहे। अत जैसे ही उन्हे भारतीय साहित्य के बारे मे ज्ञात हुआ, तैसे ही उन्हे उसे प्राप्त करने की धुन सवार हुई। अत हिज्री की पहली शताब्दी मे ही अरबो ने यूनानी और सुरयानी भाषाओ के ग्रथो का अनुवाद कराना प्रारम्भ कर दिया था। इसके पश्चात् जब ईराक मे अब्बासी खिलाफत शुरू हुई, तब ईरान और भारत की सभ्यताओ से अरबो का सबध हुआ। अब्बासी खलीफाओ मे खलीफा मसूर का विद्या प्रेम प्रसिद्ध था। इसके शासनकाल मे ज्योतिष और गणित के ग्रथ लेकर, एक विद्वान् मडली बगदाद पहुँची। खलीफा मसूर के दरबार मे उस समय फिजारी नामक गणित का एक विद्वान् रहता था। उसी की सहायता से उक्त ग्रथो का अरबी भाषा मे अनुवाद हुआ।

मसूर के बाद हारूल रशीद भी विद्या प्रेमी निकले। अपनी चिकित्सा के लिये इन्होने भारत से कई वैद्य बुलाये थे। इन्होने भी बाद मे कई भारतीय ग्रथो का अनुवाद कराया । परन्तु इस काम मे सबसे अधिक रुचि बहराम वश ने ली। यह वश बलख का निवासी था। यह लोग पहिले बौद्ध थे और इनकी मातृभूमि कश्मीर थी। उस समय बलख मे नव-विहार नामक एक बहुत बडा बौद्ध मन्दिर था। अपनी विशालता और सुन्दरता के लिये यह मन्दिर दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। बहराम वशी लोग इस मन्दिर के पुजारी थे। बहराम शब्द सम्भवत परमक का अपभ्र श है, जिसका अर्थ है–परम प्रतिष्ठित। अत इन पुजारियो को बलख के लोग अति पवित्र मानते थे। इस्लाम के प्रचारको ने जब इस मन्दिर को नष्ट कर दिया, तब यह पुजारीवश भी मुसलमान हो गया। परन्तु इनके विद्या ज्ञान के कारण ही खलीफाओ के दरबार मे इन्हे प्रतिष्ठा मिलती रही और लगभग ५० वर्ष तक इसी परिवार के लोग खलीफाओ के मत्री होते रहे। इन्ही लोगो के कारण भारतीय ज्ञान का प्रसार एशिया और यूरोप मे हुआ ।

जाहिज के विचार—अपने समय के प्रसिद्ध तार्किक बसरा निवासी विद्वान् **जाहिज** ने २५० हिज्री मे अपने निबन्ध मे लिखा था—'भारतीय लोग ज्योतिष और गणित मे माहिर हैं। उनका चिकित्सा शास्त्र बहुत पौढ है और इसके अनेक विलक्षण भेद है।'

'वे अनेक भयकर रोगो की औषधिया जानते है । भवन निर्माण मे भी वे कुशल है। शतरज का खेल भारत का आविष्कार है और वह बुद्धिमत्ता का चमत्कार है। भारत मे तलवारें भी बहुत अच्छी बनती हैं और उन्हे चलाने वाले भी बहुत योग्य हैं। सगीत बडा मनोहर है। साज सुन्दर हैं। अनेक प्रकार के नृत्य प्रचलित है। दर्शन, साहित्य और कविता के यह लोग पडित हैं। इन्ही के यहा से 'कलेला दमना' नामक पुस्तक अरब पहुची है । यह देश सुन्दरता और सुगधियो का घर है।' इसके बाद, प्रसिद्ध लेखक **याकूबी** ने अपनी पुस्तक 'तारीखे इब्न वाजअयायूबी' हिज्री सन् २७० मे लिखा है—'भारत निवासियो क गणित और फलित ज्योतिष, सिद्धान्त ग्रथ मनन और चिन्तन के चमत्कार है। यूनानियो और ईरानियो ने इससे बहुत लाभ उठाया है। इनका चिकित्सा-शास्त्र ससार मे सबसे आगे है। इस विषय पर इनका ग्रन्थ **चरक** बहुत प्रसिद्ध है। तर्क और दर्शन पर इन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इसके बाद **अबूजैद-सैराफी** ने भी हिज्री की तीसरी शताब्दी मे लगभग यही बातें भारत के बारे मे लिखी हैं।

अरब में भारतीय विद्वान्—अरबी ग्रथो से अरब मे रहने वाले अनेको भारतीयो का पता चलता है । परन्तु नामो मे इतना रूपान्तर आ गया है कि वास्तविक नाम प्राय लोप हो गये हैं । जाहिद ने अपने ग्रन्थ मे पाच नाम दिये हैं—बहला, मनका, बाजीगर, फलबरफल और सिन्दबाद। उसने लिखा है कि इन लोगो के अतिरिक्त और भी अनेक विद्वानो को 'यहिया बिन खालिद बरमकी' ने भारत से बुलाया था। 'इब्न नदीम' ने लिखा है—'बगदाद मे मेरे समय तीन प्रसिद्ध भारतीय वैद्य थे—मनका, दहन

और सालहा ।' इस लेखक ने उन पंडितों के नाम भी दिये है, जिनके ग्रन्थों का अरबी भाषा मे अनुवाद हुआ था । उनके नाम है—बाज्बरा राजा मनका, दाहर, अनकू जनकल, अरीकल, जम्मद, अंदी और जवारी । इनमे मनका सालह और दहन का अरबी ग्रन्थो मे विशेष उल्लेख है ।

'तारीखुल अतिबा' मे लिखा है—मनका चिकित्सा-शास्त्र का अद्भुत पंडित था । जब हारूल रशीद बीमार पड़ा और बगदाद का कोई चिकित्सक उसे ठीक नही कर सका, तब मनका को भारत से बुलाया गया और उसकी चिकित्सा से खलीफा पूर्ण स्वस्थ हो गया । उपहार मे खलीफा ने भी इसे मालामाल कर दिया और अपने अनुवाद विभाग मे उच्चतम पद प्रदान किया । यह मनका नाम वास्तव मे 'माणिक्य' का अपभ्र श कर दिया गया । इसी प्रकार 'सालेह बिन बहला' का नाम भी अरब मे प्रसिद्ध है । बगदाद मे रहने वाले हिन्दू वैद्यो मे यह प्रमुख माना जाता था । खलीफा हारूल रशीद के भाई को जब अपस्मार रोग हो गया और यूनानी चिकित्सक जबरईल बखतीस ने उसे असाध्य घोषित कर दिया, तब बरमकी ने इसी वैद्य को उपस्थित किया और रोग ठीक हो गया ।

बगदाद मे बरमिकयो ने अपना अस्पताल खोला हुआ था । इब्न दहन इनका प्रधान था । जो लोग सस्कृ से अरबी मे अनुवाद किया करते थे, उन्हे यह परामर्श भी दिया करता था । प्रोफेसर 'जखाऊ' का अनुमान है कि इब्न दहन, धन्य या धनन शब्द का अपभ्र श है और धनन भी 'धन्वन्तरी' का बिगडा हुआ रूप है । उस समय सस्कृत भाषा से अरबी भाषा मे गणित, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, चिकित्सा, राजनीति, नीतिशास्त्र और खेल-तमाशो तक की किताबो का अनुवाद हुआ ।

गणित ग्रथों का अरबी अनुवाद—आधुनिक ऐतिहासिक शोध ने यह सिद्ध कर दिया है कि १ से ९ तक के अक भारत से अरब मे पहुँचे हैं। अरबी और फारसी भाषा मे इन्हे हिन्द-से कहते हैं । दोनो भाषाओ मे ये बाएँ से दाएँ की ओर लिखे जाते हैं। जो फारसी और अरबी की लेखन-शैली के विपरीत हैं । इब्न नदीव ने अपनी पुस्तक मे इनका उल्लेख सिन्धी अ को के नाम से किया है । जब ये अ क योरुप मे पहुँचे तो वहाँ इनको अरबी अ क कहने लगे । इससे पहिले अरब और ईरान मे सख्या लिखने की विधि दूसरी थी । इसको 'अबजद' कहते हैं । यह विधि सस्कृत कविता मे तथा हिन्दी कविता मे इस समय भी प्रचलित है और फारसी तथा उर्दू भाषाओ मे तारीख इसी विधि से बतलाई जाती है । जैसे सस्कृत मे १ से ९ तक की सख्या के लिये विशेष शब्द है उसी प्रकार अरबी और फारसी मे भी अक्षर विशेष सख्याओ के द्योतक हैं । उदाहरणार्थ 'अ' से १ और 'ब' से २ और 'ज' से ३ का बोध होता है । भारतीय अंक अरब मे पहुचे उससे पहिले अरब मे सख्या लिखने की यही विधि थी । यह अ को का ज्ञान बगदाद मे लगभग १४५ हिज्री मे पहुचा था । एक स्थान पर उल्लेख है कि खलीफा हारूल रशीद के समय मे एक हिन्दू विद्वान् कुछ पण्डितो को साथ लेकर खलीफा के दरबार मे गया और कुछ सिद्धान्त ग्रन्थ पेश किए । इन ग्रन्थो मे यत्र तत्र

श्रौर सालहा ।' इस लेखक ने उन पडितो के नाम भी दिये है, जिनके ग्रन्थो का अ
भाषा मे अनुवाद हुआ था । उनके नाम हैं—बारवरा राजा मनका, दाहर, अनकू उ
कल, अरीकल, जम्मद, अंदी और जवारी । इनमे मनका सालह और दहन का अ
ग्रन्थो मे विशेष उल्लेख है ।

'तारीखुल अतिबा' मे लिखा है-–मनका चिकित्सा-शास्त्र का अद्भुत पं
था । जब हारूल रशीद बीमार पडा और बगदाद का कोई चिकित्सक उसे ठीक
कर सका, तब मनका को भारत से बुलाया गया और उसकी चिकित्सा से खली
पूर्ण स्वस्थ हो गया । उपहार मे खलीफा ने भी इसे मालामाल कर दिया और अ
अनुवाद विभाग मे उच्चतम पद प्रदान किया । यह मनका नाम वास्तव मे 'माणि
का अपभ्रंश कर दिया गया । इसी प्रकार 'सालेह् बिन बहला' का नाम भी अरब
प्रसिद्ध है । बगदाद मे रहने वाले हिन्दू वैद्यो मे यह प्रमुख माना जाता था । खली
हारूल रशीद के भाई को जब अपस्मार रोग हो गया और यूनानी चिकित्सक जबर
बखतीस ने उसे असाध्य घोषित कर दिया, तब बरमकी ने इसी वैद्य को उपस्
किया और रोग ठीक हो गया ।

बगदाद मे बरमकियो ने अपना अस्पताल खोला हुआ था । इब्न दहन इस
प्रधान था । जो लोग सस्कृ से अरबी मे अनुवाद किया करते थे, उन्हे यह परामर्श
दिया करता था । प्रोफेसर 'ज़खाऊ' का अनुमान है कि इब्न दहन, धन्य या धनन्
का अपभ्रंश है और धनन भी 'धन्वन्तरी' का विगडा हुआ रूप है । उस समय सस
भाषा से अरबी भाषा मे गणित, ज्योतिष, फलित ज्योतिष, चिकित्सा, राजनीति, नी
शास्त्र और खेल-तमाशो तक की किताबो का अनुवाद हुआ ।

गणित ग्रथों का अरबी अनुवाद–आधुनिक ऐतिहासिक शोध ने यह सिद्ध कर वि
है कि १ से ९ तक के अक भारत से अरब मे पहुँचे हैं । अरबी और फारसी भाषा मे इ
हिन्द-से कहते हैं । दोनो भाषाओ मे ये बाएँ से दाएँ की ओर लिखे जाते हैं । जो फार
और अरबी की लेखन-शैली के विपरीत हैं । इब्न नदीम ने अपनी पुस्तक मे इनका उल्ले
सिन्धी अंको के नाम से किया है । जब ये अंक योरुप मे पहुँचे तो वहाँ इनको अर
अंक कहने लगे । इससे पहिले अरब और ईरान मे सख्या लिखने की विधि दूसरी थी
इसको 'अबजद' कहते हैं । यह विधि सस्कृत कविता मे तथा हिन्दी कविता मे

गणित का प्रयोग होता है। इसलिये अ को का प्रयोग अनिवार्य है। अतः ईस्वी १८५ के आस-पास मुस्लिम जगत मे भारत के अ को का ज्ञान प्रचलित हुआ होगा। इसके पश्चात् मूसा ख्वारिजमी ने इस ज्ञान को व्यवस्थित और विकसित किया। अहमदनगवो ने दसवी शताब्दी मे अरबी मे गणित के ग्रन्थ लिखे जिसमे उसने भारतीय अ क शैली का अनुसरण किया।

गणित और फलित ज्योतिष - अरबी मे वृहस्पति सिद्धान्त का अनुवाद हारूल रशीद के समय मे किया गया था। इस अनुवाद का नाम असिन्द हिन्द है। लगभग उसी समय आर्य भट्टीयम् का अरबी मे अनुवाद हुआ। इसका नाम अरूजवद है जो वास्तव मे आर्य भट्टीयम् का अरबी रूपान्तर है। खडन खाद्य के अरबी अनुवाद का नाम अरकन्द है। हारूल रशीद के शासन काल मे जो हिन्दू विद्वान् बगदाद पहुचा उसके दो प्रसिद्ध अरबी शिष्य थे। एक का नाम इब्राहीम फिजारी था और दूसरे का नाम याकूब बिन तारीक। इन दोनो ने भारतीय सिद्धान्तो का अच्छा अनुशीलन किया और फिर उसको ऐसा अरबी रूप दिया कि वह वही का ज्ञान प्रतीत होने लगा। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के विषय मे भी अरब लोगो ने भारतीय विचार अपनाए। भारतीय ज्योतिष का सिद्धान्त है कि नाडी वृत्त, क्रान्ति वृत्त, पूर्वापर वृत्त और क्षिति वृत्त इन चारो का जब सम्पात होता है तो एक विशेष सधि बन जाती है। इसी को गोल सधि कहते है। गोल सधि से सृष्टि का आरम्भ होता है और फिर कालान्तर मे जब पुनः गोल सधि होती है तो प्रलय होता है और प्रलय के पश्चात् फिर सृष्टि होती है। दो गोल सधियो के बीच के काल का नाम कल्प है। जिसका समय चार अरब और बत्तीस करोड वर्ष नियत किया गया है। अरब लोगो ने कल्प का अनुवाद किया है 'सनीउसिन्द हिन्द'। आर्य भट्ट ने कल्प को युगो और महायुगो मे विभक्त कर ज्योतिष के गणित को आसान बनाने का प्रयत्न किया है। नवीं शताब्दी मे अरब लोगो ने ज्योतिष विद्या मे अच्छी उन्नति की। बगदाद मे एक प्रसिद्ध वेधशाला का निर्माण हुआ। भारतीय और यूनानी ज्योतिष का इन लोगो ने तुलनात्मक अध्ययन किया। अनेक ग थो पर भाष्य लिखे, उनका सशोधन किया तथा उनकी मीमासा की। यह ज्ञान भारत की सीमा से स्पेन तक प्रचलित हुआ। हसन बिन सब्बाह हसन बिन खसिब और फजल बिन हातिब तबरे-जी इस विद्या के प्रकाड विद्वान् थे। उस समय इस विषय का जो भी ज्ञान उपलब्ध था उसका इन तीनो विद्वानो ने सूक्ष्म मनन और मथन किया तथा उसको और अधिक उन्नत बनाने का यत्न किया। अरबी भाषा मे भारतीय ज्योतिष के कई पारिभाषिक शब्द प्रचलित हुए। इनका अरबी भाषा मे अनुवाद नही किया जा सकता था, इसलिए इनका असली रूप मे व्यवहार किया गया, परन्तु फिर भी उच्चारण भेद के कारण इनका रूपान्तर हो गया। उदाहरणार्थ करदज (क्रमज्या), जेब (जावा), ओज (उच्च), उरैन (उज्जयिनी) आदि। अन्तिम शब्द अर्थात् उरैन का इतिहास बड़ा मनोरजक है। उज्जैन से भारतीय ज्योतिषी याम्योत्तर रेखा खीचा

करते थे याम्योत्तर रेखा उसको कहते है जो विश्वत रेखा को पार करती हुई उत्तर दक्षिण ध्रुव को पहुचती है और पृथ्वी को पूर्वी गोलार्द्ध और पश्चिमी गोलार्द्ध मे विभक्त करती है। अग्रेजी मे इसको 'जीरो मेरीडियन' कहते है। अग्रेज ज्योतिषी याम्योत्तर रेखा ग्रीनविच से चलती हुई मानते हैं। भारतीय ज्योतिषी वास्तव मे इस रेखा को स्वर्णद्वीप से चलती हुई मानते थे और स्वर्णद्वीप तथा उज्जैनी को एक सीध मे समझकर इस रेखा को उज्जैनी से चलती हुई मानने लगे। उज्जैनी का प्रचलित रूप आठवी और नवी शताब्दी मे उज्जैन हो गया था, जो अरबो मे उरैन रह गया। अरब लोगो को यह पता नही था कि उज्जैन किसी नगर का नाम है। वे लोग उज्जैन और याम्योत्तर रेखा को पर्यायवाची शब्द मानते थे, इसलिये अरबी भाषा मे उरैन का अर्थ याम्योत्तर रेखा हो गया। अरबी भाषा मे अधिमास के लिए भी कोई शब्द नही मिला, इसलिये इसी शब्द का व्यवहार किया गया, परन्तु इसका उच्चारण अरबी मे वजमास हुआ।

चिकित्सा शास्त्र—दसवी शताब्दी तक भारत का चिकित्सा ज्ञान ससार मे सर्वोच्च माना जाता था। भारत के साधारण वैद्य भी पश्चिमी एशिया मे कुशल समझे जाते थे। उस समय ईरान, ईराक, शाम और अरब देशो मे चिकित्सा ज्ञान नही के बराबर था। इसलिये भारत के कितने ही वैद्य इन देशो मे जाकर बस गये थे और अपना व्यवसाय करते थे। इनमे अधिकाश सिंध देश के निवासी जाट और मेड लोग थे। मोहम्मद साहब की पत्नी श्रीमती आयशा का इलाज करने वाला वैद्य सिंध देश का जाट था। जब बगदाद का प्रसिद्ध प्रतापी खलीफा हारूल रशीद बीमार हुआ तो चिकित्सा के लिये भारत से मनका नामक वैद्य बुलाया ही गया था। उस समय अर्थात् आठवी शताब्दी मे मुसलमानो का सम्पर्क और परिचय अरब और उसके आस-पास के देशो से ही था, इसलिये यह वैद्य सिंध या गुजरात का निवासी होगा और इसका शुद्ध नाम अनुमानत माणिक्य होगा। उस समय से चिकित्सा-शास्त्र के अच्छे-अच्छे ज्ञाता और विद्वान् बगदाद मे पहुँचने लगे। हारून रशीद भारत के वैद्य की चिकित्सा से स्वस्थ हुआ था। अतः वह भारतीय वैद्यो का आदर करने लगा। इसके अतिरिक्त बरामका वश के वजीर भारतीय विद्याओ का मुस्लिम देशो मे प्रचार करवाना चाहते ही थे, इस सयोग से भारतीय चिकित्सा पद्धति का बगदाद और उसके पास के प्रदेशो मे प्रचार होने लगा। बरामका वश के याहिया बिन खालिद ने चिकित्सा ग्रन्थो का सग्रह करने के लिये एक अरब विद्वान् को भारत मे भेजा। वह अनेक सद्ग्रन्थ बगदाद को ले गया और उसके साथ कुछ भारतीय वैद्य भी गये। ये लोग सम्भवत सिंध गुजरात या अन्य समुद्र तटीय प्रदेशो से गये होगे। बरामका खानदान का बगदाद मे एक अलग चिकित्सालय था। इसके अध्यक्ष पद पर याहिया बिन खालिद ने एक भारतीय वैद्य नियत किया था और सस्कृत भाषा के चिकित्सा ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद करने के वास्ते भारतीय तथा अरबी विद्वान गये थे। इस प्रकार भारत से वैद्यो का बगदाद मे आना-जाना बहुत समय तक जारी रहा। बगदाद के खलीफा मवफियक बिल्लाह अब्बासी

ने नवी शताब्दी मे एक अरबी वैद्य को भारत मे यहा की औषधियो का अध्ययन करने के लिये तथा कुछ अति गुणकारी औषधियो का सग्रह करने के लिये भेजा था। उसके पश्चात् इसी शताब्दी मे खलीफा मोतजिद बिल्लाह अब्बासी ने अहमद बिन सूफी दैलया को अध्ययन के निमित्त भारत मे भेजा। यह अरबी विद्वान् गणित और ज्योतिष का विशेषज्ञ था और नक्षत्रो की पारस्परिक दूरी का इसने अच्छा अध्ययन किया था।

चिकित्सा ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद—आयुर्वेद मे चरक और सुश्रुत अति प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते है। ये दोनो ग्रन्थ सम्पूर्ण आयुर्वेद के आधार है। इससे पहिले भी इस विषय के ग्रन्थ थे। परन्तु इनके महा प्रकाश मे वे सब लुप्त हो गये। सुश्रुत प्रधानत शल्य क्रिया का ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु इसमे रोग लक्षण, चिकित्सा विधि और औषधि-गुण का भी विवरण है। याहिया बिन खालिद बरमका की आज्ञा से माणिक्य वैद्य ने इसका अरबी मे अनुवाद किया था। इस अनुवाद मे कितने ही अरबी और भारतीय विद्वानो ने सहयोग दिया होगा। बरमकाओ के चिकित्सालय मे सुश्रुत-पद्धति से चिकित्सा और शल्यक्रिया भी की जाती थी। चरक का अनुवाद पहिले फारसी भाषा मे हुआ था। यह पता नही चलता कि यह किसकी प्रेरणा और पोषण से हुआ। वास्तव मे भारतीय चिकित्सा विधि की प्रसिद्धि पश्चिमी एशिया मे सर्वत्र फैली हुई थी। सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनानियो को भारतीय ज्ञान-भडार का पता लग गया था और भारत का इस पश्चिमीय भूभाग से सम्पर्क तथा सम्बन्ध स्थापित हो गया था। लोगो के आने-जाने तथा मिलने-जुलने से पश्चिमी एशिया भारत के महत्व से परिचित हो गया था। ईरान के हकीमो को पता लगा होगा कि भारतीय चिकित्सा-विधि के आधार सुश्रुत और चरक है। स्वभावत वे लोग इन ग्रन्थो को पढना चाहते होगे। इसलिये फारसी और सस्कृत के विद्वानो के पारस्परिक सहयोग से चरक का फारसी मे अनुवाद हुआ होगा। फेहरिस्त इब्न नदीम मे लिखा है कि अब्दुल्ला बिन अली नामक अरबी विद्वान् ने अरबी भाषा मे चरक का फारसी से अनुवाद किया। इन दोनो प्रसिद्ध ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य कई आयुर्वेदिक ग्रन्थो का उस समय अरबी भाषा मे अनुवाद किया गया था। परन्तु उनके नामो का इतना रूपान्तर कर दिया गया है कि मूल ग्रन्थो के नामो का अब पता नही लगता। इसके अतिरिक्त सस्कृत के असख्य ग्रन्थ राजनैतिक उथल-पुथल के युग मे नष्ट हो गये। उनके अनुवाद चाहे मिल जावे परन्तु मूल ग्रन्थो का पता नही चलता। इन ग्रन्थो मे कुछ ग्रन्थ यहाँ उल्लेख के योग्य है। एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का नाम अरबी मे सन्दहशाक या सन्धशान लिखा है। एक लेखक इसको सन्दस्ताक कहता है और दूसरा सन्धशान। दूसरे लेखक ने इसको सन्धस्तान भी लिखा है। सन्धस्तान प्रत्यक्षत सिद्धि स्थान का अरबी रूपान्तर है। इसका अर्थ एक लेखक ने खुलासा कामयाबी और दूसरे ने सूरत कामयाबी किया है। इस ग्रन्थ का अनुवादक इब्न दहन था जो बगदाद के चिकित्सालय मे प्रधान वैद्य था।

अन्य ग्रन्थो के अनुवाद—उपरोक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य अनेक आयुर्वेद विषयक सस्कृत ग्रन्थो का अनुवाद उस काल मे अरबी भाषा मे किया गया था। इनमे

एक निदान ग्रन्थ था । इसमे चार सौ चार रोगो के लक्षण वतलाये गये हैं । अरबी मे भी इसका नाम निदान ही है । इसका पूरा नाम नही दिया गया है । इसलिये पता नही चलता कि मूल ग्रन्थ कौन-सा है । इब्न नदीम ने लिखा है कि एक ऐसे ग्रन्थ का अरबी मे अनुवाद किया गया था जिसमे प्रत्येक औषधि के दस नाम दिये गये थे । यह अनुवाद माणिक्य वैद्य ने किया था और सुलेमान बिन इसहाक ने करवाया था । इससे प्रकट होता है कि मनका (माणिक्य) वैद्य ने बगदाद पहुचने के कुछ अर्से वाद ही अरवी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वह सस्कृत से अरवी भाषा मे अनुवाद करना सीख गया था । रूसा नामक एक हिन्दू वैद्य की लिखी हुई पुस्तक का भी अरबी मे अनुवाद किया गया था । इस पुस्तक का विषय था स्त्रियो के रोग और उनकी चिकित्सा । इस प्रकार गर्भवती चिकित्सा, विष चिकित्सा, पेयद्रव्यलक्षण, पशु चिकित्सा आदि विषयो के ग्रन्थो का भी अरबी मे अनुवाद किया गया था । काल के प्रवाह मे इनमे से अनेक ग्रन्थ बह गये और मूल ग्रन्थो मे से तो चरक और सुश्रुत के सिवाय किसी अन्य ग्रन्थ का अब पता नही लगता । परन्तु ये सब ग्रन्थ उस समय सिंध देश मे प्रचलित होगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । अरब देशो मे कई शताब्दियो तक हिन्दू विद्याओ का आदर रहा, परन्तु जब मुसलमानो मे तुर्कों के प्रभाव से धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता अधिक बढ गई तब यह प्रवाह रुक गया और मुस्लिम मस्तिष्को ने अन्य जातियो के ज्ञान को ग्रहण करना बन्द कर दिया ।

फलित ज्योतिष ग्रन्थो का अनुवाद—भारत मे ज्योतिष ज्ञान का उदय वैदिक काल मे ही होने लग गया था । चौथी-पाँचवी सदी मे यह अत्यन्त पुष्ट और प्रौढ बन चुका था, परन्तु उस समय तक अधिक जोर गणित ज्योतिष पर था, फलित ज्योतिष पर नही । इसके पश्चात् फलित ज्योतिष की ओर भारतीय पडित झुकने लगे और इस विषय पर कई ग्रन्थ लिखे गये । सिंध विजय के बाद पश्चिमी एशिया मे भी भारतीय फलित ज्योतिष की चर्चा होने लगी । बगदाद के दूसरे खलीफा मसूर का फलित ज्योतिष पर अत्यधिक विश्वास था । उसके कारण उसकी प्रजा मे भी इसकी बहुत चर्चा होने लगी । खलीफा मसूर ने जब बगदाद बसाया तो हर एक मकान, मार्ग और मोड की कुण्डली बनाई गई थी । आरम्भ मे ईरानी ज्योतिषियो का वहा प्रभुत्व था, फिर शनै-शनै भारतीय ज्योतिषियो का भी प्रभाव जमने लगा । तब फलित ज्योतिष के सस्कृत ग्रन्थो का अरवी भाषा मे अनुवाद होने लगा । इन ग्रन्थो के प्रणेताओ मे सर्वाधिक प्रसिद्ध कनका पडित था । यह वैद्य था और ज्योतिषी भी । इसका असली भारतीय नाम कनकराय पडित होगा, इसके लिखे हुए छ ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद किया गया था । कनका के अतिरिक्त तीन और हिन्दू ज्योतिषियो के नामो का पता चलता है जिनके ग्रन्थो का अरबी मे अनुवाद किया गया था । ये तीन नाम हैं—जौहर हिन्दी, नहक हिन्दी और सिंहल हिन्दी । उच्चारण भेद के कारण इन नामो के रूपान्तर हो गये हैं ।

अन्य विषय के ग्रन्थो का अनुवाद—अरब यात्री जाहिज ने भारतीय सगीत की प्रशसा की है और इकतारे का उल्लेख किया है, परन्तु अरबी भाषा मे सस्कृत के किसी सगीत ग्रन्थ का अनुवाद नही हुआ। सम्भव है कि तत्कालीन सिंध मे शास्त्रीय सगीत का प्रचार न हो। इसके अतिरिक्त मुसलमान धार्मिक दृष्टि से सगीत को वाछनीय नही समझते थे। शायद इसी कारण से किसी सगीत ग्रथ का अनुवाद नही किया गया हो। स्पेन निवासी एक मुस्लिम इतिहास लेखक काजी साइद अन्दलमी (१०७० ई०) ने लिखा है कि "भारतीय सगीत विद्या का एक ग्रंथ मुझे मिला है जिसमे रागो और स्वरो का वर्णन है, इस ग्रन्थ का नाम नाकर है।" नाकर, सस्कृत शब्द नही है, अत या तो यह सस्कृत शब्द का अरबी अनुवाद हो सकता है या फारसी अनुवाद। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय सगीत अरब लोगो को पसन्द था और इस विषय के ग्रथो से भी वे लोग अपरचित नही थे। एक फारसी ग्रथ का विषय है भारतीय इतिहास। इसमे महाभारत की अनेक कथायें दी हुई हैं। इस पुस्तक का नाम 'मुजम्मिल उत्तवारीख' है। इसकी भूमिका मे लिखा है कि इसका अनुवाद सस्कृत से अरबी मे हुआ था और सन् ४१७ हिजरी (१०३६) मे इसका अरबी से फारसी मे अनुवाद किया गया। युद्ध विद्या और राजनीतिक के दो सस्कृत ग्रथो का भी अरबी मे अनुवाद हुआ था। इनके नाम अरब लोगो ने शानाक और बाझर लिखे हैं। शानाक तो चाणक्य हो सकता है और बाझर शायद व्याघ्र नाम का कोई लेखक हो। इब्न नदीम ने लिखा है कि शानाक की पुस्तक मे युद्ध-व्यवस्था, सेना-प्रबन्ध और राजकर्मचारियो की नियुक्ति का विवेचन है। व्याघ्र के ग्रन्थ मे शस्त्र परिचय और शस्त्रो के गुण तथा लक्षण का वर्णन है। इसी विषय के एक दूसरे सस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद अबुलहसन बिन अली जिबल्ली ने सन् १०३६ ई० मे अरबी भाषा मे किया था। इसका अरबी नाम अदबुल मुल्क है। सस्कृत नाम का पता नही चलता, परन्तु अदबुल मुल्क का अर्थ है राज्य पद्धति। तर्कशास्त्र विषयक एक दो सस्कृत पुस्तको का भी अरबी मे अनुवाद किया गया था। जाहिज ने अपनी पुस्तक किताबुलबयान वत्तबईन मे एक सस्कृत निबन्ध का सक्षेप दिया है जिसमे यह बतलाया गया है कि वक्ता के क्या गुण होने चाहिये और अवसरानुकूल कैसे बात करनी चाहिये।

कथा-कहानियों का अनुवाद—सस्कृत की कई कथाओ का अरबी मे उस समय अनुवाद किया गया था परन्तु उनके असली नामो का अब पता नही चलता। इनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध पुस्तक है कलेला दमना। यह पचतन्त्र का रूपान्तर हैं। करकट और दमनक अरबी मे कलेला और दमना हो गये हैं। ग्यारहवी शताब्दी तक यह पुस्तक पश्चिमी एशिया तथा उत्तर अफ्रीका मे बहुत पढी जाती थी और इसकी कहानिया बहुत प्रचलित हो गई थी। इसके फारसी और अरबी भाषाओ मे कई अनुवाद हुए। फारसी से अरबी मे और अरबी से फारसी मे भी इसके कई रूपान्तर हुए। ईरान, बगदाद, दमसकस और मिस्र के दरबार मे इसका बडा आदर था। अनुवाद और रूपान्तर करने वालो ने खलीफाओ से और दूसरे अमीरों से खूब पुरस्कार प्राप्त किये थे।

नवी शताब्दी के प्रारम्भ मे इसका अरबी भाषा मे एक कवि ने पद्यात्मक रूपान्तर किया और खलीफा हारू रशीद के प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजमन्त्री जाफर बरामकी को भेट किया । विद्याप्रेमी राजमन्त्री ने इस ग्रन्थ पर मुग्ध होकर कवि को एक लाख दरहम का पुरस्कार दिया । ग्यारहवी शताब्दी के पश्चात् यूरोप की प्राय समस्त भाषाओ मे पचतन्त्र की कहानिया लिखी गई । ये कहानिया अरबी के द्वारा ही यूरोप मे पहुची थी । इस समय पचतन्त्र के अनुवाद ससार की समस्त भाषाओ मे हो चुके हैं ।

चौसर और शतरज के खेल—ये दोनो खेल भारतीय हैं । सिंध विजय के पश्चात् मुस्लिम देशो मे इनका प्रचार हुआ और वहा ये इतने लोकप्रिय हुए कि घर-घर मे ये खेले जाने लगे । अरबी विद्वान् याकूबी ने इनका अच्छा विवेचन किया है । उसका कथन है कि इन दोनो खेलो की रचना गणित और ज्योतिष के सूक्ष्म सिद्धान्तो पर की गई है । उसके मतानुसार चौसर मे आकाश की राशियो, वर्ष के ३६० दिनो और होरा के २४ घण्टो तथा रात और दिन के १२-१२ घण्टो का चित्र है । इसी प्रकार शतरज के घरो का निर्माण ६४ घडी, ३२ पल आदि पर किया गया है । याकूबी ने यह भी लिखा है कि इन खेलो का गणित और ज्योतिष आधार तो स्पष्ट और प्रत्यक्ष ही है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इनके मूल मे एक गहरा दार्शनिक तत्व निहित है । चौसर का खेल यह बतलाता है कि मनुष्य के हाथ मे कुछ नही है । उसका सम्पूर्ण जीवन भाग्य के वश मे है । जैसा पासा पड जावे वही उसके जीवन की गति है । कोई अदृष्ट शक्ति प्राणियो से खेल खेला करती है । उसकी लीला के अनुसार हम लोग इधर-उधर फुदकते हैं, उठते हैं, पडते हैं, जीते हैं और मरते हैं । सस्कृत के एक कवि ने ठीक यही भाव प्रकट किया है कि काल अपनी सहचरी के साथ इस सृष्टि के तख्ते पर प्राणियो की गोटो से चौसर का खेल खेल रहा है । शतरज का खेल दूसरे गूढ तत्व का प्रतिपादक है । मनुष्य अपने बुद्धि-बल और पुरुषार्थ से जीवन मे सफलता प्राप्त कर सकता है । शतरज के खेल मे एक मोहरे को चलाने से पहिले उसको इधर-उधर के पक्षो पर विचार करना पडता है और यदि चाल विचार कर चलता है तो जीतता है, अन्यथा नही । यही दशा हमारे जीवन की है । जीवन वास्तव मे बुद्धि का खेल है जिसमे बुद्धि और विवेक नही, उसका शारीरिक या सैनिक बल भी किसी काम का नही है । सस्कृत के एक कवि ने भी यही विचार प्रकट किया है । वह कहता है कि जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है । निर्बुद्धि मनुष्य के पास बल कहा से आ सकता है ?

अरब राज्य मे धार्मिक स्थिति—सिन्ध मे अरबो का राज्य स्थापित होने पर वहाँ की धार्मिक स्थिति मे घोर परिवर्तन हो गया । अब मुसलमान शासक बन गये और हिन्दू लोग उनकी रिआया हो गये । हिन्दुओ का धर्म शासितो का धर्म माना जाने लगा । शासको की दृष्टि मे वह हेय था, उसका वे लोग आदर नही कर सकते थे । मुसलमान केवल अपने धर्म को ही सच्चा मार्ग मानते थे और जिस प्रकार हो सके उसका प्रचार करना उनके शासन का लक्ष्य था । मुसलमान ससार के मनुष्यो को चार वर्गो मे विभक्त

करते है। मुसलमान, अहले किताब, अहले किताब मुशाबह, और कुफ्फार। कुरान को मानने वाले, खुदा पर ईमान लाने वाले और मोहम्मद को खुदा का रसूल या पैगम्बर अर्थात् भगवान् से मनुष्य जाति के लिये संदेश लाने वाला मानने वाले मुसलमान माने जाते थे। मुस्लिम राज्य मे मुसलमान ही स्वतन्त्र नागरिक माने जाते थे। इन्ही को सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे और राज्य मे इन्ही का मान और आदर था। अहले किताब वे लोग माने जाते है जिनके धर्म ग्रन्थ का कुरान मे उल्लेख आया हो। ईसाइयो की गणना अहले किताब मे होती है, क्योकि कुरान मे बाइबिल का जिक्र आया है। अहले किताब लोग मुसलमान राज्य मे दूसरी श्रेणी के नागरिक होते हैं। अहले किताब मुशाबह उन लोगो को माना जाता है जो ईश्वर की सत्ता को तो स्वीकार करते है परन्तु उनके धर्म का या धर्म ग्रन्थो का कुरान मे उल्लेख नही किया गया है। ये लोग मुस्लिम राज्य मे तीसरी श्रेणी के नागरिक समझे जाते हैं। कुफ्फार (काफिर का बहुवचन) उन लोगो को कहा जाता है जो ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास नही करते। इन लोगो को मुसलमान जगली मानते है और उनको नष्ट करना या मुसलमान बनाना बडा पवित्र कर्म समझते हैं। अन्तिम तीनो वर्गो के लोगो को मुसलमान ज़िम्मी या खिराजगुजार कहते है। यदि वे मुसलमान राज्य मे निवास करते है तो इस्लाम के कानून के अनुसार या तो वे लोग जज़िया दे या मुसलमान धर्म स्वीकार करे। जज़िया कर के रूप मे सम्पन्न लोगो से ४८ दिरम, साधारण लोगो से २४ दिरम और गरीबो से १२ दिरम प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति लिये जाते थे। एक दिरम आजकल के साढे तीन आने के बराबर होता है। स्त्रिया, बच्चे, वृद्ध, राजकर्मचारी, अस्वस्थ और पुजारी इस कर से मुक्त माने जाते थे। जज़िया के देने के बाद तीनो वर्गो के लोगो को मुसलमानो के समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। उनके जन, धन और धर्म की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य बन जाता था।

अरब शासको का हिन्दुओ के साथ व्यवहार— अरब पर अपना अधिकार स्थापित होते ही मोहम्मद बिन कासिम ने सिंध मे मुसलमान कानून जारी कर दिया था। उसने हिन्दुओ पर जजिया कर लगाया, परन्तु उनके देवालयो को नष्ट नही किया। कानूनी तौर से भी हिन्दुओ को कोई विशेष कष्ट नही दिया गया। उस समय बेल और मुल्तान मे बडे प्रसिद्ध मन्दिर थे जिनकी प्रतिमाओ के दर्शनार्थ दूर-दूर से हिन्दू यात्री आया करते थे। यह दोनो प्रसिद्ध मन्दिर अरबो का राज्य स्थापित होने पर भी पूर्ववत् बने रहे और जब तक अरबो का राज्य रहा, ये नष्ट नही हुए। अरब लोगो ने मन्दिरो के पास अपनी मस्जिदे बनवा दी और उनमे वे लोग नमाज गुजारने लगे, परन्तु मन्दिरो की पूजा बन्द नही की गई। शासन शक्ति मुसलमनो के हाथ मे थी। इसलिये शख, घटा और नौबत आदि या तो बन्द कर दी गई होगी या नमाज और अजान का समय टाल कर शख आदि बजाये जाते होगे। हिन्दू लोग स्वभावत सहिष्णु होते हैं और ईश्वर के विभिन्न स्वरूपो को स्वीकार करते हैं। अत मुसलमानो का एकेश्वरवाद तो उनके सिद्धान्त के प्रतिकूल था ही नही। उनको यदि उज्र हो सकता

था तो केवल इस बात पर कि मोहम्मद साहब खुदा के रसूल थे और कुरान के सिवाय अन्य किसी ग्रन्थ मे सत्य सिद्धान्त नही हैं । इन सूक्ष्मताओ मे भी साधारण हिन्दू प्रवेश नही कर सकता था । आरम्भ मे अरबो के आक्रमण से तथा रक्तपात और हत्याओ तथा अत्याचारो से हिन्दू जनता को घोर आघात हुआ होगा, परन्तु यह कहाँ तक टिकता ? हिन्दू शनै-शनै विपत्तियो का सहना सीख गये और मुस्लिम धर्म का आदर करने लगे । उधर राज्य स्थापित होने पर मुसलमानो के भी सामूहिक अत्याचार कम हो गये । हिन्दुओ का उत्पीडन विशेषत जजिया कर तक ही सीमित हो गया । इसका परिणाम यह हुआ कि दोनो जातियो की पारस्परिक घृणा कम हो गई । दसवी शताब्दी मे जब अरबो का राज्य नष्ट होने लगा और सिंध के एक भाग पर हिन्दुओ का शासन पुन स्थापित हो गया, तो वहाँ के अरबो को चिन्ता हुई कि उनकी क्या गति होगी । उस समय हिन्दू राजा ने उनको आश्वासन दिया और अपने राज्य मे उनको सुख से रखा । मुसलमानो की भाँति उसने उन पर कोई धर्म कर नही लगाया । उनकी मस्जिदें पूर्ववत् बना रही और नमाज तथा अजान भी पहिले की भाँति होती रही ।

चीन देश की सभ्यता और उसका विकास

वर्तमान चीनी सभ्यता का विकास कई रक्तो के सम्मिश्रण से हुआ है जिनमे हूण और उनकी शाखाए मगोल आदि तथा कोरियन और तुर्क रक्त का भी सम्मिश्रण है। परन्तु विश्व के प्राचीन राज्यो मे चीनी सभ्यता भी भारतीय सभ्यता की ही भाति प्राचीन है। कालान्तर मे इस सभ्यता ने बडे-बडे विचारको और दार्शनिको और वैज्ञानिको को जन्म दिया है, जिससे इस सभ्यता की उत्पत्ति और विकास मे बहुत अधिक सहायता मिली है।

चीन के सस्थापक—चीनी सभ्यता के सस्थापक कौन लोग थे, यह अभी तक भी शोध का विषय है, किन्तु पेकिंग के निकट जो मानव खोपडी मिली है, उससे यह प्रमाणित होता है कि यहा पर आदि काल से ही मनुष्य का निवास था। इस खोपडी के अतिरिक्त मचूरिया और होनान मे चीन के प्रस्तर-काल की सस्कृति के वैसे ही चिन्ह पाये गये हैं, जैसे भारत, मिस्र और सुमेर के कुछ भागो मे पाये गये थे। अतः पत्थर-काल के इन कृषि के औजारो को देखकर, यह अनुमान होता है कि चीनी सभ्यता सम्भवत ७ हजार वर्ष प्राचीन है। बल्कि एण्ड्रूज साहब का तो यह भी मत है कि पुरातन मानवो की बस्तिया ईसा से २० हजार वर्ष पूर्व ही मगोलिया मे भी आबाद थी। इसके विपरीत इस राज्य की प्राचीनता और सुसस्कृति को स्वीकार करते हुए भी, इतिहासकार वालेयर ने, इस सभ्यता को ४ हजार वर्ष प्राचीन स्वीकार किया है। परन्तु वह यह मानते है कि इस अवधि मे राज्य का ढाचा व्यवस्थित रूप से रहा। इनके साथ ही इतिहासकार कैसरलिंग चीनी सभ्यता को विश्व सस्कृति मे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। इनका कथन है कि इस सभ्यता के सस्थापक कभी रूढीवादी नही रहे। इसीलिए धार्मिक खून-खराबियो से चीनी सभ्यता सदा मुक्त रही। अपनी कुछ इन्ही विशेषताओ के कारण चीनी लोग दूसरे देश के नागरिको को 'असभ्य' समझते रहे और यही भावना उनके अन्दर अब तक भी ज्यो-की त्यो विद्यमान है।

भौगोलिक सीमा—यह देश प्रशान्त महासागर के द्वारा पूर्व की ओर से घिरा हुआ है। इसके एक ओर भारत का हिमालय पर्वत है और दूसरी ओर मध्यएशिया का रेगिस्तान है। इसी कारण केवल हूणो और तुर्क खानो के आक्रमणो के अतिरिक्त प्राचीन काल मे दूसरी आक्रमणकारी जातिया वहा नही पहुँची। इसी कारण चीनी लोग इसे

ती एन हुआ अर्थात् स्वर्गीय भूमि, **चु ग कुओ** मध्यवर्ती राज्य, **चु ग हवा कुओ** मध्यवर्ती फूलो का राजा तथा **चु ग-हुवा मीन कुओ** मध्यवर्ती फूलो वाला जनता का राज्य आदि नामो से पुकारते हैं । अन्य प्राचीन सभ्यताओ की भांति चीनी सभ्यता भी **हो वांग हो** तथा **यांग-टिसी-क्यांग** नामक नदियो के किनारे ही फली-फूली है । इनमे हो वांग हो, नदी चीन के उत्तर मे और यांग टि-सी क्यांग दक्षिण मे बहती है । हुवांग नदी को बाढो के कारण चीन का दुःख (Sorrow of China) भी कहा जाता है । अत्यन्त अनुसंधान के पश्चात् इस सभ्यता का काल ई० पू० ५ हजार वर्ष तक पहुच जाता है ।

चीन का दैव काल और उसके शासक-चीन का दैव-काल (पौराणिक काल) बडा अद्भुत् है । चीनी दंतकथाओं के अनुसार इस काल के प्रथम शासक ने १८ हजार वर्ष के सतत परिश्रम के उपरान्त, संसार का निर्माण किया था । सृष्टि की उत्पत्ति उसके सास लेने से ही हुई थी । चीन का पौराणिक काल बहुत लम्बा चलता है । इस काल के आदि पुरुष द् आन् गू, के बाद तीन और दैव-सम्राट् माने जाते हैं । इन सम्राटो को स्वर्गीय-सम्राट भी कहा जाता है और इनका कार्यकाल ८१६०० वर्ष बताया जाता है । परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल नितान्त कपोलकल्पित है । ऐतिहासिक दृष्टि से चीन की सभ्यता का प्रारम्भ पीत नदी से हुआ और इसी नदी के किनारे बसे हुए **होनान** और **शातु ग** प्राचीन चीनी स्थल माने जाते हैं ।

चीन के दैवी-सम्राट्—ऐतिहासिक दृष्टि से चीन के सम्राटो का दैवी-काल स्वर्गीय सम्राट् फू-सी से २८५२ ई० पू० प्रारम्भ होता है और इस वंश के अंतिम सम्राट शून (२२०५ ई० पू०)—पर समाप्त हो जाता है ।

फू-सी (२८५२ ई० पू० से २७३७ ई० पू० तक)—इस स्वर्गीय सम्राट् ने अपनी सम्राज्ञी के सहयोग से चीनी जनता के विवाह आदि के नियम बनाये, पढने-लिखने की व्यवस्था की और पशु-पालन तथा रेशम बनाना सिखाया । इस प्रकार यह व्यक्ति ही चीनी सभ्यता का आदि स्तंभ माना जाता है ।

शेन-नु ग (२७३७ ई० पू० से २६९७ ई० पू० तक)—इस व्यक्ति के शासन-काल मे कृषि कार्य की उन्नति हुई और लोगो ने लकडी का हल (wooden Plough) बनाना सीख लिया । इसके अतिरिक्त औजार बनाये गये और जिन्सो के लिये बाजार भी बनाये गये । इस प्रकार इस सम्राट् ने चीनी सभ्यता की जडें और मजबूत की ।

हुआग ती (२६९७ ई० पू० से २५९७ ई० पू० तक)-यह शासक अत्यन्त पराक्रमी था । इसने चीनी जनता को चुम्बक लोहे और पहिये का प्रयोग करना सिखलाया और अपने दरबार मे राजकीय विद्वानो की नियुक्ति की । इसने ईंटो के कई मकान बनवाये और ग्रह नक्षत्रो (Planets and Stars) आदि के लिये ज्योतिष शालाओ का निर्माण कराया । जमीनो का बटवारा कराया, कृषि तथा कर-व्यवस्था मे काफी सुधार किया । इसने १०० वर्ष राज्य किया ।

याओ (२५९७ ई० पू० से २४९७ ई० पू० तक)—यह शासक इस वंश का अत्यन्त प्रभावशाली और महान् शासक माना जाता है । इसके शासन की प्रशंसा चीनी

दार्शनिक कनफ्यूशियस ने भी की है । जनता की फरियाद स्वयं सुनने के लिये इसने अपने महल के बाहर एक ढोल रखा हुआ था । इसके अतिरिक्त महल के बाहर एक तख्त भी रखा रहता था, जिस पर फरियादी अपनी शिकायतें लिखा करते थे । यह व्यक्ति साधारण ढग से रहता था । साधारण कपड़े पहनता था । लकड़ी की चम्मच से खाता था और अपने सफेद घोड़े जुते हुये लाल रथ की सवारी करता था । जाड़े मे यह हिरन की खाल ओढता था । इस व्यक्ति का चरित्र-चित्रण महाराज जनक से किया जा सकता है । १०० वर्ष तक शासन करने के उपरान्त ११६ वर्ष की आयु मे यह परलोक सिधारा ।

इसके पश्चात् इस वश के शासको का इतिहास अस्पष्ट है और प्रकाश मे इस वश के शून व्यक्ति का नाम आता है ।

शून (२२५५ ई० ई० पू० से २२०५ ई० पू० तक)—देव-काल के इस अंतिम सम्राट् ने अपने यू नामक इजीनियर की सहायता से हो वाग हो नदी की बाढ को नियन्त्रित किया । नाप-तोल के बाट मे सुधार किये । इसके शासक ने शिक्षा-व्यवस्था मे भी सुधार किया । इससे पहिले चीनी शिक्षक लम्बे-लम्बे बेंतो से बच्चो को पीटते थे । इसने उनकी लम्बाई को छोटा कराया । इसने अनुभव किया था कि पीटकर बच्चे को पढाने से उसकी बौद्धिक शक्ति का ह्रास होता है । अपने अन्तिम समय मे सम्राट् ने अपने इजीनियर यू को भी अपने सिंहासन के पास ही बिठाना शुरू कर दिया था । कलाकार को मान देने का राज्य दरबार मे उस समय यह प्रथम उदाहरण था । शून के साथ ही देव-सम्राटो का काल समाप्त हो गया और शिआई-राजवश का काल प्रारम्भ हुआ ।

शिआई-राजवंश—इस वश का सस्थापक देव- सम्राट् शून का इजीनियर वही यू नामक व्यक्ति जा, जिसे सम्राट् सबसे अधिक आदर देता था । इसने अपने राजवंश का नाम (Hsia) यानी सभ्य (Civilised) रखा ।

इस वश ने चीन मे २२०५ ई० पू० से ११२३ ई० पू० तक राज्य किया । इस वश मे कुल १७ सम्राट् हुए । इन सम्राटो के शासन-काल मे एक नयी बात यह हुई कि शराब का प्रचलन हो गया । स्वय सम्राट् 'यू' को एक व्यक्ति ने शराब पेश की थी । सम्राट् ने एक घूट पीने के बाद, उसे जमीन पर पटकते हुए कहा था—एक दिन ऐसा आयेगा, जब इस नशे के लिये राज्य छोडना पड़ेगा ।" अतः उसने इसके आविष्कारक को देश के बाहर निकाल दिया था । इस वश का सत्रहवा सम्राट् विलासी व्यक्ति जो-अरवे था । अतः तांग नामक व्यक्ति ने, इसे गद्दी से उतारकर, शांग राजवश की बुनियाद डाल दी । होनान प्रान्त मे इस राजवश की राजधानी थी । वही से इस राजवश के कई लेख खुदाई मे मिले हैं । वहाँ खुदाई से हाथी दांत तथा अन्य औजार भी मिले हैं । उस समय भी भाषा के नाम पर चीनियो ने साकेतिक लिपि अपनाई हुई थी । शान-युग के बारे में अन्य राज्य-चिन्ह भी ऐसी ही साकेतिक-लिपि में समझाये गये हैं । इसके अतिरिक्त खुदाई से धातुओ के ऐसे बर्तन भी मिले हैं । जो डॉलक-

बनाये गये हैं। बहुत-सी ऐसी चीजें कई धातुओ के सम्मिश्रण से भी बनी हुई मिली हैं।

खुदाई से अन्य चीजें जो प्राप्त हुई हैं, वह हैं धार्मिक-कृत्यो मे काम आने वाले वर्तन, पशुओ की बलि करने के औजार तथा दैनिक व्यवहार के वर्तन आदि।

अन्याग नगर की खुदाई मे शासन से सम्बन्धित राज्य कर्मचारियो की सूची, सगमरमर और हाथी-दाँत की मूर्तियां, चीनी मिट्टी के वर्तन, नीलम और मोती मे जडी हुई हड्डिया, धातु की छोटी-छोटी मूर्तिया, युद्ध के काम मे आने वाले फर्से, रथ के पुर्जे, घोडो की जीनें तथा सन्दूक आदि जैसी चीजें उस काल की कब्रो से खुदाई मे मिली हैं।

चीन के इस नये राजवश—**शि-आ** का पूरा इतिहास तो नहीं मिलता, परन्तु किवदन्तियो के अनुसार यह बताया जाता है, इस वश मे लगभग ३० शासक हुए और इस वश का पहला शासक **ताग** नामक व्यक्ति था, जिसने **शांग** नाम रखकर राज्य किया।

शांग-काल की रूपरेखा—शांग के समय चीन भी छोटे-छोटे गणराज्यो मे बटा हुआ था। अत शाग ने १८०० छोटे-छोटे राज्यो को समाप्त कर, अपने राज्य मे मिला लिया। अत. इस राज्य की सीमा **होनान हुपे** से लेकर, पूर्वी सागर के तट तक फैल गयी। जिसमे कोरिया का भी कुछ भाग शामिल था। इस राज्य की राजधानी के वास्तविक नाम का अभी पता नही लग सका, परन्तु अनुमान है कि ईसा से १४०० वर्ष पूर्व इस राजवश के किसी राजा की राजधानी **अन्यांग** के आसपास अवश्य थी; क्योकि खुदाई से वहा उपरोक्त वस्तुओ का पाया जाना, इस वात का प्रमाण है। अनुमानत इस राजवश ने ईसा से ११२२ वर्ष पूर्व तक, लगभग ६०० वर्ष राज्य किया। इसके सस्थापक शाग ने कुल चार वर्ष (११९८ से ११९४ ई० पू०) तक ही राज्य किया था। विजली गिरने से उसकी मृत्यु हो गयी थी। इस वश का अंतिम सम्राट् **चाउ-शीन** था। जिसने ११२२ ई० पू० तक राज्य किया था और इसके अंतिम समय मे विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे। यह विद्रोह **जो-वश** के सरदारो ने प्रारम्भ किया और राजा सहित महल को फूंक दिया। चीन के यह आक्रमणकारी लोग तुर्क जाति की ही एक शाखा थे और वहीं से किसी जाति ने इन्हे भगाया था। चीन मे इन्होने **शांग** राज्य के समय मे ही एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया हुआ था। यह लोग कांसे के हथियारो का प्रयोग करते थे और रथो मे बैठकर लडते थे। तुर्की से भागकर, जब यह चीन आये और अपना नगर राज्य स्थापित करके रहने लगे, तब तुर्की सभ्यता को भूलकर, चीनी सभ्यता के ही रग मे रंग गये। शाग राजवश की समाप्ति करने के लिये इन्होने पहिले वहाँ के किसानो से विद्रोह कराया और जब शांग राजा विद्रोहियों को दवाने के उपायो मे लगा हुआ था, तभी इन्होंने उसकी राजधानी पर आक्रमण कर दिया और शाग राजवश का अन्त करके अपना राज्य स्थापित कर दिया। शाग राज्यवश के साथ ही इन्होने ५० छोटे-छोटे नगर राज्यो को और समाप्त कर दिया। इन लोगो का राजा **वेंग-वांग** और उसका पुत्र वू जहा अच्छे योद्धा थे, वहा कुशल राजनीतिक भी थे। अत इन्होंने अपने राज्य की स्थिति दृढ करने के लिये सामन्तवादी-पद्धति की रचना

की। शाग-काल मे पिता की सम्पति का उत्तराधिकारी छोटा भाई होता था और यही नियम इस राजवश मे भी चलता रहा, लेकिन **वू** ने इस प्रथा का अन्त करके, पिता की सम्पत्ति का उत्ताराधिकारी उसके पुत्र को माना। चीन मे वू द्वारा परिवर्तित यह पद्धिति लगातार १९११ ई० तक चलती रही। अतः **वू वाग** के मरने पर उसके पुत्र **चु ग-वाग** को गद्दी पर बिठाया, परन्तु राज्य के सचालन का भार वू-वाग के छोटे भाई **जो कु ग** के ऊपर रहा। यह व्यक्ति चीन के तीन बडे विद्वानो मे से एक माना जाता है। इसने अपने पिता द्वारा लिखी हुई, चीन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ई-जिग' का सुधार किया और साथ ही चीन मे भूमि की नयी व्यवस्था की।

जाति सम्बन्धी दूसरी धारणा—इतिहासकार विलडूराट ने, इन आक्रमणकारियो को **चाऊ प्रान्त** के रहने वाले बताया है और इन्हे **चाऊ वश** के सस्थापक कहा है। इन्होने **शी आ** राजवश को समाप्त कर बडी-बडी जागीरें अपने सरदारो मे बाट दी थी और सामन्तवाद का प्रारम्भ करा दिया था। इसलिये ११२२ ई० पू० से २७५ ई० पू० तक चीन मे सामन्तो का राज्य रहा। जिनमे चाऊ-राजवश प्रमुख था। इस वश ने अपने दो बड़े-बडे राज्य स्थापित कर लिये थे। एक पश्चिमी चाऊ राजवश (१ हजार ई० पू० से ९५० ई० पू० तक), एव पूर्वी राजवश (७७७ ई० पू० से २५५ ई० पू० तक), जिनकी राजधानी क्रमशः **हाओ** (Hao) जो 'वी' घाटी मे थी और दूसरी **लोयांग** (Loyang) थी। अन्य सामन्ती राज्यो की सख्या १७०० थी। यह रियासतें नगर-राज्य की भाति थी। यह राजधानिया मजबूत चहारदीवारी से घिरी हुई थी। इस समय पडोस की असभ्य जातियो के चीन पर बराबर आक्रमण होते रहते थे। क्रमश इन सामन्ती राज्यो की सख्या घटकर ५५ हो गयी। इनमे सबसे बडा चीन राज्य था। इस राज्य के सामान्त ने सभी राज्यो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया और उसी के नाम पर इस देश का नाम **चीन देश** पडा।

चीन के प्रसिद्ध **हान** राजवश का अन्त, इसी वश के सम्राट् मिग के साथ हो गया। सम्राट् का अन्त हुआ और चीन मे बौद्धधर्म का उदय हुआ।

हान राजवश के बाद ९ ई० पू० मे वाग-माग नामक व्यक्ति ने शिना वंश को नीव डाली परन्तु यह ज्यादा दिन तक नही चल सका और उसे त्सौ त्सौ नामक व्यक्ति ने कैद करके 'वे' राजवश की स्थापना शुरू करदी। राजा 'वेंग वाग' की ५वीं पीढी मे 'जो वाग' नामक राजा हुआ और उसका उत्तराधिकारी यू नाम से गद्दी पर बैठा। यही चीन का पहला राजा था जिसने भारत और ईरान की यात्रा की थी।

यू के बाद राजाओ की शृखला मे लीवाग नामक एक कठोर आदत का राजा हुआ इसलिये इसके शासन मे विद्रोह हुआ और राजा को भागना पडा।

तेरहवी पीढी मे य नामक एक व्यक्ति गद्दी पर बैठा और इसी ने इस राजवश का अन्त कर दिया। यह अपनी हठी रानी का गुलाम था। हूणो ने इस पर आक्रमण किया। राजा मारा गया। रानी पकडी गई।

ईसा पूर्व ७७० ई० मे इस जर्जरित राज्य के अवशेषो पर यू का पुत्र निगवाग राजा हुआ जो हूणो के आक्रमणो से डरकर अपनी राजधानी लोयाग ले गया।

इसके राज्य पर हूणो ने तो आक्रमण नही किया, परन्तु सामन्तो ने विद्रोह कर दिया। इसकी मृत्यु बहुत बडी कगाली की अवस्था मे हुई। मरने के समय राजकोष मे अन्तिम सस्कार के लिये भी पैसा नही था। इसीलिये इसके मरने पर १०० वर्ष तक लगातार अराजकता चलती रही और राज्य मे छोटे-छोटे राजा स्वाधीन हो गये।

इन छोटे-छोटे राज्यो मे ची, सुग, जिन, चिन और यू शक्तिशाली थे। ४५६ ई० पू० चीन के छोटे-छोटे चौदह राज्यो ने हूणो से अपनी रक्षा के लिये एक सयुक्त सगठन बनाया और इसका प्रधान कार्यालय सुग राज्य की राजधानी मे रखा। अभी इस संगठन को बने कुछ ही दिन हुए थे कि चीन के चार राज्यो मे आपसी युद्ध आरभ हो गया और चीन के राजाओ का यह सुरक्षा गुट टूट गया।

४५६ से ३३३ ई० पू० तक चीन मे छोटे-छोटे राज्य किसी तरह आपस मे लडते-झगडते चलते रहे। इन राज्यो मे चार बडे राज्य थे, जिनमे चिन राज्य सबसे बडा और शक्तिशाली था। अवशिष्ट तीनो राज्य उसके शत्रु थे। इसी शत्रुता को दूर करने के लिये चिन के राजा सुचिन ने एक राज-सघ की स्थापना की, परन्तु ३१७ ई० पू० उसकी हत्या करदी गई। इस चिन राजवंश ने जो राजा वश के एक बडे भाग पर अधिकार किया हुआ था और यही कारण इसके शत्रुओ के बढने तथा हत्या का था।

जो राजवश के बाद चीनी सम्राट् बनने से लोग डरने भी लगे थे और इस उपाधि को जीवन के लिये अशुभ मानते थे। भूत-प्रेतो और पित्रो के प्रकोप को शात करने के लिये चिन वश के राजा ने बहुत-सी बलिया देकर अपने को सम्राट् घोषित किया परन्तु घोषणा से पहिले ही मर गया। बाद मे इसका लडका सम्राट् बना वह तीन दिन बाद मर गया।

लडके के मरने के बाद उसका लडका अर्थात् राजा का पौत्र ज्वाग शी आग याग नाम मे गद्दी पर बैठा। इसे अपने महल के आगे सोने को मुहरो की झालरें लटकवाने का बडा शौक था। इसको मुहरो का शौक था अथवा बहुत-सा समय ऐसे ही कामो मे लगाया करता था।

इसकी रानी का प्रेम राजा के मत्री से था और मत्री से ही रानी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब ज्वाग शी-आग को इस रहस्य का पता चला, तो उसने मत्री को राज्य से निकाल दिया, परन्तु लडके को गोद लेकर राजकुमार बना लिया।

१३ वर्ष की आयु मे यह कुमार चीन का सम्राट् बना और यही चीन के प्रथम सम्राट् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी के शासन काल मे चिन राज्य चीन राज्य के नाम से पुकारा जाना आरम्भ हुआ। इसी ने ७ लाख कैदियों को लगाकर २२१ ई० पू० चीन की प्रसिद्ध दीवार को बनवाया। प्रजा की भलाई के इसने जहा अनेको काम

किये वहा इसकी धार्मिक क्रूरता भी इतिहास प्रसिद्ध है। कुग फू-त्जु मत के अनुयायी ५६० विद्वानो का कत्ल इसने बडी निर्दयता के साथ कराया ।

इसके मरने के समय से पहिले ही इस राजवश पर हीजडो का गहरा प्रभाव पड चुका था और वह राजनीति के साथ राजवश के कार्यो मे भी हस्तक्षेप करते थे। जब राजा मरा तो हीजडे सरदार ने इसके बाहर गये हुए बडे पुत्र को एक जाली राजाज्ञा भिजवाई की वह आत्महत्या करले । हीजडे लोग छोटे पुत्र को गद्दी पर बिठाना चाहते थे । बडे लडके ने आत्महत्या करली और उसकी लाश राजधानी मे लाई गई। लाश शाही ठाट-बाट से जमीन मे हीजडो ने दबवाया , लेकिन इसकी कब्र का जिन लोगो ने दृश्य देखा था साथ ही उन्हे भी कब्रो मे पहुचवा दिया गया। इस तरह पचासो कारीगर १५-२० बच्चे और दसो रानियो को जीवित ही समाधि दे दी गई ।

हुई नामक छोटे लडके को हीजडो ने राजा बनाया , लेकिन यह केवल ३ वर्ष ही राज्य कर सका और इसे भी हीजडो ने जहर देकर मार दिया। इसके मरने के समय ही चीन मे विशाल राज्य क्रान्ति हो गई। विद्रोहियो की विशाल सेना राजधानी पर चढ आई । प्रथम सम्राट् के पुत्र यूज यांग ने विद्रोहियों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया।

इसके बाद विद्रोही लोगो मे राज्य पर अपने-अपने अधिकार के लिये युद्ध होना आरम्भ हो गया। इस युद्ध मे लिऊ पान नामक व्यक्ति जीत गया और वही राजा बन बैठा।

इसी राजा ने चीन के प्रसिद्ध हान राजवश की नीव डाली। इस राजा ने ३ वर्ष तक राज्य किया और इसके मरने पर इसकी रानी गद्दी पर बैठी। रानी ने १८० ई० पू० तक राज्य किया।

रानी के मरने पर वू दी ने १४० ई० पू० तक राज्य किया । हान वश का यह प्रतापी राजा था। यही एक पहला राजा था जिसने न केवल हूणो के आक्रमणो को रोका अपितु उन पर आक्रमण भी किये।

इसी के काल मे चीन मे कला-कौशल, चित्रकारी और साहित्य सृजन का विस्तार हुआ। कागज का आविष्कार भी चीन मे इसी राजा के शासनकाल मे हुआ।

साहित्यिको, कवियो, शिल्पियो और चित्रकारो का आदर यह राजा राज्य के प्रत्येक व्यक्ति से अधिक करता था।

इसी के समय से चीन मे बौद्ध-धर्म का उदय हुआ । १०३ ई० पू० चीन मे एक सेनापति तुर्किस्तान से एक छोटी-सी बौद्ध मूर्ति ले गया । वह मूर्ति उसने हान वश के सम्राट् मिंग दी को दी । यह सम्राट् मूर्ति देखकर इतना प्रभावित हुआ कि इसने इन्डो-पार्थियन सम्राट् से 'मातग और 'गोभरण' नामक बौद्ध मतो को बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये मागा।

बौद्ध-धर्म-प्रचार मे इस राजा ने बहुत वडा सहयोग दिया और तभी से यहा के साहित्य, कला-कौशल आदि पर बौद्धधर्म की छाप पडनी आरम्भ हो गई । सबसे पहले इसी ने चीन मे पैगोडा बनवाया, लेकिन यह अपनी राजधानी **सी-आन यू** से हटा कर जैसे ही ली याग ले गया, तैसे ही इसे विष देकर मार दिया गया ।

सामती काल की सामाजिक और दार्शनिक स्थिति—चीन के सामन्ती-काल मे जहा सामन्तो मे परस्पर लडाई-झगडे चले, वहा चीनी सभ्यता को स्थायी स्थायित्व भी प्राप्त हुआ । इसी काल मे सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन की पद्धितिया तथा परस्पर व्यक्तिगत व्यवहार मे शिष्टाचार की पर्याप्त उन्नति हुई ।

सामाजिक स्थायित्व का जन्मदाता 'सी' राज्य के सामन्त हु-आन का प्रधान-मत्री **कुआंग चु ग** (kuan Chung) नामक व्यक्ति था । इसी ने मछली तथा नमक पर पहले-पहल कर लगाया था । इन दोनो ही चीजो के उत्पादक गरीब लोग होते थे, अमीर लोग उनसे यू ही ले लेते थे । इसी व्यक्ति ने राज्य के बहुत से विद्वानो को कई बार बुलाकर पुरस्कृत किया था । चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक **कनफ्यूशियस** ने इस व्यक्ति की प्रशसा करते हुए यहाँ तक कहा है—'आज कुआग की कृपा से ही लोग सुखी जीवन बिता रहे है ।" उसका आशय यह था कि उसी की कृपा से चीनियो को उचित रीति-रिवाजो का ज्ञान हुआ, व्यवस्थित रूप से राज-काज चलाने का राजाओ को भी ज्ञान हुआ, क्योकि व्यवस्थित शासन-प्रणाली का आविष्कारक कुआन ही था । अत सभ्यता के सृजक कुआन का चीन सदैव आभारी रहेगा ।

शासन प्रणाली मे परिवर्तन—कुआन-चु ग द्वारा निर्मित शासन-पद्धति मे **चेग-काल** (५३५ ई० पू०) और चीन (५१२ ई० पू०) मे परिवर्तन किये । इन परिवर्तित कानूनो से किसानो को बहुत हानि हुई और उच्च वर्ग के लोगो को बहुत लाभ हुआ । उन्हे यहा तक भी छूट मिल गई कि यदि कोई उच्च वर्ग का व्यक्ति किसी की हत्या भी कर देता था, तब भी उसे राज्य की ओर से दण्ड न देकर, आत्महत्या करने के लिये विवश किया जाता था । यही प्रथा आगे चलकर जापान की **समुराई** जाति मे प्रचलित हो गई । इस परिवर्तित 'विधान-सहिता' मे, **चाऊ-ली** अर्थात् 'चाऊ के कानून' प्रसिद्ध हैं । जिन्हें चाऊ राज्य के द्वितीय शासक के चाचा तथा प्रधान मत्री ने बनाया था । इस विधान-सहिता से तत्कालीन सामन्त-शासनो के बारे मे पर्याप्त स्थिति स्पष्ट हो जाती है । उस समय यह गण-राज्यो के राजा स्वर्गीय-पुत्र (Son of Heaven) समझे जाते थे । इनके सहायक ऊचे घराने के लोग थे । उस समय का चीनी समाज पितृप्रधान (patriarchal) था । साधारण लोगो का शासन-प्रबन्ध मे कोई हाथ न था । इन राजाओ का छ. व्यक्तियो का मत्रिमडल, सामाजिक, धार्मिक तथा युद्धसबधी नियमो की भी देखरेख करता था । अत इस सामन्ती-युग मे जहा सामाजिक-नियमो का विकास हुआ, वहा यह परस्पर सघबद्ध कभी न हो सके । अत दो शताब्दियो म ही ३६ नगर राज्यो का निर्बल हो गया और सारे देश मे अराजकता छा गई । उस समय किसानो की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । जमीनो के मालिक जमीदार किसानो

को उपज का चौथाई भाग भी नही देते थे । साथ ही राजा को भी नाममात्र का ही कर देते थे, क्योकि नगर-राज्य के राजा को यह नाममात्र का ही राजा मानते थे। इसके अतिरिक्त शहरो मे एक व्यापारिक वर्ग की वृद्धि हो चुकी थी । जिसके रहन-महन के तरीको (way of living) मे पर्याप्त परिवर्तन हो रहे थे। यह व्यापारिक वर्ग रेशम के कपडो का प्रयोग करता था, रथो का प्रयोग करता था, तथा व्यापार करने के लिये इनके पास नावे थी। अपने खाने-पीने के बर्तनो को भी यह लोग नक्काशीदार बनाते थे। इनका जीवन यूनानी व्यापारी लोगो के जीवन से कही ऊचा था।

कला-कौशल तथा साहित्य—इस सामन्ती-युग मे कला-कौशल तथा साहित्य सम्बन्धी उन्नति भी पर्याप्त हुई, क्योकि इस युग मे चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक **कनफ्यूशियस** (**कु ग फू जे**), दार्शनिक **वेन वांग, तेंग शाह, लाओत्से** आदि समाज शास्त्रियो का जन्म हुआ, जिन्होने अपने सिद्धान्तो और साहित्य से चीनी-सभ्यता को स्थायित्व प्राप्त किया।

कनफ्यूशियस—वस्तुत यह धर्म-प्रवर्तक व्यक्ति था। इसके सिद्धान्तो की छाप चीनी जनता पर तो पडी ही—जापानियो पर भी पडी। यह दार्शनिक ही नहीं, एक अच्छे कवि भी थे। इनकी ३०५ कविताओ का सग्रह (शी-चीन) "Book of odes" नामक ग्रन्थ मे किया गया है। परन्तु इनकी अधिकाश कविताए शृगार-परक हैं। इनका जन्म ५५१ ई० पू० हुआ और मृत्यु ४७८ ई० पू० हुई। इनका वास्तविक नाम **कुंग-फू जे** था। इनका जन्म यू राज्य के गुफू नामक स्थान पर हुआ था। यह उसी वश मे उत्पन्न हुए थे, जिसमे सम्राट् हुआग-ती (२६९७ ई० पू०) जन्मे थे। इस राजवश मे और भी कई दार्शनिक और राजपुत्रो का जन्म हुआ है। पिता की वृद्धावस्था के कारण इन्हे कठोर परिश्रम करना पडा था। यह पढने भी जाते और घर आकर अपनी माता के काम में भी हाथ बटाते थे । उन्नीस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हुआ और २३ वर्ष की आयु मे इन्होने अपनी पत्नी को त्याग दिया। इन्होने २२ वर्ष की अवस्था से ही अध्ययन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। इन्होने स्कूल अपने घर पर ही खोल रखा था। जहा यह विद्यार्थियो को, समाज-शास्त्र, इतिहास तथा कविता आदि सिखाया करते थे। बच्चो की फीस से जो पैसे मिलते थे, यह उन्ही पर निर्वाह करते थे।

स्कूल की उन्नति—धीरे-धीरे इनके स्कूल ने उन्नति करनी प्रारम्भ करदी और विद्यार्थियो की सख्या तीन हजार तक हो गयी। यह शिक्षक केवल अपने कमरे में ही बिठाकर शिक्षा नही दिया करता था। अपितु कभी-कभी बच्चो को अपने साथ जगल मे भी ले जाकर उन्हे शिक्षा देता था । **कनफ्यूशियस** को अपनी विद्या पर भी गर्व था । इसीलिए वह बात-बात पर कहा करता था—"मेरे जैसा विद्या प्रेमी व्यक्ति दूसरी जगह शायद ही मिलेगा।" उसके शिष्यो का कथन था कि "उनके गुरु **कनफ्यूशियस** अपने सिद्धान्तो के अतिम निर्णय पर कभी नही पहुचते थे।" स्वय **कनफ्यूशियस** का भी कथन था—"चाओ और सु ग सम्राटो से उन्होने जो कुछ सीखा था, वही वे दूसरो को सिखाते थे।"

कनफ्यूशियस के छात्रो मे **लू** राज्य के **मन्त्री** का पुत्र भी **था** । जिसका नाम **मांग**-ही था । इसके द्वारा कनफ्यूशियस का चाउ राज्य मे जो लो-याग मे स्थित था, आना-जाना हुआ । परन्तु यह दरबारियो से दूर ही रहे और वहां के बड़े दार्शनिक **लाओत्से** से मिलने चले गये । इसके बाद भी इन्होने कई राज्यो का भ्रमण किया, परन्तु सब जगह एक जैसी ही अराजकता की अवस्था इन्होने देखी । **अतः** यह अपने घर लौटकर, पुन अध्यापन का कार्य करने लगे ।

सरकारी पद--५०१ ई० पू० इन्हें **लू** राज्य के **युंग-तू** शहर का न्याया-धीश बनाया गया । अतः इसके न्यायाधीश बनते ही, शहर मे विश्वास की लहर दौड गयी और अराजकता समाप्त हो गयी । इसके बाद शासक ने इन्हे छोटा मन्त्री नियुक्त किया । मन्त्री बनने पर इन्होने सारी भूमि की नाप कराई और कृषि मे सुधार किया । ४९७ ई० पू० यह 'अपराध-निवारण-मन्त्री' बनाये गये । अत लू राज्य से अनाचार को भी समाप्त कर दिया और दूसरे राज्यो मे इनकी ख्याति "आदर्श" व्यक्ति के नाम से फैल गयी ।

पद त्याग—उन्ही दिनो जब इनकी आदर्शवादिता का सिक्का दूर-दूर तक व्याप्त था, **सी** राज्य के मन्त्री ने लू राज्य के शासक के पास कई सौ गाने वाली लड-कियां और १२० घोडे भेंट स्वरूप भेजे । शासक ने यह भेंट स्वीकार करली और उन मनमोहक लडकियो से ही घिरा रहकर, राज-काज का काम तथा मन्त्रियो और यहा तक कि **कनफ्यूशियस** की भी उपक्षा करनी शुरू करदी । अत इस घृणित दृश्य से तंग आकर कनफ्यूशियस ने अपना पद छोड दिया और निरन्तर १३ वर्ष तक इधर-उधर फिरता रहा ।

इस बीच **सी** राज्य के शासक ने उन्हे मन्त्री-पद देना चाहा, परन्तु कनफ्यू-शियस ने स्वीकार नही किया । ६९ वर्ष की आयु होने पर पुन लू राज्य के शासक "की" ने इनके पास भेंट भेजकर, पुन अपने दरबार मे बुला लिया । यहा यह अपने जीवन के अतिम पाच वर्षो तक परामर्शदाता के रूप मे रहे और अपना साहित्य-सृजन करते रहे । ७२ वर्ष की आयु मे इनकी मृत्यु हुई । मरते समय इनके मुख से दार्शनिक शब्द सुने गये । वह शब्द थे—"बडे से बडा पहाड भी टूटेगा, मजबूत से मजबूत लोहा भी टूटेगा और बुद्धिमान पुरुष भी पौधे की भांति कुम्हलायेगा ।" उस समय इन्होने अपने शिष्य जे-कुग से कहा था—"मेरी मृत्यु का समय आ गया । सारे राज्यो मे कोई ऐसा शासक नही, जो मुझे अपना गुरु माने ।" इस अवस्था मे सात दिन बीमार रहने के बाद, इनकी मृत्यु हो गयी ।

कनफ्यूशियस की राष्ट्र को देन—अपने साहित्य, प्रवचनो और शिक्षा द्वारा कनफ्यूशियस ने चीन राष्ट्र को बहुत कुछ दिया । इनके राजनीतिक और दर्शन-साहित्य के विचारो के कारण ही, चीनी जनता अपने अधिकारो के प्रति सजग रही ।

दार्शनिक सिद्धान्त—इनके सिद्धान्त अत्यन्त सरल थे । इन्होने दार्शनिक तत्व **तथा** तर्कशास्त्र के जाल से, अपने को सदैव मुक्त रखा । अत उनका सिद्धान्त था व्यक्ति

को आचार-व्यवहार के नियमो का पालन कर, प्राकृतिक नियमो के साथ सामजस्य करते हुए जीवन-यापन करना चाहिये। इस व्यक्ति ने चीन मे प्राचीन काल से प्रचलित पूर्वजो की पूजा की परिपाटी कायम रखी और भूत-प्रेत आदि के अस्तित्व के बारे मे अपनी निजी धारणा व्यक्त नही की। इन्होने केवल नैतिक जीवन पर ही जोर दिया। अपनी पुस्तक "ता-मूए" मे इन्होने लिखा है—"प्राचीन पूर्वजो ने पहिल अपने मस्तिष्क को ठीक कर, विद्या-बल को बढाया। इसके पश्चात् अपनी परिवार-प्रणाली को सुधारा, शासन मे सुधार किया तथा ज्ञान की खोज मे लगे रहे।

"ज्ञान के कारण उनके विचार निर्मल तथा नियत्रित हुए और राज्यो मे आनन्द छा गया। अत **नैतिकता** जन साधारण ही नही, अपितु शासक के लिए भी अनिवार्य है, क्योकि राज्य-व्यवस्था के लिये यह अति आवश्यक है। कनफ्यूशियस के अनुसार "आदर्श-व्यक्ति" वही है, जो दार्शनिक तथा सन्यासी के समन्वय से साधु हो गया हो। अत आदर्श मानव के तीन गुण हैं, उसके अन्दर बुद्धि, साहस और सद्भावना की अभिव्यक्ति की वृद्धि। कनफ्यूशियस का कथन था—"तीरदाजी भी मनुष्य का आवश्यक गुण है। जब तीरदाज अपना निशाना चूक जाता है, तब वह उसके कारणो को खोजता है। उसी प्रकार विवेकशील मानव भी अपनी कमियो को खोजता है। वह दूसरो को दोष नहीं देता।

राजनीतिक विचार—उनका कथन था कि जिस प्रकार माता-पिता पर पुत्र की भक्ति और पति पर पत्नि की भक्ति पर समाज आधारित है, उसी प्रकार राज्य मे जनता की सार्वभौमिकता शाश्वत सत्य है और जो सरकार जनता का विश्वास खो बैठती है, वह अधिक दिन तक कायम नही रह सकती। अपने शिष्य **जे-कुग** के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए, उन्होने कहा था—"सरकार के लिए तीन चीजो की अत्यन्त आवश्यकता है। पर्याप्त खाद्य, पर्याप्त युद्ध सामग्री और जनता का विश्वास।" कुग के यह पूछने पर कि इनमे किस वस्तु को छोडा जा सकता है, उन्होने कहा—"युद्ध-सामग्री और खाद्य को। परन्तु जनता के विश्वास की किसी भी दशा मे नही छोडा जा सकता।"

कनफ्यूशियस का विचार था कि राज्य मे दार्शनिक मन्त्री होना चाहिये, क्योकि वह विदेशी झझटो से अलग रहकर, विद्याबल से राष्ट्र को सशक्त बनायेगा। दरबार की विलासिता और फिजूल खर्ची को कम करेगा। लोगो को दण्ड कम देगा। ऊच-नीच के भावो को समाप्त करेगा। ऊचे विषय सभी को पढाये जायेंगे, जिनमे सगीत अनिवार्य होगा। अपने इन्ही सिद्धान्तो मे कनफ्यूशियस ने "समानता के सिद्धान्तो" की विस्तृत व्याख्या भी की है। उसका कथन था—राज्य के अनाथ, विधवाए, वृद्ध—सबके पालन-पोषण का दायित्व सरकार पर है। किसानो को ऋण देना आवश्यक है। इस प्रकार उस काल मे भी जबकि सामन्ती तन्त्र शासन जनता को तपा रहा था, इस दार्शनिक के हृदय मे समाजवाद के अकुर जमे और इसकी सहानुभूति शासको की ओर से हट कर निर्धन लोगो की ओर हो गयी जो इस सामन्ती-शासन को समाप्त करना चाहते थे।

धर्म का रूप—अपने जीवन-काल मे कनफ्यूशियस केवल एक विद्वान् व्यक्ति होने के कारण ही जनता के आदर का पात्र बना रहा, किन्तु उसके मरने के बाद, उसके विचारो का सग्रह हुआ और उन्हें एक सन्त के विचार मानकर, 'धर्म' की स्थापना करदी गयी। जिसका नाम हुआ 'कनफ्यूशियस-धर्म। अस्तु, इसके मरने के बाद, धीरे-धीरे इनके विचारो के अनुयायियो की सख्या बढती गयी । अत इनके सिद्धान्तो को सिखाने के लिये जगह-जगह चीन मे स्कूल खुल गये, जो इस देश के प्रथम 'मानसिक-विकास-केन्द्र' थे। इन स्कूलो ने इस मत के बडे-बडे विद्वानो को जन्म दिया।

विरोध—कनफ्यूशियस के इन राजनीतिक सिद्धान्तो के मुकाबले मे सामन्तो ने एक 'कानूनी' सम्प्रदाय खडा किया । इसका सिद्धान्त था कि 'मनुष्य के विवेक से नही, कानून से, राज्य स्थापित होता है। कानून को जनता पर जबरदस्ती थोपा जायेगा और वह उस समय तक कायम रहेगा जब तक कि जनता इतनी बुद्धिमान नही होती कि अपने आप शासन कर सके। कुलीन तत्र के आधीन ही जनता की उन्नति सभव है।' इस सम्प्रदाय के विद्वानो का यह भी कथन था—'राज्य को चाहिये कि पूंजी का समाजीकरण करे और व्यापार के ठेके अपने हाथ मे ले लें तथा थोडे से व्यक्तियो के हाथो मे धन को न चला जाने दे।" अत कनफ्यूशियस के विचार और इन **लिगेलिस्टों** के विचारो मे बारबार सघर्ष होता था और इस कारण चीन के सामाजिक और राजनीतिक विचारो मे उथल-पुथल होती रहती थी। कभी कनफ्यूशियस मत वाले प्रबल होते थे, कभी लिगेलिस्ट का बल बढ जाता था।

कनफ्यूशियस-ग्रन्थों की समाप्ति—सम्राट सी० हुआग ती (२२१ ई० पू० से २११ ई० पू०) तक ने अपने प्रधानमन्त्री ली सू के प्रभाव के कारण जो कनफ्यूशियस विरोधी मत का मतावलम्बी था, कनफ्यूशियस ग्रन्थो को इकट्ठा कराकर जलवा दिया। यदि उस सम्प्रदाय के मतावलम्बी उन ग्रन्थो को लेकर इधर-उधर न भाग जाते, तो कनफ्यूशियस सिद्धान्तो और उसकी धार्मिक रूपरेखा का आज तक पता भी न चलता। कुछ लोगो को तो इन ग्रन्थो को छिपाने के अपराध मे फासियो तक पर भी चढा दिया गया।

हानवंश मे प्रतिष्ठा—हानवश के सम्राट् वू-ती (१४० ई० पू० से ८७ ई० पू० तक) ने कनफ्यूशियस मत को बहुत सम्मान दिया । उनकी ही प्रेरणा से कनफ्यूशियस सम्बन्धी ग्रन्थो की खोज की गयी तथा ग्रन्थो को पुनः लिखा गया। इस सम्राट् ने शिक्षा-पाठ्यक्रम मे भी कनफ्यूशियस के सिद्धान्तो को स्थान दिया। परन्तु इतने उदार सम्राटो की उदारता के बावजूद भी कनफ्यूशियस-धर्म को बराबर विरोध का सामना करना पडा। कभी **ताओ-धर्म**, कभी **बौद्ध-धर्म** इसकी प्रगति को अवरुद्ध करते रहे। **त्वांग वश** (६१८ ई० मे २०५ ई०तक) के सम्राटो ने इसे पुन: राज्याश्रय प्रदान किया। विशेषकर, इस वश के सम्राट् वा-ई-सुंग (६५० ई०) ने इसे इतना उभारा कि उसने कनफ्यूशियस मन्दिरो के निर्माण की सारे देश मे बनाने की आज्ञा दे दी । साथ ही विद्वानो और राज्य कर्मचारियो को वहा जाकर धर्म-कर्म करने की आज्ञा दी।

सुधारवादी-सम्प्रदाय—११२७ ई० मे कनफ्यूशियम सम्प्रदाय मे भी एक सुधारवादी सम्प्रदाय ने जन्म लिया। इस दल के विद्वानो ने कनफ्यूशियस सम्प्रदाय के ग्रन्थो पर टीकाए लिखनी प्रारम्भ की। इन्होने अपने भाष्य और टीकाओ को जापान, कोरिया तथा थाई देशो मे, कनफ्यूशियम धर्म को फैलाया। जापान की राजनीतिक प्रेरणा मे बौद्ध-धर्म के बाद, कनफ्यूशियस धर्म का ही स्थान है। अत. **हान वश** के उत्थान काल (२०६ ई० पू० से २२१ ई० तक) से लेकर, **मांचू** (१६४४ ई० से १६१२ ई० तक) लगभग १२ सौ वर्ष तक कनफ्यूशियम की आदर्श-विचारधारा का चीनी समाज पर पर्याप्त प्रभाव पडा। इन्ही सिद्धान्तो के कारण चीनी समाज की प्रवृत्ति शिक्षा की ओर बढनी शुरू हुई। अस्तु, कनफ्यूशियस की मृत्यु के पश्चात् भी दो सौ वर्ष तक **लो चाग** नगर दार्शनिको और विद्वानो का विचारक-केन्द्र बना रहा। बडे बडे दार्शनिको ने अपना कार्यक्षेत्र इसी नगर को बनाया और अपना प्रचार किया दार्शनिक **मो-त्ती यागचाओ, याग जे, सून-जे, चुयांग-जे** सभी ने इस तीर्थ पर आकर ज्ञान का मनन किया था।

कनफ्युशियस का साहित्य—कनफ्यूशियस के साहित्य को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे प्रथम भाग के साहित्यिक ग्रन्थो को **पाच चींग** कहा जाता है और दूसरे भाग मे **चार शु** अर्थात् दार्शनिक ग्रथ हैं।

पाच-चींग—इसके पाच भागो मे पहला है **ली ची**। इस ग्रथ मे सामाजिक और धार्मिक विधि-विधानो का वर्णन है जो सामाजिक व्यवस्था एव शक्ति कायम रखने के लिये आवश्यक हैं। इनमे चरित्र-निर्माण तथा मानसिक और शारीरिक शक्ति अक्षुण्य रखने की विधियो के अतिरिक्त अन्तिम क्रिया-कर्म की पद्धिति का भी वर्णन है।

(२) **ई-चिंग**—इस दार्शनिक ग्रन्थ का विषय 'जगत्-परिवर्तनशील है' की व्याख्या है।

(३) **शी चिंग**—इसमे मानव जीवन यापन की विधिया और चारित्रिक सिद्धातो की समीक्षा है।

(४) **चुन चिऊ**—इसमे लू राज्य की अनेको घटनाओ का वर्णन है।

(५) **शू चिंग**—यह ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसमे चीन के प्राचीन सम्राटो की कहानिया तथा उनके काल की अनेक घटनाओ का वर्णन है। इनकी कहानियो तथा उनके काल की अनेक घटनाओ का वर्णन है। इनकी कहानियो के अनुसार स्वर्गीय सम्राटो के समय मे चीन मे एक साम्राज्य था और यही सम्राट् चीनी जाति को सभ्य बनाने वालो मे से एक थे। वस्तुतः यह कनफ्यूशियस की घडन्त कहानिया ही हैं, इनमे वास्तविकता को अतिरजित कर दिया गया है। इनके विचार मे 'याओ' और 'शून' वश के शासक सबसे पवित्र और सर्वोत्तम शासक थे, जबकि चीन का अभ्युदय हान, ताग तथा शु ग आदि राज्यो के समय मे हुआ।

चार शु—कनफ्यूशियस के यह दार्शनिक ग्रथ है। इनमे **लून-यू, ता-सूए, चु ग-यु ग**, तथा मेगज-शु हैं।

(१) **लून-यू**—इस पुस्तक मे कनफ्यूशियस के अनमोल प्रवचन तथा विचारो का सग्रह है। कुछ विद्वानो के अनुसार यह सग्रह उनके शिष्यो के शिष्यो ने किये थे। अत. इन्हें मूलत' कनफ्यूशियस के उपदेश भी नहीं कहा जा सकता।

(२) **ता-सुए**—यह ग्रन्थ शिक्षण विधि पर लिखा गया है।

(३) **चुंग युंग**—इस पुस्तक का रचयिता वस्तुत कनफ्यूशियस का पोता 'कुंग-चू" है। इसमे दर्शन के मध्य भाग का प्रतिपादन किया गया है।

(४) मेंग-जु-शू—यह भी एक दार्शनिक ग्रथ है।

वेन वांग—यह **चाऊ-वंश** के सस्थापको मे से एक थे। परन्तु किसी अपराध के कारण इन्हें कारावास का दण्ड दिया गया था और इसी कारावास मे बैठकर इन्होंने 'परिवर्तनशील जगत्' नामक पुस्तक लिखी। चीन का सर्वप्रथम दार्शनिक ग्रथ यही है। विख्यात दार्शनिक कनफ्यूशियस ने इस ग्रथ की प्रशसा करते हुए कहा था—"इसके अध्ययन के लिये निरन्तर पचास वर्ष की आवश्यकता है।"

तेंग-शीह—यह विद्वान् व्यक्ति यूनानी **सुकरात** की भाँति अत्यन्त स्पष्टवक्ता था, परिणामस्वरूप इसकी जीवन लीला भी सुकरात की भाति ही समाप्त हुई थी। चेंग राज्य के राजकुमार ने इसकी हत्या करादी थी।

लाओत्से—यह व्यक्ति इस युग का सबसे महान् दार्शनिक था। चाऊ-राज्य की राज्यीय लायब्रेरी का सरक्षक था। राजनीति की चें चें से तग आकर, इन्होने पद त्याग दिया और किसी गाव मे जाकर रहने लगे। जिस समय यह चाऊ राज्य को छोडकर जा रहे थे, उस समय सीमा रक्षक **चीन सी** ने उनसे एक पुस्तक लिखने का आग्रह किया। **लाओत्से** ने उनकी बात मान ली और पुन अपनी लायब्रेरी को लौटकर अपनी 'अमरवाणी' को एक पुस्तक मे सकलित किया। इस सकलन के दो भाग हैं—**ताओ** और ते, जिनकी शब्द सख्या ५ हजार है। इस पुस्तक के बाद यह पुन राज्य छोडकर गाव चले गये।

'लाओत्से' शब्द का अर्थ है 'प्राचीन शिक्षक' (Old Master) परन्तु इनका वास्तविक नाम **ली** था। इनकी दार्शनिक पुस्तक (Lao Te Ching) इनकी लिखी हुई नही हैं, परन्तु इस बारे मे कोई ठोस प्रमाण नही है। इस पुस्तक मे इनके दार्शनिक सिद्धात लिखे हुए हैं, क्योकि **ताओ** शब्द का चीनी अर्थ है—रास्ता। अत आशय हुआ 'प्रकृति का रास्ता'। इनका सिद्धान्त 'जगत् मिथ्या' के आधार पर चलता था। अत प्रकृति चिन्तन पर ही यह अधिक बल देते थे। इस दार्शनिक के अनुसार, दार्शनिको की सरकार (Government of Philosophers) सबसे खराब है, क्योकि वे सिद्धान्त के ऊपर ज्यादा जोर देते है, जबकि उनमे वास्तविकता का अभाव रहता है। वे केवल सैद्धान्तिक आदर्शों की मीमासा कर सकते हैं, जो व्यावहारिक जगत् के लिये सर्वथा अनुपयोगी होते हैं।

उनका कहना था कि विद्वान् और बुद्धिमान—दोनो ही व्यक्ति, राज्य के लिये खतरनाक होते हैं, क्योकि वह ज्यामित के आधार पर वर्गाकार समाज बनाना चाहते हैं और ऐसे कानून बनाते हैं, जिससे मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतत्रता समाप्त हो जाती है और समाज के विभिन्न अगो (Organs of Society) को कमजोर बना देता है। साधारण व्यक्ति जो इन कानूनो के ताने बाने से अनभिज्ञ होता है, जब शासक बनता है, तब स्वतत्र जीवन का समर्थक होने के कारण, व्यक्ति के जीवन को कम नियत्रित करना चाहता है और राष्ट्र को सीधे उन्नति की राह पर ले जाता है, जिसमे कृत्रिमता लेशमात्र भी नही होती, क्योकि साधारण व्यक्ति कम बन्धन होने के कारण स्वय ही परिश्रम करके आर्थिक उन्नति करने लगते हैं। अत समाज के उस स्वतत्रपूर्ण जीवन मे न तो वकीलो की आवश्यकता है, न पुस्तको की, न कला-कौशल और उद्योग धन्धो की आवश्यकता है। केवल ग्रामीण उद्योग व्यापार (Village Industris and Trade) ही ऐसी दशा मे कायम रहते हैं। निश्चय ही ताओ के यह विचार गाधी जी के 'गाधीवाद' से मिलते जुलते है, जिनमे भारत के अर्थतंत्र का मूल देहातो को माना गया है।

ताओ धर्म मे प्रकृति मीमांसा—लोआत्से के विचारो के मूल का नाम ही '**ताओ धर्म**' है। यह एक ऐसा धर्म है, जिसमे रूढीवादिता को गुजायश नही है। ताओ सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति का नियम एक शाश्वत नियम है, जो प्रत्येक समय गतिमान् रहता है। इसी कारण मौसम आते जाते रहते हैं। नक्षत्र अपने कक्षा मे घूमते हैं तथा ससार की सभी वस्तुएँ इस नियम से नियत्रित हैं। एव मानव जीवन भी इसी नियमानुसार नियत्रित है।

"ताओ-सिद्धान्तो" की व्याख्या करते हुए लाओत्से ने कहा था—"प्राचीन-काल मे जब यह भौतिक सभ्यता नही थी, तब लोगो का जीवन अत्यन्त साधारण था और इसी साधारण जीवन मे लोग सुखी थे। परन्तु भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के बाद, लोगो का जीवन दुखमय बन गया, क्योकि लोग गाँव छोडकर शहरो मे चले गये। वहा ज्ञान अर्जित किया। पुस्तकें लिखी और सुने दार्शनिको के वृत्तान्त। अत ज्ञानी व्यक्ति को इस 'भौतिकवादी सभ्यता' को छोडना चाहिये। उन्हे सुधारवादियो से दूर हट जाना चाहिये और प्रकृति की नियमावली को चुपचाप शाति से ग्रहण करना चाहिये। प्रकृति के नियमानुसार सभी वस्तुए अपने कार्य को पूरा करने के बाद, समाप्त हो जाती हैं। जब वे अपनी पराकाष्ठा को पहुच जाती हैं, तब पुनः अपने उद्गम स्थान को लौट जाती है। अर्थात् 'आत्मा को आराम मिल जाता है। यही प्रकृति का शाश्वत् नियम है और इसी को जानने का नाम ज्ञान ही है। अत प्रकृति के नियमो का विरोध नही करना चाहिये और उचित ढग से अपना कर्त्तव्यपालन करना चाहिये। यदि कहीं विरोध होता हो तो धैर्य और शान्ति से विजय की चेष्टा करनी चाहिये।

इसलिए लाओत्से ने बार-बार कहा है—"तुम किसी से झगडा नही करते हो तो तुमसे भी कोई झगडा नही करेगा। तुम अपने शत्रुओ से भी अच्छा व्यवहार करो। विश्व मे कठोरता और कोमलता जब परस्पर टकराती हैं तो कोमलता की ही विजय होती है। उदाहरण के लिये जल सबसे निर्मल और कोमल है, परन्तु बडी-बडी चट्टानो को भी उखाड फेंकता है।" लाओत्से का कथन है—"बुद्धिमान व्यक्ति दुनिया मे ऊचे से ऊँचा स्थान पाने योग्य है, तथापि वह सरल शात जीवन व्यतीत करता है। शाति ही बुद्धि की शुरुआत है। अत जो व्यक्ति **ताओ** को जानता है, वह कहता नही और जो कहता है, वह जानता नहीं। ५० वर्ष की आयु मे व्यक्ति को ज्ञान की शक्ति और बुद्धि की कमजोरी मालूम होती है। वास्तविक व्यक्ति वही है जो दुनिया के हानि-लाभ की परवाह नही करता।" लाओत्से के इन सिद्धान्तो ने कनफ्यूशियस को भी चकित कर दिया था। अत जब वह **लो यांग** शहर मे लाओत्से से मिला, तब लाओत्से ने उससे कहा था—"जिन महान् व्यक्तियो की तुम चर्चा कर रहे हो, उनकी तो हड्डियाँ भी समाप्त हो गयीं। केवल उनको कृतियाँ ही शेष हैं। महान् आदमी जब कोई कार्य करता है, तब उसके काम मे बाधा आती है।

"मैंने सुना है कि सफल व्यापारी अपनी दौलत को इस प्रकार छुपाकर रखता है, मानो उसके पास कुछ है ही नही। ठीक यही दशा महान् व्यक्ति की होती है। वह देखने मे साधारण लगता है, अपनी विद्वत्ता को छिपाये रखता है। अत तुम अपने अहकार, स्नेह और महत्वाकाक्षाओ को त्याग दो। इन बातो से तुम्हारे चरित्र की महानता मे वृद्धि नही होगी। यही तुम्हे मेरा परामर्श है।" अस्तु, इस कथन मे तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि 'ताओ सिद्धान्त' भारतीय 'वेदान्त' का ही रूप है।

मो-ती—यह दार्शनिक 'विश्व-प्रेम' मे आस्था रखते हुए वाणी पर यम रखने का आदेश देता था। इसके प्रभावशाली सिद्धान्त के कारण ही इसका शत्रु **यांग-जे** भी प्रशसक बन गया था। **मो ती** ने वर्तमान शासन पद्धति की इतनी निन्दा की, कि अधिकारी भी घबरा उठे। इसने **यू** राज्य के प्रधानमन्त्री से निवेदन किया कि वह **सुंग** राज्य पर आक्रमण न करे। उसने इनके उपदेश सुनकर, अपना आक्रामक विचार त्याग दिया। इनके शिष्य **सुंग-योंग** और **कुंग-तु ग लु ग** ने मिलकर, निशस्त्रीकरण के लिये देशव्यापी आन्दोलन किया। सम्राट् **शी-हुआंग-ती** के समय इस महान् दार्शनिक की पुस्तकें कनफ्यूशियस वालो ने जलवा दी। अत चीन से इसके सम्प्रदाय का अन्त ही हो गया।

याग-चाओ—इस दार्शनिक को इसके विचारो के कारण ही 'अहवादी' कहा जाता है। इसका सिद्धान्त 'चार्वाक' से मिलता-जुलता ही था। अब भी इसे 'चीन का चार्वाक' के नाम से ही याद किया जाता है। इनका सिद्धान्त था जीवन का उद्देश्य भोग है। न कोई भगवान है और मृत्यु के पश्चात् कोई जीवन है। भाग्य के हाथो मे मानव केवल खिलौनामात्र है। नैतिकता केवल आडम्बर है, जिसे चतुर व्यक्ति सीधे-सादे व्यक्तियों पर प्रयोग करता है। इस दुनिया मे अच्छे-बुरे-दोनों ही व्यक्ति कष्ट

भोगते हैं। परन्तु दुष्ट व्यक्ति, सज्जन से अच्छा उपभोग करता है। यह कनफ्यूशियस और मो-ती के विश्वप्रेम, शान्त और सरल जीवन की खिल्ली उडाकर, जनता को मौज का जीवन बिताने का उपदेश दिया करता था।

मांग-जे—इस दार्शनिक ने याग्रो के भोगवादी और कनफ्यूशियस के आदर्शवादी—दोनो सिद्धान्तो की आलोचना की। इसने नैतिक और राजनीतिक विषय की ही अधिक गवेषणा की थी। इसका उपदेश था, 'राज्यशासन मे अच्छे व्यक्तियो का प्रवेश होना चाहिये और मनुष्य को अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहिये, यह व्यक्ति ऐसी उदार सरकार का समर्थक था जो जनता का अज्ञान तथा निर्धनता दूर कर सके। परन्तु शासकवर्ग ने इसके सिद्धान्तो का कभी आदर नही किया। उस समय के तत्कालीन विप्लवी नेता **यू सींग** का कथन था कि सरकार किसानो की होनी चाहिये। यानी ऊँचे पदो पर किसान लोग हो और माग-जे का कथन था कि इन पदो पर पढे-लिखे लोग हो। अत इनके सिद्धान्तो की सराहना विप्लववादियो ने की और न तत्कालीन राजा ने। इसने यह स्वीकार किया था कि 'अत्याचारी' राजा के विरुद्ध विद्रोह का प्रजा को अधिकार है। तथा राजा को किसी दूसरे के राज्य पर आक्रमण नही करना चाहिये। यदि राजा प्रजा की रक्षा नही कर सकता तो जनता का कर्त्तव्य है कि उसे पदच्युत करदे। इस शासक का स्मृति-फलक इसके मरने के बाद, कनफ्यूशियस के मन्दिर मे रखा गया था। इसके विचारो ने 'लाल-क्राति' को बहुत उत्साहित किया।

सून जे—इस दार्शनिक का कथन था कि मनुष्य का अन्तर बुराइयो से भरा हुआ दूषित है। इसी कारण सामाजिक बुराइया उत्पन्न होती हैं। अत नैतिकता का समावेश उसके अन्दर अच्छे गुरुओ द्वारा होना चाहिये। तभी मानव-समाज के अन्दर त्याग-प्रवृ उत्पन्न होगी और अच्छी सरकार बनेगी।

इस दार्शनिक ने भी रूसी विद्वान तुर्गनेव की भाँति भूमि को मन्दिर न मानकर कारखाना माना जो मनुष्य को जीवन की वस्तुए सुलभ करती हैं। परन्तु सुलभ तभी होती हैं, जब मनुष्य बुद्धि द्वारा उन्हें उत्पन्न करता है। यह दार्शनिक एक उच्च राज्य कर्मचारी भी रहा और २३५ ई० पू० इसकी मृत्यु हुई थी।

च्यांग-जे—इनका जन्म श ग-राज्य मे हुआ था। यह आदर्शवादी दार्शनिक थे। जिन राजदरबारो मे **याग जे** का आना-जाना था, यह भी आने-जाते थे। यह राज्य कर्मचारी भी रहे। वी राज्य के शासक ने इन्हे प्रधामन्त्री का पद भी देना चाहा था। लाओत्से की भाति इनका विश्वास था कि सम्राटो मे अनेक दुर्गुण होते हैं। चीन के प्राचीनतम (स्वर्गीय) सम्राटो के पहिले, न चीन मे कोई शासक था और न ही सरकार थी। उस समय सच्चाई का जमाना था। मानव पशु-पक्षियो के साथ मिलकर रहता था। उस युग मे ऊच-नीच का भेदभाव नही था। यह **ताओ धर्म** के समर्थक होते हुए भी उसी युग के दृष्टा थे। वह विश्व की 'रहस्यमय अव्यक्त एकता' मे विश्वास करते थे। वस्तुतः यह विचार भारतीय पुराणो के हैं जिनमें परमात्मा के अव्यक्तरूप का चिन्तन किया गया है। इनका कथन था कि प्रकृति के निरन्तर चलने

वाले चक्र में मानव को नाना प्रकार के रूप धारण करने पड़ते हैं। मृत्यु केवल रूप परिवर्तन का ही दूसरा नाम है जो शान्तिमय सुखद नीद है। उसके बाद आत्मा पुन जन्म लेता है।

चीन मे बौद्ध धर्म का प्रवेश—चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रवेश लगभग २० ई० मे हुआ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चीनी लोग तब तक बौद्ध-धर्म से अपरचित थे। ईसवी सन् से पहिले ही, बौद्ध धर्म मध्यएशिया की उपत्यकाओ मे पहुँच चुका था। चीनी लोगो का सभी दृष्टियो से मध्यएशिया से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था, किन्तु तब बौद्ध-धर्म चीन मे राज्यीय आदर का पात्र नही बन सका था। २० ई० मे चीन के 'हान-वश-काल' मे इसे राज्यीय आदर प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि पूर्वी हान-वश (२० ई० से २२१ ई० तक) के सम्राट् 'मिंग' नें एक रात मे स्वप्न मे एक स्वर्णमय पुरुष देखा। दूसरे दिन राजदरबार मे जब इस स्वप्न के रहस्य पर विचार किया गया, तब दरबारियो मे से एक ने बतलाया कि यह पश्चिम के एक ऋषि का रूप है, जिसे फो या फो-तो (बुद्ध) कहते हैं। अत सम्राट् ने बौद्ध-धम-ग्रन्थो और बौद्ध भिक्षुओ को लाने के लिए तीन दूत भेजेभारत। उस समय राजनैतिक, साम्कृतिक और भाषा आदि सभी दृष्टियो से काशगर भारत का ही अग था। वस्तुत 'कश्-गर' और 'कश्-मीर'—यह दोनो नाम 'कश्' या खस जाति के निवास के कारण पडे। खस लोग, शको की ही एक शाखा थे, और यूचियो के भारत आने से पहिले हिमालय पर्वत माला मे बसे हुए थे। अतः सम्राट् के दूत अपने साथ 'काश्यप, मातग' और धर्मरत्न' नामक भिक्षुओ सहित बौद्ध-ग्रन्थ भी ले गये। यह लोग सफेद घोडो पर चढ कर राज-धानी 'लोयाँग' पहुचे थे। इसलिए इनके लिए जो विहार बनवाया गया उसका नाम भी श्वेताश्व (पइ-मा-स्से) विहार पडा। वहाँ जाकर मातग ने द्वाचत्वारिंशत-सूत्र का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। यह पहला बौद्ध ग्रन्थ है, जिसका चीनी भाषा मे अनुवाद हुआ। यह मातंग मध्यमण्डल (उत्तर प्रदेश-बिहार) के रहने वाले थे और हीनयान साहित्य के विद्वान थे। धर्मरत्न भी इनके पडौसी ही थे। इन लोगो ने चार और ग्रन्थो के अनुवाद किए जो अब सुलभ नही हैं।

पार्थिया के अनुवादक—इन दोनो के बाद, १४८ ई० में पार्थिया का 'सीकाउ' नामक व्यक्ति, जिसने अपना राज्य छोडकर बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी, चीन आया और श्वेत विहार मे रहना आरम्भ कर दिया। इस भिक्षु ने अपने जीवन के बीस साल चीन मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने मे लगाये। वस्तुत इस पार्थिया राजकुमार को ही चीन मे बौद्ध-धर्म की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। इस व्यक्ति ने धर्म प्रचार के साथ-साथ ९५ बौद्धग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। परन्तु नन्-जियो के सूची-पत्र मे पता चलता है कि उनमे मे अब केवल ५५ ही शेप रह गये हैं। इन अनु-वादो मे अधिकतर सूत्रपिटिक के आगमो (निकायो) के अश हैं। इनके ग्रन्थो मे हीन-यानी अनुवाद साधारण भक्तो की दृष्टि से किये गये हैं और महायानिक ग्रन्थो के अनु-

वाद भिक्षुको के लिये हैं। अत सीकाउ को बौद्ध-धर्म के प्रचारको की कोटि मे वही स्थान प्राप्त है, जो अशोक के पुत्र महेन्द्र को।

अन्-र्शी-काउ के बाद 'लोकक्षेम' (ची-लू-क्या-चग)। चीन पहुचे और सीकाउ के साथ ही लोयाग विहार मे रहने लगे। यह यूची (शक) जाति के थे। अत सीकाउ की मृत्यु के बाद, दो चीनी विद्वानो की सहायता से इन्होने सीकाउ के छोडे हुए कार्य को आगे बढाया। लोकक्षेम ने २३ ग्रन्थो का अनुवाद किया, जिनमे १२ अब भी उपलब्ध हैं। 'दश साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता' का अनुवाद भी इन्होने ही किया था। इनके बाद पिछले हानवश के समय १२१ ई० मे अनूह्वेन, १८५ ई० मे ची-याउ, १८८ ई० मे येन फो-तियन, १९४ ई० मे खग-योग-सियाग, १९७ ई० में चू-त-ली और धर्मपाल आदि ने वहा बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद किया। वास्तव मे हान-वश के समस्त अनुवादक तरिम्-उपत्यका से आये थे और सभी पार्थिया के रहने वाले ही थे। यह भिक्षु नही, विवाहित लोग थे। चीन मे इन्हें घुडसवार सेना मे अधिकारी पद भी दिये गये थे। इन्होंने महायान के रत्नकूट सूत्रसमुदाय के भाग 'परिपृच्छासूत्र' का अनुवाद किया। शान्तिदेव ने अपने 'शिक्षा-समुच्चय' मे इसके बीस उदाहरण दिए हैं। अस्-ह्वेन ने महानिदान-सूत्र (दीर्घनिकाय) का अनुवाद किया। इसे 'प्रतीत्य-समुत्पाद-सिद्धान्त' जानने के लिए बहुत उपयोगी समझा जाता है। यह बुद्ध का मुख्य सिद्धान्त था। इसके अतिरिक्त भिक्षु चि यउ जो यू-ची जाति के थे, यह भी मध्यएशिया से ही आये थे। इनके अनूदित ग्रन्थो मे से अब केवल पांच शेष रहे हैं। इनके अनूदित दो सूत्र सयुक्त आगम (निकाय) के हैं। इसी काल के अनुवादको मे चू-त-ली (महावल) और तन् कुओ (धर्मफल)—दोनो भारतीय थे। अतः पूर्वी हान-वश मे सब मिलाकर ४३४ ग्रन्थों का अनुवाद हुआ, जिनमे २०७ ग्रन्थो के अनुवादको का नाम नही मिलता। लगभग १०० अनुवादको के नाम सुलभ हैं। लोयाग का श्वेताश्व-विहार उस समय चित्रो से अलंकृत था।

वेई काल में अनुवाद—वेई-काल मे भी चीन की राजधानी लोयाग नगर ही रहा। यही चीन का केन्द्रीय राज्य था। 'उ' राज्य यागची नगर के दक्षिण के भाग मे था और राजधानी नानकिंग थी। पश्चिम चीन मे शू-वश का तीसरा राज्य था। इसकी राजधानी चेंग तू थी। यह राजवशी हान-वशो शाखा से ही था। अतः लोयाग के विहार में, वेई-काल मे भी बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद चलता रहा। इस काल मे १२ बौद्ध-ग्रन्थो का अनुवाद हुआ जिनमे से अब १० शेष हैं।

दक्षिणी चीन, जिसकी राजधानी उस समय नानकिंग थी, कनफ्यूसियस की विचारधारा का गढ था। कनफ्यूशियस के शिष्यो का बौद्ध-धर्म के प्रति आरोप था कि बुद्ध का त्यागमय जीवन मानवता के विरुद्ध है। इनके अतिरिक्त बौद्ध-धर्म के एक और विरोधी थे। यह थे लाउ-जू। इनका कथन था कि अमरता बौद्ध-धर्म से नहीं, 'ताओ-वाद' मे मिल सकती है। इन दोनो का विरोध 'यू-ची' ने किया। इस चीनी विद्वान् का जन्म १७० ई० में ताग-र्क्ति मे हुआ था। इन्होंने अपने ग्रन्थ मे लिखा—"बुद्ध ससार के

मध्य भारतवर्ष मे हुए। इन्होने समस्त प्राणियो की रक्षार्थ धर्मोपदेश दिये। अपनी मृत्यु के पश्चात् समस्त जन के कल्याण के लिये एक सघ बनाया जो सबकी मुक्ति के लिये प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त बुद्ध के विचार प्राचीन चीनी विचारो के विरोधी नही हैं। कनफ्यूसियस बौद्ध सिद्धान्तो को समझ नही पाया।" यू चू का विचार था कि कनफ्यूसियस राजधर्म हो सकता है और बौद्ध-धर्म जनता का धर्म होना चाहिए। अस्तु, ऊ-वश के शासन-काल मे पाच भारतीयो ने ग्रन्थो के अनुवाद किये। इन अनुवादको मे **ची-चियेन** मुख्य थे। यह उपासक बौद्ध गृहस्थ थे और २२३ ई० मे इनका जन्म यू-ची (शक) जाति मे हुआ था। लोकक्षेम इनके गुरु थे। हान-वश के अतिम काल में यह चीन आये थे। चीन की प्रथम क्रान्ति के बाद यह 'ऊ' राज्य मे जब आये, तब राजकुमार के अध्यापक बनाये गये। चीनी सम्राट् ने इन्हे 'पो-शी' (विद्वत्-पुरुष) की उपाधि दी। यह छै राज्यो की भाषाएं जानते थे। इन्होने १२७ ग्रन्थो का स्वय अनुवाद किया। जिनमे से ४९ मौजूद हैं। इन्होने अधिकतर सूत्र ग्रन्थो का अनुवाद किया। इनके अनुवादो मे सबसे मुख्य हैं—'अवदान शतक।' इनका दूसरा अनुवाद है—"मातगी-सूत्र'। यह ग्रन्थ चीन मे बहुत जनप्रिय है। इसके अनुवादो मे 'विमलकीर्ति निर्देश', 'वत्ससूत्र', 'शाली स्तम्भ सूत्र',' ब्रह्मजाल-सूत्र' सम्मिलित हैं।

इनके अतिरिक्त उसी काल अर्थात् २२४ ई० मे भारतीय विद्वान् 'विघ्न' और 'लिउ-येन' चीन पहुचे। विघ्न श्रोतिय ब्राह्मण थे और शास्त्रो के अध्ययन के बाद बौद्ध बने थे। इन्होने 'धम्मपद' का चीनी भाषा मे अनुवाद किया। इनके साथी ने भी चार ग्रन्थो का चीनी मे अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त २४७ ई० मे खाग-सग ह्वी जो सोग्द के निवासी थे, ऊ-राज्य मे बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गए थे। उसके सम्राट ने इन्हे कियेन-चू मे विहार बनाने की आज्ञा दी। यह विहार **बुद्ध ग्राम** के नाम से प्रसिद्ध था। इनके चौदह अनुवादो मे चार शेष हैं, जिनमे 'सयुक्तावदान' भी एक है। ऊ काल में ऐसे भी अनुवादक थे जिनके नाम नही मिलते। इन अनुदित ग्रन्थो मे 'अभिधर्मामृत-शास्त्र', 'एकोत्तरागम' और 'सयुक्तागम' के भी कितने ही सूत्र हैं।

बौद्धधर्म की प्रगति—ईसवी की चौथी शताब्दी मे धार्मिक दृष्टि से चीन की अद्भुत स्थिति थी। वहा कनफ्यूसियस और ताओ-वादियो के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदाय थे। यह प्राय सभी बौद्ध-धर्म के विरोधी थे। परन्तु बौद्ध-धर्माचार्य अपनी लगन से, सब विरोधो के बावजूद अपने धर्म-प्रचार मे बराबर जुटे ही रहे। इस काल मे वह चीन के अतिरिक्त मगोलिया, मचूरिया और चीन तक फैल गया।

अमिताभ सम्प्रदाय—(३१४-३२२)—ताउ-आन् एक प्रभावशाली भिक्षुक थे। जिनका याग-सी और ह्वाग-हो—दोनो उपत्यकाओ मे सम्मान था। इन्होने धर्म-प्रचार के लिए अपने शिष्यो को भिन्न-भिन्न दिशाओ मे भेजा। उनके प्रमुख शिष्य हुई-युवेन को सुखावती, पुडरीक या अमिताभ सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक माना जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय—इसी काल मे एक दूसरा प्रभावशाली सम्प्रदाय **छान** (सस्कृत ध्यान, जापानी जेन्) स्थापित हुआ, जिसने शिक्षित वर्ग को आकृष्ट किया

इसके सस्थापक कुमारजीवि (३४४-४१४) के शिष्य च्-ताऊ सेंग थे।

पत्थर का कोयला—चीनियो ने ४थी शताब्दी से पत्थर के कोयले का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। तेरहवी सदी मे मारकोपोलो ने उसे देखकर बडे आश्चर्य से कहा था—"लोग पहाडो मे चट्टानो की तरह बडे-बडे काले पत्थर खोदते हैं। इन्हे यह लोग लकडी के कुन्दो की तरह जलाते हैं। यह लकडी के कोयले की भाँति जलकर राख हो जाता है।" उसने आगे लिखा था—"यह पत्थर ईधन के लिए इतने अच्छे हैं कि खिताई (उत्तरी चीन) के सभी प्रान्तो मे, जहाँ पर काफी ईधन भी है, लोग पत्थर ही जलाने है।" यूरोप मे कोयले का प्रयोग सत्रहवी शताब्दी मे हुआ।

चीन मे बौद्धो का औषध-ज्ञान—बुद्ध-धर्म के प्रचार के अतिरिक्त चीन मे बौद्ध लोग, जनता की सेवा और औषधि-विज्ञान मे भी रत रहते थे। अत इस अनुसधान मे इन्होने बहुत-सी अमूल्य औषधियो को बनाना सीख लिया था। इस सम्बन्ध मे अन्-सी-काउ ने (१४८-७०) मे सबसे पहिले एक चिकित्सा-ग्रन्थ का अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ मे ४०४ बीमारियो का वर्णन था। एक शताब्दी बाद, भिक्षु धर्मरक्षक ने आँख, कान, पैर आदि की बीमारियो के बारे मे लिखा तथा गर्मस्नान द्वारा सर्दी, वात सम्बन्धी रोगो के उन्मूलन की विधि भी बतलायी। ३०० ई० मे वैद्य जीवक ने अपना चिकित्सा के कई चमत्कार दिखाये। लोयाग मे उनका शिष्य चिकित्सा का कार्य करता था तथा एक भारतीय नारियो का इलाज करता था। उसने एक महामारी को भी फैलने से रोक दिया था।

पश्चिमी छिन् और पूर्वी छिन् के १५५ वर्षों में बौद्ध-धर्म की प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हुई। इस प्रगति मे अनुवादको का विशेष हाथ था, जिनमे नारायण, पोश्री-मित्र, धर्मरत्न, गौतम, सघदेव, कालोदक, बुद्ध-भद्र, विमलाक्ष, फा-शिन्, जीवमित्र, नन्दी, कुमारबोधि, सघभूति, धर्मप्रिय, धर्मनन्दी, धर्मयश, बुद्धयश, पुण्यतर आदि का नाम विख्यात है। यह प्राय: सभी चौथी शताब्दी तक चीन मे पहुँचकर, अनुवाद का कार्य कर रहे थे। इनमे से अधिकाश मध्यएशिया से आये थे, जो उस काल मे बौद्धो का प्रमुख केन्द्र था। शेष भारत से आये थे।

चीन मे नानकिंग भी बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन चुका था। पूर्वी छिन् वश के सभी राजा बौद्ध-धर्म से सहानुभूति रखते थे, लेकिन नवाँ राजा हवाऊ-ऊ-ती पहला चीनी सम्राट् था, जिसने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था। इसने १७ अनुवादको से बौद्ध-प्रचार कराया था। इस काल मे धर्मरत्न ने११० सस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद कराया था इनमे से अधिकतर सूत्रपिटक के निकाय थे। त्रिपिटिक भारतीय वाङ्मय की एक बहुमूल्य निधि है। इसमे बुद्ध के मूल विचार हैं। कालातर मे बौद्धो के हीनयान सम्प्रदाय की भी १८ शाखाए हो गई, जिनके अपने-अपने त्रिपिटिक अलग अलग थे। आज हमारे पास केवल स्थिरवाद का पाली त्रिपिटिक मौजूद है, दूसरा कोई त्रिपिटिक भारतीय भाषा में उपलब्ध नही है। लेकिन हमारे बन्धुओ ने चीनी भाषान्तर के रूप मे दूसरो के भी कितने ही त्रिपिटिकों को सुरक्षित कर दिया है।

कुमारबोधि—यह मध्य-एशिया के रहने वाले थे, और तुर्कीन राजा के राज-गुरु (कूंवो-सी) थे। यह ३८२ ई० में चीन आये। इन्होंने आगमों का अनुवाद प्रारम्भ किया। इस काल में सबसे बड़े विद्वान् धर्मनन्दी—तुखारी थे। सूत्रपिटक के आगमों पर उनका विशेष अधिकार था। ३८४ ई० में धर्मनन्दी ने मध्यम आगम और एकोत्तर का आगम अनुवाद किया। चाऊ-यांग के राजधानी पर आक्रमण करने पर इनके अनूदित ग्रन्थों में से भी एक नष्ट हो गया, परन्तु 'अशोक राजपुत्र चक्षुर्भेद निदान' नामक इनका ग्रन्थ सुलभ है। संघदेव और संघभूति धर्मनन्दी के समकालीन थे। इन लोगों ने आर्य वसुमित्र के संगीतिशास्त्र का भी अनुवाद किया।

मध्य-एशिया और चीन में बौद्ध-धर्म फैलाने का सबसे अधिक महत्त्व बुद्धयश और कुमारजीवि को है। अपनी शंकाओं के समानाधानार्थ कुमारजीवि (३३२–४१३) उन्हीं के पास आया करता था। यह दोनों ही भारतीय विद्वान् थे। बुद्ध यश कश्मीरी थे और कुमारजीवि के पिता कुमारयन एक भारतीय भिक्षु थे, और नीली आंखों तथा भूरे गालों वालों सुन्दरियों के देश—कूचा के राजा की बहन जीवा से व्याह कर लिया। उसी से कुमारजीवि उत्पन्न हुए। माता शिक्षा के लिए इन्हें लेकर कश्मीर चली आई और बीस साल तक वहीं रहीं। बाद में यह कूचा लौट आये। बाद में चीनी सेनापति उन्हें चीन ले गया। इसके बाद बौद्ध-धर्म की प्रगति ५वीं सदी से तोपा-वंश काल से शुरू हुई। इस काल में मध्य-एशिया का नगर सोग्द बौद्ध-धर्म का विशेष केन्द्र बना हुआ था।

तीन धार्मिक-केन्द्रों का गढ़—सोग्द—मध्यएशिया का सोग्द' नामक भाग ही ऐसा एक स्थान था, जहां विश्व के तीन प्रमुख धर्मों ने अपने अपना केन्द्र बना रखा था और तीनों ही धर्मों के धर्माचार्य बिना किसी भेदभाव, ईर्ष्या द्वेष और मनोमालिन्य के मित्र-भाव से एक साथ रहते रहे। लोब्नोर के दक्षिण में सोग्दियों का एक 'उपनिवेश' था, जिसमें 'मानी' 'नेस्तर' और बुद्ध—तीनों के ही अनुयायी बसते थे। मानी धर्म के मध्य-एशिया में पहुंचने का कारण, ईरान में मानियों पर अत्याचार थे। अतः मानी धर्म के हजारों अनुयायी मध्यएशिया में ही नहीं, चीन तक फैल गये। यही कारण था कि एक समय यह धर्म समस्त उईगरों का राजधर्म बन गया था। तुनह्वांग में सोग्दी-भाषा में इस धर्म के बहुत से लेख मिले हैं। इनके अतिरिक्त इस भाषा में बौद्ध-धर्म-ग्रंथ भी पर्याप्त अनूदित हुए। इनमें बौद्धग्रन्थ 'प्रतीत्य-समुत्पादसूत्र' का अनुवाद भी है। साथ ही "वज्रच्छेदिका" और सुवर्णप्रभास' के सोग्दी अनुवादों के अंश भी हैं। और 'वेसन्तर-जातक' तथा 'नीलकण्ठ-धारिणी' के पन्ने भी हैं। परन्तु फिर भी वहां जरथुस्त्र-धर्म और मानीधर्म का बोलबाला ही अधिक रहा। मानीधर्म के प्रभाव का एक कारण यह भी था कि मानीधर्म के सिद्धांत प्रायः बौद्धधर्म पर ही आधारित थे। इस व्यक्ति का जन्म मेसोपोटामिया में रहने वाले एक ईरानी के घर २१६ ई० में हुआ था और ईरान के सम्राट् शापूर तक इसका धर्म फैल चुका था। यह व्यक्ति कुशल लेखक भी था और चित्रकार भी, परन्तु अन्ततः इसे ईरानी पुरोहितों का

कोप-भाजन बनना पड़ा और ईरानी सम्राट् ने इसकी खाल खिंचवा कर, भूसा भरवा दिया, परन्तु तब तक मानीधर्म यूरोप तक जा पहुंचा था और ईसाइयो के प्रभाव से पहिले, रोम आदि मे उसी धर्म के अनुयायी थे, जबकि ईसाई सन्त उसे "शैतान का अवतार" मानते थे। इसलिये यूरोप मे मानियो और ईसाइयो म कभी समझौता नही हुआ, जबकि मध्यएशिया मे बौद्ध और मानी एक दूसरे के सदैव निकट रहे। मानी ने अपनी पुस्तक 'शापूरगान' मे लिखा है—"मानव जाति के पास ज्ञान और शील का सन्देश भगवान् के दूत सदैव पहुँचाते रहे है। उदाहरणार्थ भगवान् ने अपने दूत बुद्ध के द्वारा भारत को जरथुस्त्र के द्वारा ईरान को और ईशू के द्वारा एशिया और यूरोप को यह सन्देश पहुँचाये।" मानी के इसी वाक्य के आधार पर जर्मन विद्वान केमलर ने लिखा है—"शील के सम्बन्ध मे निश्चय ही मानी ने, बुद्ध के उपदेश वाले शील" का प्रयोग किया है। उसके ग्रथ मे भी बुद्ध का नाम आया है। अत यह असम्भव है, बुद्ध का नाम लिखते समय उसकी दृष्टि मे बुद्धधर्म के सि ात न रहे हो।" इसी व्यक्ति ने अपने प्रचार मे, फारसी और सोरिया की भाषाओ को मिलाकर एक विशेष प्रकार की लिपि बनाई। उक्त लिपियो की अपेक्षा इसकी बनाई लिपि का उच्चारण सुगम और अर्थपूर्ण होता था। इसी सोग्दी लिपि का प्रयोग अपने साहित्य मे बौद्धो ने भी किया है। अत मध्यएशिया मे मानी और बौद्ध साहित्य इसी भाषा मे लिखा हुआ प्राप्त हुआ है।

सोग्दी भाषा का उत्थान और पतन—यह एक आश्चर्य की बात है कि सोग्दी भाषा का निर्माता स्वय एक ईरानी व्यक्ति—मानी था, परन्तु यह भाषा ईरानी से अधिक सस्कृत-भाषा के निकट है। ईरानी भाषा मे जिन सस्कृत शब्दो का अभाव है वह उसकी इस सोग्दी भाषा मे मिलते है। ईरान का इस्लामीकरण होने पर, नव ईरानी मुसलमान अरबी मुसलमानो के सहायक होकर, सोग्द देश मे आये, उन्ही के प्रभाव के बढने पर सोग्दी भाषा के स्थान पर, पूर्वी ईरान (खुरासान) की भाषा छा गयी। इससे पहिले यद्यपि समस्त इलि उपत्यका की यह भाषा नही थी, परन्तु सोग्दी व्यापारी अपना समस्त काय इसी भाषा मे करते थे। उनके भी अभिलेख यहा मिले है। १९३३ ई० मे इस विस्मृत-भाषा पर प्रथम प्रकाश पडा। इस उत्खनन मे ७० के लगभग चर्मपत्र मिले। यह चर्मपत्र उस राजा के हैं जो अपनी स्वतत्रता की रक्षा के लिये अरबो से लडा था। उक्त चर्मपत्र युग पर्वत से प्राप्त हुए हैं और उक्त राजा के कार्यालय से सम्बन्धित हैं। इनकी प्राप्ति से रूसियो को मध्यएशियाई भाषाओ को समझने मे बहुत सफलता मिली है। वर्तमान मे यह भाषा 'गलचा-भाषा के रूप मे अब अग्निक नदी के तीन-चार गावो मे रह गयी है। सोवियत लोग इस भाषा का व्याकरण तैयार कर रहे हैं।

सोग्द राज्य—मध्यएशिया मे यह भाग, छोटा-सा ही था। जफरशा नदी का पुराना नाम सोग्द (सुग्ध) है। इसी के किनारे समरकन्द और बुखारा के ऐतिहासिक नगर हैं। वही लोब्नोर के दक्षिण मे सोग्दियो का उपनिवेश उक्त सोग्द था। आठवी

सदी तक—जब तक तुर्क-शब्द' इस्लाम का पर्यायी नही हुआ था, मध्यएशिया के दोनो भागो को तुर्किस्तान भी कहा जाता था, क्योंकि पश्चिम तुर्किस्तान ६१४ ई० मे ही पूर्णतया मुसलमान हुआ था। इसके बाद इस्लाम तेजी से तरिम और चू-उपत्यकाओ मे फैला और १० हजार ई० तक खोतन तथा काशगर आदि ने पूर्णतया इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।

अफगानिस्तान की सभ्यता और उसका विकास

अफगानिस्तान और भारतकी सभ्यता को दो सभ्यताएँ नही माना जा सकता। यह सत्य है कि वर्तमान मे अफगानिस्तान राज्य का धर्म इस्लाम है और वह अपने उसी धर्म के अनुसार, अपनी सस्कृत का विकास कर रहा है , किन्तु यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि अफगानिस्तान की सस्कृति पर भारतीय प्रभाव अब भी लक्षित है और वह अपनी उस प्राचीन सस्कृति के प्रति अब भी अपना प्रेम-भाव ज्यो का त्यो रखता चला आ रहा है । विश्व का यह छोटा-सा देश—अफगानिस्तान प्रागैतिहासिक काल से ही भारत का एक भाग रहा । यह ठीक है कि प्राचीनकाल मे इसके पर्याप्त भू-भागो पर ईरानियो, यूनानियो और मध्यएशिया की जातिया—शको, हूणो आदि का भी समय समय पर अधिकार होता रहा है, किन्तु अफगानिस्तान अपनी सस्कृति के रग मे ही उन्हे भी लगातार रगता रहा है। इसका प्रबल प्रमाण बौद्धकाल मे वहा विकसित होने वाली ससार प्रसिद्ध 'गान्धार मूर्तिकला' है ।

अफगानिस्तान का मानवशिक इतिहास भी भारतीय इतिहास से पृथक् नहीं है । हम इसी पुस्तक मे पहिले लिख चुके हैं कि अफगानिस्तान तक आर्य कैसे फैले और उसके पश्चात् रामायण काल और महाभारत काल तक अफगानिस्तान को ज्यो का त्यों भारत का ही एक भाग देखते हैं । वैदिककाल मे यहा बसी आर्य जातियो के चिह्न अब भी कुछ अफगान कबीलो मे मिलते हैं । जैसे कि षडवत् (शरद्वत्), पस्तून (पक्थ) आदि । महाभारत काल से लगाकर, दारावयु (ईरानी सम्राट्) के समय तक, इसका नाम गान्धार रहा । उस समय दारा ने अफगानिस्तान के पर्याप्त भाग पर अपना अधिकार कर लिया था और यहा भी अपनी 'क्षत्रपी' स्थापित करदी थी । आज भी कधार इस राज्य का एक बहुत बडा नगर है और पेशावर, जिसका प्राचीन नाम पुष्पपुर है—इस राज्य की राजधानी है ।

अफगानिस्तान की भूगोलिक रूपरेखा—इस देश का कुल क्षेत्रफल बगाल, बिहार और उडीसा के सम्मिलित क्षेत्रफल से दो गुना अर्थात् २ लाख ४५ हजार वर्गमील के लगभग है । पर्वतो से यह देश चारो ओर से इस तरह से घिरा हुआ है कि विदेशी आक्रमणकारियो का इसमे प्रवेश करना बहुत कठिन है । तिब्बत के बाद अफगानिस्तान ही एक ऐसा देश है, जो केवलमात्र पर्वतो के कारण ही पर्याप्त सुरक्षित है । पर्वतों

के अतिरिक्त अफगानिस्तान की सुरक्षा का एक और भी कारण है और वह है देश के अधिकाश भाग का रेतीला तथा समुद्र से दूर होना। इसीलिये कोई पश्चिमी देश अब इसकी ओर बढने मे सफल नही हुआ।

अग्रेजो ने यहाँ के प्रसिद्ध पर्वत पामीर, जिसे ससार की छत कहा जाता है, कई बार ब्रिटिश झडे से सुशोभित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें अफगानो को हराने का श्रेय कभी नही मिला।

अग्रेजो के अतिरिक्त विशाल रूसी सेना के साथ रूसी जार ने भी तुर्किस्तान के रास्ते अफगानिस्तान पर धावा बोला, परन्तु जार भी अफगानो को न पछाड सका और रूस वापस चला गया। अफगानिस्तान की राजधानी काबुल समुद्र सतह से ७ हजार फीट की ऊचाई पर बसी हुई है।

उत्तर पूर्व दिशा मे यह देश उच्च पर्वत मालाओ से घिरा हुआ है। प्राकृतिक दृश्यो से सजी हुई इन पर्वत मालाओ की शृखलाए हिन्दूकुश पर्वत से जा मिली हैं। इन्ही पर्वतमालाओ मे प्रकृति ने मार्ग भी बनाये हैं। ऐतिहासिक काल से भी बहुत पहले से इन मार्गों का बडा महत्त्व रहा है। इन सकरे मार्गों से होकर, न मोटर-लारियाँ जा सकती हैं और न बैलगाडियाँ। केवलमात्र इस मार्ग का वाहन ऊट है। प्राचीन काल मे तुर्किस्तानी और भारतीय व्यापारी ऊटो के बडे-बडे कारवा लेकर, इन्ही मार्गों से व्यापार करते थे, घोडे ऊट और खच्चरो से यह मार्ग सदा भरे रहते थे। दर्रा-खैबर इसे भारत से जोडता था।

इतिहास के पन्नो में—बौद्ध और अग्निपूजक—पारसियो का यहा ७वी सदी तक बोलबाला रहा। चीनी तुर्किस्तान मे जगह-जगह अभी ही दबे हुए हिन्दू और बौद्ध-धर्म के हजारो ग्रथ यहाँ पर मिले हैं। बलख का 'तोप-ए-रुस्तम' नामक खडहर और उसके पास प्राचीन ऐतिहासिक गुफाएँ और उनके भित्ति-चित्रो से बलख की प्राचीन सभ्यता का पता चलता है। किसी प्राचीनकाल मे यहाँ कोई विशाल नगर बसा हुआ था और उस नगर मे क्रमश: विभिन्न देवताओ की पूजा करने वाले रह रहे थे, जिनमे अग्नि पूजको का भी विशेष स्थान था—उसी प्राचीन नगर के खण्डहरो पर वर्तमान बलख को बसाया गया।

अफगान जाति की उत्पत्ति—इस बारे मे इतिहासकार अभी तक भी किसी निर्णय पर नही पहुच सके हैं। कुछ इतिहासकारो का मत है कि अफगान लोग सेमेटिक जाति के वंशज हैं। कुछ की राय है कि तूरानी जाति के सम्मिश्रण से यह जाति बनी और कुछ की राय है कि वस्तुत यह प्राचीन आर्य जाति से ही सम्बन्धित है, क्योकि पूर्व की ओर रहने वाली कई अनेको जातियो मे भारतीय रक्त है। इसके साथ ही रूपरग और डील डौल में यह तुर्क ईरानी जाति से भी मिलते हैं।

अफगानिस्तान में जो किवदंतिया प्रचलित हैं, उनसे पता चलता है कि अफगानों में इजरायली और सैयद जातियो का रक्त है। उनका कहना है कि एक

पैलेस्टइन से यहा बहुत से बन्दी बनाकर लाये गये थे, हम लोग उन्ही की सतान हैं। राजवशी लोग अपने को 'सालेर-वंश' की सतान मानते हैं।

खैर, कुछ भी हो अफगानिस्तान वस्तुत. कई सम्प्रदायो और भाषाओ का निवास स्थल है, इसलिये यहा की अधिकाश जनता को हम अफगानी नही कह सकत, क्योंकि आर्यन जाति के बड-बडे व्यापारी लोग वडे ग्रामो और बडे-बडे शहरो मे रहते है और मगोल नस्ल के हजारा लोग मध्यवर्ती पहाडी भागो और तुर्क तथा उजवेग लोग उत्तरी अफगानिस्तान मे अधिक हैं। शुद्ध अफगान लोग पूर्व मे सुलेमान पर्वत से लेकर, पश्चिम मे गजनी और कधार से लगाकर हरात तक फैले हुए है।

वीरता जन्मसिद्ध अधिकार—वीरता को अफगान लोग अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। अफगान लोग बडी-बडी जातियो के अतिरिक्त छोटी-छोटी उप जातियो तक मे विभक्त हैं जिन्हे 'खेल' नाम से पुकारा जाता है। प्राचीन समय मे इन खेलो का जीवन भेड-बकरी, गाय-बैल लिये यत्र-तत्र घूमने मे बीतता था और अपनी स्वतत्र आदत के कारण आपस मे रोज ही किसी न किसी 'खेल' मे युद्ध चलता रहता था। अब भी ऐसी ही एक उपजाति 'जाखा खेल' है, जिसका व्यवसाय ही युद्ध करना है। इन खेलो मे जिनमें अधिकतर अफगानिस्तान और पेशावर के बीच बसे हुए हैं, इतने आपसी लडाई झगडे चलते है कि बहुतो को शादी तक करने का भी अवसर नही मिलता। घुडसवारी करना, निशाना लगाना बचपन में ही सिखाया जाता है जो जीवन पर्यन्त तक चलता है। इनके रोजाना लडने का एक और भी खास कारण है और वह है प्रतिशोध की आग। एक के मरने पर भाई या पुत्र उसका अवश्य बदला लेता है।

भाषा—वर्तमान भाषा ईरान की प्राचीन भाषा से निकली है, जिसकी लिपि अरबी से बहुत मिलती-जुलती है। पारसी भाषा और साहित्य की धाराओ से पुष्ट होकर यह भाषा विशाल बनी थी। लेकिन, आधुनिक साहित्य पर इस्लाम की पूरी छाप है। इसीलिये अब पश्तो में वैसा उच्च साहित्य नही लिखा जाता। लोग पश्तो और फारसी अच्छी तरह बोलते हैं। तुर्की और मंगोलियन उपजाति के लोग अब भी अपनी पहिली ही भाषा बोलते हैं।

शादी प्रथा और पर्दा—शादी प्रथा यहा भारत जैसी है। यहा वर-वधू पहिले एक दूसरे को देख तक नही सकते। शादी का निश्चय अभिभावक लोग करते हैं। पर्दा प्रथा का पालन यहा कठोरता से कराया जाता है। स्त्रिया जब बच्चा पढने जाने लगता है, तभी से उससे पर्दा आरम्भ कर देती हैं। एक भी अफगान स्त्री बिना पर्दे के नही दिखाई देती। यहा तक कि परिचारिकाओ को भी पर्दा करना पडता है।

आमोद-प्रमोद—विना भेदभाव के यहाँ घुडदौड, शिकार और कुश्ती होते हैं। मेंढो मुर्गो, तीतरो और बटेरो की लडाई का इन्हें विशेष शौक है। वेशभूषा यहाँ एक-सी नही है। कई तरह की टोपियाँ, कई तरह के जामे और पाजामे यहाँ आदमी और

औरतें पहनते हैं । इनकी आदर्श पोषाक है हरे रंग का जरी के काम से सुसज्जित मेंढ़ो के चमडे का कोट एव जूता । स्त्रिया अधिकतर लाल रग के जूते पहनती हैं ।

रोटी, तरकारी, चाय, दूध और पनीर इनका मुख्य भोजन है । चावल, मास और मिष्ठान अमीर लोगो को ही मिलते हैं । चाय का प्रचलन इनके यहाँ बहुत है । कुत्तो को धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोग नही छूते । अपने पशुओ से ये लोग बहुत प्यार करते हैं । यह सुन्नी मुसलमान हैं । कुरान की आज्ञाओ का पूरा पालन करते हैं ।

व्यवसाय—पसम, चर्म, अगूर, बेदाना, अखरोट, सेब, मुनक्का, किसमिस, पोस्त, बादाम तथा अन्य फल और पोलो खेलने के लिये घोडे अफगानिस्तान ही दूसरे देशो को देता है ।

भारत के साथ प्राचीन धार्मिक सम्बन्ध—भारत के साथ अफगानिस्तान का प्राचीन सम्बन्ध इस देश के एक भाग के रूप मे सदा रहा है । आठवी सदी मे यहाँ पर यूनानियो का राज्य अवश्य हुआ था , परन्तु कुछ दिन बाद ही कनिष्क स्वय बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया और फिर राजधर्म बौद्ध होते ही एक बार फिर बौद्धो को ज्ञान-प्रसार का अवसर मिला ।

८७० ई० मे अरवो के सेनापति याकूब-ए-लैस ने अफगानिस्तान को अपने अधिकार मे कर लिया । लेकिन इसके बाद भी बौद्ध आसपास के इलाको पर अधिकार जमाये रहे । अल्पगीन और सुबुक्तगीन के आक्रमणो का उन्होंने सफलतापूर्वक सामना किया । ९९०ई० मे लमगान का किला भारतीयो के हाथ से निकल गया । यह किला काबुल से केवल ७० मील पर था । इस किले के निकलते ही केवल काफरिस्तान को छोडकर, शेष सारा अफगानिस्तान मुसलमानी धर्म मे दीक्षित कर लिया गया । इसलिए अब भी वहा बौद्धकालीन ऐतिसासिक चिन्ह बहुत बडी सख्या मे यत्र-तत्र उत्खनन से मिलते है ।

बौद्धकालीन अफगानिस्तान—अफगानिस्तान की ओर पुरातत्ववेत्ताओ का ध्यान १९२२ ई० मे गया, जबकि एक फ्रासीसी विद्वान् म० फूसर (Foucher) ने अफगानिस्तान के अमीर की आज्ञा से, वहा के अवशेषो की खोज आरम्भ की । उन्होंने अपनी खोजो मे अनेको बुर्जों, स्तूपो और मूर्तियो की खोज की । जिसमे मे अब भी कितनी ही पैरिस के म्यूजियम मे रखी हैं । जलालाबाद, हिड्डा और काबुल में जो बौद्धकालीन चिन्ह—मूर्तियो के टुकडे आदि मिले, उन पर गान्धार शैली की शिल्पकला पायी जाती है । लेकिन, ऐसे जो चिन्ह बामयान और उसके आसपास के स्थानो मे मिले, वे बौद्ध-कालीन शिल्पकला के सच्चे नमूने है । परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनमे यूनानी कारीगरी की कुछ झलक हैं ।

जहाँ पर आजकल बेगरम नामक नगर आबाद है, वह प्राचीनकाल मे राजा कनिष्क का ग्रीष्म निवास था और कपिशा नामक नगर के नाम से वह विख्यात था । इसे ही न्होहदामन भी कहते हैं । जिस नगर का आज 'जलालाबाद' के नाम से बोला जाता

है, वहां एक दिन दीपाकर बुद्ध ने अपनी तपस्या के प्रभाव से आश्चर्यजनक घटनाएं दिखलाई थी । । 'हिड्डा' वही नगर है, जहा गौतम बुद्ध के शरीर के कुछ अवशेषो को रखा गया था और उस अश के दर्शन के लिए दूर-दूर से यात्री लोग अफगानिस्तान आया करते थे ।

इन स्थानो को खोदने पर जो स्तून, विहार, चैत्य और मूर्तिया मिली है, वे बिलकुल ऐसी ही हैं, जैसी कि तक्षशिला' और 'तख्तेबाही' आदि के ध्वस्मो को खोदने से मिली है । हिड्डा मे तो पत्थर की ऐसी सैकडो मूर्तियां मिली हैं जैसी भारत मे अनेक स्थानो पर मिली हैं । हिड्डा के जिस विशाल स्तूप को फ्रासीसियो ने खोजा है, उसे वहा वाले अपनी पश्तोभाषा मे खाईमता स्तूप—अर्थात् विशाल स्तून कहते हैं । यह स्तूप अभी तक अच्छी दशा मे है । फाहियान जब यहा दर्शनाथ आया था, तब यह स्थान एक अपभ्रंश बौद्ध विहार था, उसने लिखा है कि यह स्थान चिरकाल तक अपने स्थान से एक इंच भी नही हटने का ।

हिड्डा मे कई स्तूप थे, उनमे बुद्ध भगवान के शरीरावशिष्ठ अश, शीर्षास्थित दात और दण्ड आदि थे । उनकी रक्षा और पूजा-अर्चना के लिये कपिसा के राजा की ओर से पुजारी नियत थे । जिस स्तूप मे बुद्ध के सिर की अस्थि रखी थी, उसके दर्शन करने वालो से एक स्वर्ण मुद्रा ली जाती थी और जो यात्री मोम आदि से उनका चित्र लेते थे, उनसे पाँच स्वर्ण मुद्राए ली जाती थी । इसी तरह शरीर के अन्य अशो के दर्शनो की भी फीस नियत थी । फिर भी वहा यात्रियो का मेला-सा लगा रहता था । ह्वेनसाँग अपनी यात्रा के वर्णन मे लिखता है कि 'बुद्ध के यह शरीराश' हिड्डा के स्तूपो में बहुमूल्य सिंहासनो पर अधिष्ठित है । जिस समय यह यात्री आया था, उस समय बौद्ध धर्म की उन्नति रुक चुकी थी । गान्धार की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) मे यह काफी दिन रहा । वही विशाल नगरी हिड्डा अपने प्राचीन वैभव को समाप्त करके आज-कल केवल घरो का एक छोटा-सा गाँव रह गया है । मिट्टी, बालू और कंकडो के सिवाय आजकल वहाँ बौद्ध सघारामो के टीले भर शेष हैं ।

बामियान और कपिसा राज्य—कनिष्क के पहले पुरुषपुर नगर, हार और हिड्डा यह सब नगर तपशा राज्य के अन्तर्गत थे । तपशा का बौद्ध धर्मावलम्बी क्षत्रिय राजा १८ फुट ऊंची चांदी की एक बुद्ध देव की मूर्ति तैयार कराकर प्रत्येक वर्ष उसका पूजन करता था । इसी वार्षिक अधिवेशन पर 'मोक्ष-महापरिषद्' नाम की एक सभा का अधिवेशन किया जाता था और दिल खोल कर गरीबो को सहायता दी जाती थी । कपिशा राज्य मे एक सौ से भी अधिक विहार थे और उनमे ६ हजार श्रमण रहा करते थे । स्तूपो और सघारामो की इमारते बहुत विशाल थी । इनके अतिरिक्त हिन्दुओ के भी सैकडो मठ मन्दिर थे । आज काबुल के सब विहार समाप्त हो गए हैं । उनकी जगह खण्डहरो के टीले और ध्वस्स मात्र रह गए हैं । केवल एक विहार अभी तक

वामियान राज्य—इस राज्य के बारे मे ह्वेनसाग लिखता है कि निवासी धर्म-निष्ठ और लोकोत्तरवादी सम्प्रदाय के थे। यहा पर दस विशाल विहारो मे एक हजार श्रमण रहा करते थे। यहाँ बुद्ध की एक प्रस्तर मूर्ति १५० फुट ऊची थी और उससे कुछ दूरी पर ही धातु की एक दूसरी मूर्ति भी फिट की थी। यह पत्थर की मूर्ति अभी तक वहाँ है, परन्तु वामियान के निवासी उसे अजदहा कहते हैं। उनका यह विश्वास है कि किसी मुसलमान फकीर ने इस अजदहे को मारा था और यह उसकी यादगार मात्र है।

धनलक्ष्मी से परिपूर्ण इस विशाल नगरी को, जिसमे यात्रियो के मेले सदा लगे रहते थे, आठवी सदी मे अरबो ने उजाड दिया। बाद मे उन्होने बौद्ध भिक्षुओ को भी समाप्त कर दिया। इसके कुछ समय पीछे वामियान की तराई की दूसरी तरफ शहर 'गोलगोला' नामक नगर बसा। परन्तु बारहवी शताब्दी मे जगेजदा मगोल ने उसे भी बरबाद कर दिया और इसने भी बौद्धो को तलवार के घाट उतार दिया।

गान्धार-राज्य और उसका बौद्धधर्म और साहित्य—यह राज्य बहुत बडा था। यह रावलपिंडी से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था। तक्षशिला इसके पूर्वी भाग की राजधानी थी। रावलपिंडी जिले मे अब बहुत कम गाँव पश्तो भाषा भाषी है, किन्तु सिंध दक्षिणी तट से काबुल-कन्धार तक पश्तो भाषा बोली जाती है।

बुद्ध के समय तक्षशिला विद्या और व्यापार—दोनो का ही प्रमुख केन्द्र था इस बारे मे उसका उत्तरी भारत से गहरा सम्बन्ध था। इसके राजा पोक्कसाती बुद्ध का यश सुनकर राज्य छोड दिया था। राज्य छोडकर वह मगध जाकर बुद्ध धर्मदीक्षा लेकर भिक्षु बन गया था। इससे ज्ञात होता है कि बुद्ध-धर्म, बुद्ध के जीवन काल मे ही गांधार तक पहुच गया था।

ई० पू० तृतीय शताब्दी मे सम्राट अशोक ने अपने राज्य मे जो ८४ हजा स्तूप जगह-जगह बनवाये थे, उनमे एक—धमराजिक स्तूप तक्षशिला मे था। अशोक के समय मे भिक्षु-सघ ने भिन्न-भिन्न देशो मे धर्म-प्रचारक भेजते समय, काश्मीर औ गाधार मे स्थविर 'मध्यान्तक' को दूसरे साथियो के साथ भेजा था। अत मौर्यवश बाद कश्मीर और गाधार—बौद्ध-धर्म का केन्द्र बन गये और ग्रीक तथा शक जातियो को भारतीय संस्कृति की शिक्षा देने मे सबसे बडा हाथ गाधार के बौद्ध भिक्षुओ का ही रहा।

गाधार पहिले ईरानी और पीछे ग्रीक संस्कृति की सीमा पर पडता था, इसलिये इसे भिन्न भिन्न संस्कृतियो के सम्मिश्रण से एक नवीन संस्कृति को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गाधार ने जहा हिन्दू ग्रीक मूर्तिकला को जन्म दिया, वहाँ 'असंग' और 'वसुबन्धु' जैसे अद्वितीय दार्शनिक दिये। सूफी दर्शन और शकर वेदान्त के पिता—भारतीय विज्ञानवाद की प्रथम कल्पना पेशावर निवासी आर्य असग ने इसी भूमि पर की थी। दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु भी यही के थे, जिन्होने न्याय-शास्त्र के प्रथम ग्रंथ

को लिखा । अत ई० पू० २री शताब्दी से ईसा की दसवी शताब्दी तक गाधार (अफगानिस्तान) बौद्ध-धर्म, साहित्य और सस्कृति का केन्द्र रहा । पांचवी शताब्दी के चीनी यात्री फा-शीन और सातवी शताब्दी के चीनी यात्री स्वेन चांग ने भी अफगानिस्तान को बौद्धधर्म के गौरवपूर्ण इतिहास का महत्त्वपूर्ण केन्द्र लिखा है । मध्यएशिया और चीन मे बौद्धधर्म का प्रचार करने मे यहाँ के भिक्षुओ का विशेष हाथ रहा, इसमे सदेह नही । इसी कारण यदि अफगान लोग अपने प्राचीन साहित्य और विद्वानो पर गर्व करके काबुल विश्वविद्यालय मे सस्कृत भाषा को अनिवार्य विषय बना देते हैं, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही ।

प्राचीन राजमार्ग का केन्द्र—इस देश का कोहदामन (प्राचीन विख्यात कपिशा नगरी) भारत, मध्यएशिया और चीन के राजमार्गो का प्रमुख केन्द्र बिन्दु रहा है । चीनी पर्यटक चाङ क्याङ ने (ई० पू० १३८-१२६) चीन के रेशम और उपज की दूसरी चीजो को भारत के रास्ते बल्तर मे बिकते देखा था । वह भी कपिशा के रास्ते ही वहा गयी थीं । आज मध्यएशिया के केवल दो रास्ते हैं—एक लद्दाख का और दूसरा गिलगिट—हुजा का । यह रास्ता लद्दाख के रास्ते से भी कठोर है । प्राचीन मार्ग ...त्यका से, वक्षु बदख्शा और बखान होकर जाता था और दूसरा रास्ता वक्षु की शा... सुर्खाव होकर गया था । आगे फरगाना का रास्ता भी था, किन्तु वह ज्यादा ...म्बा था । इस प्रकार मध्यएशिया का यातायात अधिकाशत अफगानिस्तान के रास्ते होता था और अफगान लोग एशिया में व्यापार ही नही, धर्म-प्रचार में भी सबसे ...ागे थे । इसलिये अरबो ने फारसी में इसे बुतपरस्त कहा है । सारा देश ही बुतपरस्त था । वस्तुत फारसी भाषा का यह शब्द 'बुतपरस्त' 'बुद्ध-परस्त' (बुद्ध-पूजक) का विकृत रूप है ।

तुर्कों का नव-जागरण (७वीं सदी)

तोबा वंश के अन्तिम खान 'हु-पेई' के समय, तुर्क साम्राज्य केवल नाममात्र के लिये ही रह गया था। स्वयं 'हु-पेई' केवल इर्तिश उपत्यका का ही सम्राट् था। चीन ने तुर्की सामान्तो को परस्पर भिडाकर, उनकी शक्ति को जहाँ निर्बल कर दिया था, वहाँ इसका लाभ आसपास की जातियो ने भी उठाया था और वह स्वतन्त्र बन बैठी थी, अथवा चीन दरबार की शरण मे चली गई थी। उस समय तुर्क सरदारो के केवल दो ही काम थे—परस्पर लडना या विलासिता मे डूबे रहना; परन्तु इतने पर भी वहाँ बौद्ध-धर्म अपनी जडें गहरी जमाकर पर्याप्त विकसित हो चुका था। सैकडो बौद्ध मठ वहाँ बन गये थे और बौद्ध साहित्य की उन्नति भी हो रही थी। बौद्ध-धर्म के मामले मे यह खान लोग और तुर्क जाति अत्यन्त उदार थी। यही उनका पहला वास्तविक धर्म था। अत बौद्ध नामो के अनुरूप ही यहाँ नाम भी रखे जाने लगे थे।

तुर्को की हीनावस्था का ऐसा ही चित्र अशेना-वश के तुर्क खान 'मोगिल्यान' के शिलालेख मे खीचा गया है। अत तुर्को के इन दुर्दिनो मे एक बार तभी उनके नव-जागरण का अध्याय शुरू हुआ। इस अध्याय का प्रारम्भ करने वाला भी एक 'इलतेरेस' नामक तुर्क सरदार ही था, जो 'गु-दु लू' के नाम से खान हुआ।

गुदुलू—(६२२ ई० से ६६३ ई० तक) एलतेरेस नामक इस व्यक्ति ने अपने को खेनी खान का सम्बन्धी बताकर स्वय को खान घोषित किया और अपने एक भाई को शाह और दूसरे को उप-खान बना दिया। खान बनते ही इसने इतनी तेजी से लूट-खसोट की, कि चीन साम्राज्य के कान खडे हो गये और उसे ज्ञात हो गया कि तुर्क अभी समाप्त नही हुए हैं, बल्कि वह अभी भी शक्तिशाली हैं। अत चीन ने इसके विरुद्ध भी सेना भेजी, जो सारी-की-सारी मारी गयी। परन्तु अपनी ही जाति की एक शाखा तुरगिम से लडते हुए वह मारा गया। इसके बाद इसका भाई 'मो-चो' (६६३ ई० से ७१६ ई० तक) खान हुआ। उस समय चीन मे साम्राज्ञी 'वू' का शासन था। खान बनते ही पहिले तो इसने शान्सी प्रान्त मे लूटमार की, परन्तु अगले साल ही चीन दरबार मे स्वयं जा पहुचा। रानी ने इसका स्वागत करके ५ हजार रेशमी थान देकर विदा किया। इसके बाद इसने खिताई राज्य को जीतकर, अपने राज्य मे मिला लिया। इसके प्रहार से पश्चिमी तुर्क साम्राज्य भी खतम हो गया और उसका अन्तिम खान

'असिन-सिन' कुलान मे मारा गया। वाद मे वहाँ तुर्कों की एक तुरगिस नाम की शाखा पनपी। अत अपनी इन्ही विजयो से उत्साहित होकर, इसने चीनी महारानी मे तीन मागें की, एक चीन मे रहने वाले तुर्कों को उसके पास भेजा जाय। दो, उसे महारानी अपनी कन्या प्रदान करें और तीन कृषि के लिये कृषि-उपकरण और वीज दिया जाय। महारानी को उसकी सभी शर्तें माननी पडी। इसके वाद उसने प्रस्ताव रखा कि एक थाग वशी राजकुमार से मेरी लडकी की शादी की जाय। महारानी ने प्रधान सेनापति के साथ अपने भतीजे को शादी करने के लिये भेजा, इस पर क्रुद्ध होकर मो-चो ने भतीजे को गिरफ्तार कर लिया और तभी पेकिंग पर आक्रमण कर लूटमार शुरू करदी। उस समय चीन की ४ लाख सेना भी उसका कुछ न बिगाड सकी। अतः अपनी इस लूट-खसौट मे, जहाँ इसने अनेको नगरो को जलाया, वहा लगभग एक लाख आदमियो का कत्ल भी करा दिया। साथ ही सरकारी अश्वशाला से १० हजार घोडे भी लूटकर ले गया। अन्त मे महारानी ने अपने एक लडके से उसकी लडकी की शादी करदी। इस समय उसका राज्य कोरिया से मध्यएशिया तक तीन हजार मील लम्बा था। चीन सम्राट् उसकी दया का पात्र था। इसके पास चार लाख धनुर्धरो की सेना प्रत्येक समय युद्ध के लिये तैयार रहती थी। इसी शक्ति पर इसने आसपास के सभी कबीले सर कर लिये थे। सन् ७१६ ई० मे जब यह 'वैकालो' मे लडकर, लौट रहा था, तभी मार्ग मे 'वैकालो' ने, उसका सर काटकर चीन दरवार मे भेज दिया।

मोगिल्यान—(७१५ ई० से ७३५ ई० तक) मो-चो के मरने पर गु दु लु का लडका मोगिल्यान, खान वना। इसके चचा क्युल तगिन ने मो-चो के सभी परिवारियो का कत्ल कराया, परन्तु मोगिल्यान अत्यन्त दयालु स्वभाव का बौद्ध मतावलम्बी व्यक्ति था। इसी कारण मचूरिया के खिताइयो और पश्चिमी तुर्कों ने विद्रोह कर, अपनी स्वतन्त्रता की तत्काल घोषणा करदी। इस शात स्वभाव व्यक्ति ने लूटमार की वजाय, कुछ बौद्ध विहार वनाने की इच्छा प्रकट की। किन्तु इसके श्वसुर (साथ ही मत्री भी) ने तुर्कों के लडाकू जीवन मे इस कार्य को वाधक वताया। फिर भी अपनी इच्छा से इसने कुछ विहार वनवाये। इसकी शात-प्रियता के कारण ही चीन ने भी इस पर आक्रमण किया, किन्तु चीनी सेना हार गई। अत इसने चीन के नगर 'ल्याग-चौको' को लूटा और आसपास के कितने ही कवीलो को पुन जीत लिया। साथ ही चीन सम्राट से अपने लिये, कन्या देने की इससे माग की। इसके वाद चीन ने इसे व्यापार सम्बन्ध करने का निमन्त्रण दिया और साथ ही वार्षिक भत्ता देना स्वीकार किया तथा भेंट के रूप मे वहुत-सी चाय दी। इससे पहिले तुर्क चाय नही पीते थे। मो-गि-ल्यान के मरने के वाद, तुर्कों की शक्ति पुन क्षीण होने लगी। तुर्क खानो मे पुनः षडयन्त्र और हत्याओ का दौर चला। अन्त मे स्थिति यहाँ तक आ गई कि ७४७ ई० मे तुर्कों के अन्तिम खान 'वाइमेइ' को उइगरो ने मार डाला। मो-गि-ल्यान की खातून चीन दरवार की शरण मे चली गई। तुर्कों का स्थान उइगरो ने ले लिया।

पश्चिमी तुर्क : परिवर्तित स्थिति—वालोव्यान के समय जब तुर्कों के पश्चिमी और पूर्वी दो भाग हो गये थे, तभी से पश्चिमी तुर्कों की स्थिति ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष हो गई थी। अराल से नर्वदा नदी के तट पर शासन करने वाले श्वेत हूणों को, जो अपने मूल स्थान अराल पर्वत से आये थे, इन्होने ही समाप्त किया। उसके बाद अरब से उठनेवाली इस्लाम की आँधी से भी यह टकराये और अन्त मे इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद भी, इन्होने अपनी प्राचीन सस्कृति को यथापूर्व रखा। उसके बाद गुलाम-वश के नाम से भारत मे मुस्लिम शासन की बुनियाद डालने वाले भी यही थे।

प्रथम दौर—इनके पश्चिमी तुर्क राज्य का प्रथम दौर ५८० ई० मे आरम्भ हुआ और ७०४ ई० मे समाप्त हुआ। इसके बाद इनकी सभ्यता का दूसरा अध्याय प्रारम्भ हुआ। अपने पहिले अध्याय मे, इनका सम्बन्ध अपने आसपास के कबीलों और चीन देश से रहा। इसके बाद, दूसरे दौर मे यह समस्त मध्यएशिया मे बढते हुए भारत आ धमके। परन्तु इस दूसरे दौर के समय तक भी इनका जीवन वही बर्बर और लुटेरो का जीवन था, गो कि बौद्ध धर्म ने इन पर अपनी कोमलता का काफी प्रभाव डाला था, लेकिन, इस्लाम की धर्मान्धता ने इनको पुनः कठोर और अत्याचारी बना दिया था। यही कारण है कि भारत मे हम इन्हे लुटेरे, हत्यारे और महाविनाशक के रूप में ही देखते हैं।

प्रथम दौर का आदि और अन्त—इनके प्रथम दौर का प्रारम्भ गृह-युद्ध के बाद, 'वालोव्यान' नामक खान से प्रारम्भ हुआ और पूर्वी तुर्कों के चीन से टकराकर चूर होने पर समाप्त हुआ। इस बीच मे इस वश मे भी कई एक खान बने। सक्षेप मे इनकी रूपरेखा निम्न प्रकार है —

वालोव्यान—खान न बनाये जाने पर, यह व्यक्ति उस स्थान पर चला गया, जहाँ 'मु-सुन' रहा करते थे और वही पर इसने अपने एक राज्य की नीव डाली। इसके शासन-काल मे इसका राज्य पश्चिमी बल्काश सरोवर, उत्तर मे अल्ताई के आगे का रेगिस्तान पडता था। इसका दक्षिणी ओर्दू 'कुल्जा' के पास तथा उत्तरी एमिल के पास रहता था। काशगर और ताशकन्द (चाच) इसी के राज्य मे थे। 'तिंग-लिंग' कबीले के अतिरिक्त तुर्किस और रेगिस्तान के उत्तर-पश्चिम के तुर्क कबीले भी उसी के मातहत थे। इसके अतिरिक्त 'कू-चा' (तरिम-उपत्यका) के तुखार और 'चू' तथा तलस आदि उपत्यकाओ के 'सोग्दी' भी इसी को कर देते थे।

शासन-व्यवस्था—इसकी शासन-व्यवस्था पूर्वी तुर्कों से थोडी भिन्न थी। खान के बाद सेखू या उप-खान होता था और राजकुमारो को 'देरे' और 'शाह' की उपाधियाँ दी जाती थी। शेष व्यवस्था पूर्ववत् थी। पूर्वी तुर्कों ने इस पर आक्रमण करके इसे बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये। इसके बाद, 'तू मिन' का पुत्र इस्सोगी खान बना। इसके कुछ दिन बाद ही इसका पुत्र 'नीली' नाम से खान बना और ६०५ ई० मे इसका भी पुत्र दामो चूलो के नाम से खान बना। इसकी विधवा माँ जो चीनी राजकुमारी थी, अपने देवर की पत्नी बनकर, चीन जाकर रहने लगी।

चूलो का कार्यकाल (६०५ ई० से ६१६ ई० तक)—यही अधिकतर इलि उपत्यका मे रहता था। दूसरे उप खान अपने-अपने प्रान्तो मे शासन करते थे। इस पर चीनी सम्राट् 'याग-ती' ने आक्रमण किया। तलस के युद्ध मे यह हारकर चीन का कर-दाता वन गया और वहीं रहने लगा तथा कोरिया-युद्ध मे चीन की सहायता करते हुए यह मारा गया। ६१६ ई० मे शे-गुई नामक उप-खान, खान वना। यह व्यक्ति अधिक समय तक राज्य तो नही कर पाया, किन्तु इसने तुर्क राज्य की सीमाओं को बहुत अधिक बढ़ाया। चीन की महादीवार तक इसने राज्य की सीमाए पहुचा दी थी।

तुन्-शेखू (६२० ई० से ६३५ ई० तक)—पश्चिमी तुर्क साम्राज्य मे यह शासक बहुत बली हुआ। यह शे-गुई का छोटा भाई था। इसने तुर्क राज्य को और बढाया। उस समय चीन मे सुई वंश का अन्त होकर, थाग वश की स्थापना हो रही थी। अतः यह कभी एक का साथ देता, तो कभी दूसरे का और दोनो का लाभ उठाता था। इसने एक ओर ईरानियो को समाप्त किया और दूसरी ओर श्वेत-हूणों के राज्य को छीनकर, अपनी सीमाए कावुल तक पहुचा दी। ईरान मे उस समय शाह खुसरो का राज्य था। यह अवारो से मिलकर, सासानी राज्य को सम्भालने का प्रयत्न कर रहा था, क्योकि खजारो से मेल कर, रोमन सम्राट् हेराक्लियस उसे निगलने के लिये तैयार बैठा था। हूणो के यह वशज अवार और खजार उस समय वोल्गा और कैस्पियन सागर तट के शक्तिशाली शासक थे।

अस्तु, अपनी राजनीति के अनुसार इसने अपने कुल्जा के शिविर को उठाकर तरस नदी पर अपना शिविर जमाया। यह स्थान ताशकन्द से ३०० मील उत्तर है। उस समय की इसकी सम्पन्नता का आभास इसी से मिलता है कि ६२७ ई० मे थाग-सुग के अभिषेक का निमत्रण लेकर, जब चीनी दूत आया तब इसका अधिकारी महा-जिगिन, चीन सम्राट् के लिये १० हजार स्वर्ण मेखो से जटित कटिवन्ध और ५ हजार घोड़े ले गया था।

श्वेन-चांग का समर्थन—चीन के इस महान् पर्यटक ने अपनी यात्रा ६२६ ई० मे प्रारम्भ की थी और ६४५ ई० मे चीन लौटा था। ६४८ ई० मे इसने अपना यात्रा वर्णन लिखकर तैयार किया था। उस समय तुन् शेख के राज्य से ही होकर वह गया था और यहा का उसने विस्तृत विवरण लिखा था। करासर (अकिनी) मे वह ६३० ई० के लगभग पहुचा था। उस समय कराशर से २०० ली दक्षिण पश्चिम कूचा (कूची) नामक प्रसिद्ध नगर था। यह सभी तुन् शेखू के अन्तर्गत थे। श्वेत चाग लिखता है—'यहाँ गेहूँ, चावल, अगूर और अनार बहुत होते हैं। नास्पाती और खूवानी भी काफी होती हैं इस प्रदेश मे सोना, तावा, लोहा, सीसा और रागे की खाने हैं।"

इस पर्यटक के यात्रा वर्णन से वहाँ की सामाजिक स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। श्वेन चाग लिखता है—' यह लोग ऊनी कपडे के वने लम्बे लोगे पहनते हैं। सर पर पगडी वाँधते हैं। कूचा के लोगो में अपने बच्चो के सर को गोल करने की बजाय, चपटा करने का रिवाज है। यहाँ पर सोने, चांदी और तांवे के सिक्के

चलते हैं। यहाँ भारतीय ब्राह्मी लिपि प्रचलित है। "कूचा शहर के सौ बौद्ध विहारो मे ५ हजार बौद्ध भिक्षु रहते हैं जो माँस खाने मे परहेज नही करते।

"राजधानी के पश्चिमी द्वार के बाहर ६० फुट ऊची दो खड़ी 'बुद्ध भगवान' की मूर्तियाँ, सडक के दोनो बगलो मे स्थित हैं। यह मूर्तिया उसी स्थान पर स्थित हैं, जहाँ बौद्ध लोग अपना पचवर्षीय समागम करते हैं। यही पर भिक्षु और उपासक शीत ऋतु के अन्त मे वार्षिक सभा किया करते हैं। महाप्रवारण का यह मेला, दस दिन तक रहता है। देश के सभी भागो के भिक्षुक यहाँ उपस्थित होते हैं। इस उत्सव मे खान भी प्रजा के साथ भाग लेता है। इस समय वह कोई काम न करके, केवल धर्मोपदेश सुनते हैं। उत्सव के समय सभी विहार अपनी-अपनी बुद्ध-मूर्तियो को मोती पहनाकर और रेशम के कढ़े हुए कपडे पहनाकर जलूस निकालते हैं। यह मूर्तियां रथों पर रखी रहती हैं। यह जलूस मेले के रूप मे परिवर्तित हो जाता है।

इस मिलन स्थान से उत्तर-पश्चिम तथा नदी के पार 'अद्भुत्' विहार है। इस विहार मे कई शालायें और कई कलापूर्ण बुद्ध मूर्तियां भी हैं। यहा के भिक्षुक विनय-नियमो का अत्यन्त दृढ़ता के साथ पालन करते तथा शिक्षा और बौद्धिक योग्यता में काफी वढे-चढे हैं। इस विहार के दर्शनार्थ दूर-दूर के देशो से लोग आते रहते हैं, जिन का खान, उपखान तथा अन्य अधिकारी बहुत सम्मान करते हैं।"

श्वेन-चाग यहाँ से पामीर की ओर चला। वह लिखता है—"पो-लू-का (अक्सू) से ३०० ली उत्तर पश्चिम हिमगिरी है, यही से पामीर का उत्तारी भाग प्रारम्भ होता है। मार्ग भयानक है और तेज ठण्डी हवाए चलती हैं। यहाँ ६०० ली जाने पर महा-सरोवर तप्तसागर (इस्सिकुल) मिला, जिसका घेरा १ हजार ली है। यह पूर्व से पश्चिम लम्बा है और इसके चारों ओर पहाड खडे हैं। सरोवर का पानी खारा है। मछलिया बहुत हैं। यहाँ से वह चू नदी की उपत्यका से होकर, आगे चला। ५०० ली उत्तर पश्चिम जाने पर उसे शू से नगर मिला। यहाँ के निवासी भिन्न देशो के व्यापारी थे। पैदावार गेहू और अगूर आदि की होती थी। वृक्ष कम और हवा ठण्डी है। लोगो की पोशाक ऊनी होती है। इसके पश्चिम कई छोटे-छोटे नगर हैं, जिनके राजा लोग शासक हैं, परन्तु तुर्कों के आधीन हैं।

"शू-से (चू नदी) तट से कासन्ना देश के लोग सूली (सोग्दी) कहे जाते हैं। इनकी लिपि मे २० अक्षर होते हैं। वह ऊपर से नीचे की ओर पढी जाती है। इनके चोगे जमाई हुई ऊन के होते हैं, जिनके भीतर चमडा या कपास भरा रहता है। यह लोग बाल कटाकर सर के ऊपरी भाग को नगा कर देते हैं। अपने ललाट पर रेशमी पट्टी बाँधते हैं। यह कद मे लम्बे होते हैं, परन्तु स्वभाव से भीरू, झूठे और धोखेबाज होते हैं। यहा पिता और पुत्र तक एक दूसरे को ठगते हैं। यहा कुलीन और नीच वंश का कोई भेद नही। केवल धन ही बडप्पन का साधन है। यहा के लोग आधे व्यापारी हैं और आधे सेनी करते हैं। यहाँ लोग साधारण खाना खाने और मोटे कपडे पहनते हैं।

खान से मुलाकात—शू-से से ४०० ली पश्चिम विंगुल नामक सरोवर है, यहाँ केवल दक्षिण की ओर पर्वतमाला है, शेष भूमि मैदान है। वसन्त मे यहाँ तरह-तरह के फूल खिलते हैं। चारो ओर मैदान मे वृक्ष ही वृक्ष हैं। यहाँ पर १ हजार चश्मे और पुस्करिणियाँ हैं। इसीलिये इसका नाम सहस्रधारा पडा है। अत गद्दी पर बैठते ही तुन् शेखू अपना तम्बू यही ले आया था और यही ६३२ ई० मे श्वेन चाँग की उससे मुलाकात हुई। अपने इस वर्णन मे श्वेन चाँग लिखता है—"खान उस समय शिकार मे जा रहा था। उसकी सैनिक सज्जा बहुत ही विशाल थी। वह हरे साटन का चोगा पहने हुए था। बाल खुले थे। ललाट पर चारो ओर बधी रेशम की पट्टी पीछे की ओर लटकी हुई थी। उस समय उसके २०० से अधिक मुसाहिब मौजूद थे। सबके चोगे कसीदेदार थे और बाल पट्टेदार थे। वह खान के दाहिने बाए खडे थे। बाकी लोग समूर, पट्टू या बारीक ऊनी कपडे पहिने थे। हाथो मे भाले, धनुष, झण्डियाँ लिए हुए सैनिक लोग दूर-दूर तक फैले थे।

श्वेन चाग से मिलकर खान बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी दो-तीन दिन की अनुपस्थिति मे, अपने शिविर मे ही रहने को निमत्रित किया। साथ ही अपने हजूरी मंत्री हा-यी-सी ची को श्वेन चाग की सेवा का भार सौंपा। तीन दिन बाद खान लौटा और उसने श्वेन चाग को बुलाया। वहाँ विशाल तम्बू पर सोने के कसीदे को देखकर, आँखो मे चमक आती थी। परिवारी लोग दो लम्बी कतारो मे कालीनो पर बैठे थे। सबके चोगे सुन्दर कमखाब के थे। पारिचारिक पीछे की ओर खडे थे। खान अपने तम्बू से निकल कर ३० कदम आगे बढकर श्वेन चाग से मिलने आया। श्वेन चांग एक-एक कदम पर प्रणाम करता हुआ भीतर गया।

उस समय खान किसी सिंहासन पर न बैठकर, तह किये हुए कालीनो पर बैठता था। अपने मेहमान के लिये उसने लोहे की एक तिपाई पर कालान बिछवा दिया था। बैठकर उसने सुरा मगाई और सगीत की आज्ञा दी। यात्री के लिये द्राक्षारस मगाया गया। इसके बाद सभी शराब पी-पीकर कोलाहल मचाने लगे। उनके सामने गाय और दुम्बे का मास परोसा जा रहा था। यात्री के लिये रोटी, दूध, मिश्री, शहद और अंगूर परोसे गये। खान की भारत के प्रति अच्छी धारणा नही थी। उसने श्वेन चाग को भी **काले असभ्य घृणास्पद लोगों** के देश मे जाने से मना किया। श्वेन चाग ने लिखा है कि उसकी सेना मे घुडसवार ही नही, हाथी सवार सैनिक भी थे। इस प्रतिभाशाली खान को, जब वह अत्यन्त विलासी और क्रूर हो गया था, उसके चचा मो-खे दू ने उसे मार डाला।

क्यू ली सि-वि खान—(६३५ ई०)—शेखू के चचा मो-खे-दू को तुर्क ओर्दू खान मानने के लिये तैयार नही था। इसलिये शेखू के पुत्र को खान बनाया गया। उसे बुलाकर क्यू-ली-सि- वि खान अर्थात् इल्वी शापोरी चतुर्थ जेवगू खकान के नाम से गद्दी पर बिठाया गया। परन्तु मो-खे-दू के पक्षपातियो ने गृह-युद्ध शुरू कर दिया। इस गृहयुद्ध से लाभ उठा कर तिगलिगा और दूसरे तुर्क कबीलो ने विद्रोह

कर दिया और अफगानिस्तान तथा ईरानी इलाके तुर्कों के हाथ से निकल गये। इस गृह-युद्ध मे सि-शेखू प्रबल हुआ और शिवि खान पुनः समरकन्द भाग गया।

सि शेख—यह व्यक्ति तुन-शेखू का पुत्र था। इसके समय मे भी गृह-युद्ध चलता रहा। दूसरी ओर इसे तलस के सैनिको से भी लडना पडा। परिणाम यह हुआ कि इसे भी कराशर भाग जाना पडा और निशू-दुल खान नामक व्यक्ति खान बना। लेकिन यह भी शीघ्र ही समाप्त हो गया और इसका छोटा भाई शबोलो खिलिश खान के नाम से गद्दी पर बैठा। इसने अपनी शासन व्यवस्था मे परिवर्तन करके ईरान का अनुकरण किया और राज्य को दस भागो मे विभाजित किया। परन्तु यह भी तीन साल से अधिक नही टिक सका और ६४१ ई० मे इबी दुलू खान नामक व्यक्ति खान बना। अपने शासनकाल मे इसने अराल सागर के पास कग जाति को हराया और बहुत बडी सख्या मे उन्हे दास बनाया। इन्ही दासो के बाट के प्रश्न पर इसने अपने सेनापति निशू चो का सर कटवा दिया। अपने सात साल के शासन मे इनका सारा समय लडाई झगड मे ही बिता। इसके बाद चीन की सहायता से ६५१ ई० मे खे-लू शबोलियो या अशिना खेलू नामक व्यक्ति खान बना। इसे तुर्कों का कलंक कहा जा सकता है इसने खान बनते ही कूचा, काशगर, खोतन चू-जुई वो और चु गलिंग (पामीर) चीन को दे दिये। इतने पर भी चीनी परम्परानुसार थाग सम्राट् की राज्य लिप्सा बढती ही जा रही थी। वह इसे केवल अपना एक सामन्त भर देखना चाहता था। तुर्कों से यह सहन नही हुआ। अत उन्होने युद्ध छेड दिया। परन्तु इसमे वह हार गये और कुछ काल के लिये उनका प्रदेश चीनी सूबा बन गया। जो भाग शेष रहा वह गे-लो-लू खू-बू और सुनिशी वशो की जागीर बन गया। अत ७०७ ई० मे इस वश का असिन् सिन् नामक व्यक्ति अन्तिम खान था, जिसे अगले ही साल अर्थात् ७०८ ई० मे पूर्वी तुर्कों के खान मो-चो ने कुलान (आधुनिक तर्मी स्टेशन के पास) मारकर, अपने वश मूल अशिना या अशेना की एक शाखा को काट दिया और सूखी हुई दूसरी शाखा—तुर्गिस हरी करदी। इस शाखा का सरदार सोगे ही असिन्-सिन का प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। अत असिन्-सिन् के बाद 'सो-गे' ही खान बना।

सो-गे (७०८ ई० से ७०९ ई०)—जिस समय सो-गे खान बना, उससे आधी शताब्दी पहिले से ही, इस्लाम की आधी अरब से बढकर, मध्यएशिया की ओर आ गई थी। तुर्कों के साम्राज्य के ईरानी भाग और अफगानिस्तान मे काफी मुसलमान घुस चुके थे। अरब सेनापति मूसा बिन अब्दुल्ला ६२९ ई० मे वक्षु (आमूदरिया) से आगे बढ़कर तिरमिज को अपना केन्द्र बना चुका था। ७०५ ई० मे पामीर के पहाडो से आने वाली सुर्दाव नदी की उपत्यका पर भी अरबो का अधिकार हो गया था। ७१२ ई० मे ख्वारेज्म के प्राचीन देश पर भी इस्लामी झण्डा फहराने लगा था। उस समय समरकन्द पर तुर्गिस वश का अधिकार था, वह लोग इनसे डर कर सोग्द देश को छोडकर चले गये। अतः अरब सेनापति कुबैत ने आगे बढकर, ताशकन्द और फर्गाना पर आक्रमण किया और बुखारा मे पहिली मस्जिद बनवाई।

तुर्गिस लोगो का कबीला भी पूर्वी तुर्कों की ही एक शाखा था, जो पहिले तुल् के ओर्दू मे शामिल था। इसकी भूमि चू और इली नदियो के बीच थी। इनका बडा कबीला सुयाब मे और छोटा इली के किनारे रहता था। इनके पूर्व मे पूर्वी तुर्क और उत्तर मे किरगिज रहते थे। अस्तु, मो-गो ने अपना सारा समय घरेलू झगडो मे खोया और अगले साल 'मो चो ने इसका भी कत्ल कर दिया।

सू लु (७३८ ई० तक)—मोगे के बाद, सू-लू खान बना। तुर्गिस कबीले का यह खान सबसे शक्तिशाली था। उस समय अरब लोग भी दो दलो उत्तरी और दक्षिणी में विभक्त होकर आपस मे लड रहे थे, उमैय्या वश की शक्ति अब पहिले जैसी नहीं थी। फिर भी यह उनके खतरे को जानता था। इसीलिये चीन का मित्र बन गया था और एक चीनी राजकुमारी इसे ब्याही गयी थी। इसके बाद इसने तिब्बतियो से मित्रता कर, उनकी राजकुमारी भी ब्याही और पूर्वी तुर्क राजकुमारी से भी शादी की। यह चाहता था कि तीनो शक्तियो को मिलाकर इस्लाम की कमर तोड दी जाय, परन्तु चीनी राजकुमारी के द्वारा कूचा के वार्षिक मेले मे दूसरी चीजो के साथ बदलने के लिये भेजे गये घोडो की बिक्री के समय इसके अफसर ही नहीं, स्वय इससे भी चीनी अफसर का झगडा हो गया। इसी बात से कुपित होकर, सु लू ने शू-चेन, काशगर, खोतन, कूचा, और कराशर को लूट लिया। यह स्थान पहिले खान खे लू ने चीन को दे दिये थे, अन्त मे उसने तिब्बतियो और पूर्वी तुर्कों को साथ लेकर, समरकन्द पर अरबो के विरुद्ध आक्रमण किया, किन्तु इसमे भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली। ७३८ ई० मे यह किर्गिजो से लडता हुआ मारा गया। इसके बाद दो लडके तुखो सुन मेची और मोर्खे दगान खान बने और ७६६ ई० तक यह वश ही समाप्त हो गया। अत ७६६ ई० मे पश्चिमी तुर्कों का स्थान करलोक और पूर्वी तुर्कों का स्थान उइगरो ने ले लिया। परन्तु फिर भी बहुत से तुर्क कबीले अपना अस्तित्व बनाये रहे।

तुर्क राज्य मे फूट—५८० ई० मे तोबा के मरने पर उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर झगडा हुआ। मू-चू खान का पुत्र अपने को उत्तराधिकारी बनाता था और तोबा का पुत्र ने-तू अपने को उत्तराधिकारी मानता था। अत इस झगडे का परिणाम यह हुआ कि ने तू शावो-लियो के नाम से पूर्वी राज्य का खान बना और इसके भाइयो तथा मू चू के पुत्र दावोल्यान ने पश्चिमी भाग पर अधिकार कर लिया। अत ५८२ से ५८७ ई० तक अर्थात् केवल पाँच साल रावोलियो खान रहा। इसका शिविर तूकिन पर्वत के पास रहता था। इसका भाई अमरो तुला उपत्यका (मगोलिया) का खान बन गया था और दावोल्यान पश्चिमी भाग का खान जा बना।

तत्कालीन चीन सम्राट् विन-ती ने अपना दूत भेजकर, इसे अधीनता स्वीकार करने की आज्ञा दी, परन्तु इसने इन्कार कर दिया। अन्त मे मरुभूमि को चीन और तुर्क साम्राज्य की सीमा मान लिया गया। सबोलियो का कत्ल इसके दातू ने किया और ब् गा खान के नाम से अपने को स्वतन्त्र खान घोषित कर दिया। दूसरी ओर शवोलियो के मरने के बाद, उसका लडका दूलन खान बना, जिसके खान बनते ही

हजारो पशुओ की भेंट चीन दरबार को भेजकर, सीमान्त पर अपनी चीजो की बिक्री की माग की, जो स्वीकार कर ली गई और भेंट के बदले भी हजारो रेशम के थानो के अतिरिक्त एक चीनी राजकुमारी आयी। उस समय इसका खेमा भी, नातिपूर तू-किन की उन्ही पहाडियो मे था, जहाँ हूण सम्राट् का खेमा रहता था।

कुछ दिन बाद, इसके भाई ने, अपने पिता के हत्यारे वूगा खान से मिलकर, इस पर चढाई करदी। फलत यह चीन दरबार की शरण मे चला गया। सम्राट् विन ती ने इसके लिये शासी प्रान्त मे एक नगर बसाकर एक और चीनी राजकुमारी इसे ब्याह दी। इसके उपरान्त चीन ने इसके भाई के ऊपर चढाई कर दी, किन्तु चीनी सेना के पहुँचने से पहिले ही तुर्कों ने उसका कत्ल कर दिया। शेष सामन्तो को चीनी सेना ने कुचल कर दूलन को पुन खान बनाया और दरबार की ओर से ची-लेन की उपाधि देकर उसका सम्मान बढाया। खान बनने के बाद, यह अपने ढाई सौ सरदारो के साथ पुन चीन दरबार मे आया, यहाँ इसकी आवभगत पहिले से भी ज्यादा की गई और जूता पहिने तलवार हाथ मे लटकाये दरबार मे आने दिया गया। इसके साथ आये तुर्क सरदारो को कई हजार रेशम के थान सम्राट् की ओर से बटवाये गये। इसके बाद सम्राट् स्वय इसके शिविर मे गया, जहाँ इसने घुटने टेक कर चीन-भक्ति की शपथ ली।

वूगा पूर्व का खान बना हुआ था, जिसे कबीला नही चाहता था। अत दूलन के दूसरे भाई ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया और वह निरन्तर ७ वर्ष तक लडता रहा। चीन इनके झगडो मे नही पडता था। अत वह इन्हें भेंटें ही भेजकर प्रसन्न करता रहता था। वूगा का भी दूत चीन दरबार मे रहता था। परन्तु यह दिन तुर्कों की गर्दिश के थे। अत वूगा के बाद, जल्दी-जल्दी कई खान बने। इनमे मुख्य चू-लो और खे-ली खान हैं। चू-लो खान ने एक बार चीनी सम्राट् की युद्ध के अवसर पर २००० सैनिक भेजकर सहायता की थी और जब यह चीन दरबार मे गया, तब राह मे आती जाती सभी चीनी स्त्रियो को पकड लाया था।

खेली-खान—यह खान चू-ली का भाई था। चू-ली की चीनी रानी ने अपने पुत्र को गद्दी पर न बिठाकर, अपने देवर को ही खान बनवाने मे सहायता दी और स्वय भी इसकी महारानी बन गई। इसके समय मे भयानक अकाल पडा और उसी समय चीन ने इसपर आक्रमण किया। चीनी हार गये। इसने चीनी सीमातो को लूटना शुरू कर दिया। इसका हौसला यहाँ तक बढ गया था कि इसने एक बार चीन की राजधानी तक को घेर लिया था, किन्तु बाद मे सधि हो गई और यह वहा से लौट गया। परन्तु इसके पीछे इसके मातहत उईगर आदि कबीलो ने विद्रोह कर दिया। इसके राज्य मे बढते हुए विद्रोह का लाभ उठाकर चीन ने पुन आक्रमण किया और इसे भागते हुए गिरफ्तार करके ६२८ ई० मे सम्राट् के प्रतिहारो का सेनापति बनाकर चीन मे ही रोक लिया और वहां यह मर गया तथा राजधानी के पास वेई नदी के किनारे जलाकर उसकी दाह क्रिया करदी गई।

खे-ली के वाद, इसका भतीजा (सामन्त) तू ली ६२८ ई० मे खान वनाया गया। खे ली के समय यह सिरामुरेन नदी के उत्तरी भाग का शासक था, जिसके उत्तर मे खिताई जाति का छोटा सा स्वतन्त्र राज्य था। इन्ही खिताइयो ने आगे चलकर चीन को विजय किया था। इन्होने ही नान खताई (चीनी गेटी) का चीन मे प्रचार किया था। तू-ली से पहिले यह अपना कर तुर्कों को ही दिया करते थे, किन्तु तू ली के वाद, इन्होंने चीन सम्राट् को सीधे कर देना शुरू कर दिया। तू-ली का जीवन शान्त व्यतीत हुआ। वह अधिक समय तक चीन मे ही रह और वहाँ २८ साल की आयु मे ६३१ ई० मे मर गया। इसके वाद इसका पुत्र सु त्रि ली पूर्वी तुर्कों का खान बना। इसने अपने चचा के साथ मिलकर एक वार चीनी समाट् के खेमे पर धावा वोला, जहाँ यह पकड लिया गया। उस समय चीन का समृाट् ताइ सु ग था। उसने इन पर चढाई की और सब को घेर कर चीन के सीमान्त के पास बसा दया तथा सि वु ली को हाग हो के उत्तर मे निर्वासित कर दिया।

चे वी खान—तुर्कों के इस भारी सफाये के वाद, इतिश उपत्यका मे, खेली के पतन काल मे चे वी नामक एक व्यक्ति स्वतन्त्र खान बन बठा था (६४७–८२ ई०) इसके राज्य मे इतिश नदी के पास के कवीले और दक्षिण मे किर्गिज थे। इसने अपने राजकुमार को चीन-दरवार मे भेजा; परन्तु स्वयं चीन समृाट् को सलाम करने नही गया। अत इसके विरुद्ध एक विशाल चीनी सेना चढ आई। वह इसे पकड कर चीन दरबार ले गई। अत. इसके पीछे इसके मातहत कवीलों ने भी विद्रोह कर दिया और अपना कर सीधे चीन समृाट् को भेजना शुरू कर दिया।

६७९ ई० मे अवशिष्ट तर्कों ने चीन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। हू पेई नामक एक राजकुमार ने अपने को सि वु ली खान का उत्तराधिकारी घोषित किया; परन्तु तुर्क जमात तैयार नही थी। अत हांग हो नदी के उत्तरी मोड़ और गोवि के रेगिस्तान क वीच का भाग उसे शासन के लिये मिला। उस समय चीन समृाट् कोरिया जीतने मे लगा हुआ था। इसने अपनी सेना लेकर उसकी सहायता क और वही लडता हुआ मारा गया।

———

शोध-ग्रन्थ सूची

नाम पुस्तक	नाम लेखक
(१) भारतीय वाङमय मौलिक और अनुदित	
(२) प्राच्य और पाश्चात्य	स्वामी विवेकानन्द
(३) हिन्दू जीवन रहस्य	भाई परमानन्द
(४) वदिक सिद्धान्त	रामप्रसाद बी०ए०
(५) हिन्दी दास बोध	समर्थ स्वामी रामदास
(६) भारत का सास्कृतिक इतिहास	हरिदत्त वेदालकार
(७) वेद रहस्य	महर्षि अरविन्द
(८) भारत का धार्मिक इतिहास (१)	पं० शिवशकर मिश्र
(९) भारत का धार्मिक इतिहास (२)	प० शिवशकर मिश्र
(१०) भारत भ्रमण	साधुचरण
(११) शकर दिग्विजय	शकर
(१२) आर्य विद्या सुधाकर	यज्ञेश्वर शास्त्री
(१३) प्राचीन भारत मे रसायन का विकास	सत्यप्रकाश
(१४) सामाजिक विचारो का इतिहास	सत्यव्रत सिद्धान्तालकार
(१५) ज्योतिष शास्त्र का इतिहास	शकर बालकृष्ण दीक्षित
(१६) वैदिक सम्पत्ति	प० रघुनन्दन शर्मा
(१७) आर्यो का आदि देश	डा० सम्पूर्णानन्द
(१८) गीता रहस्य	तिलक
(१९) वेद धरातल	गिरीशचन्द्र अवस्थी
(२०) प्राचीन भारत का इतिहास	भगवतशरण उपाध्याय
(२१) मान्वेर आदि भूमि	बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न

नाम पुस्तक	लेखक
(२२) ऋग्वेद	एच एन. विल्सन
(२३) भारतीय सिक्के	वासुदेवशरण अग्रवाल
(२४) आदर्श नगर व्यवस्था	भोलानाथ शर्मा
(२५) पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन का इतिहास	हरिदत्त वेदालकार
(२६) आर्यो का उत्तर ध्रुव निवास	श्री तिलक
(२७) प्राचीन प्राच्य का इतिहास	यू न मुर्खी
(२८) भारतवर्ष का इतिहास	आचार्य रामदेव
(२९) हिन्दू सभ्यता	राधा कुमुद मुखर्जी अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल
(३०) भारत की सस्कृति साधना	रामजी उपाध्याय
(३१) तुलनात्मक भाषा-शास्त्र	मगलदेव शास्त्री
(३२) प्रागैतिहासिक मोइन-जो-दडो	के० गोस्वामी (वंगला)
(३३) भारतीय इतिहास की भूमिका	श्री राजवली पाडे
(३४) भारतीय सस्कृति का विकास	डा० मथुरालाल शर्मा
(३५) हिन्दुत्त्व	रामदास गौड
(३६) बोद्ध धर्म और मध्यएशिया	राहुल साकृत्यायन
(३७) सामाजिक अनुसधान	रामबिहारीसिंह तोमर
(३८) पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास	राधानाथ चतुर्वेदी
(३९) कुरान अनुवाद	अहमद बशीर
(४०) राजनीति शास्त्र	प्राणनाथ विद्यालकार
(४१) राजनीति और दर्शन	डा० विश्म्भरनाथ वर्मा
(४२) सामाजिक विचारो का इतिहास	हेलन
(४३) साख्यिकी के सिद्धात और उपयोग	श्री सेठी
(४४) सामाजिक विचारक	अनुवादक रघुराज गुप्त
(४५) भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास	लूनिया
(४६) हिन्दू परिवार मीमासा	हरिदत्त वेदालकार
(४७) शुक्र की राजनीति	डा० श्यामलाल पाडेय

नाम पुस्तक	लेखक
(४८) अरब की सभ्यता तथा संस्कृति का विकास	राजेन्द्रप्रसाद तिवारी
(४९) भारतीय साहित्य और संस्कृति	हरिदत्त शास्त्री
(५० भारतवर्ष का वृहद् इतिहास भाग—१	श्रीभगवद्दत्त
(५१) वृहत्तर भारत	चन्द्रगुप्त वेदालंकार
(५२) भारतीय संस्कृति का इतिहास	चतुरसेन शास्त्री
(५३) Translation of 'Rig Veda'	Lud Wick
(५४) Hymns of 'Atharv Veda'	Bloom Field
(५५) Indisch: tifane	Baver
(५६) Vedic Mythology	Macdonald
(५७) Archeological Survey of India	Kaningam
(५८) Catalogue of the Indian Coins	Smith
(५९) Ancient India	Repson
(६०) Origin of Aryans	Taylor
(६१) Rig Vedic India	Avinash Chander Dass
(६२) History of the 'Gath'	Pincalton
(६३) Northerns Antiquities	Millet
(६४) History of the World	Walter Reliegh
(६५) Plato – the man and his work	Talory
(६६) History of Persia	Sir Syicks
(६७) Journal of the American Oriental Society	——
(६८) Imperial Gazeteer of India	——
(६९) History of Persia	Brig Ships
(७०) The sacred language, writings and religion of the Parsees	Dr Hangh

Name of Book	Author
(७१) Arctic Home of the Vedas	Lokmanya Tilak
(७२) Antiquities of India	L. D Warnet
(७३) Origin of the Aryans	Taylor
(७४) Medical Essay	Dr. E R. Ellins
(७५) Harmonia	Davis
(७६) Precious Stones and gems	Antonio Sanin
(७७) Ancient and Middle Age India	Menning
७८) The Early History of Indo Iranians	W Keith
(७९) India in Greece	Peacock
(८०) Historical History of the World	Boothe
(८१) Asiatic Researches	Wilford
(८२) Chips from and German Works	Macdonald
(८३) Geography of Early Budhism	Grearson
(८४) Cronicals of Tripura	J S B
(८५) Religions of India	Haffkins
(८६) Geographical Dictionary	A Lee Fition
(८७) Ultain Dischase Lavane	Gimmer
(८८) History of the Sanskrit Literature	Macdonald
(८९) Sacred Books of the East	Maxmuller
(९०) Vedic Chastdion	Pishal
(९१) Altin Dishase grammatic	Baker Negal

Name of Book	Author
(९२) L Argi–stone	Henry
(९३) Dictionary of Saint Pestersburg	Rath
(९४) Rigved Notane	Olden Burg
(९५) Intercourse between India and the Western World	Ralingson
(९६) Indian Literature and the World Literature	Prof. winter Nitts
(९७) History of Philosophy	Dr N. Field
(९८) History of Literature	Shrigil
(९९) Message of Plato	Prof Yurvink
(१००) The Rigs (Mantras of Rig Veda)	T Paramshiv Aiyar
(१०१) Rigvedic Culture	Dr. Avinash chander
(१०२) Rigvedic Culture of the Pre–historic Indus	Swami Shankranand
(१०३) Indus Valley in the Vedic Period	Raibahadur Rama Prasad Chanda
(१०४) Bible in India	D. O Brown
(१०५) Wisdom of the Quran	Mukhar Pasha
(१०६) Egyptian Religion and Gosmology of the Rig Ved	Wallis
(१०७) Ancient Egypt from records	M E. Monkton Jones
(१०८) History of Ancient Egyptians	Breasted
(१०९) Social life in Ancient Egypt	W M F Patry
(११०) Ancient and Modern Egypt	Russell

Name of Book	Author
(१११) Ancient Egypt from records	Monkton Jones
(११२) History of Ancient Fgyptians	Breasted
(११३) Book of the begining	Gorald Marry
(११४) Ourpart, present and future	Gurudutta Vidyarthi
(११५) India in primitive christianity	Lillie
(११६) Old testament	Troubles in Arabia deserta